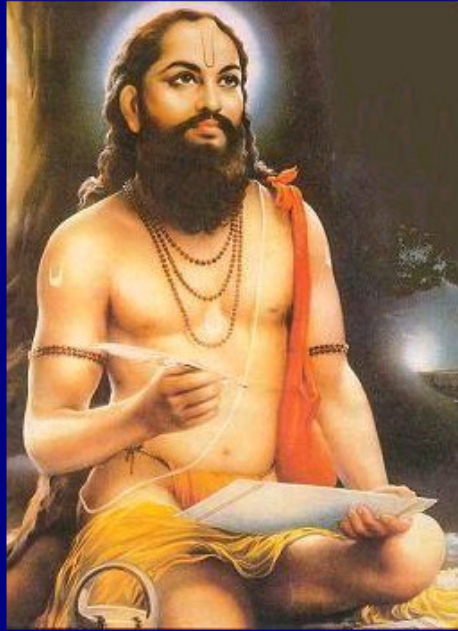


दासबोध
हिन्दी गद्य



भूमिका

— ०*—

यह ग्रंथ श्रीसमर्थ रामदासस्वामी के मराठा ~~दासवोध~~ का अनुवाद है। इस स्थान में यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि श्रीरामदासस्वामी, कौन थे और उनके "दासवोध" में किन किन विषयों की चर्चा की गई है तथा उसके हिन्दी-अनुवाद में क्या लाभ होगा। इनमें से पहली बात पाठकों को श्रीसमर्थ के जीवनचरित से मालूम हो जायगी जो इस ग्रंथ के साथ संक्षेप में प्रकाशित किया गया है; और दूसरी बात के लिये उनको "दासवोध" की तात्विक आलोचना की ओर ध्यान देना चाहिये जो उक्त चरित के बाद दी गई है। यहाँ मैं केवल यही प्रकट करना चाहता हूँ कि, दासवोध जैसे परम कल्याणकारक ग्रंथ के अनुवाद करने का सौभाग्य मुझे कैसे प्राप्त हुआ; अनुवाद करने में किन किन लोगों से मुझे सहायता मिली; हिन्दी के ग्रंथप्रकाशकों की रुचि-भिन्नता, अदूर दृष्टि, उदासीनता आदि के कारण इस पुस्तक के प्रकाशित होने में विलम्ब कैसे हो गया, इत्यादि।

हिन्दी-केसरी के पढ़नेवालों को स्मरण होगा कि सन् १९०८ ई० के अगस्त महीने की २२ वीं तारीख से नवम्बर तक नागपुर की सेट्रल जेल में मेरे मार्जनिंग जीवन का भाग व्यतीत हुआ था। मैंने सरकार से क्षमा मागकर अपनी मुक्तता प्राप्त कर ली—इस बात पर लोगों ने कुछ अनुकूल और बहुत प्रतिकूल टीका की, परंतु उस समय मैंने अपनी ओर से कुछ उत्तर नहीं दिया। उस विषय पर मैं अब भी किसी प्रकार की चर्चा करना नहीं चाहता। इसमें संदेह नहीं कि, कारागृह से मुक्त होने के बाद, मेरे अंतःकरण की दशा बहुत चंचल, क्षुब्ध और त्वेष दायक हो गई थी; इस लिये शांतिमुख का अनुभव करने के हेतु मुझे कुछ समय तक रायपुर में आकर आज्ञातवास का स्वीकार करना पड़ा। यहाँ एक ओर जनसमाज ने मुझे स्वदेशद्रोही, विश्वासघाती और डरपोक कह कर मेरा त्याग कर दिया और दूसरी ओर सरकार ने मुझे बलवाई, अराजनिष्ठ और विद्रोहकारी जानकर अपने जामुस-गुप्त दूत-डिप्टिमेंट-वाले मेरे पीछे लगा दिये। ऐसी अवस्था में मेरी जो आंतरिक दुर्दशा हो रही थी उसका हाल मैं जानता हूँ।

उसी दशामें मैंने अनुवाद करनेकी इच्छासे दासवोध का पढ़ना आरम्भ कर दिया। तब मुझे मालूम हुआ कि इसका अनुवाद करना कोई सहज काम नहीं है। परंतु अंतःकरण में यह विश्वास था कि सत्यसंकल्प के दाता भगवत्स्वरूप श्रीसद्गुरु समर्थ रामदासस्वामी क्या करके मेरा मनोरथ अवश्य पूर्ण करेंगे। ऐसा ही हुआ। जब मैं नागपुर से वहाँ चला आया तब मेरे "अनुज" पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयोजी ने कुछ समय तक हिन्दी-केसरी का काम बड़ी योग्यता से सम्हाला, परंतु जब, एक अपारहार्य कारणों के संयोग से, वह काम बंद हो गया तब वे भी यहाँ मेरे पास आ गये। उनके आते ही सन् १९०९ में दासवोध के अनुवाद का काम नियमपूर्वक होने लगा। वस्तुतः यह हिन्दी-दासवोध आप ही के सहायता, परिश्रम और शुद्धि का फल है।

दासबोध ।

अनुवाद को दुहराने और मराठी दासबोध के अर्थ से मिलाकर ठीक ठीक जाचने । लिये नवम्बर १९०९ में पाच छै चिद्वान् मित्रों की एक कमेटी नियत की गई । उन लोगों इस कार्य में जो निष्काम प्रेम और उत्साह प्रकट किया तथा जो तन मन सहित मिहनत की उसका यथोचित वर्णन लेखनी द्वारा किया नहीं जा सकता । यद्यपि मैं इस स्थान में उन लोगों के नाम प्रकाशित करने में असमर्थ हूँ, तथापि अत्यंत कृतज्ञभाव से अपने तटव्य उनका स्मरण करके मैं उनको धन्यवाद दिये बिना रह नहीं सकता । उक्त कमेटी के कार्य में हमारे प्रिय बंधु श्रीरामानुज ने विशेष सहायता दी । जिन जिन स्थानों में मूल-ग्रन्थ के यथार्थ भाव समझने में या किसी शब्द का अर्थ जानने में कठिनाई आ पड़नी थी वह आपकी सहायता बहुत लाभदायक होती थी । इस ग्रन्थ के लिखते समय श्रियुत त्रिम्बकराव देहनकर बी० ए० एल्० एल्० बी० वकील बिलासपुर और श्रियुत यशवन्तराव राजामवाले बी० एल्० एल्० बी० वकील रायपुर से अधिक सहायता मिली, अतएव इन दोनों सजनों को मैं यहाँ पर धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ । घुलिया सत्कार्योत्तेजक सभा ने बड़े खोज के साथ दासबोध की जो मूल ग्रन्थ पुस्तक प्रकाशित है उसी पर से यह अनुवाद किया गया है । अतएव इसकी प्रामाणिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है । इन सब बातों से पाठकों को मालूम हो सकता है कि मराठी दासबोध का यह हिन्दी-अनुवाद कितना निर्भ्रान्त, शुद्ध और यथार्थ है । गुजराती भाषा में भी दासबोध का अनुवाद प्रकाशित हो गया है; परंतु वह इस अनुवाद के समान पूर्णार्थ-बोधक और शुद्ध नहीं है । जो महाशय उक्त सब बातों पर ध्यान देंगे वे स्वयं इस ग्रन्थ की योग्यता के विषय में निर्णय कर सकेंगे । इस अनुवाद की भाषा को, जहाँ तक हो सका, सरल, सुगम और सुबोध करने का यत्न किया गया है । संभव है कि, विषय की गंभीरता और मूल-ग्रन्थ की भाषा प्राचीन शैली की तथा पद्यात्मक होने के कारण कहीं कहीं भाषा की रचना भी कठिन प्रतीत हो, परंतु यह अनुवाद-क्रिया ही का स्वाभाविक तथा अटल परिणाम है—सामिकजन इसको दोष नहीं मानते । अस्तु ।

प्राय एक वर्ष में मई १९१० ई० में अनुवाद तथा उसको दुहराने का काम पूरा हो गया । तब ग्रन्थ-प्रकाशन की चिंता की गई । हिन्दी के बड़े बड़े प्रकाशकों से पूछा गया । मेरे पास बतना घन न था कि मैं स्वयं इस ग्रन्थ को छपवाकर प्रकाशित कर सकता । इस लिये किन्ही अन्य प्रकाशक की आवश्यकता थी, यद्यपि मैं ग्रन्थ के बदले में कुछ द्रव्य लिये बिना ही प्रकाशित कराने को राजी था, तथापि मेरे दुर्भाग्य से किसी हिन्दी-ग्रन्थ-प्रकाशक ने मेरी प्रार्थना को स्वीकार करने की कृपा न की । एक ने उत्तर दिया “ इस समय हमारे छाप-खाने में काम बहुत है । आपकी पुस्तक को छापने का हमें अवकाश नहीं है । ” दूसरे ने लिखा “ आप राजनीतिक मामलों में सरकार के सहायक हैं, इस लिये आपकी लिखी पुस्तक हमारे छापेखाने में छपी नहीं जा सकती । हमने मराठी दासबोध का अनुवाद किमी और से कराया है । वही हमारे यहाँ प्रकाशित किया जायगा । ”—खद की बात है कि वह अनुवाद भी अब तक प्रकाशित न हुआ । तीसरे ने कहा, “ यदि आप कोई

भूमिका ।

किसा-कहानी, उपन्यास या नाटक लिखें तो हम आपकी पुस्तकें प्रसन्नतापूर्वक प्रकाशित करेंगे । आपको भी उनके बदले में कुछ द्रव्य मिल जाया करेगा, क्योंकि आजकल हिन्दी में भी ही पुस्तकों की चाह और बिक्री अधिक है । ” इस तरह किसीने कुछ और किसीने कुछ उत्तर दिया । किसी हिन्दी-ग्रंथ-प्रकाशक को दोष देने की मेरी इच्छा नहीं है । मैं उद्देश सिर्फ यह बतलाने का हूँ कि वर्तमान ग्रंथप्रकाशकों की रुचि-भिन्नता, अदूरदर्शिता और उदासीनता के कारण प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशित होने में बहुत विलम्ब हो गया । प्रायः दो वर्षों तक कोई प्रकाशक नहीं मिला । अंत में पूना के सुप्रसिद्ध चित्रशाला प्रेस ने अपनी आभाविक उदारता तथा साहित्य-सेवा के कर्तव्य से प्रेरित होकर साहस-प्रियता प्रकट की । वर्ष १९११ ई० के आरंभ से चि० शा० प्रेस के द्वारा “ चित्रमय जगत् ” नामक एक मासिक पत्र हिन्दी में प्रकाशित होने लगा । पहले पहले मेरे अनुज बाजपेयीजी यहीं (राय-) से उस मासिक पत्र का कुछ काम किया करते थे । परन्तु कुछ दिनों के बाद उन्हें पूना में रह कर पत्र सम्पादन का कार्य करना पड़ा । आपकी स्वार्थ-रहित हिन्दी-सेवा से प्रेस स्वामी श्रीयुत वासुदेवरावजी जोशी बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने अपने छापेखाने में हिन्दी-ग्रंथ प्रकाशन का एक नया विभाग खोल दिया और यह आश्वासन दिया कि हिन्दी के उत्तमोत्तम ग्रंथ प्रकाशित करने का प्रबन्ध किया जायगा । उस आश्वासन का प्रथम फल यही कि, हमारा “ हिन्दी दासबोध, ” दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक अंधेरे में डबा रहने के बाद, आज हिन्दी-पाठकों के सन्मुख प्रकटरूप से उपस्थित हुआ है । छापने का काम गत अगस्त महिने में आरंभ किया गया और इस महिने में पूरा हो गया । इससे इस के मैनेजर श्रीयुत शंकर नरहर जोशी महाशय की कार्यतत्परता और सुव्यवस्था प्रकट होती है । अतएव मैं अपने कर्तव्य की ओर ध्यान देकर उक्त दोनों (श्रीयुत वासु-देवराव जोशी और श्रीयुत शं० न० जोशी) महानुभावों को अनेक हार्दिक धन्य-वाद देता हूँ । इस ग्रंथ के बाद “ भारतीय युद्ध ” “ श्रीराम चरित्र ” ‘ आत्म-विद्या ” इत्यादि और भी ग्रंथ प्रकाशित होंगे जो सब लिखे तैयार हैं ।

अब पढ़नेवालों से यह निवेदन है कि, आप इस बात को न भूलिये कि यह ग्रंथ कोई तासूसी किस्सा या अद्भुत उपन्यास नहीं है जो एक बार पढ़कर किसी कोने में फेंक दिया जाय । इसमें ऐसी अनेक बातें बताई गई हैं जो आत्मा, ब्यक्ति, समाज और देश के हित की दृष्टि से विचार करने तथा कार्य में परिणत करने योग्य हैं । इस लिये परमार्थ ही इच्छा रखनेवाले पुरुष को विशेषकर इस ग्रंथ का पूर्वाध और सासारिक अभ्युदय चाहनेवाले मनुष्य को इसका उत्तरार्ध बारवार मननपूर्वक पढ़ना चाहिए । इन सब गंभीर बातों का उल्लेख आलोचना में किया गया है । यदि आप उन पर उचित ध्यान देंगे तो इसमें भ्रम नहीं कि आपका कल्याण अवश्य होगा ।

जिस ईश्वर की कृपायुक्त प्रेरणा से श्रीरामदासस्वामी के सामर्थ्यशाली दासबोध का अनुवाद-क्रिया-रूप से दृढ़ परिचय प्राप्त हुआ उसकी दयालुता को स्मरण करके और

दासबोध ।

उसके चरण-कमलों का बारंबार वंदन करके मैं इस भूमिका को समाप्त करता हूँ । मैं आ करता हूँ कि, श्रीसमर्थ ने सोलहवें दशक के, दसवें समास के २०-३० पद्यों में वैदिक धर्म के सर्वोत्तम तत्त्व का उल्लेख करके जो हितदायक उपदेश किया है उसकी ओर और और इस ग्रंथ के पढ़नेवाले मेरे सर्व मित्रों का ध्यान सदा बना रहेगा । देखिये, समर्थ कहते हैं.—उपासना का बड़ा भारी आश्रय है, उपासना बिना काम नहीं चल सकता चाहे जितना उपाय किया जाय, परन्तु सफलता नहीं हो सकती ॥ २९ ॥ जिसे समर्थ आश्रय नहीं होता उसे चाहे जो कूट डालता है ! इस लिये सदा भजन व रहना चाहिए ॥ ३० ॥

इस पुस्तक में प्रथित ' बोध ' के अनुसार आचरण करने की सदबुद्धि परमात्मा की से सब लोगों को प्राप्त हो, यही अंतिम प्रार्थना है ।

तात्यापारा
रायपुर सी० पी० }

माधवराव सप्रे



श्रीसमर्थ रामदासस्वामी ।



अवतार-आरम्भ—चैत्र शुक्ल नवमी शाके १५३० रविवार ।

अवतार-समाप्ति—माघ कृष्ण नवमी शाके १६०३ शनिवार ।

रामदासस्वामी ।

प्रस्तावना ।

भारत के सनातन-धर्मावलम्बियों का इस सिद्धान्त पर पूर्ण विश्वास है कि जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब तब साधुजनों की रक्षा और दुष्टजनों का नाश करके, धर्म की स्थापना करने के लिए, ईश्वर का अवतार होता है। इसी विश्वास के अनुसार हमारे धर्म में रामकृष्णादि विष्णु के मुख्य दस अवतार माने गये हैं। महाराष्ट्र प्रान्त में श्रीरामदासस्वामी को हनुमान्जी का अवतार मानते हैं। इसके लिए भविष्यपुराण में प्रमाणभूत एक श्लोक भी कहा जाता है—

कृते तु मारुताख्याश्च त्रेतायां पवनात्मजः ।

द्वापरे भीमसंज्ञश्च रामदासः कलौयुगे ॥

इस श्लोक में यह बताया गया है कि, हनुमान्जी के कौन कौन अवतार किस किस युग में होंगे। कृतयुग या सतयुग में हनुमान् का जो अवतार होगा उसको “मारुत” कहेंगे, त्रेतायुग में “पवनात्मज,” द्वापर में “भीम” और कलियुग में “रामदास” कहेंगे। श्रीरामदासस्वामी ने भी अपने विषय में जो थोड़ा बहुत लिखा है उससे भी कुछ ऐसी ही ध्वनि निकलती है। अस्तु। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि, श्रीरामदासस्वामी महान् भगवद्भक्त, साधु, कवि और राजनीतिज्ञ थे। उनका चरित्र और उनकी लीला अनुपम है। जिन्होंने यवन-पद-दलित महाराष्ट्रभूमि में, अपनी अप्रतिम निस्पृहता और पारमार्थिक शिक्षा से, स्वधर्म और स्वराज्य की स्थापना में सहायता करके “समर्थ” पदवी प्राप्त की। उनका पूरा परिचय, इस अल्प सारांशरूप लेख में देना असम्भव है। तथापि यथाशक्ति इस चरित्र के विशद करने का प्रयत्न किया जायगा।

वंशपरंपरा और जन्म ।

दक्षिण देश में जिस समय हिन्दू राजाओं ने अपना राज्य स्थापित किया उस समय वे अन्य प्रान्त के लोगों को, अपने राज्य में बसने के लिए, जमीन और द्रव्य देकर लाते थे। वेदर प्रान्त (निजामशाही) से बहुत लोग गोदावरी नदी के किनारे जाकर बसे। उन लोगों में कृष्णाजीपन्त ठोसर नामक एक देशस्थ (महाराष्ट्र ब्राह्मणों की एक श्रेणी) ब्राह्मण थे। वे शाके ८८४ (सन् ९६२ ई०) में उत्तर गोदावरी के तीर, वीड प्रान्त में, हिर्वेरा नामक ग्राम में, आकर कुटुम्ब-सहित रहने लगे। उन्होंने वीड प्रान्त में बहुत से गाँव बसाये। उनके चार पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र का नाम दगरथपन्त था। उन्होंने अपने पिता की कमाई हुई जायदाद का हिस्सा लेना उचित नहीं समझा, इसलिए वे हिर्वेरा से कुछ दूर बडगाँव को चले गये। उस गाँव की बस्ती उजाड़ हो गई थी और वहाँ ग्वाल जाति के कुछ

लोग गद्य चरने के लिए जंगल में रहते थे । उन बालों के मुखिया लखमाजी को जमींदार बना कर दशरथपन्त वहाँ पटवारी और पुरोहित का काम करने लगे । उस गाँव का नाम उन्होंने जाव रखा । यह गाँव इस समय श्रीरामदासस्वामी की जन्मभूमि होने के कारण अत्यन्त पवित्र क्षेत्र माना जाता है । कुछ दिनों के बाद जाँव के आस-पास कई गाँव बस गये । और उस इलाके के पटवारी और पुरोहित का काम दशरथपन्त ही को मिला । वे बड़े भगवद्भक्त थे । उनके मुख्य उपास्य देव श्रीरामचन्द्र ही थे । उनके छै पुत्र हुए । ज्येष्ठ पुत्र का नाम रामाजीपन्त था । पिता न मरने के बाद रामाजीपन्त को जाँव इलाके की वृत्ति मिली । उपर्युक्त कृष्णाजीपन्त, दशरथपन्त और रामाजीपन्त श्रीसमर्थ रामदासस्वामी के वंश की पहली, दूसरी और तीसरी पीढ़ी के मूल पुरुष थे । रामाजीपन्त के बाद उनकी सौ पीढ़ी में सूर्यजीपन्त नाम के प्रसिद्ध भगवद्भक्त और ब्रह्मज्ञानी पुरुष हो गये । इनकी स्त्री का नाम रामाई था । यही सूर्यजीपन्त और राणूबाई रामदासस्वामी के पिता-माता हैं ।

हमारे यहाँ भगवद्भक्तों के वंश में एक विशेष प्रकार का चमत्कार पाया जाता है । ऐसे वंश में, चाहे ही पाँच वर्ष के बालकों में, विरक्ति और भक्ति के लक्षण प्रकट होने लगते हैं । इस वंश के चाणपान वर्षों के सत्कार से ही इतना प्रभाव बालक पर होना असम्भव है । जान पटना है कि, यह सत्कार पूर्वजन्मों का होता है । अस्तु । सूर्यजीपन्त का भी यही हाल था । बाल्य ही में उनमें भगवद्भक्ति और विरक्ति तथा सद्गुणों के चिन्ह प्रकट होने लगे थे । बरह वर्ष की उम्र में उनकी भक्ति सूर्यनारायण पर हो गई थी । वे पटवारी का भगवार्थ काम तो करते ही थे, पर उनका शेष सारा समय सूर्यनारायण की उपासना में ही व्यतीत होता था । इस प्रकार ३६ वर्ष की अवस्था तक उन्होंने सूर्यदेव का अग्रिम किना । कहते हैं कि, अन्त में सूर्यनारायण ने, प्रसन्न होकर, स्वयं अपनी इच्छा से, उन्हें दो पुत्र होने का वरदान दिया । शाके १५२७ (सन् १६०५) में सूर्यजीपन्त के प्रथम पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम रामाधर रखा गया । यही आगे चलकर " श्रेष्ठ " और " रामारामदास " के नामों से प्रसिद्ध हुए । उनके जन्म के दो दस वर्ष बाद, शाके १५३० (सन् १६०८ ई० के अप्रैल में) कील नामक संवत्सर में, वैशाख शुक्ल २ के दिन, दोपहर के समय, अर्थात् ठीक रामजन्म के समय, साध्वी राणूबाई और सूर्यजीपन्त के दूसरे पुत्र का अवतार हुआ । उसका नाम नारायण रखा गया । यही भगवत् श्रीसमर्थ रामदासस्वामी के नाम से प्रसिद्ध हैं और यही हमारे प्रस्तुत चरित्र हैं । जब में सूर्यजीपन्त के यहाँ उनका जन्म हुआ तब में उनके घर में भक्त, भगवत् और शक्ति की बर्नी होने लगी । उस समय महाराष्ट्रप्रान्त में एकनाथ नामक एक शक्ति और ब्रह्मज्ञान कायु थे । सूर्यजीपन्त अपनी स्त्री राणूबाईसहित प्रति दिन उनके दर्शन के लिए जाते थे । सूर्यजीपन्त जब उनके यहाँ में दर्शन करके चिदा होने लगे । सूर्यजीपन्त ने यहाँ आतीतद देने कि, तुम्हारी कुक्षि से दो महात्मा पैदा हो रहे हैं । इस वर में सूर्यजीपन्त का जन्म होने पर, सूर्यजीपन्त कुटुम्ब-परिवार के साथ यहाँ में रहे । रामदास भगवत् ने अपने यहाँ में दिन तक रक्षक

उनका अतिथि-सत्कार किया और उनके विदा होते समय वे यह भविष्यद्वाणी, सूर्याजीपन्त और राणूवाई को सम्बोधन करके, बोले, “तुम धन्य हो; तुम्हारी कुक्षि धन्य है, और तुम्हारा वंश भी धन्य है ! तुम्हारी उपासना और भक्ति अनुपम है, इसी लिए हनुमानजी के अंश से यह बालक तुम्हारे यहाँ उत्पन्न हुआ है । शिव के अंश से एक प्रसिद्ध छत्रपति राजा महाराष्ट्र में अवतीर्ण होने वाला है । उसके द्वारा तुम्हारा यह पुत्र भूमार हरण करेगा और जनोद्धार करेगा । हमारे प्रारम्भ किये हुए धर्मकार्य की सम्पूर्णता इसीके हाथ में है । अब हम अपना अवतार समाप्त करने वाले हैं ।” यह भविष्यद्वाणी कहने के कुछ ही दिन बाद एकनाथ महाराज का निर्वाण हुआ ।

बाल्यावस्था, विद्याभ्यास और मंत्रोपदेश ।

समर्थ बालपन में सदा प्रसन्नचित्त और हास्यवदन रहते थे । रोना तो वे कभी जानते ही न थे । वे बहुत शीघ्र बोलने और चलने लगे थे । शरीर सुदृढ़ और तेजस्वी था । वे बड़े नटखट और उपद्रवी थे । सदा खेलकूद में निमग्न रहते और क्षणभर भी एक स्थान में न रहते थे । चपलता उनके रोम रोम में भरी हुई थी । घानर की तरह यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ फिरते रहना और अपने साथ के लड़कों को, मुँह बिगाड़ कर विराना और चिढ़ाना भी उनका एक खेल था । उनके माता पिता ने जब देखा कि, ये बहुत उपद्रव करते हैं तब उन्होंने बाल समर्थ को भैयाजू के यहाँ पढ़ने को बैठा दिया; पर भैयाजू के यहाँ उस समय जितनी शिक्षा दी जाती थी उतनी शिक्षा का ज्ञान उन्होंने थोड़े ही दिनों में कर लिया और फिर इधर उधर खेलने कूदने लगे । गाँव के लड़कों को साथ लेकर गोदावरी के किनारे जाते और वहाँ वृक्षों पर, बन्दर की तरह, चढ़ जाते । एक डाल पर से दूसरी डाल पर आना तो उन्हें बहुत सहज था । कभी कभी वे किसी बड़े वृक्ष की चोटी पर चढ़ कर उसे हिलाते थे । वृक्षों के फल स्वयं तोड़ कर खाते और अपने साथियों को खिलाते थे । कभी कभी वे वृक्ष के ऊपर ही से, नीचेवाले लड़कों को फलों की गुठलियों फेंक फेंक कर मारते थे । वृक्ष पर चढ़ने का उनका साहस देख कर सब लोग आश्चर्य करते । उनके साथी तो, उनको, वृक्ष पर चढ़ कर डाल हिलाते हुए देख कर, बहुधा चिल्लाया करते कि, “अरे ! अब यह गिरा-गिरा-गिरा !” पानी में ऊँचे पर से कूदना और तैरना भी उन्हें बहुत पसन्द था । इस प्रकार वे गाँव के बाहर खेला करते थे । इसके सिवा, जितनी देर वे गाँव में रहते उतनी देर भी उनका यही हाल रहता था । कभी छप्पर पर से दीवार पर कूदते और कभी किसी वृक्ष पर से किसी के घर में कूद पड़ते ! साराश, उनकी बाललीला देख कर यदि लोग उन्हें हनुमानजी का अवतार समझने हैं तो कोई आश्चर्य नहीं । बहुत लोग समझने हैं कि जो लड़के बहुत खिलाडी और चपल होते हैं वे आगे, अवस्था के कुछ प्रौढ होने पर, बड़े प्रतिभाशाली निकलते हैं । समर्थ के विषय में भी यह अनुमान बहुत ठीक जान पड़ता है । पँचवें वर्ष में सूर्याजीपन्त ने उनका यज्ञोपवीत बड़ी धूमधाम के साथ किया ।

यज्ञोपवीत के वद उनके पिता ने उनकी शिक्षा के लिए एक वैदिक ब्राह्मण नियत किया । समर्थ ने उसी ब्राह्मण के पास, अपने घर में रह कर, उत्तम अक्षर लिखना, निम्न नैमित्तिक

कर्म और कुछ संस्कृत का अभ्यास किया। उन्होंने दिनों में उनके पिता सूर्याजीपन्त का स्वर्ग-वास हो गया। दोनों भाइयों ने पिता का उत्तरकार्य किया। उसी समय से समर्थ के ज्येष्ठ बन्धु गंगाधर उपनाम “श्रेष्ठ” उनके विद्याभ्यास में दृष्टि रखने लगे। समर्थ के ग्रन्थों को देख कर यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि वे संस्कृत के पूर्ण पंडित थे, तथापि “उपनिषद् और भागवत” के समान कठिन ग्रन्थों से वे अच्छी तरह परिचित थे। इस बात का उल्लेख उन्होंने अपने “ठासरोध” नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में पहले दशक के पहले ही समास में किया है। उनके अद्ययन के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि, उन्हें संस्कृत समझने भर का ज्ञान अवश्य था। इसके सिवा, उनका बहुश्रुतपन अगाध था।

समर्थ रामदासस्वामी यां तो बाल्य ही से भगवद्भक्त थे, पर पिता के देहान्त होने पर उनमें और भी अधिक विरक्ति आ गई। समर्थ के ज्येष्ठ बन्धु श्रेष्ठ का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। महाराष्ट्र के लोग जिस प्रकार समर्थ को हनुमान् का अवतार मानते हैं उसी प्रकार उनके ज्येष्ठ बन्धु को वे सूर्य का अवतार समझते हैं। श्रेष्ठ भी, अपनी वंश-परम्परा के अनुसार, श्रीराम के भक्त और उपासक थे। वे भी अनेक लोगों को मंत्रोपदेश देकर, भक्तिमार्ग न प्रवृत्त करने थे। एक बार एक मनुष्य उनके पास मंत्र लेने के लिए आया। श्रेष्ठ ने अनुष्टुप्पुस्तके उसे मन्त्रदीक्षा देकर भक्तिमार्ग का उपदेश दिया। यह देख कर समर्थ अपने बन्धु से कहने लगे कि, हमें भी आप मंत्र दीजिए। उनके बन्धु ने उत्तर दिया कि, आपका वय अभी छोटा है। मंत्रोपदेश के लिए जो पात्रता चाहिए वह अभी आप में नहीं है। इस प्रकार का उत्तर सुन कर समर्थ अपने ग्राम के बाहर, गोदावरी के किनारे, हनुमान् के मन्दिर में जाकर उनकी प्रार्थना करने लगे। कहते हैं कि, उनकी भक्ति और निष्ठा देख कर हनुमान्जी ने, उनके ऊपर कृपा करके, दर्शन दिये और कहा कि, आप अभी मंत्र पाने के लिए उनीं दर्शना प्राप्त करने हैं। परन्तु जब समर्थ ने उपदेश देने के लिए बहुत आग्रह किया तब हनुमान्जी ने उन्हें वहाँ रामचन्द्रजी का दर्शन कराया। रामचन्द्रजी ने उन्हें “श्रीमान् जय राम जय जय राम” इस त्रयोदशाक्षरी मंत्र का उपदेश दिया और आज्ञा दी कि, “गंगे पृथ्वी में यवन छाये हुए हैं। अनीति का राज्य है, दुष्ट लोग अधिकारमद में बगैरके होकर साधुओं को मत्ता रहे हैं। धर्म का हानि हो रहा है, इसलिए आप वैराग्य-गुण में गहरी-गहरी रह कर उपासना और ज्ञान का वृद्धि करके, लोकोद्धार करें।” इस प्रकार श्रीराम से भक्तिप्रेमा और आज्ञा पाकर बाल-समर्थ को परम सन्तोष हुआ। उनकी माता और बन्धु भी उस वृत्त में बहुत मान्य हुआ तब वे अत्यन्त हर्षित हुए।

विवाह-प्रसंग ।

जिस प्रकार बाल-समर्थ पुत्र के लिए अनेक उत्साह से इच्छाये रखते हैं उसी प्रकार बाल-समर्थ की माता गंगाधर भी अपने पुत्र नारायण (बाल-समर्थ) के विवाह के लिए अत्यन्त उत्साह से थीं। विवाह की बात सुन कर नारायणजी बहुत चिन्तित और नाना प्रकार से विचार-विचार करते थे। एक बार विवाह के विचारों के विषय में बात कर

जंगल में चले गये । उनके ज्येष्ठ बन्धु श्रेष्ठ बहुत समझा-बुझाकर उन्हें घर ले आये । उनकी यह चाल देख कर माता राणूवाई को बड़ी चिन्ता हुई । श्रेष्ठ अपने कनिष्ठ बन्धु नारायण की विरक्ति देख कर पहले ही समझ गये थे कि यह विवाह नहा करना चाहता । उन्होंने अपनी माता को बहुत प्रकार से समझाया; पर वे बार बार यह कहतीं कि नारायण का विवाह अवश्य होना चाहिए । अवसर पाकर एक दिन माता राणूवाई अपने नारायण को एकान्त स्थान में ले गईं और मुख पर हाथ फेर कर, बड़े लाड़-प्यार से बोलीं, “ बेटा, तू मेरा कहना मानता है या नहीं ? ” वालक समर्थ ने उत्तर दिया, “ मातुश्री, इसके लिए क्या पूछना है ? आपका कहना न मानेगे तो मानेंगे किसका ? कहा भी है, “ न मातु पर दैवतम्, ” यह सुन कर माता राणूवाई बोलीं, “ अच्छा तो विवाह की बात चलने पर तू ऐसा पागलपन क्यों करता है ? तुझे मेरी शपथ है, “ अन्तरपट ” पकड़ने तक तू विवाह के लिए इन्कार न करना । ” माता की यह बात सुन कर समर्थ बड़े विचार में पड़े । कुछ देर तक सोच-विचार कर उन्होंने उत्तर दिया, “ अच्छा, अन्तरपट पकड़ने तक मैं इन्कार न करूँगा । ” भोली भाली विचारी माता ! समर्थ के दाँव-पेच उसे कैसे मालूम होते ! राणूवाई ने समझ लिया कि लड़का विवाह करने के लिए तैयार होगया । उन्होंने जब यह बात अपने बड़े पुत्र श्रेष्ठ से बतलाई तब वे कुछ हँसे और प्रकट में सिर्फ इतना ही कहा, “ क्यों न हो ! ”

जब देखा गया कि लड़का विवाह करने के लिए राजी है तब सब की सम्मति से एक कुलीन और प्राचीन सम्बन्धी कुल की कन्या से विवाह निश्चिन किया गया । लग्नतिथि के दिन श्रेष्ठ सारी वरात लेकर, बड़ी धूमधाम के साथ कन्या के पिता के यहाँ पहुँचे । सब के साथ समर्थ भी आनन्दपूर्वक गये । सीमन्तपूजन, पुण्याहवाचन आदि लग्नविधि होते समय श्रेष्ठ और समर्थ, दोनों भाई, आपस में एक दूसरे की ओर देख कर, मन्द मन्द हँसते जाते थे । कुछ समय के बाद अन्तरपट पकड़ने का अवसर आया । ब्राह्मणों ने मंगलाष्टक पढ़ना प्रारम्भ किया । सब ब्राह्मण एक साथ ही “ सावधान ” बोले । समर्थ ने सोचा कि मैं सदा सर्वदा सावधान रहता हूँ, फिर भी ये लोग “ सावधान, सावधान ” कहते ही हैं, इस लिए इस शब्द में अवश्य कुछ न कुछ भेद होना चाहिए । मातुश्री की आज्ञा भी अन्तरपट पकड़ने तक की ही थी । वह भी पूर्ण हो गई । मैं अपना वचन पूरा कर चुका । अब मैं यहाँ क्यों बैठा हूँ ? मुझे सचमुच सावधान होना चाहिए—इस प्रकार मन में विचार करके समर्थ एकदम लग्नमण्डप से उठ कर भगे । कई लोग उनके पीछे दौड़े; पर वे हाथ नहीं आये । इधर लग्नमण्डप में बड़ा शोर-गुल मचा । कुछ शान्ति होने पर, ब्राह्मणों ने लड़की का दूसरा विवाह कर देने के लिए जाल्साधार दिखलाकर सम्मति दी । समर्थ के भगने का हाल जब उनकी माता को मालूम हुआ तब वे बहुत दुःखित हुईं । श्रेष्ठ ने उनका समाधान किया और कहा कि, “ आप कोई चिन्ता न करें । नारायण कहीं न कहीं आनन्द से रहेगा । मैं पहले ही कहता था कि उसके विवाह के प्रयत्न में न पड़ो । अस्तु, जो हुआ सो हुआ ! ”

टाकली में तपश्चर्या ।

विवाह-समय से सावधान होकर समर्थ पहले दो चार दिन अपने गाँव जाँव की पंचवटी

मे छिपे रहे, वहाँ से वे नासिक पंचवटी को चले गये । आज कल रेलगाडी से यात्रा करने-वालों को उस समय के प्रवास-सफ़टो का अनुमान नहीं हो सकता । सोचना चाहिए कि, बारह वर्ष के बालक को, शाके १५४२ में (सन् १६२०)में, जाँव से नासिक-पंचवटी तक, सैकड़ों मील की यात्रा करने में, कौन कौन और किस किस प्रकार के सफ़टो का सामना करना पड़ा होगा । भर्तृहरिजी ने ठीक कहा है --

मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ।

कार्य करनेवाला पुरुषार्थी और साहसी महात्मा सुख-दुःख की परवा नहीं करता । इस प्रकार के महात्माओं के सुलक्षण बालरूपन से ही झकलने लगते हैं । नासिक पहुँच कर पंचवटी में श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन करके समर्थ वहाँ से पूर्व की ओर दो तीन मील पर टाकली नामक गाँव में गये । वहाँ गाँव के बाहर एक पुराने और विस्तृत वृक्ष की घनी छाया में कुटी बनाकर रहने लगे ।

टाकली में रह कर समर्थ ने तप करना प्रारम्भ किया । प्रातःकाल उठ कर गोदावरी स्नान करने जाते और वहाँ दोपहर तक कटिपर्यन्त जल में खड़े होकर जप करते थे । दोपहर के बाद पंचवटी में मधुकरी-गिक्षा मँगाने जाते और श्रीरामचन्द्रजी का नैवेद्य लगाकर भोजन करते थे । इसके बाद कुछ समय तक भजन करते और फिर सायंकाल होते ही जप और ध्यान में निमग्न हो जाते थे । उनका सब समय मंत्र, पुरश्चरण और भजन, अर्थात् ईश्वर-राधन, में व्यतीत होता था । वे किसीसे बात भी न करते थे और न किसीके घर जाते थे । पानी में खड़े रहने के कारण, कमर के नीचे सब देह गल कर, सफ़ेद होगई थी । पैरों और घुटनों की खाल और मांस मछलियों नोच नोच कर खा जाया करती थीं । समर्थ का मन उस समय जप और ध्यान में इतना एकाग्र हो जाता था कि मछलियों के नोचने पर उन्हें कुछ मालूम ही न होता था । सच है, महात्मा लोग यदि देह के सुख-दुःख की ओर ध्यान देने लगें तो उन्हें ईश्वर-प्राप्ति कैसे हो ? और वे जनोद्धार कैसे कर सकें ?

इस प्रकार समर्थ ने बारह वर्ष तक नाना प्रकार की कठिन तपस्या की । अन्तःकरण की शुद्धि कठिन तपश्चर्या ही से हो सकती है । “ मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है ” । इस चञ्चल मन को, बिना तप किये, कोई अपने अधीन नहीं कर सकता । जो मन को जीत लेता है उसमें अद्भुत सामर्थ्य अवश्य आ जाता है । काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि मन के प्रमुख विकारों के अधीन होकर मनुष्य नाना प्रकार के दुष्कर्म करते हैं । तपश्चर्या करके शरीर को चला-स्थिर करने से ही मन ढीला पड़ता है और अन्न में मनोजय प्राप्त होता है । जब तक मनुष्य मन को जय नहीं कर पाता तब तक, ईश्वर-प्राप्ति करने के मार्ग में अनेक संकट शरीर में उत्पन्न होते हैं । अनएव सिद्ध है कि बिना तप किये—बिना कष्ट उठाये—परमात्म-प्राप्ति नहीं हो सकती, मोक्ष नहीं मिल सकता अथवा स्वतन्त्रता के दर्शन नहीं हो सकता । समर्थ स्वयं अपने अनुभव में ‘सुमार्ग’ में उन्नीस कष्ट या तप की महिमा गाते हैं —

कष्टेविण फल नार्ही । कष्टेविण राज्य नार्ही ॥

आर्था कष्टान्ने दुःख मोसितौ । ते पुढे सुखाचें फल भोगितौ ॥

कष्ट किये बिना फल नहीं मिलना, कष्ट किये बिना राज्य नहीं मिलना, जो पहले कष्ट (तप) के दुःख सहते हैं वे आगे सुख के फल भोगते हैं । अस्तु ।

श्रीसमर्थ ने बारह वर्ष तक, बड़ी दृढ़ता के साथ, तप किया । इनके समय में उन्हें पुगने ऋषिमुनियों की तरह, अनेक बार बड़े बड़े मायावी संकटों से सामना करना पड़ा, पर उन्होंने विघ्नो की कुछ भी परवा न की । तप करने समय श्रीराम ने, कई बार दर्शन देकर, उन्हें यह आज्ञा दी कि, तुम अब तपश्चर्या मत करो, कृष्णा-तीर जाकर अनौद्वार का काम प्रारम्भ करो । ” परन्तु समर्थ ने यही दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली कि, जब तक पूर्ण रीति से मनोजय प्राप्त न हो जायगा—जब तक शरीर में जनोद्वार करने के लिए सामर्थ्य न आ जायगा—तब तक मैं उस कार्य में हाथ न डालूँगा, अन्त में जब उन्होंने देखा कि, अब मनोविघ्नरों के लिए हमारे शरीर में स्थान नहीं है तब उन्होंने तपस्या बन्द कर दी । और टाकली में जिस कुटी में रह कर वे तपस्या करते थे उसमें हनुमानजी की मूर्ति स्थापित करके, उसकी पूजा करने के लिए, उद्धव गोस्वामी को नियत कर दिया । इसके बाद वे पैरों में पादुका, हाथ में माला, कोंख में कूबड़ी और तुम्बा, मस्तक में टोपी और गरीर में कफनी पहन कर, तीर्थयात्रा तथा देशपर्यटन करने के लिए निकले ।

तीर्थयात्रा और देशपर्यटन ।

जिस प्रकार तीव्र तपस्या करके मनोजय प्राप्त करने की आवश्यकता है उन्हीं प्रकार, लोकोद्वार या धर्मस्थापना करने के लिए, देशपर्यटन करके स्वदेशस्थिति, और तीर्थयात्रा करके धर्म की दशा, जानने की भी जरूरत है । सारा देश घूम कर उद्धारकों को यह जानना पड़ता है कि, जनसमाज की क्या दशा है और तीर्थों में जाकर इस बात की जाँच करनी पड़ती है कि, स्वधर्म का हास करनेवाले कौन कौन कारण धर्मप्रचार में विघ्न डालने हैं । समर्थ ने सारे भरतखण्ड का प्रवास, उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक, पैदल ही किया, उनके पास एक फूटी कौड़ी भी न थी । उदरनिर्वाह के हेतु उन्होंने भिक्षावृत्ति स्वीकार की । स्मरण रखना चाहिए कि भिक्षावृत्ति स्वीकार करने में केवल उदरनिर्वाह ही करना उनका मुख्य हेतु न था । भिक्षा की महिमा गाते हुए वे अपने “ दासबोध ” में कहते हैं —

भिक्षा म्हणजे निर्भयस्थिती । भिक्षेनें प्रगटे महंती ॥

स्वतंत्रता ईश्वरप्राप्ती । भिक्षागुणें ॥

भिक्षा निर्भय स्थिति है, भिक्षा से महंती प्रकट होती है और, भिक्षा ही से ईश्वर मिलता है । इतना ही नहीं, उससे ‘ स्वतंत्रता ’ भी मिल सकती है । भिक्षा माँगने का हेतु यदि केवल पेट भरना ही न हो, उसका यह हेतु हो कि, स्वदेशदशा का ज्ञान प्राप्त किया जाय, तो इसके लिए निस्सन्देह भिक्षावृत्ति से बढ कर अन्य कोई अच्छा साधन नहीं है । रामदास स्वामी, अपने अनुभव से, इस विषय पर, दासबोध में एक जगह और कहते हैं । इस पद्य में वे माँगने का उद्देश विलकुल स्पष्ट किये देते हैं.—

कुग्रामें अथवा नगरें । पाहावी घरांची घरें ॥

भिक्षामिसें लाहान थोरें । परीक्षून सोडावीं ॥

कुग्राम हों चाहें नगर (शहर) हो, घर घर छान डालना चाहिए और भिक्षा के ' मिस' से छोटे बड़े, सब प्रकार के लोगों की, परीक्षा कर डालना चाहिए । ऐसा करने से लोगों के सुख-दुःख मालूम होते हैं । उनके ज्ञान का लाभ अपने को मिलता है और अपने विचार उन पर प्रकट करने का मौका मिलता है । आज कल हमारे देश में भिखारियों की कुछ कमी नहीं है, पर खेद है कि, समर्थ के मत के अनुसार, एक भी भिखारी देश में निकलना कठिन है । अस्तु ।

नाना प्रकार के ग्रामों, नगरों, वनों और पर्वतों में घूमते हुए श्रीरामदासस्वामी पहले काशीजी में पहुँचे । वहाँ गंगास्नान करके, विश्वनाथजी के दर्शन करने के लिए, वे मन्दिर में गये । वहाँ कुछ ब्राह्मण स्त्राभिषेक कर रहे थे । समर्थ का वेष, गेरुए रंग की कफनी और सिर पर जटा, आदि, देखकर उन ब्राह्मणों ने समझा कि यह कोई ब्राह्मणेतर जाति का चैरागी है । उन्होंने समर्थ को लिंग के पास जाने नहीं दिया । समर्थ ने कहा, “ अच्छा है, श्रीरामचन्द्रजी की इच्छा ! ” इतना कहकर वे जहाँ सड़े थे वहाँ से, श्रीविश्वेश्वर जी को और सब ब्राह्मणों को, साष्टांग प्रणाम कर वहाँ से लौट पड़े । उनके लौटते ही, स्त्राभिषेक करनेवाले ब्राह्मणों को, जिन्होंने समर्थ को मन्दिर में जाने नहीं दिया था, विश्वनाथजी का लिंग न देख पड़ने लगा ! इस कारण सब ब्राह्मण बहुत घबराये । परन्तु अन्त में वे समझ गये कि, हो न हो, यह उसी चैरागी का चमत्कार है जिसका हमने अपमान किया है । उनमें से कुछ ब्राह्मण दौड़ते हुए बाहर गये और समर्थ से प्रार्थना करके उन्हें मन्दिर में ले आये । इसके बाद सब ब्राह्मणों ने पश्चात्ताप-युक्त श्रीविश्वनाथ की प्रार्थना की और रामदासस्वामी से क्षमा माँगी । थोड़ी देर के बाद फिर उन्हें लिंग यथावत् देख पटने लगा । समर्थ ने कुछ दिन तक काशी में निवास करके नाना प्रकार का अनुभव प्राप्त किया । वहाँ से उन्होंने प्रयाग और गया की भी यात्रा की । काशीजी में एक घाट का नाम हनुमानघाट होने पर भी उसमें हनुमानजी की मूर्ति न थी, इस लिए उन्होंने वहाँ हनुमानजी की मूर्ति स्थापित की ।

काशी से चलकर समर्थ अपने परम प्रिय इष्ट देव श्रीराम की जन्मभूमि अयोध्याजी में गये । वहाँ सरयू नदी में स्नान करके श्रीराम और हनुमान आदि देवताओं के दर्शन किये । कुछ दिन वहाँ रह कर अयोध्या-माहात्म्य का श्रवण किया । इसके बाद मथुरा, वृन्दावन, गोकुल आदि तीर्थक्षेत्रों में स्नान, देवदर्शन और कुछ दिन रह कर सतसमागम, आदि करते हुए वे द्वारकाजी की ओर पधारे । द्वारका में पहुँच कर श्रीनाथजी के दर्शन किये, तीर्थ का वेधि-विधान किया । पिंडार्क, प्रभास आदि क्षेत्रों में गये और वहाँ भी तीर्थ-विधि की । समर्थ ने अपने दासबोध में लिखा है कि चाहे जैसा महत हो, उसे आचार श्री रक्षा प्रवर्द्ध करनी चाहिए । यदि वह स्वयं आचार-भ्रष्ट है और दूसरों को आचार की शिक्षा देता है तो वह महन्त कैसा ? वे कहते हैं कि तीर्थों में जाकर मुख्य देव को सहचानना चाहिए । जो लोग तीर्थ करते हैं, पर अन्तरात्मा को नहीं पहचानते—उसमें प्रद्वान नहीं रखते—उनके लिए तीर्थों में क्या रक्खा है ? वही पानी और पत्थर की भेट है । ऐसे लोग व्यर्थ के लिए तीर्थ करके कष्ट उठाते हैं ! द्वारकाजी में समर्थ ने श्रीराम

की मूर्ति स्थापित की और प्रभास क्षेत्र में, रामदासी सम्प्रदाय का मठ स्थापन करके, अनेक लोगों को भक्तिमार्ग में प्रवृत्त किया ।

प्रभास क्षेत्र से चलकर, पंजाब के ग्राम-नगरों में घूमते हुए, श्रीरामदासस्वामी श्रीनगर पहुँचे । वहाँ नानकपथी साधुओं से भेट हुई । वे साधु अध्यात्मज्ञान में परम निपुण थे । जब कोई साधु उनके यहाँ आता तब वे वेदान्त-विषयक प्रश्न उससे अवश्य पूछते थे । परन्तु जो साधु उनकी शकाओं का समाधान न कर पाता था उसका वे उपहास कभी न करते थे । समर्थ का आगमन सुनकर वे उनके दर्शन के लिए गये और भक्तिपूर्वक कुछ अध्यात्म-प्रश्न उनसे पूछे । जिन शकाओं का उत्तर बड़े बड़े अनुभवी साधु न दे सकते थे उनको श्रीसमर्थ ने, बात की बात में, हल कर दिया । नानकपथी साधुओं को उनका अध्यात्मनिरूपण सुनकर बड़ा आनन्द हुआ । उन्होंने रामदासस्वामी को, बड़े आदर के साथ, एक मास तक अपने यहाँ रख लिया । जब समर्थ वहाँ से बिदा होने लगे तब उन सिम्ख-गुरुओं ने समर्थ से मंत्रदान के लिए प्रार्थना की । समर्थ ने कहा, “ आप लोगों के गुरु वही नानकजी हैं जिन्होंने मुसल्मानों से भी राम राम कहा-लया है ! वह उपदेश क्या तुम्हारे लिए कम है ? नानकपथ की सार्थकता करो ! ” इतना कहकर समर्थ हिमालय की ओर चले । हिमालय में उन्होंने बदरीनाथ, केदारनाथ और उत्तरमानस की यात्रा की । हिमालय के एक अति उच्च शिखर पर ‘श्वेतमास्ती’ का स्थान है । वहाँ, शीत या हिम की अधिकता के कारण, कोई पुरुष नहीं जा सकता । स्वामी शंकराचार्यजी वहाँ तक गये थे । श्रीसमर्थ भी वहाँ तक गये और हनुमान्जी के दर्शन करके, कुछ दिन में, लौट आये । इस प्रकार उत्तर और पश्चिम की यात्रा पूर्ण करके, अनेक मनोरम तथा विकट स्थानों में घूमते हुए, वे एकदम पूर्व की ओर जगन्नाथजी को चले ।

जगन्नाथपुरी में पहुँचने पर पद्मनाभ नामक एक ब्राह्मण समर्थ के शरण में आया । उसे मंत्र देकर समर्थ ने रामदासी सम्प्रदाय का उपदेश दिया और पुरी में श्रीराम की मूर्ति स्थापित करके, मठ की व्यवस्था उसी ब्राह्मण को सौंप दी । जगन्नाथजी के दर्शन करके पूर्वी समुद्र के किनारे प्रवास करते हुए, वे दक्षिण में रामेश्वर को गये । वहाँ देवदर्शन और पूजन-अर्चन करके समर्थजी लका तक गये । लका में पहुँचकर उन्हें रामायणकालीन विभीषण और हनुमान् आदि रामसेवकों का स्मरण आया । वहाँ कई दिन रह कर उन्होंने विभीषण आदि की प्रार्थना विषयक कुछ कविता रची । लका से लौट कर वे आदिरंग, मध्यरंग, अंतरंग, श्रीजनार्दन और दर्शसेन आदि क्षेत्रों में जाकर देवदर्शन करते हुए, गोकर्ण महाबलेश्वर में पहुँचे । वहाँ कुछ दिन रहकर शेषाद्रि पर्वत पर गये, और फिर श्रीवैश्वेश, श्रीशैल्य-मल्लिकार्जुन, बाल नरसिंह, पालक नरसिंह, शचोटी, वीरभद्र और पुराण-प्रसिद्ध पंचलिंगों के दर्शन करके किष्किन्धा नगरी में आये । वहाँ पम्पासर, ऋष्यमूक पर्वत आदि रामायण प्रसिद्ध स्थान देखकर, श्रीकार्तिकस्वामी के दर्शन को देवगिरी पर गये । वहाँ से दक्षिणकाशी (करवीर-क्षेत्र) को लौट आये । इसके बाद कोंकण के रास्ते से, पश्चिमी समुद्र के किनारे होते हुए

महाचलेश्वर में आकर उन्होंने श्रीपठरीनाथ भीमाशकर के दर्शन किये और श्रीच्यम्बकेश्वर को ाकर वे नासिक-पंचवटी में लौट आये ।

इस प्रकार बारह वर्ष पैदल प्रवास करके श्रीसमर्थ ने विविध प्रकार के आधिभौतिक तापों । अनुभव प्राप्त किया, अनेक प्रकार के लोगों से मिले, भिन्न भिन्न जनस्वभावों की रीक्षा की, भौति भौति के सामाजिक, धार्मिक और राजकीय आचार-व्यवहार देखे, न्न भिन्न प्रान्तों के राज्य-प्रबन्ध का अवलोकन किया, नाना प्रकार से सन्तसमागम करके ध्यात्मज्ञान का रहस्य जाना और प्रकृति के अनेक चमत्कारिक और रमणीय दृश्यों का रीक्षण किया । साराश, स्वदेश सम्बन्धी सारी आवश्यक बातों का ज्ञान, देश-पर्यटन और र्थियात्रा करके, उन्होंने प्राप्त किया । इस सम्पूर्ण ज्ञान का परिपाक उनके ग्रन्थों में हुआ । विशेष कर उनका “ दासबोध ” तो इसी प्रकार के अनुभव-जन्य ज्ञान का समुद्र । ऐसी कोई भी बात नहीं है जो उसमें न हो । स्थान स्थान पर प्रकृति के मनोहर और नूठे दृश्यों का प्रतिबिम्ब इस ग्रन्थ में मिलता है । उन दृश्यों के उदाहरण देने के लिए हाँ स्थान नहीं है ।

पंचवटी में आकर समर्थ ने पंचगंगा का स्नान किया और श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन करके र्थिना की कि, “ बारह वर्ष की तीर्थयात्रा करके मैंने आपको कृपा से अनेक स्थानों में वताओं के दर्शन किये, तीर्थ-सलिल से स्नान किये और नाना प्रकार के विधि-विधान किये—इन कर्मों का फलस्वरूप पुण्य मैं आज आपके चरणों में अर्पण करता हूँ । ” बेचार करने की बात है कि, समर्थ कितने निस्पृह महन्त थे, वे कैसे कर्मयोगी थे । नेष्कामकर्म करने का इससे अच्छा और कौन उदाहरण मिल सकता है ? समर्थ अपने लेए कुछ भी नहीं चाहते थे । वे जानते थे कि हम जो कुछ बुरा या भला काम करते हैं वह अपने लिए नहीं—उस ईश्वर के लिए करते हैं—उस आत्माराम के लिए करते हैं; और इसी लिए उन्होंने अपने सम्पूर्ण धर्म-कर्मों का पुण्य आज राम के पवित्र चरणों में अर्पण कर दिया । श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन से कहते हैं:—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्सपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

भ० गी० अ० ९ ।

हे कौंतेय ! तुम जो भोजन करो, जो हवन करो, जो दान करो, जो तप करो; (कहीं तक कहें) जो कुछ करो, सब मुझे अर्पण करो । ठीक यही बात समर्थ के आचरण में पाई जाती है ।

पंचवटी से निकल कर समर्थ, पैठण गाव में एकनाथ महाराज की समाधि के दर्शन करते हुए, गोदावरीप्रदक्षिणा के लिए चले । मार्ग में जब वे गोदावरी नदी के किनारे अपनी जन्मभूमि जाँव के निकट पहुँचे तब उन्हें अपनी माता और श्रेष्ठ बन्धु का स्मरण आया । इधर उनकी माता अपने प्रिय पुत्र नारायण के वियोग से विलकुल व्वाकुन हो गई थीं । शोक के कारण रोते रोते उनके नेत्र भी

चल बसे थे । ऐसी दशा में उन्हें अपने नारायण का निजध्यास सा लग गया था । चौबीस घण्टों के बाद, समर्थ, भ्रमण करते हुए, अपने गाँव में पहुँचे और हनुमान् जी के दर्शन करके, अपने घर के प्रथम बड़े दरवाजे से आगे बढ़ कर, उन्होंने “ जय जय श्रीरघुर्वार समर्थ ” कह कर भिक्षा माँगी । उनकी माता ने, जो सामने दालान में बैठी हुई थी, अपनी बहू (श्रेष्ठ की पत्नी) को आज्ञा दी कि वैरागी को भिक्षा दे आओ । यह सुन कर समर्थ, आगे बढ़ कर, अपनी माता से बोले, “ अन्य वैरागियों की तरह भिक्षा लेकर लौट जानेवाला आज का वैरागी नहीं है । ” दूसरी बार समर्थ के बोलने पर माता ने उनका शब्द पहचान लिया और शीघ्र ही उठ कर कहने लगी, “ क्या नारायण आया है ? ” इतना सुनते ही रामदास स्वामी माता के चरणों में लिपट गये । माता और पुत्र दोनों के नेत्रों में प्रेमाश्रु की धारा उमड़ आई । माता राणूवाई जब अपने पुत्र के मस्तक और मुख पर प्यार का हाथ फेरने लगी तब उनके हाथ में समर्थ के बड़े हुए जटाजूट और दाढ़ी का स्पर्श हुआ और वे बड़े आश्चर्य से बोली, “ अरे नारायण ! तू कितना बड़ा होगया ! मेरी आँखों से तो कुछ सूझ नहीं पड़ता; अपने नारायण को कैसे देखूँ ? ” अपनी मा के ये दीन वचन सुन कर समर्थ का हृदय भर आया । उन्होंने ज्योंही अपना पवित्र हाथ माता के नेत्रों पर फिराया त्योंही उन्हें फिर पूर्ववत् सब कुछ देख पड़ने लगा । उस समय राणूवाई के सामने आनन्द की लहरे उठने लगी । उन्होंने आश्चर्यित होकर पूछा, “ बेटा ! यह भूत-विद्या तूने कहा से सीखी ? ” समर्थ ने तत्काल एक पद बनाकर इस प्रश्न का उत्तर दिया । उस पद का सारांश इस प्रकार है:—

“ जो भूत अयोध्या के महलों में संचार करता था, जो भूत कौशल्या के स्तनों में लगा था, जिस भूत के चरण का स्पर्श होने से पत्थर की स्त्री हो गई और जिस भूत ने और भी इसी प्रकार के अनेक चमत्कारपूर्ण कार्य किये वही सर्व महाभूतों का प्राणभूत मुझमें संचार करता है । यह विद्या उसीकी कृपा का फल है । ” माता और पुत्र में इसी प्रकार का वार्तालाप हो रहा था; कि इतने में समर्थ के ज्येष्ठ बन्धु श्रेष्ठ भी बाहर से आ गये । समर्थ उन्हें देखते ही चरणों पर गिर पड़े । दोनों भाइयों ने आपस में प्रेम-पूर्वक आलिंगन किया । श्रीरामदासस्वामी कई दिन तक अपने घर में आनन्द-पूर्वक रहे । प्रति दिन भोजन करके दोनों भाई एक साथ बैठते और अध्यात्मज्ञान-विषयक वार्तालाप किया करते थे । समर्थ की बुद्धि का चमत्कार देख कर श्रेष्ठ को परम हर्ष हुआ । समर्थ जब अपनी माता से विदा होने लगे तब माता ने बहुत शोक प्रकट किया । यह देख कर उन्होंने अपनी माता को वही आत्मबोध बतलाया जो भागवत में कपिल मुनि ने अपनी माता को दिया है । उस बोध से माता राणूवाई को बहुत नान्ति मिली । इसके बाद रामदास स्वामी, अपने बन्धु से आज्ञा लेकर, गोदावरी-प्रदक्षिणा के लिए आगे बढ़े । समुद्रसगम पर गोदावरी के सात प्रवाह हो गये हैं । प्रत्येक प्रवाह की दाहिनी ओर से परिक्रमा करते हुए वे दक्षिण किनारे पर गये । वहाँ से

अम्बकेश्वर में गोदावरी के उद्गमस्थान पर जाकर, पंचवटी के दक्षिण ओर पहुँचे और वहाँ श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन करके गोदावरी-प्रदक्षिणा पूर्ण की । इस प्रकार बारह वर्ष तप और बारह वर्ष तीर्थयात्रा तथा देश-पर्यटन करके उन्होंने जनोद्धार करने का सामर्थ्य प्राप्त किया । इस समय उनका वय छत्तीस वर्ष का था ।

धर्मप्रचार और जनोद्धार का कार्य ।

श्रीसमर्थ पहले पंचवटी से अपने तपस्थान टाकली को आये और वहाँ उद्धव स्वामी से भेट करके, श्रीरामचन्द्रजी के आदेशानुसार, कृष्णा के तीर धर्मप्रचार और लोकोद्धार का कार्य प्रारम्भ करने के लिए, वे दक्षिण देश को चले । पहले पहल वे महाबलेश्वर को गये । और वर्षा-ऋतु के चार महीनों में वे वहीं रहे । वहाँ उन्होंने हनुमान्जी का मठ स्थापन करके अपना सम्प्रदाय बढ़ाया और अनेक लोगों को भजनमार्ग में लगाया । अनन्त भट्ट, दिवाकर भट्ट आदि कई विद्वान् वहाँ उनके शिष्य बने । महाबलेश्वर से चल कर, सितारा ज़िले में रामदासी सम्प्रदाय का प्रचार करते हुए, वे वाई क्षेत्र में पहुँचे और वहाँ कृष्णा नदी के तट पर, एक अश्वत्थ-वृक्ष के नीचे रहने लगे । वाई क्षेत्र के पण्डित और शास्त्री उनका अध्यात्मज्ञान देख कर उनके शरण में गये और दीक्षा लेकर भजनमार्ग में लगे । वहाँ भी समर्थ ने हनुमान्जी की मूर्ति स्थापित की और मठ का प्रबन्ध एक शिष्य के अधिकार में कर दिया । वाई क्षेत्र से चल कर वे माहुली में पहुँचे । वहाँ गाव के बाहर, एक पहाड़ी के ऊपर, हनुमान्जी के मन्दिर में रहने लगे । प्रातःकाल उठ कर वे कृष्णा नदी में स्नान करके सध्या आदि नित्यकर्म करते और दोपहार होने पर वस्ती में मधुकरी माँग कर भोजन करते थे । इसके बाद, फिर उसी पर्वत पर आकर भजन, जप और ध्यान में मग्न रहते थे । वहाँ कभी कभी उनके समकालीन सतजन एकत्र होकर धर्म-चर्चा किया करते थे । प्रत्येक साधु अपने अपने अनुभव की बातें बतलाता और सब मिल कर हरिभजन और कीर्तन करते थे । श्रीरामदासस्वामी का अनुपम सामर्थ्य देख कर उसी समय सत लोग उन्हें “ ममर्थ ” कहने लगे । कुछ दिन माहुली में रह कर वे क्हाड को चले गये । क्हाड-प्रान्त में उनके अलौकिक चमत्कारों को देख कर अनेक लोग उनके शरण में आये । उस प्रान्त के शाहपुर नामक ग्राम में उन्होंने हनुमान् का मन्दिर बनवाया और उसमें “ प्रताप-भास्वति ” की स्थापना करके उसका प्रबन्ध बाजीपन्त नामक एक मुखिया को सौंप दिया । बाजीपन्त ने सकुटुम्ब मंत्रोपदेश लिया । उनकी स्त्री सतीवाई समर्थ पर बहुत भक्ति रखती थीं । समर्थ ने कई प्रकार के भयानक चमत्कार दिखला कर सतीवाई की परीक्षा ली, पर वे बराबर अपनी भक्ति पर दृढ़ रहीं । यह देख कर समर्थ बहुत प्रसन्न हुए और कहते हैं कि उन्हें साक्षात् हनुमान् का दर्शन कराया ।

इस प्रकार धर्म का प्रचार करते हुए समर्थ चाफल नामक ग्राम के समीप पहुँचे । वहाँ वे

* इनके पुत्र गिकाजी गोस्वामी समर्थ के एक मुख्य महंत थे । वे तजीर क मठ में रहते थे । ममर्थ के निर्घोष के बाद शाके १६०४ में उन्होंने ममर्थ का मूल मराठे चरित्र ग्रंथ औपरी छन्द में लिखा ।

पहले कई वर्षों तक वन-पर्वतों की दरी, खोरी और कन्दराओं में घूमते रहे । उस समय बस्ती में वे बहुत कम आते जाते थे । जब कभी वे लोगों के सामने निकलते तब अवधूत दशा में रहने के कारण लोग उन्हें पागल समझते थे । परन्तु वास्तव में वे पागल नहीं थे, उनका चित्त अखंडरूप से भगवान् में लगा हुआ था । श्रीसमर्थ के दासबोध में उनके आत्मचरित का आभास कई स्थानों में पाया जाता है । एक समास में उन्होंने निस्पृह महन्त लोगों के वर्ताव का वर्णन किया है । उसी समास में वे कहते हैं कि मैंने यह सब पहले किया है, फिर लोगों को बतलाया है । यह समास बड़े महत्त्व का है । चाफल में रह कर, पहले वे बहुत दिनों तक किस प्रकार धर्मप्रचार और लोकोद्धार का कार्य करते रहे—यह बात उक्त समास के पढ़ने से प्रकट होती है । इस समास के दो पद्य हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं । उनसे पाठकगण यह अनुमान कर सकेंगे कि लोकोद्धार का प्रयत्न वे किस चतुराई के साथ करते थे ।

उत्तम गुण तितुके ध्यावे । त्रेऊन जनास शिकवावे ।

उदंड समुदाय करावे । परी गुप्तरूपें ॥ १८ ॥

अखड कामाची लगवग । उपासनेस लावार्वे जग ।

लोक समजोने मग । आज्ञा इच्छिता ॥ १९ ॥

दा० बो० द० ११ स० १० ।

उत्तम उत्तम गुण पहले स्वयं सीख कर फिर लोगों को सिखलाना चाहिए । प्रचण्ड समुदाय इकट्ठा करना चाहिए; पर गुप्त रूप से । काम कभी बन्द न करना चाहिए । सारे जंगल को, सारे देश को, उपासना में—आत्माराम के भजन में—लगाना चाहिए । लोगों को अपने कर्तृत्व का परिचय करा देना चाहिए, क्योंकि लोग जब जान लेने हैं कि यह सच्चा महत्त है तभी आज्ञा पाने की इच्छा करते हैं । इस प्रकार चाफल में रह कर समर्थ ने हजारों शिष्य और सैकड़ों महन्त निस्पृह तैयार किये और महाराष्ट्र के अनेक स्थानों में स्थापित किये हुए मठों में उन्हें नियत किया—इस प्रकार भजन और उपासनामार्ग की खूब वृद्धि करके समर्थ ने लोगों को स्वधर्म में प्रवृत्त किया । स्वधर्म की जागृति होते ही लोगों में स्वाभिमान और ऐक्य का अंकुर उठा । यवन लोगों से, जिनका उस समय महाराष्ट्र में (या भारत भर में) अधिकार था, अपनी स्वतंत्रता और अपना धर्म बचाने की प्रचण्ड या तीव्र इच्छा लोगों के मन में जागृत हुई । इस प्रकार समर्थ रामदासस्वामी ने धर्म और स्वतंत्रता के विषय में उस समय विचारक्रान्ति पैदा कर दी । यह सब हाल जिस दिन छत्रपति शिवाजी महाराज के कानों तक पहुँचा उसी दिन उनके मन में समर्थ के समान महात्मा का दर्शन करने के लिए, तीव्र उत्कंठा हुई । पर वह दर्शन हो कैसे ? समर्थ स्वयं पहले पहल उनके यहाँ जानेवाले न थे, और न वे एक स्थान में रहते ही थे, जो छत्रपति महाराज सहज में दर्शन कर सकते । अन्त में जब शिवाजी को समर्थ-दर्शन-लात्सा अनिवार्य होगई तब वे स्वयं एक दिन अपने महल से निकल कर, जंगल पहाड़ों में समर्थ का खोज करते हुए, निकले । बड़ी कठिनाई से वन में एक औदुम्बर वृक्ष के नीचे शिवाजी

को समर्थ के दर्शन हुए । वहाँ शिवाजी महाराज ने मंत्रोपदेश लिया । उसी दिन से सद्गुरु और मुमुक्षु—शुद्ध स्वातन्त्र्येच्छुक—शिष्य, दोनों मिलकर धर्मप्रचार और लोकोद्धार का कार्य करने लगे । समर्थ और शिवाजी का सम्बन्ध नैसर्गिक, बड़ा गहन, विस्तृत और विचार करने योग्य है । इस विषय का भली भाँति विचार करने के लिए एक स्वतंत्र ग्रन्थ या अनेक निबन्धों की आवश्यकता है । उसका कुछ विवेचन हम आगे चल कर करेंगे ।

इस प्रकार चाफल स्थान में रह कर समर्थ ने प्रचण्ड शिष्य समुदाय इकट्ठा किया और वहाँ शाके १५७० (सन् १६४८) में उन्होंने शिवाजी की सहायता से एक मन्दिर बनवा कर, श्रीरामचन्द्रजी की स्थापना की । समर्थ के अनेक शिष्य और महन्त उसी मठ में रहते थे । वे नाना प्रकार से श्रीराम का उत्सव करके धर्म की धूम मचाये रहते थे । समर्थ अपनी इच्छा के अनुसार, कभी मठ में रहते, कभी वनपर्वतों की गुफाओं में रहते और कभी मुख्य मुख्य शिष्यों को साथ लेकर महाराष्ट्र प्रान्त में धर्म-प्रचार करते फिरते थे । सारे काम करते हुए भी उनका मन अखंडरूप से आत्माराम में लगा रहता था । एक जगह वे स्वयं कहते हैं—

दास डोगरीं राहातो । यात्रा देवाची पाहातो ॥
देवभक्तासर्वे जातो । ध्यानरूपे ॥

“ दास (रामदासस्वामी) पर्वतों में रहता है; और वहाँ से बैठे बैठे, श्रीराम का, बस्ती में निकला हुआ, जुलूस देखा करता है । इतना ही नहीं, वह ध्यानरूप से देवभक्तों के साथ उस जुलूस में शामिल भी होता है । ” एक बार समर्थ कुछ शिष्यों को साथ लेकर परवार प्रान्त में धर्मप्रचार करने को गये । वहाँ अनेक स्थानों में उनके भजन कीर्तन को सुनकर लोग शरण आये । उन प्रान्त के मुखिया और शिवाजी के सूवेदार पाराजीपन्त ने दीक्षा ली । उनकी बहन समर्थ के भक्तिभाव को देखकर, अपने दो लडकों के साथ, समर्थ की सेवा में रहने लगी । उनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम अम्बादास था । वह लिखने पढ़ने में बहुत तीव्र था, इसलिए समर्थ ने उसे अपना लेखक बनाया । यही अम्बादास समर्थ के मुख्य शिष्य और महन्त बनकर, कल्याणस्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए । समर्थ ने जितने ग्रन्थ रचे वे सब कल्याणस्वामी ही के लिखे हुए हैं । समर्थ पद्य बोलने जाते थे और कल्याणस्वामी लिखते जाते थे । चाफल के आस-पास वन-पर्वतों में बैठ कर वे ग्रन्थ-रचना किया करते थे ।

चाफल के लोगों ने जब एक बार बहुत आप्रह किया तब वे पंढरपुर की यात्रा को गये । वहाँ निरन्तरा के दर्शन किये । समर्थ के उपास्य देव श्रीराम थे, इसलिए पंढरपुर में उन्हें श्यामपदा की भावना होने लगी और चिदलजी की मूर्ति उन्हें राममूर्ति सी देख पड़ने लगी । यात्रा से लौटने पर कुछ दिनों के बाद, श्रीशिवाजी के बहुत आप्रह करने पर समर्थ मित्तारे के समीप गन्धगट पर रहने लगे । वहाँ शिवाजी महाराज निम्न उनके दर्शन को आते थे । एक दिन समर्थ की माता और बन्धु का यह पत्र आया कि, बहुत दिन से भेट नहीं हुई, इसलिए एक बार फिर भिन्न जाओ । शाके १५७१ (सन् १६५२) में रामनवमी के

उत्सव पर वे फिर अपनी जन्मभूमि को गये और अपनी माता तथा बन्धु के साथ कुछ दिन रह कर फिर सज्जनगढ़ को लौट आये ।

शाके १५७५ (सन् १६५३) में वे सज्जनगढ़ से कुछ शिष्यमण्डली साथ लेकर तैलंग प्रान्त में भ्रमण करते हुए रामेश्वर तक गये । तैलंग-प्रान्त में कई मास रह कर, उन्होंने अपने सम्प्रदाय की बहुत वृद्धि की । तैलंगी भाषा सीख कर, उन्होंने उस भाषा में भी अनेक कवितायें रचीं और उनका वहाँ प्रचार किया । अनेक प्रकार के अनोखे चमत्कार दिखला कर बड़े बड़े मानी पंडितों का गर्वगलित किया । अनेक पण्डित उनके शरण में आये और भजन-मार्ग में लग गये । तजौर में राजा व्यकोजी (शिवाजी के सौतेले भाई) ने समर्थ को अपने यहाँ एक मास तक बड़े आदर से रक्खा और मंत्रदीक्षा ली । वहाँ भी समर्थ ने एक मठ स्थापित किया और उसमें सतीबाई के पुत्र भिकाजी बाबा को नियत किया । तजौर से आगे चलकर वे रामेश्वर को गये । मंचल क्षेत्र में राघवेंद्रस्वामी से मिले । इस प्रकार तीर्थ-यात्रा और भ्रमण करते हुए मठ स्थापन करके अपने अपूर्व चमत्कारों से लोगों को स्वधर्म की ओर लगाते हुए, समर्थ कुछ दिनों के बाद अपने पूर्वस्थान चाफल में लौट आये । उनका आगमन सुनते ही शिवाजी महाराज वहाँ उनसे मिलने आये और अपने साथ सज्जनगढ़ पर ले गये ।

फुटकर बातें ।

कुछ दिन के बाद उनकी माता का अन्तकाल आया । यह बात समर्थ ने अपने अन्त-ज्ञान से पन्द्रह दिन पहले ही समझ ली । जिस समय उनकी माता ने अपने ज्येष्ठपुत्र से कहा, “ मेरा नारायण अन्तकाल में यहाँ नहीं है ” उसी समय वहाँ पहुँच कर समर्थ ने अपनी माता के चरणों पर सिर रक्खा । उन्होंने कहा कि, मैं अब आपके समीप आ गया; आप सुख और शान्ति से प्राणत्याग कीजिए । शाके १५७७ (सन् १६५५) में उनकी माता का स्वर्गवास हुआ । उनका उत्तर-कार्य हो जाने पर समर्थ फिर सज्जनगढ़ को लौट आये ।

शाके १५८० (सन् १६५८) में श्रीसमर्थ निजानन्दस्वामी के उत्सव में कहाड को गये । उत्सव समाप्त होने पर वे लौट कर सज्जनगढ़ को आ रहे थे । उनके साथ पच्चीस तीस शिष्य भी थे । दोपहर के समय में भूख लगने पर समर्थ की आज्ञा लेकर शिष्यों ने कुछ जुआर के भुटे तोड़े और भून कर खाने लगे । समर्थ भी शिष्यों के पास ही एक आसन पर बैठे थे । इतने ही में खेतों का मालिक दौड़ता हुआ आया और समर्थ को, सबका प्रधान समझ कर, जुआर के डंठल से पीटने लगा । यह देख कर सब शिष्यों ने मिल कर उसे पकड़ा और मारने लगे । समर्थ ने कहा, उसे मारना उचित नहीं है, छोड़ दो । इसके बाद वह मालजुआर अपने घर चला गया और समर्थ, सब शिष्यों के साथ सितारे में शिवाजी के यहाँ चले आये । दूसरे दिन शिवाजी महाराज जब समर्थ को मंगलमना कर रहे थे तब उनकी पीठ पर मार की बड़ते शिवाजी को देख पड़ी । उन्होंने समर्थ से इस विषय में पूछा; पर कुछ उत्तर नहीं मिला । भोजन के बाद जब श्रीसमर्थ शयनागार में विश्राम कर रहे थे तब, बहुत प्रयत्न करने

पर, एक शिष्य से शिवाजी महाराज को मार्ग का सब समाचार मिला । उस मालगुजार की मूर्खता पर शिवाजी महाराज को बहुत क्रोध आया । उन्होंने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि, उस मालगुजार को, मुसकें बँध कर, अभी ले आओ । समर्थ शयनागार में पड़े हुए, ये सब बातें सुन रहे थे । उन्होंने शिवाजी महाराज को अपने पास बुला कर कहा कि, उस मालगुजार को बँधवा कर मत बुलाओ और मारपीट मत करो । इसके अतिरिक्त जो दण्ड हम कहें वही उसे दो । शिवाजी ने समर्थ की आज्ञा शिरोधार्य की । दरवार लगने पर वह मालगुजार उपस्थित किया गया । वहाँ आने के पहले ही उसे मालूम हो गया था कि, जिसे उसने साधारण वैरागी समझ कर पीटा या वे छत्रपति शिवाजी महाराज के मान्य गुरु समर्थ श्रीरामदासस्वामी हैं । दरवार में आते ही उसने समर्थ को दिव्य और उच्च सिंहासन पर बैठा देखा । वह विचारा भय के कारण कँपने लगा और समर्थ के चरणों पर गिर कर रोने लगा । समर्थ ने आशीर्वाद दिया कि, तेरा खेत तेरे लिए अच्छा फलेगा । इसके बाद वह उठ कर शिवाजी के पैरों में लिपट गया और क्षमा माँगने लगा । समर्थ के आज्ञानुसार उन्होंने उसके अपराध को क्षमा किया और वह खेत, उस मालगुजार को वंश-परम्परा के लिए दे दिया । यह देख कर दरवारी लोग आश्चर्य करने लगे । सच है, क्यों न आश्चर्य करें ? उपकार का बदला, उपकार के द्वारा देनेवाले बहुत लोग हैं, पर अपकार करनेवाले पर भी उपकार करनेवाले केवल सत हैं । महात्मा तुलसीदासजी कहते हैं --

तुलसी सत हूँ अम्बतरु, फूल फलहिँ परहेत ।

इतते जन पाहन हनेँ, उतते वे फल देत ॥

वह समर्थ के नाम पर पाया हुआ खेत, उस मालगुजार के वंश में, अब भी कायम है । धन्य है यह क्षमा और उदारवृत्ति ।

समर्थ रामदासस्वामी के वन्दु श्रेष्ठ ने भी गृहस्थाश्रम में रह कर, भक्तिमार्ग का बहुत प्रचार किया । उन्होंने “ भक्तिरहस्य, ” “ सुगमउपाय ” और कुछ फुर्तकर कविताये लिखीं । जब उन्हें मालूम हुआ कि अब उनका अन्त समय समीप है, तब उन्होंने एक पत्र लिख कर समर्थ के पास भेजा और अपनी अन्तिम भेट के लिए बुलाईया । रामनवमी के उन्माद के कुछ दिन पहले ही इस वार समर्थ अपनी जन्म-भूमि जाँव को गये और एक मास तक अपने वन्दु के निम्न रह कर लौट आये । उनके लौट आने पर कुछ दिनों के बाद शके १५९९ (मन् १६७७ ई०) में श्रेष्ठ का स्वर्गवास हो गया और उनकी पत्नी अपने पति को गोद में लेकर सनी हो गई । यह समाचार सुन कर समर्थ ने, एक शिष्य को भेज कर, श्रेष्ठ के दोनों पुत्रों को अपने पास बुला लिया । यह हाल जब शिवाजी महाराज ने सुना तब, वे समर्थ के गर्माप आये और दृष्टा प्रसन्न की कि, जाँव रियासत में और बहुत से गाँव लगाकर उन्माद रथार्थी प्रसन्न कर देना चाहिए । समर्थ ने कहा कि, अभी कोई जरूरत नहीं है, फिर देगा जादगा । इस पर शिवाजी बहुत दुःखित होकर बोले, जान पड़ता है, श्रीराम की सेवा करना मेरे भाग्य में नहीं लिखा । यह सुन कर समर्थ ने कहा, अच्छा अभी कुछ थोड़ा प्रसन्न कर दें, जिसमें मन्त्रदाय का मन्त्र और श्रीराम के उन्मत्त प्रति वर्ष उन्नि गीति में

होते रहें । आज्ञा पाने पर शिवाजी ने ३३ गाँव और प्रति वर्ष के लिए १२१ खंडी गल्ला लमा' दिया । यह रियासत अभी तक श्रष्ट के वंशजों के अधिकार में है । हर साल कई उत्सव और सदा सर्वदा सन्त-समागम उसी रियासत के खर्च से होता है । धन्य है शिवाजी महाराज के समान राजाओं की उदारता ! अस्तु । एक साल तक श्रेष्ठ के पुत्रों को अपने पास रख कर समर्थ ने उन्हें अनेक प्रकार की शिक्षा दी और फिर घर भेज दिया ।

शाके १६०२ (सन् १६८०) चै० शु० १५ रविवार को शिवाजी महाराज स्वर्ग को पधारे । यह समाचार सुनकर समर्थ को अत्यन्त शोक हुआ । शोक क्यों न हो ? शिवाजी ही के लिए रामदासस्वामी का अवतार हुआ । शिवाजी स्वयं रुद्र या शिव के अवतार माने जाते हैं । शिवाजी और समर्थ का सम्बन्ध नैसर्गिक था । परस्पर एक दूसरे की सहायता से, धर्मप्रचार और लोकोद्धार का कार्य पूर्ण करके स्वधर्म और स्वराज्य की स्थापना की । शिवाजी के वियोग के कारण समर्थ ने बाहर निकलना बिलकुल छोड़ दिया । वे अपने कमरे में ही रह कर भगवत्चिन्तन में मग्न रहते थे । सम्भाजी के राज्याभिषेक-उत्सव में श्रीसमर्थ न स्वयं न जाकर अपने एक महन्त को भेज दिया । कुछ दिनों के बाद सम्भाजी के घोर साहसिक कर्मों का हाल सुन कर उन्होंने एक उपदेशपूर्ण पत्र लिखा, यह पत्र बड़े महत्त्व का है । उसे देखने से समर्थ के राजनीति-सम्बन्धी ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है । परन्तु सम्भाजी महाराज उस समय कुसंगति में इस प्रकार फँस गये थे कि, उन्होंने समर्थ के उपदेश से कोई लाभ नहीं उठाया ।

समर्थ का निर्याण ।

शाके १६०३ (सन् १६८१) के रामनवमी-उत्सव पर समर्थ चाफल को गये और वहाँ मन्दिर में अपने प्रिय उपास्य देव श्रीराम के दर्शन किये और हनुमानजी की आज्ञा लेकर, शिविकारुढ हो, सज्जनगढ़ को लौट आये । अन्तर्वाल समीप जान कर कई दिन पहलू से उन्होंने अन्न का त्याग कर दिया, केवल दूध पीकर रहने लगे । उस समय यद्यपि उनका तेज दट्टता जाता था, तथापि शरीर-क्षीणता दट्टती ही जाती थी । इस प्रकार कुछ दिनों के बाद माघ-शुक्ल-अष्टमी का दिन आ पहुँचा । उस दिन समर्थ की इच्छा हुई कि, अब इस बात की परीक्षा करना चाहिए कि, हमारे शिष्यों में से किसीको हमारा अन्तिम दिन मालूम है या नहीं । इसी विचार से उन्होंने अपने सब शिष्यों के सामने यह अर्घश्लोक पढा.—

रघुकुलतिलकाचा वेळ सर्वांध्र आला ।

तदुपरि भजनानें पाहिजे सांग केला ॥

रघुकुल-तिलक का समय निकट आ गया है, इस लिए अब सांगोपांग भजन करना चाहिए । यह सुन कर उद्धवस्वामी ने तुरंत ही उस श्लोक की पूर्ति इस प्रकार की:—

अनुदिन नवमी हे मानसीं आठवावी ।

बहुत लगवगीनें कार्य-सिद्धी करावी ॥

अन्तिम दिन नवमी का स्मरण रखना चाहिए और बड़ी श्रमिना से कार्य-सिद्धि करनी चाहिए । यह श्लोकार्थ सुन कर समर्थ बहुत प्रसन्न हुए । उन्हाने सब को भजन (भाक्ति पद-गान) करने की आज्ञा दी । अष्टमी के दिन रात भर भजन की धूम मची रही । सब शिष्य जमा हुए । नवमी का दिन आया । उस दिन समर्थ स्वयं पलंग स नीच उतर कर बैठ गये । उस समय उन्होंने, शिष्यों के बहुत आग्रह करने पर, कुछ मिथ्री और दाख खाकर, थोड़ा सा निर्मल जल पान किया । थोड़ी देर के बाद शिष्या न पलंग पर बैठने के लिए उनसे प्रार्थना की । समर्थ ने कहा, “ मुझे, पलंग पर उठा कर रक्खा । ” यह आज्ञा पाकर उद्धवस्वामी उन्हें उठाने लगे, पर वे उनसे नहीं उठ सके । यह देख कर आकावाई नामक समर्थ की शिष्या भी उद्धवस्वामी के साथ उन्हें उठाने लगी, पर तब भी वे नहीं उठे । अन्त में वरीब दस मनुष्य मिल कर उन्हें उठाने का प्रयत्न करने लगे पर विफल हुए । इसके बाद समर्थ ने सब के अलग होने की आज्ञा दी । लोगों के हटने पर जब वे वायु आवरण करने लगे तब सब शिष्य चिन्ता चिन्ता कर रोने लगे । समर्थ ने उन सब से कहा, “ आज तक हमारे पास रह कर क्या रोना ही सीखे हो ? ” शिष्यों ने कहा, “ सगुण मूर्ति जाती है; अब भजन किसके साथ करेंगे और बोलने की इच्छा होने पर, किससे बोलेंगे ? ” समर्थ ने अन्तिम उत्तर दिया, “ जो मेरे पीछे मुझसे बोलना चहे वह “ दासबाध ” आदि हमारे ग्रन्थ पढ़े । उन्हें पढ़ना मानो प्रत्यक्ष मुझ से बात चीन करना है । ” इतना कह कर ग्यारह बार “ हर हर ” शब्द का उच्चारण किया और अन्त में “ राम ” शब्द के उच्चारण करते ही समर्थ के मुख से तेज निकल कर, समीप स्थापित की हुई राममूर्ति के मुख में, प्रविष्ट हो गया ! भजन बराबर हो रहा था । उस समय भजन की ध्वनि और बढ़ गई । इस प्रकार शाके १६०३ (सन् १६८२ ई० के परवरी में) माघ कृष्ण ९ क दिन (संवत् १७३८ फाल्गुन मास के कृष्णपक्ष की नवमी की) महाराष्ट्र प्रान्त का एकमात्र सिद्धरत्न, साधुराज, चातुर्य-सागर, राजनीतिज्ञ शिरोमणि, भक्ति ज्ञान वैराग्य का प्रयत्न स्वरूप और निस्पृह महात्मा राम' में लीन हो गया । और ' दासबाध ' में अनेक स्थानों में बड़े हुए अपने इस वाक्य को अक्षरशः सत्य कर गया कि —

... . . . । हरिभक्ति सदा रहने ।

मरण कीर्ति उरवावे । ॥ १३ ॥

द० १२ स० २०

“ सदा हरिभक्ति में तन्पर रहना चाहिए और मरने के बाद कीर्तिरूप से सदा जगत् में जीवित रहना चाहिए । ” हे सद्गुरु समर्थ ! आप अपने इसी वचन के अनुसार कीर्ति-रूप से—और आत्मस्वरूप से भी—अमर हैं । केवल आप ही अमर नहीं हैं; विन्तु असंख्य लोगों को आप अपने आदर्श में अमर कर चुके हैं, अमर कर रहे हैं और अमर करेंगे । जब तक इस अर्थात्त में धर्म का नाम है—जब तक हिन्दुओं को ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास है, और जब तक इस पवित्र भूमि में “ महाराष्ट्र ” के नाम पर भारतवासियों को

अभिमान है तब तक आप और आपका उद्देश, इस पृथ्वी पर, अटल, अचल और अमर है।

समर्थ और शिवाजी ।

पीछे इस बात का उल्लेख किया गया है कि शिवाजी ने श्रीरामदासस्वामी को अपना गुरु बनाया था, और यह भी कहा गया है कि इनका परस्पर सम्बन्ध बहुत गहन और महत्त्व का है। कुछ आधुनिक लेखकों में, इन दो व्यक्तियों के ऐतिहासिक सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं। यद्यपि यह बात सर्वमान्य है कि रामदास स्वामी शिवाजी के गुरु थे, उनकी आज्ञा पालन करना शिवाजी अपना परम धर्म समझते थे, तथापि दोनों की भेंट कब और किस स्थान में हुई, शिवाजी ने उपदेशमंत्र किस समय लिया, गुरु और शिष्य का परस्पर वर्तव कैसा था, शिवाजी किन किन बातों में अपने गुरु से सलाह लिया करने थे, स्वधर्म और स्वराज्यस्थापन के महत्कार्य में समर्थ की कितनी और किस प्रकार की सहायता थी, इत्यादि कुछ प्रश्नों के विषय में कुछ थोड़ा मतभेद पाया जाता है। अधिकांश विद्वानों की राय देखन से जान पड़ता है कि ये प्रश्न बहुत शीघ्र हल हो जायेंगे। महाराष्ट्र की ऐतिहासिक सामग्री की खोज और जाँच करनेवाले विख्यात प्रोफ़ेसर राजवाडे इस विषय में कहते हैं—“सिद्ध बात को सिद्ध करने का यत्न करने से कोई लाभ नहीं होता। जब तक “दासबोध” ग्रन्थ विद्यमान रहेगा और जब तक इतिहास में यह बात लिखी रहेगी कि मरहटों ने सत्रहवीं सदी में स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था, तब तक श्रीरामदास और शिव छत्रपति का सम्बन्ध फिर से सिद्ध करने की आवश्यकता, उन लोगों के सिवा, जिनका चित्त अभ्यवस्थित है (दिमाग़ दिगड़ गया है), और किसी को भी मालूम न होगी।” धुलिया की सत्कार्योत्तिज सभा ने श्रीरामदास और शिवाजी के सम्बन्ध में बहुत सी ऐतिहासिक बातें प्रकाशित की हैं और वह इस विषय की खोज कर रही है। वह श्रीरामदास-स्वामी का वृहत् चरित्र ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर और आधुनिक विवेचनपद्धति के अनुसार, थोड़े ही दिनों में प्रकाशित करनेवाली है। आशा है कि हिन्दीवालों को भी उक्त चरित्र से कुछ लाभ अवश्य होगा।

जिस समय श्रीरामदासस्वामी लोकांड्वार करने के लिए कृष्णा नदी के किनारे पहुँचकर चाफल में निवास करने लगे उस समय वहाँ नरसोमलनाथ नाम के तहसीलदार रहते थे। उन्होंने समर्थ की योग्यता जान कर उनसे मंत्रापदेश लिया। कुछ ही दिनों में वहाँ रामदासी संघराय की बहुत वृद्धि होने लगी। धीरे धीरे यह समाचार शिवाजी को मालूम हुआ। उस समय शिवाजी की राजसत्ता महाराष्ट्र में खूब बढ़ रही थी। उन्होंने रायगढ़ का किला ले लिया था; प्रतापगढ़ में एक नया किला बनवा कर वहाँ भवानी देवी की मूर्ति स्थापित की थी। उन्होंने पूना को मुख्य स्थान बना कर, नासिक से करवीर तक का सारा प्रान्त, कोंकण का कुछ भग, जीत लिया था। यद्यपि इस प्रकार वे राज्यसम्पादन के कार्य में लगे थे तोभी संत-समागम की उन्हें विशेष रुचि थी। बालगन ही से सधु और संनजनों के विषय में पूज्यभय होने के कारण वे साधु-तनागम के लिए सदा उत्कण्ठित रहते थे। वे अपना राजकाज करते हुए भी चिन्त-

वड़, देहू, आलंदी आदि प्रसिद्ध स्थानों में साधुजनों के दर्शन को वार-वार जाया करते थे और उनका उपदेश श्रद्धायुक्त अन्तःकरण से सुनते थे। जहाँ जहाँ हरिभजन या कीर्तन होता था वहाँ वहाँ वे अवश्य जाते थे। उनकी माता जिजाबाई ने उन्हें छोटेपन ही में अपने सनातनधर्म, शास्त्र, वेद, पुराण और वेदान्त आदि के गम्भीर तत्त्व और सिद्धान्त, तथा शिक्षादायक कथाओं की शिक्षा दिलाई थी। इसलिए अपनी माता की शिक्षा और साधु समागम के कारण, उनके मन में, अपने जीवन की सार्थकता के विषय में, अनेक उच्च विचार भर गये थे। वे सदा इसी बात का चिन्तन करते रहते थे कि, जीवन की सार्थकता उत्तम रीति से कैसे की जाय। उन्होंने एक वार सुप्रसिद्ध साधु तुकाराम बाबा से मन्त्रोपदेश मँगा था, पर उन्होंने शिवाजी का श्रीरामदासस्वामी के शरण में जाने की आज्ञा दी। इस प्रकार मन की मुमुक्षावस्था में जब शिवाजी ने श्रीसमर्थ की साधुकीर्ति सुनी तब उन्हें उनके दर्शन की बहुत अभिलाषा हुई। इसलिए उन्होंने श्रीसमर्थ को एक पत्र भेज कर अपनी राजधानी में बुलाया। परन्तु समर्थ वहाँ नहीं गये। उन्होंने शिवाजी के पत्र का उत्तर भेज दिया।

जिस पत्र का ऊपर उल्लेख किया है वह इतिहास दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। उसमें शिवाजी को समर्थ ने जो उपदेश किया है वह ध्यान में रखने योग्य है। इसलिए उस पत्र के कुछ अंश का भावार्थ यहाँ देना आवश्यक है। समर्थ शिवाजी को लिखते हैं—
 “ इस समय भूखंडल में ऐसा कोई नहीं है जो धर्म की रक्षा करे। महाराष्ट्र धर्म तुम्हारे ही कारण बचा है। यहाँ जो कुछ थोड़ा बहुत धर्म देख पड़ता है और साधुजनों की रक्षा हो रही है वह सब तुम्हारे ही कारण है। तुम धन्य हो। तुमने दुष्टजनों का सहार किया है। वे लोग तुमसे डरते हैं। बहुतरे जन तुम्हारे आश्रय में रहने लगे हैं। अब तुमको धर्मस्थापन का काम सम्हालना चाहिए। यह बात सच है कि तुमको राजकाज बहुत करना पड़ता है, जिससे चित्तवृत्ति व्यग्र हो जाती है। ऐसी दशा में राजा और मंत्री का विचार एक होना चाहिए। यदि एकता न होगी तो कार्य-नाश होगा। सब लोगों को राजी रखना, भले बुरे की खूब जाँच करना; न्याय और नीति का कदापि त्याग न करना, लालच में कभी न पँसना, सदा सावधान रहना। हमारा बोलना स्पष्ट है, इसलिए क्रोध न आने देना। जो कुछ हमने कहा है उसे उचित रीति से श्रवण करना। यदि सचमुच अंतःकरणपूर्वक काम करना हो तो हमारे बतलाये हुए मार्ग को स्वीकार करो, श्रीरामचन्द्रजी कृपा करेंगे; तुम्हारा कार्य सिद्ध होगा, तुम्हारे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे, इस विषय में सन्देह विलकुल मत करना। ” यह पत्र पढ़ कर शिवाजी के धार्मिक और निष्ठायुक्त अन्तःकरण में श्रीरामदासस्वामी के दर्शन की उत्कंठा और भी तीव्र होगई। तब वे अपने संग कुछ आदमी लेकर समर्थ के दर्शन को चापल गये। परन्तु समर्थ का दर्शन न हुआ, क्योंकि वे एक स्थान में न रह कर चापल के आस-पास कृष्णा नदी के किनारे जंगल, दरी और खोरियों में विचरते रहते थे। महापति ने अपने “ संतविजय ” में लिखा है कि इस प्रकार शिवाजी महाराज को कई वार निराश हाना पडा। ताँभी उन्होंने यत्न करना न छोड़ा। अन्त में एक दिन वे यह निश्चय करके घर से निकले कि

जब तक समर्थ का दर्शन न होगा और उनका प्रसाद न मिलेगा तब तक भोजन न करूँगा । इस तरह दृढ़ निश्चय करके, समर्थ का पता लगाते हुए, चाफल के जंगल में भटकने भटकते जब वे बहुत विडल और अर्त हागये तब समर्थ के एक शिष्य-द्वारा उन्हें पता लगा कि समर्थ खड़ी कवाग में हैं । शिवाजी ने वहाँ जाकर दर्शन किया । दोनों की प्रेमपूर्ण वार्ता हुई । शाके १५७१, वैशाख शु० ९ गुरुवार के दिन समर्थ ने शिवाजी को उपदेश-मंत्र दिया और 'दासबोध' के तेरहवें दशक का 'लजुबोध' नामक छठवाँ समास अद्वैत ज्ञान यज्ञान के लिए सुनाया ।

यह बात ऊपर कही गई है कि समर्थ एक स्थान में बहुत समय तक न रहते थे । कभी चाफल के मठ में रहते थे, कभी कृष्णा नदी के किनारे वन, पर्वतों की झाड़ियों में रहते थे और कभी देशपर्यटन या तीर्थयात्रा करने को चले जाते थे । इस कारण शिवाजी अपने गुरु का दर्शन नित्य नियमपूर्वक नहीं कर सकते थे । उनकी यही इच्छा थी कि समर्थ अपने समीप किसी स्थान में रहें तो नित्य समागम का लाभ हो । उन्होंने कई बार प्रार्थना भी की, पर समर्थ ने विशेष ध्यान न दिया । तब शिवाजी ने एक पत्र भेजा जिसमें भिन्न भिन्न अनेक प्रसंगों का उल्लेख है । यह पत्र समर्थ और शिवाजी के पारस्परिक सम्बन्ध का ऐतिहासिक प्रमाण है । इस पत्र से जो बातें प्रकट झंती हैं उनका कुछ सारांश नीचे दिया जाता है । इस पत्र से, पढ़नेवाले स्वयं निश्चय कर लेंगे कि समर्थ और शिवाजी का कैसा घना सम्बन्ध था:—

श्रीसमर्थ ने शिवाजी को उपदेशमंत्र देकर यह आज्ञा दी थी कि "तुम्हारा मुख्य धर्म राज्यसम्पादन करके धर्मस्थापना करना, देव और ब्राह्मणों की सेवा करना, प्रजा की पीड़ा दूर करके उसका पालन और रक्षा करना है ।" उसी समय समर्थ ने यह आशीर्वाद भी दिया था कि "तुम्हारे मन में जो इच्छा होगी वह सब पूर्ण होगी ।" इस आज्ञा के अनुसार शिवाजी ने राज्य-सम्पादन का जो उद्योग किया वह सफल हुआ और उनका मनोरथ "स्वामी" के "आशीर्वाद के प्रताप" से पूर्ण हुआ । शिवाजी का यह विश्वास दृढ़ था कि "दुष्ट, दुःशास्त्रा जनो का नाश और विमुक्त द्रव्य-प्राप्ति" श्रीगुरुचरणों के प्रताप ही का फल है । ऐसे समर्थ सद्गुरु रामदासस्वामी के चरण-कमलों में अपना सारा राज्य अर्पण करके शिवाजी ने यह इच्छा की थी कि, नियम गुरुचरणों की सेवा करने का भवसर मिलना चाहिए । उस समय समर्थ ने यही कहा कि, "हमारे पहले बताये हुए धर्म के अनुसार वर्तव्य करना ही सेवकाई है ।" इसके बाद शिवाजी ने यह प्रार्थना की कि स्वामी किसी निःशुद्ध के स्थान में रहें तो बार बार दर्शन का लाभ होगा और किसी स्थान में श्रीराम की मूर्ति स्थापित करके मठ का प्रबन्ध किया जाय तो सम्प्रदाय की वृद्धि होगी । इसके अनुसार समर्थ ने चाफल में श्रीराम की स्थापना तो की; परन्तु "स्वयं आस-वास के गिरेगइरों में ही रहा करते थे ।" इसके बाद शिवाजी ने यह प्रार्थना की:— "श्रीराम की पूजा महोत्सव आदि धर्मकृत्य सांगोपाग करने के लिए कितने गँव

नियत त्रिये जावें, सो आज्ञा दीजिए । ” इस पर समर्थ ने कहा, “ किसी विशेष उपाधि की आवश्यकता नहीं है । यदि श्रीराम की सेवा करने का तुम्हारा निश्चय ही है ता यथा-वकाश जो कुछ नियत करने की इच्छा हो सो करो । ” तब शिवार्जा ने श्रीसमर्थसंप्रदाय की सेवा करने के हेतु गाँव और भूमि-दान की सनद लिख कर समर्थ को भेज दी और यह निवेदन किया कि, “ श्रीराम का उत्सव सदा करते रहने की मुक्त आज्ञा दीजिए । ” शिवाजी का बहुत आग्रह देख कर समर्थ सितारा के पास सज्जनगढ़ के बिल में रहने लगे । शिवाजी ने वहाँ एक मठ बनवा दिया ।

शिवाजी और समर्थ के सम्बन्ध में जितनी बातें लिखी जाँय सब थोड़ी ही होंगी । अब सिर्फ़ तीन और बातों का उल्लेख करके यह विषय समाप्त करेंगे ।

एक दिन समर्थ माहुली-संगम पर स्नान, संध्या करके भिक्षा माँगते हुए सितारे में शिवाजी के महल में गये और “ जय जय श्रीरघुवीर समर्थ ” की गर्जना करके भिक्षा माँगी । समर्थ की घण्टी सुनते ही शिवाजी का हृदय गद्गद हो गया । वे विचार करने लगे कि ऐसे सत्पुत्र सद्गुरु की झोली में क्या भिक्षा डाली जाय । तुम्हें ही उन्होंने एक कागज़ पर यह लिखा कि, “ श्रीसमर्थ के चरणों में सब राज्य अर्पण कर दिया । ” इस पत्र पर मोहर करके वे बाहर आये और वह पत्र समर्थ की झोली में डाल कर साष्टांग दंडवत् किया । यह देख कर समर्थ ने पूछा, “ क्यों शिवा, यह वैसी भिक्षा डाली ? कुट्टी भर चावल झाली में डाले होते तो दोपहर का समय बटता ! आज क्या कागज़ का टुकड़ा ही समर्पण करके हमारा आतिथ्य करते हो ? ” इतना कह कर जब उन्होंने वह कागज़ निकाल कर पढ़ा तब मालूम हुआ कि शिवाजी ने अपना सब राज्य अर्पण कर दिया है । समर्थ ने शिवाजी से पूछा, “ क्यों शिवा, राज्य तो तुमने हमको दे दिया, अब तुम क्या करोगे ? ” शिवाजी ने हाथ जोड़ कर विनती की, “ आपकी चरण-सेवा में रह कर समय व्यतीत करूँगा । ” यह सुन कर समर्थ हँस और कहा, “ बाबा ! जो जिसका काम है वह उसीको करना उचित है । ब्राह्मणों को जप-तप करके ज्ञान सम्पादन करना चाहिए और क्षत्रियों को क्षात्रधर्म ही का पालन करना चाहिए । इस प्रकार अपना अपना कर्तव्य करते रहने से ही मोक्ष-प्राप्ति होती है । अपना अपना कर्म यथोचित रीति से पूर्ण करने ही में जन्म की सार्थकता है । पूर्व समय में रामचन्द्र ने भी अपने कुलगुरु वसिष्ठ को आधा राज्य अर्पण कर दिया था । उस समय वसिष्ठजी ने श्रीराम को यांगवासिष्ठरूप से नीति, न्याय और धर्म का उपदेश किया । और उनका राज्य उन्हें लौटा दिया । राजा जनक ने भी याज्ञवल्क्य को राज्य अर्पण किया था । उस समय उन्होंने जनक को राजधर्म का उपदेश किया । शिवा ! हम वैरागियों को राज्य की क्या जरूरत है ? कदाचित् हमने अगीकार भी कर लिया तो उसके संभालने के लिए प्रधान की जरूरत है । प्रधान तू ही बन, और राज्य हमारा समक्ष कर उसका प्रबन्ध कर । ” यह उपदेश सुनते ही शिवाजी का अन्तःकरण गद्गद हो गया । जब उन्होंने समझा कि, अब बिना राज्य लौटा लिये और कोई उपाय नहीं

है तब उन्हें ने समर्थ से प्रार्थना की—“ अब कृपापूर्वक आप अपनी पादुका मुझे दीजिए उन्हींकी स्थान करके मैं आपके प्रधान की तह राजराज वहेगा । ” समर्थ ने यह प्रार्थना स्वीकार की । उसी समय से शिवाजी महागज ने अपने राज्य की निशानी, अर्थात् झंडा, भी भगव रंग का कर दिया । मराठों का “ भगवा झंडा ” इतिहास में प्रसिद्ध ही है ।

शिवाजी महागज जब सामनगढ़ का क़िला बनवा रहे थे तब एक दिन क़िले के काम में लगे हुए सैफ़ों आदीयों को देख कर उनके मन में यह विचार आया कि मैं इतने मनुष्यों का पालन कर सकता हूँ, इसलिये मुझे धन्य है । इस विचार के साथ ही साथ शिवाजी के मन में एक प्रकार का अभिमान भी आगया । इतने ही में अकस्मात् समर्थ वहाँ जा पहुँचे । उन्हें देख कर शिवाजी ने दण्डवत् प्रणाम किया और अकस्मात् पधारने का कारण पूछा । समर्थ ने कहा कि, “ तू श्रीमन् है । हजारों मनुष्यों का पालनकर्ता है; इसलिये मैं तेरा कारखाना देखने आया हूँ । ” शिवाजी ने कहा कि यह सब आप ही की कृपा का फल है । इस प्रकार वार्तालाप करते हुए समर्थ की दृष्टि, सनीप पडे हुए एक पत्थर की ओर गई । उस पत्थर को देख कर समर्थ ने कहा कि, इस पत्थर को एक बेलशर से अर्भी सुडवा डलो । शिवाजी की आज्ञा पाकर एक बलार उग पत्थर को तांडने लगा । समर्थ ने कहा इसमें बहुत धक्का न लगने पावे और दो टुकड़े बराबर करो । पत्थर के दो टुकड़े होते ही भीतर के पोले भाग से कुछ पानी और एक जीवित मेंढकी निकल पडी । यह चमत्कार देख कर सब का परम आश्चर्य मालूम हुआ । समर्थ ने कहा, “ शिवाजी ! तुम्हारी योग्यता बहुत बडी है और तुम्हारी लील अगाध है । देखो, ऐसी आश्चर्यकारक बात किससे हो सकती है ? ” शिवाजी ने कहा, “ इसमें मेरा क्या है ? ” समर्थ ने कहा, “ क्यों नहीं ? तुम्हारे सिवा और कर्ता कौन है ? तुम्हारे बिना जीवों का पालन और कौन कर सकता है ? ” शिवाजी महाराज अपने मन में ममज्ञ गये और बोले, “ मुझ पामर से कुछ नहीं हो सकता । इस दास को क्षमा कीजिए । ” समर्थ ने कहा, “ मैं क्षमा करने ही के लिए यहाँ इस समय आया हूँ । परन्तु इतना बला देना आवश्यक है कि भैया, तुम उस सरकार (राम) के बड़े नौकर हो । तुम्हारे हाथ सब वहाँ को देता है । इतनी बात से तुम्हें इस प्रकार का अभिमान कभी न करना चाहिए । ” यह सुन कर शिवाजी महाराज को बडा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने, समर्थ के चरणों पर गिर कर, बर बर क्षमा माँगी ।

एक दिन सज्जनगढ़ में भोजन के बाद समर्थ शिष्य मंडली के प्रश्नों का उत्तर देते हुए आसन पर बैठे थे । इतने में उन्हें अपने शरीर पर एक चटा उठा हुआ देख पड़ा । उसे देख कर समर्थ को स्मरण हुआ कि हमारा माता ने, हमारे लिए, देवीजी को सोने के पुष्प अर्पण करने का संकल्प किया था । वह संकल्प पूरा नहीं हुआ । अतएव प्रतागढ़ पर, जहाँ शिवाजी ने देवी की स्थापना की थी, समर्थ देवीजी को स्वर्ण पुष्प अर्पण करने को गये, वहाँ समर्थ ने देवीजी की जो स्तुति की है उसमें उनके आत्मचरित का भी कुछ उल्लेख है । आन्तिम चार

पद्यों में शिवाजी के सम्बन्ध में जो प्रार्थना उन्होंने की है वह ध्यान में रखने योग्य है। उसका भावार्थ यह है, “ हे माता, मेरी सिर्फ एक प्रार्थना है, यदि वरदान देना है तो यही वरदान दे कि, जिसका तू अभिमान रखती है, और जो सबथैव तेरा है, उस शिवाजी की रक्षा कर। उसको हमारे देखते ही देखते वैभव के शिखर पर चढ़ा दे। मैंने सुना है कि आज तक तूने अनक दुष्टों का संहार किया है, परन्तु, अब इस समय उस बात की प्रतीति मुझे करा दे। सब देवगण हम लोगों को भूल से गये हैं। तू अब हम लोगों के खन्व की कितनी परीक्षा लेगी! हे देवी! अपने भक्तों का मनोरथ शीघ्र पूर्ण कर, मैं अत्यन्त आर्त हो गया हूँ; इसलिए क्षमा कर और मेरी इच्छा सफल कर। ” धन्य है शिव जी महाराज को! जिनकी ऐश्वर्यवृद्धि के लिए उनके सद्गुरु समर्थ देवी की इस तरह प्रार्थना करने हैं! इससे अधिक और कौन बात समर्थ और शिवाजी के पारस्परिक सम्बन्ध में लिखी जाय? जिस महत्कार्य के लिए श्रीरामदासस्वामी ने अपना सारा पुण्य खर्च किया—अपना सारा सामर्थ्य लगाया—वह उनकी इच्छानुसार श्रीरामचन्द्रजी महाराज ने पूरा भी किया। यह बात आगे दिये हुए। सिंहावलोकन से प्रकट हो जायगी।

समकालीन उपदेशक ।

श्रीरामदासस्वामी ने अपने जीवन काल में स्वधर्म स्थापना और समाजहित का जो अलौकिक कार्य महाराष्ट्र में किया उसमें उनके समय के अनेक उपदेशकगण, अर्थात् साधुसत और कवि लोग, भी सहायक थे। उस समय महाराष्ट्र समाज को अपनी उन्नति करने के लिए सनातनधर्म की व्यापकता, जातिबन्धन की अनिष्टता, कर्तव्यपरायणता, एकता आदि जिन गुणों की आवश्यकता थी उनकी शिक्षा अनेक साधुसत और कविजन अपने वर्तव और उपदेश द्वारा दे रहे थे। पहले पहल सब धार्मिक ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में थे। इससे विद्वान् और पण्डित लोगों के सिवा और कोई लाभ नहीं उठा सकते थे। परन्तु समर्थकालीन सब साधुसत और कविजनों ने अपना उपदेश मराठी भाषा ही में करना आरम्भ किया। इस कारण यद्यपि उन लोगों को कुछ अहकारी पुरुषों-द्वारा कष्ट सहना पडा, तथापि उनके मातृ-भाषा-प्रेम से बहुजन-समाज का असाधारण हित हुआ। यूरप में जिस प्रकार लूथर ने वाइवल का अँगरेजी भाषा में अनुवाद करके धर्मक्रान्ति का बीज बोया, उसी प्रकार महाराष्ट्रीय उपदेशकों ने (विशेषतः रामदासस्वामी के समय के और उनके बाद के उपदेशकों ने) संस्कृत में लिखा हुआ सारा ज्ञान-भाण्डार मराठी-द्वारा सर्वसाधारण लोगों को सुगम और सुलभ दिया। सन् १८९५ की पूना सार्वजनिक सभा की त्रैमासिक पत्रिका में इस विषय में यह लिखा है—

The Saints and Prophets addressed the people both in speech and writing in their own vernacular and boldly opened the hitherto hidden unknown treasures to all and sundry men and women, Brahmans and Shudras alike... These early Marathi writers knew

that modern India, after Budhistic revolution. was less influenced by the Vedas and Shastras, than by the Ramayana and Mahabharat, the Bhagawat Puran and the Gita, and these latter works were translated and made accessible to all.

इस उपाय से महाराष्ट्र में धर्मजागृति होकर लोग अपने समाज और देश का हिन सम्मान करने में समर्थ हुए । इस प्रकार, समर्थ के समय में, जिन महात्माओं ने स्वधर्म, स्वजन और स्वभाषा की सेवा की है उनमें स बुद्ध लोगों का साक्षेप्त वत्तन्त देना आवश्यक है । जयरामस्वामी, रंगनाथस्वामी, आनन्दमूर्ति, केशवस्वामी, मोरयादव, तुकाराम बाबा, वामनपण्डित, देवीदास, कूर्मदास, दामाजी, बंधेल बाबा, नृसिंहसस्वती, मुक्तेश्वर, विलकवि, अनंतकवि, आनन्दतनय, निरंजनस्वामी, शेख मुहम्मद, शिवदीन, इत्यादि अनेक साधु कवि, समर्थ के समकालीन थे । इन सब लोगों के विषय में यदि थोड़ा थोड़ा भी लिखा जाय तो प्रस्तुत लेख बहुत बढ जायगा । इसलिए इनमें से प्रथम चार साधु पुरुषों के विषय में कुछ लिख कर यह भाग समाप्त करेंगे ।

महाराष्ट्र में “ रामदास-पंचायतन ” बहुत प्रसिद्ध है । इन पंचायतन में श्रीरामदासस्वामी के साथ जयरामस्वामी, रंगनाथस्वामी, आनन्दमूर्ति और केशवस्वामी शामिल हैं । जयरामस्वामी के पिता भिराजीपन्त देशपाडे कासरावाद में मोंडवगण नामक गाँव के निवासी थे । उनकी माता का नाम कृष्णाबाई था । जयरामस्वामी बहुत दिनों तक अपनी माता के साथ पंढरपुर में रहते थे । वहाँ भजन-भाव करने पर भगवद्दर्शन होने के बाद वे बडगाँव में कृष्णाजा आपा अभयंकर के पास गये । उनके उद्देश से वे रामदासस्वामी के शिष्य हुए । उन्होंने शान्तिपर्वीकरण, सी 1६ यंत्र, रुक्मिणीस्वयंवर नाम के ग्रन्थ लिखे हैं । सन् १६७२ में इनकी मृत्यु हुई । रंगनाथस्वामी के पिता का नाम गोपालगन्ध और माता का नाम बयाबाई था । रंगनाथस्वामी के ज्येष्ठ वन्दु ब्रह्मानन्दस्वामी भी प्रसिद्ध साधु पुरुष थे । उनके पुत्र सुप्रसिद्ध श्रीधर कवि ने रामविजय, हग्विजय, पाडवप्रताप, भगवद्गीता, शिवलीलामृत अदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जो महाराष्ट्र में खूब-पुष्प, छोटे-बड़े, सब लोग प्रति दिन पढ़ा करते हैं । श्रीरामदासस्वामी के नित्यदर्शन की आभिलाषा करके रंगनाथस्वामी सज्जनगढ़ के समीप ही निगई गाँव में मठ बना कर रहते थे । ये स्वामी बड़े राजयोगी और विलासी थे । हमेशा सरदारी ठाट स रहते थे । सिर पर रेशमी जरीदार सफा, कानों में बहुमूल्य मोतियों की बाला, बदन में जरीदार अंगरखा, हाथ में भाला, पीठ पर ढाल और तीर-कमान, बायें पैर में चाँदा का कड़ा धारण किये रहते थे । आप एक कीमती घाँटों पर आरूढ़ होकर बाहर निकलने और सथ में पचीस तांस लंगोटिये ब्रह्मवारी शिष्य रहते थे । स्वयं रंगनाथस्वामी भी बालब्रह्मचारी थे । वे पायजाम के भीतर एक लंगोट भी लगाते थे । बृहद्वाक्यशक्ते, चिन्सदानन्दलहरी और वसेतुसार आदि कई उत्तम उत्तम ग्रन्थ उन्होंने लिखे

हैं। सन् १६८४ में उन्होंने समाधि ली। आनन्दमूर्ति रंगनाथस्वामी के शिष्य थे। समर्थ उनसे 'विरंजीव' कहने थे। सन् १६९६ में वे समाधिस्थ हुए। ब्रह्मनाल में उनकी समाधि है। उन्होंने बहुत से फुटकर पद्य रचे हैं। केशवस्वामी हैदराबाद के भगानगर में रहते थे। उनके गुरु का नाम काशिराजस्वामी था। एकादशीचरित्र और कुठ स्फुट अभंग, पद आदि कविता उन्होंने रची है। सन् १६२८ में उनका स्वर्गवास हुआ।

रामदास-पंचायतन के उपर्युक्त चारों साधु और उनके समय के अन्य साधु तथा कवि-जन श्रीरामदासजी का बहुत सन्तान करते थे। सुप्रसिद्ध महाराष्ट्र-कवि वामन पंडित संस्कृत के बड़े विद्वान् शास्त्रा थे। काशी से रामेश्वर तक अपनी अपूर्व विद्वत्ता स्थापित करके उन्होंने तत्कालीन पांडितों से अनेक जयत्र प्राप्त किये थे। उन्होंने मराठी भाषा में तो अनेक उत्तम उत्तम ग्रन्थ लिखे ही हैं, पर कई ग्रन्थ उन्होंने संस्कृत में भी लिखे हैं। उनमें से "निगमसार" बहुत प्रसिद्ध है। पहले वे मराठी की निन्दा करते थे और साधु जनों के सम्बन्ध में विशेष पूज्यभाव न रखते थे। जब से उनकी रामदासस्वामी के साथ भेट हुई तब से उनका सारा गर्व चला गया। रामदासस्वामी ने उनकी सब शिकाएँ दूर कीं, और अपने अनोखे चमत्कारों से उन्हें चमकृत करके साधुओं के विषय में, उनके मन में श्रद्धा उत्पन्न की। उन्होंने वामन पंडित को अपना शिष्य बनाया और मराठी-भाषा में ग्रन्थ रचने का उपदेश दिया। उस समय से वामन पंडित ने मराठी में पचस साठ ग्रन्थ लिखे। उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता पर जो टीकात्मक ओवीबद्ध ग्रन्थ लिखा है वह अद्वितीय है। कहते हैं कि इनके सारे ग्रन्थों के पद्य वारह लख के करीब हैं। इस प्रकार रामदासस्वामी ने अपने समय के पंडितों के मन में मराठी के विषय में प्रेम उत्पन्न किया।

समर्थ के शिष्यगण और साम्प्रदायिक मठ ।

यह बात निश्चिन्त रूप से नहीं बनलाई जा सकती कि श्रीसमर्थ रामदासस्वामी के शिष्य कितने, कहाँ और कौन कौन थे, उन्होंने कितने और कौन कौन स्थानों में अपने सम्प्रदाय के मठ स्थापित किये, और किन किन लोगों को मठार्थपति या 'महत' बनाया। वर्तमान समय में जो विद्वान् लोग महाराष्ट्र के ऐतिहासिक और प्राचीन काव्यसाहित्य की खोज में लगे हैं उनका यह कथन है कि श्रीरामदासस्वामी ने हजारों शिष्य और सैकड़ों महन्त बनाये थे और अनेक स्थानों में अनेक मठ स्थापित किये थे। उनके शिष्य और महन्त-गण सारे हिन्दुस्थान में, विशेष करके महाराष्ट्र में, भ्रमण करके स्वधर्म और सुनीति का उपदेश करके लोगों में जागृति उत्पन्न करते थे। इन सब लोगों की ठीक ठीक गिनती करना अब कठिन है। स्वयं समर्थ ने दा० बो०, दशक १९, समास १० में लिखा है, "कितने लोग हैं सो मालूम नहीं; यह नहीं मालूम कि कितना समुदाय है; सब लोगों की श्रवण और मनन में लगानेवाला इस समुदाय की गणना नहीं हो सकती।" उनके प्रसिद्ध महन्त कल्याण-स्वामी एक स्थान में लिखते हैं, "इस भूमि में समर्थ की भक्तमंडली की गणना कोई नहीं कर सका।" गिरिधरस्वामी तो यह लिखते हैं कि, "समर्थ ने कितने ही महन्त और शिष्य

गुप्त रीति से रखे थे; उन्हें समर्थ के सिवा और कोई नहीं जानता । ” तात्पर्य यह है कि श्रीसमर्थ ने अपने जीवनकाल में जो अनेक शिष्य और महन्त बनाये थे और अनेक स्थानों में मठस्थापना की थी उन सबका इस समय पता लगाना, केवल कठिन ही नहीं, किन्तु असम्भव सा जान पड़ता है ।

यद्यपि समर्थ के सब शिष्यगणों की गणना करना असम्भव है, तथापि उनके चरित क्वजिन जिन महानुभावों ने वर्णन किया है उन्होंने कुछ महन्तों, शिष्यों और मठों के नाम भी दिये हैं । धुलिया (खानदेश) की सत्कार्योत्सिजक सभा ने श्रीरामदासस्वामी की कविता का प्रथम खण्ड गण वर्ष में प्रकाशित किया है । उसकी प्रस्तावना में श्रीरामदास-सम्प्रदाय के महन्तों, शिष्यों और मठों का कुछ वर्णन दिया है । इसी के आधार पर हम कुछ बातें यहाँ पर लिखते हैं ।

(अ) श्रीसमर्थ के महन्त । अभी तक कुल ८९ महन्तों का पता लगा है । उनमें से कुछ के नाम ये हैं — १ कल्याणस्वामी, डोमगाँव के मठ में । २ दत्तत्रेयस्वामी, शिरगाँव के मठ में । ३ वाग्देवस्वामी, कण्हेरी के मठ में । ४ देवदास, दादेगाँव के मठ में । ५ उद्धवस्वामी, टावली और इन्दूरबोधन के मठों में । ६ दिवाकरस्वामी, चारूल के मठ में । ७ अनन्त मौनी, कर्नाटक के मठ में । ८ विश्वनाथ पण्डित को समर्थ ने उत्तर हिन्दुस्थान में भेजा था । ९ बालकृष्ण, बरार में रहते थे । १० माधव, यादव और वेणीमाधव प्रयाग में रहते थे । ११ जनार्दन, सूरत में रहते थे । १२ श्रीधर, रामकोट में । १३ गोविन्द, गेवा में । १४ शिवराम, तैलंग-प्रान्त में । १५ शंकर, श्रीरंगपट्टन में । १६ हरिश्चन्द्र, अन्तर्वेदी में । १७ रामकृष्ण, अयोध्या में । १८ हरिकृष्ण, मथुरा में । १९ जयकृष्ण, मयापुरी में । २० रामचन्द्र, काशी में । २१ भगवन्त, काची में । २२ हरि, द्वारिका में । २३ दयाल, बदरीकेदार में । २४ ब्रह्मदास, आँकारेश्वर में । २५ बल्लाल, जगन्नाथ में । २६ हनुमान, रामेश्वर में ।

ये नाम इन लोगों के मूल नाम नहीं हैं । बहुतेरे नाम समर्थ के रखे हुए हैं । इस देश के प्रायः सब प्रधान स्थानों में उनके महन्त रहने थे । ऐसा एक भी तीर्थ क्षेत्र नहीं था जहाँ उन्होंने अपना महन्त न भेजा हो । ये महन्त पहल बहुत दिनों तक, शिष्य की तरह पर, समर्थ के पास ही रह कर सम्प्रदाय की शिक्षा पाते थे । वे परमार्थमार्ग का रहस्य भली भाँति समझ लेते; समर्थ के ग्रन्थों की नकल करके श्रद्धापूर्वक पारायण करते; उनके गूढ़ तत्त्वों का स्वयं अनुभव प्राप्त करते; शास्त्रवचन, गुरुवचन और आत्मानुभव का निश्चय करते थे । इसके बाद—

आतां हेणार तें होये ना का । जाणार तें जाये ना का ॥

तुटली मनांतील आशंका । जन्ममृत्यूची ॥ ४३ ॥

द० ६ स० २ ।

“ अब जो कुछ होना हो सो क्यों न हो और जो कुछ जाना हो सो क्यों न जाय ! अब मरने जाने का कोई डर नहीं रहा । ” इस प्रकार की निःशंका और निर्भय वृत्ति से जगत् के उद्धार का कठिन कार्य करने के लिए, श्रीसमर्थ की आज्ञानुसार, सारे हिन्दुस्थान में या

किसी एक विशिष्ट प्रान्त में भ्रमण करते थे । महन्त का मुख्य कर्तव्य उन्हांने यही रक्खा था —

महन्तें महन्त करावें । युक्ति बुद्धि नें भरावें ॥

जाणतें करून विखरावें । नाना देशों ॥ २५ ॥

दा० बो० द० ११ स० १० ।

“महन्त को चाहिए कि वह और अनेक महन्त बनावे तथा उनमें युक्ति और बुद्धि अच्छी तरह भर दे—इस प्रकार अनेक ज्ञाता महन्त बनाकर, उसे चाहिए कि, नाना देशों में—देश के ज्ञाना प्रान्तों में—फैला दे ।” इस कर्तव्य का यथोचित पालन करने के लिए परिभ्रमण, वेवेक, कष्ट-सहन शक्ति, मृत्यु के विषय में निर्भयता, यश की लालसा, वैराग्य, निस्पृहता, वातुर्थ या विचक्षणता, मृदुवचन, क्षमा, शान्ति, सहिष्णुता, परोपकार-बुद्धि, उत्कट इच्छा या उत्कृष्ट आदि अनेक विशिष्ट गुणों की आवश्यकता है । इन सब गुणों का वर्णन समर्थ ने अपने ग्रन्थों में (विशेष कर दासबोध में) किया है । खेद की बात है कि अब तक प्रमाण-सहित इस बात का पूरा पूरा पता नहीं लग सका है कि समर्थ के ये सब महन्त भ्रमण करते समय, या मठ में रहते हुए, क्या क्या काम, किस प्रकार, किया करते थे, उनके काम करने की रीति या प्रणाली कैसी थी, वे स्वयं किस प्रकार रहते थे—उनका वर्ताव वैसा था । इन महन्तों के कार्यों का सप्रमाण इतिहास मिल जाने से श्रीरामदासस्वामी के जीवनचरित के मुख्य भाग पर अप्रतिम प्रकाश पड़ेगा ।

(आ) श्रीसमर्थ के शिष्य । इसमें सन्देह नहीं कि उनके, हजारों स्त्री और पुरुष, शिष्य थे । पुरुषों में सिर्फ एक छत्रपति शिवाजी महाराज का नाम लिख देना, इस लेख के लिए, बस होगा । स्त्री-वर्ग में सीताबाई, चिमणाबाई, अम्बिका, द्वारकाबाई, भवाबाई, कृष्णाबाई, घेणूबाई, मनाबाई, अन्नपूर्णा, गंगाबाई, गोदाबाई आदि प्रसिद्ध हैं । घेणूबाई ने सीतास्वयंवर, भगलरामायण, छन्दोरामायण, सकेतरामायण, लवकुशरामायण, सुन्दररामायण, अब्दरामायण और भाषारामायण आदि कई ग्रन्थ रचे हैं ।

समर्थ के ग्रंथ ।

प्राचीन कवि और साधुओं का ग्रन्थ समुदाय ही ऐतिहासिक दृष्टि से राष्ट्रीय साहित्य है । उसका जितना सूक्ष्म और मार्मिक रीति से अभ्यस किया जायगा उतना ही उस समय का राष्ट्रीय ज्ञान अधिक होगा । प्रायः देखा जाता है कि भारत की किसी भी प्रान्त की प्राकृत भाषा में पहले गद्य-ग्रन्थ लिखने की प्रणाली न थी । यद्यपि बाल्मिक की भाषा गद्य ही थी और दरवारी कागज़पत्र भी गद्य ही की भाषा में लिखे जाते थे, पर कवि और साधु लग प्रायः पद्य में ही ग्रन्थरचना करते थे । हाँ, इन साधु और कवियों की रचना शैली में और भिन्न छन्दों के चुनने में अवश्य भेद पाया जाता है । प्रायः प्राचीन साधुओं की कविता पौराणिक दिषयों के आधार पर रची हुई पाई जाती है । उनकी कविता में स्वतंत्र रचना बहुत कम देख पड़ती है । श्रीरामदासस्वामी ने किसी एक पौराणिक

विषय पर बहुत कम रचना की है । उनकी प्रायः सब रचना स्वतंत्र है । उन्होंने योंही मनोरंजन के लिए कोई काव्यता नहीं लिखी; उनकी सारी कविता में कोई न कोई मुख्य हेतु है । प्राचीन प्रथा के अनुसार समर्थ ने भी अपने सब ग्रन्थ पद्यात्मक लिखे हैं । बात केवल इतनी ही है कि काव्यरस की प्रधानता को अपना हेतु समझ कर उन्होंने ग्रन्थों की रचना पद्यात्मक नहीं की; किन्तु उन्होंने अपने सब ग्रन्थ उपदेश के लिए रचे हैं, अर्थात् जनसमाज का सुधार ही उनके ग्रन्थों का प्रधान हेतु है । इससे यह अनुमान निकल सकता है कि यदि उस समय गद्य लिखने की प्रथा होती तो वे भी अपने ग्रन्थ गद्य ही में लिखते ।

अब यह देखना चाहिए कि समर्थ कवि थे या नहीं, यदि वे कवि थे तो किस श्रेणी के कवि थे । उनकी पद्य रचना को देखकर ही बहुतेरे लोग उन्हें 'कवि' कहते हैं । इसका कारण यही है कि सर्वसाधारण लोग पद्य-रचना ही को काव्य समझने लगे हैं । परन्तु साहित्य-शास्त्र का परिभाषा के अनुसार समर्थ कवि नहीं थे । हाँ, समर्थ ने 'कवि' और 'कविता' के जो लक्षण अपने "दासबोध" में बताये हैं, और जिनका उल्लेख हम आगे चल कर करेंगे, उनके अनुसार वे 'कवि'—अर्थात् आधुनिक भाषा में प्रतिभाशाली औ-प्रासादिक उपदेशक—अवश्य थे । उनकी कविता में प्रसाद गुण भरा हुआ है और मनोहर दृष्टान्तों की भी विपुलता है । परन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थों में दृष्टान्तों की योजना, किसी काव्य-ग्रन्थ की तरह, केवल रमणीयता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए, नहीं की है । जहाँ जहाँ दृष्टान्त दिये गये हैं वहाँ वहाँ प्रतिपादित विषय का परिपोषण ही प्रधान हेतु है । उनके ग्रन्थों में अद्भुत वक्तृत्व-शक्ति पाई जाती है । विषय-निरूपण का प्रवाह ऐसा अप्रातवद्ध है; शब्दों की योजना ऐसी समुचित है और विचार-पद्धति ऐसी चित्ताकर्षक है कि पढ़नेवाले को यही भास होता है कि मानो कोई साक्षात् बृहस्पति या वाचस्पति व्याख्य न दे रहा है । यही कारण है कि उनके दासबोध में प्रतिपादित सिद्धान्त-विषय तात्विक, गहन और शास्त्रीय होने पर भी, ऐसा मालूम होता है कि मानो हम कोई आल्हादर जनक काव्य ही पढ़ रहे हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से पाठकों को यह मालूम हो जायगा कि उनके ग्रन्थों का स्वरूप कैसा है और श्रीगणदासस्वामी कैसे उत्तम उपदेशक कवि थे । आधुनिक कवियों की दृष्टि से भी उनके ग्रन्थों में अनक काव्यगुण पाये जाते हैं । उनके रामायण के युद्धकाण्ड में वार-रस का अच्छा परिपाक हुआ है, उनके पद और अभंगों में करुणा-रस का अनुभूत आविर्भाव हुआ है । 'दासबोध' में निद्रा का निरूपण करते हुए उन्होंने हास्य-रस और वीर-रस का अच्छा चित्र खींचा है । काव्य-चमत्कृति के भी दो एक उदाहरण उनके ग्रन्थों में मिलते हैं । दासबोध के चौदहवें दशक के चौथे समास में 'एकाखडी' नामक अक्षर-लेखन है ।

अब यह देखना चाहिए कि समर्थ के विचार कवि और कविता के सम्बन्ध में कैसे थे । इससे पाठकों को यह बात, समर्थ ही के मुख से, भली भाँति मालूम हो जायगी, कि वे

वैसे कवि थे । समर्थ के मतानुसार गद्य, पद्य ग्रन्थ लिखनेवाले और नाना शास्त्रों की ऊहा-पोह—दिदंवनपूर्वक चर्चा—करनेवाले पुरुष कवि हैं । इतना ही नहीं, विन्तु वे प्रासादिक कवि हैं । समर्थ की दृष्टि से प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही कवि है । नवरसात्मक कविता रचनेवाला कवि, गणितशास्त्री, वेदान्ती, योद्धा, चित्रकार, साधु, व्याख्याता, शिल्पी, कोई भी हो, यदि उसमें प्रतिभा के लक्षण हैं तो वह 'कवि' है । समर्थ के मत से कविता केवल ग्रन्थ-रूप ही से नहीं होती, किन्तु, वह आचाररूप भी हो सकती है । साधन, पुरस्चरण, तप, तार्थाटन, धैर्य, शौर्य और धृति आदि की क्रियायें भी कवित्व में शामिल हैं । तात्पर्य यह है कि विचार और आचार, दोनों में, ईश्वरीय दिव्य अंश या प्रतिभा का होना ही कवित्व का स्मरण है । महात्मा तुलसीदास को तरह समर्थ ने भी नरस्तुति-विषयक कविता का निषेध किया है । उनकी राय है कि " उदरशान्ति के लिए की हुई नरस्तुति की कविता में अपनी व्युत्पत्ति—बुद्धिमान्नी या चमत्कार—दिखलाना अधमता का लक्षण है । " समर्थ अपने दासबोध में भक्तकवि का वर्णन करते हुए प्रासादिक कविता का लक्षण बतलाते हैं —

नाना ध्यानं नाना मूर्तौ । नाना प्रताप नाना कीर्तौ ।
तया मुहं नरस्तुतो । तृणतुल्य वटि ॥ ३२ ॥
त्याचं भक्तोच्चै कौतुक । तथा नाव प्रासादिक ।
सहज वोलत विवक । प्रगट हांये ॥ ३४ ॥

“ ऐसे कवि की वाणी से सहज ही—स्वाभाविक या स्वयं—जो हरिभक्ति का कौतुक प्रकट होता है—ईश्वर के नाना प्रकार के ध्यानों का, नाना प्रकार की मूर्तियों का और नाना प्रकार के प्रताप और कीर्ति का आविर्भाव होता है—उसीका नाम प्रासादिक कविता है । उस कविता के सामने नरस्तुति तृणतुल्य है । ” अब देखिए, समर्थ के इसी विचार को महात्मा तुलसीदास, प्रासादिक कवि होने के कारण, किस काव्य-चम कृति के साथ, अपने अद्वितीय ग्रन्थ “ रामचरितमानस ” में बतलाते हैं—

भगति-हेतु विधि-भवन विहाई ।
सुमिरत शारद आवति धाई ॥
कवि कोविद अस हृदय विचारी ।
गावहि हरि जस कलि-मल-हारी ॥
कोन्हें प्राकृत-जन-गुन-गाना ।
सिर धुनि गिरा लागि प छिताना ॥

प्र० सो०, चौ० ११ ।

भक्ति या वर्णन करने के लिए शारदा, (वाणीरूप स) सुखमय विधि-भवन छोड़ कर, कवियों के हृदय में दौड़ आती है, और यहीं समझ कर कोविद कवि, कलिमल को हरण करके-दाला हरियश गाते हैं, अपने पैर के लिए, पलत वाणी की कष्ट देकर, प्राकृतजनों के गुणगान करने से, गिरा (सरस्वती या वाणी) सिर धुन कर पछताती है ।

ऊपर के विवेचन से पाठक-गण यह बात समझ गये होंगे कि समर्थ विस श्रेणी के कवि हैं और कवि तथा काव्य के सम्बन्ध में उनके विचार वैसे हैं । अब हम उनके ग्रन्थ-समुदाय का कुछ पारेचय पाठकों को दिलते हैं । समर्थ के उपदेश-ग्रन्थों का भाण्डार अपरिमित है । समर्थ के शिष्य अनन्त कवि ने समर्थ के ग्रन्थों का समुद्र की उपमा दी है । इसमें सन्देह नहीं कि उनका ग्रन्थ समुदाय समुद्र की तरह व्यापक और अथाह है; गम्भीर है और उसमें अनेक रत्न भरे पड़े हैं । श्रीरामदासस्वामी के ग्रन्थों की खोज महाराष्ट्रीय विद्वज्जन बहुत दिनों से कर रहे हैं । कई प्रकाशकों ने उनके “ समग्र ग्रन्थ ” प्रकाशित भी किये हैं । पर विद्वानों की राय में वे ‘ समग्र ’ नहीं कहे जा सकते; क्योंकि उनके ग्रन्थसागर के बहुत थोड़े ग्रन्थ रत्न अभी तक मिले हैं । धुलेंगा (खानदेश) की सत्कार्योत्तजक सभा ने स्वयं समर्थ के ओर उनके (रामदासी) सम्प्रदाय के सब ग्रन्थ प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया है । इस सभा ने अब तक श्रीसमर्थ के ग्रन्थों में से “ दासबोध ” (रायल अठ-पेजी आकार के करीब ५०० पृष्ठ) और “ रामायण ” आदि कुछ ग्रन्थ (करीब १००० पृष्ठ) प्रकाशित किये हैं । इनके सिवा और बहुत से ग्रन्थ सभा के पास, प्रकाशित होने के लिए रखे हैं । खोज करने से प्रत्येक कुछ न कुछ नवीन कविता प्राप्त हो जाती है । इससे जान पड़ता है कि श्रीरामदासस्वामी के “ समग्र ग्रन्थ ” इस समय न तो उपलब्ध हैं और न प्रकाशित हैं । उपलब्ध ग्रन्थों के नाम नीचे दिये जाते हैं, इनमें कुछ अप्रकाशित ग्रन्थों के नाम भी हैं ।

१ दासबोध २ रामायण ३ मन के श्लोक ४ चौदा शतक ५ जनस्वभाव गोसावी ६ पंच-समासी ७ जुनाट पुष्प ८ मानसपूजा ९ जुना दासबोध १० पंचाकरणयोग ११ चतुर्थ योग-मान १२ मानपंचक १३ पंचमान १४ रामगीता १५ कृतनिवाह १६ चतु.समासा १७ अक्षर-पदसंग्रह १८ सप्तसमासी १९ रामकृष्णस्तव २० दासबोध, आदि, आदि । उर्धुक्त ग्रन्थों के सिवा स्फुट अभंग, स्फुट श्लोक, आरती, भूगाली, विविध पद, आदि अनेक स्फुट प्रकरण भी उपलब्ध हैं ।

सिंहावलोकन ।

श्रीसमर्थ रामदासस्वामी ने अपने अवतार की समाप्ति के पहले, अपने संकल्पित कार्यों की सिद्धि के विषय में स्वयं ही अपनी कविता के अनेक “ स्फुटप्रकरणों ” में उल्लेख किया है, उसीको श्रीसमर्थचरित का सिंहावलोकन समझना चाहिए । हमको अपनी स्वतंत्र कल्पना के अनुसार चरित्र का सिंहावलोकन करने की आवश्यकता नहीं है । चापल के जंगल में घूमते हुए, या कभी एकान्त में बैठे हुए, शिष्यों के प्रश्न उठाने पर, जब समर्थ को अपने जीवन की पिछली बातों का स्मरण हो आता था तब वे अपने उपास्य देव श्रीराम की स्तुति करने लगते और भगवान् की महिमा कविता में गाते गाते अपने जीवन-चरित की अनेक बातों का सहज उल्लेख कर जाते थे । समर्थ के जिन “ स्फुट प्रकरणों ” में उनके आत्मचरित्र का कुछ परिचय मिलता है वे सब इसी सहज और आनन्दानुस्था के-

प्रमोद्वार हैं । इन पद्यों में समर्थ ने यह कही नहीं लिखा कि ये सब काम मने किये; सब जगह “ राम कर्ता, राम भोक्ता ” ही कहा है । समर्थ जैसे निरहंकारी और निस्पृह साधु पुरुष को यही उचित भी था । हमारे समान साधारण जन, जो अहंकार में पँसे पड़े हैं, वही “ मैंने ” और “ मेरा ” कहा करत हैं । दासबोध के दशक ६ समास ७ में समर्थ कहते हैं —

मी कर्ता ऐसे म्हणसी । तेंगे तूं कष्टी होसी ।

राम कर्ता म्हणतां पावसी । यश वीर्ति प्रताप ॥ ३३ ॥

यदि तू कहेगा कि मैं कर्ता हूँ तो तुझे कष्ट होगा और यदि कहेगा कि राम कर्ता है तो तू यश, वीर्ति और प्रताप पावगा । अस्तु ।

“ आनन्दवन-भुवन ” नामक ५९ पद्यों के एक स्फुट प्रकरण में समर्थ ने इस बात का वर्णन किया है कि उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से जनेद्वार का जो काम आरम्भ किया था वह कहाँ तक सफल हुआ । इस कविता के सारांश पर ध्यान देने से समर्थ-चरित्र का सिंह बलोकन आप ही आप हो जाता है । प्रथम पद्य में समर्थ आनन्दवन भुवन (अर्थात् नासिक-पंचवटी प्रात) को जाने का अपना हेतु इस प्रकार बतलाते हैं — “ जन्म-दुःख, जरादुःख, बार बार के नित्य दुःख और ससार का त्याग करने के लिए । ” इससे यह सिद्ध होता है कि समर्थ जिस समय घर से भागे थे उसी समय उन्होंने अपने मन में पर-नार्थ-विषयक हेतु निश्चिन कर लिया था । दूसरे पद्य में समर्थ कहते हैं कि आनन्दवन-भुवन में पहुँचते ही मेरा चित श्रीरामचरणानुराग में लीन होगया । इसके बाद वे कहते हैं कि इस ससार में मैंने वैसा वैसा बड़े बड़े दुःख सहे, स्वधर्माचरण में वैसा अनेक विघ्न उपास्थित हुए, उन विघ्नों को दमन करने के लिए ‘ विघ्नघ्न ’ भीम की प्रार्थना की । फिर, इसके बाद इस बात का आवेशयुक्त वर्णन किया है कि हनुमानजी ने सब विघ्नों का नाश वैसा किया । यह वर्णन पढ़ने से जान पड़ता है कि स्वधर्माचरण में अर्थात् जप, तप, अन्ध्यान, पुनश्चरण और तीर्थयात्रा आदि भगवत्प्राप्ति के साधनों का अभ्यास करते समय, श्रीसमर्थ को वैसी आपदाओं का सामना करना पड़ा । इसके बाद ‘ आनन्दवन-भुवन ’ तीर्थ की महिमा गाकर फिर उस “ मुहिम ” का पौराणिक रीति से वर्णन किया है जो “ बधविमोचन ” या लोकोद्धार के लिए भगवान् रामचन्द्र ने देवगण-सांहत की, और समर्थ के कारणों में सहायता दी । इस मुहिम-वर्णन के अन्त में, इस मुहिम का उद्देश भी उन्होंने स्पष्ट बतला दिया है —

कल्पान्त मांडला मोठा, म्लेंच दैत्य बुडावया ।

वैपक्ष घेतला देवी, आनन्दवनभूवनी ॥ २७ ॥

अर्थात् “ म्लेंच दैत्यों ” का संहार करने के लिए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने हमारा पक्ष स्वीकार किया और आनन्दवन भुवन में घनघोर युद्ध किया । जब साक्षात् भगवान् भक्त-

कल्पद्रुम श्रीरामचन्द्रजी को समर्थ ने अपना सहायक बना लिया, तब इसमें आश्चर्य ही क्या है कि, उनके सारे मनोरथ सफल हुए । भगवान् की सहायता का जो परिणाम हुआ, अर्थात् धर्मस्थापना और लोकोद्धार का जो कार्य किया गया, उसका उत्साह-जनक वर्णन शेष पद्यों में किया गया है ।

जो लोग महाराष्ट्र के, सत्रहवीं सदी के, इतिहास से परिचित हैं वे श्रीरामदासस्वामी के उपर्युक्त आत्मचरित-सम्बन्धी सिंहावलोकन की यथार्थता भली भाँति जान सकते हैं । उनके विषय में और अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं । एक और “स्फुट प्रकरण” में श्रीराम-महिमा गाते हुए “सुख-भुवन” अर्थात् महाराष्ट्र की जागृति के सम्बन्ध में वे कहते हैं.—“आज कल चारों ओर धर्म की अवनति और अवहेलना देख कर देव कुपित हुआ है । इसलिए अब देवद्रोहियों को—अत्याचारियों को—अपना सब कारवार (अनीति, अधर्म, अत्याचार) समेटना चाहिए । लोगों में जागृति होने लगी है—वही देव का चैतन्य रूप है—उसीसे लोगों की इच्छा सफल होगी । क्या क्या होगा, सो महाराष्ट्र में रह कर देखना चाहिए ।”

“स्फुटग्रन्थ, समास प्रथम” में भी श्रीराम-गुण वर्णन करते हुए समर्थ के मुख से जो स्वाभाविक वचन निकल पड़े हैं उनमें उन्होंने अपने चरित्र के सिंहावलोकन का कुछ आभारा दिया है । इन पद्यों का सारांश यह है.—“दीनानाथ श्रीराम वैभव मे समर्थों के भी समर्थ हैं; जिन्होंने मेरे मनोरथ पूर्ण किये हैं । मेरी सारी अभिलाषायें उन्होंने पूरी की और मुझ दीन को मर्यादा से अधिक बड़ा दिया । + + + श्रीराम ने विभीषण को लंका दी, इन्द्र की आशका मेटी और रंक रामदास की प्रतिष्ठा बड़ा दी । उन्होंने यह स्थान सुन्दर देरा कर यहाँ वास किया, ‘दास’ को पास ही रखवा और सारा प्रान्त पावन किया । जिन दरी, खोरी और गिरिकन्द्राओं को देखते ही डर लगता है, उन्हें भी वैभवसम्पन्न किया । राम का दाना ऐसा ही है ।” “अध्यात्मसार” नामक स्फुट प्रकरण, समर्थचरित्र के सिंहावलोकन की दृष्टि से, बहुत महत्त्व का है । परन्तु, वह बहुत बड़ा होने के कारण उरफटा विस्तृत सारांश यहाँ नहीं दिया जा सकता । सिर्फ निम्न दो पद्य उद्धृत कर देना ही आवश्यक है—

जीवीचा पुरला हेतू, कामना मन काम ना ।

घमेड जाहलें मोठें, घवाड साधलें बळें ॥

*

*

*

बोळतां भवानी माता, महींद्र दास्य इच्छिती ।

बोलणें हें प्रचीतीचें, अन्यथा वाउणें न्हें ॥

अर्थात् “जी का हेतु पूर्ण हो गया; अब कामना का मन में काम नहीं है । बहुत कीर्ति हुई और अप्रतिम लाभ मिल चुका । भवानी माता के प्रसन्न होने पर बड़े बड़े राजा

सेवा करने की इच्छा करते हैं । यह अपने अनुभव की बात हम कह रहे हैं—इसे मिथ्या कभी न समझना ।”

तात्पर्य यह है कि, श्रीरामदासस्वामी के ग्रन्थों से ही उनके चरित्र की बहुतेरी बातें मालूम होती हैं, क्योंकि उन्होंने जब कोई सिखावन की बात बतलाई है तब बार बार यही कहा है कि यह हमारे अनुभव की बात है । इसलिए पाठकों को समर्थ के जावनोद्देश का सफलता के विषय में, हमने अपनी ओर से कुछ न लिख कर, उन्हींके वचनों का कुछ साराश देने का यत्न किया है । आशा है कि पाठकों को उपर्युक्त विवेचन से, समर्थचरित्र का सिंहावलोकन करने में सहायता मिलेगी । हम समझते हैं, और इसमें सन्देह नहीं कि, हमारे पाठक भी यही समझेंगे, कि जब श्रीसमर्थ रामदासस्वामी अपने सारे सकल्पित कामों की सफलता का पुनरा-लोचन करते होंगे, तब उनके अन्तःकरण में प्रेम, आनन्द, धन्यता और हर्ष आदि सात्विक मनोवृत्तियों की लहरें अवश्य उमड़ती होंगी ।

दासबोध की आलोचना ।



१-प्रस्तावना ।

श्रीसमर्थ रामदासस्वामी भारतवर्ष के कैसे महान् तत्त्ववेत्ता हो गये सो उनके सक्षिप्त जीवन-चरित से पाठकों को मालूम ही हुआ होगा । उन्होंने अपने इस ग्रन्थ का नाम “ दासबोध ” रखा है । “ दास ” अर्थात् रामदास—राम के सेवक, और “ बोध ” अर्थात् शिक्षा अथवा उपदेश । यह अर्थ स्पष्ट है । समर्थ ने अपने इस ग्रन्थ के पहले ही समास में “ ग्रन्थारम्भ-निर्हण ” नामक विषय लिखा है । इस समास में उन्होंने स्वयं ही साधारण तौर पर अपने इस ग्रन्थ की आलोचना की है । उसमें उन्होंने पाठकों को यह सूचना दी है कि इस ग्रन्थ को आदि से लेकर अन्त तक पढ़ कर तब अपना मत उसके विषय में प्रकट करना चाहिए । अन्यथा, एक ही दो समास पढ़ कर, उसके विषय में अपना मत स्थिर कर लेना उचित न होगा । उनके इस कथन पर पूर्ण ध्यान रख कर ही हम उस ग्रन्थ की यह आलोचना लिखने बैठे हैं । अर्थात् यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि इस आलोचना में प्रकट किये हुए मतों का विचार पाठकों को समस्त ग्रन्थ पढ़ कर ही करना चाहिए । अस्तु । प्रसिद्ध महाराष्ट्र-इतिहास-अन्वेषक प्रोफेसर राजवाडे के लिखे हुए एक निबन्ध से इस आलोचना के लिखने में हमें बड़ी मदद मिली है; अतएव उक्त महाशय को यहाँ पर धन्यवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं ।

२-ग्रन्थ की रचना ।

श्रीसमर्थ रामदासस्वामी के सारे उपदेश ग्रन्थों में दासबोध ही सब से बड़ा ग्रन्थ है । इसमें २० दशक और प्रत्येक दशक में १० समास (अध्याय) हैं—अर्थात् कुल ग्रन्थ में २०० समास हैं । पद्य-संख्या ७७४९ है । समालोचकों का मत है कि धीरे धीरे इस ग्रन्थ के बनने में दस बारह वर्ष लगे होंगे । इस ग्रन्थ के छठवें दशक के चौथे समास में गत कलियुग का मान ४७६० लिखा है । इससे जाना जाता है कि यह शाके १५८१ अर्थात् सन् १६६० ईसवी में बनाया गया होगा । शाके १५६६ में श्रीरामदासस्वामी तीर्थयात्रा से लौटे और कृष्णानदी के तीर जाकर रहने लगे । उसी समय उन्होंने ग्रन्थ-लेखन का काम आरम्भ किया होगा । कोई कहते हैं कि शाके १५८०-१५८१ के दो वर्ष ही में यह ग्रन्थ पूरा हुआ । महीपति का कथन है कि एक ही दिन में यह ग्रन्थ पूरा हो गया ! तात्पर्य यह कि इस समय इस बात का निश्चय नहीं किया जा सकता कि दासबोध के बनने में कितना समय लगा होगा । इस ग्रन्थ की सब रचना किसी निश्चित प्रकार के क्रम से नहीं है । प्रथम आठ दशक तक ठीक बँधा हुआ क्रम पाया जाता है । इसके बाद विषयों का क्रम ठीक ठीक नहीं मिलता ।

पहले यदि कुछ अग्यात्मविषयक समास हैं तो उसके बाद फिर कुछ समास उपदेश-विषयक आ गये हैं या चींच ही में कुछ वर्णनात्मक समास हो गये हैं । इसका कारण एक प्रचलित वृत्त-कथा में मालूम हो सकता है । उस कथा का सारांश यह है कि श्रीरामदासस्वामी अपनी वृद्धि में स्याही, कलम और कागज़ रखते थे । वे जहाँ जहाँ वन में घूमते थे वहीं किसी वृक्ष के नाचे बैठ कर लिखा करते थे । यह बात सच है कि समर्थ बहुत समय तक एक ही स्थान में न रहते थे । वे सदा भ्रमण ही करते रहते थे । दासबोध के समान बड़ा ग्रन्थ लिखने के लिए बहुत समय तक एक स्थान में रहना आवश्यक था । परन्तु वे कई स्थानों में रहते थे और जब उनकी इच्छा होती तभी कुछ लिखा करते थे । इस प्रकार जो कुछ लिखा जाता था उसके समान बना कर और दस दस समासों का एक एक दशक बनाकर यह ग्रन्थ बहुत समय में तैयार हुआ । पहले समासों में क्या लिखा गया उसका, कुछ समय के बाद, दूसरा समास लिखते समय, स्मरण न रहता होगा; और कदाचित् लिखी हुई कापी भी किसी दूसरे स्थान में रह जाती होगी । इसी कारण विषय-क्रम में विसंगति देख पड़ती है । यह बात स्वाभाविक है । पहले आठ दशकों का विषय-क्रम ठीक होने का कारण यह जान पड़ता है कि श्रीसमर्थ ने आठवें दशक तक के सब विषयों की मर्यादा पहले ही से निश्चित कर ली थी । यह बात ग्रन्थ में अन्त प्रमाण से सिद्ध है । इन आठ दशकों की विषय-मर्यादा निश्चित कर लेने के कारण ही उनमें पुनरुक्ति नहीं है । परन्तु इसके बाद बारह समासों में पुनरुक्ति बहुत है । उदाहरणार्थ पंच महाभूतों की उत्पत्ति का तात्त्विक विषय कई दशकों में बार बार पाया जाता है । कई समासों के नाम भी एक ही हैं । इस पुनरुक्ति का भी कारण वही कालान्तर और स्थानान्तर है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है । दासबोध की रचना के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान में रखने योग्य है । महाराष्ट्रीय साधुसन्तों के चरित्रकार कवि महीपति जी अपने मन्नाविजय में कहते हैं ।

स्वामी प्रसाद-वचनं बोलत । कल्याण लिहित निजहस्तै ॥

पाठान्तराप्रमाणे सुरस । ओव्या बोलतो रामदास ॥

तैं तो सत्वर लिहीतसे । उत्तर न पुसे परतोनी ॥

अर्थात् स्वामी रामदास अपने प्रामादिक वचन सुरस 'ओवी' के रूप में बोलते जाते थे, उन्हें जब ओवियों उन्हें कण्ठाग्र हों, और कल्याणस्वामी (उनके प्रिय शिष्य) अपने हाथ में कर्तव्य के साथ लिखते जाते थे । कल्याणस्वामी के लिखने की यह तारीफ थी कि वे स्वयं नहीं लिखते थे ।

३-ग्रन्थ का महत्त्व और उसकी सर्व-प्रियता ।

यह समास रूप प्रकार में निश्चित दशा में पहुँच चुका है उसे ऐहिक और पारमा-
 १३३ ३ में बताने का शक्ति युग की प्राप्ति करा देना ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश है ।
 १३३ ३ में पारमात्मिक वर्णनों की सगति जैसी इस ग्रन्थ में मिलाई गई है वैसी
 १३३ ३ में ही ही ग्रन्थ में होगी । इस ग्रन्थ में यह स्पष्ट रीति से बताया है कि
 १३३ ३ में ही ही ग्रन्थ का अन्त परदार, कानधन्वा, लक्ष्मणाला के सम्बन्ध का

कर्तव्य ही ऐहिक कर्तव्य नहीं है; किन्तु सारे जनसमाज के ऐहिक सुख—अपने देश-भाइयों के सांसारिक सुख—के लिए यत्न करने में ही, अर्थात् परोपकार करने में ही, मनुष्यजन्म की सार्थकता है। ग्रन्थ-निर्माण होते समय, अनेक भावुक स्त्री पुरुषों ने इसे सुना। इसके सम्पूर्ण होते ही अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ सारे महाराष्ट्र में फैल गईं। उसी समय, लोगों की दृष्टि के सामने इस ग्रन्थ के पहुँचते ही, अनेक लोग इसके विषय में नाना प्रकार के तर्क करने लगे। कोई कहने लगे कि इसमें त्रिकाण्ड धर्म का निरूपण है, कोई कहने लगे कि यह केवल व्यवहार-नीति का ग्रन्थ है। यद्यपि यह कथन पृथक् पृथक् रूप से सत्य नहीं है, तथापि सचमुच समाष्टिरूप से—सब मिलाकर—सत्य अवश्य है। इस ग्रन्थ में ज्ञान, कर्म, भक्ति और व्यवहार का निरूपण है। उस समय जो वेदान्ती थे उन्हें इसमें केवल ज्ञान-विवेक ही देख पड़ा, जो कर्ममार्गी थे उन्हें केवल कर्ममार्ग का प्रतिपादन मिला; जो भक्त थे उन्हें भक्ति का निरूपण प्राप्त हुआ, और जिनकी दृष्टि केवल व्यवहार ही की ओर लगी हुई थी उन्होंने सिर्फ व्यवहार नीति ही पाई। इस प्रकार जैसी जिसकी दृष्टि थी—जैसा जिसका भाव था—वैसा ही उसको यह ग्रन्थ प्रतीत हुआ। ठीक यही हाल इस समय भी श्रीसमर्थ रामदासस्वामी और उनके ग्रन्थों के विषय में हो रहा है। जिस प्रकार प्राचीन पद्धति के भावुक जनों को श्रीसमर्थ पूजनीय हैं, और उनका दासबोध प्रिय है, उसी तरह आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में भी श्रीरामदासस्वामी एक अलौकिक पुरुष हैं और उनका ग्रन्थ बहुत आदरणीय है। परन्तु आजकल कुछ लोग अपने अपने स्वभाव और विचारों के अनुसार श्रीसमर्थ और उनके ग्रन्थ को केवल व्यावहारिक—राजनैतिक—सिद्ध करने का यत्न कर रहे हैं। यह उनकी भूल है। दासबोध एकदेशीय ग्रन्थ नहीं है। यह ग्रन्थ किसी विशिष्ट काल या देश ही के लिए नहीं बनाया गया है। इसके तात्त्विक सिद्धान्त सदा, सब काल, सब स्थानों में, एक समान ही उपयुक्त हैं। हाँ, यह बात सच है कि, जिस समय यह ग्रन्थ बना उस समय महाराष्ट्रीय समाज विपन्न-व्यवस्था में था। इसलिए उस देश की स्थिति को लक्ष्य करके महाराष्ट्रियों को उपदेश दिया गया है। परन्तु यथार्थ में यह ग्रन्थ सर्वदेशीय और सर्वकालिक महत्त्व का है। जो काम इस ग्रन्थ ने प्रथम कर दिखाया है वही काम वह भविष्य में भी कर दिखा सकता है। जिस प्रकार धर्म की ग्लानि होने पर ईश्वर का अवतार होता ही है उसी प्रकार समाज की निकृष्ट दशा आने पर समाज को उबारने का काम इस ग्रन्थ में प्रथित सिद्धान्तों ही का है। यह ग्रन्थ उस समय मार्गदर्शक हो सकता है। इस ग्रन्थ की महिमा कहा तक लिखें? यह ग्रन्थ मराठी भाषा में एक अपूर्व रत्न है। मोरारपन्त और वामन पण्डित के समान बड़े बड़े कवि इसकी प्रशंसा करते करते थक गये। हम किस गिनती में हैं?

४—संक्षिप्त विषय-वर्णन ।

श्रीरामदासस्वामी ने इसी ग्रन्थ के ७ वें दशक के ९ वें समास में ग्रन्थ के लक्षण

बताये हैं । इन लक्षणों के देखने से स्पष्ट मालूम हो सकता है कि ग्रन्थ में क्या होना चाहिए, सच्चा ग्रन्थ कौन है, या उसमें कौन कौन विषय होंगे । नगूने के लिए दो एक पद्य देखिए:—

जेणें परमार्थ वाढे । आंगी अनुताप चढे ।

भक्ती साधन आवडे । त्या नाच ग्रन्थ ॥ ३० ॥

जेणें होय उपरती । अद्यगुण पालटती ।

जेणें चुके अधोगती । त्या नाच ग्रन्थ ॥ ३२ ॥

अर्थात्—ग्रन्थ उसको कहना चाहिए कि जिसमें परमार्थ बढ़े, मन में अनुताप उत्पन्न होवे, भक्ति प्रिय लगे, अद्यगुण बदल जायें और अधोगति में मुक्त हों । श्रीकृष्ण इन्हीं लक्षणों से युक्त समर्थ का यह दासबोध ग्रन्थ है । इस मसार में मनुष्यमात्र जन्म से मृत्यु तक अपने सुख ही के लिए यत्न करते हैं । कोई अपने स्वार्थ अर्थात् गृहस्थी ही में सुख मानते हैं और कोई परमार्थ में । दोनों यद्यपि 'सुख प्राप्ति' ही को अपना उद्देश मानते हैं, तथापि दोनों के प्रयत्नों में और फलों में भेद है । हर एक अपने ही मार्ग को सत्य और अन्य मार्ग को मिथ्या कहता है । परमार्थ-प्राप्ति के मार्ग से जानेवालों की सत्या बहुत कम होती है, क्योंकि यह मार्ग कठिन है और इसमें विघ्न बहुत हैं । धैर्यशाली पुरुष ही इसका पार कर सकते हैं । अधिकांश जन स्वार्थ ही में फँसे रहते हैं । इसी लिए इन लोगों को परमार्थ-मार्ग में लगाने के लिए, साधु और सत्तों के बोध की परम आवश्यकता है । इस प्रकार के स्वार्थी—ससारी—जनों के हित का बोध इस "दासबोध" ग्रन्थ में किया गया है । श्रीरामदासस्वामी जैसे परमार्थ में पारगत वे जेमे ही व्यवहार में भी कुशल और दक्ष थे । स्वार्थ का काम यथोचित रीति से करते हुए परमार्थ साधन करने का ही उपदेश उन्होंने इस ग्रन्थ में किया है । घर-गृहस्थी में रह कर, सासारिक सब काम नीतिपूर्वक करते हुए, शुद्ध अन्तःकरण से यदि ईश्वर की भक्ति की जाय तो निःसन्देह पारमार्थिक सुख की प्राप्ति होगी, यही उचित और यथार्थ उपदेश इस ग्रन्थ में दिया गया है । जिस प्रकार झरता की परीक्षा के लिए रण-भूमि होती है वैसे ही सच्चे ज्ञान की कसौटी का स्थान यही 'असार' संसार है । जनसमुदाय से अलग होकर जो परमार्थ-प्राप्ति का यत्न करता है उससे ससार में रह कर परमार्थ-प्राप्ति करनेवाला पुरुष अधिक श्रेष्ठ और धन्य है । जो इस भवसागर से डर कर दूर भागना चाहता है वह डरपोक है । समर्थ अपने "मनोबोध" में कहते हैं—

भवाच्या भयें काय भीतोसि लंडी ।

धरी रे मना धीर धाकासि साडी ॥

अर्थात्—ऐ डरपोक, तू इस भवभय से क्यों डरता है ! अरे मन, धीरज धर और भय का त्याग कर । अस्तु ।

यह ग्रन्थ गुरु और शिष्य के सवाद रूप में लिखा गया है । पहले दशक के आरंभ में

ग्रन्थ का नाम वृता गर, उसमें कौन कौन विषय हैं, उन विषयों का प्रतिपादन किन किन प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण पर किया गया है, इसके अधिकारी पाठक कौन हैं, इसके पढ़ने से क्या लाभ है, इत्यादि बातें बतलायी गयी हैं । इसके बाद शिष्ट और प्राचीन पद्धति के अनुसार मंगलाचरण कह कर सद्गुरु और संतसज्जनों की वन्दना की है । श्रोताओं की प्रार्थना करके कवियों की प्रशंसा की है, सभा का वर्णन करके परमार्थ की श्रेष्ठता बताई है । इस दशक के अंत में नरदेह की योग्यता बता कर उसकी बड़ाई की गई है । यही से “ बोध ” का आरम्भ हुआ है । दूसरे दशक में, यह सोचकर कि मूर्ख जन नरदेह की बड़ाई ही में भल कर उसका दुरुपयोग करने लगे, उसकी न्यूनता बताई है और देहाभिमान के त्याग का उपदेश दिया है । ‘ मैं, ’ ‘ मेरा ’—इस संसार—की नश्वरता बतलाकर कुविद्या त्याग करने के लिए मूर्ख के लक्षण बतलाये हैं । इसके बाद भक्ति का कुछ वर्णन करके सत्व, रज और तम का वर्णन क्रमशः न करते हुए पहले रज, फिर तम और अंत में सत्त्व गुण का वर्णन किया है । पहले रजोगुण के वर्णन करने का कारण यह जान पड़ता है कि रजोगुण ही सासारिक सुखादि भोगों का मुख्य प्रवर्तक है । फल की आशा रख कर कर्म करना या पूर्वकर्म के फल का उपभोग करना रजोगुण ही का धर्म है । संसारी लोगों के अधिकांश व्यवहार इसी गुण से होते हैं । अतएव पहले इसीका वर्णन किया गया और बताया गया कि, यदि यही रजोगुण पारमार्थिक कार्य में लगाया जाय तो सत्त्वगुण की वृद्धि और तमोगुण का नाश आप ही आप हो जायगा । इतना बतलाकर आगे सुविद्या का वर्णन किया गया है । यह सब व्यावहारिक उपदेश है । तीसरे दशक में एक व्यक्ति के गर्भवास से मृत्युपर्यन्त उसका जीवनचरित बतकर ‘ स्वगुण-परीक्षा ’ का उपदेश दिया है । इसमें मनुष्य की ससार-यात्रा का अति उत्तम चित्र है । इसके पढ़ने या सुनने से मन पर बहुत अच्छा प्रभाव होता है । चौथे दशक में श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन, इन नव प्रकार की भक्तियों का पृथक् पृथक् वर्णन करके चारों प्रकार की भुक्तियों का वर्णन किया है । श्रीसमर्थ का यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि आत्मनिवेदन ही सायुज्य-भुक्ति-दायक मुख्य भक्ति है ।

नवमी भक्ति आत्मनिवेदन ।

न होतां न चुके जन्ममरण ॥

हे वचन सत्य प्रमाण ।

अन्यथा नव्हे ॥ ४—२५

पाँचवें दशक में पहले सद्गुरु और सत् शिष्य के लक्षण बतला कर सत्य उपदेश का निरूपण किया है । आर्य-धर्म के इस सनातन सिद्धान्त पर—कि “ सद्गुरुविण ज्ञान कांहीं । सर्वथा होणार नाही । ” सद्गुरु के बिना ज्ञान की प्राप्ति कदापि न होगी—श्रीसमर्थ ने बहुत जोर दिया है । परन्तु इसीके साथ यह भी बताया है कि गुरु ऐसा चाहिए जो शिष्य को परमार्थ के साधनों की शिक्षा दे और इन्द्रियदमन करा कर विषयों से निवृत्त करे ।

जो इस प्रकार शिक्षा न दे सके वे गुरु यदि कौड़ी के तीन तीन भी मिले तो भी त्याज्य हैं-
 “ शिष्यास न लविती साधन । न कविती इन्द्रिये दमन । ऐसे गुरु अडक्याचे तीन ।
 मिळाले नरी लजावे ॥ ” ऐसा कह कर अनेक प्रकार के असद् गुरुओं का वर्णन किया है जो
 समाज में गुरु बन कर लोगों को ठगते और भ्रष्ट करते हैं । इसके बाद ‘ बहुधा-ज्ञान ’
 का निरूपण करके शुद्ध ज्ञान का वर्णन किया है । तदनन्तर क्रमशः वद, मुमुक्षु, साधक
 और सिद्ध के लक्षण और उनके कर्तव्यों का प्रभावशाली वर्णन किया है । वद और मुमुक्षु के
 लक्षण पढते समय, वैसा ही पाषाणहृदय मनुष्य हो, तो भी उसका अन्त करण पश्चात्ताप
 से निर्दोष हो जाता है । इन दो समासों के प्रत्येक पद्य का एक एक शब्द, पढनेवाले को
 अपने कृत कर्मों की याद दिलाकर, और कुछ समय तक चित्त की वृत्तियों को अनु-
 ताप से शिथिल करके, ईश्वर के स्मरण में लीन कर देता है । छठवें दशक से अध्यात्म-निरू-
 पण का प्रारम्भ हुआ है । इसके प्रथम पाँच समासों में माया और ब्रह्म का अच्छी तरह
 विवरण करके सगुण भजन का प्रतिपादन किया है । इसके बाद यह उपदेश किया है
 कि सब में जो सार है उसको ढूँढ लेना चाहिए और असार वस्तु का त्याग करना चाहिए ।
 सातवें दशक में चौदह ब्रह्मों का शास्त्रों के प्रमाण देकर वर्णन किया है और यह बतलाया है
 कि जितने नाम हैं—जितना कुछ बतलाया जा सकता है—वे अशाश्वत ब्रह्म हैं । शाश्वत
 ब्रह्म वाचा से परे है—वह अनिर्वाच्य है । आठवाँ दशक अध्यात्मज्ञान का सार है ।
 इसीको “ ज्ञानदशक ” भी कहते हैं । इसमें पहले ईश्वर की महिमा वर्णन करके दो
 समासों में अनेक सूक्ष्म आशकाये उठाई हैं, फिर सूक्ष्म और स्थूल पंचमहाभूतों का
 विस्तारपूर्वक विवरण करके मोक्ष, आत्मा, सिद्ध पुरुष और शून्यत्व का निरूपण किया
 है । आठवें दशक के बाद विषयों का कोई क्रम ठीक ठीक नहीं मिलता, पर इसमें सन्देह
 नहीं कि ग्रन्थ के इसी भाग में ससारी लोगों के लिए अनेक व्यावहारिक उपदेश-रत्न भरे
 पड़े हैं । नवें दशक में ब्रह्म-निरूपण करके अनेक शकाओं का समाधान करते हुए
 निस्तन्देहता स्थापन की गई है । दसवें दशक में पहले इस बात का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन
 किया है कि अन्नरात्मा सब में एक ही है । इसके बाद वीजलक्षण, पंचप्रलय, और प्रकृति-
 पुरुष आदि कई महत्त्वपूर्ण विषयों का दिग्दर्शन करके भीमदशक—ग्यारहवें दशक—का
 प्रारम्भ हुआ है । यह दशक बड़े महत्त्व का है । इसके नाम ही से इसका महत्त्व समझ
 लेना चाहिए । श्रीहनुमानजी को शास्त्र में ग्याग्रहवाँ भीम (रूद्र) माना है, इसी लिए इस
 दशक का नाम ‘ भीम ’ रखना गया है । इसमें पहले अध्यात्मविद्या का सिद्धान्त बतलाकर
 सामारिकों के लिए अच्छी शिक्षा दी है । इसीमें राजराज्य, अर्थात् राजनीति-सम्यग्धी तत्त्वों,
 का निरूपण है । इसके बाद महन्त के लक्षण बतलाये हैं । महन्त को कौन कौन
 जाने जानना चाहिएँ, किस प्रकार चतुर्गड के साथ लोगों के अन्त करण का हाल जान कर
 उनको अपने समुदाय में मिलाना चाहिए और कठिन प्रसंग आ पढने पर किस प्रकार उसका
 निर्वाह करना चाहिए, इत्यादि अनेक महत्त्व की बातें बतलाई हैं । इसी दशक के अन्त में
 साधारण उपदेश बतलाकर विशेषता के साथ गढ़ बतलाया है कि निस्पृह लोगों का

बर्ताव जन-समाज के साथ कैसा होना चाहिए । इस शिक्षा का सार नीचे लिखे हुए दो पद्यों में भरा है—

उत्तम गुण तितुके ध्यावे । धेऊन जनास शिकवावे ।

महन्तें महन्त करावे । युक्ति बुद्धीनें भरावे ।

जाणते करून विखरावे । नाना देसी ॥ २५ ॥

तात्पर्य, सारे उत्तम गुण पहले स्वयं ग्रहण करके तब लोगों को सिखाना चाहिए । महन्तों को चाहिए कि वे अपने समान अनेक महन्त (निस्पृह पुष्ट) तैयार करें, उन्हें युक्ति और बुद्धि का निधान बनावें । इस प्रकार अनेक ज्ञाता तैयार करके नाना देशों में—नाना प्रान्तों में—उन्हें भेजना चाहिए । क्यों भेजना चाहिए ? वे भी यही काम करें । इस प्रकार क्रमशः जगद्गुदार हो जावेगा । एक दृष्टि से यह सामान और भी बड़े महत्त्व का है । इसमें श्रीसमर्थ ने जो कुछ कहा है वह स्वयं पहले उन्होंने किया है और तब उसका अनुकरण करने के लिए लोगों को उपदेश दिया है । इस लिए उसके सिद्धान्त बिलकुल पक्के हैं । अस्तु । बारहवें दशक में विवेक और वैराग्य का बहुत ही उत्तम विवेचन किया गया है । श्रीसमर्थ ने विवेक का महत्त्व बहुत कुछ बतलाया है । क्या गेहिक और क्या पारमार्थिक, विर्मा भी प्रकार के सुख की प्राप्ति के लिए विवेक के बिना सब उपाय निष्फल होते हैं । " विवेक पाहिल्यावीण । जो जो उपाव तो तो सीण । " यह बात सच है कि जब तक विषयों के सम्यग्ध में वैराग्य उत्पन्न न होगा तब तक ज्ञान का लाभ नहीं हो सकता । परन्तु यह वैराग्य विवेकयुक्त होना चाहिए । यदि वैराग्य के साथ विवेक न हो तो अनर्थ के सिवा कोई लाभ नहीं—न तो प्रापनेक (स्वार्थ-सम्बन्धी) सुख होगा और न पारमार्थिक ।

विवेकेवीणं वैराग्य केलं ।

तरी अविद्येकं अनर्था घातलें ।

अवघें व्यर्थचि गेलें ।

दोहीकडे । १२-४-६

सौरहवें दशक में आत्मानात्म-विवेक, सारासार-निरूपण, उत्पत्ति और प्रलय का वर्णन किया है । इसी दशक के दसवें समास में लघुबोध है । इनमें समर्थ की शिक्षा का माराग है । शक्ति शास्त्रों का अनुमान है कि श्रीगणेशस्वामी ने यही लघुबोध शिवाजी की बतलाया था । नौद-हवें दशक में फिर ' निस्पृह ' के लक्षण बतला कर भिक्षा, कवित्व-कल्प, वर्णन-लक्षण, हारि-कथा निरूपण और चातुर्य लक्षण बतलाये हैं । इनके बाद तुंग धर्म नाम के समास में न्यायार्थन धार्मिक और सामाजिक दशा का अच्छा परिचय मिलता है । पन्द्रहवें दशक में फिर चातुर्य के लक्षण और निस्पृह-व्याप लक्षण बतलाये हैं । यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि श्रीमन्मथ ने महन्तों और निस्पृहों का वर्णन इन ग्रन्थ में बार बार दिया है । निस्पृह महन्तों की उन्नीस ध्यायहारिण शिक्षा का सार है, क्योंकि बिना निस्पृह महन्तों के जगद्गुदार का लोच्छ्रान्त, कदापि नहीं हो सकता । सोलहवें दशक में पहले वाचस्पतिक, सूर्यनारायण, भूषणा और परत-

देव का स्तवन करके जल, अग्नि, आदि महाभूतों का वर्णन किया है । इन गारे व्याख्यानों में आधुनिक वैज्ञानिक या शास्त्रीय सिद्धान्तों का भी परिचय मिलता है । इसके बाद उपासना की व्यापकता बतलाते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि “ उपासनेचा मोठा आश्रयो । उपासनेवीण निराश्रयो । उदण्ड केलें तरी तो जयो । प्राप्त नाहीं ॥ ” अर्थात् मनुष्य को ईश्वर की उपासना का बहुत बड़ा आश्रय है, बिना उपासना के निराश्रित रहना होता है, निराश्रित अवस्था में चाहे जैसा प्रयत्न किया जाय, जय लाभ नहीं होता । मंत्रहवें दशक में शिव-शक्ति, अजपामंत्र, जगज्जीवन आदि नाना विषयों का वर्णन किया है । अठारहवें दशक में चौथी बार सर्वज्ञसग और ‘ निस्पृह ’ के सिखापन का वर्णन किया है । इसके बाद अभागी पुरुष और उत्तम पुरुष के लक्षण तथा जन्मस्वभाव बतला कर निद्रा का हास्यकारक वर्णन किया है । उन्नीसवें दशक के प्रारम्भ में लेखन-क्रिया, भाग्यवान् और अभागी के लक्षण, बुद्धि-वाद और यत्न का निरूपण किया है । अन्त में उपाधि के लक्षण बतला कर ‘ राजकारण ’ का दुवारा निरूपण किया है । बीसवें दशक में आत्मा, देह क्षेत्र, सूक्ष्मनाम, पूर्णापूर्ण आदि आध्यात्मिक विषयों की ही चर्चा की है । अन्त में विमल ब्रह्म का निरूपण करके अद्वैत सिद्धान्त स्थापित किया है । ग्रन्थसमाप्ति के समय श्रीसमर्थ कहते हैं —

“ भक्ताचेनि साभिमानें । कृपा केली दाशरथीनें ।
समर्थकृपेचीं वचनें । तो हा दासबोध ॥

अर्थात् भक्तों का अभिमान रख कर श्रीदाशरथी रामचन्द्रजी ने मुझ पर कृपा की, यह ग्रन्थ कुछ मैंने नहीं बनाया है, इसमें समर्थ श्रीरामचन्द्रजी की कृपा के वचन हैं—वही वचन एकत्र होकर इस (दासबोध) ग्रन्थ के रूप में देख पड़ते हैं ।

यहाँ तक इस ग्रन्थ में वर्णित सब विषयों का संक्षेप में उल्लेख किया गया । अब इस ग्रन्थ के मुख्य मुख्य सिद्धान्तों की कुछ विस्तृत आलोचना की जायगी, जिससे पाठकों को यह बात भली भाँति मालूम हो जायगी कि श्रीसमर्थ रामदासस्वामी ने लोकोद्धार के लिए किस प्रकार की शिक्षा दी है ।

५-ज्ञान, विज्ञान और बहुधा ज्ञान ।

मोक्ष के लिए ज्ञान चाहिए । अब यह देखना चाहिए कि ज्ञान क्या है । इस अखिल ससार में ‘ नित्य ’ और ‘ शाश्वत ’ वस्तु एक है । वह शुद्ध या विमल ज्ञान है । इस ग्रन्थ के दशक ५ समास ६ में इसी ज्ञान का विवरण किया गया है । शुद्ध, विमल, ज्ञान को ही स्वरूपज्ञान—अनुभव या विज्ञान—कहते हैं । यह ज्ञान ‘ पदार्थ-विज्ञान ’ से भिन्न है । पदार्थ-विज्ञान को समर्थ ने ‘ बहुधा ज्ञान ’ कहा है । उसका वर्णन द० ५ स० ६ में किया गया है । जिसे हम लोग आजकल शास्त्र या विज्ञान (Science) कहते हैं । उसका समावेश इसी बहुधा ज्ञान में होता है । पशुज्ञान, रोगज्ञान, औषधिज्ञान, मंत्रज्ञान, धातुज्ञान, शास्त्रज्ञान, गतिज्ञान, तर्कज्ञान, शब्दज्ञान और अन्तर्ज्ञान आदि सब प्रकार के पदार्थज्ञान का इसी बहुधा ज्ञान में समावेश होता है । यह सारा ज्ञान मायोत्पादित दृश्य (जड़ और

अशाश्वत) पदार्थों का वर्गीकरण है । यह शुद्ध विमल ज्ञान नहीं है—यह तत्त्वज्ञान नहीं है । यह भाविद्या है—माया है—अज्ञान है । समर्थ इसी बहुधा ज्ञान का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

बहुत प्रकारची ज्ञानें । सांगों जातां असाधारणें ।

सायोज्य प्राप्ति होय जेणें । तें ज्ञान वेगळे ॥ ३७ ॥

ये बहुत प्रकार के ज्ञान कहीं तक बतलाये जायँ, पर जिस ज्ञान से सायुज्य मुक्ति मिलती है—पूर्ण स्वतन्त्रता मिलती है—वह ज्ञान अलग है । इस अनित्य दृश्य के परे जो ज्ञान है, उसीको आत्मज्ञान कहते हैं । आत्मा—ब्रह्माज्ञान—नित्य और एक है । उसके विषय का जो ज्ञान है, वही 'ज्ञान' है । दृश्य पदार्थ (माया का पसारा) अनित्य और अनेक है । उसके सम्बन्ध का जो ज्ञान है, वही " बहुधा ज्ञान " है । क्षेत्री और क्षेत्र, ब्रह्मा और दृश्य, नित्य और अनित्य—इन सब के सम्बन्ध का जो विवेक है, वही मय ज्ञान का सार है ।

६—आत्मा और देह ।

क्षेत्री, दृष्टा अथवा आत्मा, सत्, शाश्वत, निरुपाधि और निर्विकार है । क्षेत्र, दृश्य अथवा देह, असत्, अशाश्वत, सोपाधि और सविकार है । आत्मा सूक्ष्म और देह स्थूल है । आत्मा स्वयम्भू और देह परभू है । आत्मा ब्रह्म का अंश है और देह माया का अंश है । जिस तरह माया का नाश होता है और ब्रह्म अविनाशी है, उसी तरह देह नश्वर और आत्मा अमर है । इस प्रकार आत्मा-देह—ब्रह्म-माया—नित्य और अनित्य का अखंड भेद है । सारांश, आत्मा या ब्रह्म स्वतन्त्र और स्वाधीन है, माया अथवा देह परतन्त्र और परार्धीन है । यही एक मुख्य भेद है । जब इस स्वतन्त्र आत्मा का परतन्त्र माया से सयोग होता है—जब आत्मा पर माया का लेश चढता है, अथवा जब, आत्मा का इस देह से सम्बन्ध होता है तब वही ' देहा ' या ' जीव ' भी कहलाने लगता है । ' जीव ' होकर आत्मा सुख, दुःख, लाभ और हानि आदि द्वन्द्वों का भोक्ता बन जाता है । तात्पर्य, स्वतन्त्र आत्मा, देह या माया के संसर्ग से, परतन्त्र या बद्ध हो जाता है । श्रीसमर्थ नं दशक १३ सं० ९ में इसीका विवेचन किया है । वे कहते हैं—

आत्मयास शरीरयोगे । उद्वेग चिन्ता करणें लागे ।

शरीरयोगें आत्मा जगे । हें तो प्रकटाचि आहे ॥ १ ॥

देहीं सुख दुख भोक्ता । तो येक आत्माचि पाहाता ।

आत्म्याविण देहे वृथा । मडें होये ॥ २६ ॥

अर्थात्, आत्मा को शरीर के योग से उद्वेग और चिन्ता आदि करनी पडती है । यह तो प्रकट ही है कि शरीर के योग से आत्मा है—शरीर न रहे, तो आत्मा भी चला जाय । देह में सुख-दुख भोगनेवाला आत्मा ही है । आत्मा न रह तो शरीर भी मुर्दा है । इस प्रकार दोनों एक दूसरे के सहारे हैं, दोनों एक दूसरे से बद्ध हैं ।

७—नर-देही जीव या बद्ध प्राणी ।

आत्मा को माया का बन्धन होना ही नर-देह का जन्म है । ज्यों ही स्वतन्त्र आत्मा नर-देह को प्राप्त होता है त्योंही उसके मासारिक सुख दुःख और तापत्रय का आरम्भ हो जाता है । तापत्रय का मूल कारण त्रिगुणात्मक माया ही है । स्वतन्त्र आत्मा नर-देह में आकर सत्त्व, रज, तम के न्यूनाधिक मिश्रण में भ्रान्त होकर अहंकार बद्ध हो जाता है । मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ, मैंने यह किया, मैं चतुर, पण्डित, कार्यकर्ता हूँ, मेरा घर, मेरा कुटुम्ब, मेरा धन—इस प्रकार की अहंकारी कल्पनाओं में फँस कर ससार के सुख दुःख में प्राणी मग्न हो जाता है । माया के मोह में बँधा रहने के कारण उसकी ज्ञान-दृष्टि धुंधली हो जाती है । वह अपने आपको भूल जाता है । अज्ञानवश कहने लगता है कि मैं कौन हूँ ? इस प्रकार नरजन्म पाकर जब स्वतन्त्र आत्मा अपने तर्क आप ही भूल जाता है—अपने निज-स्वरूप को भूल जाता है—तब वह ससार में मूर्ख, पटतमूर्ख और कुलक्षणी बन जाता है । जब एक बार अज्ञान और मूर्खता गेम रोम में मसा जाती है तब उसके दुःखों की गिनती कौन कर सकता है ? वह दूसरों को सताता है, तंग करता है, दुःख देता है और आप भी उसी प्रकार पीड़ित होता है । दूसरों पर जुन्म करता है, दूसरों का धन छीन लेता है, लोगों की स्वतन्त्रता हरण कर लेता है और स्वयं भी दरिद्र तथा परतन्त्र होना है । इतना होते हुए भी उसकी समझ में यह नहीं आता कि ऐसा ज्यों होता है—दुःख का कारण क्या है—दुःखविमोचन क्यों नहीं होता—दुःख ही सुख ज्यों मालूम होता है । माया के कठिन फन्दे में पड़ कर बेचारा प्राणी घबरा जाता है । इसके छके छूट जाते हैं । ऐसी दशा में कोई कोई तो इस नर-देह की ही निन्दा और तिरस्कार करने लगते हैं । कहते हैं कि नर देह खोटी है—इसीके कारण हमको दुःखित होना पडा । वे यह भूल जाते हैं कि सत्त्व-रज-तम, तीनों गुणों में से केवल रज और तम के अतिशय संसर्ग से ही ऐसी दुर्दशा होती है । नर-देह एक विलक्षण शक्ति है । उसका उपयोग चाहे भला करो चाहे बुरा । दुरुपयोग करनेवाले की दुर्गति और सदुपयोग करनेवाले की सद्गति होती है । “ जो नर करनी करे, तो नर का नागयण होय ” जो कहावत है, वह विलकुल सच है । पर वे इस सिद्धान्त का सर्वथा भूल जाने हैं और व्यर्थ नरदेह की निन्दा करते हैं । नाच न आवे आँगन टेडा । ऐसे लोगों की उन्नति के बडले अवर्तति होती है ।

८—मुमुक्षु और सद्गुरु ।

ऐसे बद्ध प्राणी को जब मासारिक ताप-त्रय से खेद और पश्चात्ताप होता है, तब उस दुःख में छूटने का प्रयत्न उसके सम्मुख आता है, तब वह वृद्धावस्था से मुक्त होने का उपाय खोजता है । इनका निरूपण दासबोध में वैसा ही है, जैसा अन्यान्य ग्रन्थों में है, पर दासबोध में इतनी विशेषता है कि महाराष्ट्र की तत्कालीन अवस्था में जो कुछ उचित था, वही इस ग्रन्थ में निरूपण किया गया है । अस्तु । पूर्व-पुण्य के कारण उस बद्ध-प्राणी को जब सद्गुरु से भेंट होती है—जब वह सद्गुरु के शरण जाता है—तब गुरु के उपदेश से तामसशक्ति का वह त्याग

करता है । इसके बाद उसे मालूम होता है कि मैं बद्ध नहीं हूँ—स्वतन्त्र हूँ । भ्रम के कारण मैं अपने को बद्ध समझता था —

कोणासीच नाही बन्धन । भ्रान्तिस्तव भुलले जन ।

दृढ घेतला देहाभिमान । म्हणोनियाँ ॥ ५७ ॥

द० ५ स० ६

वास्तव में बन्धन किसीको नहीं है—कोई भी बद्ध नहीं है—सारे प्राणी भ्रान्ति से भूले हुए हैं । क्योंकि वे देहाभिमान—अहन्ता के गर्व—को दृढता से पकड़े हैं । इस भ्रम का निरसन होते ही मुमुक्षा—मोक्ष या स्वतन्त्रता की इच्छा—का उदय होता है । जब यह इच्छा प्रबल होती है, तब प्राणी सात्त्विक शक्ति का अभ्यास करने लगता है और जिसकी कृपा से यह इच्छा उत्पन्न हुई है उस सद्गुरु के चरणों की सेवा करने लगता है । सद्गुरु के उपदेश, सहवास और कृपा से बड़ा लाभ होता है । जो नरदेह पहले निन्द्य और तिरस्करणीय जान पड़ती थी; वही अब वन्दनीय और उपयोगी प्रतीत होने लगती है । गुरु के उपदेश से मनुष्य की विवेक-दृष्टि शुद्ध और निर्मल हो जाती है । उसे इस बात का विश्वास हो जाता है कि इस संसार में मेरा कुछ कर्तव्य है—कोई उद्देश है—ध्येय है—साध्य है, उस साध्य को प्राप्त करने के लिए यह नरदेह अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है । यदि नरदेह न मिलती, कोई अन्य देह (पशु, पक्षी, कीटादि की) मिलनी तो इस साध्य का प्राप्त कर लेना असम्भव था । श्रीसमर्थ कहते हैं —

पशु देहीं नाही गती । ऐसैं सर्वत्र बोलती ।

म्हणोन नरदेहींच प्राप्ती । परलोकाची ॥ २१ ॥

नरदेह हा स्वाधीन । सहसा नव्हे पराधीन ।

परन्तु हा परोपकारी शिजवून । कीर्तिरूपें उरघावा ॥ २५ ॥

द० १ स० १०

“ सब लोग यही कहते हैं कि पशु-देह में गति नहीं है । परलोक नरदेह में ही मिलना है । नरदेह स्वाधीन है; यह सहसा पराधीन नहीं होती । इसे परोपकार में लगा कर कीर्ति रूप से अमर कर देना चाहिए । ” परन्तु स्मरण रहे कि यह शुद्ध और विमल विवेक-दृष्टि, गुरु कृपा का अजन पाये बिना कदापि नहीं हो सकती । इस लाभ को क्षुद्र लाभ न समझना चाहिए । नरदेह की मिठी खराब करनेवाले गुरुओं के लिए समर्थ कहते हैं कि यदि ऐसे गुरु कौड़ी के तीन तीन मिलें, तो भी न पूछना चाहिए । जो अविद्या माया का मूल छेदन करें, अन्तर्बाह्य इन्द्रियों के दमन और निग्रह की विद्या दे और भवसागर के पार लगावे वही सद्गुरु हैं । ऐसे गुरु विरले मिलते हैं । ऐसे गुरु द्रव्य से नहीं मिलते । पूर्वपुण्य में ही मिलते हैं । इस पूर्व पुण्य को राफल कर्मे का काम गुरु का है । समर्थ कहते हैं कि समाज में जो असत् विद्या का प्रचार दीख पड़ता है, उमका दोष केवल शिष्यों का ही न देना चाहिए । इसका दोष गुरु को भी लगता है । अर्थात् असत् गुरु के कारण समाज में अनाति, अधर्म

और अनाचार का प्रचार होता है । शिष्य, अर्थात् समाज के सर्वसाधारण लोग, तो जान-बूझ कर अज्ञान और मूढ़ हैं ही । अब उनके माथे केवल दोष मढ़ देने से ही और क्या लाभ होगा ? समाज को सुमार्ग पर चलाने का सब जिम्मेदारी और जवाब-दही, समर्थ के मतानुसार, सद्गुरु के ही ऊपर है --

येथें शब्द नाही शिष्यासी ।
हे अवघें सद्गुरुपाशी ।
सद्गुरु पालटी अवगुणासी ।
नाना यत्नै करूनी ॥ १५ ॥

द० ५ स० ३

“ इसमें शिष्य का कोई दोष नहीं, यह सब सद्गुरु का काम है । सद्गुरु अनेक प्रकार के यत्न करके शिष्य के अवगुणों को पलट सकता है । ” जो सद्गुरु सर्वज्ञ हैं; आत्मज्ञानी हैं, अनुभवी हैं, विरक्त हैं, निस्पृह हैं, वे यदि समाज के नायक बन कर लोगों को उचित मार्ग की शिक्षा न दें, तो यह काम दूसरा और कौन करेगा ? जब इस प्रकार के सद्गुरु हिमालय की बन्दराओं में बैठ कर एकान्त-स्वानुभव से प्राप्त होनेवाले ब्रह्मानन्द का क्षण भर त्याग करके समाज का हित करने के लिए, परोपकार करने के लिए (जिसके लिए उनकी विभूति है) समाज में आते हैं और समाज का नायकत्व स्वीकार करते हैं, तब उनके तेज, प्रभाव और प्रतिभा के कारण उन्हें मुमुक्षु सत्शिष्य भी मिल जाते हैं । जहाँ सद्गुरु और मुमुक्षु का मिलाप हुआ वहाँ मानो मेघ और चातक का मिलाप हुआ, अथवा कृष्ण और अर्जुन की भेंट हुई, या रामदास और शिवाजी की जोड़ी मिल गई ! ऐसा होते ही मुमुक्षु शिष्य परमार्थ या जनोद्धार के साधन में लग जाते हैं ।

६-परमार्थ-मार्ग में साधक और सिद्ध ।

परमार्थ-मार्ग के साधन में लगते ही वह परोपकार-या जनोद्धार की इच्छा रखनेवाला निरहङ्कारी मुमुक्षु साधक की अवस्था को प्राप्त हो-आता है । उस अवस्था में वह देखता है कि परमार्थ क्या है । समर्थ कहते हैं कि --

“ परमार्थ तपस्वियों और साधकों का आधार है । परमार्थ भवसागर से पार करता है । जब अनन्त जन्मों का फल इकट्ठा हो रहता है, तब परमार्थ हो सकता है । परमार्थ से मुक्त परमात्मा अनुभव में आ जाता है ” । और आत्मानुभव होना ही माया के बन्धन से छूटना है । इर्मीका नाम मोक्ष और स्वतन्त्रता है—और यही परमार्थ है । इसके प्राप्त करने का मार्ग या साधन क्या है ? ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, कर्ममार्ग या भक्तिमार्ग ? इस प्रकार अनेक प्रश्नों का विवेचन समर्थ ने पाँचवें दशक के मातृवे समास से लेकर बीसवें दशक तक किया है । अस्तु, इन्हीं अनेक मार्गों से साधक परमार्थ के लिए दृढतापूर्वक साधन करता है, सन्न-यमागम करता है, अद्वैत निरूपण का श्रवण मनन करता है, सारासार विचार से सन्देहों,

सासारिक विकल्पों का नाश करके आत्मज्ञान का विवेक करता है। विवेक से देहबुद्धि—
मै-तू-पन—को रोकता है।

माया की उपाधि छोड़ कर असाध्य वस्तु (आत्मा परब्रह्म) को साधन से साधता है और सत्स्वरूप में अपनी बुद्धि दृढता के साथ रखता है। इस प्रकार साधन करते करते, गुरु के उपदेश से, नरदेह की सार्थकता करके, वह इस भवसागर के पार हो जाता है। माया के पटल को छेद डालता है—अज्ञान का नाश करता है—अपने आपको (आत्मा को) पहचानता है—सत्स्वरूप में लीन हो जाता है। ऐसी दशा आने पर वही साधक, जो बद्ध से मुमुक्षु और मुमुक्षु से साधक हुआ था, सिद्ध कहलाता है। समर्थ के मतानुसार साधक की अन्तिम या निस्सन्देही अवस्था को ही सिद्धावस्था कहते हैं। सिद्ध पुरुष ' सिद्ध ' होकर भी ' साधक ' बना ही रहता है, वह साधन कभी नहीं छोड़ता। देखिए, समर्थ सिद्ध का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं --

“ सिद्ध के लक्षण साधक बिना बतलाये ही नहीं जा सकते—सिद्ध-लक्षणों में साधकता आनी ही चाहिए। जो बाहर से साधक सा मालूम होता हो—साधन की कृति करता हो—और अन्तर में स्वरूपाकार हो, उसीको चतुर पुरुष सिद्ध जानें। ” कोई कहेगा कि जब वह साधन करता है तब सिद्ध कैसा? समर्थ उत्तर देते हैं—सन्देह-रहित साधन करना ही सिद्ध का लक्षण है, उसके साधनों में भीतर-बाहर अचल समाधान रहता है। अस्तु, यह ध्यान में रखना चाहिए कि समर्थ ने इसी ' सिद्ध ' को अपने ' दासबोध ' में ' महन्त, ' ' साधु, ' ' विरक्त ' और ' निस्पृह ' आदि नाम दिये हैं।

१०—मुमुक्षु की सहायता से साधक और सिद्ध का कर्तव्य ।

सिद्ध तो स्वतन्त्र हो गये—मुक्त हो गये। साधक उस स्थिति के पहुँचने के मार्ग में हैं। मुमुक्षु स्वतन्त्र स्थिति या मुक्तावस्था को पहुँचने की इच्छा करता है—अर्थात् ये तीन प्रकार के लोग मुक्ति, मोक्ष या स्वतन्त्रता की स्थिति में रहते हैं, या उस स्थिति में पहुँचने की इच्छा करते हैं। अब रहे बद्ध लोग। समर्थ कहते हैं कि बद्ध लोगों को मुक्ति के मार्ग में लगाने का काम सिद्ध और साधकों को, मुमुक्षु जनो की सहायता से, करना चाहिए—

विरक्तं निन्दक वन्द्यावे । विरक्तं साधक बोधावे ।

विरक्तं बद्ध चैववावे । मुमुक्षु निरूपणे ॥ ३८ ॥

द० २ स० ९

विरक्त अथवा सिद्ध पुरुषों को निन्दकों की वन्दना करना चाहिए। साधकों का बोध करना चाहिए और मुमुक्षु की सहायता से निरूपण-द्वारा बद्ध जनो को मुक्त करना चाहिए—परतन्त्र पुरुषों को स्वतन्त्र करना चाहिए। जब यह कार्य सफल होगा, तभी सब को परमार्थ-लाभ होगा और नरदेह की सार्थकता होगी। अर्थात् जब सब लोगों को परमार्थ की प्राप्ति हो जायगी—सब लोगों को मोक्ष या पूर्ण स्वतन्त्रता मिल जायगी—तब अखिल मनुष्यजाति

का उद्धार होगा—यही मनुष्य-जाति का उद्धार समर्थ का सर्वोत्तम ध्येय है । समर्थ कहते हैं कि जब तक यह सार्वजनिक उद्धार न हो, तब तक प्रयत्न करते ही रहना चाहिए । यही मनुष्य जाति के—नरदेह-प्राप्ति के—यत्न का सर्वोत्तम ध्येय है । जब इस ध्येय को प्राप्त करने में—मनुष्य-जाति का उद्धार करने में—यत्न होने लगता है तब मनुष्य-जाति के इतिहास का आरम्भ होता है । यह यत्न जाने कब से हो रहा है—मनुष्य-जाति के इतिहास का न जाने कब से आरम्भ हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं कि जब तक आखिल प्राणिमात्र (मनुष्य-जाति) को परमार्थ की प्राप्ति न होगी—पूर्ण स्वतन्त्रता या मुक्ति न मिलेगी—तब तक यह यत्न होता ही रहेगा, और मनुष्य-जाति का इतिहास वनता ही चला जायगा । अब देखना चाहिए कि इस सर्वोत्तम ध्येय को पूर्ण करने के लिए—जनोद्धार करने के लिए—सिद्धों का किन किन उपायों का अवलम्बन करने के लिए समर्थ ने इस ग्रन्थ में उपदेश दिया है ।

११—लोकोद्धार के तीन उपाय ।

समर्थ ने अपने दासबोध में इस बात का विस्तृत विवेचन किया है कि सिद्ध और साधकों को मुमुक्षुजनों की सहायता से, बद्ध लोगों का उद्धार किस तरह करना चाहिए—परतन्त्र लोगों के मन में स्वतन्त्रता की इच्छा उत्पन्न करके, उनका बन्धन किस प्रकार तोड़ना चाहिए । यही इस ग्रन्थ की विशेषता है । इस विषय का निरूपण करते हुए समर्थ ने समाज के उद्धार के—लोकोद्धार के—तीन उपाय बताये हैं । (१) नीतिस्थापना, (२) धर्मस्थापना और (३) राज्यस्थापना ।

हरि-कथा निरूपण । नेमस्तपणं राजकारण ।

वर्तायान् लक्षण । तैही असावै ॥ ४ ॥

द० ११ स० ५ ॥

समर्थ ने अपनी भाषा में इनके ये नाम रखे हैं—वर्ताव का लक्षण या चारित्र्य, (२) हरिकथा निरूपण और (३) राजकारण । इन तीन उपायों से ही समाज स्वतन्त्र रहता है । अथवा परतन्त्र समाज का उद्धार करने के लिए—उसको स्वतन्त्र करने के लिए—सिद्धों के इन्हीं तीन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए । यदि यह अभिलाषा और आवश्यकता है कि समाज मुक्त होवे, स्वतन्त्र होवे, परमार्थ का उपभोग करे, तो सिद्ध और साधकों को मुमुक्षु—स्वातन्त्र्यच्छुक्—लोगों की सहायता से, इन्हीं तीन उपायों की योजना—स्थापना—करनी चाहिए । ऐसा न समाप्त कि इस काम में सिद्ध और साधकों को कोई लाभ नहीं है । इन्हीं से समाज का हित तो होगा ही, पर सिद्ध और साधकों का भी हित है । समाज को दुःखित पीड़ित, त्रस्त, विपन्न, बद्ध देख कर सिद्धों का अन्त करण भी दुःखित होता है । तात्पर्य समाज के दुःख से सिद्धों को भी खेद होता है । अतएव समाज के दुःख विमोच करने में—समाज को बन्धनमुक्त करने से—सिद्ध पुरुषों को भी सुख होता है । इसलिये समाज का उद्धार करना सिद्धों का स्वतन्त्र सिद्ध कर्तव्य है । अब इन तीन उपायों का पृथक् पृथक् विवेचन करेंगे ।

१—नीति-स्थापना । उपर्युक्त उपायों में से प्रथम नीति की स्थापना होनी चाहिए । बद्धजन-समुदाय में नीति का अत्यन्त लोप हो जाता है । स्वधर्म, भूतदया और आत्मज्ञान को तो वे भूले रहते ही हैं, परन्तु निन्दा, द्वेष, अनीति, अनाचार, आलस, कपट, कलह, क्रूरता, कातरता, पाखण्ड, पाप, दुराशा, आदि दुर्गुणों का बड़ा विकट आवरण उन लोगों पर छाया रहता है । इस आवरण को निकालना—इन दुर्गुणों को दूर करना—नीति का काम है । नीति की स्थापना से मलिन वृत्तियाँ विमल हो जाती हैं और मनुष्य अपने सुधार के—अपने उद्धार के—मार्ग में लग जाता है । जब सिद्ध पुरुषों के उपदेश से—सद्गुरु के उपदेश से—यह मालूम हो जाता है कि माया के सत्व, रज, तम, तीन गुणों में से कौन प्राण्य और कौन त्याज्य है, तब ऐसा समाझिए कि उद्धार का बहुत बड़ा काम हो चुका । मनुष्य को जिधर झुकाओ उधर झुक सकता है । उसे नीति की ओर लगाओ, तो उधर लग जायगा, अनीति की ओर लगाओ, तो वह उसीमें फँस जायगा । इस प्रकार, नरदेह के विषय में प्रस्तावना करके समर्थ ने चतुर और मूर्ख, कुविद्या और सुविद्या, सत्त्वगुण और तमोगुण का निरूपण द० २, स० २ में किया है । जो अज्ञ हैं, वे नीति जानते ही नहीं, इसलिए यदि वे कुलक्षणी हों तो कोई आश्चर्य नहीं । ऐसे लोग उपदेश—द्वारा सुधार सकते हैं । परन्तु “ज्ञान-लवदुर्विदग्ध” अहम्मन्य पण्डितों का एक वर्ग होता है, जिसे समर्थ श्रीरामदासस्वामी ‘पढतमूर्ख’ कहते हैं, उनकी नीति कैसे सुधारी जाय ? भर्तृहरि ने कहा है:—

ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तन्नरं न रक्षयति ।

अर्थ—अर्द्ध-दग्ध जड़ जीव कहे विधिहु नै रिक्षवन जोग ।

प्रतापसिंह ।

सचमुच इन पढतमूर्खों को सुधारना बड़ी टेढ़ी खीर है । ये लोग बहुश्रुत और व्युत्पन्न होते हैं, ब्रह्मज्ञान की बड़ी बड़ी बातें बतलाते हैं, परन्तु काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर, दम्भ, दुराशा और अहंकार के चक्कर में ऐसे पड़े रहते हैं कि वे अपने ही धर्म की निन्दा करते हैं, भक्ति-मार्ग का उच्छेद करते हैं, भूतदया को भूल जाते हैं । वे स्वयं ऐसा करते हैं और अज्ञ जनों से भी करवाते हैं । ऐसे पढतमूर्खों को भी नीति की शिक्षा देना, सब समाज के उद्धार की दृष्टि से, अत्यन्त आवश्यक है । समर्थ कहते हैं कि इस प्रकार मूर्ख और पढतमूर्ख दोनों को नीति की शिक्षा देना और उस शिक्षा के लिए संस्था स्थापित करना परमार्थ-प्राप्ति या समाज के उद्धार का पहला उपाय है ।

२—धर्मस्थापना । धर्म से तात्पर्य, यहाँ परमेश्वर की उपासना या भक्ति से है । भक्ति नव प्रकार की है । इनमें नवी भक्ति आत्म-निवेदन श्रेष्ठ है, अर्थात् यही श्रेष्ठ धर्म है । अन्य आठ प्रकार की भक्तियों से, जीवात्मा और परमात्मा में भेद-भाव रह जाने की सम्भावना है—अर्थात् भक्त और ईश्वर में द्वैत की कल्पना कदाचित् रह सकती है, पर आत्मनिवेदन के द्वारा भक्त के मन में विभक्ति का भाव नहीं रहता । इससे आभिज्ञता, अनन्यता या एतद्गच्छति होता

है । यह उपासना प्रत्यक्ष आत्मज्ञान ही है । समर्थ के मतानुसार उपासना और ज्ञान भिन्न नहीं हैं । उपासना ज्ञानस्वरूप है—उपासना ही ज्ञान है । समर्थ ने अपने इस ग्रन्थ के अनेक स्थलों में उपासना का माहात्म्य गाया है । समर्थ अभिमान और विश्वासपूर्वक कहते हैं कि —

“ उपासना सर्वव्यापक है, आत्माराम कहाँ नहीं है ? ठौर ठौर में राम भरा हुआ है । ऐसी मेरी उपासना है—वह कल्पनातीत है । वह निरंजन (परब्रह्म) के पास पहुँचा देती है” । अध्यात्मविद्या का श्रवण, देवपूजन, भजन, कीर्तन, सन्ध्यादि ब्रह्मकर्म, इन सब का समावेश उपासना में होता है । सारांश, कर्म और ज्ञान का समावेश उपासनामार्ग अर्थात् भक्ति-मार्ग में हो सकता है । भक्ति-मार्ग में प्रतिमापूजन—मूर्तिपूजा—कही है । परन्तु, स्मरण रहे कि प्रतिमा या मूर्ति, परमेश्वर का प्रतिनिधि-रूप है—स्वयं उस (प्रतिमा) का रूप, या नाम, परमेश्वर नहीं है । इस बात की चर्चा समर्थ ने ठौर ठौर में की है । जिस परमेश्वर की प्रतिमा हम पूजते हैं, उसको पहचानना चाहिए —

“ नाना देवों की नाना प्रतिमायें लोग प्रेमपूर्वक पूजते हैं, पर वास्तव में यह पहचानना चाहिए कि जिसकी प्रतिमा है वह परमात्मा कैसा है—पहचान कर भजन करना चाहिए । जैसे पहचान लेने पर साहव को बन्दगी या नमस्कार करते हैं, वैसे ही मूल परमात्मा को पहचान कर मूर्ति की पूजा करनी चाहिए ।” अपनी कल्पना के अनुसार बनाई हुई परमेश्वर की प्रतिमा में परमेश्वर का ध्यान करना ही उपासना है । प्रतिमा का आकार—रूप—चाहे जैसा हो, और उसका नाम चाहे जो रक्खा गया हो; पर मुख्य बात यह है कि वह एक ही परब्रह्म (वस्तु) की भिन्न भिन्न प्रतिमायें और नाम हैं । खंडोबा, विठोबा, नारायण, राम, कृष्ण, लक्ष्मी, शिव, विष्णु, सरस्वती इत्यादि अनेक प्रकार के नाम उसी एक अनिर्वाच्य वस्तु को दिये गये हैं । इस अनिर्वाच्य वस्तु—परब्रह्म—परमात्मा की एकता को, उपासना करते समय, कदापि भूल न जाना चाहिए) । स्वधर्म, कुलधर्म, वर्णाश्रम धर्म, सब एक उपासना-धर्म, अर्थात् भक्तिमार्ग, में आ जाते हैं । लोगों को इस उपासना-धर्म में—भक्तिमार्ग में—प्रवृत्त करना ही, उनको परमार्थमार्ग में लगाना है । अतएव भक्तिमार्ग की स्थापना, स्वधर्म की स्थापना, समाज के उद्धार का—मुक्ति या स्वतन्त्रता का—दूसरा बड़ा उपाय है । धर्मस्थापना करनेवाले सिद्ध पुरुष साक्षात् ईश्वर के अवतार हैं—

धर्मस्थापनेचे नर । ते ईश्वरांचे अवतार ।

जाले आहेत पुढें होणार । देणे ईश्वरांचें ॥ २० ॥

द० १० स० ६

धर्मस्थापन करनेवाले नर ईश्वर के अवतार हैं—वे हो गये हैं और आगे होनेवाले हैं । देना ईश्वर के हाथ में है । ”

३—राज्यस्थापना । नीति और धर्म की स्थापना से परमार्थ—मोक्ष, मुक्ति, स्वतन्त्रता—

की अंशतः प्राप्ति होती है—समाज का अंशत उद्धार होता है । परन्तु उसकी पूर्णता के लिए—उस लाभ को अप्रतिबद्ध और चिरस्थायी करने के लिए—राज्यस्थापन की आवश्यकता है । समाज में सभी लोग मुमुक्षु—मोक्ष या स्वतन्त्रता की इच्छा करनेवाले—अर्थात् नीतिमान् और धार्मिक नहीं होते । अधिकांश जन बद्ध होते हैं—परतन्त्र और अनीतिमान् होते हैं—अतएव अधर्मी होते हैं । नीतिमानों और धार्मिकों की प्रवृत्ति, नीति और धर्म की ओर होती है, अनीतिमानों और अधार्मिकों की प्रवृत्ति, अनीति और अधर्म की ओर होती है । इस लिए जब सिद्ध या साधक, मुमुक्षु जनों की सहायता से, समाज के उद्धार के लिए, नीति और धर्म की स्थापना का यत्न करने लगते हैं, तब बद्ध जन, अर्थात् अनीतिमान् और अधर्मी लोग, विरोध करते हैं—विघ्न उपस्थित करते हैं । इस विरोध का फल यह होता है कि नीति और धर्म की स्थापना पूरी तरह नहीं हो पाती, और यदि हुई भी तो वह बहुत समय तक टिक नहीं सकती, और अन्त में सारा समाज परमार्थ से परावृत्त हो जाता है । यह स्थिति मुमुक्षु जनों के लिए अत्यन्त हानिकारक होती है । मुमुक्षु जनों की संख्या स्वभावतः कम होती है, इसलिए वे केवल नीति और धर्म के बल पर बद्धजनों (अनीतिमान् और अधर्मी लोगों) को अपने दबाव में रखकर अनीति और अधर्म का पराभव नहीं कर सकते । सारांश, नीति और धर्म की रक्षा करने तथा अनीति और अधर्म का उन्मूलन करने के लिए किसी एक शासक संस्था की आवश्यकता होती है । उसीका नाम राज्यसंस्था है । स्वधर्म का विरोध करनेवाले हजारों बद्ध जन प्रत्येक समाज में होते हैं । नास्तिक और पाखण्डी लोग तो देव और धर्म के विरुद्ध झगड़ा मचाने का बीड़ा ही उठाये रहते हैं । सिद्ध और साधक जन तीव्र तप करके महा भाग्य से परमार्थ प्राप्त करते हैं, ज्ञान का अनुभव करते हैं, परन्तु तामसवृत्ति में डूबे हुए, बद्धावस्था में रह कर मिथ्या पदार्थ-सुख में ही आनन्द माननेवाले, मूढ़ लोगों को पूर्वोक्त सज्जनों की पारमार्थिक संस्था का रहस्य समझ नहीं पड़ता—इस लिए वे द्वेष करते हैं, उनकी निन्दा करते हैं । इतना ही नहीं, वे हमारी संस्था भंग करने का भी प्रयत्न करते हैं । ऐसे दुष्ट और अधम लोगों से धर्म की रक्षा करने के लिए एक शासक संस्था अवश्य चाहिए । जहाँ न्याय और धर्म का प्रसार होता है—जहाँ मुमुक्षु वर्ग का उदय होता है—जहाँ स्वतन्त्रता की इच्छा रखनेवाले लोग बढ़ने लगते हैं—वहाँ समाज का नियमन, प्रबन्ध और शासन करने के लिए, राज्यसंस्था निर्माण करने की आवश्यकता प्रतीत होती ही है । सब पूछो तो परमार्थ-प्राप्ति के लिए यत्न करनेवाले समाज में नीति और धर्म के बल पर स्थापित की हुई राज्यसंस्था आप ही आप दीखने लगती है ।

इस राज्यसंस्था का तत्त्व दासबोध में अति मार्मिकता से प्रतिपादित किया गया है । व्यक्तीभूत नर-देह का आश्रय करके रहनेवाला आत्मा ही ' जाणीव ' या ज्ञानरूप है । मायोत्पादित देह का आवरण होने के कारण उस आत्मा का ज्ञान अपूर्ण रहता है । पूर्ण ज्ञान का अखण्ड निधि जो परात्पर परमात्मा है, उसके साथ सायुज्यता प्राप्त होने के लिए, इस अपूर्ण ज्ञानरूप आत्मा को, अपने से अधिक ज्ञान के आधिष्ठान का, आश्रय करना पड़ता है ।

रायाचे सत्तेने चालते, परन्तु अवर्घी पञ्चभूते ।
मुळीं अधिक जाणीवचे ते, अधिष्ठान आहे ॥ ४ ॥

द० १५ स० ४

राजा अथवा राज्यसंस्था अधिक ज्ञान का अधिष्ठान है—यह सिद्धान्त प्रतिपादन करने के लिए दृष्टान्त —

दुरस्ता दाटव्या फौजा, उंच सिंहासनीं राजा ।
याचा विचार समजा, अन्तर्यामी ॥ २ ॥

१५—३

हजारों सैनिकों का समूह सामने खड़ा रहता है, पर राजा ऊँचे सिंहासन पर विराजमान होकर अपने विशेष अधिकार से सब को आज्ञा देता है—इसी तरह लाखों, करोड़ों लोगों के समाज पर, विशेष ज्ञान के कारण, परमेश्वररूपी राज्य सत्था शासन करती है ।

विवेकें बहुत पैसावले । म्हणोन अवतारी बोलिले ।
मनु चक्रवर्ती जाले । येणेंचि न्यार्ये ॥ ५ ॥

१५—३

आज तक जिन जिन अवतारी राजाओं ने राज्य स्थापित किया, वे सब 'विवेक,' अर्थात् 'ज्ञान' के विशेष 'अधिष्ठान' थे । भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि "नराणा च नराधिपम्"—मनुष्य-समाज में राजा मैं हूँ । इस प्रकार राजा परमेश्वर-रूप है और राज्यसंस्था परमेश्वर का अधिष्ठान है । इस राज्यसंस्था का मुख्य कार्य यही है कि वह धर्म और नीति की सहायता करे और स्वयं भी धर्म-नीति की सहायता से चले । यह पहले कह आये हैं कि धर्म और नीति का उद्देश परमार्थ प्राप्ति है । इस लिए राज्य-संस्था का भी मुख्य हेतु परमार्थ-प्राप्ति ही होना चाहिए । यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि परमार्थ, मुक्ति, मोक्ष, या स्वतन्त्रता मनुष्य-जाति के उद्धार को कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जब मानवी समाज, परमार्थ-लाभ के लिए यत्न करने लगता है, जब वह परतन्त्रता के जाल से छूटने का उपाय करने लगता है—तब उसको नीति, धर्म और राज्य, इन तीन संस्थाओं का आश्रय लेना पड़ता है । इन्हीं संस्थाओं के आधार पर मनुष्यसमाज नैतिक, धार्मिक और राजकीय स्वतन्त्रता—अतएव पूर्ण स्वातन्त्र्य या मोक्ष-प्राप्त करता है ।

१२—उक्त संस्थायें कैसे स्थापित करना चाहिए ।

समर्थ सिर्फ इतना ही बतला कर नहीं रह गये कि परमार्थप्राप्ति के लिए नीति, धर्म और राज्य की संस्थायें आवश्यक हैं, किन्तु उन्होंने विस्तार-पूर्वक यह भी बतलाया है कि परो-प्रकार-बुद्धि से समाज का उद्धार करने के लिए इन संस्थाओं को किस तरह स्थापित करना चाहिए । (१) नीति सत्था —सिद्धों को एकान्तवासपूर्वक लोक-समुदाय इकट्ठा करके, उसके अनुभव से अपने समय की वास्तविक नैतिक दशा का विचार करना चाहिए । उत्तम गुणों

का सम्पादन करके लोगों को सिखाना चाहिए और अपना समुदाय उत्तरोत्तर बढ़ाना चाहिए । समुदाय के लोगों की योग्यता के अनुसार उन्हें काम सौंपना चाहिए और उनमें जो पुरुष पास रखने योग्य हों उन्हें पास रखना चाहिए, जो दूर रखने योग्य हों उन्हें दूर काम पर भेजना चाहिए । लोगों की मण्डलियों—सभा-समाज—बना कर उनमें भूतदया का बीजारोपण करने से नीति की स्थापना होगी । कारण यह है कि ज्ञानरूप से सब के अन्त-करण समान होते हैं ।

यह ज्ञान सब भूतों में—जीवों में—एकरूप होने के कारण सब लोगों को आत्मतुल्य मानना मनुष्य का सहज धर्म है । यह नीति-स्थापना की अत्यन्त सूक्ष्म विधि यहाँ हमने बतलाई । दासबोध में अत्यन्त विस्तृत चर्चन, विशेषता के साथ, किया गया है । सब बातें मूल ग्रन्थ पढ़ने से ही मालूम हो सकती हैं । (२) धर्म भजन-संस्थाः—भक्तिमार्ग के लिए ब्राह्मण-मण्डली, सन्त-मण्डली और भक्त-मण्डली स्थापित करना चाहिए ।

ब्राह्मणमण्डल्या मेळवाव्या । भक्तमण्डल्या मानाव्या ।

सन्तमण्डल्या शोध्याव्या । भूमण्डली ॥ १४ ॥

१२-६

परमात्मा के ज्ञानपूर्ण भजन से दशों दिशाएँ गूँज उठनी चाहिएँ । इस उपाय से कर्म-मार्गी कर्मठ ब्राह्मण, ज्ञानमार्गी साधु सन्त और केवल भजनप्रिय, सब जाति और वर्ण के भक्तजन, एक दिल से, प्रेम-पूर्वक, एकत्र हो सकते हैं । धर्मस्थापना करना सिद्धों का—साधुओं का—मुख्य कर्तव्य हैः—

ऐसा जो महानुभाव । तेणे करावा समुदाव ।

भक्तियोगें देवाधिदेव । आपुला करावा ॥ ३२ ॥

१२-१०

शाहाणे करावे जन । पतित करावे पावन ।

सृष्टीमधें भगवद्भजन । वाढवावें ॥ ३३ ॥

१४-६

ऐसे महानुभावों को समुदाय एकत्र करना चाहिए और भक्तियोग से उस देवाधिदेव परमात्मा को अपनाना चाहिए । लोगों में नाना प्रकार की चतुराई फैलाना चाहिए । पतितों को पावन करना चाहिए । और संसार भर में भगवद्भजन बढ़ाना चाहिए । सिद्धों को इस धर्मस्थापना का प्रबन्ध अपने ही जीवन भर के लिए न करना चाहिए, क्योंकि—

आपण अवचितें मरोन जावें । मग भजन कोणें करावें ।

या कारणें भजनास लावावें । बहुत लोक ॥ ३७ ॥

१२-१०

अचानक एक दिन मृत्यु हो जाने पर फिर भजन कौन करेगा ? इसलिये बहुत लोगों का समुदाय एकत्र करके, उसे भजन में लगाना चाहिए । किसी मत का पूर्ण प्रसार करने

के लिए अकेले मनुष्य की अपेक्षा बहु-जनघटित समाज, सभ्य-समुदाय या मण्डल अधिक उपयोगी है । आज-कल के बहुतेरे लोग कहते हैं कि यह प्रथा नई है—यहाँ विदेशियों ने चलाई है, पर देखना चाहिए कि श्रीसमर्थ कितने दिन पहले अपने दासबोध में इसका वर्णन—एक जगह नहीं अनेक स्थलों पर—कर गये हैं । सभा, समाज और मण्डलियों का उपयोग वर्तमान समाज के लोग जानने लगे हैं, पर इस विषय में भी बहुत सी बातें अभी दासबोध से जान कर अमल में लाना बाकी हैं । अस्तु । दो चार व्यक्तियों का मन हाथ में कर लेने से कुछ अधिक लाभ नहीं । महत्कार्य की सिद्धि के हेतु बहुतेरों का मनोगत जानना चाहिए —

जेणें बहुतांस घडे भक्ता । ते हे रोकडी प्रबोधशक्ती ।
बहुतांचे मनोगत हातीं । घेतलें पाहिजे ॥ ३७ ॥

१२-१

सिद्धों में प्रबोध-शक्ति—दूसरों को बोध करने की शक्ति—वक्तृत्वशक्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है । जब तक यह शक्ति न होगी तब तक बहुत लोगों का अपने हाथ आ जाना कठिन है, नहीं नहीं असम्भव है और यदि उनका मनोगत न जान पाया, तो समुदाय में मिला कर उन्हें भक्ति में कैसे लगा सकते हैं ? इस काम में बहुत उतावली भी न करनी चाहिए । अन्यथा अनीतिमान्, अधार्मिक, स्वार्थी, बद्ध लोगों से विघ्न आ पडने की अधिक सम्भावना है । यह बात हम ऊपर भी कह चुके हैं । दासबोध में इस विषय का सब से अधिक विवेचन किया गया है—धर्म ही इस-ग्रन्थ का आलोच्य विषय है । हमने यहाँ संक्षेप में बतलाया है । अधिक जानने की उत्कण्ठा रखनेवालों को मूल ग्रन्थ का ही मनन करना चाहिए । (३) राज्यसंस्था—इस संस्था का स्थापित करना भी सिद्ध लोगों का—साधु और निस्पृह लोगों का—महन्त पुरुषों का—उतना ही जिम्मेदारी का कर्तव्य है, जितना नीति और धर्म की संस्थाओं के विषय में है । इस काम के लिए साधुओं को बहुत बड़ा समुदाय करना पडता है, और उसको दृढ़तापूर्वक अपने अधीन रख कर सदा कर्तव्य में तत्पर रखना पडता है । श्रीसमर्थ इस विषय में कहते हैं —

समुदाय पाहिजे मोठा । तरी तनावा असाव्या बळकटा ।

मठ करून ताठा । धरूंच नये ॥ २२ ॥

भारी समुदाय को दृढ़तापूर्वक अपने अधिकार में तो रखना ही चाहिए, पर बड़े दम-दिलसे के साथ समुदाय से काम लेना चाहिए, क्योंकि समुदाय बना कर उसके साथ अकड़वाजी नहीं कर सकते । अकड़वाजी करने से फूट पैदा हो जाती है । अस्तु, जब ऐसा समुदाय हो जाता है, तब सब लोगों में परमार्थबुद्धि—मोक्ष की बुद्धि—घडके के साथ जागृत होने लगती है —

ठाईं ठाईं उदण्ड तावे । मनुष्यमात्र तितुके श्रॉवे ।

चहुँकडे उदण्ड लाँवे । परमार्थबुद्धी ॥ २७ ॥

१५-२

“ आत्मवत्सर्वभूतेषु ” के अनुसार सब लोगों को, सब समाज को, सब राष्ट्र को, आत्मवत् मानना ही राजकीय दृष्टि से ‘ परमार्थबुद्धि ’ है । जब यह बुद्धि समुदाय में—वर्द्ध-जन-समाज में—सम्पूर्ण राष्ट्र में—प्रकाशित होकर दृढ हो जाती है, तब नीति और धर्म की संस्थाओं की रक्षा होती है । इस प्रकार जो समुदाय ‘ व्याप ’—विस्तृत प्रयत्न—करता है और धक्का-धक्की सहता है वह देखते देखते भाग्य-शिखर पर चढ़ जाता है—परमार्थ को पहुँच जाता है:—

व्याप आटोप करिती । धके चपेटे सोसिती ।
तेणें प्राणी सदेव हॉती । देखत देखताँ ॥ ७ ॥

१५-३

कहावत भी है कि, “ टोंकी सहे सो देवता होय ” । टोंकी से गढ़-गढ़ कर मूर्ति तैयार की जाती है, तब तो उसमें देवपन आता है ।

कष्ट बिना फल नहीं है; बिना किये कुछ नहीं है । राज्य-संस्था प्रस्थापित हुए बिना नीति और धर्म की रक्षा कैसे हो सकती है ? सिद्ध और साधकों को, स्वातन्त्र्येच्छुक लोगों की सहयता से, राजकीय समुदाय बनाने का उपदेश करके समर्थ व्यक्तिमात्र को शिक्षा देते हैं कि देश में जो राजा हो, या राज्य का प्रतिनिधि हो, उसके समुदाय में जाकर, उसके आश्रय से, रहना चाहिए । आश्रयरहित या विलग रहने से अच्छी गति न होगी ।

समर्थांची नाही पाठी । तयास भलताच कुटी ॥ ३० ॥

१६-१०

जो समर्थ पुरुष के आश्रय से नहीं रहता, उसे मामूली आदमी भी कूट डालता है । इस प्रकार राज्य-संस्था प्रस्थापित करना नीतिमान् और धार्मिक नेताओं तथा अनुयायियों को हितदायक है । इस संस्था की सहायता से जीवात्मा को परमात्मा से सायुज्यता, अर्थात् परमार्थ, मोक्ष, मुक्ति या स्वतन्त्रता मिलती है.—

परमार्थी तो राज्यधारी । परमार्थ नाही तो भिकारी ।

या परमार्थांची सरी । कोणास घावी ॥ २३ ॥

१-९

जो परमार्थी है, वही राजा है और जिसके पास परमार्थ नहीं वही भिकारी है—इस परमार्थ की उपमा किससे दे ?

१३—दासबोध की विशेषता ।

हम पहले कह चुके हैं कि दासबोध में एक विशेषता है । इस ग्रन्थ में वेदान्त के सिद्धान्तों का निरूपण, समर्थ के समय के महाराष्ट्र की परिस्थिति के अनुकूल, किया गया है । महाराष्ट्र की उस समय की अवस्था में जिस प्रकार का निरूपण उचित, आवश्यक और उपयोगी था

वैसा ही इस ग्रन्थ में समर्थ ने, स्वतन्त्र रीति से, किया है । भगवद्गीता में वेदान्तविषय का जो निरूपण है, उसके सिद्धान्त यद्यपि सर्वदा एक समान उपयुक्त हो सक्ते हैं; फिर भी वे गीता-कालीन समाज-अवस्था के अनुकूल अधिक लगते हैं । वैसा निरूपण १७ वीं शताब्दी में समर्थ को अनावश्यक जान पड़ा । इसलिए, यद्यपि इस ग्रन्थ में वेदान्त के उन्दा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जो उपनिषद, गीता और भागवत आदि ग्रन्थों में हैं, तथापि प्रकथ-रचना, निरूपण-शैली और दृष्टान्त आदि विलकुल नये ढंग के हैं—ऐसे हैं जो तन्कालीन महाराष्ट्र के लिए विशेष उपयुक्त थे । दासबोध किमी अन्य ग्रन्थ का अनुवाद, टीका या “ आधार पर ” लिखा हुआ ग्रन्थ नहीं है । अपने समय के समाज (देश) की नैतिक, धार्मिक और राजकीय दशा पूरी तौर से ध्यान में लाकर, समर्थ ने यह ग्रन्थ स्वतन्त्र युद्धि से बनाया है । उपनिषद, गीता और भागवत आदि संस्कृत ग्रन्थों के वेदान्त-विषयक सिद्धान्तों को समर्थ ने प्रमाणभूत अवश्य माना है, परन्तु प्राचीन सिद्धान्तों का जो विपरीत अर्थ समाज के मन में भर गया था, उसको इस ग्रन्थ में दूर किया है । दूसरी विशेषता इस ग्रन्थ में यह है कि, इसमें यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि, हमारा वेदान्त निराशावादी या आलस्यवादी नहीं है । तिस पर भी ऐसे बहुतेरे लोग समाज में देरा पढने हैं, जो सन्यासी, वैरागी और साधु का रूप बनाकर, सब लौकिक कार्यों का त्याग करके, दूसरों के भरोसे पेट भरते हैं । यद्यपि ये लोग लोकोद्धार का कोई महत्कार्य करते हुए देख नहीं पडते, तथापि बहु-जन-समाज में बडे ज्ञानी, परमार्थी और सिद्ध पुरुष माने जाते हैं । हमारे वेदान्त-ग्रन्थ जोर से पुकार कर यही शिक्षा देते हैं कि, अरे भाई, कर्म-त्याग को संन्यास, विराक्ति या ज्ञान नहीं कहते, और लोगों की भौंति, किंवहुना अन्य जनो से अच्छी तरह, ससार के सब काम करते हुए, उन कर्मों के फल की आशा—भोग में व्यासक्ति—न रखना ही सच्चा संन्यास है—सच्चा वैराग्य है ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरश्निर्न चाक्रियाः ॥ १ ॥

भ० गी० अ० ६ ।

जो कर्म-फल का आसरा न रखकर स्ववर्णाश्रमोचित कर्म करता है—वही संन्यासी है और वही योगी है । जिसने आग्निहोत्रादि सत्कर्मों का त्याग किया है, या जिसने कर्त्तव्य कर्मों का त्याग किया है, वह सन्यासी अथवा योगी नहीं है । परन्तु इस सिद्धान्त का त्याग करके लोग परोपजीवी, आलसी और स्थाणुवत्—जड या अचल की भौंति—हो गये । यह जीवनक्रम सिद्ध और सन्यासी के स्वभाव के विरुद्ध है—यह बात समर्थ ने मिक्षा-निरूपण नामक समास में कही है । परमार्थज्ञानी सिद्ध लोगों को चाहिए कि वे लोगों को परमार्थ का रास्ता दिखावें । यह सिद्धान्त दासबोध में जगह जगह पर प्रतिपादन किया गया है । ‘ महन्त-लक्षण, ’ ‘ निस्पृह का वर्ताव, ’ ‘ निस्पृह-लक्षण ’, ‘ निस्पृह-व्याप-लक्षण ’ और ‘ निस्पृह-सिखापन ’ आदि कई पूरे पूरे समासों में भी यही वर्णन है । दासबोध की यह

विशेषता सदा ध्यान में रखने योग्य है । सिद्ध और ज्ञानी पुरुषों के लौकिक कर्तव्य जितनी स्पष्टता और विस्तारपूर्वक इस ग्रन्थ में बताये गये हैं, वैसे और कहीं देखने में नहीं आते । तीसरी विशेषता यह है कि दासबोध में समुदाय के द्वारा परमार्थ-प्राप्ति का मार्ग बतलाया है, परन्तु प्राचीन वेदान्त-ग्रन्थों में सिर्फ यही बतलाया गया है कि व्यक्तिमात्र को नीति और धर्म या भक्ति की प्राप्ति किस प्रकार कर लेनी चाहिए । उनमें इस बात का विचार नहीं किया गया कि समुदाय बनाकर समाज को नीति और धर्म के मार्ग में कैसे लगाना चाहिए । इस विषय का निरूपण ही दासबोध का मुख्य रहस्य है ।

१४--तत्कालीन परिस्थिति ।

इस विशेषता का कारण महाराष्ट्र की उस समय की परिस्थिति है । यदि परमार्थ का और उसकी प्राप्ति के साधनों का इस प्रकार स्पष्ट और विस्तृत विवेचन न किया जाता, तो उस समय बद्ध या परतन्त्र समाज को कोई लाभ न होता । उस समय की सामाजिक दशा का वर्णन स्वयं समर्थ ने दासबोध में किया ही है । राज्यसंस्था परकीय और विधर्मी लोगों के अधीन थी । नीति और धर्म का उच्छेद हो रहा था । परकीय लोग हिन्दू प्रजा की हर तरह में दुर्दशा कर रहे थे । हिन्दू-समाज बिलकुल फूट गया था । दासबोध के कालि-धर्म-निरूपण में प्रायः इस परिस्थिति का वर्णन है—मुसलमानों का वैभव देख कर लोग अपने आचार, विचार, शास्त्रसिद्धान्त, रीति-रवाज, देव-धर्म और परिपाटी आदि छोड़ने लगे । अपने देवस्थानों का त्याग करके दाऊद-उल-मुल्क नाम के मुसलमान पीर को भजने लगे । कितने ही लोग तुर्क या मुसलमान हो गये । ब्राह्मणों की बुद्धि मारी गई । शूद्र ब्राह्मणों के शुरु बन बैठे । मानसिक दुर्बलता के कारण ब्राह्मण भी शूद्रों का उपदेश सुनने लगे । शूद्र ब्राह्मणों का आचार करने लगे और ब्राह्मण व्यभिचार में फँस कर भापस में कलह करने लगे । वर्णव्यवस्था भ्रष्ट हो गई । कोई किसीकी सुनता समझना न था । इस प्रकार नीति और धर्म का दबाव जाता रहा । तीर्थक्षेत्र भ्रष्ट किये गये । मूर्तियों नष्ट की गई । स्त्रियों का सतीत्व हरण किया गया—ऐसी अवस्था देख कर ही समर्थ ने शके १५५४ में अर्थात् सन् १६३२ ईसवी में, लौकोद्धार का संकल्प किया—नीति, धर्म और राज्य की स्थापना करके समाज को परमार्थ-मार्ग में लगाने का निश्चय किया । उसी निश्चय का मूर्तिमान् फल यह दासबोध ग्रन्थ है ।

१५--साधारण तौर पर चार प्रकार की विवेचन-पद्धति ।

यह मानवी समाज आज हजारों वर्षों से जो लगातार प्रयत्न कर रहा है, उसका निरर अनेक दृष्टियों से किया जा सकता है । (१) कितने ही शास्त्रज्ञ इस समाज का आदि से लेकर अब तक का इतिहास देख कर, उस चरम के तात्पर्य का विचार करते हैं । वे इस विचार से इतना ही मालूम कर सकते हैं कि यह समाज अमुक अमुक चरित्र आज तक कर चुका है । यह बात उसके अगले चरित्र से जानी जा सकती है कि अब आगे यह समाज क्या क्या लीला करेगा । उसके सम्बन्ध में पहले ही कुछ धटना इतिहास का

काम नहीं है। इस पद्धति को समाज के यत्न का विचार करने की “ ऐतिहासिक पद्धति ” कहते हैं। (२) बहुत से शास्त्रज्ञ इस बात का विचार करते हैं कि यत्न करते समय यह समाज कौन कौन रूप और शरीर धारण करता है। ये शास्त्रज्ञ बड़ी उत्सुकता के साथ इस बात का विचार करते हैं कि यत्न करते समय समाज एकसत्ताक रहता है या बहु-जन-सत्ताक रहता है, चातुर्वर्ण्य नियमों के अनुसार चलता है या एक जाति में ही रहता है। इस पद्धति को, समाज के यत्न का विचार करने की “ शारीरिक पद्धति ” नाम दिया गया है। (३) कोई कोई तत्त्वज्ञ समाज के रूपां अथवा चरित्रों के लक्षणों का ही निश्चय करते हैं, फिर समाज चाहे कोई भी रूप ले या चाहे जो काम करे। इस प्रकार की पद्धति को “ लाक्षणिक पद्धति ” कह सकते हैं। (४) इन तीन पद्धतियों के सिवा एक और भी चौथी पद्धति है। इसमें समाज के चरित्र, शरीर अथवा लक्षणों की ओर पूरी तौर से ध्यान देने का नियम नहीं है, किन्तु इस पद्धति में यह विचार किया जाता है कि जिस समाज के ये चरित्र, शरीर अथवा लक्षण हैं उसके चालक की दृष्टि किस ओर है। इस पद्धति को “ आत्मिक ” अथवा “ तात्त्विक ” किंवा “ वैवेकिक ”—विवेक की—पद्धति कहते हैं। इस पद्धति में समाज के मुख्य चालक आत्मा के यत्न का विचार किया जाता है। इस पद्धति में पहले आत्मा का स्वभाव, रूप, कार्य और अन्तिम हेतु आदि प्रश्नों की चर्चा करके, फिर उससे, इस बात का विवेचन किया जाता है कि समाज किस ओर जा रहा है। इन चार पद्धतियों को योरप के विद्वान् क्रमशः (1) Historical (2) Morphological (3) Physiological (4) Psychological किंवा Philosophical अथवा Rational कहते हैं। अब हम इस बात का विचार करेंगे कि इन चारों पद्धतियों में से समर्थ ने किस पद्धति को स्वीकार किया है।

१६—दासबोध में स्वीकार की गई विवेचन-पद्धति ।

इन पद्धतियों में से चौथी, आत्मिक या तात्त्विक अथवा वैवेकिक, पद्धति का अवलम्बन श्रीसमर्थ ने अपने इस ग्रन्थ में किया है। योरप में भी दलेगल, हेगल, आदि कई तत्त्ववेत्ताओं ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है। यह बात प्रकट ही है कि जो जो पुरुष तत्त्वज्ञान, अर्थात् आत्मज्ञान, के पीछे लगे हैं, वे इस पद्धति का अवलम्बन करेंगे ही। जब मनुष्य जाति सब प्रकार में आत्मा ही पर निर्भर है, तब फिर उसकी चाहे जिस हलचल पर विचार किया जाय, वह आत्मा की ही दृष्टि से करना उचित भी है। यदि वह विचार किसी अन्य दृष्टि से किया जायगा, तो अवश्य एकदेशीय होगा। अन्य दृष्टि से विचार करना भी कई प्रकार से उपयोगी है, परन्तु यदि मानवी जाति के इस विस्तृत यत्न के अन्तिम हेतु का विचार करना है, तो उस आत्मिक अथवा तात्त्विक पद्धति का ही स्वीकार करना पड़ेगा। पहली तीन पद्धतियों में अवलम्बन करनेवाले शास्त्रज्ञों के मत से सुख-शुद्धि और राज-पुरुषों का सुख-साधन आदि हेतु समाज अथवा राज्य के यत्न के अन्तिम हेतु हैं। इनके सिवा क्लृप्ती के समान इति-

हासज्ञ और राजनीतिज्ञ यह भी प्रतिपान करते हैं कि राष्ट्रीय गुणों की पूर्ण वृद्धि करना, समाज अथवा राज्यस्थापन का अन्तिम और मुख्य उद्देश है। परन्तु इस बात की परीक्षा नहीं कर सकते हैं कि इतना बड़ा और अव्याहन प्रयत्न करने में सम्पूर्ण मानवजाति का अन्तिम हेतु क्या है। इसका कारण यही है कि वे समाज की बाहरी ओर भीतरी उपाधियों की ही ओर विमल और निरुपाधि आत्म-स्वरूप की ओर ध्यान नहीं देते। उसकी ओर ध्यान रख कर मानव-समाज के यत्न का, जिन यूरोपीय तत्त्ववेत्ताओं ने विचार किया है, उनमें से हेगल के विचार श्रीसमर्थ के विचारों से बहुत कुछ मिलते हैं। यह तत्त्वज्ञ वेदान्ती था। इसने अपने *Philosophy of History* नामक ग्रन्थ में, अध्यात्म दृष्टि से, मानवसमाज के अन्तिम हेतु का विवरण किया है। इसका सारांश नीचे दिया जाता है; जिससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि दासबोध का मत हेगल के मत से कितना मिलता है।

१७--हेगल और समर्थ के मत में समानता ।

यह जग आत्मा और माया, इन दोन घटकों से बना हुआ दिखलाई देता है। जितना कुछ चित्स्वरूप है वह आत्मा है और जो कुछ पञ्चभूतात्मक है, वही माया है। मानव-समाज के इतिहास में पञ्चभूत अर्थात् नदी, पहाड़, हवा, पानी आदि का बड़ा महत्व है। परन्तु इन मायावी पञ्चभूतों से हजारगुना अधिक महत्व, मानव जाति के इतिहास में आत्मा का है, इसलिए इस प्रधान घटक आत्मा की प्रगति और उसके मूर्त अवतार के ही इतिहास को, मानव जाति का इतिहास कहना चाहिए। माया का मुख्य लक्षण जड़ता परतन्त्रता किंवा बद्धता है; और आत्मा का मुख्य लक्षण सूक्ष्मता, स्वतन्त्रता अथवा मोक्ष है। आत्मा स्वयम्भू, स्वतन्त्र और स्वसंवेद्य है—अर्थात् उसे वहाँ जान सकता है। आत्मा अपने मुख्य रूप को, अर्थात् मोक्ष—मुक्ति या स्वतन्त्रता—को ढूँढना रहता है। इसी ढूँढने के प्रयत्न को मानव-इतिहास कहते हैं। इस इतिहास का सूक्ष्म रीति से विचार करने पर जान पड़ता है कि वर्तमान यूरोपियन या जर्मन समाज को यह मालूम हो गया है कि हम सब मनुष्य मुक्त हैं—अथवा मुक्त होने के योग्य हैं। ग्रीक और रोमन लोगों को केवल इतना ही मालूम हुआ था कि कुछ मनुष्य मुक्त होने योग्य हैं; और हिन्दू, चीनी आदि पूर्वी लोगों को इतना ही मालूम था और है कि मुक्त केवल एक ही है। आत्मा के मुक्त स्वरूप के विषय में, इन तीन समाजों के ऐसे भिन्न भिन्न विचार होने के कारण ही यूरोपियन लोग पूर्ण स्वतन्त्र हैं, ग्रीक और रोमन लोक अशत स्वतन्त्र थे, और हिन्दू तथा चीनी लोग पूर्ण परतन्त्र अथवा बद्ध हैं। इस प्रकार बद्धता, मुमुक्षा और मुक्ति ही आत्मा के इतिहास का, अर्थात् जग के इतिहास का, क्रम है। अतएव मानव समाज के इस सारे प्रयत्न का अन्तिम उद्देश मुक्ति—मोक्ष या स्वतन्त्रता है। यही स्वतन्त्रता यही मोक्ष, यही स्व-संवेद्यता आत्मा की तन्ता या तत्त्व है। इस तत्त्व में जा मिलने की इच्छा करनेवाला, अर्थात् सुसंभु आत्मा ही, धर्म, नीति और राज्य ये तीन रूप धारण करता है। इनमें से नीति रूप अर्थात् राज्य

के चरित्र का नाम राजकीय इतिहास है । ज्योंही आत्मा राज्यरूप से मूर्त होकर अव-
तीर्ण हुआ; त्योंही समझ लेना चाहिए कि अब स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त कर लेने का मार्ग
चुल गया । इस मार्ग को खोलनेवाले सीजर और नेपोलियन के समान वीर पुरुषों में
जो राजस, तामस और सात्त्विक गुण होते हैं उन्हींके प्रभाव से जग का उद्धार और
उसकी प्रगति होती है, अर्थात् आत्मा अपनी तत्ता अथवा तत्त्व या पूर्ण स्वतन्त्रता
की आंग जाता है । ऐसे ही लोगों को अवतारी या वीर पुरुष कहते हैं । राज्य, यदि उस
परमात्मा अथवा जीवात्मा की तत्ता का अधिष्ठान या मूर्त स्वरूप है, तो—वही उत्तम है
जिसमें राज्य के हित की दृष्टि, उस राज्य के घटक सारे मनुष्यों के हित की दृष्टि से,
सब तरह से मिलनी हो । इस प्रकार का मेल होने के लिए, प्रत्येक मनुष्य को आत्मा
के तत्त्व की, या परमार्थ की, पहचान होनी चाहिए । यह पहचान करा देने का काम,
राष्ट्र की शिक्षा सम्बन्धी अथवा और इसी प्रकार की अनेक सस्थाओं का है । इन सस्थाओं
से, राज्य-घटक व्यक्तियों में आध्यात्म-ज्ञान की ओर ले जानेवाले सात्त्विक और राजस
गुणों का प्रादुर्भाव होता है । ऐसी अनेक सस्थाओं का विचार हेगल ने अपने फिलसफी
आफ हिस्ट्री (Philosophy of History) में नहीं किया है, परन्तु श्रीसमर्थ ने
अपने दासबोध में किया है ।

१८--हेगल और समर्थ के तत्त्वज्ञान में मतभेद और हेगल का भ्रम।

ऊपर के अत्यन्त सक्षिप्त पृथक्करण से पाठकों को यह मालूम हो गया होगा कि दासबोध
और हेगल के तत्त्वज्ञान में कितनी समता है । हेगल और श्रीसमर्थ स्वामी रामदास
के तत्त्वज्ञान में एक जगह ध्यान देने योग्य एक बड़ा मतभेद है । वह यह कि, हेगल ने
अपनी यह भ्रममूलक समझ योंही कर ली कि हिन्दू लोगों के मत से एक ही मुक्त है और
बाकी सब बद्ध हैं । हेगल ने अपने इतिहासविषयक व्याख्यान सन् ई० १८२२ से १८३१
तक के दस वर्षों में रचे । उस समय महाराष्ट्र का इतिहास यूरोपवालों को विलकुल न
मालूम था । सत्रहवीं शताब्दी में आत्मा की सत्ता का खोज करने के लिए मराठों ने जो
प्रचण्ड क्रान्ति की, वह हेगल को न मालूम थी । उपनिषदों की तरह यदि समर्थ के ग्रन्थ
हेगल के देखने में आये होते, तो उसे यह बात अच्छी तरह मालूम हो जाती कि हिन्दू
लोगों ने जिस प्रकार आत्मा की सत्ता का खोज किया, उसी प्रकार उस सत्ता को मूर्त
स्वरूप देने का प्रयत्न रामदास, और शिवाजी ने किया । सब तो यह है कि समर्थ रामदास
ने स्पष्ट कहा है कि सब लोग मुक्त हैं —

कोणासीच नाही वन्धन । भ्रान्तिस्तव भुलले जन ॥ ५७ ॥

५-६

अतएव यह भी आवश्यकता नहीं कि महाराष्ट्र-इतिहास और महाराष्ट्र-साहित्य के अज्ञान
के कारण हेगल ने उपर्युक्त असत्य विधान किया है । इसके सिवा हेगल ने जिस समय अपने
व्याख्यान दिये, उस समय हिंदुस्तान की राजकीय स्थिति बहुत ही विपरीत हो गई

थी। इसी विपरीत स्थिति का विपरीत वर्णन, मिल आदि ग्रन्थकारों ने किया और हेगल ने भी अपने अनुमान उसी विपरीत वर्णन से स्थिर किये। इस आर्य भूमि में सात्त्विक गुणों का उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जो हास हुआ, उसके लिए यदि महाराष्ट्र के लोगों को दोष दिया जाय, तो यह एक बार सुन लिया जा सकता है, पर अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के पहले सौ सवा सौ वर्ष में सद्गुणों का जो उदय महाराष्ट्र में हुआ था, उसकी ओर यदि ये लोग (यूरोपियन) देखी-अनदेखी करें, तो यह केवल पक्षपात का लक्षण है। पक्षपात के ही कारण हेगल ने यह अवास्तव विधान किया है कि हिन्दू लोगों का मन one is free (एक स्वतन्त्र है) रहता है। जब वेदान्त, गीता और श्रीरामदास वारंवार यह कह रहे हैं कि सद्गुणों से सब लोग मुमुक्षु अर्थात् स्वतन्त्र होने योग्य हैं और जब स्वयं हेगल ने मोक्ष का सिद्धान्त वेदान्त-ग्रन्थों से लिया है, तब यही कहना पड़ता है कि निस्सन्देह उसका उक्त कथन पक्षपात, दुरभिमान, दुराग्रह, और महाराष्ट्र-इतिहास का अज्ञान प्रकट करता है। यूरोपियनों के इस दुराग्रह को दूर करने के लिए, और यह सिद्ध करने के लिए, कि आज तीन सौ वर्ष से यूरोपियनों का जो परमार्थ की ओर जाने का हेतु देख पड़ता है, वही मराठों का भी था, इधर एक इतिहास वेत्ता ने एक ग्रन्थ लिखा है। वह ग्रन्थ रानडे का “मराठों का इतिहास” है। रानडे का यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि मराठों का इतिहास जगत् के इतिहास का एक घटक होने योग्य है। यदि यह ग्रन्थ अपने समय से १०० वर्ष पहले बना होता, तो हेगल के ममान लोगों को जगत् के इतिहास के तत्त्वदर्शन में कुछ फेर-फार अवश्य करना पड़ता। अस्तु, यहाँ तक जो पृथक्करण और तुलना की गई उससे पाठकों को यह मालूम हो गया होगा कि दाम्बोध ग्रन्थ किस स्वरूप का है। यह ग्रन्थ वास्तविक इतिहास के तत्त्वज्ञान से पूर्ण है। हाँ, इतना जरूर है कि इस ग्रन्थ की विवेचन पद्धति ऐतिहासिक नहीं है, वह आध्यात्मिक किंवा तात्त्विक है।

१६--दासबोध में योगमार्ग क्यों नहीं बतलाया ?

यहाँ तक इस ग्रन्थ में वर्णित मुख्य मुख्य सिद्धान्तों के विषय में जो विवेचन किया गया, उससे किसी किसी को कदाचित् यह सन्देह उठ सकता है कि श्रीसमर्थ ने भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग का जिस प्रकार अनिरूपण किया है उसी प्रकार योगमार्ग का क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यही है कि प्रथम तो वेदान्त में योगमार्ग का विशेष महत्त्व ही नहीं है। इसके सिवा समर्थ कट्टर अद्वैतवादी थे, इसी लिए योगमार्ग के घटाटोप का उन्होंने अपने ग्रन्थों में वर्णन नहीं किया। दासबोध और समर्थ के अन्य ग्रन्थों में कहाँ कहाँ हठयोग के टोंगियों का कुछ वर्णन अवश्य पाया जाता है, परन्तु योग का पूरा पूरा वर्णन उन ग्रन्थों में न होने का एक यह भी कारण हो सकता है कि उसका अभ्यास साधारण जन-समूह के लिए अत्यन्त दुष्कर है। योगाभ्यास के लिए निर्वात और शान्त स्थान चाहिए, मित और सात्त्विक भोजन चाहिए, तथा मूक और शान्त

वृत्ति चाहिए, और और भी इसी प्रकार के अनेक कठिन साधनों की योगमार्ग में आवश्यकता है । इन बातों पर विचार करने से जान पड़ता है कि गृहस्थी या संसारी लोगों के लिए योगमार्ग दुःसाध्य ही नहीं, किन्तु असाध्य है । इसलिए श्रीसमर्थ ने योगमार्ग से जाने का उपदेश नहीं किया, तो इसमें क्या आश्चर्य है ? वास्तव में उन्हें ऐसा ही करना उचित भी था । उन्होंने अपने दासबोध में कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग का जो उपदेश दिया है वह अत्यन्त सुलभ और अमूल्य है ।

२०—उपसंहार ।

दासबोध का रहस्य जान कर उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिए इस ग्रन्थ ही को बार बार पटना और उसमें लिखे हुए सिद्धान्तों का मननपूर्वक विचार करना अत्यन्त आवश्यक है । हमें यह पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ के सिद्धान्तों के अनुकूल यदि आचरण किया जायगा तो हमारे राष्ट्र का अभ्युदय अवश्य होगा ।

अनुक्रमणिका.

समास	पृष्ठ	समास	पृष्ठ
पहला दशक ।			
१ ग्रन्थारम्भ-निरूपण	१	७ आधिभौतिक ताप (चराचर भूतों से दुःख मिलना)	६८
२ गणेशस्तुति	३	८ आधिदैविक ताप (यम-यातनाएं)	७३
३ शारदास्तुति	५	९ मृत्यु-निरूपण (मृत्यु से कोई नहीं बचता)	७५
४ सद्गुरु-स्तुति	७	१० वैराग्य निरूपण	७८
५ सन्तस्तुति	९	चौथा दशक ।	
६ श्रोताओं की स्तुति	१०	१ श्रवणभक्ति	८३
७ कवीश्वर-स्तुति	१२	२ कीर्तनभक्ति	८५
८ समा-स्तुति	१४	३ स्मरणभक्ति	८७
९ परमार्थ-स्तुति	१५	४ पादसेवनभक्ति	८९
१० नरदेह की स्तुति	१७	५ अर्चनभक्ति	९०
दूसरा दशक ।		६ वन्दनभक्ति	९३
१ मूर्ख-लक्षण	२१	७ दास्यभक्ति	९४
२ उत्तम लक्षण	२५	८ सत्यभक्ति	९६
३ कुविद्या-लक्षण	२७	९ आत्मनिवेदनभक्ति	९८
४ भक्ति-निरूपण	३०	१० सृष्टिवर्णन और मुक्तिचतुष्टय	१००
५ रजोगुण-निरूपण	३१	पाँचवाँ दशक ।	
६ तमोगुण-निरूपण	३४	१ गुरुनिश्चय (सद्गुरु-सेवा के बिना मोक्ष नहीं)	१०३
७ सत्तोगुण-निरूपण	३६	२ सद्गुरु-लक्षण	१०६
८ साद्विद्या-निरूपण	४१	३ शिष्य-लक्षण	११०
९ विरक्त-लक्षण	४३	४ मंत्र-लक्षण	११६
१० षडतमूर्खों के लक्षण	४६	५ बहुधा ज्ञान	११९
तिसरा दशक ।		६ शुद्ध ज्ञान का निरूपण	१२१
१ जन्म-दुःख-निरूपण	४९	७ बद्ध-लक्षण	१२५
२ स्वगुण-परीक्षा (बालपन और युवावस्था)	५२	८ मुमुक्षु-लक्षण	१२८
३ स्वगुण-परीक्षा (दूसरे विवाह से दुर्दशा और सन्तानोत्पत्ति)	५६	९ साधक लक्षण	१३०
४ स्वगुण परीक्षा (गृहस्थी के संकटों के कारण परदेश जाना)	५९	१० सिद्ध-लक्षण	१३४
५ स्वगुण-परीक्षा (तीसरे विवाह से संकट और बुढ़ापे के दुःख)	६२	छठवाँ दशक ।	
६ आध्यात्मिक ताप (शारीरिक और मानसिक रोग)	६५	१ परमात्मा की पहचान	१३७
		२ परमात्मा की प्राप्ति	१३९
		३ माया की उत्पत्ति	१४२
		४ माया का विस्तार	१४४

समास	पृष्ठ
५ माया और ब्रह्म	१४६
६ सत्य देव का निरूपण	१४८
७ सगुण-भजन	१५२
८ हृदय का मिथ्याभास	१५४
९ गुप्त परमात्मा की खोज	१५७
१० अरुंभव अकथनीय है	१६०

सातवा दशक ।

१ माया की खोज	१६४
२ ब्रह्म-निरूपण	१६८
३ चौदह मायिक ब्रह्म	१७१
४ केवल ब्रह्म	१७४
५ द्वैतकल्पना का निरसन	१७७
६ मुक्त कौन है ?	१८०
७ साधन का निश्चय	१८४
८ श्रवण-महिमा	१८९
९ श्रवण का निश्चय	१९१
१० जीवन्मुक्त का देहान्त	१९५

आठवाँ दशक ।

१ परमात्मा का निश्चय	१९९
२ माया के अस्तित्व में शका	२०२
३ निर्गुण में माया कैसे हुई?	२०६
४ सूक्ष्म पंचमहाभूत	२१०
५ स्थूल पंचमहाभूत	२१४
६ सत्सग और मोक्ष	२१७
७ मोक्ष-लक्षण	२२०
८ परमात्मा का दर्शन	२२४
९ साधु-लक्षण	२२८
१० बहुधा अनुभव	२३१

नववाँ दशक ।

१ अन्न-निरूपण	२३७
२ आनन्दान	२३८
३ ज्ञानी का जन्म मरण नहीं	२४१
४ अज्ञान और सुज्ञान	२४४
५ पिण्ड और ब्रह्माण्ड	२४६
६ पंचभूत और त्रिगुण	२४९
७ निरव्य-निरसन	२५२
८ धृद का पतनजन्म	२५५

समास	पृष्ठ
९ ब्रह्म में ब्रह्माण्ड	२५८
१० आत्म-स्थिति	२६०

दशवाँ दशक ।

१ अन्त करण एक है	२६३
२ उत्पत्ति के विषय में शका	२६५
३ सृष्टि की उत्पत्ति	२६६
४ उत्पत्ति का विस्तार	२६७
५ पंचप्रलय	२७०
६ भ्रम-निरूपण	२७२
७ साधु चमत्कार नहीं करते	२७४
८ प्रतीति-निरूपण	२७६
९ पुरुष और प्रकृति	२७८
१० निश्चल और चंचल	२८०

ग्याराववाँ दशक ।

१ सिद्धान्त-निरूपण	२८५
२ सृष्टिक्रम	२८८
३ सांसारिक उपदेश	२९०
४ सद्विचार	२९२
५ राजनैतिक दार्शनिक	२९३
६ महन्त के लक्षण	२९५
७ सायरूपी चंचल नदी	२९७
८ अन्तरात्मा का निरूपण	२९८
९ ज्ञानोपदेश	३००
१० निस्पृह का वर्ताव	३०२

बारहवाँ दशक ।

१ विमल लक्षण	३०४
२ ससार का अनुभव	३०५
३ ईश्वर और भक्त	३०७
४ विवेक-वैराग्य	३०९
५ त्रिविध आत्मनिवेदन	३११
६ उत्पत्ति का क्रम	३१२
७ विषय-त्याग	३१४
८ काल का रूप	३१६
९ प्रयत्न का उपदेश	३१८
१० उत्तम पुरुष	३१९

तेरवाँ दशक ।

१ आत्मानात्म-विवेक	३२३
--------------------	-----

समास	पृष्ठ
२ सारासारविचार	३२५
३ उत्पत्ति-निरूपण	३२६
४ प्रलय-निरूपण	३२८
५ सृष्टि की कहानी	३२९
लघुबोध	३३१
अनुभव का विचार	३३३
कर्ता कौन है?	३३४
आत्मा का सुख-दुःख-भोग	३३७
उपदेश-निरूपण	३३९
चौदहवाँ दशक ।	
निस्पृह-लक्षण	३४१
भिक्षा-निरूपण	३४५
काव्य-कला	३४७
कीर्तन-लक्षण	३५०
हरिकथा की रीति	३५२
चातुर्य-लक्षण	३५४
कालियुग का धर्म	३५६
अखण्ड ध्यान	३५९
शाश्वत निरूपण	३६२
माया मिथ्या है	३६४
पन्द्रहवाँ दशक ।	
चतुर का बर्ताव	३६६
निस्पृह का काम	३६८
ज्ञान की श्रेष्ठता	३७०
ब्रह्मनिरूपण	३७२
चंचल के लक्षण	३७४
विशिष्ट चातुर्य	३७७
अधोर्ध्व-लक्षण	३७९
सूक्ष्म-जीव-निरूपण	३८१
पिंड की उत्पत्ति	३८४
सिद्धान्त-निरूपण	३८६
सोलहवाँ दशक ।	
१ वाल्मीकि स्तुति	३८९
२ सूर्य-स्तुति	३९०
३ पृथ्वी-स्तुति	३९१
४ जल-स्तुति	३९३
५ अग्नि स्तुति	३९५

समास	पृष्ठ
६ वायु स्तुति	३९७
७ महद्भूत-निरूपण	३९८
८ आत्माराम-निरूपण	४०१
९ उपासना-निरूपण	४०३
१० त्रिगुण और पंचभूत	४०४
सत्रहवाँ दशक ।	
१ अन्तरात्मा की सेवा	४०७
२ शिव-शक्ति-निरूपण	४०८
३ अध्यात्म-श्रवण	४१०
४ सशय मिटाओ	४१२
५ अजया-निरूपण	४१४
६ देही और देह	४१६
७ संसार की गति	४१८
८ पंचीकरण और देह-दत्तुष्टय	४२०
९ तनु-चष्टय	४२२
१० साधु और मूर्ख	४२३
अठाहरवाँ दशक ।	
१ विविध देवता	४२५
२ ज्ञाता का समागम	४२६
३ सदुपदेश	४२८
४ नरदेह का महत्त्व	४२९
५ समाधान की युक्ति	४३२
६ दिव्य गुणों का उपदेश	४३४
७ लोगों का स्वभाव	४३५
८ अन्तर्देव-निरूपण	४३६
९ निद्रा-निरूपण	४३८
१० श्रवण-विक्षेप	४३९
उन्नीसवाँ दशक ।	
१ लेखन-कौशल	४४३
२ चतुरता का बर्ताव	४४४
३ अभागी के लक्षण	४४६
४ भाग्यवान् के लक्षण	४४८
५ देह की उपयोगिता	४५०
६ बुद्धिवाद	४५१
७ प्रयत्नवाद	४५३
८ उपाधि निरूपण	४५५
९ राजनीति का व्यवहार	४५७

समास	पृष्ठ	समास	पृष्ठ
१. विवेक का बर्ताव बीसवाँ दशक ।	४५९	५ पदार्थ-चतुष्टय	४६९
१ पूर्ण और अपूर्ण	४६२	६ आत्मा के गुण	४७०
२ त्रिविधा सृष्टि	४६३	७ आत्माविवेक	४७२
३ सूक्ष्म विचार	४६५	८ शरीररूपी क्षेत्र	४७४
४ आत्मा का निरूपण	४६७	९ सूक्ष्म-निरूपण	४७५
		१० पूर्णब्रह्म-रूपण	४७७



हिन्दी-दोसबोध



पहला दशक ।

पहला समास-ग्रन्थारम्भ-निरूपण

॥ श्रीराम ॥

श्रोता पूँछते हैं कि यह कौन ग्रन्थ है । इसमें क्या कहा है । और इसके श्रवण करने से क्या प्राप्त होता है ॥ १ ॥ उत्तरः—इस ग्रन्थ का नाम दोसबोध है । इसमें गुरु और शिष्य का संवाद है और इसमें स्पष्टरूप से भक्ति-मार्ग कहा गया है ॥ २ ॥ इस ग्रन्थ में नवविधा भक्ति, ज्ञान, वैराग्य का लक्षण और बहुत करके अध्यात्मनिरूपण किया गया है ॥ ३ ॥ इस ग्रन्थ का यह अभिप्राय है कि भक्ति के योग से मनुष्य निश्चय करके ईश्वर को प्राप्त करता है ॥ ४ ॥ मुख्य भक्ति, शुद्ध ज्ञान, आत्मस्थिति, शुद्ध उपदेश, सायुज्यमुक्ति, मोक्षप्राप्ति, शुद्ध स्वरूप, विदेहस्थिति, अलिप्तता, मुख्य देव, मुख्य भक्त, जीव तथा शिव, अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा, मुख्य ब्रह्म, नाना मत, आदि बातों का इस ग्रन्थ में निश्चय किया गया है और यह भी बतलाया गया है कि 'मैं' क्या है । मुख्य उपासना, नाना प्रकार का कवित्व-नाना प्रकार का चातुर्य, मायोद्भव, अर्थात् माया को उत्पात्ते, पंचभूत और कर्त्ता आदि के लक्षण इस ग्रन्थ में कहे गये हैं ॥ ५-११ ॥ इसमें नाना प्रकार के संशय या सन्देह और आशंकाएं मिटाई गई हैं, तथा बहुत प्रकार के प्रश्न समझाये गये हैं ॥ १२ ॥ इस प्रकार उपर्युक्त विषयों का बहुधा इस ग्रन्थ में निरूपण किया गया है । समस्त ग्रन्थ में जो कुछ कहा गया है उतने सब का खुलासा इस स्थान में बतलाया नहीं जा सकता ॥ १३ ॥

तथापि, पूरा दोसबोध बीस दशकों में विभाजित करके स्पष्ट कर दिया है और प्रत्येक दशक का विषय उसीमें कह दिया है ॥ १४ ॥ अनेक ग्रन्थों की सम्मति, उपनिषद्, वेदान्त, श्रुति, शास्त्र और मुख्य आत्मप्रतीति, (अर्थात् स्वयं रामदास स्वामी ने परमार्थ-मार्ग में जो अनुभव प्राप्त किया उसके), आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई है ॥ १५ ॥ बहुत से ग्रन्थों

की सम्मति के योग से यह ग्रन्थ रचा गया है, इस लिये इसे मिथ्या नहीं कह सकते। तथापि यह बात अब प्रत्यक्ष अनुभव से भी मालूम हो जायगी (अर्थात् ग्रन्थ को सचाई-सुठाई अभी की अभी, उसके अध्ययन से प्रत्यक्ष होगी-किसीके कुछ कहने से क्या) ॥ १६ ॥ लोग यदि मत्सर के कारण इसे मिथ्या कहेंगे तो मानो वे सभी ग्रन्थों का (नाना प्रकार के ग्रन्थों की सम्मति का) और भगवद्वाक्यों का उच्छेदन अर्थात् खंडन करेंगे ॥ १७ ॥ शिवगीता, रामगीता, गुरुगीता, गर्भगीता, उत्तरगीता, अवधूतगीता, वेद, वेदान्त, भगवद्गीता, ब्रह्मगीता, हंसगीता, पांडवगीता, गणेशगीता, यमगीता, उपनिषद्, और भागवत इत्यादि नाना ग्रन्थों की सम्मति इसमें कही गई है। इन ग्रन्थों में भगवद्वाक्य ही हैं और वे निश्चय करके यथार्थ हैं ॥ १८-२० ॥ ऐसा कौन पतित है जो भगवद्वचन में अविश्वास करे? इस ग्रन्थ में जो कुछ कहा गया है वह भगवद्वाक्य से विरहित नहीं है ॥ २१ ॥ पूर्ण ग्रन्थ देखे बिना जो व्यर्थ दोष लगाता है वह दुरात्मा, दुरभिमाना पुरुष मत्सर के कारण ही ऐसा करता है। उसके मन में मान से मत्सर और मत्सर से तिरस्कार आता है। और फिर, इसके बाद, क्रोध का विकार वेग से उठता है ॥ २२-२३ ॥ यह बात प्रत्यक्ष है कि वह मनुष्य अहंभाव के कारण ही मनमलीन होकर कामक्रोध से सन्तप्त हुआ है ॥ २४ ॥ जो मनुष्य कामक्रोध के वश में है उसे भला कैसे कहें? देखो अमृत का सेवन करने पर राहु मारा गया!-(अर्थात् राहु को तरह भीतर से सड़े हुए, अर्थात् मनमलीन, लोग इस अमृततुल्य ग्रन्थ से कुछ लाभ न उठा सकेंगे) अच्छा, अब, ये बातें जाने दो। जैसा जिसका अधिकार है वह वैसा लेगा। परन्तु अभिमान छोड़ना सब से अच्छा है ॥ २५-२६ ॥ पहले श्रोताओं ने जो यह पूछा कि क्यों जो, इस ग्रन्थ में क्या है सो सब संक्षेप रीति से बतला दिया गया ॥ २७ ॥

अब श्रवण करने का फल कहते हैं। प्रथम तो इस ग्रन्थ के श्रवण से आचरण उसी समय बदल जाता है और संशय का मूल एकदम टूट जाता है ॥ २८ ॥ सुगम मार्ग मिल जाता है। दुर्गम साधन की आवश्यकता नहीं होती। सायुज्य मुक्ति का मर्म, अर्थात् रहस्य, सहज ही मालूम हो जाता है ॥ २९ ॥ इस ग्रन्थ के सुनने से अज्ञान, दुःख और भ्रान्ति का नाश होता है, तथा शीघ्र ही ज्ञान आ जाता है ॥ ३० ॥ योगियों का परम माग्य वैराग्य प्राप्त होता है और विवेकसहित, यथायोग्य, चातुर्य का ज्ञान हो जाता है ॥ ३१ ॥ जो लोग भ्रान्त अवगुणी और कुलक्षणी हैं वह भी इस ग्रन्थ के पढ़ने से सुलक्षणी हो जाते हैं और चतुर, तार्किक तथा विचक्षण लोग अवसर परखने लगते हैं ॥ ३२ ॥ जो आलसी हैं वे उद्योगी

हो जाते हैं । पापी पड़ताते हैं । भक्तिमार्ग की निन्दा करनेवाले उसीकी प्रशंसा करने लगते हैं ॥ ३३ ॥ बद्ध, अर्थात् संसारो मनुष्य, मुमुक्षु, अर्थात् मोक्ष की इच्छा करनेवाले हो जाते हैं, मूर्ख अति दूष हो जाते हैं और अभक्त लोग भी, भक्तिमार्ग पर आकर, मोक्ष पाते हैं ॥ ३४ ॥ इस ग्रन्थ से नाना प्रकार के दोष नाश होते हैं । पतित, अर्थात् पापी, पावन, अर्थात् पवित्र, हो जाते हैं । और इसके श्रवणमात्र से प्राणी उत्तम गति पाते हैं ॥ ३५ ॥ देहबुद्धि के अनेक धोखे, बहुत से सन्देहपूर्ण भ्रम और संसार के सष उद्वेग इस ग्रन्थ के सुनने से नाश होते हैं ॥ ३६ ॥ ऐसी इसकी फलश्रुति है । इसके सुनने से अधोगति नाश होती है और मन को विश्राम तथा समाधान मिलता है ॥ ३७ ॥ और, फिर, सब से मुख्य बात तो यह है कि, जिसकी जैसी भावना उसको वैसी सिद्धि (यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी) जो मनुष्य मत्सर रखेगा उसे वही मिलेगा ॥ ३८ ॥

दूसरा समास-गणेश-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

ह्र ओंकाररूप सर्वसिद्धिफलदायक, अज्ञान और भ्रान्ति के छेदक, बांध-रूप गणनायक, आपको नमस्कार है ॥ १ ॥ मेरे अन्तःकरण में विराजिये और सदासर्वदा वास करिये । तथा कृपाकटाक्ष करके मुझ वाक्यशून्य से बुलवाइये ॥ २ ॥ तेरीही कृपा के बल से जन्मजन्मान्तर की भ्रान्ति दूर होती है और विश्वभक्तक काल भी सेवा करता है ॥ ३ ॥ तेरी कृपा के उल्लसतेही विघ्न विचारे काँपने लगते हैं । और तेरे नाममात्र ही से वे मारे मारे फिरते हैं ॥ ४ ॥ इसी लिए तो तेरा विघ्नहर नाम पड़ा है । हमारे समान अनार्यों का तूही सहारा है । हरि और हर आदि से लेकर जितने देवता हैं सभी तेरी वन्दना करते हैं ॥ ५ ॥ मंगलनिधि, अर्थात् शुभ की खान, गणेशजी को घन्दन करके काम करने से सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और किसी प्रकार की विघ्न-बाधा नहीं आती ॥ ६ ॥ उसका स्मरण करतेही परम समाधान होता है । मन, अन्य सब इन्द्रियों को छोड़कर, केवल नेत्रों में आ बसता है । सब अंग लँगड़े हो जाते हैं (अर्थात् और सब इन्द्रियों का विस्मरण हो जाता है) * ॥ ७ ॥

* उपर्युक्त ७ पद्यों में गणेशजी के निराकाररूप का वर्णन है । अब आगे साकार का वर्णन आता है ।

गणेशजी का सगुणरूप बहुत सुन्दर और मोहक है । उनके नृत्य करतेही सब देवता स्तब्ध हो जाते हैं ॥ ८ ॥ वे सदा मद से छुके रहते हैं, आनन्द से डोलते रहते हैं और तर्प से सुप्रसन्नवदन होकर अति उल्लासित रहते हैं ॥ ९ ॥ भव्य और स्थूल रूपवाली भीममूर्ति महा प्रचंड है । विस्तारिणी और उन्नत मस्तक बहुत से सिंदूर से चर्चित है ॥ १० ॥ नाना प्रकार की सुगंधों वाला परिमल गंडस्थलों से टपक रहा है । और भ्रमरगण वहां आ आ कर झुंकार शब्द कर रहे हैं ॥ ११ ॥ शृंङ्गादंड, (सूंड) सरल और कुछ मुड़ी हुई है । नूतन कपोल शोभित है । अधर लंबा है । क्षण क्षण में तोषण मदसत्व, अर्थात् मदरस, टपक रहा है ॥ १२ ॥ चौदा विद्याओं का स्वामी ह्रस्व लोचन, अर्थात् छोटी आंखें, हिला रहा है । कोमल और लचलचीले कान फड़ फड़ फड़का रहा है ॥ १३ ॥ रत्नों से जडा हुआ मुकुट भलभलाता है; उसमें कई प्रकार के रंगों का तेज पड़ रहा है । कानों में कुडल चमक रहे हैं और उन पर जड़े हुए नीलमणि भलक रहे हैं ॥ १४ ॥ मजबूत और सफेद दांत रत्न और सोने के कडों से जड़े हुए हैं । उन के नीचे छोटे छोटे सुवर्ण-पत्र चमक रहे हैं ॥ १५ ॥ थलयलीत तोंद हिलता है । उस पर नागवन्द, अर्थात् सर्प का पट्टा, लपेटा हुआ है । चंद्रघंटिका, अर्थात् करधनी, मन्द मन्द झुंकार से बज रही है ॥ १६ ॥ चार भुजा हैं । लम्बा पेट है । पीताम्बर काँछे हैं । तोंद पर सर्प का फना फड़क रहा है । वह फुसकारें छोड़ रहा है ॥ १७ ॥ वह फन डुलाता और जिह्वा निकालता है । लिपट कर बैठा है । और नाभिकमल पर फन उठाकर चकमक देखता है ॥ १८ ॥ नाना जाति के फूलों की माला, सर्प तक, अर्थात् नाभि तक, जहां सर्प लपटा है, गले में पड़ी है । हृदयकमल पर रत्नों से जडा हुआ पदक शोभा दे रहा है ॥ १९ ॥ फरश और कमल शोभा दे रहे हैं । तोषण और तेजस्वी शंकुश धारण किये हैं । एक हाथ में मोदक है; उस पर बहुत प्रीति है ॥ २० ॥ नट-नाट्य और कला-कौशल दिखला कर नाना प्रकार से नृत्य करते हैं । ताल, मृदंग आदि साज बज रहे हैं । उपांग, अर्थात् नृत्य-समय की प्रतिध्वनि, की झुंकार भर रही है ॥ २१ ॥ एक क्षण भर की भी स्थिरता नहीं है । चपलता में अग्रगण्य, अर्थात् अद्भुत नम्बर के सममित्ये । खूब सजी हुई सुलक्षण मूर्ति सुन्दरता की खान है ॥ २२ ॥ नूपुर रन-मुन बज रही हैं । पैजनों की आवाज भन-भन हो रही है । घुँघुँरुओं से दोनों पैर मनोहर देख पड़ते हैं ॥ २३ ॥ गणेशजी के कारण शंकर-सभा में शोभा आ गई है । दिव्य अम्बर की प्रभा छा गई है । साहित्य-विषय में निपुण अग्रनायक भी गणेशजी के साथ सभा में मौजूद हैं ॥ २४ ॥

ऐसा जो गणपति सर्वांग-सुन्दर और सकल विद्याओं का आगर है उसे

मेरा भावयुक्त साष्टांग नमस्कार है । ॥ २५ ॥ गणेश का रूप वर्णन करते ही भ्रान्त लोगों की मति प्रकाशित हो जाती है । और गुणानुवाद श्रवण करते ही उन पर सरस्वती प्रसन्न होती है ॥ २६ ॥ जब ब्रह्मा-आदि देवता उस गणपति को वन्दना करते हैं तब मनुष्य विचारे की क्या गिनती है ? अस्तु: जो मन्दमति प्राणी हो, वे गणेश की चिन्तना करें ॥ २७ ॥ जो मूर्ख और बुरे लक्षणों वाले हैं, अथवा जो हीनों से भी हीन हैं, वे भी गणेशजी का चिन्तन करने से सब विषयों में दक्ष और प्रवीण होते हैं ॥ २८ ॥ वह परम समर्थ है । सब मनोरथ पूरे करता है । यह बात अनुभवसिद्ध है कि उसका भजन करने से सब कार्य सिद्ध होते हैं । कलियुग में चंडी और विनायक, मुख्य देव हैं ॥ २९ ॥ यहाँ पर उस मंगलमूर्ति गणेश की स्तुति, परमार्थ की वाञ्छा मन में रख कर, मैंने यथामति की है ॥ ३० ॥

तीमरा ममास-शारदा-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

अब वेदमाता, ब्रह्मसुता, शब्दमूला, वाग्देवता, महामाया श्रीशारदा की घंदना करता हूँ ॥ १ ॥ जो शब्द-स्फूर्ति को उठाती है, जो वैखरोद्वारा अपार वचन बुलाती है, जो शब्द का अभ्यन्तर, अर्थात् भीतर का भाव, प्रत्यक्ष कर देती है ॥ २ ॥ जो योगियों की समाधि है, जो निश्चयी लोगों की कृतबुद्धि, अथवा दृढता है, जो स्वयं विद्यारूप होकर आविद्या की उपाधि को तोड़ डालती है ॥ ३ ॥ जो महापुरुष की अति संलग्न भार्या है, जो तुर्या अवस्था है । जिसके योग से साधु लोग महत्कार्य में प्रवृत्त हुए हैं ॥ ४ ॥ जो महन्तों की शान्ति है, जो ईश्वर की स्वयंशक्ति है, जो क्षान्तियों की विराक्ति है और जो निराश-अवस्था की शोभा है ॥ ५ ॥ जो अनंत ब्रह्माण्ड रचती है, और लीलाविनोद ही से विगाडती है तथा जो स्वतः आदिपुरुष में छिपी रहती है ॥ ६ ॥ जो प्रत्यक्ष देखनेहो से देख पडती है, किन्तु विचार करने से नहीं देख पडती । ब्रह्मादिकों को जिसका पार नहीं मिलता ॥ ७ ॥ जो सारे संसार-नाटक की अंतर्कला, अर्थात् मूलसूत्र है । जो चित्शक्ति की निर्मल स्फूर्ति है, और जिसके कारण ही स्वानंद का सुख तथा ज्ञानशक्ति मिलती है ॥ ८ ॥ जो सुन्दरस्वरूप की शोभा है, जो परब्रह्म-सूर्य की प्रभा है और जो शब्दरूप से, बना बनाया दृश्य-संसार नाश कर सकता है ॥ ९ ॥ जो मोक्षश्रिया, अर्थात् मोक्षलक्ष्मी

और महामंगला है, जो सत्रहवीं जीवनकला (अर्थात् ब्रह्मरंध्र से गिरती हुई अमृत की धार, जिसे पान करके योगी जन हजारों वर्ष अमर रहते हैं) है, जो सत्वलीला, सुशीतला है, तथा जो सुन्दरता की खान है ॥ १० ॥ जो अव्यक्त पुरुष (परब्रह्म) की व्यक्तता है । जो विस्तार से बड़ी हुई (परब्रह्म की) इच्छाशक्ति है, जो कलिकाल की नियन्ता, अर्थात् नियमन करनेवाली, और, सद्गुरु की कृपा है ॥ ११ ॥ जो परमार्थमार्ग का विचार है, जो सारासार का निश्चय बतला देती है और जो शब्दबल से भवसिन्धु का पारावार लगा देती है ॥ १२ ॥ इस प्रकार अकेली माया शारदा ने बहुत बेष बनाये हैं । वह स्वयं सिद्ध होकर अंतःकरण में, चतुर्विधा प्रकार से, अर्थात् परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, इन चार रूपों करके प्रकट होती है ॥ १३ ॥ तीनों वाचाओं के द्वारा जो कुछ अंतःकरण में आता है उसे वैखरी, चौथी वाचा, प्रकट करती है । इस लिए कर्तृत्व जो कुछ हुआ वह शारदाही के कारण से हुआ ॥ १४ ॥ जो ब्रह्मादिकों की जननी है, विष्णु और महादेव जिससे हुए हैं, सृष्टि की रचना और तीनों लोक जिसका विस्तार है ॥ १५ ॥ जो परमार्थ का मूल किंवा केवल साट्टिद्याही है, जो शांत, निर्मल और निश्चल स्वरूपस्थिति है ॥ १६ ॥ जो योगियों के ध्यान में, जो साधकों के चिंतन में और जो सिद्धों के अन्तःकरण में समाधिरूप से वास करती है ॥ १७ ॥ जो निर्गुण की पहचान है, जो अनुभव की निशानी है और जो घट घट में व्यापक है ॥ १८ ॥ शास्त्र, पुराण, वेद और श्रुति जिसकी अखंड स्तुति करते रहते हैं और प्राणिमात्र जिसका नाना रूपों में यश गाते रहते हैं ॥ १९ ॥ जो वेदशास्त्रों की महिमा है, जो निरुपमा की उपमा है और जिसके योग से परमात्मा " परमात्मा " कहा जात है ॥ २० ॥ जो नाना प्रकार की विद्या, कला, सिद्धि निश्चयात्मक बुद्धि और सूक्ष्म वस्तु का शुद्ध ज्ञानस्वरूप है ॥ २१ ॥ जो हरिभक्तों की भक्ति है जो अन्तर्निष्ठों की अन्तर्दर्शा है और जो जीवन्मुक्तों का सायुज्यमुक्ति है ॥ २२ ॥ जो अन्त वैष्णवी माया है, जिसकी नाटक-मोहकता किसीके मालूम नहीं होती, जो बड़ों बड़ों को ज्ञान के अभिमान से फँसाती है ॥ २३ ॥ जो जो दृष्टि से देखा जाता है, शब्द से पहचाना जाता है और मन व जिसका भास होता है, उतना सब, उसीका रूप है ॥ २४ ॥ स्तवन, भजन भक्ति और भाव, इनमें किसीमें भी, माया के बिना ठौर नहीं है, इस वचन का अभिप्राय अनुभवी लोग जानते हैं ॥ २५ ॥ जो बड़े से बड़ी है; उ ईश्वर का ईश्वर है उसको, उसकोही अंश में, अर्थात् मायाही के रूप में, अमेरा नमस्कार है ॥ २६ ॥

चौथा समास-सद्गुरु-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

अब सद्गुरु का वर्णन कैसे करूं? जहाँ माया स्पर्श नहीं कर सकती वह स्वरूप मुझ अज्ञान को कैसे जान पड़े? ॥ १ ॥ जो (सद्गुरु-परब्रह्म) जाना नहीं जा सकता और जिसके विषय में श्रुति नेति नेति कहती है उसका वर्णन करने के लिये मुझ मूर्ख को मति का कहां ठिकाना? ॥ २ ॥ यह विषय मेरो समझ में नहीं आता इस लिये दूरही से मेरा नमस्कार है। हे गुरुदेव! मुझे वह शक्ति दे जिससे मैं तुम्हारा पारावार पा जाऊं ॥ ३ ॥ स्तुति करने की दुस्साध्य आशा थी, परंतु माया का भरोसा टूट गया; अतएव हे सद्गुरु स्वामी अब जैसे होंगे वैसेही रहो! ॥ ४ ॥ मन में इच्छा थी कि माया के बल से स्तुति करूंगा, परन्तु माया लज्जित हो गई; अब क्या करूं? ॥ ५ ॥

मुख्य परमात्मा को कल्पना नहीं की जा सकती, इस लिए उसको प्रतिमा बनानी पड़ती है। उसी प्रकार माया के योग से सद्गुरु की महिमा वर्णन करूंगा ॥ ६ ॥ जिस प्रकार अपने भाव के अनुसार मन में देवता का ध्यान किया जाता है उसी प्रकार अब मैं इस स्तवन में सद्गुरु की स्तुति करता हूँ ॥ ७ ॥

हे सद्गुरुराज, तेरो जय हो, जय हो। हे विश्वम्भर, विश्वबीज, परम-पुरुष, मोक्षध्वज और दोनबन्धु, तेरे ही अभय-रूप कर से यह दुर्निवार माया इस प्रकार मिट जाती है जैसे सूर्यप्रकाश से अंधकार भग जाता है ॥ ८-९ ॥ सूर्य अंधकार का निवारण करता है; परन्तु रात होने पर फिर जगत् में अंधकार छा जाता है ॥ १० ॥ परन्तु हमारा स्वामी सद्गुरु ऐसा नहीं है। वह जन्म-मृत्यु, अर्थात् आवागमन, नाश करता है और अज्ञानरूप अंधकार की जड़ ही नाश कर देता है ॥ ११ ॥ सुवर्ण का लोहा कभी नहीं हो सकता, इसी प्रकार गुरु का भक्त कभी सन्देह में पड़ता ही नहीं ॥ १२ ॥ कोई नदी गंगा में मिलने पर वह भी गंगा हो जाती है; फिर यदि वह अलग की जाय तो कदापि नहीं हो सकती ॥ १३ ॥ परन्तु उस नदी को, गंगा नदी में मिलने के पहले, सब लोहा नदी ही कहते हैं, कुछ गंगा नहीं कहते, परन्तु शिष्य का हाल ऐसा नहीं है, वह सर्वथा स्वामी ही हो जाता है ॥ १४ ॥ पारस लोहे को अपना सा (अर्थात् पारस) नहीं कर सकता, सुवर्ण लोहे को बदल नहीं सकता, परन्तु सद्गुरु का भक्त उपदेश-

द्वारा औरों को भी सद्गुरुही बना देता है ॥ १५ ॥ इस प्रकार शिष्य को गुरुत्व प्राप्त हो जाता है, लेकिन पारस के बनाये हुए सुवर्ण से फिर सुवर्ण नहीं बनाया जा सकता, इस लिए सद्गुरु से पारस की उपमा नहीं लगती ॥ १६ ॥ यदि सागर से सद्गुरु को उपमा दी जाय तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि वह अत्यन्त ही खारा है । अथवा क्षीरसागर से यदि उपमा दी जाय तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षीरसागर भी कल्पान्त में नाश होगा ॥ १७ ॥ यदि मेरु की उपमा दी जाय तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि वह जड़ पाषाण के रूप में है । सद्गुरु वैसा नहीं है—वह दोन जनों के लिये कोमल है ॥ १८ ॥ यदि आकाश की उपमा बतलाई जाय तो वह (सद्गुरु का रूप) आकाश से भी अधिक सूक्ष्म है । इस कारण सद्गुरु से आकाश का दृष्टान्त भी हीन पडता है ॥ १९ ॥ धीरता में यदि सद्गुरु से धरती की उपमा दी जाय तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि धरती भी कल्पान्त में नाश होगी । इस लिए धीरता की उपमा में वसुन्धरा भी हीन पडती है ॥ २० ॥ अब यदि सूर्य की उपमा देते हैं तो उसके प्रकाश की भी शास्त्र मर्यादा बतलाते हैं । परन्तु सद्गुरु अमर्याद है ॥ २१ ॥ इस लिए सूर्य भी उपमा में कम है । सद्गुरु का ज्ञानरूपी प्रकाश बहुत बड़ा है । अब, यदि शेष से उपमा देते हैं तो यह भी नहीं लगती; क्योंकि शेष भारवाही, अर्थात् बोझा उठानेवाला है ॥ २२ ॥ अब जल की उपमा दी जाय तो वह भी कालान्तर में सूख जायगा । सद्गुरुरूप निश्चल है—वह कभी नहीं जा सकता ॥ २३ ॥ सद्गुरु से अमृत की उपमा दी जाय तो भी नहीं लगती क्योंकि अमृतपान करनेवाले अमर, अर्थात् देवता, भी मृत्युपथ को प्राप्त होते हैं और सद्गुरुकृपा यथार्थ में, अर्थात् सचमुच, अमर कर देती है ॥ २४ ॥ यदि सद्गुरु को कल्पतरु कहें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सद्गुरु का रूप कल्पनातीत, अर्थात् कल्पना के बाहर, है । इस विचार से कल्पवृक्ष की उपमा कौन स्वीकार करेगा ? ॥ २५ ॥ जहाँ मन में चिन्ता हो नहीं है वहाँ चिन्तामणि को कौन पूछता है ? कामधेनु का दूध निष्काम के किस काम का ? अर्थात् जो निष्काम है उसे कामधेनु की क्या जरूरत ? ॥ २६ ॥ सद्गुरु को यदि लक्ष्मीवन्त कहें, तो लक्ष्मी नाशवान् है । जिसके द्वारे मोक्षलक्ष्मी खड़ी रहती है उसे इस नाशवान् लक्ष्मी से क्या काम ? ॥ २७ ॥ स्वर्गलोक और इन्द्रसम्पत्ति की कालान्तर में विटम्बना हो जाती है, परन्तु सद्गुरुकृपा अचल है ॥ २८ ॥ हरि, हर, और ब्रह्मा आदि सब नाश हो जाते हैं । परन्तु सर्वदा अविनाश, अर्थात् कभी न नारा होनेवाला, केवल एक सद्गुरुपद ही है ॥ २९ ॥ उससे किसकी उपमा दी जाय ? सारी सृष्टि तो नाशवन्त है, परन्तु वहाँ पञ्चभौतिक धरा-उठाई चलती ही नहीं ॥ ३० ॥ इसी लिए सद्गुरु का वर्णन नहीं हो सकता । यह,

लो, बस, “सद्गुरु का वर्णन नहीं हो सकता” —यही कहना मेरा सद्गुरु-वर्णन है । अन्तरस्थिति, अर्थात् भीतरी दशा, की पहचान अन्ननिष्ठ. अर्थात् अनुभवी ही जानते हैं ॥ ३१ ॥

पाँचवाँ समास—सन्त-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

अब संतसज्जनों की वन्दना करूंगा, जो परमार्थ के अधिष्ठान. अर्थात् आश्रय है और जिनके द्वारा गुह्य ज्ञान मनुष्यों में प्रगट होता है ॥ १ ॥

जो वस्तु, (अर्थात् ब्रह्म) परम दुर्लभ है, जो अलभ्य, अर्थात् नहीं पाने योग्य, है वही संतसंग से सुलभ हो जाती है ॥ २ ॥ वह वस्तु (ब्रह्म) प्रगट ही रहती है, पर देखने पर किसीको देख नहीं पडती । नाना प्रकार के साधनों और परिश्रम करने पर भी नहीं मिलती ॥ ३ ॥ वहाँ परीक्षावादा धोखा खा चुके, इतनाही नहीं, किन्तु आखाँवाले अंधे होगये और निजवस्तु (परब्रह्म) को देखते ही देखते स्वयं भी न रहे ॥ ४ ॥ जो दीपक से भी नहीं देख पडती, नाना प्रकार के प्रकाशों में जिसका पता नहीं लगता, नेत्रों में अञ्जन लगाने से भी जो दृष्टि के सन्मुख नहीं आती ॥ ५ ॥ सोलज्ज कला-वाला पूर्ण चन्द्र और कलाराशि तीव्र सूर्य भी जिसे नहीं दिखा सकता ॥ ६ ॥ जिस सूर्य के प्रकाश से ऊन का एक रोवा भी देख पडता है, अणुरेणु आदि अनेक सूक्ष्म पदार्थों का भी जिसके द्वारा भास होता है ॥ ७ ॥ चिरी हुई बाल की नोक को भी जो सूर्य-प्रकाश दिखा सकता है. वह भी वस्तु को नहीं दिखा सकता; परन्तु सन्तसज्जनों की कृपा से वही वस्तु साधकों को प्राप्त होती है ॥ ८ ॥ जहाँ (परब्रह्म के विषय में) सब आक्षेप समाप्त हो जाते हैं, जहाँ प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं, जिस निजवस्तु की तर्कना करते करते तर्क मन्द हो जाते हैं ॥ ९ ॥ जहाँ विवेक का संकोच हो जाता है, शब्द लड़खड़ाता है, और मन की गति काम नहीं देती ॥ १० ॥ सहस्र मुख का शेष बड़ा वाचाल कहलाता है, वह भी जहाँ बिलकुल थक गया है ॥ ११ ॥ वेद ने सभी कुछ प्रकट किया है, वेदविरहित कुछ नहीं है; वह वेद भी जो “ वस्तु ” किसी को नहीं दिखा सकता ॥ १२ ॥ वही वस्तु सन्तसंग स, स्वानुभव, अर्थात् अपने अनुभव, के द्वारा, मालूम होने लगती है । ऐसे सन्तों की माहिमा कौन वर्णन कर सकता है ? ॥ १३ ॥ इस माया की कला विचित्र है, परन्तु वह भी ‘ वस्तु ’ की पहचान नहीं बतला सकती । उसी

मायातीत अनन्त की, अर्थात् 'वस्तु' की, राहसंत लोग बतला देते हैं ॥१॥
जिस वस्तु का वर्णन किया नहीं जा सकता वही "वस्तु" संतो, का रूप है । इस लिए 'वस्तु' की तरह संत भी अनिर्वचनीय हैं ॥ १५ ॥

सन्त आनन्द के घर हैं, सन्त सच्चे सुख के स्वरूप हैं, और सन्त नाना प्रकार के सन्तोष के मूल हैं ॥ १६ ॥ सन्त विश्रान्ति की भी विश्रान्ति हैं, तृप्ति की भी तृप्ति हैं । किंबहुना सन्त ही भक्ति के परिणाम हैं ॥ १७ ॥ सन्त धर्म के धर्मक्षेत्र, स्वरूप के सत्पात्र और पुण्य की पवित्र पुण्यभूमि हैं ॥ १८ ॥ सन्त लोग समाधि के मन्दिर और विवेक के भाण्डार हैं । वे सायुज्यमुक्ति के अधिष्ठान हैं ॥ १९ ॥ सन्त सत्य के निश्चय, सार्यक के जय, प्राप्ति के समय और सिद्धरूप हैं ॥ २० ॥ सन्त ऐसे श्रीमन्त हैं जो मोक्षार्थी से अलंकृत रहते हैं । उन्होंने असंख्य दरिद्री (अज्ञान) जीवों को राजा (मुक्त) बना लिया है ॥ २१ ॥ अन्य लोग, जो समर्थ और उदार हैं, या जो अत्यन्त दानगूर हैं, वे यह ज्ञानरूप धन नहीं दे सकते ॥ २२ ॥ कितने ही चक्रवर्ती महाराजा होगये हैं, और आगे होंगे परन्तु कोई भी सायुज्यमुक्ति नहीं दे सकें ॥ २३ ॥ तीनों लोक में जो दान नहीं होता वही दान सज्जन सन्त करते हैं । ऐसे सन्तों की महिमा क्या वर्णन की जाय ॥ २४ ॥ जो तीनों लोक से अलग है और वेदश्रुतियों से जो नहीं जाना जाता, वही परब्रह्म सन्तों के प्रसन्न होने से अन्तःकरण में प्रकट होता है । ॥ २५ ॥ ऐसी सन्तों की महिमा है । उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है । उनके द्वारा मुख्य परमात्मा प्रगट होता है ॥ २६ ॥

छठवाँ समास-श्रोताओं की स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

अब भक्त, ज्ञानी, सन्त, सज्जन, विरक्त, योगी, गुणवान् और सत्यवादी श्रोताजनों की वन्दना करता हूँ ॥ १ ॥ ये श्रोता सतो गुण के सागर हैं, कोई बुद्धि के आगर हैं और कोई शब्दरत्नों की खान हैं ॥ २ ॥ ये अनेक प्रकार के अर्थरूपी अमृत के भोगनेवाले हैं, ये मौका आजाने पर वक्ता भी हैं और ये नाना सशयो के छेदनेवाले तथा निश्चयी पुरुष हैं ॥ ३ ॥ इनकी आरणा, अर्थात् स्मरणशक्ति अपार है । ये ईश्वर के अवतार हैं या प्रत्यक्ष देव जैसे बैठे हैं ॥ ४ ॥ या तो यह शान्तस्वरूप और सतो गुणविशिष्ट ऋषी-

श्वरों की मण्डली है, जिनके कारण सभामण्डल में परम शोभा छा रही है ॥ ५ ॥ इनके हृदय में परमात्मा विलस रहा है, मुख में सरस्वती विलास कर रही है और साहित्य-वार्ता करने में ये बृहस्पति से जान पड़ते हैं ॥ ६ ॥ ये पवित्रता में वैश्वानर अर्थात् अग्नि-रूप हैं, ये स्फूर्तिकिरणों के सूर्य हैं । ज्ञातापन, अर्थात् जानकारी, मैं इनकी दृष्टि के सामने, ब्रह्माण्ड कोई चीज नहीं है ॥ ७ ॥ ये अखण्ड सावधान हैं, इन्हें तीनों काल का ज्ञान है, ये सदा निरभिमान रहते हैं और आत्मज्ञानी हैं ॥ ८ ॥ ऐसा कुछ भी नहीं बचा जो इनकी दृष्टि के आगे न आया हो । इनके मन ने पदार्थ मात्र को लक्षित कर लिया है ॥ ९ ॥ जो कुछ बतलाना चाहते हैं वह इन्हें पहले ही से मालूम है । अब इनके सामने अपने ज्ञातापन के अभिमान से फिर क्या कहें ! ॥ १० ॥ परन्तु ये गुणग्रहण करनेवाले हैं, इसी लिए निश्चिन्त होकर बतलाता हूँ । भाग्यवान् पुरुष क्या सेवन नहीं करते ? ॥ ११ ॥ वे (भाग्यवान्) सदा दिव्य श्रुतियों का सेवन करते हैं; परन्तु मन बदलने के लिए रूखा श्रुतियाँ भी खा लेते हैं । उसी प्रकार ये मेरे प्राकृत भाषा के वचन (रूखे श्रुतियों की तरह) भी सज्जन श्रोतागण स्विकार कर लेंगे ॥ १२ ॥ अपनी शक्ति के अनुसार, भावपूर्वक, परमेश्वर की उपासना की जाती है; परन्तु यह कहीं नहीं कहा है कि विलकुल परमात्मा की पूजा ही न करे ॥ १३ ॥ वैसा ही मैं एक वाग्दुर्बल (अर्थात् बोलने की पूरी शक्ति न रखनेवाला,) हूँ और श्रोता सच्चमुच परमेश्वर ही हैं । अब, अपनी बर्ताती हुई वाचा से इनकी उपासना (पूजा) करना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

विद्वत्ता, कला, चतुरता, काव्य-प्रबन्ध की शक्ति, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और वचन-मधुरता आदि कुछ मुझ में नहीं है ॥ १५ ॥ ऐसा मेरे वाग्बिलास का हाल है । अस्तु । अब मैं प्रसन्नतापूर्वक बोलता हूँ, क्योंकि जगदीश भाव का ही भूखा है ॥ १६ ॥ आप प्रत्यक्ष जगदीश की मूर्ति ही हो । आप के सामने मेरी विद्वत्ता कितनी है ? मैं बुद्धिहीन, अल्पमति आप के आगे ठिठाई करता हूँ ॥ १७ ॥ इस संसार में समर्थ का पुत्र चाहे मूर्ख ही क्यों न हो, तथापि अपने पिता के आगे धृष्टता करने का सामर्थ्य उसमें भी होता है । यही समझ कर आप सन्त लोगों के आगे मैं ठिठाई करता हूँ ॥ १८ ॥ बड़े बड़े बाघ और सिंघों को देख कर लोग डर जाते हैं, परन्तु उनके छौने निडर होकर उनके सामने खेलते रहते हैं ॥ १९ ॥ वैसा ही मैं, संतों का दास, आप सन्त लोगों से बोलता हूँ । अतएव आप लोग मुझे क्षमा करें गे ॥ २० ॥ अपना मनुष्य जब निरर्थक भी कुछ बोलता है तब उसका समर्थन करना ही पड़ता है । परन्तु कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, न्यूनता पूर्ण कर लेनी चाहिए ॥ २१ ॥ यह

तो प्रीति का लक्षण है, मन आपही आप कर लेता है । फिर आप सज्जन सन्त तो विश्व के मातापिता है ॥ २२ ॥ मेरा आशय जो मैं जान कर, अब, जो उचित हो, सो करिये । यह दासानुदास कहता है कि अब आगे कथा में ध्यान दीजिये ॥ २३ ॥

मातर्वी समास-कवीश्वर-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

अब कवीश्वरों की वन्दना करता हूँ । ये शब्दसष्टि के स्वामी हैं, या परमेश्वर हैं, जो वेदरूप से उत्पन्न हुए हैं ॥ १ ॥ या ये सरस्वती के प्रत्यक्ष घर हैं, या ये नाना प्रकार की कलाओं के जीवन हैं, अथवा सच्चमुच्च ये अनेक प्रकार के शब्दों के भुवन हैं ॥ २ ॥ या तो ये पुरुषार्थ के वैभव हैं, या जगदीश्वर के महत्व और उसको नाना प्रकार की लीला और सत्कीर्ति का वर्णन करने के लिए ये निर्माण हुए हैं ॥ ३ ॥ अथवा ये शब्दरत्नों के समुद्र, मोतियों के मुक्त सरोवर (खुले हुए तालाब) और नाना प्रकार की बुद्धि के आकर उत्पन्न हुए हैं ॥ ४ ॥ या तो ये अध्यात्मग्रन्थों की खानि और बोलते हुए चिन्तामणि हैं, अथवा ये श्रोताओं को प्रसन्न करनेवाली कामधेनु की नाना प्रकार की दुग्धधाराएँ हैं ॥ ५ ॥ या तो ये कल्पना के कल्पतरु हैं, अथवा मोक्ष के मुख्य आधारस्तंभ हैं, अथवा यह सायुज्यमुक्ति ही कवियों के अनेक रूपों में प्रकट हुई है ॥ ६ ॥ या तो यह (कवि) परलोक का मुख्य स्वार्थ है, अथवा योगियों का गुप्त पंथ है, किंवा ज्ञानियों का परमार्थ, रूप धर कर आया है ॥ ७ ॥ या तो यह (कवि) निर्गुण परब्रह्म की पहचान है अथवा यह माया से भिन्न परमात्मा का लक्षण है ॥ ८ ॥ या तो यह (कवि) श्रुति का भीतरी भाव है, या यह परमेश्वर का अलभ्य लाभ है, अथवा यह आत्मबोध, कविरूप से सुलभ हुआ है ॥ ९ ॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कवि मुमुक्षु पुरुषों के अंजन, साधकों के साधन और सिद्ध पुरुषों के समाधान हैं ॥ १० ॥ कवि स्वधर्म के आश्रय, मन के मनोजय और धार्मिक पुरुष के विनय और विनय-शिक्षक हैं ॥ ११ ॥ कवि वैराग्य की रक्षा करनेवाले और भक्तों के भूषण हैं । कवि अनेक प्रकार से स्वधर्म की रक्षा करनेवाले हैं ॥ १२ ॥ कवि प्रेमियों की प्रेमस्थिति, ध्यानस्थों की ध्यानमूर्ति और उपासकों की बढती हुई कीर्ति हैं ॥ १३ ॥ कवि लोग अनेक साधनों के मूल, और नाना प्रकार के प्रयत्नों के फल हैं । केवल कवियों के ही प्रसाद से बहुत से कार्यों की सिद्धि होती है ॥ १४ ॥ कवि के वाग्विलास के कारण ही मनुष्यों की कविता का आनन्द मिलता

है और उसी कारण कविता बनाने की स्फूर्ति होती है ॥ १५ ॥ कवि-
विद्वानों की योग्यता, सामर्थ्यवानों की सत्ता और विचक्षणों की नाना
प्रकार की कुशलता हैं ॥ १६ ॥ कवि लोग ही काव्य-प्रबन्ध, नाना प्रकार के
छन्द, गद्यपद्य-भेदाभेद, पदप्रास आदि के कर्ता हैं ॥ १७ ॥ कवि सृष्टि के
अलंकार, लक्ष्मी के शृंगार और सकल सिद्धि के निर्धार हैं ॥ १८ ॥ कवि
सभा के मंडन और भाग्य के भूषण हैं, तथा कवि ही नाना प्रकार के सुख
का संरक्षण करते हैं ॥ १९ ॥ कवि देवों का रूप, ऋषियों का महत्व और
अनेक शास्त्रों के सामर्थ्य का बखान करनेवाले हैं ॥ २० ॥ यदि कवि का
व्यापार न होता तो जगत् का उद्धार कैसे होता ? इसी लिए तो कवि
सकल सृष्टि के आधार हैं ॥ २१ ॥ नाना प्रकार की विद्या और जो कुछ
ज्ञान है वह कवियों के बिना नहीं मिलता । कवियों से ही सब सर्वज्ञता
प्राप्त होती है ॥ २२ ॥ प्राचीन समय में वाल्मीकि, व्यास, आदि अनेक
कवीश्वर होगये । उन्हींसे सब लोगों को ज्ञान मिला है ॥ २३ ॥ पहले
काव्य किये गये थे, तभी तो विद्वत्ता और योग्यता प्राप्त हुई । काव्यों से
ही पंडितों को योग्यता प्राप्त हुई ॥ २४ ॥ अतएव प्राचीनकाल में जो बहुत
से बड़े बड़े कवीश्वर हो गये, अब जो हैं और आगे जो होनेवाले हैं, उन
सब को मैं नमन करता हूँ ॥ २५ ॥ कवि मानो अनेक प्रकार के चातुर्य की
मूर्ति हैं—मानो वे साक्षात् वृक्षस्पति हैं, जिनके मुख से वेद और श्रुतियाँ
बोलना चाहती हैं ॥ २६ ॥ कवि लोग परोपकार की अनेक युक्तियाँ बत-
लाते हैं और अन्त में सब प्रकार संशय मिटा देते हैं ॥ २७ ॥ मानो ये
(कवि) अमृत के मेघ संसार पर प्रसन्न हुए हैं, अथवा ये नवरसों के सोते
बह रहे हैं, या नाना प्रकार के सुखों के ये सरोवर उमड़े हैं ॥ २८ ॥ अथवा
ये विवेक के भांडार मनुष्य के आकार में प्रगट हुए हैं, जो अनेक विषयों
के ज्ञान से भरे हुए हैं ॥ २९ ॥ अथवा यह (कवि), अनेक उत्तम पदार्थों
से भी बढ कर आदिशक्ति की धरोहर है, जो संसारी लोगों को पूर्व-
संचित के प्रताप से मिली है ॥ ३० ॥ किंवा ये अक्षय आनन्द से पूर्ण सुख
की नौकाएं बह रही हैं, जो अनेक प्रकार के प्रयोगों के लिये जगत् के लोगों
को प्राप्त हुई हैं ॥ ३१ ॥ अथवा यह निरंजन, अर्थात् परब्रह्म की संपत्ति है,
यातो यह विराट की योगस्थिति है नहीं नहीं, यह भक्ति की फलश्रुति
फलित हुई है ! ॥ ३२ ॥ यातो यह ईश्वर का, आकाश से भी अधिक
व्यापक पवाई है । कवि की प्रबन्धरचना ब्रह्मांडरचना से भी बड़ी होती
है ॥ ३३ ॥ अस्तु, अब यह वर्णन बस हुआ । वास्तव में कवीश्वर लोग
जगत् के आधार हैं, इस लिए उन्हें मैं साष्टांग नमस्कार करता हूँ ॥ ३४ ॥

आठवाँ समास-सभा-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

अब इस सकल सभा की वन्दना करता हूँ, जिस सभा के लिये मुक्ति सुलभ है, और जहाँ स्वयं सच्चिदानन्द परमात्मा का वास है ॥ १ ॥

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये रवौ ॥

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥ १ ॥

गवान् कहते हैं कि, “ मैं न तो वैकुण्ठ में रहता हूँ और न योगियों के हृदय में । हे नारद, मेरे भक्त, जिस ठौर मैं गाते हूँ वहाँ में वास करता हूँ ” ॥ २ ॥ अतएव, जहाँ भक्त गाते हैं वही श्रेष्ठ सभा है और वही वैकुण्ठ है । जहाँ नामघोष, अर्थात् ईश्वर-नाम-उच्चारण, की गड़गड़ाहट और जयजयकार की गर्जना हो रही है ॥ ३ ॥ जहाँ सदा प्रेमी भक्तों के गीत, भगवत्कथा, हरिकीर्तन, वेदव्याख्यान और पुराणों का श्रवण हुआ करता है ॥ ४ ॥ जहाँ पर परमेश्वर के गुणानुवाद, अनेक निरूपणों के संवाद और अध्यात्मविद्या तथा भेदाभेद का मथन हुआ करता है ॥ ५ ॥ जहाँ नाना प्रकार के समाधानों से तृप्ति और अनेक आशंकाओं की निवृत्ति हुआ करती है, जहाँ वाग्बिलास से ध्यानमूर्ति चित्त में बैठती ॥ ६ ॥ प्रेमी और भावुक भक्त, गंभीर और सतोगुणी सम्य, रस्य और रसाल गायक निष्ठावन्त, कर्मशील, आचारशील, दानशील, धर्मशील, शुचिमान, पुण्यशील, अन्तर्शुद्ध, कृपालु, योगी, वातरागी, उदास, नियमकर्ता, निग्रही, तापसी, विरक्त, बहुत निस्पृही, अरण्यवासी, दंडधारी, जटाधारी, नाथपंथी, मुद्राधारी, बालब्रह्मचारी, योगेश्वर, पुरश्चरणी, तपस्वी, तीर्थवासी, मनस्वी, अर्थात् मन स्वाधीन रखनेवाले, महायोगी, जनस्वी, (अर्थात् जनों के अनुकूल, लोगों के अनुसार, चलनेवाले पुरुष) सिद्ध, साधु, साधक, मंत्रयंत्रशोधक, एकनिष्ठ उपासक, गुणग्राही, सन्त, सज्जन, विद्वज्जन, वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ, महाजन, बुद्ध, सर्वज्ञ, विमल समाधानकर्ता, योगी, द्युत्पन्न, ऋषीश्वर, धूर्त, तार्किक, कवीश्वर, मनोजय करनेवाले मुनीश्वर, दिग्बल्की, अर्थात् दिशा ही है बल्कल जिनके, ब्रह्मज्ञानी, आत्मज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, पिंडज्ञानी, योगाभ्यासी, योगज्ञानी, उदासीन, पंडित, पौराणिक, विद्वान्, वैदिक, भट्ट, पाठक, यजुर्वेदी, उत्तम महाश्रोत्रिय, याज्ञिक, अग्निहोत्री, वैद्य, पंचाक्षरी, परोपकारी, त्रिकालज्ञ, बहुश्रुत, निरभिमानी, निरपेक्ष, शान्तिशील, क्षमाशील, दयाशील, पवित्र, सत्यशील, अन्तर्शुद्ध, ज्ञानशील, इत्यादि, ईश्वरो पुरुष, जिनमें नित्यनित्य का विवेक है-ऐसे जहाँ समानायक

हैं; उस सभा को अलौकिक महिमा कैसे वर्णन की जाय? ॥ ७-२० ॥ जहाँ परमार्थी जन-समुदाय के द्वारा कथा-श्रवण का उपाय होता रहता है वहाँ लोगों का उद्धार सहज ही होता है ॥ २१ ॥ जहाँ पर सत्य, धैर्य, आदि उत्तम गुणों से युक्त सतोगुणी लोग रहते हैं वहाँ सदा सुख ही भरा रहता है ॥ २२ ॥ विद्यासम्पन्न, कलावेत्ता, विशिष्टगुणयुक्त सज्जन और भगवान् के प्रीतिपात्र जहाँ पर एकत्रित हैं ॥ २३ ॥ प्रवृत्त, निवृत्त, प्रपंची, परमार्थी, गृहस्थाश्रमी, वानप्रस्थ, संन्यासी, आदि, बाल, वृद्ध, तरुण, पुरुष, स्त्री, आदि सब जहाँ पर अन्तःकरण में परमात्मा का अखंड ध्यान करते हैं ॥ २४-२५ ॥ जो परमेश्वर के भक्त हैं, जिनके द्वारा सब को समाधान प्राप्त होता है, उन्हें मेरा अभिवंदन है ॥ २६ ॥ ऐसी ही सभा को, जहाँ नित्य निरंतर भगवान् का गुण-कीर्तन हुआ करता है, मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २७ ॥ जहाँ देवतुल्य सज्जन रहते हैं वहाँ रहने से सद्गति मिलती है । यह बात महात्मा लोगों ने अनेक ग्रन्थों में लिखी है ॥ २८ ॥ कलियुग में परमात्मा का गुण-कीर्तन मुख्य है, जहाँ यह होता है वही सभा श्रेष्ठ है । परमात्मा को कथा सुनने से अनेक बुरे सन्देह दूर होते हैं ॥ २९ ॥

नववाँ समास—परमार्थ-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

अब इस परमार्थ का स्तवन करता हूँ, जो साधकों का मुख्य स्वार्थ है । परमार्थ-योग सब से बड़ा है ॥१॥ यह है तो परम सुगम; पर उन मनुष्यों के लिए दुर्गम हो गया है जिनको सत्समागम का मर्म (रहस्य) नहीं मालूम है ॥ २ ॥ अनेक साधनों का फल उधार है; (कालान्तर से फलप्राप्ति होती है) परन्तु यह परमार्थ प्रत्यक्ष ब्रह्मसाक्षात्कार ही है । इससे वेद-शास्त्र का सार, अनुभव में आता है ॥३॥ (यह ब्रह्मरूपी परमार्थ) है तो चारों ओर; परन्तु अणुमात्र भी नहीं देख पड़ता । लोग संन्यासी हो जाते हैं; पर एक-देशीयता के कारण परमार्थ नहीं पाते ॥ ४ ॥ आकाशमार्ग में जो गुप्तपन्थ है वह समर्थ योगी ही जानते हैं, औरों को यह गुह्यार्थ सहसा नहीं मालूम होता ॥ ५ ॥ वह (परमार्थ या परब्रह्म) सार का भी मुख्य सार है, वह अखंड, अक्षय और अपार है; कुछ भी करे, तौ भी चौर उसे नहीं चुरा सकते ॥ ६ ॥ उसे राजभय अथवा अग्निभय नहीं है । श्वापदभय, अर्थात् वनैले जन्तुओं के भय, को तो वहाँ दान ही न करो ॥ ७ ॥ परब्रह्म हिलता

नहीं, ठोर भी नहीं झोडता, कालान्तर में भी नहीं डिगता, जहां का वहां ही रहता है ॥ ८ ॥ ऐसी वह मुख्य धरोहर है, बहुत समय बीत जाने पर भी न कभी वह बदलती है और न कम ज्यादा होती है ॥ ९ ॥ अथवा वह न घिसता है और न अदृश्य होता है । गुरुभ्रंजन के बिना, देखने से वह देख भी नहीं पडता है ॥ १० ॥ पहले जो समर्थ योगी हो गये उनका भी यही मुख्य स्वार्थ है । यह परम गुह्य है, इसी लिए परमार्थ कहलाता है ॥ ११ ॥ जिसने ढूँढ कर देखा है उसको यह अर्थ (परमार्थ) मिला है । औरों को, मौजूद रहने पर भी, जन्मजन्मान्तर के लिए अलभ्य हो गया है ॥ १२ ॥ इस परमार्थ की अपूर्वता तो देखो, कि जिसके तई जन्ममृत्यु की बात ही नहीं है और जिसके द्वारा सायुज्यता की पदवी तुरन्तही मिल जाती है ॥ १३ ॥

परमार्थ के विवेक से माया दूर हो जाती है, सारासार-विचार मालूम होता है और अन्तःकरण में परब्रह्म का ज्ञान हो जाता है ॥ १४ ॥ जहां उस सर्वव्यापक परमात्मा का ज्ञान हो गया, और उसीमें इस ब्रह्मांड का भी (ज्ञान से) लय हो गया, वहां पंचभूतों का यह खेल तुच्छ मालूम होने लगता है ॥ १५ ॥ ज्योंही परमात्मा का विवेक अन्तःकरण में आ गया त्योंही प्रपंच मिथ्या मालूम होने लगता है और माया धोखे की टट्टी जान पडने लगती है ॥ १६ ॥ अन्तःकरण में ब्रह्मस्थिति के समाते ही सन्देह ब्रह्मांड के बाहर चला जाता है और दृश्य पदार्थ जीर्ण जर्जर होकर बदरंग देख पडते हैं ॥ १७ ॥

ऐसा यह परमार्थ है । जो इसे करता है उसका यह मुख्य स्वार्थ है । यह श्रेष्ठों से भी श्रेष्ठ है, इसका कहां तक वर्णन किया जाय ? ॥ १८ ॥ परमार्थ से ब्रह्मादिकों को विश्राम मिलता है और योगी लोग परब्रह्म में तन्मयता पाते हैं, अर्थात् लीन होजाते हैं ॥ १९ ॥ सिद्ध, साधु और महा नुभावों के लिए परमार्थ विश्रामस्थान है और अन्त में सतो गुणी जड पुरुषों के लिए भी, सत्संग से, यह सुलभ है ॥ २० ॥ परमार्थ जन्म का सार्वभौम है, परमार्थ समार में तारक, अर्थात् पार करनेवाला है, परमार्थ धार्मिकों को श्रेष्ठ लोक में पहुँचा देता है ॥ २१ ॥ परमार्थ तपस्वियों का आश्रय और साधकों का आधार है, परमार्थ भवसागर का पार दिखाता है ॥ २२ ॥ जो परमार्थी है वही राज्यधारी, अर्थात् राजा है जिसके पास परमार्थ नहीं वही भिखारी है । इस परमार्थ की उपमा किससे दें ? ॥ २३ ॥ जब अनन्त जन्मों का पुण्य इकट्ठा होता है तभी परमार्थ बनता है और परमात्म का अनुभव प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ जिसने परमार्थ पहचान लिया उसका जन्म सार्वक क्रिया अन्य लोग, जो पापी है, कुल को जय करने के लिए जन्मे ॥ २५ ॥ अस्तु भगवान् की प्राप्ति किये बिना जो संसार का व्यर्थ परि

श्रम करता है उस मूर्ख का मुहँ भी न देखना चाहिए ॥ २६ ॥ भले आदमी को चाहिए कि वह परमार्थ सेवन करके शरीर सार्थक करे और चरिभक्ति करके पूर्वजों का उद्धार करे ॥ २७ ॥

दसवाँ समास—नरदेह की स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

इस नरदेह को धन्य है, धन्य है ! इसको अपूर्वता तो देखो कि इसके द्वारा जो परमार्थ की इच्छा की जाती है वह सब सिद्ध होता है ॥ १ ॥ इस नरदेह के ही योग से कोई भक्ति में लगे हैं और कोई परम विरक्त हो कर गिरिकन्दरों का सेवन करते हैं ॥ २ ॥ कोई तीर्थाटन करते हैं, कोई पुरश्चरण करते हैं और कोई निष्ठावन्त बनकर अखण्ड नामस्मरण करते हैं ॥ ३ ॥ कोई तपस्या करने लगे, कोई बहुत अच्छे योग-अभ्यासी हुए और कोई अध्ययन करके वेदशास्त्र में व्युत्पन्न हुए ॥ ४ ॥ किसीने हठयोग करके देह को अत्यन्त कष्टित किया और किसीने भाव के बल से परमात्मा की प्राप्ति की ॥ ५ ॥ कोई विख्यात महानुभाव हुए, कोई प्रसिद्ध भक्त कहलाये और कोई सिद्ध बनकर अकस्मात् आकाश में संचार करने लगे ॥ ६ ॥ कोई तेज में तेज ही हो गये, कोई जल में मिल गये और कोई देखते ही देखते वायुस्वरूप में अदृश्य हो गये ॥ ७ ॥ कोई एक शरीर से अनेक शरीर धारण कर लेते हैं, कोई देखते ही देखते गुप्त हो जाते हैं, कोई एक जगह बैठे बैठे ही, उसी समय में, अनेक स्थानों और समुद्रों में भी भ्रमण करते रहते हैं ॥ ८ ॥ कोई बाघ, सिंह, आदि भयानक जीवों पर बैठते हैं, कोई अचेतन को चलाते हैं, कोई तपोबल से मुद्दों को जिलाते हैं ॥ ९ ॥ कोई अग्नि को मन्द करते हैं, कोई जल को सुखाते हैं, और कोई जगत् की प्राण-वायु को रुद्ध कर रखते हैं ॥ १० ॥

ऐसे हठनिग्रही और निश्चयी सिद्ध लाखों हो गये, जिन पर अनेक सिद्धियों की कृपा थी ॥ ११ ॥ कोई मनोसिद्ध, कोई वाचासिद्ध, कोई अल्प-सिद्ध, कोई सर्वसिद्ध—ऐसे नाना प्रकार के विख्यात सिद्ध हो गये ॥ १२ ॥ कोई नवविधा भक्तिरूपी राजपथ से गये और परलोक का निजस्वार्थ (पर-मार्थ) प्राप्त कर लिया तथा कोई योगी गुप्त पन्थ से ब्रह्मभुवन पहुँचे ॥ १३ ॥ कोई वैकुण्ठ को गये, कोई सत्यलोक में रहे और कोई शिवरूपवन कर कैलाश में बैठे ॥ १४ ॥ कितने ही नरदेहधारी इन्द्रलोक में इन्द्र हुए, कितने ही पितृ-

लोक में जा मिले, कोई तारागणों में बैठ गये और कोई क्षीरसागर में जा बस ॥ १५ ॥ कोई सालोक्य, सामांय, सारूप्य और सायुज्य चार प्रकार की मुक्तियों का, अपनी इच्छा के अनुसार, संवन कर रहे ह ॥ १६ ॥

ऐसे अनन्त सिद्ध, साधु और मन्त अपने हित में प्रवृत्त हुए हैं । यह सब नरदेह का प्रताप है । इसका कहाँ तक वर्णन किया जाय ? ॥ १७ ॥ इस नरदेह हो के आधर से नाना साधनों के द्वार से, आर विशेष कर सारान्तर विचार से, बहुतर युक्त हो गये ॥ १८ ॥ इस नरदेह हो के सम्बन्ध से बहुत लोग उत्तम पद पा चुके और अहंता छोड़कर स्वानन्द से सुखी हुए ॥ १९ ॥ मनुष्यदेह पाकर ही इन सब का संशय नष्ट हुआ है और वे लोग सद्गति का प्राप्त हुए ह ॥ २० ॥ सब लोग जानते ह कि, पशुदेह से गति नहीं है । नरदेह ही से परलोक मिलता है ॥ २१ ॥

सन्त महन्त, ऋषि, मुने, सिद्ध, साधु समाधानी, भक्त, मुक्त, ब्रह्म-ज्ञाना, विरक्त, योगी, तपस्वी, तत्त्वज्ञानी, योगाभ्यासी, ब्रह्मचारी, दिगम्बर, संन्यसा षट्दर्शनी, तपसा ये सब, नरदेह ही में हुए ह ॥ २२-२३ ॥ इसी लिए नरदेह श्रेष्ठ है । यह नर देहों में बढी है । इसके द्वारा यम-यातना मिटती है ॥ २४ ॥ नरदेह स्वाधीन है । अन्य देहों का तरह यह कदापि पराधीन नहीं है, परन्तु इसे परंपकार में लगा कर, कौतिल्य से जगत् में जावित रूना चाहिए ॥ २५ ॥ घोड़ा, बैल, गार्ह, भैंसा, आदि अनैक पशु तथा रिक्रियां और दासों इत्यादि को, यदि कृपा करके कोई बन्धन से छोड़ भी देगा तो, कोई न कोई उन्हें पकड़ ही लेगा ॥ २६ ॥ परन्तु यह नरदेह बंसा नहीं है । यह, अपनी इच्छा के अनुसार, चाह रहे चाह चला जाय । देखो, इसे कोई बांध नहीं सकता ॥ २७ ॥ नरदेह यदि पंगु है तो वह काम में नहीं आता, अथवा यदि वह लूला होता है तो भी परंपकार में नहीं लग सकता ॥ २८ ॥ वह यदि अंधा हुआ तो विल-कुल ही व्यर्थ गया, अथवा यदि बहरा हुआ तो भी निरूपण श्रवण नहीं कर सकता ॥ २९ ॥ यदि मूक हुआ तो शंका-समाधान नहीं कर सकता और यदि अशक्त, रोगी या सडियल हुआ तो भी व्यर्थ ही है ॥ ३० ॥ वह यदि मूर्ख हुआ या उसमें फफड़े का रोग हुआ तो भी निश्चय करके, उसे निरर्थक ही समझिये ॥ ३१ ॥

सारांश, इस प्रकार को बुद्धियाँ जिसमें न हों और शरीर सब तरह से ठीक हो उसे शीघ्र ही परमार्थ-मार्ग पर आना चाहिए ॥ ३२ ॥ जो शरीर से सब प्रकार आरोग्य होते हुए भी परमार्थ-बुद्धि भूल हुए हैं वे मूर्ख मायाजाल में कैसे फँसे ह ! ॥ ३३ ॥ मिट्टी के घरों को इत मूर्खों ने अपनी

मान रखा है; परन्तु यह उन्हें नहीं मालूम है कि इन घरों पर बहुतों का अधिकार है ॥ ३४ ॥ चूहा, छिपकली, मकखो, मकडो, चोटा-चोटो, बिच्छू, सर्प, लखहरो, बर्र, भोरा, भिल्लो, इत्यादि सभी इस घर को अपना समझते हैं ॥ ३५-३८ ॥ इसी प्रकार बिल्लो, कुत्ता, नेवला, पिस्सू, खटमल, भौंगर, कनखजर, इत्यादि अनेक जीव इसे अपना ही घर मानते हैं ॥ ३९-४३ ॥ पशु, दासो और घर के मनुष्य उसे अपना समझते हैं ॥ ४४ ॥ पाहुने और मित्र, तथा कभी कभी गाँव के अन्य लोग भी, उसे अपना बतलाते हैं ॥ ४५ ॥ चोर कहते हैं कि हमारा घर है, राजा कहता है कि इस घर पर हमारी सत्ता है और आग्ने कहते हैं कि हमारा घर है, लाओ भस्म करें ॥ ४६ ॥ इस प्रकार सभी कहते हैं, घर हमारा है और ये मूर्ख मनुष्य भी कहते हैं कि घर हमारा ही है। परन्तु अन्त में, कोई आपत्ति आ जाने पर, घर ही नहीं, किन्तु ग्राम और देश को भाँ छोड़ कर भग जाते हैं ॥ ४७ ॥ अन्त में सारे घर गिर पड़ते हैं; गाँव ऊजड़ हो जाता है; फिर उन घरों में बन के बनले जन्तु रहने लगते हैं ॥ ४८ ॥ इसमें कोई सन्देह नहीं कि चोटो, नेवला, चूहा आदि कोड़ों का ही यह घर है। ये बिचारे मूर्ख मनुष्य ता उले छोड़ हो जाते हैं ॥ ४९ ॥ घरों को दशा ऐसी ही मिय्या है, यह बात अपने अनुभव से जान पड़ी। दो दिन का जीवन है, चाहे जहाँ रह सकते हैं ॥ ५० ॥

यदि देह को अपना कहें, तो यह भी बहुतेरों के लिये बना है। जुओं ने प्राणियों के मस्तक पर घर बनाये हैं और उसे भक्षण करते हैं ॥ ५१ ॥ प्रत्येक रोमरंध्र में कोड़े लगते हैं, घाव हो जाने पर कोड़े पड़ जाते हैं, प्राणियों के पेट में जन्तु होते हैं, यह सभी जानते हैं ॥ ५२ ॥ दाँतों, आँखों और कानों में कोड़े लगते हैं तथा बग्घो (कोटक-विशेष) मांस में घुस कर काटते हैं ॥ ५३ ॥ डाँस खन पाते हैं, किलौनों मांस में घुसते हैं, पिस्सू अकस्मात् काट कर भागत है ॥ ५४ ॥ भोरा और बर्र काट खाती हैं। जोंक खून चूसती है। बिच्छू और साँप, इत्यादि काट खाते हैं ॥ ५५ ॥ जन्म से देह को पालते हैं और उसे अकस्मात् बाध ले जाता है अथवा भेड़िया बलात्कार से खा जाता है ॥ ५६ ॥ चूह या बिल्लियाँ काट खाती हैं, कुत्ते और घोड़े मांस नाच लेते हैं, तथा रोछू और बन्दर घबडा कर मार डालते हैं ॥ ५७ ॥ ऊँट मुँह से पकड़ कर उठा लेते हैं, हाथो चीर फाड़ डालते हैं। और बिल अचानक सींगों से मार डालते हैं ॥ ५८ ॥ चोर तडा-तड़ लाठियाँ बरसाते हैं, भूत डरवा कर मार डालते हैं। अस्तु। इस देह को ऐसी ही दशा है ॥ ५९ ॥

यह शरीर किसी एक का नहीं है, किन्तु अनेकों का है, तथापि ये मूर्ख कहते हैं, हमारा है । परन्तु तापत्रय में, अर्थात् तापत्रय के समासों (द० ३, स० ६-८) में बतलाया गया है कि यह शरीर जीवों का साद्य है ॥ ६० ॥ देह यदि परमार्थ में लगाया जाय तभी तो यह सार्थक है; नहीं तो नाना आघातों और मृत्युपथ के द्वारा इसे व्यर्थ ही गया समझिये ॥ ६१ ॥ अस्तु । जो प्रापंचिक, अर्थात् प्रपंच में पड़े हुए, मूर्ख हैं वे परमार्थ-सुख क्या जानें ? ऐसे मूर्खों के कुछ थोड़े लक्षण आगे कहे गये हैं ॥ ६२ ॥

दूसरा दशक ।

पहला समास-मूर्ख-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

हे एकदन्त, त्रिनयन (?) गजानन, आपको नमस्कार है । भक्तजनों को ओर दयादृष्टि से देखिये ॥ १ ॥ हे वेदमाते, ब्रह्मसुते, श्रीशारदे आपको नमस्कार करता हूँ । हे कृपावन्ते, आप स्फूर्तिरूप से मेरे अन्तःकरण में वास करिये ॥२॥ अब सद्गुरु-चरणों की वन्दना करके और रघुनाथ का स्मरण करके, त्यागने के अर्थ मूर्ख के लक्षण कहता हूँ ॥ ३ ॥ मूर्ख दो प्रकार के होते हैं: एक साधारण मूर्ख और एक पढे हुए मूर्ख । दोनों के लक्षणों में विचित्रता है । इन पर श्रोताओं को अच्छी तरह विचार करना चाहिये ॥ ४ ॥ पढे हुए मूर्खों के लक्षणों का अगले समास में विवेचन किया गया है । हे बुद्धिमान् श्रोतागण, यहाँ पर, सावधान होकर, आगे की कथा सुनो ॥ ५ ॥ अब, यदि मूर्खों के पूरे लक्षण यहाँ कहे जाय तो ब्रह्म हैं, परन्तु उनमें से कुछ थोड़े, ध्यानपूर्वक, सुनो ॥ ६ ॥ जो प्रापंचिक जन हैं, जिन्हें आत्मज्ञान नहीं है और जो विलकुल अज्ञान हैं उनके ये लक्षण हैं:— ॥ ७ ॥

जिनके पेट से जन्मा उन्हींसे जो विरोध करता है, जिसने स्त्री को ही मित्र मान लिया है वह एक प्रकार का मूर्ख है ॥ ८ ॥ सब वंश भर को छोड़ कर जो स्त्री के अधीन होकर जीता है और जो उसे गुप्त बात बतलाता है वह मूर्ख है ॥ ९ ॥ जो परस्त्री से प्रेम करता हो, ससुर के घर में रहता हो, और कन्या का कुल देखे बिना ही उससे विवाह करना हो वह भी मूर्ख है ॥ १० ॥ जो समर्थ पुरुष से अहंकार करता हो और मन में उसकी बराबरी करता हो, अथवा जो सामर्थ्य के बिना सत्ता अर्थात् प्रभाव दिखलाता हो वह मूर्ख है ॥ ११ ॥ जो अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना हो, स्वदेश में ही रहकर विपत्ति भोगता हो और व्यर्थ पूर्वजों की कीर्ति बर्णन करता हो वह भी मूर्ख है ॥ १२ ॥ जो व्यर्थ हँसता हो, उपदेश का ग्रहण न करता हो और बहुतों का बैरी हो वह मूर्ख है ॥ १३ ॥ जो अपनी को छोड़ कर दूसरों से मित्रता करता हो, रात में दूसरे की बुराई करना हो वह मूर्ख है ॥ १४ ॥ जहाँ बहुत आदमी जगते हों वहाँ उनके बीच में जो सोता हो और दूसरे के घर में जो बहुत भोजन करता हो वह मूर्ख है ॥१५॥

मान अथवा अपमान जो स्वयं प्रगट करता हो और सात अध्वसनों में जिस का मन लगा रहता हो वह एक मूर्ख है ॥ १६ ॥ जो दूसरे की आशा से निश्चिन्त होकर प्रयत्न छोड़ देता है और आलस हो में सन्तोष मानता है वह एक मूर्ख है ॥ १७ ॥ घर में तो विचार किया करता है; परन्तु समा में लाजित होता है, अर्थात् वहाँ जिसे एक शब्द बोलने में भी घट्टाहट आती है वह मूर्ख है ॥ १८ ॥ अपने से जो श्रेष्ठ हैं उनके साथ जो आते निकटता का सम्बन्ध रखता और उपदेश करने पर घुरा मानता है वह मूर्ख है ॥ १९ ॥ जो अपनी नहीं सुनता उसे सिखाता है, वहाँ से अपना ज्ञान प्रगट करता है और जो आर्य, अर्थात् श्रेष्ठ, पुरुषों को धोखा देता है वह मूर्ख है ॥ २० ॥ जो विषयोपभोग करने में निस्सज्ज बन गया हो और मर्यादा छोड़ निरकुश होकर वर्ताव करता हो वह एक मूर्ख है ॥ २१ ॥ व्यथा होने पर जो ओषधि नहीं लेता, जो कदापि पथ्य से नहीं चलता और अनायास प्राप्त हुए पदार्थ का जो स्वीकार नहीं करता वह एक मूर्ख है ॥ २२ ॥ जो बिना सायी के विदेश करता हो, बिना पहचान क साथ करता हो और जो नदी की बाढ में कूदता हो वह एक मूर्ख है ॥ २३ ॥ जहाँ अपना मान हो वहाँ बार बार जाता हो और जो अपने मान और अभिमान को रक्षा न करता हो वह मूर्ख है ॥ २४ ॥ जो अपने धनवान् संवक के आश्रित होकर रहता हो और जो सदा मनमलीन रहता हो वह मूर्ख है ॥ २५ ॥ जो कारण का विचार न करके बिना अपराध दंड देता हो और जो थोड़े के लिए कृपणता करता हो वह मूर्ख है ॥ २६ ॥ जो देव और पितरों को न मानता हो, शक्ति बिना मुहँजोरो करता हो और जो व्यर्थ बडबड़ करता रहता हो वह भी एक मूर्ख है ॥ २७ ॥ घरवालों पर दाँत पोसता हो और बाहर विचारा दीन की तरह रहता हो—पेसा जो सूड़ और पागल है वह भी मूर्ख है ॥ २८ ॥ जो नीच जाति से संगति, और दूसरे को खो से एकान्त में बातचीत करता और जो खाते खाते राह चलता हो वह एक मूर्ख है ॥ २९ ॥ जो परोपकार करना नहीं जानता, भलाई के बदले घुराई करता है और करता थोड़ा है, परन्तु बतलाता बहुत है वह एक मूर्ख है ॥ ३० ॥ जो क्रोधी, अधिक खानेवाला और आलसी है, मलीन और मन में कुटिल है, धारज जिसके पास न हो वह एक मूर्ख है ॥ ३१ ॥ जिसके पास विद्या, वैभव, धन, पुरुषार्थ, सामर्थ्य और मान आदि कुछ नहीं है—कोरा अभिमान हो दिखलाता है वह एक मूर्ख है ॥ ३२ ॥ जो जुद्ध, झूठा, लबाड़ी, कुकर्मों, कुटिल, और उर्मट हो, जो बहुत सोता हो वह मूर्ख है ॥ ३३ ॥ जो ऊँचे पर जाकर बस

पहनता हो, बाहर चौहट्टे पर बैठता हो, सदा नंगे बदन देख पड़ता हो वह एक मूर्ख है ॥ ३४ ॥ जिसक दांत, आखें, नाक, हाथ, कपडे और पायें सदा मैले रहते हों वह एक मूर्ख है ॥ ३५ ॥ ब्रैधृते और व्यातेपात आदि अनेक कुतूहलों में प्रवास के लिए चलता हो और अपशकुनों से अपना घात करता हो वह एक प्रकार का मूर्ख है ॥ ३६ ॥ क्रोध, अपमान और कुबुद्धि से स्वयं अपना वध करता हो और जिसमें दृढ बुद्धि न हो वह एक मूर्ख है ॥ ३७ ॥ अपने प्रेमियों को परम खोदित करता हो, उनसे सुख का एक शब्द भी न बोलता हो और नीच जनों को वन्दना करता हो वह मूर्ख है ॥ ३८ ॥ जो स्वयं अपनी बहुत प्रकार से रक्षा करता हो; परन्तु शरणागत का अन्यास करता हो, तथा जो लक्ष्मी का भरोसा रखता हो वह भी एक मूर्ख है ॥ ३९ ॥ पुत्र और दारा हो को सहारा मान कर जो ईश्वर को भूल गया हो वह एक मूर्ख है ॥ ४० ॥ जैसा रोया जाता है वैसाही मिलता है—यह तत्व जिसे नहीं मालूम है वह भी एक मूर्ख है ॥ ४१ ॥ स्त्रियों के पुरुष से अठगुना काम ईश्वर ने दिया है—(स्त्रोणामष्टगुणः कामः ।) अतएव जिसने कई विराह किये हैं, वह एक मूर्ख है ॥ ४२ ॥ दुर्जन के कहने से जो मर्यादा छोड़ कर चलता हो, जो दिन हाडे आखें मूंद लेता हो—अथवा जो अच्छी बात को प्रत्यक्ष देखते हुए भी उस पर ध्यान नहीं देता वह एक मूर्ख है ॥ ४३ ॥ जो देवता, गुरु, माता, पिता, ब्राह्मण और स्वामी से द्रोह करता हो वह भी एक मूर्ख है ॥ ४४ ॥ दूसरे के दुःख में सुख मानता हो, दूसरे के सन्तोष में दुःख मानता हो और गई हुई वस्तु का शोक करता हो वह मूर्ख है ॥ ४५ ॥ बिना आदर को ना, बिना पूँछे गवाही देना और निन्दनीय वस्तु का स्वाकार करना भी मूर्खता का लक्षण है ॥ ४६ ॥ जो किसीका महत्व घटाकर बोलता हो, सन्मार्ग छोड़ कर चलता हो और जिसने कुकर्मियों से मित्रता की हो वह मूर्ख है ॥ ४७ ॥ सच्चाई कभी न रखता हो, हँसी सदा करता हो और दूसरे के हँसा करने पर जो लड़ाई के लिए तैयार हो जाता हो वह मूर्ख है ॥ ४८ ॥ जो अवघड़ होड़ लगाता हो, बिना काम बड़बड़ करता हो, अथवा बोलही न सकता हो, जैसे गुर्रहँ बन्द हो, वह मूर्ख है ॥ ४९ ॥ जो न बख अच्छ पहने हो और न शास्त्र पढे हो और सभा में आगे जाकर बैठता हो और जो वंशवालों का विश्वास करता हो वह मूर्ख है ॥ ५० ॥ जो चोर से पहचान बतलाता हो, एक बार जिस वस्तु को देख लिया हो उसीका मांगता हो, क्रोध से अपना अनहित करता हो वह भी मूर्ख है ॥ ५१ ॥ जो हीन जनों से मित्रता तथा सम्भाषण करता हो, और बायें हाथ से खाता पीता हो वह मूर्ख है ॥ ५२ ॥ जो समर्थ पुरुष से मत्सर करता हो, अलभ्य वस्तु के लिए

डाह करता हो, और अपने घर में ही चोरी करता हो वह एक मूर्ख है ॥ ५३ ॥ जगदीश को छोड़ कर मनुष्य का भरोसा करता हो और जो बिना जीवन सार्यक किये अपनी आयु खोता हो वह मूर्ख है ॥ ५४ ॥ संसार में दुख पाकर जो ईश्वर को गाली देता हो और जो मित्र की हीनता बतलाता हो वह मूर्ख है ॥ ५५ ॥ जो थोड़ा भी अन्याय क्षमा नहीं करता, और सदा तेजी दिखलाता है तथा जो विश्वासघात करता है वह मूर्ख है ॥ ५६ ॥ जो समर्थ पुरुष के मन से उतर गया हो, जिसके कारण सभा का रंग बिगड़ जावे और जो क्षण में प्रसन्न हो और क्षणही में बदल जाय वह भी मूर्ख है ॥ ५७ ॥ बहुत दिनों के नौकर निकाल कर जो नये रखता है और जिसकी सभा बिना नायक की हो वह भी मूर्ख है ॥ ५८ ॥ जो अनीति से द्रव्य जोड़ता हो, धर्म, नीति और न्याय छोड़ता हो तथा साथ के मनुष्यों को अलग करता हो वह मूर्ख है ॥ ५९ ॥ घर में सुन्दरी स्त्री होने पर भी जो सदा परस्त्री-गमन करता हो-बहुतों की जूठन स्वीकार करता हो वह मूर्ख है ॥ ६० ॥ अपना धन दूसरे के पास रखता हो और दूसरे के धन की अभिलाषा रखता हो, अथवा जुद्ध पुरुष से लेने-देने का व्यवहार करता हो वह एक मूर्ख है ॥ ६१ ॥ जो अतिथि को कष्ट देता हो, कुग्राम में रहता हो, और जो सदा चिन्तित रहता हो वह मूर्ख है ॥ ६२ ॥ दो आदमी जहाँ बातें करते हो वहाँ जो तीसरा जाकर बैठे अथवा जो दोनों हाथों से सिर खुजलावे वह भी मूर्ख है ॥ ६३ ॥ जो पानी में कुत्ते छोड़ता हो, जो पैर से पैर खुजलाता हो अथवा जो हीन कुल की सेवा करता हो वह मूर्ख है ॥ ६४ ॥ स्त्री और बालक को मुँह लगाना, पागल के पास बैठना और मर्यादा छोड़ कर कुत्ता पालना मूर्खता के लक्षण है ॥ ६५ ॥ परस्त्री से कलह करना हो, मूक जानवरों को अचानक, या घात लगा कर, मारता हो और जो मूर्ख की संगति करता हो वह भी मूर्ख है ॥ ६६ ॥ खड़े खड़े लड़ाई का तमाशा देखता हो, उसे बन्द न करता, हो और सच के सामने झूठे की कदर करता हो वह मूर्ख है ॥ ६७ ॥ लक्ष्मी पा जाने पर जो पिछली पहचान भूल जाता है और जो देवताओं वा ब्राह्मणों पर अपना प्रभाव जमाता है वह भी एक मूर्ख है ॥ ६८ ॥ जब तक अपना काम हो तभी तक बहुत नम्रना धारण करता हो और दूसरों के काम न करता हो वह मूर्ख है ॥ ६९ ॥ पढ़ते समय अक्षर छोड़ देता हो या अपने पास से मिला देता हो, जो पुस्तक पर दृष्टि न रखता हो वह भी एक मूर्ख है ॥ ७० ॥ जो न खुद कभी पढ़ता हो न दूसरों को पढ़ने देता हो, पुस्तक सदा बस्ते में बँधी रखता हो, वह भी एक मूर्ख है ॥ ७१ ॥

ऐसे ये मूर्खों के लक्षण हैं-इनके सुनने से चतुरता आती है । समझदार

आदमी ये लक्षण सदा मन लगाकर सुनते हैं ॥ ७२ ॥ लक्षण तो बहुत से हैं, पर यहाँ ये कुछ लक्षण, त्याग करने के लिए, अपनी बुद्धि के अनुसार बतला दिये हैं—श्रोता लोग मुझे क्षमा करें ॥ ७३ ॥ उत्तम लक्षण ले लेना चाहिए और मूर्ख लक्षण त्याग देना चाहिये । अगले समास में उत्तम लक्षण बतलाये गये हैं ॥ ७४ ॥

दूसरा समास—उत्तम लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता लोग सावधान हो, अब उत्तम गुण कहता हूँ, इन गुणों से सर्वज्ञता आती है ॥ १ ॥ बिना पूछे रास्ता न चलना चाहिये, बिना पहचाने फल न खाना चाहिए, पड़ी हुई चीज एकाएक न उठाना चाहिए ॥ २ ॥ बहुत वाद न करना चाहिए, पेट में कपट न रखना चाहिए, बिना खोज किये और कुलहीन स्त्री से विवाह न करना चाहिए ॥ ३ ॥ बिना पूछे बोलना न चाहिए, बिना विचारे और मर्यादा छोड़ कर चलना न चाहिये ॥ ४ ॥ प्रीति बिना रूठना न चाहिये, चोर से पहचान न पूछना चाहिये, रात में एकाएक रास्ता न चलना चाहिये ॥ ५ ॥ मनुष्यों से नम्रता न तोड़ना चाहिये, पापद्रव्य न जोड़ना चाहिए, पुण्यमार्ग कभी न छोड़ना चाहिये ॥ ६ ॥ निन्दा और द्वेष न करना चाहिये, बुरा साथ न रखना चाहिये, परधन और परस्त्री बलात् हरण न करना चाहिये ॥ ७ ॥ वक्ता को वाच में टोंकना न चाहिये, एकता को तोड़ना न चाहिए, कुछ भी हो, विद्या-अभ्यास छोड़ना न चाहिए ॥ ८ ॥ मुहँजोर से लडना न चाहिए, वाचाल से बहुत बातें न करना चाहिए, संत का संग छोड़ना न चाहिए ॥ ९ ॥ बहुत क्रोध न करना चाहिए, प्रेमियों को खेदित न करना चाहिए सिखावन का मन में बुरा न मानना चाहिए ॥ १० ॥ क्षण क्षण में रूठना न चाहिये, झूठे पुरुषार्थ का बखान न करना चाहिए और बिना किये अपना पराक्रम नहीं बतलाना चाहिए ॥ ११ ॥ की हुई प्रतिज्ञा मत भूलो और प्रसंग आ पडने पर सामर्थ्य दिखलाने में मत चूको । व्यर्थ बडों का तिरस्कार कभी न करो ॥ १२ ॥ आलस में सुख न मानो । जुगली मत सुनो । बिना सोचे कोई काम मत करो ॥ १३ ॥ शरीर को बहुत सुख न देना चाहिए, पुरुष को प्रयत्न न छोड़ना चाहिए, कष्ट से कभी न घबडाना चाहिए ॥ १४ ॥ सभा में लाज न करो, व्यर्थ वाचालता न दिखलाओ,

कुछ भी हो, पैज या होड़ मत लगाओ ॥ १५ ॥ बहुत चिन्ता मन करो,
 आलस में मत रहो, परखो को और पापबुद्धि से मत देखो ॥ १६ ॥
 किसीका अहसान मत लो, यदि लिया हो ता उसे न रखो-अर्थात् उसका
 बदला दे दो-दूसरे को दुख न दो और त्रिभ्वासघात न करो ॥ १७ ॥
 अशुद्ध न रहो, मैले कपडे मत पहनो, जानेवाले से यह मत पूछो कि कहां
 जाते हो ॥ १८ ॥ व्यापता या सर्वाप्रेयता मत छोड़ो, पराधीन मत हो,
 अपना बोझा दूसरे पर मत डालो ॥ १९ ॥ विना लिखा-पढ़ी के देन-लेन
 का व्यवहार मत करो, हीन स ऋण मत लो, गवाही बिना राजद्वार मत
 जाओ ॥ २० ॥ भूठी बात मत सुना, सार्वजनिक बात को मिथ्या न बत
 लाओ । जहां आदर न हो वहां बिलकुल न बोलो ॥ २१ ॥ मत्सर या
 डाह मत करो, अपराध बिना किसीको पीड़ा मत दो, अपने शारीरिक
 बल के अभिमान में आकर अनोति का वर्ताव न करो ॥ २२ ॥ बहुत भोजन
 न करो, बहुत मत सोओ, चुगुलखोर के पास बहुत दिन न रहो ॥ २३ ॥
 अपने को गवाही मत दो, अपनी कीर्ति न वर्णन करो, स्वयं दात कह
 कर मत हँसो ॥ २४ ॥ धूम्रपान मत करो मादक द्रव्य मत संवन करो,
 वाचाल से मित्रता कभी न करो ॥ २५ ॥ बेकाम मत रहो, नाच दात मत
 सरो, चाहे बड़ों का भी हो, पर यदि बिना कष्ट मिला हो तो वह अन्न
 मत खाओ ॥ २६ ॥ मुहँ में गाली मत आने दो, दूसरे को देख कर मत
 हँसो, अपने मन में, कुलवान् के विषय में, होनता न लाओ ॥ २७ ॥ किसी
 की वस्तु मत चुराओ, बहुत कृपण मत बनो, अपने प्रेमियों से कभी
 लड़ाई भगडा मत करो ॥ २८ ॥ किसीका घात न करो, भूठी गवाही
 मत दो, कभी असत्य वर्ताव मत करो ॥ २९ ॥ चोरो, चुगली न करो, पर-
 खोगमन न करो, पीछे किसीको चुराई मत करो ॥ ३० ॥ समय आ पड़ने
 पर धैर्य न छोड़ो, सत्वगुण मत छोड़ा और शरण आये हुए बैरो को दंड
 न दो ॥ ३१ ॥ अल्प धन पाकर मतवाले न बन जाओ, हारेभक्ति में लाज
 न करो, पवित्र जनों के बीच में अमर्याद वर्ताव न करो ॥ ३२ ॥ मूर्ख से
 सम्बन्ध न करो, अंधेरे में हाथ न डालो और असावधानी से अपनी
 वस्तु कहीं न भूल जाओ ॥ ३३ ॥ स्नान और सन्ध्या न छोड़ो, कुलाचार
 न तोड़ो, अनाचार न मचाओ ॥ ३४ ॥ हरिकथा न छोड़ो, निरूपण न तोड़ो,
 और प्रपंचबल से परमार्थ को न मोड़ो ॥ ३५ ॥ देवता का मानगन न छोड़ो,
 स्वधर्म का त्याग न करो और बिना विचार हठ से मनमाना काम न करो
 ॥ ३६ ॥ निदुरता न धरो, जावहत्या न करो, वादल उमडा हुआ देख कर
 वाहर न जाओ, अथवा बुरे समय में न जाओ ॥ ३७ ॥ सभा देख कर
 घबड़ाओ मत, समय आ पड़ने पर उत्तर देने में मत चूको, धिक्कारने से

अपने धैर्य को न डिगने दो ॥ ३८ ॥ बिना गुरु किये न रहो, नीचे जाति का गुरु न करो, वैभव से भूल कर जीवन का शाश्वत, अर्थात् नित्य, न मानो ॥ ३९ ॥ सम्यग्मार्ग न छोड़ा, असत्य पथ पर न जाओ, और असत्य का अभिमान कभी न करो ॥ ४० ॥ अपकीर्ति का त्याग करना चाहिये, सत्कीर्ति बढ़ाना चाहिये, और, विवेकपूर्वक, सत्य का मार्ग, दृढता से, पकड़ना चाहिये ॥ ४१ ॥

जो मनुष्य ये उत्तम गुण नहीं लेते वे कुलक्षणी हैं । उनके लक्षण अगले समास में सुनो ॥ ४२ ॥

तीसरा समास-कुविद्या-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

अब कुविद्या के लक्षण सुनो । त्याग करने के अर्थ जो अति हीन कुलक्षणी हैं, वे कहे हैं । इनके सुनने से त्याग बनता है ॥ १ ॥ सुनो, आगे के लक्षणों से मालूम हो जायगा कि कुविद्यावान् प्राणी ने संसार में जन्म ले कर हानि ही हानि को ॥ २ ॥ कुविद्यावान् प्राणी कठिन निरूपण में घबड़ा जाता है; क्योंकि वह अवगुणों का ढेर है ॥ ३ ॥ महात्मा श्रीकृष्ण गोता में ऐसे राक्षसी गुणों का वर्णन करते हैं:—

दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ॥

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ १ ॥

काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, दंभ, तिरस्कार, गर्व, अकड़, अहंकार, द्वेष, विषाद, विकल्प, आशा, ममता, तृष्णा, कल्पना, चिन्ता, अहन्ता, कामना, भावना, ईर्ष्या, आवेद्या, ईर्ष्या, वासना, अतृप्ते, आसाक्ते, इच्छा, वांछा, चिकित्सा, निन्दा, अनोत्ति, कृतघ्नता, सदा मस्ती, ज्ञातापन का अभिमान, अवज्ञा, विपात्ते, आपदा, दुर्वृत्ति, दुर्वासना, स्पर्धा, खटपट, चटपटी, एक प्रकार को झटपट, बकवाद, सदा खटपट मचाये रहना, लटपटपन, ये सब कुविद्या को परम व्यथार्थ हैं ॥ ४-७ ॥ कुविद्यावान् प्राणी कुरूप होकर कुलक्षणी, अशक्त होकर दुर्जन, दरिद्रो होकर कृपण होता है ॥ ८ ॥ वह आलसी होकर बहुत खानेवाला, दुर्बल होकर क्रोधो और तुच्छ होकर लबाड़ होता है ॥ ९ ॥ वह मूर्ख और, तापट, पागल और बकवादी तथा

मूढा और मुहँजोर होता है ॥ १० ॥ वह न जानता है और न सुनता है, न उसे स्वयं आता है और न सीखता है, वह न तो खुद करता है और न अभ्यास-दृष्टि से देखता ही है ॥ ११ ॥ वह प्राणी अज्ञान और अविश्वासी, छलवादी (शब्दच्छल से वाद करनेवाला) और दोष देनेवाला होता है; वह न स्वतः भक्त होता है और न भक्तों को देख सकता है ॥ १२ ॥ कुविद्यावान् मनुष्य पापी और निन्दक, कष्टी और घातक, तथा दुःखी और हिंसक होता है ॥ १३ ॥ हीन और बनावटी, रोगी और कुकर्मी, कृपण और अधर्म में वासना रखनेवाला मनुष्य कुविद्यावान् है ॥ १४ ॥ देह से हीन होकर भी अकड़ दिखलानेवाला, अप्रामाणिक होकर बड़ी बड़ी बातें करनेवाला, बेवकूफ और दुष्ट होकर विवेक बतलानेवाला कुविद्यावान् है ॥ १५ ॥ चूड़ और मतवाला, बेकाम और फिरनेवाला तथा डरपोंक होकर पराक्रम की बातें करनेवाला कुविद्यावान् समझना चाहिये ॥ १६ ॥ जो छोटा होकर अतिशय गर्व करनेवाला हो, विषय में आसक्त और नष्ट हो, द्वेषी और भ्रष्ट हो उसे कुविद्यावान् समझो ॥ १७ ॥ जो अतिशय अभिमानी होकर निलज्जा हो या जो कर्जदार और दुष्ट हो अथवा जो दंभ करनेवाला और अन्धा-धुन्ध हो, उसे कुविद्यावान् मनुष्य समझो ॥ १८ ॥ जो कटुवचनी और विकारी हो, जो मूढा और कृतघ्न हो अथवा जो स्वतः अवलक्षण होकर प्राणियों को धिक्कारता हो उसे कुविद्यावाला प्राणी समझना चाहिये ॥ १९ ॥ जो मन्दमति होकर वाद करनेवाला हो और जो दीनरूप होकर मर्म-भेद करनेवाला हो अथवा जो दुर्बल होकर कुशब्दों से दूसरों को दुःख पहुँचाता हो वह कुविद्यावान् पुरुष है ॥ २० ॥ जो कठिन वचन, कर्कश वचन, कपट के वचन, सन्देह के वचन, दुःख के वचन और तीव्र वचन बोलता हो और जो क्रूर, निष्ठुर तथा दुरात्मा हो उसे कुविद्यावान् समझो ॥ २१ ॥ हीन वचन, पिशुनवचन, अर्थात् मिथ्यापवाद, (Bad report or Slander) अशुभ वचन, अनित्य वचन, अर्थात् बदल जानेवाले वचन, द्वेष-वचन, मूठे वचन, (Untrue or False report) व्यर्थ वचन कहनेवाला और दूसरों को धिक्कारनेवाला कुविद्यावान् समझना चाहिये ॥ २२ ॥ जो अतिशय कपटी, कुटिल, मन में गाँठ रखनेवाला, कुटनेवाला, टालमटोल करनेवाला, नष्ट, क्रोधी, कुधन, और स्वच्छन्द हो उसे भी कुविद्यावान् समझना चाहिए ॥ २३ ॥ जो क्रोधी, तामसी, अविचारी, पापी, अनर्थी, अपस्मार-रोगी हो और जिसके शरीर में भूत-संचार करता हो उसे कुविद्यावान् समझना चाहिए ॥ २४ ॥ जो आत्महत्यारा, स्त्रीहत्यारा, गौ-हत्यारा, ब्राह्मण-हत्यारा, माता-पिता की हत्या करनेवाला और महापापी या पतित हो वह कुविद्यावान् है ॥ २५ ॥ जो हीन, कुपात्र, कुतर्की, हो, जो मित्रद्रोही और विश्वा-

सघाती हो अथवा जो कृतघ्न, तल्पकी, अर्थात् सौतेली मा या गुरुस्त्री को भ्रष्ट करनेवाला, और नारकी हो: आततायी और बकबक करनेवाला हो वह कुविद्यावान् है ॥२६॥ जो विपरीत भावना करके लड़ाई भगड़ा या कलह करता हो, जो अधर्मी, अनाडी, शोकसंग्रही, चुगुलखोर, व्यसनी, विग्रही और हठी हो वह कुविद्यावान् है ॥२७॥ जो दुष्ट, अपयशी, मलीन, दूसरे की भलाई न देख सकनेवाला, सूम, चीमड और स्वैर हो उसे कुविद्यावान् समझना चाहिए ॥२८॥ जो शठ, मूर्ख, कातर, बदमाश, 'लकार का फकीर,' ठग, फितूरी, पाखंडी, चोर और अपहार करनेवाला हो वह कुविद्यावान् है २९॥ ढीठ, अद्वातद्वा बकनेवाला, अनर्गल बडबड करनेवाला, हँसोडा, ओछा, कुभांडी उद्धट, लंपट, भ्रष्ट और कुबुद्धी मनुष्य को भी कुविद्यावान् समझो ॥ ३० ॥ मार डालनेवाला, लुटारू, डाका डालनेवाला, कलेजा खा जानेवाला, ठग, भोंडू, परस्त्री-गमन करनेवाला, भुलानेवाला, चेटकी, ये सब कुविद्यावान् है ॥ ३१ ॥ निःशंक, निर्लज्ज, भगड़ालू, लण्ठ, नीच, धट-उद्धट, अर्थात् बडा घमंडी, निडर, अक्षरशत्रु, नटखट, लडाका और विकारवान् को भी कुविद्यावान् समझना चाहिए ॥ ३२ ॥ अधीर, डाह रखनेवाला, अनाचारी, अंधा, लँगडा, खांसीवाज, लूला, बहरा, दमेवाज और इतना होने पर भी गर्व न छोड़नेवाला कुविद्यावान् है ॥ ३३ ॥ विद्याहीन, वैभवहीन, कुलहीन, लक्ष्मीहीन, शक्तिहीन, सामर्थ्यहीन, भाग्यहीन और भिखारी होना भी कुविद्या का लक्षण है ॥ ३४ ॥ बलहीन, कलाहीन, मुद्राहीन, दीक्षाहीन, लक्षणहीन, लावण्यहीन, अंगहीन, और कुरूप होना भी कुविद्या का फल है ॥ ३५ ॥ युक्तिहीन, बुद्धिहीन, आचारहीन, विचारहीन, क्रियाहीन, सत्त्वहीन, विवेकहीन और संशयो होना भी कुविद्या के लक्षण हैं ॥ ३६ ॥ भक्तिहीन, भावहीन, ज्ञानहीन, वैराग्यहीन, शान्तिहीन, क्षमाहीन और सब से हीन या जुद्र होना कुविद्या के लक्षण है ॥ ३७ ॥ जो समय, प्रसंग, प्रयत्न, अभ्यास, विनती, मित्रता आदि कुछ नहीं जानता और अभागी है वह कुविद्यावान् है ॥ ३८ ॥

अस्तु । जो मनुष्य इस प्रकार के नाना विकारों और कुलक्षणों का घर है उसीको श्रोतागण कुविद्यावान् समझें ॥ ३९ ॥ ये कुविद्या के लक्षण जान कर त्याग ही देना चाहिए । दुराग्रह में आ कर इन्हें पकड़े रहना अच्छा नहीं ॥ ४० ॥

चौथा समास-भक्ति-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

पहले तो यह नरदेह ही नाना प्रकार के सुदृष्टों का फल है, फिर उसमें भी जब बड़ी भाग्य हेतो है तभी यह देह सन्मार्ग में लगता है ॥ १ ॥ नरदेह में ब्राह्मण का जन्म श्रेष्ठ है, उसमें भी संध्या, स्नान, अच्छी वासना और परमात्मा का भजन तभी बनता है जब पूर्वजन्म का पुण्य होता है ॥ २ ॥ पहले तो परमात्मा को भक्ते हो उत्तम हं और फिर उसमें भी यदि सत्समागम हो गया तो समय सार्थक हो जाता है । यहाँ परम लाम है ॥ ३ ॥ प्रेम और प्रीति का सद्भाव, भक्तों का जमाव, हारिकथा का महोत्सव आदि बातों से भक्ति बहुत बढ़ जाती है ॥ ४ ॥ नरदेह पाकर जीवन को थोड़ा बहुत सार्थक जरूर करना चाहिए, जिससे परलोक, जो परम दुल्लभ है, मिल ॥ ५ ॥ विधि-पूर्वक (वेदवेदित) ब्राह्मण के कर्म, अथवा दया, दान, धर्म, अथवा भगवान् का भजन, जो सुलभ है, करना चाहिए ॥ ६ ॥ संसार-दुःखों से अद्भुत होकर सर्वसंग-परित्याग करना चाहिए अथवा भक्तियाग का स्वीकार करना चाहिए, नहीं तो साधुओं का संग करना चाहिए ॥ ७ ॥ अनेक शास्त्रों का मथन, तीर्थपर्यटन अथवा पापक्षय के लिए पुरश्चरण करना चाहिए ॥ ८ ॥ परोपकार, ज्ञान का विचार और अध्यात्म-निरूपण में सारासार का विवेक करना चाहिए ॥ ९ ॥ वेदों की आज्ञा का पालन करना चाहिए, कर्मकांड और उपासनाकांड का आचरण करना चाहिए । यह करने से मनुष्य ज्ञान का अधिकारी बनता है ॥ १० ॥ तन, मन, वचन, पत्र, पुण्य, फल, जल-जिससे बने उसी से परमात्मा को सन्तुष्ट करके अवश्य अपना जीवन सार्थक करना चाहिए ॥ ११ ॥ जन्म लेने का फल यही है कि यहाँ आ कर कुछ धमकर्म करे; यदि कुछ न किया गया तो व्यर्थ के लिए भूमि को भार होता है ॥ १२ ॥ मनुष्य को उचित है कि कुछ आत्माहित करे और यथाशक्ति तन मन धन ईश्वर के कामों में लगावे ॥ १३ ॥ जो मनुष्य यह कुछ नहीं करता उसे मृतप्राय समझना चाहिए, उसने जन्म लेकर माता को व्यर्थ कष्ट दिया ॥ १४ ॥

जिन मनुष्यों में संध्या, स्नान, भजन, देवता का अर्चन, मंत्र, जप, ध्यान और मानसपूजा नहीं है; भक्ति, प्रेम, निष्ठा और नेम नहीं है; जो देवता, धर्म और आतोये-अभ्यागत को नहीं मानते, जिनमें सद्बुद्धि और गुण नहीं है, जिन्होंने कभी कथा और अध्यात्म-निरूपण का श्रवण नहीं किया है, जिन्होंने मिथ्यामद में आकर कैवल्य का प्राप्ति नहीं की; जिनमें नीति,

न्याय, पुण्य करने की शक्ति; युक्तायुक्त क्रिया और परलोक का साधन नहीं है; जिनमें विद्या, वैभव और चातुर्य नहीं है; कला और सरस्वती का रम्य विलास नहीं है; जिनमें शांति, क्षमा, दौढ़ा; मंत्री; शुभ-अशुभ-साधन आदि कुछ नहीं है; जिनमें शुद्धि, स्वधर्म, आचार विचार, इह लोक, परलोक को चिन्ता नहीं है और मनमाना बतल है; जिनमें कर्म उपासना ज्ञान, वगन्ध, योग, धैर्य कुछ माँ, नहीं देख पड़त; जिनमें उफ-रति, त्याग, समता, सुलक्षण, आदर आर परमेश्वर में प्रांति नहीं है; जिनके अंतःकरण में परगुण के विषय में सतःष; पर-उपकार में सुख और हारिभक्ति का लेश नहीं है-ऐस पुरुष जोत हो मृतक समान ह । पावेन पुरुषों को चाहेय कि उनसे बातचात भो न करे ॥ १५-२६ ॥

अस्तु: जिसके पास प्रवजन्मों को पूरा पुण्य-सामग्री है उसीसे भगव-भक्ति बनती है । आर, फर; जा जसा करत ह वे वसा पात ह ॥ २७ ॥

पाँचवाँ समाप्त-रजोगुण-निरूपण ।

॥ श्रीगम ॥

यह देह सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों से युक्त है । इनमें सतोगुण उत्तम है ॥ १ ॥ क्योंकि सत गुण से मनुष्य भगवान् को भक्ति रजो-गुण से पुनरावृत्ति; अर्थात् फिर मनुष्य-जन्म, और तमोगुण से अधोगति पात ह ॥ २ ॥

ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ॥

जघ्न्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १ ॥

उनमें भी शुद्ध और शबल करके दो भेद हैं । जो निर्मल है वही शुद्ध है और शबल गुण बाधक ह ॥ ३ ॥ हे विचक्षण आता लोग, अब शुद्ध और शबल का लक्षण सावधान होकर सुना । जिन लोगों में शुद्ध गुण हैं वे परमार्थी और जिनमें शबल ह वे संसारा हाते ह ॥ ४ ॥ अब, उन संसारों लोगों को यह स्थिति है कि उनको देह में तीनों गुण बतते ह । उनमें एक गुण को जब विशेषता होती है तब दो गुण हीन पड जाते हैं ॥ ५ ॥ रज, तम और सत्त्व-इन्हींसे जीवन चलता है । अब रजोगुण का कर्तृत्व, अर्थात् कार्य का स्वरूप, दिखता ह ॥ ६ ॥ रजोगुण शरीर में आने से मनुष्य कैसा बर्ताव करता है सो चतुर आता सावधान होकर सुना ॥ ७ ॥

जो यह निश्चय करता है, कि घर मेरा है, गृहस्थों मेरो है; ईश्वर कौन चीज है, वह रजोगुणी है ॥ ८ ॥ माता, पिता, स्त्री, लड़का, पुतोद् और लड़की—इतनेही लोगों की जो चिन्ता करता हो वह रजोगुणी है ॥ ९ ॥ अच्छा खाना-पीना, अच्छा पहिना-ओटना और दूसरे की वस्तु की अभिलाषा करना रजोगुण का लक्षण है ॥१०॥ दान-धर्म, जप-ध्यान, पाप-पुण्य, आदि का जो विचार नहीं करता वह रजोगुणी है ॥ ११ ॥ जो तीर्थ, व्रत, अतिथि, अभ्यागत आदि को नहीं जानता और जिसकी इच्छा अनाचार में लगी रहती है वह रजोगुणी है ॥ १२ ॥ धन-धान्य और द्रव्य के जोड़ने में जिसका मन लगा रहता है और जो अत्यन्त कृपण है वह रजोगुणी है ॥ १३ ॥ जो कहता हो कि मैं तरुण हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं बलाढ्य हूँ, मैं चतुर हूँ और मैं सब में बड़ा हूँ वह रजोगुणी है ॥ १४ ॥ जो मन में यह भावना रखता हो कि मेरा देश है, मेरा गाँव है, मेरा महल है और मेरा ठौर है वह रजोगुणी है ॥१५॥ जो यह चाहता हो कि दूसरे का सब चला जाय और मेरा ही बना रहे वह रजोगुणी है ॥१६॥ जिसकी देह में कपट, मत्सर, तिरस्कार अथवा काम का विकार उठता हो वह रजोगुणी है ॥ १७ ॥ अपने बालक पर जिसकी बड़ी ममता हो, जिसे स्त्री वन्त प्यारी हो और जिसका अपने सब लोगों पर बहुत प्रेम हो वह रजोगुणी है ॥ १८ ॥ अपने प्यारों की चिन्ता जिस समय चित्त में आ जाय, समझ लेना चाहिये कि उसी समय शीघ्रगति से रजोगुण आ गया है ॥ १९ ॥ ससार के अनेकों संकटों से कैसे निर्वाह होगा, इस बात को जिसे बड़ी चिन्ता रहती हो वह रजोगुणी पुरुष है ॥ २० ॥ अथवा पहले भोगे हुए संकटों की याद कर कर के मन में दुःखित होता हो वह रजोगुणी है ॥ २१ ॥ किसीका वैभव देख कर जिसके पेट में लालसा उठती हो और जो आशा के कारण दुःखित रहता हो वह रजोगुणी है ॥ २२ ॥ जो कुछ देखता हो उसीके पाने की इच्छा करता हो और न मिलने पर जिसे दुःख होता हो वह रजोगुणी है ॥ २३ ॥ हँसी-ठट्टा और विनोद में जिसका मन लगा रहता हो, जो शृंगारिक गीत गाता हो और राग-रंग तथा तान-मान में जिसका चित्त रखा हो वह रजोगुणी है ॥ २४ ॥ जो चुगली-चवाव और निन्दा करके विवाद खड़ा करता हो, सर्वदा हास्य और विनोद करता रहता हो वह रजोगुणी है ॥ २५ ॥ जो बड़ा भारी आलसी हो और जो मनोरंजन के अनेक खेलों या उपभोगों का गडबड मचाये रहता हो वह रजोगुणी है ॥ २६ ॥ कलावंत, बहुरूपी और नटों के खेल देखने में तत्पर हो तथा नाना प्रकार के खेलों में जो दान देता हो वह रजोगुणी है ॥२७॥ मादक द्रव्यों पर जिसकी बहुत प्रीति हो और जो चित्त में मैथुन की याद

करता हो या जिसे नीच की संगति प्यारी हो वह रजोगुणी है ॥ २८ ॥ चार-वेद्या को स्मृति जिसके जो में उठता हों, दूसरे को हीनता बेलना जिसे पसन्द हो और नित्य-नियम से जिसका मन हटता हो वह रजोगुणी है ॥ २९ ॥ परमात्मा के लिए जिसे लज्जा श्रुती हो; परन्तु पेट के लिए जो कष्ट सहता हो और प्रपंच में जो प्रेम रखता हो वह रजोगुणी है ॥ ३० ॥ जिसे मोठा भोजन करने को बहुत लालसा हो, जो बड़े आदर से पिण्ड-पोषण, अर्थात् शरीर का पोषण करता हो, जिससे कभी उपवास न हो सकता हो वह रजोगुणी है ॥ ३१ ॥ जिसे शृंगारिक बातें अच्छी लगती हों; भाँके वैराग्य प्यारा न हो और जिसका मन कला-सांदर्य में लगा हो वह रजोगुणी है ॥ ३२ ॥ परमात्मा को न जान कर जो सारे सांसारिक पदार्थों से प्रेम रखता हो और जानबूझ कर अपनेको जन्ममृत्यु के चक्र में डालता हो वह रजोगुणी है ॥ ३३ ॥

अस्तु । यह रजोगुण, मोह के कारण, मन्मथरण दिलाता है । प्रपंची रजोगुण को शबल समझो—यही दारुण दुःख भोगता है ॥ ३४ ॥ अब, यह रजोगुण जब तक नहीं छूटता तब तक सांसारिक विषय भी नहीं छूट सकते—प्रपंच में वासना लगी रहती है; अतएव इसका उपाय क्या है? ॥ ३५ ॥ इसका उपाय केवल भगवद्भक्ति है । यदि विराक्ते न हो संक तो यथाशक्ति परमात्मा का भजन जरूर करना चाहिये ॥ ३६ ॥ तन, मन, वचन, पत्र, पुष्प, फल, जल जो कुछ बने-हृदय से ईश्वर को अर्पण करके जीवन सार्थक करना चाहिए ॥ ३७ ॥ यथाशक्ति दान-पुण्य करना चाहिए, भगवान् में अनन्य भक्ति रखना चाहिए और सुख दुःख पडने पर ईश्वर ही का चिन्तन करना चाहिए ॥ ३८ ॥ आदि और अन्त में एक ईश्वर ही है, माया यह बोच में ही लगी है, अतएव ईश्वर में ही पूर्ण भाव रखना चाहिए ॥ ३९ ॥

ऊपर यह शबल रजोगुण संक्षेप से बतलाया । अब, जिससे परमार्थ हो सकता है वह, शुद्ध रजोगुण है ॥ ४० ॥ उसके लक्षण सतोगुण में जान पड़ेंगे—वह रजोगुण पूर्णतया, भजन का मूल है ॥ ४१ ॥ आशा है कि अब श्रोता लोग रजोगुण का लक्षण समझ गये होंगे; अतएव, अब, आगे तमोगुण का वर्णन सुनना चाहिए ॥ ४२ ॥

छठवाँ समास—तमोगुण-निरूपण ।

॥ श्रीगम ॥

पिछने समास में क्रियायुक्त रजांगुण के लक्षण बतलाए; अब तमोगुण का वर्णन सुना वचन बतलाते हैं ॥१॥ ससार में दुःख का सम्बन्ध प्राप्त होते ही खद उठता है या अद्भुत क्रोध आता है तो वह तमोगुण का लक्षण है ॥ २ ॥ क्रोध अनन पर जो माता, पिता, बन्धु, बहिन आर स्त्री आदि का क्रोध भाँ विचार न करके ताड़ना करे तो इस तमोगुण का लक्षण समझो ॥ ३ ॥ क्रोध स बहोश होकर दूसरों के प्राण ले ले आर स्वयं अपने भी प्राण दे दे ना। इस तमोगुण जानो ॥ ४ ॥ क्रोध का सचार हाने पर जो पिशाच के समान घूमता है आर अनेक उपायों से भी न रुकता है तो इसे तमोगुण जना ॥ ५ ॥ आपह आप अपने को शस्त्र मार ले आर दूसरों का भी घात करे तो यह तमोगुण का लक्षण है ॥ ६ ॥ युद्ध देखने और रणांगण में जाने को इच्छा होना तमोगुण का लक्षण है ॥ ७ ॥ सदा भ्रान्ति में रहना, किया हुआ नश्य डिग जाना आर बहुत सोना तमोगुण है ॥ ८ ॥ मीठ आर कड़ुवा का भी विचार छोड़ कर बहुत खाना अथवा अत्यन्त सूढ़ हाने तमोगुण का चिन्ह है ॥९॥ किसीका कोई प्रेमो मर गया हो और उससे लिए याद वह जाव दे दे या आत्महत्या कर ले, तो यह तमोगुण है ॥१०॥ याद फोड़ा, चोटो और दूसरे बनेल जन्तुओं का वध करने में प्रीति हो आर अत्यन्त निदयो हो ता यह तमोगुण का लक्षण है ॥ ११ ॥ द्रव्य के लिए स्त्री, बालक, ब्राह्मण और गौ आदि को हत्या करता हो तो यह तमोगुण है ॥१२॥ किसी प्रकार का बाधा में आकर विष खा लेने को इच्छा हो या दूसरे को जान लेने को इच्छा हो ता यह तमोगुण है ॥१३॥ अन्तःकरण में कपट रख कर दूसरे का याद चपट (सत्यानाश) करे और सदा मस्त और उद्धट रहे तो तमोगुण है ॥ १४ ॥ लडाई-भगडे को इच्छा होना और मन में द्वेष रखना तमोगुण का लक्षण है ॥ १५ ॥ युद्ध देखने, युद्ध को वार्ता सुनने, स्वयं युद्ध द रके मरने अथवा मारने, आदि को इच्छा होना तमोगुण है ॥ १६ ॥ मत्सर में आकर भक्ति ताड़ना, मन्दिर गिराना, फले हुए वृक्ष ताड़ना तमोगुण का चिन्ह है ॥ १७ ॥ सत्कर्म न अच्छे लगते हों, नाना प्रकार के दोष अन्ध लगते हों, चित्त में पाप का भय न हो ता इसे तमोगुण जानो ॥ १८ ॥ ब्राह्मण का वृत्त बन्द करना, जावमात्र को दुःख देना और प्रमाद करना तमोगुण का लक्षण है ॥ १९ ॥ आग लगाकर, शस्त्र चलाकर, जहर देकर, अथवा अन्य भौतिक उपाय से, मत्सर के कारण, जाँवी का क्षय करना तमोगुण है ॥ २० ॥ दूसरे के दुख से संतोष हो,

निष्ठुरता अच्छी लगे और प्रपंच से घबडाना न हो तो यह तमोगुण का लक्षण है ॥ २१ ॥ दूसरों में लड़ाई लगा कर स्वयं तमाशा देखता हो और मन से कुबुद्धि का स्वीकार करता हो, तो यह तमोगुण है ॥ २२ ॥ वैभव पाकर जाँवों को कष्ट देता हो और मन में दया न आता हो तो यह तमोगुण-का लक्षण है ॥ २३ ॥

जिस भक्ति, भाव, मोक्ष, देव, आदि पर श्रद्धा न हो तथा वेद, शास्त्र, आदि किसी को भी आवश्यकता न हो वह तमोगुणी है ॥ २४ ॥ जो स्नान-संख्या आदि नित्य-नियम न करता हो तथा जो स्वधर्म से भ्रष्ट हो गया हो वह तमोगुणी है ॥ २५ ॥ जो जड़ माई, बाप और माता को बातें न कहता हो और शीघ्र काथित होकर निकल जाता हो वह तमोगुणी है

२६ ॥ जो आलसो ब्रत कर चुपके बैठे बैठे खाता हो और कोई बात ही

से न सूझतो हो वह तमोगुणी है ॥ २७ ॥ जिने चेटक विद्या का अभ्यास, ख्रि विद्या को हास और कुर्त लड़ने का शौक हो उसे भी तमोगुण-

ध्यान समझो ॥ २८ ॥ पाठ में छुट कर अंकड़ा लगाने, दहकते हुए लोगों के कुंड में पठने और काष्ठयंत्र से जीम छेदने आदि के मानगन, देव-गात्रों के लिए, करना तमोगुण का लक्षण है ॥ २९ ॥ खपर में विनौली

ला कर सिर पर रखना, मशाल से अपना शरीर जला लेना या स्वयं ख मार लेना, आदि दौंग करके देवता को प्रसन्न करना तमोगुण है

॥ ३० ॥ मस्तक कट कर चढ़ाना, अथवा इसी प्रकार को अन्य गोलों से अपना शरीर अर्पण करना या ऊँच पर से अपने को डाल कर मर जाना

और इस प्रकार देवता को प्रसन्न करना तमोगुण का लक्षण है ॥ ३१ ॥ नेग्रह से धरना रख कर बैठना या अपने को टाँग रखना या देवता के दर-गाजे पर जीव देना तमोगुण है ॥ ३२ ॥ निराहार व्रत करना, पंचाग्नि

गपना, धूम्रपान करना, अपने का जमोले में पूर लेना तमोगुण के लक्षण हैं ॥ ३३ ॥ अथवा और जो सकाम अनुष्ठान है उन्हें करना, वायु का रोक

रखना या देवता के नाम पर योंही पद रचना तमोगुण का लक्षण है ॥ ३४ ॥ तख और बाल बढ़ाना या हाथ हो ऊपर उठाये रहना या मूक व्रत लेना

तमोगुण है ॥ ३५ ॥ अनरु नेग्रह करके अग्नि को पीड़ा देवे, देहदुख से तड़फड़ावे और क्रोध से देवता फाँड डाले तो तमोगुण समझना चाहिए

॥ ३६ ॥ जो देवता का निन्दा करता है जो आराधन या अघारो है अथवा जो संत का संग नहीं करता वह तमोगुण-अध्याय पुरुष है ॥ ३७ ॥

अस्तु । यदि इस तमोगुण का पूरा पूरा धर्षण किया जाय तो बड़ा विस्तार हो जाय । अतएव त्याग के लिये, यहाँ कुछ थोड़ा इसका निरूपण

किया है ॥ ३८ ॥ यह तमोगुण पतन-ज्ञान का कारण, अर्थात् अयोगादि

देनेवाला है । इससे मोक्ष मिल नहीं सकता ॥ ३६ ॥ तमोगुण के अनुसार किये हुए कर्मों का फल बड़ा बुरा मिलता है । इससे जन्म-मृत्यु का मूल नहीं नाश होता ॥ ४० ॥ जन्म-मरण का चक्र नष्ट होने के लिए तो सत्वगुण ही चाहिए । अगले समास में उसों का निरूपण किया गया है ॥ ४१ ॥

सातवाँ समास—सतोगुण-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में दारुण-दुःखदायक तमोगुण का वर्णन किया; अब परम उत्तम सतोगुण का निरूपण हुनिये ॥ १ ॥ यह (सतोगुण) भजन का आधार है, योगियों का सहारा है और यही दुःखदायक संसार से पार करता है ॥ २ ॥ इससे उत्तम गति मिलती है, भगवान् से मिलने का मार्ग मलूम होता है और इसके द्वारा सायुज्य मुक्ति मिलती है ॥ ३ ॥ सतोगुण कर्मों का आधार है, संसारसागर से पार होने में इसका भरोसा है और इसी के द्वारा मोक्षलक्ष्मी मिलती है ॥ ४ ॥ यह परमार्थ का मंडन है, गहनों का भूषण है और इसी के द्वारा रजोगुण और तमोगुण का निरास होता है ॥ ५ ॥ यह परम सुखकारा अथवा आनन्द को लहर है । यही जन्म मृत्यु को निवारण करता है ॥ ६ ॥ सतोगुण से अज्ञान का अन्त होता है, पुण्य का प्रकाश होता है और परलोक का मार्ग मिलता है ॥ ७ ॥ यह गुण जब किसी मनुष्य में प्रकट होता है तब उसकी क्रिया के लक्षण इस प्रकार होते हैं—॥ ८ ॥

सतोगुण के कारण ईश्वर में प्रेम अधिक रहता है, प्रपंच का सम्पादन लौकिक समझ पड़ता है और विवेक सदा पास रहता है ॥ ९ ॥ सतोगुण संसार-दुःख भुला देता है, विमल भक्तिमार्ग दिखा देता है और भजन-भाव उपजाता है ॥ १० ॥ उसके द्वारा परमार्थ में प्रीति, भक्ति में प्रेम और परोपकार में मन लगता है ॥ ११ ॥ सतोगुण से मनुष्य स्नान, सन्ध्या, आदि कर्म करके पुण्यशील बनता है, और अन्तर्शुद्ध बन कर शरीर और वस्त्र आदि भी सुन्दर-उज्वल रखता है ॥ १२ ॥ वह यज्ञ करता है और लोगों से कराता है; वेदशास्त्र, आदि पढता है और पढ़ाता है; तथा दान पुण्य स्वयं करता और कराता है ॥ १३ ॥ सतोगुणी पुरुष का अध्यात्म-निरूपण में मन लगता है, हरिकथा अच्छी लगती है और वह सदाचरण

में प्रवृत्त होता है ॥ १४ ॥ सतोगुण से मनुष्य अश्वदान, गजदान, गोदान भूमिदान और नाना रत्नों का दान करता है ॥ १५ ॥ धनदान, घस्रदान, अन्नदान, उदकदान और ब्राह्मणसंतर्पण करना है ॥ १६ ॥ कार्तिकस्नान, माघस्नान, व्रत, उद्यापन, दान, तीर्थ और उपवास, वह निष्काम-कामना-रहित-होकर करता है ॥ १७ ॥ सहस्रभोजन, लक्षभोजन, अनेक प्रकार के दान जो निष्काम करना हो वह तो सत्वगुणों है और जो कामना से करता हो वह रजोगुणों है ॥ १८ ॥ तीर्थों में जो भूमिदान करता हो, बावड़ों और सरोवर (तालाब) बांधता हो; मन्दिर और शिखर बनाता हो वह सत्वगुणों है ॥ १९ ॥ जो देवस्थान में, रहने के लिए स्थान, सोढियां, दीप-माला, तुलसी और पीपल आदि के लिये चबूतरा बनवाता हो वह सत्वगुणों है ॥ २० ॥ वन, उपवन, पुष्पवाटिका, कुर्च, तालाब आदि बनवावे और तपस्वियों के मन संतुष्ट करे वह सत्वगुणों है ॥ २१ ॥ जो संख्यामठ, झुंहर, नदी के तीर में सोढियां और देवस्थानों में भांडारगृह स्थापित करे वह सत्वगुणों है ॥ २२ ॥ अनेक देवस्थानों में जो नंदादीप लगाता हो, अलंकार आभूषण रखता हो वह सत्वगुणों है ॥ २३ ॥ घड़ेयाल, मुदंग, फरताल, ताश, नगाडे, काहल (एक चर्मवाद्य) आदि सुस्वर वाद्य जो मन्दिरों में रखता हो वह सत्वगुणों है ॥ २४ ॥ इसके सिवाय अनेक प्रकार की अन्य सुन्दर सामग्रि जो मनुष्य मन्दिरों में रखता हो तथा जो स्वयं हरिमजन में तत्पर रहता हो वह सात्त्विकों है ॥ २५ ॥ छत्र, सुख-आसन, लम्बूरा, पताका, निशान, चामर, सूर्यपान आदि वस्तुएं जो पुरुष देवालियों में दान करता हो वह सत्वगुणों है ॥ २६ ॥ जो वृन्दावन,* तुलसीधन लगाने, रंगमाला बनाने और सम्मार्जन आदि करने में बहुत प्रीति रखता हो वह सत्वगुणों है ॥ २७ ॥ जो भांति भांति का पूजा का सुन्दर सामान और अण्डप, चान्दनी, आसन आदि देवालय में समर्पण करता हो वह सतोगुणों पुरुष है ॥ २८ ॥ जो देवता के लिए नाना प्रकार के भोजनों को नैवेद्य लगावे और त.जे अपूर्व फल अर्पण करे वह सत्वगुणों है ॥ २९ ॥ जो देवस्थान में भक्तिपूर्वक नीच सेवा भी करता हो-जो स्वयं देवद्वार भाड़ता हो वह सत्वगुणों है ॥ ३० ॥ पर्व-तिथियों और महोत्सवों में जो उत्साह दिखलाता हो और जिसने तन, मन, वचन आदि सब परमात्मा को अर्पण कर दिया हो वह सत्वगुणों है ॥ ३१ ॥ जो हारिकथा में तत्पर रहकर चन्दन, आला, धूसर, अर्थात् बुक्का या सुगन्धित धूल, लिये हुए सदा खड़ा रहता हो वह सत्वगुणों है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार नर अथवा नारी यथाशक्ति सामग्री लेकर देवस्थान में खड़ी हो तो यह सत्वगुण का लक्षण है ॥ ३३ ॥ जो अपना महत्व का काम छोड़ कर देव के निकट शत्रु हो आवे और श्रुतःकरण में भक्ति रखता हो वह सत्वगुणी है ॥ ३४ ॥ बडपन को छोड़ कर और नोच कृत्य अंगोकार करके जो देवता के द्वार पर खड़ा रहत, हो वह सत्वगुणी है ॥ ३५ ॥ जो देवता के लिए उपवास करता हो, ताम्बूल आदि न खाता हो; और जो नित्य नियम, जप, ध्यान आदि करता हो वह सत्वगुणी है ॥ ३६ ॥ फठोर वचन किसी से न बोलता हो, बहुत नियम से चलता हो और जिसने यांगियों को संतुष्ट किया हो वह सत्वगुणी है ॥ ३७ ॥ अभिमान छोड़ कर भगवान् का कीर्तन* निष्कामता से करता हो; और कीर्तन करते समय भक्ति-प्रेम के कारण जिसके स्वर और रोमांच उठ आते हो वह सत्वगुणी है ॥ ३८ ॥ हृदय में ईश्वर का ध्यान करने से जिसके नेत्र अभ्युप्य हो जाते हो और देहमान न रहता हो वह सत्वगुणी है ॥ ३९ ॥ जिसे हरिकथा से बहुत प्रीति हो, उससे कभी घबड़ाता न हो और आदि से अन्त तक प्रेम बढ़ता ही जाता हो वह सत्वगुणी है ॥ ४० ॥ धूल से परमात्मा के नाम लेता हुआ और हाथ से करताल बजाता हुआ जो नाचा हो और बिरुदावली गाता हो तथा साधुजनों के पैरों की धूल लेकर मस्तक में लगाता हो वह सत्वगुणी है ॥ ४१ ॥ जिसका देहाभिमान छूट गया हो, विषयों से प्रबल वैराग्य हो गया हो और जिसे माया मिथ्या मान पड़ती हो वह सत्वगुणी है ॥ ४२ ॥ जिसके मन में यह आता हो कि संसार में फँसने से क्या लाभ है—उसले मुक्त होने का कुछ उपाय करना चाहिए वह सात्विको है ॥ ४३ ॥ संसार से मन घबड़ाता हो और मन में वैसा ज्ञान उठता हो कि कुछ भजन करें तो इसे सत्वगुण का लक्षण समझो ॥ ४४ ॥ जो अपने आश्रम में रहते हुए आते आदर से नित्य नियम करता हो और सदा राम में प्रीति रखता हो वह सत्वगुणी है ॥ ४५ ॥ सम्पूर्ण विषयों से घृणा हाँगी हो—और केवल परमार्थ में जिसका मन लगा हो; संकट आने पर जिसे धैर्य आता हो वह सत्वगुणी है ॥ ४६ ॥ सदा बुदासोन रहता हो, नाना प्रकार के भांगों से जिसका मन छूटता हो और

* महाराष्ट्र प्रान्त में, लोगों को मनुपदेश देने के लिए, 'कीर्तन' करने की प्रणाली बहुत प्राचीन काल से चली आती है। कीर्तनकार धार्मिक और नैतिक पदों का सुस्वर गान करके जन पर व्याख्यान देने हैं। मृदंग, तम्बूरा, करताल आदि साज भी इन लोगों के साथ रहते हैं। कीर्तनकार को उस प्रान्त में 'हरिदास' कहते हैं। बहुत से हरिदास व्यवसाय की दृष्टि से, और कोई कोई निष्काम हाँकर, सारे प्रान्त में कीर्तन-द्वारा उपदेश करते रहते हैं। कीर्तन प्रायः देवाल्यों में होता है।

भगवद्भजन में जिसका मन लगता हो वह सत्वगुणी है ॥ ४७ ॥ सांसारिक पदार्थों में मन न लगता हो और दृढ भाक्त के साथ भगवान् को याद करता हो—वह सत्वगुणी है ॥ ४८ ॥ चाह लग उसे नाना प्रकार का दोष भी लगता हो, तौभो वह उन पर अधिक प्रेम करता हो और जिसके अन्तःकरण में परमार्थ का निश्चय समा गया हो वह सत्वगुणी है ॥ ४९ ॥ जिसके अन्तःकरण में “ मैं कौन हूँ ”—यह स्रुति उठती हो और जो अपने सत्वस्वरूप का चिन्तन करता हो तदा बुरे सन्देहों का निवारण करता हो वह सत्वगुणी है ॥ ५० ॥ जिसके अन्तःकरण में यह इच्छा होती हो कि शरीर को कुछ सार्थकता करे वह सत्वगुणी है ॥ ५१ ॥ जिसमें शान्ति, क्षमा, दया और निश्चय उपजें; जान लो कि, उसके अन्तःकरण में सत्वगुण आ गया ॥ ५२ ॥ आतिथे-अभ्यागत आ जाने पर जो उस भूखा नहीं जाने देता और यथाशक्ति दान देता है वह सत्वगुणी है ॥ ५३ ॥ यदि कोई दान भिक्षुक आश्रय के लिए अपने पास आवे तो उन्हें स्थान देना सत्वगुण का लक्षण है ॥ ५४ ॥ घर में अन्न को कमो होने पर भी जो दान-दुःखियों को कभी विमुख नहीं जाने देता और शक्ते के अनुसार सदा देता है वह सत्वगुणी है ॥ ५५ ॥ जिसने रसना जोत ली हो जिसकी वासना तृप्त हो और जिसे कामना न हो वह सत्वगुणी है ॥ ५६ ॥ जो कुछ होनेवाला है वह होता जाता है और सांसारिक संकट भी अन्त जाते हैं; तथापि जिसका चित्त ईश्वर की ओर से नहीं हटता वह सत्वगुणी है ॥ ५७ ॥ केवल भगवान् के लिए जिसने सब सुख छोड़ दिये हो और देह को कुछ न समझता हो वह सत्वगुणी है ॥ ५८ ॥ विषय को और वासना दौड़ती हो, परन्तु वह कभी न डिगता हो और जिसका धोरज अचल हो वह सत्वगुणी है ॥ ५९ ॥ आपदाओं से देह पोंदित होगया हो और भूब व्यास के मारे कुम्हला गया हो, तौभो जिसका निश्चय अटल रहा हो, वह सत्वगुणी है ॥ ६० ॥ श्रवण, मनन और निदेध्यास से जिसे समाधान हुआ हो और शुद्ध आत्मज्ञान जिसे हुआ हो वह सत्वगुणी है ॥ ६१ ॥ जिसे अहंकार न हो; जिसमें नैराश्य विलसता हो और जिसमें कृपा धसती हो वह सत्वगुणी है ॥ ६२ ॥ सब से नम्रता के साथ बलता हो; मर्यादा के साथ चलता हो और जिसने सब जनों को सतुष्ट किया हो वह सत्वगुणी है ॥ ६३ ॥ जो सब लोगों का मित्र हो, जो विरोध किसोसे न रखता हो; जिसने परांपकार के लिए जीवन अर्पण कर दिया हो वह सत्वगुणी है ॥ ६४ ॥ अपने कार्य को अपेक्षा दूसरे का कार्य जो आधिक जो लगा कर सिद्ध करता हो और मरने के पीछे अपनी कीर्ति छोड़ जाता हो वह सत्वगुणी है ॥ ६५ ॥ दूसरे क गुणदोष मन में न रक्वता हो, अर्थात् जैसे सद्-मे कोई वस्तु डालने से वह बहर फँक देता है उसी

प्रकार दूसरे के गुणदोष सुन कर मन में न रखता हो वह सत्वगुणो है ॥ ६६ ॥ नीच वचन सहना, उनका उत्तर न देना और आये हुए क्रोध को सम्हालना सत्वगुण का लक्षण है ॥ ६७ ॥ यदि कोई अपराध के बिना सताता हो और नाना दुःख देता हो तो वह भी मन हो में रखता हो वह सत्वगुणो है ॥ ६८ ॥ परापकार के लिए शारीरिक कष्ट सहना, दुजनों से भी बुरा वर्ताव न करना और निन्दा करनेवाले का भी उपकार करना सत्वगुण का लक्षण है ॥ ६९ ॥ यदि इधर उधर मन जाय तो विवेक से उसे रोक और इन्द्रियों को दमन कर तो यह सत्वगुण का लक्षण है ॥ ७० ॥ उत्तम कर्मों का आचरण कर, बुरे कर्मों का त्याग कर और भक्ति-मार्ग पर चलें तो यह सत्वगुण का लक्षण है ॥ ७१ ॥ जिसे प्रातःस्नान और पुराण-ध्वज सुचता हो और जो नाना मंत्रों से देवता का अर्चन करता हो वह सत्वगुणो है ॥ ७२ ॥ पर्वकाल आने पर और पूजा के समय जो उत्सव करता हो तथा जयन्तियों से जिसे बहुत प्रीति हो वह सत्वगुणो है ॥ ७३ ॥ विदेश में मरे हुए लोगों का संस्कार करना अथवा स्वयं वहाँ जाकर उपस्थित होना सत्वगुण का लक्षण है ॥ ७४ ॥ कोई किसी को यदि मारता हो तो उसे जाकर बचावे और जो जाँव को बन्धन से छुड़ावे वह सत्वगुणो है ॥ ७५ ॥ जो शिवार्चन करता हो, लाखों बेलपत्तियाँ चढाता हो, अभिषेक करता हो, नामस्मरण में जिसका विश्वास हो, देवता के दर्शन करने के समय जो स्तिर-चेत (स्वस्थ) हो वह सत्वगुणो है ॥ ७६ ॥ संत को देख कर जिसे परम सुख होता हो और आगे बढ़ कर जो उसे सर्वताभाव से नमस्कार करता हो वह सत्वगुणो पुरुष है ॥ ७७ ॥ जिस पर संतरूपा होता है वह वंश का उद्धार करता है, ऐसा हो सत्वगुणो पुरुष ईश्वर का अंश है ॥ ७८ ॥ जो लोगों को सन्मार्ग दिखाता हो, जो उन्हें हारे-भजन में लगाता हो और अज्ञानियों का ज्ञान सिखाता हो वह सत्वगुणो है ॥ ७९ ॥ जिस पुण्य-संस्कार, प्रदक्षिणा, और नमस्कार प्यारी हो और जिसे बहुत सों उत्तम बातें याद हों वह सत्वगुणो है ॥ ८० ॥ जो भक्ति के विषय में बड़ा उत्साहो हो, जो पुस्तकें, आदि संग्रह करता हो, और धातु-मूर्तियों को नाना प्रकार से जो पूजा करता हो वह सत्वगुणो है ॥ ८१ ॥ स्वच्छ पूजा को सामग्री, माला, चटन, आसन, पवित्र और उज्वल वसन आदि एकत्र करना सत्वगुण का लक्षण है ॥ ८२ ॥ दूसरे को पीडा से दुःख होता हो, दूसरे के सन्तोष पर सुख मानता हो और धर्मग्रन्थ देख कर दर्प मानता हो वह सत्वगुणो है ॥ ८३ ॥ जो दूसरे को शोभा से अपना शोभा और दूसरे के दुःख से अपना दुःख मानता हो और दूसरे के दुःख में जिसे दुःख होता हो वह सत्वगुणो है ॥ ८४ ॥

सारांश, निष्काम होकर परमात्मा का भजन और धर्मकार्य करना सतो-
गुण का मुख्य लक्षण है ॥ ८५ ॥ सतोगुण ही संसार-सागर से पार
करनेवाला है और इसीसे ज्ञानमार्ग का विवेक उपजता है ॥ ८६ ॥ सत्व-
गुण से भगवान् को भाक्ते, ज्ञान को प्राप्ति और सायुज्यपुक्ति हेतु है
॥ ८७ ॥ यहाँ तक सतोगुण का संक्षेप वृत्तान्त, अपनी बुद्धि के अनु-
सार, बतलाया । अब श्रेयता लोग वृत्तपूर्वक आगे का वर्णन ध्यान देकर
होने ॥ ८८ ॥

आठवाँ समास-सद्धिद्या-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

सद्धिद्या के लक्षण सुनो । ये लक्षण परम शुद्ध हैं । इनका विचार करने
से आपही आप मनुष्य सद्धिद्यावान् हो जाता है ॥ १ ॥ सद्धिद्यावाले पुरुष
में उत्तम लक्षण विशेष होते हैं । ऐसे पुरुष के गुण सुन कर परम संतोष
होता है ॥ २ ॥ वह पुरुष भाविक, सात्विक, प्रेमो, शान्तिशील, क्षमाशाल,
दयाशील, शालीन, सत्वमों में तत्पर, और अमृतवचनी होता है ॥ ३ ॥
सद्धिद्यावान् पुरुष परम सुन्दर होते हुए चतुर, बहुत बलवान् होकर धीर,
परम धनवान् होकर उदार होते हैं ॥ ४ ॥ वे परम ज्ञाता और भक्त, महा-
पंडित और विरक्त, महातपस्वी और शान्त होते हैं ॥ ५ ॥ वे वक्ता और
नैराश्ययुक्त होते हैं, सर्वज्ञ होकर भी सद्ग्रन्थों का आदरयुक्त श्रवण करते
हैं तथा श्रेष्ठ होकर भी सब से नम्रता करते हैं ॥ ६ ॥ वे राजा होकर धार्मिक,
शूर होकर विवेकी और तरुण होकर भी नियम से चलते हैं ॥ ७ ॥ वे बड़ों
के बतये हुए मार्ग पर चलनेवाले, कुलाचार के अनुसार चलनेवाले, युक्त,
(अर्थात् ठोक) भोजन करनेवाले, विकाररहित, वैद्य होकर भी परेकारी
और पद्महस्ती, अर्थात् यशस्वी होते हैं ॥ ८ ॥ वे काम करनेवाले होकर
भी निरभिमानी होते हैं, गायक और विष्णुभक्त होते हैं, तथा वैभव होने
पर भी भगवद्भजन का बहुत आदर करते हैं ॥ ९ ॥ वे तत्ववेत्ता होकर भी
उदासीन होते हैं; बहुश्रुत होते हुए भी सज्जन होते हैं; वे मंत्री होकर भी
गुणवान् और नोतिवान् होते हैं ॥ १० ॥ सद्धिद्यावाले पुरुष साधु, पवित्र
और पुण्यवान् होते हैं, अन्तशुद्ध, धर्मात्मा और कृपालु होते हैं-वे कर्म में
निष्ठा रखनेवाले, स्वधर्मचरण में निर्मल और निर्लोभ होते हैं; तथा भूल
से यदि कोई अनिष्ट काम उनके हाथ से हो जाता है तो उसे पर-पश्चा-

स्थाप करते रहते हैं ॥ ११ ॥ परमार्थ-प्रीति, सन्मार्ग, सन्क्रिया, धारणा, धृति, श्रुति, स्मृति, लीला (Grace), युक्ति, सृष्टि, माते, परीक्षा, आदि उत्तम बातों में साद्विद्यावान् पुरुष को रुचि होती है ॥ १२ ॥ साद्विद्यावान् पुरुष दक्ष, धूर्त, अयोन् सम्य (Gallant), योम्य, तार्किक, सत्यवान्, साहित्यवान्, नियम करनेवाले, भेद जाननेवाले, कुशल, चपल, चमत्कारिक होता है ॥ १३ ॥ जो आदर, सन्मान, तारतम्य, अर्थान् मर्यादा या परम्परा, प्रयोग, समय, प्रसंग और कायकारण के चिन्ह जानता हो और विचक्षण बोलनेवाला हो वह साद्विद्यावान् है ॥ १४ ॥ जो सावधान, उद्योगी, और साधक हो, वदों और शास्त्रों पर व्याख्यान करनेवाला हो और निश्चयात्मक ज्ञान-विज्ञान का बोध करनेवाला हो वह साद्विद्यावान् है ॥ १५ ॥ जो पुरस्कार करनेवाला है, तोषवासो, दृढ़व्रतो और काया को क्लेश देनेवाला है और जो उपासना करनेवाला और निग्रही है वह साद्विद्यावान् है ॥ १६ ॥ जो सदा सत्य, शुभ, कोमल वचन बोलता हो, निश्चय और सुख के वचन बोलता हो तथा एकबार कह कर बदलता न हो वह साद्विद्यावाला पुरुष है ॥ १७ ॥ जो पुरुष वासना संतुप्त, गंभीर और योगी है; जो भक्त, सुप्रसन्न और वीतरागी है, जो सौम्य, सात्विक, शुद्धमार्गी, निष्कपट, और निर्व्यसनी है वह साद्विद्यावान् है ॥ १८ ॥ जो चतुर, व्यवस्थित, गुणग्राही, अपेक्षा न रखनेवाला और मनुष्यों का संग्रह करनेवाला है तथा जो सब प्राणियों से विनतो और मित्रता करनेवाला है वह साद्विद्यावान् है ॥ १९ ॥ जो पुरुष धन्य से, खो से, न्याय से, अन्तःकरण से, प्रवृत्ति से, निवृत्ति से और सब से, निःसंग और शुचि हो वह पुरुष साद्विद्यावाला है ॥ २० ॥ जो मित्रता के साथ दूसरे का हित करता है, मधुर वचन कह कर दूसरे का शोक हरता है, जो सामर्थ्य के साथ रक्षा करता है और पुरुषार्थ के साथ जगन् का मित्र है वह सुविद्यावान् है ॥ २१ ॥ जो संशय मिटानेवाला है, विशाल वक्ता है और सब शंकाओं का समाधान करने में चतुर होकर भी श्रोता है, और जो कथा-निरूपण में शब्दार्थ कभी नहीं छोड़ता वह सुविद्यावान् है ॥ २२ ॥ जो विवाद न करते हुए संवाद करता है; जो संग्रहित, निरुपाधि, है, जो दुराशय-हेतु, अक्रोध, निर्दोष और मत्सर न करनेवाला है वह सुविद्यावान् है ॥ २३ ॥ जो विमल ज्ञानी है, निश्चयात्मक है, जो समाधान रखनेवाला है, जो भजन करनेवाला है और जो सिद्ध होकर भी साधक है तथा साधन की रक्षा करता है वह साद्विद्यावाला है ॥ २४ ॥ जो सुखरूप है; संतोषरूप है; आनन्दरूप है; हास्यरूप है, और जो ऐक्यरूप है तथा सब का आत्मरूप समझता है वह साद्विद्यावाला पुरुष है ॥ २५ ॥ जो भाव्यवान् है; विजयी है; रूपवान् है; गुणवान् है; आचारवान् है; क्रिया-

वान् है; विचारवान् है, स्थिर (स्थिरचित्त) है वही सुविद्यावाला पुरुष है ॥ २६ ॥ जो यशवान्, कर्तित्वान्, शक्तिवान्, सामर्थ्यवान्, वार्यवान्, वर पाया हुआ, सत्यवान् और सुकृतो हो वह सुविद्यावाला है ॥ २७ ॥ जो मनुष्य विद्यावान्, कलावान्, लक्ष्मीवान्, लक्षणवान्, कुलवान्, शुचिवान्, बलवान् और दयावान् हो उसे सुविद्यावाला समझो ॥ २८ ॥ जो युक्तिवान्, गुणवान्, श्रेष्ठ, बुद्धिवान्, बहुत धर्मवान्, दांतावान्, सदा सन्तुष्ट, निस्पृह और वीतरागो हो वह साद्विद्यावाला पुरुष है ॥ २९ ॥

अस्तु । ऐसे उत्तम गुण होना साद्विद्या का लक्षण है । इन गुणों का अभ्यास करना चाहिए; इसी लिए यहां बतलायें हैं ॥ ३० ॥ रूप और सुन्दरता का अभ्यास नहीं किया जा सकता—इस लिए ऐसे प्राकृतिक गुणों के लिए कोई उपाय नहीं चलता । तब आगन्तुक, अर्थात् आ जाने वाले, गुणों को पाने के लिए अशक्य कुछ न कुछ उपाय करना चाहिए ॥ ३१ ॥ यों तो साद्विद्या बहुत अच्छी बात है; यह सब के पास होनी ही चाहिए; परन्तु विरक्त पुरुष के लिए इसके अभ्यास की बड़ी आवश्यकता है ॥ ३२ ॥

नववाँ समास-विरक्त-लक्षण ।

॥ श्रीगम ॥

अब विरक्तों के लक्षण सुनो । विरक्तों में कौन गुण हों कि जिनसे उनके शरीर में योगियों का भी सामर्थ्य आ जाय ? ॥ १ ॥ ऐसे कौन गुण हों कि जिनसे विरक्तों को सत्कर्तों बड़े, साथरूना हां और उनको माहिमा बड़े ? ॥ २ ॥ ऐसे कौन गुण विरक्त में हों कि जिनसे परमार्थ सिद्ध हो, जिनसे आनन्द को लहरें हिलोढ़ें और जिनसे विवकयुक्त वंराग्य को वृद्धि हो ? ॥ ३ ॥ ऐसे कौन गुण हों, जिनसे सुख उमड़े, जिनसे सद्विद्या प्रसन्न हो और जिनके द्वारा मोक्षसहित भाग्य-लक्ष्मी प्रबल हो ? ॥ ४ ॥ वे ऐसे कौन गुण हों कि जिनसे विरक्तों के मनोरथ पूर्ण हों, सकल कामनाएं पूर्ण होती हैं और मगुर बोलने के लिए सरस्वता मुख में वास करती है ? ॥ ५ ॥ वे गुण सुनिये और दृढ़ता के साथ जा में धारिये । तब फिर आप भूमंडल में विख्यात होंगे ॥ ६ ॥ विरक्त विवकां हों, विरक्त लोग अभ्यात्म-विद्या का प्रचार करें और शत्रुय-दमन करने में वे धैर्य अथवा दृढ़ता दिख-

लावें ॥ ७ ॥ विरक्त लोग साधन-मार्ग को रक्षा करें, लोगों को भजन में
 लगावें और विशेषतः ब्रह्मज्ञान प्रगट करें ॥ ८ ॥ विरक्त पुरुष को भक्ति
 घढाना चाहिए, शान्ति दिखाना चाहिए और अपनी विरक्ति यत्न से करना
 चाहिए ॥ ९ ॥ विरक्तों को सात्त्विकता को प्रतीष्टा करना चाहिए, निवृत्ति
 का विस्तार करना चाहिए और जो में नैराश्य, दृढता के साथ, धरना
 चाहिए ॥ १० ॥ विरक्त को धर्म-स्थापना करना चाहिए, विरक्त को नीति
 का अवलम्बन करना चाहिए, विरक्त को अति आदरपूर्वक क्षमा सँभा-
 लना चाहिए ॥ ११ ॥ विरक्त को परमार्थ प्रकाशित करना चाहिए, उसे
 विचार का शोध करना चाहिए और सन्मार्ग तथा सत्त्वगुण अपने पास
 रखना चाहिए ॥ १२ ॥ विरक्तों को चाहिए कि भाविकों का सँभाल, प्रेमों
 पुरुषों को संतुष्ट करें और शरण में आनेवाले भलेभाले लोगों को उपेक्षा
 न करें ॥ १३ ॥ विरक्तों का परम दक्ष होना चाहिए, विरक्तों को अन्त-
 र्साक्ष, (अर्थात् अन्तःकरण का साक्ष देनेवाला) होना चाहिए और
 विरक्तों को परमार्थ का पक्ष लेना चाहिए ॥ १४ ॥ विरक्त को अभ्यास
 करना चाहिए, उद्योग करना चाहिए, और वचतृत्व के द्वारा टूटा हुआ पर-
 मार्थ फिर से खड़ा करना चाहिए ॥ १५ ॥ विरक्तों को चाहिए कि विमलज्ञान
 का उपदेश करें, वैराग्य को प्रशंसा करते रहें और निश्चयात्मक समाधान
 करें ॥ १६ ॥ बहुतसों पर्वतधियों का उत्सव करना चाहिए, भक्तों के मेले
 जागो रखना चाहिए और अडचनों को परवान करके, बड़े उत्साह के साथ,
 उपासना-मार्ग का प्रचार करना चाहिए ॥ १७ ॥ हरिकोर्तन करना चाहिए,
 अध्यात्म-निरूपण का प्रचार करना चाहिए और निन्दा करनेवाले दुष्टों को
 भक्तिमार्ग से लजाना चाहिए ॥ १८ ॥ बहुतों का उपकार करना चाहिए,
 भलेपन का जं,र्णोद्धार करना चाहिए और बलपूर्वक पुण्य-मार्ग का विस्तार
 करना चाहिए ॥ १९ ॥ विरक्तों को स्नान, संध्या, जप, ध्यान, तीर्थयात्रा,
 भगवद्भजन, नित्य-नियम करना चाहिए और ऊपर से पवित्रता के साथ,
 तथा अन्तःकरण से भी शुद्ध रहना चाहिए ॥ २० ॥ दृढ़ निश्चय धारण करना
 चाहिए, संसार को सुखपूर्ण करना चाहिए और अपने सत्संग से लोगों का
 उद्धार करना चाहिए ॥ २१ ॥ विरक्तों को धीर, उदार और निरूपण में
 तत्पर रहना चाहिए ॥ २२ ॥ विरक्तों को सावधान रहना चाहिए, शुद्ध
 मार्ग से जाना चाहिए और अपने जीवन को परोपकार में खर्च करके कीर्ति-
 रूप से जीवित रहना चाहिए ॥ २३ ॥ विरक्तों को चाहिए कि वे विरक्तों
 का पता लगावें, साधुओं को पहचानें और सन्त, योगी तथा सज्जनों को
 अपना मित्र बनावें ॥ २४ ॥ विरक्तों को चाहिए कि पुरश्चरण करें, तीर्थाटन
 करें और नाना प्रकार के स्वार्थों को परम रमणीय बनावें ॥ २५ ॥ विरक्तों

को सांसारिक सत्कर्मों में शामिल होना चाहिए; परन्तु उर
 चाहिए-अर्थात् उन कर्मों में लिप्त न होना चाहिए, और किसी
 दुराशा न जमने देना चाहिए ॥ २६ ॥ विरक्तों को चाहिए कि
 रहें, क्रियाभ्रष्ट न हों और पराधीनता में पड़कर ओछे न बनें ॥ २७ ॥ विरक्त
 को समय जानना चाहिए, प्रसंग परखना चाहिए और उसे सब प्रकार चतुर
 होना चाहिए ॥ २८ ॥ विरक्त को एकदेशीय (पारोमेत ज्ञानवाला) न होना
 चाहिए; उसे सब बातों का अभ्यास करना चाहिए; और जो कुछ जानना
 हो पूरा पूरा जानना चाहिए ॥ २९ ॥ हरिकथा, अध्यात्म-निरूपण, सगुण-भजन,
 ब्रह्मज्ञान, पिंडज्ञान, तत्वज्ञान, आदि सब कुछ विरक्त को जानना चाहिए ॥ ३० ॥
 कर्ममार्ग, उपासना-मार्ग, ज्ञान-मार्ग, सिद्धान्त-मार्ग, प्रवृत्तिमार्ग, और निवृत्ति-
 मार्ग आदि सब जानना चाहिए ॥ ३१ ॥ प्रेम को स्थिति, उदास-दशा, योगस्थिति,
 ध्यानस्थिति, विदेहदशा, सहजस्थिति आदि सब बातें विरक्त को जानना
 चाहिए ॥ ३२ ॥ ध्वनि, लक्ष्म, घुंटा, आसन, मंत्र, यंत्र, विधि, विधान और
 अनेक मतों का मर्म विरक्त को जान लेना चाहिए ॥ ३३ ॥ विरक्तों को
 संसार-भर का मित्र होना चाहिए, उनको स्वतंत्र रहना चाहिए, तथा विचित्र
 और बहुगुणी होना चाहिए ॥ ३४ ॥ विरक्तों को विरक्त रहना चाहिए;
 विरक्तों को हरिभक्त होना चाहिए और विरक्तों को, आलस रह कर, नित्य-
 मुक्त बनना चाहिए ॥ ३५ ॥ विरक्तों को शास्त्रों का मथन करना चाहिए;
 नाना प्रकार के पाखंड-मतों का खंडन करना चाहिए और मुमुक्षुओं, अर्थात्
 मुक्ति चाहनेवालों, को शुद्धमार्ग में लगाना चाहिए ॥ ३६ ॥ विरक्तों को
 चाहिए कि शुद्धमार्ग बतलावें, संशय मिटावें और मनुष्यमात्र को अपना
 बना लें ॥ ३७ ॥ विरक्त लोग निन्दा करनेवालों को वन्दना करें, साधकों
 का प्रबोध करें और बद्ध जनों को मोक्ष-ज्ञान बतलाकर जागृत करें ॥ ३८ ॥
 विरक्तों को चाहिए कि उत्तम गुण ले लें, अवगुण छोड़ दें और विवेक-बल
 से नाना प्रकार के अपाय या विघ्न दूर करें ॥ ३९ ॥

इन उत्तम लक्षणों को एकाग्र मन से सुनना चाहिए और, विरक्त पुरुषों
 को इनकी अवहलना न करना चाहिए ॥ ४० ॥ ये उपर्युक्त लक्षण मीन सहज
 स्वभाव ही से बतला दिए हैं । इनमें से जितने हो सकें, ग्रहण कर लेना
 चाहिए । बहुत बतला दिए, इससे श्रोतागणों को उदास न होना चाहिए
 ॥ ४१ ॥ परन्तु इस प्रकार के सुलक्षण न लेने से कुलक्षणता आ जाती है
 और पढतमूर्खता आने का डर रहता है ॥ ४२ ॥ अतएव, पढतमूर्ख के
 लक्षण भी अगले समास में कहे गये हैं । सावधान होकर सुनिए ॥ ४३ ॥

दसवाँ समाम-पदतमूर्ख के लक्षण ।

॥ श्रीगम ॥

पिछले समाल में घे लक्षण बताये गये कि जिनके ग्रहण करने से मूर्खों में भी चतुरता आती है । अब, उनके लक्षण हुआ जो चतुर कहलाते हुए भी मूर्ख हैं ॥ १ ॥ ऐसे लोगों को पदतमूर्ख कहते हैं । उनके लक्षण सुन कर आतागण दुःख न मानें, क्योंकि अधगुण छोड़ने से सुख मिलता है ! ॥ २ ॥ जो बहुश्रुत और बुद्धिमान् होकर स्पष्ट ब्रह्मज्ञान बतलाता है और फिर भी दुराशा और अभिमान रखता है वह एक पदतमूर्ख है ॥ ३ ॥ मुक्तावस्था को क्रिया का प्रतीपादन करत हुए जो सगुण भावों को भेटना चाहता है और स्वयं तथा साधनों को निन्दा करता है वह एक पदतमूर्ख है ॥ ४ ॥ अपन ज्ञातापन से जो सब को दोष लगाता है और सब के छिद्र छूँदता है वह एक पदतमूर्ख है ॥ ५ ॥ शिष्य से यदि कांहे अवज्ञा हो जाय या वह सकट में पड जाय तो जो पुरुष दुर्बचन कह कर उसका मन और भी दुःखो करता है वह भी एक पदतमूर्ख है ॥ ६ ॥ जो रजोगुणी हो, तमोगुणी हो, कपटा हो और अन्तःकरण का कुटिल हो, तथा जो वैभव देख कर बखान करता हो वह पदतमूर्ख है ॥ ७ ॥ सगुण ग्रन्थ बिना देखे जा व्यर्थ के लिए दूषण लगाता है और गुणों को भी जो अधगुण की दृष्टि से देखता है वह एक पदतमूर्ख है ॥ ८ ॥ सब लक्षणों को सुन कर जो बुरा मानता हो, मत्सर से खटपट करता हो और जो नीतेन्याय के बर्ताव में उद्धट हो वह एक पदतमूर्ख है ॥ ९ ॥ जो ज्ञातापन के अभिमान का हठ करता है, अपना काध जो नहीं रोकता और जिसकी क्रिया और शब्द में अंतर है (अर्थात् कहता कुछ और है, करता कुछ और है), वह एक पदतमूर्ख है ॥ १० ॥ बिना अधिकार, वक्ता बन कर जो वक्तृता देने का परिश्रम करता है और जो कठोर वचन बोलता है वह एक पदतमूर्ख है ॥ ११ ॥ जो श्रोता अपन बहुश्रुतगन से, और वाचालता के गुण से, वक्ता में हीनता बतलाव वह एक पदतमूर्ख है ॥ १२ ॥ दूसरों को तो दोष लगाता है; पर जिस यह नहीं मालूम है कि वहाँ दोष स्वयं हममें भी हैं वह एक पदतमूर्ख है ॥ १३ ॥ अभ्यास करके सब विधायं तो जान ली हैं; पर लोगों को संतुष्ट करना, नहीं जानता, वह एक पदतमूर्ख है ॥ १४ ॥ जिस प्रकार हाथो-स्पर्श-सुख के कारण जाल में फँसता है और लम्बरस के लोभ से भौरा जैसे कांटों में फँस कर मरता है उसी प्रकार जो जानबूझ कर प्रपंच में फँसा हुआ है वह पदतमूर्ख है ॥ १५ ॥ जो

स्त्रियों का साथ करता हो, उनसे अध्यात्म-निरूपण या ब्रह्मज्ञान की बातें करता हो (!) और जो निन्दनीय वस्तु का अंगीकार करता हो वह भी पढ़तमूर्ख है ॥ १६ ॥ जिससे शरार में होना आता हो वही बात जो पढ़ता सं मन में धरता हो और जिसके पास देहबुद्धि हो—अर्थात् इस तुच्छ देह हो का जो सबस्य समझता हो—वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ १७ ॥ भगवान् को छोड़ कर जो मनुष्य का स्तुति करता है या जिसको देखता है उसीकी कीर्ति वर्णन करन लगता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ १८ ॥ स्त्रियों के अवयवों का जो वर्णन करता हो; नाना प्रकार के नाटकों और हावभावों का जो वर्णन करता हो और जो मनुष्य ईश्वर को भूल गया हो वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ १९ ॥ वभ्रव के अभिमान में आकर जो जो घमास का तुच्छ गिनता है और पखड-मत का प्रतिपादन करता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २० ॥ व्युत्पन्न, वातरागा, ब्रह्मज्ञानी और महायोगी होकर जो जग में भविष्य बतलाने लगें वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २१ ॥ किसी बात को सुनकर जो मन में उसके दोष हो का चर्चा करता हो और दूसरे को भलाइ देख कर मत्सर करने हो वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २२ ॥ जो भक्ति का साधन या भजन नहीं करता और न जिसमें वराग्य हो है; तथा जो क्रिया बिना ब्रह्मज्ञान बतलाता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २३ ॥ जो तीर्थ और क्षेत्र को नहीं मानता है; न वेद मानता है; न शास्त्र मानता है और जो पवित्र कुल में पैदा होकर भी अपवेत्र रहता है वह पढ़तमूर्ख है ॥ २४ ॥ जो आदर देख कर प्राणें करता है, जिसको कांति नहीं है उसको भी जो प्रशंसा करता है और तुरन्त हो उसका अनादर करके उसको निन्दा भी करता है वह भी एक पढ़तमूर्ख है ॥ २५ ॥ पढ़े कुछ और है; आगे कुछ और है—ऐसा जिसका नियम है तथा जो बोलता कुछ और है; करता कुछ और है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २६ ॥ प्रश्न विषयों में जो तत्पर है और परमार्थ में जिसको भक्त नहीं है; अर्थात् जानूँ कर जो अंधकार में पड़ता है, वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २७ ॥ जो दूसरे को खुश करने के लिए, यथार्थ वचन छोड़ कर, और का और हो बोलता है और पराधीन होकर जाता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २८ ॥ ऊपर ऊपर से सांग बनाता है और जो न करना चाहिए वही करता है अथवा जो मांग भूल कर, फिर भी हठ करता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ २९ ॥ रात दिन अच्छे अच्छे ग्रन्थों का श्रवण करता है; परन्तु अपने अवगुण नहीं छोड़ता और जो स्वयं अपना हित नहीं जानता वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ ३० ॥ निरूपण में भरो भले आता लोग आकर बैठे हैं, उनके दोष देख कर जो कहता है वह एक पढ़तमूर्ख है ॥ ३१ ॥ शिष्य अनाधिकारी है और वह अध्या भी करता है; फिर भी जो कोई

उसको आशा रखता है वह पढतमूर्ख है ॥ ३२ ॥ ग्रन्थ सुनते समय यदि किसीसे कुछ दोष हो जाय और उस पर क्रोध से जो चिदने लग वह पढतमूर्ख है ॥ ३३ ॥ वैभव के अहकार में आकर जो सद्गुरु की उपेक्षा करता है और गुरु-परम्परा को छिपाता है वह एक पढतमूर्ख है ॥ ३४ ॥ ज्ञानोपदेश करके जो अपना स्वार्थ निकालता हो, कृपण को तरह जो अर्थ-संचय करता हो और जो द्रव्य के लिए परमार्थ का उपयोग करता हो वह एक पढतमूर्ख है ॥ ३५ ॥ विना स्वयं वर्ताव किए दूसरों को जो सिखाता है, जो ब्रह्मज्ञान हो को बातें करते रहता है और जो गोस्वामी होकर पराधीन है वह एक पढतमूर्ख है ॥ ३६ ॥ सम्पूर्ण भक्तिमार्ग को तंडता है और जो इस प्रकार के काम करता है जिनसे स्वयं उसको हानि हो वह एक पढतमूर्ख है ॥ ३७ ॥ जिसके हाथ का प्रपञ्च (गृहस्थी) चला गया हो, और जिसमें परमार्थ का भौं लेश न हो और जो देवों और ब्राह्मणों का द्वेषी बन बैठा हो वह एक पढतमूर्ख है ॥ ३८ ॥

अत्रगुण त्याग करने के लिए ये पढतमूर्ख के लक्षण बतला दिये । बुद्धिमान् श्रान्ता लोग न्यूनाधिक के लिए क्षमा करें ॥ ३६ ॥ जो संसार में सुख मानते हैं वे परम मूर्खों में मूर्ख हैं, क्योंकि इस संसार-दुःख के समान और कोई दुःख नहीं है ॥ ३७ ॥ उसी संसार-दुःख का अगे निरूपण किया गया है और यह बतलाया गया है कि गर्भवास में तथा जन्म लेने के बाद कैसे कैसे दारुण दुःख सहने पडते हैं ॥ ४१ ॥

तीसरा दशक ।



पहला समास—जन्म-दुःख-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

जन्म दुःख का अंकुर है, जन्म शोक का सागर है; और जन्म भय का अचल पर्वत है ॥ १ ॥ जन्म कर्म को घड़ेया है, जन्म पाप को खान है और जन्म ही काल का नित नया दुःख है ॥ २ ॥ जन्म कुवेद्या का फल है, जन्म मोह का कमल है और जन्म ही ज्ञानहोन भ्रान्त का पडदा है ॥ ३ ॥ जन्म जीव का बन्धन है, जन्म मृत्यु का कारण है और जन्म ही व्यर्थ के लिए फँसता है ॥ ४ ॥ जन्म सुख का विस्मरण है, जन्म चिन्ता का आगर है और जन्म ही वासना के विस्तार-रूप में फैला हुआ है ॥ ५ ॥ जन्म जीव को कुरशा है, जन्म कल्पना का चिन्ह है और जन्म ही ममतारूप डाकिनी का फेर है ॥ ६ ॥ जन्म माया का फदा है, जन्म क्रोध को चोरता है और जन्म ही मोक्ष के बोच में विघ्नरूप है ॥ ७ ॥ जन्म जीव का 'मै-पन' है; जन्म अहंता का गुण है; और जन्म ही ईश्वर का विस्मरणरूप है ॥ ८ ॥ जन्म ही विषय को प्रीति है, जन्म ही दुराशा को बेड़ी है और जन्म ही काल का ककड़ी है, जिसे वह खा रहा है ॥ ९ ॥ जन्म ही विषम काल है, जन्म ही एक विकट समय है; और जन्म ही अति दुःखद नरक-पतन है ॥ १० ॥ याद शरीर का मूल देखा जाय तो इसके समान अमंगल और कुछ नहीं है । रजस्वला को छूत से इसका जन्म है ! ॥ ११ ॥ अत्यन्त दूषित जो रजस्वला का रज (छूत) है उसीका यह पुतला है । वहाँ निर्मलता की बात कहाँ है ? ॥ १२ ॥ रजस्वला को छूत इकट्ठी हाँकर जो एक बुल-बुला बनता है कवल उसी बुलबुले का यह शरीर है ॥ १३ ॥ ऊपर ऊपर से तो यह (शरीर) सुन्दर देख पडता है; परन्तु भीतर इसके नरक का गठड़ा रखा है । वह एक प्रकार का चर्मकुंड है, जिसका ढक्कन दुर्गन्धि के मारे खोला ही नहीं जाता ॥ १४ ॥ भला, कुंड तो धोने से शुद्ध भी हो जाता है; परन्तु इसे (शरीर को) रोज धोत है, तौ भी इस दुर्गन्धित शरीर की शुद्धता नहीं होती ॥ १५ ॥ अस्थि-पंजर खड़ा किया; उस नसनाड़ियों से लपेटा और मज्जामांस साँदसूँद कर भर दिया—बस, शरीर बन गया ॥ १६ ॥ अशुद्ध (रक्त), जो नाम से भी शुद्ध नहीं है, सो भी इस देह में भरा है; तिस

भी इसके भीतर नाना प्रकार की व्याधियाँ और दुःख रहते हैं ("शरीरं व्याधिमन्दिरम्") ॥१७॥ यह नरक की बखारी भरी है, जो भीतर लिडाबिडा रही है। दुर्गन्धित मूत्र का गठडा इसमें जमा है ॥ १८ ॥ भीतर नाना प्रकार के जन्तु, कीड़े और आँतें भरी हैं और अनेक प्रकार की दुर्गन्धियों की पोटरों बंधी हैं। इसके भीतर घृणा उत्पन्न करनेवाली खाल बतरह थलथला रही है ॥१९॥ सम्पूर्ण अंगों में सिर श्रेष्ठ समझा जाता है, वहाँ से भी नाक द्वारा बलगम बहता है। कान छूटने पर जो दुर्गन्धि उठती है वह सहो नहीं जाती ॥२०॥ आँखों से चीपड निकलता है, नाक में गूजी भर जाती है और प्रातःकाल मुख से मल की सी वास आती है ॥ २१ ॥ जिस मुँह से लार, थंक्र, मैल, पित्त और खँखार आदि बहुत सी घृणोत्पादक चीजें निकला करती हैं उसे कहते हैं, कि कमल है और चन्द्रमा के समान है ! ॥२२॥ मुख को तो यह बुरी हालत है और उधरपेट में भी विषा भरा है। प्रत्यक्ष के लिए भूमंडल में कोई प्रमाण नहीं है ! ("प्रत्यक्षं किम् प्रमाणम्") ॥ २३ ॥ चाहे जितने उत्तम उत्तम पदार्थ खाये जाय; परन्तु पेट में वे या तो विषा या वमन हो जाते हैं और चाहे परम पवित्र गंगाजल ही क्यों न पीवे; पर वह भी मूत्र ही हो जाता है ! ॥ २४ ॥ अतएव मलमूत्र और वमन ही देह का जीवन है—इन्हींसे देह बढ़ती है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ २५ ॥ पेट में यदि मलमूत्र और आँक (वमन) न होते तो सब लोग मर जाते। चाहे राव हो, चाहे रक हो, उसके पेट में विषा रहता ही है ॥ २६ ॥ स्वच्छता के लिए यदि ये (विषादि) निकाल डाले जाँय तो यथार्थ में यह देह पतन हो जायगा ॥ २७ ॥ जब यह शरीर निरोगी रहता है तब तो उसकी ऐसी दशा है, पर जब उसकी दुर्दशा होती है तब उसका क्या वर्णन किया जाय ? ॥ २८ ॥ बहुत विपत्तियों के साथ नौ महीने इस प्रकार के कारागृह ही में रहना होता है। नर्वाँ द्वार रुके रहते हैं—वहाँ हवा की गुंजाशय कहाँ ? ॥ २९ ॥ माता के पेट में वमन और नरक के रस भिर कर जठराग्नि के द्वारा तपते हैं और बालक का अस्थिमांस आदि सब उसीमें खौला करता है ॥ ३० ॥ जब बिना त्वचा का गर्भ खौलता है तब माता को उकौने (दोहद) आँतें हैं। कटु और तीक्ष्ण रसों के कारण बालक का म्रव शरीर तप जाता है ॥ ३१ ॥ जहाँ चमड़े की गठडी बंधी होती है; वहाँ विषा की थैली भी रहती है, वहाँ से बकनाल-द्वारा बच्चे को रस पहुँचता रहता है ॥ ३२ ॥ विषा, मूत्र, वान्ति, पित्त तथा नाक और मुँह से निकलनेवाले जम्बुओं के कारण बालक का चित्त अतिशय व्याकुल होता है ॥ ३३ ॥

अस्तु। ऐसे कारागृह में प्राणी अत्यन्त बंधा हुआ पड़ा रहता है। तब

घबडा कर कहता है कि " हे चक्रपाणि, अर्थात् ईश्वर, अब यहाँ से छुडाओ ॥ ३४ ॥ हे ईश्वर, यदि अब की बार तू यहाँ से मुझे छुडावेगा तो मैं अपना सच्चा हित करूंगा और यह गर्भवास मिटाऊंगा, जिसमें फिर यहाँ न आना पड़े " ॥ ३५ ॥ दुख के साथ जब ऐसी प्रतिज्ञा करता है तब फिर जन्म का समय आता है । उस समय माता प्रसूतकाल के कष्ट से रोने लगती है ॥ ३६ ॥ गर्भ में बालक को नाक और मुँह में मांस जम जाता है, इस लिए वह मस्तक से श्वास छोड़ता रहता है, पर पैदा होते समय मस्तक भी बिलकुल बन्द हो जाता है ॥ ३७ ॥ मस्तक-द्वार (तालू) के बन्द होते ही उसका चित्त बहुत घबडाता है और वह चारों ओर तड़फडाने लगता है ॥ ३८ ॥ श्वासोच्छ्वास बंद हो जाने के कारण प्राणी घबडाता है और मार्ग न देख पडने से वह और भी दुःखी होता है ॥ ३९ ॥ इस घबडाहट के कारण बालक कभी कभी माता की योनि में अटक रत्ता है, तब लोग कहते हैं कि अब इसे काट कर निकालना चाहिए ॥ ४० ॥ अतएव हाथ, पैर, मुँह, नाक, पेट, जो कुछ हाथ में पड जाता है वही काट कर बालक को बाहर निकालते हैं ॥ ४१ ॥ टुकडे टुकडे कर डालने के कारण बालक मर जाता है और माता भी इसी में अपने प्राण छोड़ देती है ॥ ४२ ॥ इस प्रकार स्वतः मर जाता है और माता का भी प्राण लेता है, तथा गर्भवास में काठेन दुःख भोगता ही है ॥ ४३ ॥ अच्छा, यदि, सौभाग्य से, योनि का मार्ग ही मिल गया तो भी पीछे से कंधा या गला कभी कभी अड जाता है ॥ ४४ ॥ तब लोग बलपूर्वक, योनि के संकुचित पंथ से, बालक को खींच कर निकालते हैं और इस तरह बालक के प्राण जाते हैं ॥ ४५ ॥ प्राण जाते समय बेहोश हो जाने के कारण बालक पहले की सब बातें भूल जाता है ॥ ४६ ॥

गर्भ में तो " सोहं सोहं," अर्थात् " मैं वही (ब्रह्म) हूँ; मैं वही हूँ," कहता है और बाहर आते ही कहता है 'कोहं,' अर्थात् ' मैं कौस हूँ । अस्तु । गर्भवास में इस प्रकार बहुत कष्ट पाता है ॥ ४७ ॥ गर्भ के दुःख भोग कर बडे कष्ट के साथ बाहर निकलता है और तुरन्त ही वे सब दुःख भूल जाता है ॥ ४८ ॥ वृत्ति शून्याकार हो जाती है, मन्त्र में कुछ नहीं याद आता, अज्ञान से भ्रान्ति में पडता है और संसार के सब दुःखों को भी सुख ही मान लेता है ॥ ४९ ॥ अर्थात् देह-विकार एते ही प्राणी सुख-दुःख में भूल जाता है और इस प्रकार माया-जाल में कैसता है ॥ ५० ॥

गर्भवास में प्राणिमात्र को ऐसा ही दुख होता है । इसी लिए कहते हैं कि ईश्वर की शरण जाओ ॥ ५१ ॥ जो भगवान् का भक्त है वह जन्म से मुक्त है-ऐसा पुरुष ज्ञानबल से सदा विरक्त रहता है ॥ ५२ ॥ अस्तु ।

गर्मवास की विपत्तियाँ मैंने यथामति वर्णन कीं । अब श्रोतागण सावधान होकर आगे को कथा सुन ॥ ५३ ॥

दूसरा समास—स्वगुण-परीक्षा ।

(बालपन और युवावस्था ।)

॥ श्रीराम ॥

ससार ही दुख का मूल है । यहाँ दुख के अंगार लगते हैं । पीछे जो गर्मवास की व्याकुलता बतलाई गई—॥ १ ॥ उसे, जन्म पाते ही, बालक भूल जाता है और फिर दिन दिन बढ़ने लगता है ॥ २ ॥ बचपन में त्वचा कोमल होती है, इस लिए बालक थोड़ा दुख होने से ही व्याकुल हो जाता है । उस समय में सुख-दुख बतलाने के लिये वाचा भी नहीं होती ॥ ३ ॥ शरीर में कुछ कष्ट होने पर, अथवा भूख से व्याकुल होने पर, वह बहुत रोता है; परन्तु उसके मन को बात कोई जानता नहीं है ॥ ४ ॥ माता ऊपर से तो पुचकारती है; पर भीतर जो पीड़ा हो रही है उसे वह नहीं जानती और बालक को दुख हो ही रहा है ॥ ५ ॥ बार बार हुसक हुसक कर रोता है । माता गाँव में लेकर पुचकार रही है; परन्तु व्यथा नहीं जानती; बालक बिचारा मन ही मन व्याकुल हो रहा है ॥ ६ ॥ अनेक व्याधियाँ बार बार उठती हैं; उनके दुख से चिह्लाता है, रोता है, गिरता है, अथवा अग्नि से जलता है ॥ ७ ॥ शरीर की रक्षा करना कठिन हो जाता है, अनेक उपद्रव होते हैं और कभी कभी दुर्घटना हो जाने के कारण बालक अंगहीन हो जाता है ॥ ८ ॥ अथवा यदि दुर्घटनाओं से बच जाता है—पूर्वपुण्य का उदय होता है—तो फिर माता को दिन दिन पहचानने लगता है ॥ ९ ॥ क्षण भर भी यदि माता को नहीं देखता तो दुख से, छूट छूट कर, रोने लगता है । उस समय माता के समान उसे और कुछ भी प्यारा नहीं लगता ॥ १० ॥ आशा करके बाट देखता है । माता के बिना किसी तरह भी नहीं रहता है और थोड़े आने के बाद पलमात्र भी वियोग नहीं सह सकता है ॥ ११ ॥ चाहे ब्रह्मा आदि देव क्यों न आ जायें, अथवा चाहे लक्ष्मी हो आकर क्यों न समझावे; तौ भी वह बिना अपनी माता के नहीं राजी होता ॥ १२ ॥ वेह चाहे जैसी कुरूप, कुलक्षण और सब से अधिक अभागिनी क्यों न हो, तौ भी बालक के लिए उसके समान

भूमंडल में कोई नहीं है ॥ १३ ॥ माता के बिना वह दीन-हीन देख पड़ता है । चाहे माता उसे झिड़क कर लौटा दे तो भी वह रोकर लिपट जाता है ॥ १४ ॥ माता ही के पास वह सुख पाता है और उसके दूर करते ही व्याकुल हो जाता है । सारांश, उस समय माता पर उसकी घड़ी प्रीति होती है ॥ १५ ॥ इतने ही में वह माता मर जाता है, प्राणी मातृहीन हो जाता है और अम्मा, अम्मा, कह कर दुख से घबड़ाने लगता है ॥ १६ ॥ जब अम्मा नहीं देख पड़ती तब बालक बेचारा दीनरूप होकर लोगों की ओर देखता है । मन में आशा सो लगी रहती है कि अम्मा फिर आवेगी ॥ १७ ॥ माता के धोखे जब किसी का मुख देखता है और जानता है कि वह अपनी माता नहीं है तब विचारा दीनता से मुख उदास कर लेता है ॥ १८ ॥ माता के वियोग से दुखी होकर वह बहुत दुर्बल हो जाता है ॥ १९ ॥ अथवा यदि माता बच जाती है और मा-बच्चे का साथ घना रहता है तो फिर धीरे धीरे वह बालदशा छूटने लगती है ॥ २० ॥ वह दिन पर दिन सयाना होने लगता है और माता की चाह कम होने लगती है ॥ २१ ॥

इसके बाद उसे खेल का चसका लगता है और वह खेलाडी लड़कों का गोल जमा करता है तथा आये-गये दावों का आनन्द-शोक मनाने लगता है ॥ २२ ॥ मा-बाप जब आन्तरिक प्रेम से सिखाते हैं तब वह उस सिखा-घन का बहुत दुख मानता है और खेलाडी लड़कों की संगति की जो चाट लग गई है वह नहीं छोड़ता है ॥ २३ ॥ लड़कों में खेलते समय मा, बाप, किसी को याद नहीं आती । अन्त में वहाँ भी अचानक उसे दुख मिलता है ॥ २४ ॥ दांत गिर पड़ते हैं; आँख फूट जाती है; पैर टूट जाते हैं; लूला हो जाता है; मस्ती चली जाती है; दुर्दशा हो जाती है ॥ २५ ॥ चेचक निकलती है, सिर में पीड़ा उठती है, ज्वर आने लगता है, पेटशूल और घायुगोला उठा करता है ॥ २६ ॥ भूत, प्रेत, जखई, घटवार, इत्यादि की पीड़ा से बीमार समझ कर मा-बाप व्याकुल होते हैं ॥ २७ ॥ वे कहते हैं कि वैताल, कंकाल लग गये हैं, ब्रह्म-ग्रह का संचार हुआ है या न जाने कोई टटका लॉघ गया है—कुछ मालूम नहीं होता ॥ २८ ॥ कोई कहता है; वीरदेव हैं; तो कोई कहता है, खंडेराव हैं; कोई कहता है व्यर्थ झूठ है, यह ब्रह्मराक्षस है ! ॥ २९ ॥ कोई कहता है किसी ने कुछ कर दिया है; इसके ऊपर देवता छोड़ दिया है; कोई कहता है कि छठी की पूजा में भूल होगई है ॥ ३० ॥ कोई कहता है, कर्म-भोग है । इस प्रकार शरीर में अनेक रोग हो जाते हैं और अन्त में अच्छे अच्छे वैद्य और पंचाक्षरी (भाड़-नेवाले) बुलाये जाते हैं ॥ ३१ ॥ उनमें से कोई कहता है, यह नहीं बचता

कोई कहता है, यह नहीं मरता-पाप के कारण यातनाएँ भोग रहा है ॥ ३२ ॥ अस्तु, इस प्रकार इधर गर्भ के दुःख भूला ही था कि उधर त्रिविध तापो से तप्त होता है और संसार-दुःख से प्राणी बहुत दुःखित होता है ॥ ३३ ॥ इतना होने के बाद भी यदि बच गया तो मार कूट कर सांसारिक कामों के लिए चतुर बनाया जाता है ॥ ३४ ॥

इसके बाद मा-बाप, प्रेम के कारण, शीघ्र ही विवाह की बात-चीत शुरू करते हैं और सब प्रकार का वैभव दिखा कर कन्या निश्चित करते हैं ॥ ३५ ॥ बरात का वैभव देख कर लडके को बड़ा सुख होता है और विवाह हो जाने पर उसका मन ससुराल में रँग जाता है ॥ ३६ ॥ मा-बाप चाहे जैसे रहें, परन्तु ससुराल में वह बनठन कर ही जाता है । यदि पास में द्रव्य नहीं होता तो व्याज से ऋण ले लेता है ॥ ३७ ॥ मा-बाप को एक ओर छोड़ कर ससुराल-वालों ही पर अधिक प्रेम रखता है । उसकी समझ के अनुसार मानो मा-बाप कष्ट ही सहने के लिए बनाये गये हैं ॥ ३८ ॥ इसके बाद, दुलाहिन कं घर में आने पर, उसका हौसला धड़त बढ़ जाता है-वह बड़ा प्रसन्न होता है और कहता है कि अब मेरे समान दूसरा कोई भी नहीं है ॥ ३९ ॥ स्त्री के न देख पड़ने पर मा-बाप, भाई-बहन, सब कुछ उसे सूना मालूम होता है-अविद्या के कारण भूल कर वह केवल स्त्री में ही मोहित हो जाता है ॥ ४० ॥ संभोग न होने पर ही इतना प्रेम बढ़ता है, परन्तु स्त्री के योग्य होने पर वह मर्यादा का उलंघन करता है । दोनों परस्पर प्रेम बढ़ाते हैं-प्राणी काम में फँस जाता है ॥ ४१ ॥ यदि एक क्षणभर भी स्त्री को आँखों से नहीं देखता तो जी उतावला हो जाता है । प्यारी स्त्री ही मन को आकर्षित कर लेती है ॥ ४२ ॥ कोमल कोमल मजुल शब्द, मर्यादा, लज्जा, मुखकमल, और तिरछी नजर, ये ग्राम्य मनोवृत्ति को फँसावटें हैं ॥ ४३ ॥ इनके कारण प्रेम का उद्धार सम्भाला नहीं जाता, शरीर का व्याकुलता रोकती नहीं रुकती, दूसरे व्यवसाय में मन नहीं लगता, उदास मालूम होता है ॥ ४४ ॥ व्यवसाय तो बाल्य हो रहा है और मन घर में धरा है-क्षण क्षण पर हृदय में कामिनी का स्मरण हो आता है ॥ ४५ ॥ "तुम तो हमारे प्राणों के प्राण हो," ऐसा कहते हुए स्त्री, अत्यन्त मोह दिग्गला कर, साग चित्त जुग लेती है ॥ ४६ ॥ जिस प्रकार उग लोग पहचान निकाल कर और फाँसी लगा कर प्राण ले लेते हैं वैसे ही स्त्रीपुत्रादि आमजन मोह में फँसाते हैं-यह बात आयु व्यतीत हो जाने पर पछि से उन्हें मालूम होती है ॥ ४७ ॥ सब प्रीति कामिनी (काम से भरी हुई स्त्री) में लगा देता है । यदि उससे कोई नाराज होता है तो मन ही मन बहुत जुग लगता है ॥ ४८ ॥ उस स्त्री का ही पक्ष

लेकर, मा बाप को नीच उत्तर देकर, उनका तिरस्कार करता है और अलग होकर रहता है ॥ ४६ ॥ स्त्री के लिए लाज छोड़ देता है, मित्रता छोड़ देता है, और स्त्री ही के कारण अपने सब सौहार्दों से बिगाड़ कर लेता है ॥ ५० ॥ स्त्री के कारण देह बेच देता है, सेवक बन जाता है और विवेक से भ्रष्ट हो जाता है ॥ ५१ ॥ स्त्री के लिए अति लंपटता, बड़ी नम्रता और पराधीनता स्वीकार करता है ॥ ५२ ॥ स्त्री के लिए लोभी या मोही बनता है, स्त्री के कारण धर्म छोड़ता है और तीर्थयात्रा तथा स्वधर्म का त्याग करता है ॥ ५३ ॥ स्त्री के कारण ही किसी प्रकार का कुछ शुभ-अशुभ का विचार नहीं करता। तन-मन-धन, सब कुछ, उसको अनन्य भाव से अर्पण कर देता है ॥ ५४ ॥ स्त्री के लिए परमार्थ डुबो देता है, अपने सच्चे हित से वंचित रहता है, ईश्वर के सामने बेईमान बनता है और स्त्री के कारण ही काम-बुद्धि में फँसता है ॥ ५५ ॥ स्त्री के लिए भक्ति छोड़ देता है, स्त्री के कारण विराक्ति का त्याग करता है और सायुज्य मुक्ति को भी तुच्छ मान लेता है ॥ ५६ ॥ एक स्त्री ही के कारण ब्रह्मांड को कुछ नहीं मानता और सखी लोगों को दुष्ट समझने लगता है ॥ ५७ ॥ इस प्रकार केवल स्त्री के प्रेम में फँस कर सर्वस्व का त्याग कर देता है, कि इतने ही में अकस्मात् वह भार्या भी मर जाती है ! ॥ ५८ ॥ इससे मन में शोक बढ़ता है और कहता है कि “बड़ा घात हुआ, अब मेरी घर-गृहस्थी डूब गयी” ॥ ५९ ॥ दुःख में घबड़ा कर कहता है कि “प्राणप्यारी मुझसे विलग हो गई और अकस्मात् मेरा घर बिगाड़ गया ! अब माया छोड़ता हूँ !!” ॥ ६० ॥ स्त्री को जंघों पर पड़ा कर छाती और पेट कूटता है और लोगों के देखते हुए भी लाज छोड़ कर उसकी प्रशंसा करता है ॥ ६१ ॥ कहता है कि “मेरा घर डूब गया; अब इस गृहस्थी में न पढ़ूंगा।” दुःख के कारण खूब जोर जोर से चिल्ला कर रोता है ॥ ६२ ॥ पत्नी-वियोग के कारण घबड़ा कर घर-गृहस्थी से जी ऊब जाता है और दुःखी होकर जोगी या महात्मा बन जाता है ! ॥ ६३ ॥ अथवा यदि घर-गृहस्थी नहीं छोड़ता है तो फिर से दूसरा विवाह करता है और उसीमें फिर मग्न हो जाता है ॥ ६४ ॥ दूसरी स्त्री में आनन्द मान कर वह किस प्रकार फँसता है उसका वर्णन आतागण अगले समास में सुनें ॥ ६५ ॥

तीसरा समास—स्वगुण-परीक्षा ।

(दूसरे विवाह से दुर्दशा और सन्तानोत्पत्ति ।)

॥ श्रीराम ॥

दूसरा विवाह हो जाने से पिछला दुःख सब भूल जाता है और सुख मान कर फिर गृहस्थों में फँसता है ॥ १ ॥ अत्यन्त कृपण बन जाता है—पेट भर अन्न नहीं खा सकता, पैसे के लिए प्राण तक छोड़ने को तैयार हो जाता है ॥ २ ॥ कभी, कल्पान्त में भी, खच नहीं करना चाहता जोड़े हुए हो को फिर जोड़ता है, हृदय में सद्वासना बिलकुल ही नहीं है ॥ ३ ॥ स्वयं धर्म नहीं करता, धर्म करनेवालों को भी रोकता है और साधुजनों की सदा निन्दा करता है ॥ ४ ॥ तोर्य नहीं जानता; व्रत नहीं जानता, आतोथे-अभ्यागत नहीं जानता—चोटियों के मुख के सीते भी छीन छीन कर सचित करता है ५ स्वयं पुण्य कर नहीं सकता, कोई करता भी है तो उसे देख नहीं सकता, दूसरे का पुण्य उसके मन में नहीं भाता है, इस लिए वह प्रशंसा के बदले उलटे उसको हँसो करता है ॥ ६ ॥ देवी और भक्तों का खंडन करता है, शारीरिक बल से सब को दुःख देता है और निष्ठुर शब्द कह कर प्राणिमात्र के अन्तःकरण को भेदता है ॥ ७ ॥ नोते को छोड़ कर अनोते से बर्ताव करता है और सब गर्व से फूला रहता है ॥ ८ ॥ पूर्वजों को धोखा देता है, श्राद्ध भी नहीं करता और कुलदेवता को किसी न किसी तरह ठगता है ॥ ९ ॥ अपने को जो भोजन करना है उसको देवता को नैवेद्य लगा देता है और ब्राह्मणभोजन की जगह पर, महमानों में आये हुए, साले को खिला देता है ! ॥ १० ॥ हारेक्या कभी नहीं अच्छी लगती, ईश्वर को उसे कुछ भी परवा नहीं है, स्नान-संभ्या को व्यर्थ बतला कर कहता है, धर्यों की जाय ! ॥ ११ ॥ कामनाओं में पड़ कर वित्त संचय करता है, अनकों के साथ विश्वासघात करता है और तरुणाई के मद में मतवाला होकर उन्मत्त हो जाता है ॥ १२ ॥

भरी तरुणाई में होने के कारण अब धीरज नहीं धरा जाता और जो न करना चाहिये वही महापाप करता है ॥ १३ ॥ जिस स्त्री के साथ विवाह किया वह छोटी निकल गई और इधर-धोर धरा ही नहीं जाता, अतएव विषय-प्रेम में फँस कर परस्त्री-गमन करता है ॥ १४ ॥ मा, बहिन नहीं विचारना, परदारो, अर्थात् परस्त्री-गमनो, बन कर पापो होता है । न्यायालय से दण्ड भी पाता है, तौ भी अपनी चाल नहीं छोड़ता ॥ १५ ॥

परस्त्री देख कर उसे कामेच्छा हो आती है और अकर्तव्य करके फिर कष्ट भोग करता है ॥ १६ ॥ बड़ा पाप करता है, शुभ-अशुभ कुछ नहीं विचारता है और अकस्मात् महा रोगों वन जाता है ॥ १७ ॥ क्षयरोग से पीड़ित होकर अपने पापों का भोग करता है ॥ १८ ॥ रोग के कारण सारा शरीर फूट निकलता है, नाक बैठ जाती है, सारे लक्षण कुलक्षण हो जाते हैं ॥ १९ ॥ देह में क्षीणता आ जाती है, अनेक व्याधियाँ पैदा होती हैं, तारुण्य-शक्ति एक ओर रहती; प्राणी बिलकुल सूख जाता है ॥ २० ॥ सारे शरीर में पीड़ा उठती है, देह को दुर्दशा हो जाती है, प्राणी थर थर कांपने लगता है, शक्ति नहीं रहती ॥ २१ ॥ हाथ पैर आदि झूट जाते हैं, सारे शरीर में कीड़े पड़ जाते हैं, उसे देख कर छोटे बड़े, सब लोग, थूकने लगते हैं ॥ २२ ॥ पेट चलने लगता है, चारों ओर दुर्गन्धि उठती है, प्राणी को बिलकुल दुर्दशा हो जाती है; पर तो भी प्राण नहीं जाती ॥ २३ ॥ कहता है कि " हे ईश्वर, अब मौत दे; जोव को बहुत कष्ट हुए ! न जाने कितना पाप किया है ! " ॥ २४ ॥ दुख से फूट फूट कर रोता है और ज्यों ज्यों शरीर को ओर देखता है त्यों त्यों दोनता से जी में तड़फड़ाता है ॥ २५ ॥ इस प्रकार अनेक कष्ट पाता है—सब दुर्दशाएँ हो जाती हैं, बदमाश लोग डाका डाल कर सब धन ले जाते हैं ! ॥ २६ ॥ इहलोक या परलोक कुछ नहीं बनता, विचेत्र प्रारब्ध आ उपस्थित होता है, अनेक घृणोत्पादक दुःख भोगता है ॥ २७ ॥

अन्त में, पाप की सामग्री समाप्त होने पर दिनों दिन व्यथा दूर होती जाती है, वैद्य लोग औषधियाँ देते हैं, आराम होता है ॥ २८ ॥ मरते मरते बचता है, लोग कहते हैं कि " इसका फिर जन्म हुआ और मनुष्यों में मिला " ॥ २९ ॥ इतना होने के बाद, अपनी दूसरी स्त्री को विदा करा लाता है, अच्छी गृहस्थी जमाता है; परन्तु स्वार्थबुद्धि फिर भी नहीं छोड़ता ॥ ३० ॥ कुछ धन कमाता है, सब वस्तुएँ एकत्र करता है; परन्तु सन्तान न होने के कारण घर को डूबा हुआ समझता है ॥ ३१ ॥ पुत्र-सन्तान न होने के कारण दुखी होता है, स्त्री, लोगों में बाँझ कहलाती है। अब सोचता है कि लड़का न सहो; लड़को ही हो—जिससे 'बाँझ' नाम तो मिट जाय ! ॥ ३२ ॥ अतएव सन्तान होने के लिए नाना प्रकार के उपाय करता है, बहुत से देवताओं के मानगन करता है—तीर्थ, उपवास और अनेक पाखण्डों व्रत आरम्भ करता है ॥ ३३ ॥ विषयसुख तो एक ओर रहा, अब बाँझपन के दुख से वह दुखी होता है—तब कहीं जाकर कुल-देवता प्रसन्न होते हैं और सन्तान हाँती है ॥ ३४ ॥ अब उस बच्चे पर बड़ी प्रीति होती है; स्त्री पुरुष दोनों एक क्षण भी बच्चे को नहीं भूलते । यदि

कुछ हो जाता है तो दीर्घ स्वर से चिल्लाते हैं ॥ ३५ ॥ इस प्रकार वे दुस्त्रिया अनेक देवताओं की पूजा किया करते हैं कि, इतने ही में अकस्मात्, पूर्व-पाप के कारण, वह बालक भी मर जाता है ! ॥ ३६ ॥ इससे बहुत दुख होता है—घर में पुत्र-शोक छा जाता है । अब कहते हैं कि “ ईश्वर ने हमें वांछ बना कर क्यों रखा ? ॥ ३७ ॥ हमें द्रव्य क्या करना है ? वह चला जाय, पर सन्तान हो ! सन्तान के लिए सब छोड़ना पड़े, तौभी कुछ परवाह नहीं ! ” ॥ ३८ ॥ अभी वांछपन जाते देर-नहीं हुई कि इतने ही में *भरतवांछ नाम पड गया । अब किस उपाय से यह नाम मिटे ? वे दुःखी होकर इस प्रकार रोते हैं—॥३९॥ “ हमारी बेलि क्यों कट गई ? हाय दर्ई, हाय दर्ई, वंश डूब गया ! अरे, कुलस्वामिनी क्यों नाराज हो गई ! कुलदीपक बुझ गया ! ॥ ४० ॥ अब अगर लडके का मुँह देखेंगे तो आनन्द से दगदगाते हुए अंगारों की खाई पर चलेंगे और कुलस्वामिनी के पास जाकर अँकड़ी भी छेड़ेंगे ॥ ४१ ॥ हे माता, तेरो पूजा करेंगे, लडके का नाम ‘ कूडामल ’ रखेंगे ! नथनी पहनावेंगे, मेरा मनोरथ पूर्ण करो ! ” ॥ ४२ ॥ बहुत से देवताओं के मानगन करते हैं, बहुत से गोसाईं ढूँढते हैं और बहुत से विच्छू गट गट निगल जाते हैं ॥ ४३ ॥ भूतों के उपाय करते हैं, बहुत से देवता शरीर पर लाते हैं; केला, नारियल और आंब ब्राह्मणों को देते हैं ! ॥ ४४ ॥ नाना प्रकार के जारण, मारणादिक अघोर काम करते हैं, पुत्र पाने के लिए अनेक टण्टघण्ट करते हैं—इतने पर भी दैव-प्रतिकूलता के कारण पुत्र नहीं मिलता ! ॥ ४५ ॥ रजोदर्शन के चौथे दिन वृक्ष के नीचे जाकर स्त्री-पुरुष नहाते हैं, जिससे फले फूले वृक्ष सूख जाते हैं (१) पुत्रलोभ के कारण इसी प्रकार के अनेक दोष करते हैं ॥ ४६ ॥ सब सुख छोड कर अनेक उपाय करते करते जब वे घबडा जाते हैं तब कही वह कुलस्वामिनी देवी प्रसन्न होती है ! ॥४७॥ अब उनका मनोरथ पूरा होगा—स्त्री पुरुष आनन्दित होंगे, इसकी कथा अगले समास में श्रोता लोग, सावधान होकर, सुनै ॥ ४८ ॥

* जिसके सन्तान होती तो है, पर जीती नहीं, उसे ‘भरतवांछ’ कह सकते हैं ।

चौथा समास-स्वगुण-परीक्षा ।

(गृहस्थी के संकटों के कारण परदेश जाना ।)

॥ श्रीराम ॥

ज्योंही बहुत से बच्चे पैदा होते हैं त्योंही धन चला जाता है-बेचारे भीख मांगने योग्य हो जाते हैं-कुछ खाने को नहीं मिलता ॥ १ ॥ छोटे छोटे बच्चे खेलते हैं, कोई रेंगते हैं, कोई पेट में हैं-इस प्रकार कन्या और पुत्रों की भीड़ घर में भर जाती है ॥ २ ॥ दिन दिन खर्च बढ़ने लगता है, आमदनी बन्द हो जाती है, कन्याएँ व्याह के योग्य होती हैं; परन्तु उनको विवाहने के लिए द्रव्य नहीं है ! ॥ ३ ॥ मा-बाप धन-सम्पन्न थे, इसी कारण लोगों में उनकी प्रतिष्ठा और मान था ॥ ४ ॥ अब लोगों में सिर्फ भ्रम (दिखाव) रह गया है, घर में पहले की सम्पत्ति नहीं है । दिन पर दिन, भीतर ही भीतर, दरिद्रता आती जाती है ॥ ५ ॥ इधर गृहस्थी बढ़ती है-लड़को बच्चों की वृद्धि होती है-अतएव अब वह प्राणी चिन्ता-ग्रस्त होता है ॥ ६ ॥ कन्याएँ व्याहने योग्य होती हैं, पुत्रों का व्याह करने के लिए लोग आने लगते हैं-अब विवाह अवश्य करना चाहिए ! ॥ ७ ॥ यदि लड़के जैसे ही अनव्याहे रह जाते हैं तो लोगों में हँसी होती है और लोग कहते हैं कि इन जन्मदरिद्रियों को किस लिए पैदा किया ? ॥ ८ ॥ लोगों में हँसी तो होगी ही; किन्तु पुरखों का नाम भी डूबेगा ! अब विवाहों के खर्च के लिए ऋण कौन देगा ? ॥ ९ ॥ पहले जिससे ऋण लिया था उसका तो लौटा कर दिया ही नहीं-इस तरह प्राणी चिन्तासागर में डूब जाता है ! ॥ १० ॥ वह अन्न को खाता है और अन्न उसको खाता है तथा मन में सदा चिन्ता से आतुर रहता है ॥ ११ ॥ सारी पत (इज्जत) जाती है, चीज-वस्तु गहने पड़ती है ! हाथ दर्द, अब दिवाले का समय आता है ! ॥ १२ ॥ कुछ तोड़-मोड़ करता है; कुछ घर के गोरू-बछेड़ बेचता है और कुछ रोक पैसा व्याज पर लेता है ॥ १३ ॥ इस प्रकार ऋण लेकर लोगों में दम्भ रहता है, इस पर सब कहते हैं कि "भाई, इसने पुरखों का नाम रख लिया !" ॥ १४ ॥ इस प्रकार ऋण का बोझ बहुत बढ़ जाने के कारण साहूकार लोग आकर घेर लेते हैं; अतएव घबड़ा कर प्राणी परदेश चला जाता है ! ॥ १५ ॥ परदेश में दो वर्ष की बुड़ी लगा देता है, वहाँ नीच सेवा स्वीकार करता है और अनेक आपदाएँ भोगता है ॥ १६ ॥ परदेश में कुछ धन कमाता है, पर जी घर के लोगों में लगा रहता है, इस लिए मालिक से पूछ कर लौटता है ॥ १७ ॥ इधर उसके सब बालबच्चे अत्यन्त दुःखित हो रहे हैं, बैठे

वास्ता देख रहे हैं और कहते हैं कि, " न जाने इतने दिन क्यों लगे ! रे, ईश्वर, क्या करें ! ॥ १८ ॥ अब हम क्या खावें, कहाँ तक भूखों मरें, ईश्वर ने ऐसे पुरुष की संगति में हमें क्यों डाला ! " ॥ १९ ॥ इस प्रकार अपना अपना सुख सभी देखते हैं; पर उसका दुख कोई नहीं जानता, और बुढ़ापा आने पर अन्त में कोई भी काम नहीं आता ॥ २० ॥ अस्तु ! इस प्रकार वाट जोहते जोहते वह अचानक आ जाता है । लड़के दौड़ते हैं और कहते हैं कि दादा थक गया है ! ॥ २१ ॥ उसे देख कर खो भी आनन्दित होता है, कहती है कि अब हमारो दारेद्रता गई ! इतने में वह गठडी हाथ में दे देता है ॥ २२ ॥ सब को आनन्द होता है, लड़के कहते हैं कि हमारा बाप आया और वह तो हमें अंग आर टोपियाँ लाया है ॥ २३ ॥ इस प्रकार चार दिन आनन्द मना कर फिर सब कुसमुस मचति है । कहते हैं कि, " यह द्रव्य चुक जाने पर हमें फिर दुःख उठाना पड़ेगा ॥ २४ ॥ इस लिए जो धन कमा लाये है वह रहने दें और फिर परदेश को जाँय । हम यह खाये न पावें कि फिर द्रव्य पैदा करके आवें ! " ॥ २५ ॥ ऐसी सब की इच्छा होती है, सब सुख क साथी हैं । अत्यन्त प्रीति वाली खो भी सुख ही की साथिनो है ॥ २६ ॥ परदेश में अनेक कष्ट सह कर विश्राम लेने के लिए घर आया था; परन्तु यहाँ साँस भी नहीं ले पाया, कि चलो फिर परदेश ! ॥ २७ ॥ फिर जोशी की आवश्यकता पड़ती है, प्राणी मुहूर्त की विवचना में पड़ता है, परन्तु उसका मन घर में फँसा है, अतएव जाना अच्छा नहीं जान पड़ता ! ॥ २८ ॥ तथापि, लाचार तैयारी करके कुछ सामग्री बाँधता है और बच्चों को प्रेम से दृष्टि-भर देख कर चल देता है ॥ २९ ॥ खो को ओर देखता जाता है, वियोग से दुःखी होता है; पर क्या करे, दुर्भाग्य से छोड़ना ही पड़ता है ॥ ३० ॥ कठ भर आता है, गहवर नहीं सम्हाला जाता, बाप बेटे का वियोग होता है । ॥ ३१ ॥ " यदि भाग्य में लिखा होगा तो फिर भेट होगा । नहीं तो यही अन्तिम भेट है ! " ॥ ३२ ॥ ऐसा कहकर चल देता है, पीछे फिर फिर कर देखता है, वियोग का दुःख सहा नहीं जाता; पर क्या करे कोई बस नहीं है ॥ ३३ ॥ अब उसका गाँव छूट जाता है, गृहस्थी की चिन्ता से चित्त व्याकुल होता है और मोह के कारण प्रपंच में पड कर दुःखित होता है ॥ ३४ ॥ उस समय माता को याद आती है, और कहता है कि, " उस माता को धन्य है, धन्य है ! मेरे कारण उसने बहुत कष्ट उठाया ! परन्तु मैं मूर्ख जानता ही नहीं हूँ ॥ ३५ ॥ आज यादे वह होती तो मुझे कभी न छोड़ती ! वियोग होने पर रोती ! वह मोह ही दूसरा है ! ॥ ३६ ॥ पुत्र चाहे जैसा दरिद्रो और भिखारो हो; माता को वह भी

थारा ही है। उसको दुखित देख कर वह अपने अंतःकरण में त्याकुल
 होती है ॥ ३७ ॥ गृहस्थी तो फिर जुड सकती है; पर वह माता फिर
 नहीं मिलती जिससे यह शरीर पैदा हुआ है ॥ ३८ ॥ चाहे वह कर्कशा
 क्यों न हो, तथापि वह माता ही है। हजारों स्त्री लेकर क्या किया जाय ?
 परन्तु कामविकार में पड कर व्यर्थ के लिए फँस गया हूँ ! ॥ ३९ ॥ इस
 एक 'काम' के कारण ही अपने स्नेहियों से आपस में लडाई कर ली
 और मित्र लोगों को दुष्ट जान लिया ! ॥ ४० ॥ अतएव वे गृहस्थ धन्य हैं
 जो अपने मा-बाप को प्रसन्न रखते हैं और अपने स्नेहियों से मन निष्ठुर
 नहीं करने ॥ ४१ ॥ स्त्री-बालकों की संगति तो जन्म-भर बनी है; परन्तु
 मा-बाप फिर कैसे मिलेंगे ? ॥ ४२ ॥ यद्यपि यह सब मैं पहले सुन चुका था;
 पर उस समय नहीं जान पड़ा और यह मन राते सुख के दह में डूब गया !
 ॥ ४३ ॥ ये स्त्री पुत्र मित्र जान पड़ते हैं; पर हैं ये सब बडे झुलिया, सिर्फ
 सुख के कारण ये मिले हैं। इनके सामने रोते हाथ जाने में बहुत लाज आती
 है ॥ ४४ ॥ अब चाहे जो करें; पर द्रव्य पैदा कर ले जाँय। खाली हाथ
 जाने से स्वाभाविक ही दुख है ॥ ४५ ॥ इस प्रकार विवंचना करते करते
 उसका हृदय बहुत दुःखित होता है और वह चिन्ता के महासागर में डूब
 जाता है ! ॥ ४६ ॥ यह देह अपना होने पर भी पराधीन कर देता है और
 कुटुम्ब-कषाड़ी, (कुटुम्ब के लिए कष्टकवाड़ करनेवाला) बनकर ईश्वर के सामने
 बेईमान बनता है ॥ ४७ ॥ सिर्फ कामना-वश होकर इतना बड़ा जन्म व्यर्थ
 सो देता है और उम्र खतम होने पर अन्त में सब छोड कर अकेला ही
 जाता है ॥ ४८ ॥ कुछ देर तक वह प्राणो अपने मन में पक़ताता है, क्षणभर
 के लिए उदास होता है और फिर शीघ्र ही मायाजाल में फँस जाता है
 ॥ ४९ ॥ फन्या-पुत्रों की याद आती है, मन में खिन्न होता है और कहने
 लगता है कि मेरे बच्चे मुझ से बिछुड गये ! ॥ ५० ॥ पिछले दुःखों की
 याद कर कर के, जोर जोर से रोना शुरू करता है ॥ ५१ ॥ अरण्यरुदन
 करता है, समझानेवाला कोई नहीं देख पड़ता, इस कारण फिर अपने मन
 में ही सोचने लगता है ॥ ५२ ॥ "अब क्यों रोवें ? जो प्राप्त हो उसे
 भोगें !" यह कह कर मन में धीरज धरता है ॥ ५३ ॥ इस प्रकार दुख
 से घबड़ाया हुआ फिर परदेश को जाता है। अब आगे जो हाल होता है
 उसे सावधान होकर सुनिये ॥ ५४ ॥

पाँचवाँ समास-स्वगुण-परीक्षा ।

(तीसरे विवाह से सड़क और बुढापे के दुःख ।)

॥ श्रीराम ॥

अब फिर वह प्राणी परदेश में जाकर अपने व्यवसाय में लगता है और नाना प्रकार के परिश्रम करता है ॥ १ ॥ इस दुस्तर संसार के लिए न जाने कितने कष्ट उठाता है और दो चार वर्ष में फिर कुछ धन कमाता है ॥ २ ॥ तुरंत ही देश को आता है और यहां आकर क्या देखता है कि दुर्भिक्ष पडा है, जिसके कारण घर के लोग बहुत दुःखी हैं ॥ ३ ॥ किसीके गाल बैठ गये हैं, किसीकी आंखें निकल आई हैं, कोई दीनता से थर थर कांप रहा है ॥ ४ ॥ कोई दीनरूप बैठे हैं, कोई सूज गये और कोई मर गये हैं-ऐसी दशा में अपने कन्यापुत्रों को अकस्मात् देखता है ! ॥ ५ ॥ इससे बहुत दुखी होता है, कण्ठ भर आता है और अत्यन्त व्याकुल हो कर रोने लगता है ॥ ६ ॥ तब कही वे सब सावधान होते हैं और यह कह कर कि, "दादा, दादा, खाने को दो," अन्न के लिए आशा लगाये हुए झपटते हैं ॥ ७ ॥ गठड़ी खोल कर देखते हैं, जो हाथ में पडता है वही खा लेते हैं । कुछ मुँह में और कुछ हाथ में है-इसी दशा में प्राण निकल जाते हैं ! ॥ ८ ॥ जल्दी जल्दी से-उतावली से-खाने को देता है, इतने ही में उनमें से कुछ तो खाते खाते मर जाते हैं और कुछ बच जाते हैं वे भी अजीर्ण से मरते हैं ! ॥ ९ ॥ इस प्रकार प्रायः सभी घर के लोग मर जाते हैं, सिर्फ एक दो लडके बच रहते हैं-वे भी अपनी माता के बिना व्याकुल रहते हैं ॥ १० ॥ अस्तु, उस अवर्षण से घर का घर ही डूब जाता है, इसके बाद देश में अच्छा सुकाल आता है ॥ ११ ॥ लडकों को सम्हालने चाला कोई नहीं रहता, अपने ही हाथ से खाने को बनाना पडता है, अतएव रसोई के काम से चिन्त बहुत घबड़ाने लगता है ॥ १२ ॥ लोगों के भडी पर रख देने से, फिर तीसरा विवाह कर लेता है और शेष सारा धन उसमें खर्च कर देता है ॥ १३ ॥ इसके बाद फिर परदेश जाकर कुछ धन कमा लाता है और घर में आकर देखता है तो सावत्र (सौतेले) पुत्रों से कलह मच रही है ! ॥ १४ ॥ स्त्री तरुण होती है, पुत्र उसे देख नहीं सकने, इधर पति अशक्त होकर वृद्ध हो जाता है ! ॥ १५ ॥ पुत्र मदा भागडे मचाये रहते हैं, कोई किसीकी नहीं सुनता और वह प्राणी स्त्री ही पर अधिक प्रीति रखता है ॥ १६ ॥ मन में सन्देह सवार होता है कोई एक विचार रियर नहीं छोता, अतएव पत्नी को एकत्र करता है ॥ १७ ॥

पञ्च जो बाँट करते हैं उसे पुत्र नहीं मंजूर करते, इस कारण निषट्टारा होता ही नहीं, और अन्त में भगडा शुरू होता है ॥ १८ ॥ बाप बेटों में भगडा होता है, लड़के वृद्ध बाप को मारते हैं तब माता चिल्लाती है ॥ १९ ॥ उसका चिल्लाना सुन कर लोग जमा होते हैं, खडे खडे तमाशा देखते हैं और कहते हैं कि “वाह भाई! बाप के लिए बेटे तो खूब काम आये! ॥ २० ॥ जिनके लिए अनेक मानगन किये गये, जिनके लिए बहुत से उपाय किये: देखो वही पुत्र पिता को मारते हैं!” ॥ २१ ॥ पापी कालियुग की यह लीला देख कर सब आश्चर्य करते हैं और उस लडाई को बन्द करवाते हैं ॥ २२ ॥ फिर पञ्च लोग बैठकर बराबर बराबर बाँट कर देते हैं, तब कर्ही बाप-बेटों का भगडा मिटता है ॥ २३ ॥ बाप को अलग करके भोंपडा बाँध देते हैं। अब स्त्री का मन स्वार्थबुद्धि में फँसता है ॥ २४ ॥ अब तरुण पत्नी और वृद्ध पति का सम्बन्ध आ पडता है! दोनों खेद छोड़ कर आनन्द मानते हैं! ॥ २५ ॥ सुन्दर, गुणवान् और चतुर स्त्री पाकर कहता है कि बुढापे में मेरा बड़ा भाग्य हुआ! ॥ २६ ॥ इसी आनन्द में आकर सब दुख भूल जाता है। इतने में बलवा मचता है और परचक्र (शत्रुसमूह) आ जाता है! ॥ २७ ॥ अकस्मात् धावा होता है, बदमाश लोग आ कर स्त्री को कैद कर ले जाते हैं और प्राणी की बीज-वस्त भी उठा ले जाते हैं! * ॥ २८ ॥ इससे अत्यन्त दुःखित होकर वह जोर जोर से रोने लगता है और मन ही मन सुन्दरी और गुणवान् स्त्री की याद करता है ॥ २९ ॥ इतने ही में कोई आकर यह खबर देता है कि “तुम्हारी स्त्री भ्रष्ट होगई!” यह खबर सुन कर वह पृथ्वी पर गिर पडता है! ॥ ३० ॥ मूर्च्छा के कारण लोट-पोट हो जाता है, आँखों से आंसू बहने लगते हैं और स्त्री की याद आते ही चित्त दुःखाग्नि से जलने लगता है ॥ ३१ ॥

कहता है कि “जो द्रव्य कमाया वह भी विवाह में खर्च होगया! रहीं स्त्री, उसको भी दुराचारी पकड ले गये! ॥ ३२ ॥ मुझे भी बुढापे आया, बेटों ने अलग कर दिया। हा ईश्वर! मेरा भाग्य फूट गया!! ॥ ३३ ॥ द्रव्य नहीं; स्त्री नहीं; ठौर नहीं, शक्ति नहीं, हे ईश्वर, तेरे बिना मेरा कोई भी नहीं है!” ॥ ३४ ॥ देखो, पहले तो परमेश्वर को भक्ति नहीं को, वैभव में भूला रहा और अब बुढापे में कैसा पछुता रहा है! ॥ ३५ ॥ शरीर अत्यन्त सूख जाता है, सब अंग मुरझा जाते हैं, वातपित्त और कफ अपना अपना

* ऐसी घटनाओं से उस समय की ऐतिहासिक दशा का अच्छा अनुमान किया जा सकता है।

जोर करते हैं, और कंठ धिर आता है ॥ ३६ ॥ जीभ लड़खड़ाती है, कफ से कंठ घड़घड़ाता है; मुँह से दुर्गन्ध निकल रही है और नाक से श्लेष्मा बह रहा है ॥ ३७ ॥ गर्दन धर धर कांपने लगती है, आँसू भल-भल बहने लगती हैं, ऐसी बुढ़ापे की दुर्दशा आ उपस्थित होती है ॥ ३८ ॥ दाँतों की पॉति उखड़ जाने के कारण पोपला हो जाता है, मुख से दुर्गन्धित लार टपकने लगती है ॥ ३९ ॥ आँखों से देख नहीं पड़ता है; कानों से सुन नहीं पड़ता है, जोर से बोला नहीं जाता है और दमा धिर आता है ॥ ४० ॥ पैरों की शक्ति चली जाती है वेठा नहीं जाता; घुसगुडा जाता है। गुदा-द्वार से भी मुँह की तरह शब्द निकलने लगता है! ॥ ४१ ॥ भूख लगने पर सही नहीं जाती, अन्न समय पर मिलता नहीं; मिलता भी है तो चबाया नहीं जाता; क्योंकि दाँत चले गये हैं ॥ ४२ ॥ पित्त के मारे अन्न पनता नहीं है, खात ही वमन हो जाता है, अथवा वेसा हो अपान-द्वार से निकल जाता है ॥ ४३ ॥ विष्टा, मूत्र, खंखार और वमन से चारों ओर की धरती खराब हो जाती है। दूर से जाने पर भी आस-पास के लोगों का स्वास रुकता है! ॥ ४४ ॥ नाना दुःख और न्यायभ्रियों ने घेर लिया है! बुढ़ापे के मारे बुद्धि भी ठिकाने नहीं है! तो भी आयु का अवाधि पूरा नहीं होता!! ॥ ४५ ॥ विनियों और भौंहों के बाल पक कर विलकुल झड़ जाते हैं! सब अंग में धिरकुटों के समान मांस लटकन लगता है! ॥ ४६ ॥ सारा देह पराधीन हो जाता है, अस्थिपंजर बाकी रह जाता है, तब सब लोग कहते हैं कि अब मरता क्यों नहीं है! ॥ ४७ ॥ जन्म देकर जिनको पोसा-पाला वही विरुद्ध हो जाते हैं और अंत में प्राणी का विकट समय आ जाता है! ॥ ४८ ॥ जबानी चली जाती है, बल चला जाता है, गृहस्थो त्रिगड़ जाती है, शरीर और सम्पत्ति सत्यानाश हो जाती है! ४९ जन्म-भर जितना स्वार्थ फरता है उतना सब व्यर्थ जाता है और अन्तकाल में कैसा विषम समय आ उपस्थित होता है! ॥ ५० ॥ जन्म भर सुख के लिए मरता है, अंत में दुःख ल खन्त हो जाता है, इसके बाद यमयातना अलग हो भोगनी पड़ती है! ॥ ५१ ॥

अस्तु। सम्पूर्ण जीवन दुःख का मूल ही है, यहाँ दुःख के अंगार लगते हैं, इसी लिए मनुष्य-शरीर पाकर अपना सब्बा हित कर लेना चाहिए ॥ ५२ ॥ बुढ़ापे में भी सब को ऐसा ही दुःख होता है, इसी लिए भगवान् की शरण जाना चाहिए ॥ ५३ ॥ पहले गर्भ में जाँ पड़तावा था वही फिर वृद्धावस्था में, अंतकाल में, आ उपस्थित होता है ॥ ५४ ॥ परमेश्वर की भक्ति न करने के कारण जन्मान्तर हाकर फिर माता का उदर प्राप्त होता है और उसी दुस्तर संसार में फिर फँसना होता है ॥ ५५ ॥ भगवान् के

भजन के बिना यह जन्ममरण नहीं मिटता और त्रिविध ताप भोगने पड़ते हैं । उनका वर्णन आगे किया जाता है ॥५६॥

छठवाँ समास—आध्यात्मिक ताप ।

(शारीरिक और मानसिक रोग ।)

॥ श्रीराम ॥

अब त्रिविध ताप के लक्षण बतलाते हैं, श्रोता लोग एकाग्रचित्त हो कर निरूपण का श्रवण करें ॥ १ ॥ जिस प्रकार अर्त पुरुष इच्छित पदार्थ पाकर अनुष्ट होता है उसी प्रकार त्रिविध ताप से सन्तप्त हुआ पुरुष संत-संग से रांत होता है ॥ २ ॥ भूक से दुःखित पुरुष को अन्न मिलने पर, व्यांस से दुःखित मनुष्य को जल मिलने पर और कैद में पड़े हुए पुरुष को बन्धन से छूटने पर सुख मिलता है ॥ ३ ॥ बड़ी भारी बाढ़ में जो डूब रहा है उसे किनारे पर लाने से, या जो पुरुष स्वप्न में दुःखी है वह जागने पर सुखी होता है ॥ ४ ॥ कोई मरता हो तो उसे जीवदान देने से, या संकट में पड़े हुए पुरुष का संकट निवारण करने से सुख मिलता है ॥ ५ ॥ रोगी, अनुभवसिद्ध और शुद्ध ओपाधि पाकर, आरोग्य होने पर, आनन्दित होता है ॥ ६ ॥ इसी प्रकार जो संसार के कष्ट उठा कर त्रिविध ताप से तापित हुआ है वही एक, सन्त-संग पाकर, परमार्थ का अधिकारी बनता है ॥७॥ त्रिविध ताप ये हैं:-॥८॥ पहला आध्यात्मिक ताप, दूसरा आधिभौतिक और तीसरा आधिदैविक ताप समझो ॥९॥ आध्यात्मिक ताप कौन है? उसकी क्या पहचान है और आधिभौतिक के लक्षण किस प्रकार जाने जायें? ॥ १० ॥ आधिदैविक कैसा है? उसकी दशा कौन सी है? ऐसे विस्तार से बतलाए जिससे स्पष्ट मालूम हो जाय ॥ ११ ॥ इस पर वक्ता 'जो हाँ' कह कर निरूपण करता है । अब, पहले सावधान होकर आध्यात्मिक ताप सुनिए ॥ १२ ॥

देह, इन्द्रियों और मन के योग से अपनेको जो सुख दुख का अनुभव होता है उसको आध्यात्मिक ताप कहते हैं ॥ १३ ॥ जो दुख देह से उत्पन्न हों, अथवा जो दुख इन्द्रियों के कारण से हों, या जो मन से उत्पन्न हों उन्हें आध्यात्मिक कहते हैं ॥ १४ ॥ अब देह से, इन्द्रियों से और मन से जो दुःख होते हैं उनका अलग अलग खुलासा करना चाहिए ॥ १५ ॥ खाज, चाँडुई, कुन्सी, नसफोड़, देवी, मोतियादेवी आदि देह में उत्पन्न होनेवाले विकार आध्यात्मिक ताप हैं ॥ १६ ॥ कँखवारी, बालतोड़, चकत्ता, कालाफोड़ा और दुःसह मूलव्याधि की व्यथा-ये आध्यात्मिक ताप हैं ॥ १७ ॥ अंगुली की

गांठ पर का फोडा, गलफुल्ला, घाहियात खुजली, मसूड़े का सूजना, दांतों में दर्द होना, आदि रोगों का नाम आध्यात्मिक ताप है ॥ १८ ॥ यों ही फोड़ा उठना, या शरीर सूज जाना, वात होना और चिलक उठना, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ १९ ॥ दाद या गजकर्ण होना, पेट फूलना या बढ जाना, सालू बैठना, कान फूटना आदि तापों का नाम आध्यात्मिक ताप है ॥ २० ॥ श्वेत कुष्ठ, गोलित कुष्ठ, पांडुरोग और क्षयरोगों के कष्ट का नाम आध्यात्मिक ताप है ॥ २१ ॥ गांठिया वात, लड़कों के दूध आँकने का कष्ट, बाथगोला, हाथ-पैर की ऐंठन, समय समय पर भौरेटा आना, आध्यात्मिक ताप है ॥ २२ ॥ मलमूत्र आदि नांघने से जो रोग होता है वह, बर्त, पेटशूल, आधाशीशी दर्द, आदि रोगों को आध्यात्मिक ताप कहते हैं ॥ २३ ॥ कमर और गर्दन दुखना, पीठ, ग्रीवा, मुख और अस्थिसंधियों का दुखना आध्यात्मिक ताप है ॥ २४ ॥ अजोर्ण की मरोड़, अजोर्ण से दस्त और वमन होना, कँवल (नेत्र पीले होना), मुँहासे, नकफोड़, विदेश का पानी लगना, आदि रोगों की आध्यात्मिक तापों में गिनती है ॥ २५ ॥ जलशोष, जूडी, घुमनी होकर अंधियारा देख पडना, ज्वर, रोमांच होना, आदि का नाम आध्यात्मिक ताप है ॥ २६ ॥ जाडा, गर्मी, प्यास, भूख, नींद और दिशा लगना तथा विषयतृष्णा से दुर्दशा होना आध्यात्मिक ताप है ॥ २७ ॥ आलसी, मूर्ख, अपयशी होना, मन में भय पैदा होना, दिन-रात दुश्चित्त और विस्मरणी होना, आध्यात्मिक ताप है ॥ २८ ॥ मूत्रावरोध, प्रमेह, रक्तपित्त, रक्तप्रमेह, पेट में विष्टा के गोटे पड़ना, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ २९ ॥ मरोड़, दस्त, गर्मी से पेशाब में दर्द, दिशा रुक जाने से कष्ट अथवा कोई अनजान व्यथा, ये सब आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ३० ॥ आंठों के इधर उधर दिल जाने से दर्द होना, पेट में जंतु, आँव और रक्त पड जाना, अन्न जैसा का तैसा गिरना, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ३१ ॥ पेट फूलना, अफरा लगना, लचक लगना, कौर लगना, आदि को आध्यात्मिक ताप कहते हैं ॥ ३२ ॥ हुचकी आना, कौर अटक जाना, पित्त उठना, उलाट होना, जीभ में कांटे पडना, सर्दी और खांसी आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ३३ ॥ दमा या स्वास का उठना, टेंटी हटना, सूखी खांसी या कफ लगना, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ३४ ॥ किसीके सेंदुर खिला देने से प्राणी का घबडाना या गले में फोडा हो जाना आध्यात्मिक ताप है ॥ ३५ ॥ घटसर्प हो जाना, जीभ का झड़ना, मुख से दुर्गन्ध निकलना, दांत गिर जाना या उनमें कीड़ा लगना, आध्यात्मिक ताप है ॥ ३६ ॥ पयरी, नाक फूटना, गंडमाला, अचानक आंख का फूटना, स्वयं उँगली काट लेना-ये ताप आध्यात्मिक हैं ॥ ३७ ॥ ऐंठन या चिलक उठना, दांत उखडना, हाँठ और जीभ रगड़ना आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ३८ ॥ कानों के दुःख, आंखों के दुःख,

नाना प्रकार के दुःखों से शोक होना, गर्माथ और नपुंसक होना आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ३६ ॥ आखों में फूली, ठंठर, मोतियाबिन्दु, कीड़ा लगना, आँखें अन्धगी होने पर भी न दिखना, रतौथ आना, दुश्चित्त रहना, भ्रमिष्ठ रहना, पागल होना, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ४० ॥ गूंगा, बहरा, जन्म से हाँठ टूटा हुआ, लूला, मस्तक फिरा हुआ, पंगु, (दोनों पैर से लंगड़ा) कुबड़ा और लंगड़ा होना आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ४१ ॥ कैचा, टेढ़ा, काना, कैड़ा, भूरी आँखें, ठिगना, ठँस लगा कर चलना, छंगा, घँघा और कुरूप होना आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ४२ ॥ बडदन्ता, पोपला, लम्बी नाक, बिना नाक, बिना कान, बकवादी, बहुत दुबला, बहुत मोटा होना, आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ४३ ॥ हकलाना, तुतलाना, निर्बल, रोगी कुरूप, कुटिल, मत्सरी, खाधुर, क्रोधी होना, आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ४४ ॥ संतापी, पश्चात्तापी, मत्सरी, कामी, ईर्षालु, तिरस्कारी, पापी, अवगुणी, विकारी होना, आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ४५ ॥ चिक जाना, अकड जाना, लचक लगना, गर्दन अकड जाना, सूजन, संधिरोग, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ४६ ॥ गर्भ पेट ही में रह जाना, गर्भ अटक जाना या गर्भपात हो जाना, स्तन पक जाना, सन्निपात, गृहस्थी के संकट, अपमृत्यु, आदि सतापों को आध्यात्मिक कहते हैं ॥ ४७ ॥ नाखून का विष, फोड़ा, कुपथ्य से होनेवाला रोग, अचानक दांत की दोनों पंक्तियाँ सँट जाना—इनका नाम आध्यात्मिक ताप है ॥ ४८ ॥ विधियों का भ्रम जाना, माँहों का सूजना, आँख में फुडिया होना, चश्मा लगना, इनको आध्यात्मिक ताप कहते हैं ॥ ४९ ॥ चमड़े पर काले या नीले दाग, तिल, सफेद चट्टा पडना, (लिलौसी) लहासुन, वितौरी (मास का गोला), मसा, मन में भ्रमिष्ठ होना, आदि आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ५० ॥ नाना प्रकार की सूजन और गुल्मा. शरीर में दुर्गन्ध उठना, लार टपकना—इनका नाम आध्यात्मिक ताप है ॥ ५१ ॥ नाना प्रकार की चिन्ता से काला होना, अनेक प्रकार के दुःखों में चित्त की जलन, बिना व्याधि के घबडाहट, आदि, आध्यात्मिक ताप हैं ॥ ५२ ॥ बुढापे की आपदाएं, सदा नाना रोग होना, सदा देह क्षीण रहना आध्यात्मिक ताप है ॥ ५३ ॥ अनेक व्याधियाँ, नाना प्रकार के दुःख, सब प्रकार के भोग, अनेक फोडा और प्राणी का शोक में तडफडाना आध्यात्मिक ताप है ॥ ५४ ॥

अस्तु । पूर्वपापों के कारण प्राणी को आध्यात्मिक सन्ताप मिलते हैं । संसार में आध्यात्मिक तापों का अथार सागर ही भरा है; कहां तक इसका वर्णन किया जाय ? ॥ ५५ ॥ अतएव श्रोताओं को इतने ही से आध्यात्मिक तापों का स्वरूप समझ लेना चाहिए । अब आगे आधिभौतिक तापों का वर्णन करते हैं ॥ ५६ ॥

सातवाँ समास-आधिभौतिक ताप ।

(चराचर भूतों से दुःख मिलना)

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में आध्यात्मिक ताप के लक्षण बतलाये जा चुके । अब, आधिभौतिक ताप बतलाते हैं ॥ १ ॥ सारे चराचर भूतों (जीवों) के संयोग से जो सुखदुख होता है उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ २ ॥ अब इसका खुलासा करने के लिए इसके विस्तृत लक्षण बतलाते हैं—

॥ ३ ॥ ठोकर लग कर पैर टूटना, कांटा चुभना, शख से घाव होना, शरीर में फांस, या कांस चुभ जाना, आधिभौतिक ताप है ॥ ४ ॥ किसी दाहक पत्ती या खजहरा का अचानक शरीर में लगना और बरं का काटना आधिभौतिक ताप है ॥ ५ ॥ मम्खो, गौ-मम्खो, (बघो) मधु-मम्खो, श्रीटो, और डांस का काटना, जाँक लगना आधिभौतिक ताप है ॥ ६ ॥ पिस्तु, बंबुत, चीटे, खटमल, भौरा, किलौनी आदि जीवों से जो कष्ट मिलता है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ७ ॥ कनसिराई, सांप, वीली, झाघ्र, भेडिया, सुअर, स्याही, सोंबर आदि जन्तुओं से जो कष्ट मिले वह आधिभौतिक ताप है ॥ ८ ॥ नीलगाय, अरना मैसा, रोछ, जंगली हार्या और डांकिनी से जो कष्ट हो वह आधिभौतिक है ॥ ९ ॥ पानी में घडियाल का खींचना, अचानक डूब जाना अथवा पानी के भीतर चढ़ान में गिरना आधिभौतिक ताप है ॥ १० ॥ अजगर आदि सर्प, मगर आदि जलचर प्राणी और अनेक प्रकार के वनचरों से जो दुःख मिले उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ११ ॥ घोडा, बैल, गधा, कुत्ता, सुअर, स्यार, विलार आदि बहुत प्रकार के जो दुष्ट जन्तु हैं उनसे जो कष्ट मिले उसे आधिभौतिक ताप कहेंगे ॥ १२ ॥ इस प्रकार के कर्कश, भयानक और बहुत तरह के दुःखदायक जीवों से जो अनेक प्रकार के कठिन दुःख हों उन्हें आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ १३ ॥ दीवालो और छतों का ऊपर टूट पडना, पंझाड़ियों और भुँहरों के नीचे दब जाना और वृत्तों का टूट पडना आधिभौतिक ताप है ॥ १४ ॥ किसीका शाप लगना, किसीका टटका लगना, अथवा थौंही पांगल हों जाना आधिभौतिक तापों में है ॥ १५ ॥ यदि किसीने हैरान किया, किसीने भ्रष्ट कर दिया या किसीने पकड लिया तो यह आधिभौतिक ताप है ॥ १६ ॥ कोई विष दे दे, कलंक लगावे अथवा जाल में फाँसे तो यह आधिभौतिक ताप है ॥ १७ ॥ किसी

विपैले वृक्ष के स्पर्श से दुःख पाना, भिलावा फर जाना अथवा धुपं से व्याकुल होना आधिभौतिक ताप है ॥ १८ ॥ अंगार पर पैर पड़ जाना, शिला के तले हाथ पड़ जाना अथवा दौड़ते में ठोकर लग कर गिर पड़ना, आधिभौतिक ताप है ॥ १९ ॥ बावड़ी, कुआँ, तालाब और गढ़े में गिरना अथवा नदी की कगार पर से अचानक गिरना आधिभौतिक ताप है ॥ २० ॥ किले से अथवा वृक्ष पर से गिर कर कष्ट पाना आधिभौतिक ताप है ॥ २१ ॥ शीत के कारण हॉठ, हाथ, पैर, पंड़ी आदि फट जाना और बरसात के कोचड़ में चलने से पैरों आदि में अनेक रोग हो जाना आधिभौतिक ताप है ॥ २२ ॥ खाने पीने के समय गरम रस से जोभ का जल जाना-झूँत करकराना आधिभौतिक ताप है ॥ २३ ॥

बचपन में पराधीन होने के कारण कुबार्तों की, और मारपीट की, तकलीफ पाना, अन्न, वस्त्र आदि के लिए तरसना आधिभौतिक ताप है ॥ २४ ॥ ससुराल में स्त्रियों के गुस्से, ठोने और चिमोटे लगाये जाते हैं, आग से वे दाग दी जाती हैं, यह आधिभौतिक ताप है ॥ २५ ॥ भूलने पर कान उमँठते हैं, या आखों में हींग डालते हैं, हमेशा डाँट-भाल दिखाते हैं, यह आधिभौतिक ताप है ॥ २६ ॥ दुष्ट लोग नाना प्रकार की मारें स्त्रियों को मारते हैं और उन विचारों स्त्रियों का नैहर दूर होता है, यह आधिभौतिक ताप है ॥ २७ ॥ कान नाक छेद डालना, जबरदस्ती पकड़ कर गोदना, काम विगड़ जाने पर दागना आधिभौतिक ताप है ॥ २८ ॥ किसी स्त्री को बदमाश लोग पकड़ कर नीच जाति को दे डालते हैं और दुर्दशा होकर उसका प्राण जाता है, यह आधिभौतिक ताप है ॥ २९ ॥ रोग होने पर वैद्य लोग अनेक कटु औषधियाँ जबरदस्ती पिलाते हैं और भाड़-पूँक करनेवाले अनेक दुःख देते हैं-ये आधिभौतिक ताप है ॥ ३०-३१ ॥ अनेक बेलों के कटु रस, कर्कश और असह्य काढ़ा, और गाढा रस पीने से जो घबडाहट आती है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ३२ ॥ जुलाब और वमन कराते हैं, कठिन पथ्य बतलाते हैं, और अनुपान भूल जाने पर विपत्ति होती है-यह आधिभौतिक ताप है ॥ ३३ ॥ शस्त्र से घीरकर रक्त निकालने से और दहकते हुए लोहे से दागने पर जो कष्ट होता है उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ३४ ॥ अकौड़ा और भिलावा लम्बाते हैं; नाना दुःखों से घबड़ा देते हैं, नसें तोड़ते हैं, जाँक लगाते हैं-इनका नाम आधिभौतिक ताप है ॥ ३५ ॥ बहुत से रोग हैं और उनकी औषधें भी बहुत हैं-बतलाई जायें तो अपार और अगाध हैं। उनके खेद से जो प्राणी को दुःख होता है उसका नाम आधिभौतिक ताप है ॥ ३६ ॥ यज्ञाक्षरी (भाड़ने-पूँकनेवाला, मांत्रिक) धुप की मार देता है और नाना

प्रकार की यातनाएं देता है, यह आधिभौतिक ताप है ॥ ३७ ॥ चोर लोग डाके डाल कर लोगों को यातना देते हैं, यह आधिभौतिक ताप है ॥ ३८ ॥ अग्नि लगने के कारण सुन्दर मन्दिर, रत्नों के भाण्डार और दिव्य तथा मनोहर वस्त्र, नाना प्रकार के धन-धान्य, पदार्थ, पशु, पात्र, और मनुष्यों के मरम्भ होने से जो कष्ट होता है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ३९-४१ ॥ आग लग जाने के कारण धान्य, ईख, आदि की खड़ी फसल जल जाने से जो सन्ताप होता है वह भी आधिभौतिक ताप है ॥ ४२ ॥ स्वयं लगी हुई या किसी दूसरे के द्वारा लगाई हुई अग्नि की अनेक दुर्घटनाएं हो जाती हैं। उनसे प्राणी को जो दुख और चिन्ता होती है उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ४३-४४ ॥ कोई पदार्थ खो जाय, भूल जाय, गिर जाय, नाश हो जाय, लापता हो जाय, फूट जाय, छूट जाय या किसी तरह से भी अलभ्य हो जाय और उससे जो कष्ट हो वह आधिभौतिक ताप है ॥ ४५ ॥ प्राणी स्थानभ्रष्ट हो गये हों, नाना प्रकार के पशु कहीं रह गये हों, कन्या पुत्र बेपते हो गये हों—इन कारणों से जो सन्ताप हो वह आधिभौतिक है ॥ ४६ ॥ चोर अथवा दावीदार मनुष्य अचानक मार डालते हैं, घर लूट लेते हैं और गोरू-बछेड़ ले जाते हैं, यह आधिभौतिक ताप है ॥ ४७ ॥ नाना प्रकार के धान्य और फल-वृक्ष काट लेते हैं, भीट में नमक डाल कर फसल खराब कर देते हैं, इस प्रकार की अनेक हानियों से जो सन्ताप होता है उसका नाम है आधिभौतिक ॥ ४८ ॥ छली (दगावाज), उठाई-गीर, सर्वभक्षक, कीमियागर, जादूगर, ठग, फँसानेवाला (कपटी), डाँकू आदि द्रव्य-हरण करते हैं, इससे जो संकट होता है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ४९ ॥ गँठकटे लोग द्रव्य छोड़ लेते हैं, नाना प्रकार के अलंकार निकाल लेते हैं, अनेक वस्तुएं चूहे उठा ले जाते हैं, इससे जो दुःख होता है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ५० ॥ विजली गिरे, पाला पड़े या प्राणी बरसात में पड़ जाय या वह महापुर में डूब जाय तो इसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ५१ ॥ पानी के भँवर, मोड़ और धार में बहते हुए कूड़े कचरे में, अपार लहरों में या बहते हुए, बीछी, कनखजूर, अजगर आदि जन्तुओं में यदि प्राणी पड़ जाय और किसी चट्टान या टापू में जा कर अटकें और बूढ़ते बूढ़ते बच जाय तो इसे आधिभौतिक ताप समझो ॥ ५२-५३ ॥ मन के अनुसार गृहस्थी न हो, कुरूप, कर्कश और क्रूर स्त्री हो; कन्या विधवा और पुत्र मूर्ख हो तो इसे आधिभौतिक ताप समझना चाहिये ॥ ५४ ॥ भूत पिशाच लगे हों, शरीर पर से कोई खराब वायु निकल गई हो, या मन्त्र-भ्रष्टता के कारण प्राणी पागल होगया हो तो यह आधिभौतिक ताप है ॥ ५५ ॥ शरीर में कोई ब्रह्म-भूत लगा हो, और वह

बहुत पीड़ता हो अथवा शनिश्चर का भय लगा हो-तो इसे आधिभौतिक ताप कहेंगे ॥ ५६ ॥ अनेक क्रूर ग्रह, घातप्रतिकूल, कालतिथि, घातचन्द्र, काल-समय, घातनक्षत्र आदि के कारण जो कष्ट मिलता है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ५७ ॥ छींक, *पिंगला और छिपकली, अशुभ *होला, काक, *कलाली आदि के अपशकुनों के कारण जो चिन्ता और कष्ट हो वह आधिभौतिक ताप है ॥ ५८ ॥ ठग, दुष्टपुञ्जिया जोशी और भडूरी लोगों के भविष्य वतला जाने पर जो मन में सन्देह लग जाता है अथवा बुरे स्वप्नों से जो घबड़ाहट होती है उसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ५९ ॥ सियार और कुत्ता रोते हों, छिपकली शरीर पर गिरे अथवा नाना प्रकार के अपशकुनों की चिन्ता लगी हो तो यह आधिभौतिक ताप के लक्षण हैं ॥ ६० ॥ कही के लिए चलने पर अपशकुन हों या नाना प्रकार के विघ्न आवें, जिनसे मनोभंग हो तो यह आधिभौतिक ताप का लक्षण है ॥ ६१ ॥ प्राणी कैद में पड़ कर जो अनेक यातनाएं और दुःख भोगता है वह आधिभौतिक ताप है ॥ ६२ ॥ राजदण्ड पाने के कारण प्राणी की कमर में रस्सी बाँध कर चाबुक और बेत से मारते हैं; दर्री में डाल कर या तपे हुए तबे पर खड़ा करके मारते हैं, ये आधिभौतिक ताप हैं ॥ ६३ ॥ कोड़ों, बड़ की जटाओं और गोजों की मार अथवा बहुत प्रकार से जो अनेक ताड़ना देते हैं उन्हें आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ६४ ॥ अपानद्वार में मेख मारना, बारूद भरे हुए पीपा या कुष्ण में बाँधकर आग लगा देना, चारों ओर से तान कर डंडों की मार देना, मुक्के की मार, धँचा लगा कर मारना, घुटनों की मार आदि आधिभौतिक ताप हैं ॥ ६५ ॥ लात, थप्पड़ और गोबर की मार देना, कानों में कंकड़ ठूस कर मारना और पत्थर की मार देना, आदि आधिभौतिक ताप हैं ॥ ६६ ॥ टांगना, चिमटा लगाकर मारना, पीछे हाथ खींच कर बाँधना, बेड़ी डालना, नाल के समान टेढ़ा करके घृत्त की पेड़ी में बाँधना, गोलालाठी डालना, चारों ओर पहरा बैठाकर बन्दी रखना, इन्हें आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ६७ ॥ नाक में तीक्ष्ण पानी भर कर दुख देना, चूना का पानी, नमक का पानी, राई का पानी और गुड़ का पानी भर कर दुख देना आधिभौतिक ताप है ॥ ६८ ॥ जल में डुबकी देना, हाथी के सामने बाँध देना, निकाल देना, कष्ट देना और नाना प्रकार के दुख देना आधिभौतिक ताप है ॥ ६९ ॥ कान, नाक, हाथ, पैर, जीभ, हाँठ आदि काट लेना आधिभौतिक ताप है ॥ ७० ॥ तीर से मारते हैं, सुली देते हैं, नेत्र और वृषण (पोते) निकाल लेते हैं और

कुल नखाँ में सुइयाँ भर देते हैं, यह आधिभौतिक ताप है ॥ ७१ ॥ इस प्रकार दुख देना कि जिससे रोज तौलने पर कुछ न कुछ वजन कम होते जाय या पहाडी पर से ढकेल देना या तोप के मुँह से उड़ा देना—इसका नाम आधिभौतिक ताप है ॥ ७२ ॥ कानों में खूँटे ठोकते हैं, अर्पान में भेल मारते हैं, खाल खींच डालते हैं, यह आधिभौतिक ताप है ॥ ७३ ॥ नख से शिख तक शरीर की खाल निकाल डालना, टाँच टाँच कर मारना अथवा गले में अँकडी लगाना, या संगसी (संडसी) लगा कर दुख देना, यह आधिभौतिक ताप है ॥ ७४ ॥ सोसा पिलाना, विप देना अथवा सिर काट लेना या नीवें में गाड देना, इसे आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ७५ ॥ पैजामा चारों तरफ से बन्द करके भीतर गिर्गिदान भर देना* या विगडा हुआ विलार और मनुष्य को एक कोठरी में बन्द करके उस विलार के द्वारा कष्टपूर्वक मनुष्य को मरवा डालना, अथवा फाँसी लगा देना या और नाना प्रकार के कष्ट देना आधिभौतिक ताप है ॥ ७६ ॥ कुत्ते के द्वारा नाश होना, वाघ से नाश होना, भूत से नाश होना, घडियाल के द्वारा मारा जाना, शत्रु से मारा जाना अथवा विजली गिरने से मरना आधिभौतिक ताप है ॥ ७७ ॥ नसेँ खींच लेना, पलीता लगा कर जलाना आदि अनेक विपत्तियाँ आधिभौतिक ताप है ॥ ७८ ॥ मनुष्य की हानि, धन की हानि, वैभव की हानि, महत्व की हानि, पशु की हानि और पदार्थ का हानि को आधिभौतिक ताप कहते हैं ॥ ७९ ॥ बचपन में मा.मर जाय, जवानी में स्त्री मर जाय और बुढ़ापे में लडके लडकी मर जायँ तो यह आधिभौतिक ताप है ॥ ८० ॥ दुख, दरिद्र, ऋण, विदेश भगना, लुट जाना, आपदा आना, और कुत्सित अन्न का भोजन, आधिभौतिक ताप है ॥ ८१ ॥ महामारी होना, युद्ध में हारना, और अपने प्यारे जनों का क्षय होना आधिभौतिक ताप है ॥ ८२ ॥ कठिन समय और अकाल पडना, शंकित होना और बुरा समय आना, उद्वेग और चिन्ता में पडना आधिभौतिक ताप है ॥ ८३ ॥ कोल्हू और चरखी में पड़ जाना, चाक के नीचे दब जाना या नाना प्रकार की आग में गिर जाना आधिभौतिक ताप है ॥ ८४ ॥ अनेक शखाँ से विद्ध हो जाना, नाना प्रकार के बनैले जन्तुओं के द्वारा खाया जाना और नाना बन्धनों में पडना आधिभौतिक ताप है ॥ ८५ ॥ अनेक कुवासी से घबडाना, अनेक अपमानों से लजाना और शोकों से प्राणी का कष्टित होना आधिभौतिक ताप है ॥ ८६ ॥

* इस प्रकार के उदाहरणों से यह कल्पना की जा सकती है, कि रामदास स्वामी के जमाने में वैसे कैसे राज-दण्ड प्रचलित थे ।

इस तरह, अगर बतलाये जायँ तो आधिभौतिक ताप के भी अनन्त पहाड हैं । परन्तु श्रोता लोगों को इतने ही से समझ लेना चाहिये ॥ ८७ ॥

आठवाँ समास—आधिदैविक ताप ।

(यम-यातनाएँ)

॥ श्रीराम ॥

पहले आध्यात्मिक ताप बतलाया गया, उसके बाद आधिभौतिक; अब आधिदैविक बतलाते हैं, सो सावधान होकर सुनिये ॥ १ ॥ मनुष्य शुभ-अशुभ कर्म सं, देहान्त होने पर, जो यमयातना तथा स्वर्ग या नरक आदि, नाना प्रकार से, भोग करता है उसका नाम आधिदैविक ताप है ॥ २ ॥ मदांध होकर अविवेक से मनुष्य अनेक दोष और नाना प्रकार के पातक करता है, परन्तु वे अन्त में दुखदायक बन कर यमयातना का भोग कराते हैं ॥ ३ ॥ शारीरिक बल, द्रव्य-बल, मनुष्य-बल, राज-बल, आदि अनेक प्रकार के सामर्थ्य से जो लोग अकृत्य, अर्थात् न करने योग्य काम, करते हैं और जो नीति के अनुसार नहीं चलते तथा पापाचरण करते हैं उन्हें यमयातना भोगनी पड़ती है ॥४-५॥ स्वार्थ-बुद्धि से आंखें मूंद कर, अनेक अभिलाषाएं और कुबुद्धि धर कर लोग किसी की वृत्ति (जीविका), जमीन, द्रव्य, स्त्री और पदार्थों को हर लेते हैं तथा मतवालेपन से, उन्मत्त होकर, लोग जीवघात, कुदुस्वघात और मिथ्याचार करते रहते हैं—इसी लिए यमयातना भोगनी पड़ती है ॥६-७॥ मर्यादा छोड़ कर चलने से ग्राम को ग्रामाधिपति दंड देता है; नीतिन्याय छोड़ने पर देश को देशाधिपति दंड देता है; देशाधिपति को राजा दंड देता है; राजा को ईश्वर दंड देता है । राजा नीति-न्याय से नहीं चलता तभी तो उसे यमयातना भुगतनी पड़ती है ॥८-९॥ अनीति से जो राजा अपना ही स्वार्थ देखता है; वह पापी होता है । इसी लिए कहते हैं कि, राज्य के बाद नरक मिलता है । कहावत भी है:—“तप से राज्य, राज्य से नरक !” ॥१०॥ राजा जब राजनीति के अनुसार बर्ताव नहीं करता तब अंत में उसे यम भयंकर पीड़ा देते हैं और यम जब नीति छोड़ देता है तब देवगण उस पर धावा करते हैं ॥ ११ ॥ इस प्रकार ईश्वर ने मर्यादा बाँध रखी है । इसी लिए कहते हैं, नीति से बर्ताव करो, और अगर नीति-न्याय छोड़ दोगे तो वही यमयातना तैयार है ॥ १२ ॥

यम को 'देव,' अर्थात् ईश्वर, ने दण्ड देने के लिए प्रेरित किया है, इसी लिए इस ताप का "आधिदैविक" नाम पड़ा है—यह यमयातना, अर्थात् तीसरा ताप, बहुत कठिन है ॥ १३ ॥ यमदंड या यमयातना के, शास्त्र में कई भेद बतलाये गये हैं। पापियों को यमदण्ड अवश्य ही भोगना पड़ता है ॥ १४-१५ ॥ पापपुण्य के बहुत से कलेवर परलोक में तैयार रहते हैं। जीव को उन्हीं कलेवरों में डाल कर देवदूत नाना प्रकार से पापपुण्य का भोग कराते हैं ॥ १६ ॥ नाना प्रकार के पुण्य करने पर वहाँ अनेक भोग-विलास मिलते हैं और तरह तरह के पाप करने से कर्कश यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। यह सब शास्त्र में कहा है; इस लिए अधिश्वास मानना ही न चाहिए ॥ १७ ॥ जो वेद की आज्ञा से नहीं चलता; परमात्मा की भक्ति नहीं करता—उसे यम, यातना देता है, और इसी का नाम आधिदैविक ताप है। इसका वर्णन:-॥१८॥

खलबलाते हुए नरक में बहुत से जीव तथा पुराने कीड़े 'रव रव' शब्द करते हैं—उसीमें हाथ-पाँव बाँध कर यम पापी मनुष्य को डाल देता है—इसको आधिदैविक ताप बोलते हैं ॥१९॥ घड़े की सूत का एक ऐसा कुंड बना है जिसकी चौड़ाई तो बहुत बड़ी है और मुँह छोटा है—उसमें दुर्गन्धि और वमन भरा है उसको कुंमिपाक कहते हैं—इसमें जो संकट मनुष्य को मिलता है वह आधिदैविक ताप है ॥ २० ॥ तप्त भूमि में तपाते हैं, जलते हुए खंभे से भेंट कराते हैं और नाना प्रकारके तप्त चिमटा लगाते हैं—इसका नाम है आधिदैविक ताप ॥ २१ ॥ यमदंड की बड़ी बड़ी मारें और यातना की अपार सामग्रियाँ जो पापी लोग भोगते हैं उन्हें आधिदैविक ताप कहते हैं ॥ २२ ॥ पहले तो पृथ्वी ही पर नाना प्रकार की मारें हैं, उनसे भी कठिन यम की यातना है। मारते मारते दम नहीं लेने देते हैं, यही आधिदैविक ताप है ॥२३॥ चार दूत चारों ओर से खींचते हैं; भिक्कूकोर डालते हैं, तानते हैं मारते हैं, खींच लेते हैं, इससे जो कष्ट मिलता है वह आधिदैविक ताप है ॥ २४ ॥ उठते नहीं बनता, बैठते नहीं बनता; रोते नहीं बनता; गिरते नहीं बनता—यातनाओं पर यातनाएँ मिलती हैं—यही आधिदैविक ताप है ॥ २५ ॥ चिल्ला चिल्ला कर रोता है, हुसकता है, धक्काधक्की से घबड़ाता है, सूख क पंजर हो जाता है और कष्टित होता है—इसका नाम है आधिदैविक ताप ॥२६॥ कर्कश वचन कह कर कर्कश मार देते हैं और भी कई प्रकार की यातना है, जिससे पापी पुरुष कष्ट पाते हैं—इनको आधिदैविक ताप कहते हैं ॥२७॥

पिड़ले समास में राजदंड बतलाया गया था, उससे भी कठिन यह यम दंड है—यह यातना बहुत भयानक और कठोर है ॥ २८ ॥ आध्यात्मिक और आधिभौतिक इन दोनों से भी आधिदैविक विशेष असह्य है, यहाँ प मैंने उसे संक्षेपतया बतला दिया है ॥ २९ ॥

नववाँ समास-मृत्यु-निरूपण ।

(मृत्यु से कोई नहीं बचता ।)

॥ श्रीराम ॥

यह संसार एक ऐसा तैयार सवार है जो मृत्यु की ओर जा रहा है—काल यह देखता है कि किस घड़ी में इस शरीर को उठा ले जाऊँ ॥ १ ॥ सदा काल की संगति रहती है, होनहार को गति नहीं जानी जाती, कर्म के अनुसार मनुष्य, देश अथवा विदेश में, मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥ संचित कर्मों का शेष पूरा होने पर, फिर यहाँ एक क्षण भी माँगे नहीं मिलता—लभ भी नहीं जाने पाता कि कृच करना पड़ता है ॥ ३ ॥ अचानक काल के हरकारे छूटते हैं और मारते हुए मृत्युपंथ में लाते हैं ॥ ४ ॥ मृत्यु, ती मार होने पर कोई सहारा नहीं दे सकता, आगे पीछे सब की कूटा-पटी होती ही है ॥ ५ ॥ मृत्युकाल एक ऐसी अच्छी लाठी है जो बलवान् ती भी खोपड़ी पर बैठती है। बड़े बड़े राजा-महाराजा और बड़े बड़े लवान् योद्धा भी बच नहीं सकते ॥ ६ ॥

मृत्यु नहीं जानती कि यह क्रूर है, मृत्यु नहीं जानती कि यह पहलवान् है, मृत्यु यह भी नहीं जानती कि यह समरांगण में संग्राम करनेवाला शूर रूप है ॥ ७ ॥ मृत्यु नहीं जानती कि यह क्रोधी है और न वह यही जानती है कि यह प्रतापी है। वह यह भी नहीं जानती कि यह उग्र-रूप-माला महा खल है ॥ ८ ॥ मृत्यु नहीं कहती कि यह बलाढ्य है और न वह समझती है कि यह धनवान् है। सर्वगुण-सम्पन्न पुरुष को भी मृत्यु कोई चीज नहीं समझती ॥ ९ ॥ विख्यात पुरुष, श्रीमान् पुरुष और महा-राक्रमी पुरुष को भी मृत्यु नहीं छोड़ती ॥ १० ॥ सामान्य राजा, चक्र-वर्ती राजा और करामात दिखलानेवाले को भी मृत्यु कुछ नहीं समझती ॥ ११ ॥ अश्वपति, गजपति, नरपति आदि किसीकी भी मृत्यु परवा नहीं करती ॥ १२ ॥ लोकमान्य, राजनीतिज्ञ और वेतनभोक्ता पुरुषों को भी मृत्यु नहीं बचने देती ॥ १३ ॥ तहसीलदार, व्यापारी और बड़े बड़े मस्त राजाओं को भी मृत्यु कोई चीज नहीं समझती ॥ १४ ॥ मृत्यु को यह भी खयाल नहीं है कि यह मुद्राधारी है, न वह यही जानती है कि यह उद्योगी है, वह परनारी और राजकन्या को भी नहीं छोड़ती ॥ १५ ॥ मृत्यु कार्य-कारण नहीं जानती, वह वर्ण-अवर्ण भी नहीं समझती और न कर्मनिष्ठ ब्राह्मण ही पर कुछ दया करती है! ॥ १६ ॥ व्युत्पन्न, अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष पर भी मृत्यु दया नहीं दिखलाती, सब तरह से सम्पन्न

और विद्वान् पुरुष का भी वह विचार नहीं करती । जिसके हाथ में लोगों का बड़ा समुदाय है उसे भी मृत्यु नहीं बचने देती ! ॥ १७ ॥ धूर्त, (चतुर सम्य) बहुश्रुत और महा भले पंडित का भी मृत्यु कुछ विचार नहीं करती ॥ १८ ॥ पौराणिक, वैदिक, याज्ञिक और ज्योतिषी को भी मृत्यु उठा ले जाती है ॥ १९ ॥ अग्निहोत्री, श्रोत्रिय, मांत्रिक, यांत्रिक और पूर्णांगमी पुरुषों पर भी मृत्यु दया नहीं दिखलाती ॥ २० ॥ मृत्यु यह नहीं समझती कि यह पुरुष शास्त्रज्ञ है, वेदज्ञ है अथवा सर्वज्ञ है ! ॥ २१ ॥ ब्रह्महत्या, गोहत्या, बालहत्या, स्त्रीहत्या, आदि, किसी प्रकार की भी हत्या का मृत्यु विचार नहीं करती ! ॥ २२ ॥ रागज्ञानी, तालज्ञानी और तत्व-वेत्ता को भी वह नहीं छोड़ती ॥ २३ ॥ योगाभ्यासी और सन्यासियों का भी मृत्यु विचार नहीं करती और काल को धोखा देनेवाले (अर्थात् जो अपने योगबल से मौत को कुछ समय के लिए टाल सकते हैं) पुरुष को भी वह नहीं बचने देती ! ॥ २४ ॥ सावधान पुरुष, सिद्ध पुरुष, वैद्य और पंचाक्षरी (भाडफूंक करनेवाला) को भी वह उठा ही ले जाती है ॥ २५ ॥ मृत्यु नहीं जानती कि यह गोस्वामी है, वह तपस्वी को भी नहीं जानती और न मनस्वी या उदासीन का ही कुछ ख्याल करती है ॥ २६ ॥ ऋषी-श्वर, कवीश्वर, दिगम्बर और समाधिस्थ लोगों को भी मृत्यु नहीं छोड़ती ॥ २७ ॥ हठयोगी, राजयोगी और निरन्तर राग से दूर रहनेवाले (बैरागी) पुरुषों का भी मृत्यु को कुछ विचार नहीं है ॥ २८ ॥ ब्रह्मचारी, जटाधारी और निराहारी योगेश्वरों तक को वह उठा ले जाती है ॥ २९ ॥ संत, महंत और गुप्त होजानेवालों को भी मृत्यु कुछ नहीं समझती ॥ ३० ॥ मृत्यु स्वाधीन और पराधीन किसीको नहीं छोड़ती—सब जीवों को वहीं खा जाती है ॥ ३१ ॥ इस संसार में, कोई मृत्यु के मार्ग पर आ लगे हैं, कोई आधी दूर तक पहुँचे हैं और कोई बड़े होकर अन्त तक पहुँच चुके हैं—भर गये हैं ॥ ३२ ॥ बालक, तरुण, सुलक्षण, विलक्षण और बड़े व्याख्याता तक को मृत्यु कुछ नहीं समझती ॥ ३३ ॥ मृत्यु नहीं जानती कि यही आधार है और न वह समझती है कि यह उदार है । मृत्यु सुन्दर पुरुष और सब प्रकार निष्णात पुरुष को भी कुछ नहीं समझती ॥ ३४ ॥ पुण्य-पुरुष, हरिदास या कीर्तनकार, और बड़े बड़े सत्कर्म करनेवालों को भी मृत्यु नहीं छोड़ती ॥ ३५ ॥

अच्छा, अब ये बातें रहने दो । मृत्यु से कौन छूटा है, आगे-पीछे, सब लोगों को अवश्य मृत्युपंथ पर जाना ही है ॥ ३६ ॥ जारज, उद्भिज, अंडज और स्वेदज नामक चारों खानियों में जो चौरासी लक्ष योनियाँ हैं उनसे पैदा हुए यावत् जीवों को अवश्य ही मृत्यु खायगी ॥ ३७ ॥ मृत्यु के भय

से चाहे जहाँ कोई भग कर जाय; पर वह उसे कभी नहीं छोड सकती । तात्पर्य, किसी उपाय से भी मृत्यु टल नहीं सकती ॥ ३८ ॥ 'स्वदेशी' हो या 'विदेशी' हो (!) मृत्यु किसीको नहीं छोडती । चाहे कोई सदैव उपवास करता रहता हो, तथापि उसे भी मृत्यु नहीं बचने देगी ! ॥ ३९ ॥ मृत्यु बड़ों बड़ों को नहीं छोडती—ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी मृत्यु कुछ नहीं समझती—तथा भगवान् के अवतारों (राम-कृष्णादि) तक को वह खबर लेती है ! ॥ ४० ॥ हमारे इस कथन से श्रोता लोग क्रोध न करें; क्योंकि सभी को मालूम है कि यह 'मृत्युलोक' है—जो यहाँ आया है वह अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होगा ॥ ४१ ॥ इसमें सन्देह रखने को कोई बात नहीं है—यह 'मृत्युलोक' विख्यात है—इसे छोटे-बड़े सब अच्छी तरह जानते हैं ! ॥ ४२ ॥ तथापि, यदि सन्देह किया भी जाय, तो, क्या यह 'मृत्युलोक' नहीं होगा? यह मृत्युलोक तो है ही, और यहाँ जो पैदा होगा वह मरे ही गा ! ॥ ४३ ॥ अतएव, यहाँ आकर, इस जन्म को सफल करना चाहिए और मरने के बाद भी कीर्तिरूप से संसार में जीवित रहना चाहिए ॥ ४४ ॥ अन्यथा, यह निश्चय ही है कि छोटे-बड़े सभी प्राणी मृत्यु पाते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ४५ ॥

बड़े वैभववाले, बड़ी आयुवाले और अगाध महिमावाले इसी मृत्युमार्ग से चले गये हैं ॥ ४६ ॥ बहुत से पराक्रमी, बहुत से कपट-कर्म करनेवाले और बहुत से युद्ध करनेवाले संग्रामशूर चले गये ॥ ४७ ॥ अनेक प्रकार का बल रखनेवाले, बहुत काल देखनेवाले और अनेक कुलों के कुलवान् राजा चले गये ॥ ४८ ॥ बहुतों के पालक, बुद्धि के चालक और युक्तिवान् तार्किक चले गये ॥ ४९ ॥ विद्या के सागर, बल के पर्वत और धन के कुबेर, अनेकों, इसी मृत्युपथ से चले गये ॥ ५० ॥ बहुत पुरुषार्थवाले, बहुत तेजवाले, और बहुत विस्तार के साथ काम करनेवाले चले गये ॥ ५१ ॥ बहुत शस्त्रधारी चले गये, बहुत परोपकारी चले गये और बहुत से भिन्न भिन्न धर्मरक्षक इसी मृत्युमार्ग से गये ॥ ५२ ॥ बहुत प्रतापी, बहुत सत्कीर्तिवान् और बहुत से भिन्न भिन्न नीतियों को जाननेवाले, नीतिवान् राजा, इसी मार्ग से चले गये ॥ ५३ ॥ बहुत से, भिन्न भिन्न मतवादी, बहुत प्रयत्नवादी और बहुत विवादी चले गये ॥ ५४ ॥ पंडितों के समूह, शब्दों की स्रष्टपट करनेवाले वैयाकरणी और नाना मतों पर बड़े बड़े वाद करनेवाले चले गये ॥ ५५ ॥ तपस्वियों के समूह, अनेक संन्यासी और तत्व विवेकी मृत्युपथ से चले गये ॥ ५६ ॥ बहुत से संसारी, अर्थात् गृहस्थ, बहुत से वेषधारी और बहुत से, नाना प्रकार के पुरुष, अनेक लीला दिखला कर.

चले गये ॥ ५७ ॥ बहुत से ब्राह्मणसमुदाय और अनेकों आचार्य चले गये-
न जाने कितने चले गये-कहाँ तक बतलावें ! ॥ ५८ ॥

अस्तु । इस प्रकार सभी चले गये । परन्तु रह गये सिर्फ वही एक-जो
आत्मज्ञानी स्वरूपाकार हैं ॥ ५९ ॥

दसवाँ समास-वैराग्य-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

यह संसार एक बहुत बड़ी हुई नदी है । इसके बीच में अनेक जलचर
चास करते हैं और विषैले कालसर्प डँसने के लिए दौड़ते हैं ॥ १ ॥ इस
महा नदी में आशा, ममता और देहबुद्धि के घड़ियाल मनुष्य को अपनी
और खींच कर संकट में डालते हैं ॥ २ ॥ अहंकाररूपी नक्र पाताल में
पकड़ ले जाकर डुबो देता है-वहाँ से फिर प्राणी निकल नहीं सकता ॥ ३ ॥
कामरूपी मगर के पंजे से मनुष्य नहीं छूटने पाता; तिरस्कार पीछे ही
लगा रहता है और मदमत्सर के न हटने से मनुष्य भ्रम में पड जाता है
॥ ४ ॥ वासनारूपी नागिन गले में लिपट कर जोभ लपलपाते हुए विष
उगलने लगती है ! ॥ ५ ॥ ऐसी दशा में मनुष्य 'मेरा मेरा' कहते हुए सिर
पर प्रपंच (गृहस्थी) का बोझ लादे हुए है-और, यद्यपि वह उसी बड़ी
हुई नदी में डूबना चाहता है, तथापि बोझ नहीं छोड़ता और उलटे, कुला-
मिमान में आकर फूल जाता है ॥ ६ ॥ उस दशा में भ्रांति के अंधेरे में पड
जाने के कारण अभिमानरूपी चोर उसे लूट लेता है और अहंत्तरूपी भूत-
बाधा का फेरा उस पर आ जाता है ! ॥ ७ ॥ इसी प्रकार अनेक प्राणी इस
महा नदी के भवनों में पड़े हुए बहे चले जाते हैं; परन्तु जो भक्ति-भावपूर्वक
उस संकट में परमात्मा को पुकारता है उसके लिए वह स्वयं प्रकट होता
है और उसे पार लगाता है ! बाकी, जो अभक्त हैं, वे बिचारे बहते ही
चले जाते हैं ॥ ८-९ ॥

भगवान् भक्ति-भाव का भूखा है-वह भक्ति-भाव ही पर भूलता है और
भाविक पर प्रसन्न होकर वह संकट में उसकी रक्षा करता है ॥ १० ॥ जो
परमात्मा पर प्रेम करता है उसकी वह भी चिन्ता रखता है-वह अपने दास
के सारे दुःख दूर करता है ॥ ११ ॥ जो परमेश्वर के दास हैं वही स्वात्म-
सुख का आनन्द लूटते हैं-ऐसे भक्तों को धन्य है ! ॥ १२ ॥ जिसका
जैसा भाव है उसके लिए परमात्मा भी वैसा ही है-वह प्राणिमात्र का

अन्तर्साक्षी है और सब का भाव जानता है ॥ १३ ॥ जिसका भाव मायिक होता है उसके लिए परमात्मा भी महा ठग बन जाता है—उसका कौतुक अपूर्व है—वह जैसे को तैसा है ! ॥ १४ ॥ उसका जो जैसा भजन करता है वैसा ही वह उसे शान्ति देता है । यदि किञ्चित् भी भाव न्यून हो जाता है तो वह भी अलग हो जाता है ॥ १५ ॥ जो जैसा होता है उसका वैसा ही प्रतिबिम्ब दर्पण में देख पड़ता है—उसको मुख्य कुंजी अपने ही पास है ॥ १६ ॥ जैसा हम करते हैं वैसा ही प्रतिबिम्ब होता है; यदि हम आर्खें पसार कर देखते हैं तो वह भी नेत्र फाड़ कर हेरता है ॥ १७ ॥ भौहें सिकोड़ कर देखने से वह भी क्रोधित हो उठता है; और हम यदि हँसने लगते हैं तो वह भी आनन्दित होता है ॥ १८ ॥ जैसा भाव प्रतिबिम्बित होता है वैसा ही परमात्मा भी बन जाता है—जो जैसे उसको भजता है उसके लिए वैसा ही वह फलता है ॥ १९ ॥ भाव के द्वारा, परमार्थ के मार्ग, भक्ति की पंथ को जाते हैं और वहाँ सन्त-समागम से मोक्ष का चौक लगता है ॥ २० ॥ जो भावपूर्वक भजन में लगते हैं वे ईश्वर के तर्ह पावन होते हैं और अपने भाव के बल से पूर्वजों का भी उद्धार करते हैं ॥ २१ ॥ वे स्वयं मुक्त हो जाते हैं और दूसरों के भी काम आते हैं, अर्थात् उनकी कीर्ति सुन सुन कर अभक्त पुरुष भी भक्त बनते हैं ॥ २२ ॥ जो परमात्मा का भजन करते हैं—उनकी माता को धन्य है ! उन्हींका जन्म सार्यक है ॥ २३ ॥ जो भगवान् के प्यारे हैं उनकी कहां तक बढ़ाई करूं ? उन्हें अपनी कमर का सहारा देकर वह परम पिता दुःख से पार करता है ॥ २४ ॥ बहुत जन्मों के बाद, यह नरदेह, जिसके द्वारा जन्म-मरण दूर होता है—ईश्वर से भेट कराता है ॥ २५ ॥ अतएव उन भाविक जनों का धन्य है जो हरि-निधान, अर्थात् ईश्वररूपी कोश, संचित करते हैं—उनका अनन्त जन्मों का पुण्य फलीभूत होता है ॥ २६ ॥ यह आयु एक रत्नों की सन्दूक है—इसमें सुन्दर भजन-रत्न भरे हैं—इसे ईश्वर को अर्पण करके आनन्द की लूट मचाओ ! ॥ २७ ॥ हरिभक्त यद्यपि सांसारिक वैभव से हीन होते हैं; परन्तु वास्तव में वे ब्रह्मा, आदि से भी श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे सदा-सर्वदा नैराश्य के आनन्द से ही संतुष्ट रहते हैं ॥ २८ ॥ सिर्फ ईश्वर की कमर पकड़ कर जो संसार से नैराश्य रखते हैं उन भाविकों को जगदीश, सब प्रकार से, संभालता है ॥ २९ ॥ भाविक भक्त, संसार के दुःखों को ही, विवेक से परम सुख मानता है; परन्तु अभक्त लोग संसारसुखों में ही फँसे पड़े रहते हैं ॥ ३० ॥ जिनका ईश्वर में अत्यन्त प्रेम है वे स्वानन्द-सुख भोगते हैं, उनका अक्षय कोश (स्वानन्द) अलौकिक है ॥ ३१ ॥ वे अक्षय सुख से सुखी होते हैं, संसार-दुःख भूल जाते हैं, वे श्रीरंग-रंगी, अर्थात् ईश्वर में रँग जानेवाले पुरुष,

विषय-रग से पराङ्मुख रहते हैं ॥ ३२ ॥ ये लोग नरदेह पाकर परमात्मा को प्राप्त करते हैं और अन्य अभक्त अभागियों का यह जन्म व्यर्थ ही जाता है ॥ ३३ ॥ जिस प्रकार किसीको अचानक कोई बड़ी धन की राशि मिल जाय और वह उसे एक कौड़ी से बदल ले, उसी प्रकार अभाविक पुरुष अपने इस अमूल्य मनुष्य शरीर को व्यर्थ ही खाता है ॥ ३४ ॥ जिस प्रकार पूर्व-पुण्य के कारण किसीको पारस पत्थर मिल जाय और वह विचारा उसका उपयोग ही न जानता हो उसी प्रकार अभक्त पुरुष, यह नरदेह पाकर, इसका सार्थक करना नहीं जानता और माया-जाल में फँस कर अपना जीवन सत्यानाश करता है ॥ ३५-३६ ॥ इसी नरदेह के संयोग से अनेक भक्त पुरुष सद्गति पा चुके हैं, पर मनुष्य का जन्म पाकर भी जो परमात्मा की भक्ति नहीं करते वे जन्म-मरण के दुःख भोगते रहते हैं ॥ ३७ ॥

अतएव, मनुष्य-जन्म पाकर सन्तसमागम के द्वारा इस जीवन को सुफल कर लेना चाहिए, क्योंकि पहले, अनेक नीच योनियों में, बहुत दुःख सहने के बाद यह जन्म प्राप्त हुआ है ॥ ३८ ॥ कौन समय कैसा आवेगा, इसका कोई भरोसा नहीं । जिस प्रकार पत्नी दसों दिशाओं में उड़ जाते हैं उसी प्रकार, न जाने किस समय, ये सारे वैभव-स्त्री, पुत्र, धन, आदि-कहाँ चले जायेंगे ! ॥ ३९-४० ॥ घड़ी घड़ी का ठिकाना नहीं है, और उम्र तो सारी खतम होने आई है, तथा देहान्त होने के बाद फिर वही नीच योनि तैयार है ! ॥ ४१ ॥ श्वान, गृकर, आदि नीच योनियों में जन्म पाकर विपत्ति भोगनी पड़ती है-इन योनियों में कुछ उत्तम गति नहीं मिलती ॥ ४२ ॥ अरे ! पहले गर्भवास में तू अनेक सकट भोग चुका है और, सौभाग्य से, बड़ी कठिनाई के साथ, वहाँ से छूटा है ॥ ४३ ॥ वे सारे दुःख तूने स्वयं ही भोगे हैं, वहाँ तेरे साथ ये स्त्री-पुत्रादि कोई नहीं थे, और अरे भैया ! उसी प्रकार फिर भी तुझे अकेले ही जाना है ॥ ४४ ॥ कहां की माता, कहां का पिता, कहां की बहन और कहां का भ्राता ! कहां के सुहृद और कहां के स्त्री-पुत्रादि ? ॥ ४५ ॥ ये सब मिथ्या हैं-सारे सुख के साथी हैं ये तेरे दुःख के सगी नहीं हैं ॥ ४६ ॥ कहां का आया प्रपंच और कहां का कुल, लिए व्याकुल होता है ? धनधान्य और लक्ष्मी आदि सब अनित्य हैं ॥ ४७ ॥ काहे के कहां की गृहस्थी, काहे के लिए व्यर्थ परिश्रम करता है-जन्म भर बोझा ढाँकर अन्त को छोड़ जायगा ! ॥ ४८ ॥ कहां की जवानी, कहां का वैभव और कहां का यह हावभाव का आनन्द ? ये सभी मायावी हैं ! ॥ ४९ ॥ यदि तू इसी क्षण मर जायगा तो 'राम' को नहीं पायगा, क्योंकि तू 'मेरा मेरा' कहता है-अर्थात् तेरी वासना विषयों में फँसी है ॥ ५० ॥ जब तूने अनेक जन्म-मरण भोगे हैं तब ऐसे मा, बाप, स्त्री, कन्या,

आदि न जाने कितने, लाखों, होगये ! ॥५१॥ ये सब कर्म-योग से एक स्थान में जन्म लेकर एकत्र हुए हैं । अरे पढतमूर्ख ! इन्हें तूने अपना कैसे मान लिया ? ॥ ५२ ॥ जब स्वयं तेरा शरीर ही अपना नहीं है, तब दूसरे की क्या गिनती है ? अतएव, अब, भक्तिभाव से एक परमात्मा ही का भरोसा रख ! ॥ ५३ ॥ इस एक पापी पेट के लिए अनेक नीचों की सेवा करनी पडती है; तथा बहुत प्रकार से उनकी चापलूसी और अदब करना होता है—इस प्रकार, जो सिर्फ पेट के लिए अन्न देता है उसके हाथ यह सारा जीवन बेच देना होता है—फिर जिस परम पिता परमात्मा ने यह जीवन दिया है उसको क्यों भूलना चाहिए ? ॥ ५४-५५ ॥ दिन रात जिस ईश्वर को सब जीवा की चिन्ता लगी रहती है तथा जिसके प्रताप से मेघ बरसता है और समुद्र मर्यादा से रहता है ॥ ५६ ॥ जिसके प्रताप से शेष पृथ्वी को धारण किये है, सूर्य प्रगट होता है और, इस प्रकार, जो सारी सृष्टि सत्तामात्र से चला रहा है ॥५७॥ वह देवाधिदेव-महादेव-बड़ा दयालु है; उसको लीला कोई नहीं जानता; वह कृपापूर्वक सारे जीवों की रक्षा करता है ॥ ५८ ॥ ऐसा जो सर्वात्मा 'श्रीराम' है उसे छोड़ कर जो विषयकामना रखते हैं वे प्राणी दुरात्मा और अधम हैं, अपने किये का फल पाते हैं ! ॥ ५९ ॥ राम के बिना जो आशा की जाती है वह निराशा ही समझो । 'मेरा मेरा' कहने से सिर्फ कष्ट ही होता है ! ॥ ६० ॥ जिसे कष्ट उठाने को चाह हो वह खुशी से विषयों का चिन्तन करते रहे ! विषयों का हाल तो यह है कि उनके न मिलते ही जो बहुत घबड़ाने लगता है ॥६१॥ आनन्दघन राम को छोड़ कर जिसके मन में विषय-चिन्तन रहता है उस विषयासक्त पुरुष को समाधान कैसे मिल सकता है ? ॥ ६२ ॥ जो चाहता हो कि मुझे सदा सुख ही रहे वह राम के भजन में तत्पर हो और कुटुम्बोजन, जो दुःख के मूल हैं, उन्हें छोड़ दे ! ॥ ६३ ॥ वासना ही के कारण सारे दुःख मिलते हैं, इस लिए जो विषय-वासना त्याग देता है वही एक सुखी है ॥ ६४ ॥ विषय से उत्पन्न हुए जितने सुख हैं उनमें परम दुःख भरा है । उनका नियम है कि पहले वे मीठे लगते हैं; परन्तु पीछे से उनके कारण शोक ही होता है ॥६५॥ जिस प्रकार वंसो निगलते में तो मछली को सुख मालूम होता है; पर उसके खीच लेने में गला फट जाता है, अथवा जिस प्रकार चारा लेकर दौडते हुए विचारा हिरन फँस जाता है उसी प्रकार को विषय-सुख को मिठाई है । यद्यपि वह मीठी मालूम होती है; परन्तु है वह बहुत कटु ! इसी लिए कहते हैं कि, 'राम' में प्रीति रखो ॥६६-६७॥

यह सुन कर भाविक शिष्य कहता है:—“हे स्वामी, अब ऐसा उपाय बताओ कि जिससे यह जन्म सुफल हो और यम-लोक बूटे ॥ ६८ ॥ हे

महाराज ! परमात्मा कहां है और वह मुझे कैसे मिले ? और यह दुःख का मूल जो संसार है वह कैसे छूटे ? ॥ ६६ ॥ हे कृपामूर्ति ! मुझ दीन को ऐसा उपाय बताइए जिससे निश्चय करके भगवान् मिले और अधोगति दूर हो ” ॥७०॥ वक्ता कहता है कि, “ भाई ! अनन्य होकर भगवान् का भजन करना चाहिए—इससे सहज ही समाधान होगा ” ॥७१॥ “ भगवान् का भजन कैसे करें ? मन कहां रखें ? कृपा करके मुझे भगवद्भजन का लक्षण बतलाइए ” ॥ ७२ ॥ इस प्रकार भाविक शिष्य उदासमुख से बोला और दृढ़ता के साथ पैर पकड़े । वह गद्गदकंठ हो आया और दुःख से उसके अश्रुपात होने लगे ! ॥ ७३ ॥ शिष्य की अनन्य भक्ति देख, सद्भाव से प्रसन्न होकर, श्रीसद्गुरु ने कहा कि “ अब अगले समासों में स्वानन्द उमड़ेगा ” ॥७४॥

चौथा दशक ।



पहला समास-श्रवणभक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

हे गणनाथ ! तेरी जय हो, जय हो। तू विद्या-वैभव में समर्थ है। अब कृपा करके मुझे अध्यात्म-विद्या का परमार्थ बतलाने की शक्ति दे ॥ १ ॥ हे वेदमाता शारदा ! तुझे भी मैं नमन करता हूँ। तेरे ही प्रताप से सकल सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और तेरे ही कारण मन स्फूर्तिरूप से मनन करने में प्रवृत्त होता है ॥ २ ॥ अब सद्गुरु का स्मरण करता हूँ, जो श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है और जिसकी कृपा से ज्ञान-विवेक प्रकट होने लगता है ॥ ३ ॥ श्रोताओं ने यह अच्छा प्रश्न किया है कि भगवद्भजन कैसे किया जाय। अतएव अनेक ग्रन्थों और सत् शास्त्रों के आधार से, नवधा भक्ति का वर्णन किया जाता है। इसे श्रोता लोग सावधान होकर सुनें और पावन हों ॥ ४-५ ॥

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः-स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ १ ॥

श्रवण, कीर्तन, विष्णु-स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन-ये भक्ति के नव भेद हैं। इनमें से अब प्रत्येक का खुलासा, एक एक समास में करते हैं। श्रोता लोगों को सावधान हो जाना चाहिए ॥ ६ ॥

पहली भक्ति यह है कि हरिकथा, पुराण और नाना प्रकार का अध्यात्म-निरूपण सुनते रहना चाहिये ॥ ७ ॥ कर्ममार्ग, उपासनामार्ग, ज्ञानमार्ग, सिद्धान्तमार्ग, योगमार्ग और वैराग्य-मार्ग-ये सब सुनते जाना चाहिये ॥ ८ ॥ अनेक प्रकार के व्रत, तीर्थ और दानों की महिमा सुनना चाहिए ॥ ९ ॥ अनेक प्रकार का माहात्म्य, अनेक स्थानों का वर्णन, अनेक मंत्र, अनेक साधन, अनेक प्रकार के तप और पुरश्चरण सुनना चाहिए ॥ १० ॥ दुग्धाहार करनेवाले, निराहार रहनेवाले, फलाहार करनेवाले, पत्तों का आहार करनेवाले, घास का आहार करनेवाले और नाना प्रकार का आहार करनेवाले कैसे होते हैं-उनका हाल सुनते रहना चाहिये ॥ ११ ॥ गर्मी में, जल में, शीत में, वन में, पृथ्वी के भीतर और आकाश में किस प्रकार वास किया जाता है, सो सुनना चाहिये ॥ १२ ॥ जपी, तपी, तामसयोगी,

निग्रही, हठयोगी, शाक्तमार्गी, अधोरयोगी—ये कैसे होते हैं, सो सुनना चाहिए ॥ १३ ॥ अनेक प्रकार की मुद्रा, अनेक आसन, अनेक लक्षणस्थान, पिण्डज्ञान और तत्त्वज्ञान आदि का वर्णन सुनना चाहिये ॥ १४ ॥ नाना प्रकार के पिंडों की रचना, अनेक प्रकार की भूगोल-रचना और नाना प्रकार की सृष्टिरचना किस प्रकार होती है, सो सुनना चाहिये ॥ १५ ॥ चन्द्र, सूर्य, तारामंडल, ग्रहमंडल, मेघमंडल, इक्कीस स्वर्ग और सात पाताल किस प्रकार के हैं, सो सुनना चाहिए ॥ १६ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश के स्थान; इंद्र, आदि देव और ऋषियों के स्थान, तथा वायु, वरुण और कुबेर के स्थान कैसे हैं, सो श्रवण करना चाहिये ॥ १७ ॥ नवखंड, चौदह भुवन, आठ दिग्पालों के स्थान, अनेक गहन वन-उपवन, इन सब का वर्णन सुनना चाहिये ॥ १८ ॥ गण, गन्धर्व, विद्याधर, यक्ष, किन्नर, नारद, तुंबरू, अष्टनायक, आदि के संगीत-विचार का वर्णन सुनना चाहिये ॥ १९ ॥ राग का ज्ञान, ताल का ज्ञान, नृत्य का ज्ञान, वाद्य का ज्ञान, अमृतसिद्धि-योग और; प्रसंग का ज्ञान कैसे होता है, सो भी सुनना चाहिए ॥ २० ॥ चौदह विद्या, चौसठ कला, सामुद्रिक-लक्षण, मनुष्य के बत्तीस लक्षण और नाना प्रकार की कला कैसी होती हैं, सो सब सुनना चाहिये ॥ २१ ॥ मंत्र, ओषधिमणि, सूत्रग्रन्थि, सिद्धि, नाना बोलियां, नाना ओषधियां, धातु, रसायनक्रिया और नाटिका-ज्ञान सुनना चाहिए ॥ २२ ॥ किस दोष से कौन रोग होता है, किस रोग के लिए कौन प्रयोग कहा है और कौन से प्रयोग के लिए कौन सा योग सधता है—सो सब सुनना चाहिये ॥ २३ ॥ रौरव, कुम्भपाक, आदि नरक, यमलोक की नाना यातनाएं, स्वर्ग-नरक के सुखदुख आदि कैसे होते हैं, सो सब सुनना चाहिए ॥ २४ ॥ नवविधा भक्ति और चतुर्विधा मुक्ति कैसी होती है और उत्तम, गति कैसे मिलती है—यह सब सुनना चाहिये ॥ २५ ॥ पिण्ड और ब्रह्मांड की रचना, नाना प्रकार के तत्वों का विवेक और सार-असार का विचार सुनना चाहिये ॥ २६ ॥ सायुज्य मुक्ति कैसी होती है, मोक्ष कैसे मिलता है—यह जानने के लिए अनेक सद्ग्रन्थों का श्रवण करना चाहिए ॥ २७ ॥ वेद, शास्त्र, पुराण, और 'तत्त्वमसि,' आदि महावाक्यों के विवरण, तनुचतुष्टय, (अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म कारण, महाकारण ये चार प्रकार के शरीर) का निरसन किस प्रकार होता है, सो सुनना चाहिये ॥ २८ ॥ सुनना तो यह सब चाहिए; परन्तु सार ढूँढ लेना चाहिए; और असार को, पहचान कर, छोड़ देना चाहिए—इसका नाम है श्रवणभक्ति ॥ २९ ॥ सगुण परमात्मा के चरित्र सुनना चाहिये अथवा निर्गुण का, अध्यात्म-ज्ञान के द्वारा, खोज करना चाहिये—यही श्रवणभक्ति के लक्षण है ॥ ३० ॥ सगुण ईश्वर के

ध्वनि तथा निर्गुण के तत्व और यन्त्र, ये दोनों बातें परम पवित्र हैं—इनको सुनते रहना चाहिए ॥ ३१ ॥ जयन्तियाँ, उपवास, नाना प्रकार के साधन, मन्त्र, यन्त्र, जप, ध्यान, कीर्ति, स्तुति, स्तवन और भजन आदि, नाना प्रकार से, सुनते रहना चाहिए ॥ ३२ ॥ इस प्रकार सगुण परमात्मा के गुणों का, और निर्गुण के अध्यात्मनिरूपण का, श्रवण करना चाहिए और भिन्नता छोड़ कर भक्ति का मूल ढूँढना चाहिए ॥ ३३ ॥ अब श्रोता लोग श्रवणभक्ति का निरूपण समझ गये होंगे; अतएव, आगे अब कीर्तनभक्ति का लक्षण बतलाया जाता है ॥ ३४ ॥

दूसरा समास--कीर्तनभक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

नवधा भक्ति में से श्रवण का निरूपण हो चुका, अब दूसरी कीर्तनभक्ति सुनिये:- ॥ १ ॥ सगुण परमात्मा के गुणों का कीर्तन करना चाहिये, और अपनी वाणी से जगत् में यथास्थित भगवान् की कीर्ति फैलाना चाहिए ॥ २ ॥ बहुत से ग्रन्थ पढ़ना चाहिए और ग्रन्थों की बातें कंठ करना चाहिए तथा भगवान् की कथा निरन्तर कहते रहना चाहिए ॥ ३ ॥ अपने सुख-स्वार्थ के लिए हरि-कथा कहते ही रहना चाहिए-हरि-कथा के बिना कभी न रहना चाहिए ॥ ४ ॥ नित्य नये उत्साह के साथ, हरि-कथा बढाने में, अत्यन्त उद्योग करना चाहिए और हरिकीर्तन से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भर देना चाहिए ॥ ५ ॥ अत्यन्त प्रेम और रुचि के साथ, सदा सर्वदा हरिकीर्तन के लिये तत्पर रहना चाहिए ॥ ६ ॥ भगवान् को कीर्तन बहुत प्रिय है: कीर्तन से समाधान होता है । कलियुग में बहुत मनुष्यों को हरिकीर्तन ही तारता है ॥ ७ ॥ विविध प्रकार के विचित्र ध्यान, अलंकार और भूषणों का वर्णन करना चाहिये और अंतःकरण में ध्यानमूर्ति को ला कर कथा कहना चाहिये ॥ ८ ॥ प्रेम के साथ, परमात्मा का यश, कीर्ति, प्रताप और महिमा वर्णन करना चाहिये, इससे भगवद्भक्तों को आत्मा संतुष्ट होता है ॥ ९ ॥ कथा, अन्वय, व्याख्या, करताल बजाते हुए परमात्मा के नामों का घोष, और प्रसंग आ पढ़ने पर अनेक कल्पित बातें, तथा घटित हुई बातें, अच्छी तरह बतलाना चाहिए ॥ १० ॥ ताल, मृदंग, हरिकीर्तन, संगीत, नृत्य, तान-मान, और नाना प्रकार की कथाओं का अनुसन्धान टूटने ही न देना चाहिये—बराबर जारी रखना चाहिये ॥ ११ ॥ करुणा-कीर्तन के आनन्द में आकर, उत्साह के साथ, कथा कहना चाहिये

और श्रोता जनों के श्रवण-पुट आनन्द से भर देना चाहिए ॥ १२ ॥ कंप, रोमाञ्च, स्फुरण और प्रेमाश्रु-सहित परमेश्वर के गुणानुवाद गाना चाहिये और देवस्थान में साष्टांग नमस्कार करना चाहिये, तथा लीनता के साथ लोटना चाहिये ॥ १३ ॥ पद, दोहा, श्लोक, प्रबन्ध घाटी, मुद्रा, आदि अनेक छन्द, वीरभाटी (वीरश्री का भाषण) और विनोद, अवसर देख कर, करना चाहिए ॥ १४ ॥ नाना प्रकार के नवरसिक, शृंगारिक, गद्य, पद्य के कौतुक, और अनेक भाँति के प्रस्ताविक वचन, शास्त्र के आधार से, बतलाना चाहिये ॥ १५ ॥ भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के लक्षण; नीति, न्याय और स्वधर्म की रक्षा का उपाय, साधन-मार्ग और अध्यात्म-निरूपण-ये सब अच्छी तरह से बतलाना चाहिये ॥ १६ ॥ मौका के अनुसार हरि की कथा कहना चाहिए-सगुणोपासक लोगों में सगुण परमात्मा की कीर्ति का वर्णन करना चाहिए और निर्गुण का अवसर आ जाने पर अध्यात्म-विद्या पर व्याख्यान करना चाहिए ॥ १७ ॥ पूर्वपक्ष को छोड़ कर, नियम के साथ, सिद्धान्त का निरूपण करना चाहिए । अपना कथन लोगों के सामने व्यवस्थित रीति से रखना चाहिए ॥ १८ ॥ वेदों का पारायण करना चाहिये, लोगों को पुराण सुनाना चाहिए तथा माया और ब्रह्म का खुलासा, पूरे तौर पर, करना चाहिए ॥ १९ ॥ ब्राह्मणत्व की, आदर के साथ, रक्षा करनी चाहिए । उपासना और भक्ति के साधन तथा पुरु-परम्परा स्थिर रखना चाहिए ॥ २० ॥ हरिकीर्तन में वैराग्य की रक्षा करना चाहिए तथा ज्ञान के लक्षण भी न छूटने देना चाहिए । परम चतुर और विलक्षण पुरुष सभी कुछ सम्हालते हैं ॥ २१ ॥ कीर्तन में ऐसा कुछ कथन न करना चाहिए कि जिससे सुननेवालों के मन का सत्य समाधान ढिग जाय और सन्देह आ जाय । कीर्तन में नीति-न्याय के साधनों की भी रक्षा करना चाहिए ॥ २२ ॥ सगुण परमात्मा के गुणानुवाद कहने को कीर्तन कहते हैं और अद्वैत के विवरण करने को अध्यात्म-निरूपण कहते हैं । जब कभी निर्गुण का निरूपण करना हो तब परमात्मा की सगुणता की भी रक्षा करना चाहिए, (अर्थात् अध्यात्म-निरूपण करते समय सगुण का खण्डन न करना चाहिए) ॥ २३ ॥ वक्तृता के लिए अधिकार चाहिए, अल्पज्ञ पुरुष सत्य व्याख्यान नहीं दे सकता, अतएव यथार्थ में वक्ता अनुभवी चाहिए ॥ २४ ॥ किसीका खंडन न करते हुए, और वेद की आज्ञा का मण्डन करते हुए, ऐसा ज्ञान बतलाना चाहिए जिससे सारे मनुष्य सदाचार में प्रवृत्त हों ॥ २५ ॥ अस्तु । सब वाद-विवादों को छोड़ कर परमात्मा के गुणानुवाद का कीर्तन करना चाहिए-इसीका नाम है भगवद्-भजन और यही दूसरी भक्ति है ॥ २६ ॥ भगवान् के गुणों का कीर्तन

करने से बड़े बड़े पाप कट जाते हैं और उत्तम गति मिलती है । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कीर्तन-भक्ति से अवश्य भगवत्प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥ कीर्तन से वाणी पवित्र होती है, सत्पात्रता आती है और सारे मनुष्य सुशील, या सदाचरणी, बनते हैं ॥ २८ ॥ कीर्तन से मन की चञ्चलता जाती है, बुद्धि स्थिर होती है और श्रोता-वक्ता, दोनों का, सन्देह दूर होता है ॥ २९ ॥ ब्रह्मपुत्र नारदजी सदा सर्वदा हरिकीर्तन करते रहते हैं; इसी कारण उन्हें स्वयं नारायण को पदवी मिली है ॥ ३० ॥ अतएव कीर्तन की महिमा अगाध है, कीर्तन से परमात्मा प्रसन्न होता है, जहाँ भगवान् के गुणानुवाद का कीर्तन होता है वही सारे तीर्थ, और स्वयं वह जगदात्मा, निवास करता है ॥ ३१ ॥

तीसरा समास—स्मरणभक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में सब को पावन करनेवालों कीर्तनभक्ति का वर्णन किया अब विष्णु-स्मरण नामक तीसरी भक्ति सुनिये:- ॥ १ ॥ मन में ईश्वर का स्मरण करना चाहिए, उसके अनन्त नामों का, अखंड रीति से, जप करना चाहिए—नामस्मरण से समाधान मिलता है ॥ २ ॥ नित्य, नियम के साथ, सुबह, दोहपर को, सन्ध्या-समय, और सदासर्वदा, अर्थात् अखंड, नाम-स्मरण करते रहना चाहिए ॥ ३ ॥ सुख, दुःख, उद्वेग और चिन्ता के समय, अथवा आनन्दरूप होने पर, या किसी समय, भी नामस्मरण के बिना न रहना चाहिए ॥ ४ ॥ हर्ष के समय, दुःख के समय, पर्व आदि का उत्सव करते समय, किसी शुभ-कार्य का प्रस्ताव करते समय, विश्राम के समय और निद्रा के समय नामस्मरण करना चाहिए ॥ ५ ॥ संकट के समय, गृहस्थों की अनेक भङ्गों के समय, अथवा किसी दुर्दशा के आने पर तुरन्त ही नामस्मरण करना चाहिए ॥ ६ ॥ चलते, बोलते, काम करते, खाते, पीते, सुखी होते, और नाना प्रकार के उपभोग भोगते समय भी परमात्मा का नाम न भूलना चाहिए ॥ ७ ॥ संपत्ति हो, चाहे विपत्ति हो और चाहे जैसी कालगति आ पड़े, परन्तु नामस्मरण कभी न छोड़ना चाहिए ॥ ८ ॥ वैभव, सामर्थ्य, सत्ता, अनेक पदार्थ और बड़े बड़े सुख भोगते समय भी, नामस्मरण न छोड़ना चाहिए ॥ ९ ॥ पहले बुरी दशा हो,

फिर अच्छी दशा हो, अथवा अच्छी दशा के बाद बुरी दशा हो-चाहे जैसा प्रसंग हो, परन्तु नाम न छोड़ना चाहिए ॥१०॥ भगवान् के नामों का स्मरण करने से संकट नाश होते हैं, विघ्न दूर होते हैं, और सद्गति मिलती है ॥११॥ भूत, पिशाच, नाना बाधाएं, ब्रह्मग्रह, ब्रह्मराक्षस, मंत्र-भ्रष्टता और नाना प्रकार के खेद नामस्मरण से नाश होते हैं ॥ १२ ॥ अखंड भगवन्नाम-स्मरण से विषबाधा हरती है, सम्पूर्ण रोग दूर होते हैं और अंतकाल में उत्तम गति मिलती है ॥१३॥ बालपन में, युवा-अवस्था में, कठिन समय में, बुढ़ापे में, सब समय में, और अत समय में, नामस्मरण रहना चाहिए ॥१४॥ नामस्मरण की महिमा शंकर अच्छी तरह जानते हैं । वे काशीजी में राम-नाम का उपदेश करते रहते हैं । रामनाम ही को बंदौलत काशी को लोग मुक्तिक्षेत्र कहते हैं ॥१५॥ 'राम राम' का उलटा नाम 'मरा मरा' जप कर वाल्मीकि सहज ही मुक्त होगये और उन्हें इतना ज्ञान होगया कि सौ करोड़ श्लोकों में श्रीरामचन्द्रजी का चरित्र, उनके अवतार के पहले ही, रच लिया ॥ १६ ॥ परमात्मा के 'हरि' नाम का जप करके प्रल्हाद मुक्त होगये, अनेक प्रकार के संकटों से बचे और 'नारायण' नाम जप कर पापी अजामिल भी पवित्र होगया ॥ १७ ॥ नामस्मरण से पाषाण के जड़जीव तक तर गये ! असंख्य भक्तों का उद्धार होगया और महापापी भी परम पवित्र ॥ १८ ॥

परमेश्वर के अनन्त नाम, नित्य-नियमपूर्वक, स्मरण करने से लोग तर जाते हैं । नामस्मरण करने से यमयातना का डर नहीं रहता ॥ १९ ॥ उसके हजारों नामों में से किसी एक ही नाम का भी स्मरण करने से जीवन सुफल हो जाता है, नामस्मरण करने से मनुष्य पुण्य-श्लोक बन जाता है ॥२०॥ मनुष्य कुछ न करे, सिर्फ 'राम यह नाम जपे, तो इतने ही से वह चक्रपाणे, परम रत्नक परमेश्वर, प्रसन्न होकर भक्त को संभालता है ॥२१॥ जो सदा नाम-स्मरण करता है वह पुण्यात्मा है । 'राम' नाम से महा पापों के पर्वत नाश होते हैं ॥२२॥ भगवन्नामस्मरण की महिमा अगाध है-वर्णन नहीं की जा सकती ! नामस्मरण से बहुत लोक मुक्त हो गये-स्वयं महादेव जो भी जब हलाहल से व्याकुल हुए तब 'राम' नाम ही जप कर उस संकट से बचे ॥ २३ ॥ ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष, सब को नामस्मरण का अधिकार है । नाम-स्मरण के लिए छोटे-बड़े का विचार नहीं है । नामस्मरण से जड़ और मूढ़ भी तर जाते हैं ॥ २४ ॥ अतएव परमेश्वर के नामों का अखण्ड रीति से स्मरण करना चाहिए और भगवान् के रूप का मन में ध्यान करना चाहिए-यही तीसरी भक्ति है ॥ २५ ॥

चौथा समास-पादसेवनभक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में स्मरणभक्ति का निरूपण किया गया । अब पादसेवन नामक चौथी भक्ति सुनिष्ट ॥ १ ॥ मोक्ष की इच्छा रख कर तन-मन और वचन से सद्गुरु के चरणों की सेवा करना ही पादसेवनभक्ति है ॥ २ ॥ जन्म-मरण को यातनाएँ दूर करने के हेतु सद्गुरु के चरणों में अनन्यता रखने का ही नाम पादसेवन है ॥ ३ ॥ सद्गुरु-कृपा के बिना इस संसार से पार होने के लिए कोई उपाय नहीं है । इसे कारण प्रेमपूर्वक सद्गुरु-चरणों की सेवा करना चाहिए ॥ ४ ॥ सद्गुरु सम्पूर्ण सारासार का विचार करा कर, परमात्मदर्शन करा देता है ॥ ५ ॥ वस्तु (ब्रह्म) दृष्टि से देख नहीं पड़ती, मन को भास नहीं होती और संगत्याग के बिना अनुभव में नहीं आती । अनुभव यदि लेना चाहें तो संगत्याग नहीं होता, और संगत्याग से अनुभव नहीं आता-ये बातें अनुभवों ही को भास होती हैं, औरों के लिए तो कोरी गाथा है* ॥ ६ ॥ ७ ॥ संगत्याग, आत्मानेवेदन, विदेहस्थिति, अलि-सता, सहजस्थिति, उन्मनी और विज्ञान ये सातों एक रूप हैं ॥ ८ ॥ इनके सिवा और भी नाम हैं । उन्हें समाधान के संकेतवचन कहना चाहिए । साधु-चरणों की सेवा करने से सब मालूम हो जाता है ॥ ९ ॥ वेद, वेदों का रहस्य, वेदान्त, सिद्ध, सिद्ध-भाव, सिद्धान्त का रहस्य; अनुभव, अनुभव को बात, अनुभव का फल, और सत्य वस्तु (ब्रह्म) आदि, बहुत से अनुभव के द्वार हैं-अर्थात् इन सब द्वारों का ज्ञान प्राप्त हो जाने से अनुभव आता है और यह ज्ञान सन्तों की सेवा करने से मिलता है । अतएव इस चौथी भक्ति (सन्तसेवा) के योग से गौप्य (परब्रह्म) प्रकट हो जाता है ॥१०॥ ॥११॥ वह प्रकट होते हुए गौप्य है और गौप्य होते हुए भी प्रकट है-और वह 'गौप्य' तथा 'प्रकट' दोनों से अलग है । उसका मार्ग-उसके जानने का-उपाय-गुरुगम्य है; अर्थात् महात्माओं की सेवा के बिना-चौथी भक्ति किए बिना-उसका मार्ग मिल नहीं सकता ॥ १२ ॥ मार्ग है; पर वह

* यदि अनुभव लेना चाहें तो संगत्याग, (अर्थात् अहकार, अभिमान और देहबुद्धि का त्याग) नहीं होता, क्योंकि अनुभव लेने की इच्छा करते ही अनुभव, अनुभव लेनेवाला, और अनुभव लेने योग्य विषय-ये तीन सग लगते हैं; अच्छा, अगर ये तीनों छोड़ दें तो 'अनुभव' शब्द भी छूटा जाता है; क्योंकि उसी लिपुटी में यह भी है; इसके अतिरिक्त एक बात और है, कि जब अहकार का भाव ही नहीं तब अनुभव कैसा और उसे ले कौन? साराश, ये बातें अनुभवों ही जानते हैं; दूसरे के लिए तो कोरी गाथा है ।

आकाश की तरह शून्य है-गुप्त है-वह सब प्रकार से शंकापूर्ण है; और यदि उस अलज को देखने जाते हैं तो वह देख नहीं पड़ता ॥ १३ ॥ लज से जिसे लखते हैं, ध्यान से जिसे ध्याते हैं, वही (परब्रह्म), त्रिविधा प्रतीति से-अर्थात् शास्त्र, गुरु और आत्मा, तीनों का अनुभव एक करके-स्वयं हो जाना चाहिए ॥ १४ ॥ अस्तु । ये अनुभव के द्वार सार-असार-विचार से मालूम होते हैं और सत्य बात सत्संग से अनुभव में आती है ॥ १५ ॥ यदि सत्य देखने जाते हैं तो असत्य का अभाव पाया जाता है और यदि असत्य देखने जाते हैं तो सत्य नहीं दिखता. क्योंकि सत्यासत्य का देखना देखनेवाले के पास है ॥ १६ ॥ देखनेवाला जिसे देखने लगता है उसी के रूप में जब वह हो जाता है-अर्थात् द्रष्टा, दर्शन और दृश्य, ये तीनों, जब एक हो जाते हैं तब फिर समाधान प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ कंसा ही समाधान क्यों न हो, वह सद्गुरु से ही मिलता है-सद्गुरु के बिना कदापि सन्मार्ग नहीं मिल सकता ॥ १८ ॥ नाना प्रकार के प्रयोग, साधन, परिश्रम, उद्योग और विद्याभ्यास, अथवा किसी प्रकार के अभ्यास से भी, गुरुगम्य मार्ग नहीं मिल सकता ॥ १९ ॥ जो अभ्यास से नहीं आ सकता, जो साधन से नहीं साध्य हो सकता, वह भला सद्गुरु के बिना क्यों मालूम होने लगा? ॥ २० ॥ इस लिए ज्ञानमार्ग जानने के लिए सत्संग ही करना चाहिए-इसके बिना उसकी बात ही न करो ॥ २१ ॥ सद्गुरु के चरणों की सेवा करना चाहिए-इसीका नाम पादसेवन है-यही चौथी भक्ति है ॥ २२ ॥ जनरूढ़ि की दृष्टि से, देव, ब्राह्मण, महानुभाव, सत्पात्र और भजन के तर्ह दृढतापूर्वक सद्भाव रखना भी 'सेवा-भक्ति' है, परन्तु वास्तव में सद्गुरु के ही चरणों की सेवा करने का नाम पादसेवन है ॥ २३ ॥ २४ ॥ यह पादसेवन नाम की चौथी भक्ति तीनों लोक को पावन करती है और इससे साधक को सायुज्य मुक्ति मिलती है ॥ २५ ॥ अतएव, चौथी भक्ति का निर्णय बड़े महत्त्व का है-इससे अनेक मनुष्य तरते हैं ॥ २६ ॥

पाँचवाँ समास-अर्चनभक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

अभी चौथी भक्ति का लक्षण बतलाया, अब सावधान होकर पाँचवीं भक्ति सुनिये ॥ १ ॥ पाँचवीं भक्ति का नाम अर्चन है । 'अर्चन' देवता-र्चन को कहते हैं-अर्थात् शास्त्रों के अनुसार भगवान् को पूजा करना

चाहिए ॥ २ ॥ नाना प्रकार के आसन तथा अन्य सामग्री, वस्त्र, अलंकार, भूषण, आदि के सहित मानसपूजा, और मूर्ति का ध्यान, करना पांचवीं भक्ति है ॥ ३ ॥ देव, ब्राह्मण और अग्नि की पूजा करना, साधुसंत और अतिथि-अभ्यागत को पूजा करना, यती महानुभाव और गायत्री की पूजा करना पांचवीं भक्ति है ॥ ४ ॥ धातु, पाषाण और मृत्तिका की मूर्तियों का पूजन, चित्र-लिखित मूर्ति और सत्त्व का पूजन, और अपने घर के देवताओं का पूजन करना पांचवीं भक्ति (अर्चन) है ॥ ५ ॥ सप्त-आंकित और नव-आंकित शिलाएँ, शालिग्राम, शकल, चक्रआंकित लिंग, सूर्यकांत, सोमकांत, बाण-तांडल, मंदेश्वर, आदि मूर्तियों की पूजा करनी चाहिए ॥ ६ ॥ भैरव, भगवती, खंडेराव, मुंजा, नृसिंह, वनशंकरा, नाग, सिके, आदि अनेक देवमूर्तियों और पंचायतन को पूजा करनी चाहिये ॥ ७ ॥ गणेश, शारदा, विठ्ठल, बालकृष्ण, जगन्नाथ, तांडवमूर्ति, श्रीरंग, हनुमत और गरुड़ की मूर्तियाँ देवतार्चन में पूजना चाहिये ॥ ८ ॥ मत्स्य, कूर्म और वराह की मूर्ति, नृसिंह वामन और भार्गव की मूर्ति, रामकृष्ण और ह्य-ग्राव की मूर्ति देवतार्चन में पूजना चाहिये ॥ ९ ॥ केशव, नारायण और माधव की मूर्ति, गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन की मूर्ति, त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर की मूर्ति तथा हृषीकेश और पद्मनामि की मूर्ति पूजना चाहिए ॥ १० ॥ दामोदर, संकर्षण और वासुदेव की मूर्तियाँ, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और पुरुषोत्तम की मूर्तियाँ, अधोक्षज, नारसिंह और अच्युत की मूर्तियाँ तथा जनार्दन और उपेन्द्र की पूजा करना चाहिए ॥ ११ ॥ हरि और हर की अनन्त मूर्तियाँ, भगवान्, जगदात्मा और जगदीश की मूर्तियाँ, शिव और शक्ति की अनन्त मूर्तियाँ देवतार्चन में पूजना चाहिये ॥ १२ ॥ अश्वत्थ नारायण, सूर्यनारायण, लक्ष्मीनारायण, त्रिमल्लनारायण, श्रीहरिनारायण, आदि-नारायण और शेषशायी परमात्मा की मूर्तियाँ पूजना चाहिये ॥ १३ ॥

इस प्रकार सारे जगत् में परमेश्वर की अनन्त मूर्तियाँ हैं- सब का अर्चन करना पांचवीं भक्ति है ॥ १४ ॥ इसके अतिरिक्त, कुलधर्म के अनुसार, उत्तम-मध्यम रीति से, अनेक देवी-देवताओं की भी पूजा करते रहना चाहिए-किसीको छोड़ना न चाहिए ॥ १५-१६ ॥ अनेक तीर्थक्षेत्रों को जाना चाहिए और वहाँ के देवताओं की पूजा करनी चाहिए-नाना प्रकार की सामग्रियों से परमेश्वर का अर्चन करना चाहिए ॥ १७ ॥ पंचामृत, चन्दन, अक्षत, पुष्प-धूप, दीप, कपूर, आदि अनेक परिमल-द्रव्यों से भगवान् की पूजा करनी चाहिए ॥ १८ ॥ नाना प्रकार के भोजनों को सुन्दर नैवेद्य, अनेक फल, तांबूल, दक्षिणा, अनेक प्रकार के अलंकार, दिव्य वस्त्र और वनमाला आदि सामग्रियाँ भगवान् को अर्पण करनी चाहिए ॥ १९ ॥

पालकी, छत्र, सुखासन, मेघाडम्बर, सूर्यमुखी, पताका, निशान, आदि सामग्री, वीणा, कर-ताल, भांझ, मृदंग, आदि नाना प्रकार के वाद्य, इत्यादि की धूमधाम से भगवान् के उत्सव करने चाहिए और भक्तिभाव-पूर्वक अनेक सन्तों तथा कीर्तनकारों का गान कराना चाहिए, इससे भगवान् में सद्भाव बढ़ता है ॥ २०-२१ ॥ बापी, कूप, सरोवर, देवालय शिखर, राजांगण, तुलसीवन, भुँहरे बनवाना चाहिये ॥ २२ ॥ मठ, मठियां, धर्म-शाला, देवस्थान में निवासस्थान बनवाना चाहिए और सत्ताईस मोतियों की माला, तथा अनेक प्रकार के वस्त्र, आदि नाना प्रकार की सामग्री जोड़ना चाहिए ॥ २३ ॥ अनेक प्रकार के पडदे, मंडप, चँदोवे और नाना प्रकार के रत्न, तोरण, घंटा, हाथी, घोड़े, और गाड़ियां अनेक देवाल्यों में समर्पण करना चाहिए ॥ २४ ॥ अलंकार और अलंकार-पात्र, द्रव्य और द्रव्य-पात्र, अन्न-उदक के पात्र, भांति भांति के समर्पण करना चाहिए ॥ २५ ॥ वन, उपवन, पुष्प-चाटिका और तपस्त्रियों की पर्यकुटियां बनवाना चाहिए । यही सब भगवान् की पूजा है ॥ २६ ॥ शुक, सारिका, मोर, बंदक, चक्रवाक, चकोर, कोकिला, चित्तल हरिन, बारहसिंहा देवालय का समर्पण करने चाहिए ॥ २७ ॥ कस्तूरिया हरिन, बिल्लियां, गाई, भैंसी, बैल, बन्दर, नाना प्रकार के पदार्थ और लडके देवालय में समर्पित करना चाहिए ॥ २८ ॥

इस प्रकार तन, मन, वचन, चित्त, वित्त, जीव, प्राण, और सद्भाव से, भगवान् का अर्चन करना चाहिए-इसीका नाम अर्चनभक्ति है ॥ २९ ॥ इसी रीति से सद्गुरु का भी पूजन करके, उनके शरण में अनन्य रहना चाहिए ॥ ३० ॥ यदि उपर्युक्त प्रकार से सांगोपांग पूजा न बन पड़े तो परमेश्वर की मानसपूजा तो अवश्य ही करनी चाहिए । मानसपूजा का घटा महत्त्व है ॥ ३१ ॥ मानसपूजा का लक्षण यह है कि मन ही मन में अपना रूप, भगवान् का रूप और सम्पूर्ण पूजन-सामग्री कल्पित करके परमात्मा का अर्चन करना चाहिए ॥ ३२ ॥ मानस-पूजा में जिस जिस पदार्थ की अपने को जरूरत हो-उस उसकी कल्पना करके परमेश्वर को अर्पण करना चाहिए ॥ ३३ ॥

छठवाँ समास--वन्दनभक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में पाँचवी भक्ति 'अर्चन' के लक्षण बतलाये, अब 'वन्दन' नामक छठवाँ भक्ति सुनिये ॥ १ ॥ ईश्वर, संत-साधु और सज्जनों को नमस्कार करना वन्दनभक्ति है ॥ २ ॥ सूर्य, ईश्वर और सद्गुरु को साष्टांग भाव से नमस्कार करना चाहिए ॥ ३ ॥ अनेक देवताओं की प्रतिमाओं को, ईश्वर को और गुरु को साष्टांग प्रणाम कहा है और दूसरों को, उनके अधिकार के अनुसार, नमन करना चाहिए ॥४॥ छप्पन कोटि (योजन ?) विस्तार की पृथ्वी में विष्णु की अनन्त मूर्तियाँ रहती हैं—उनको प्रीतिपूर्वक साष्टांग नमस्कार करना चाहिए ॥ ५ ॥ महादेव, विष्णु, सूर्य और हनुमान के दर्शन से पाप कटते हैं, तथा नित्य-नियम से, इनको नमस्कार करने से विशेष पुण्य होता है ॥ ६ ॥

शंकरः शेषशायी च मार्तण्डो मारुतिस्तथा ॥

एतेषां दर्शनं पुण्यं नित्यनेमे विशेषतः ॥ १ ॥

भक्त, ज्ञानी, वीतरागी, महानुभाव, तापसी, योगी और सत्पात्र को देख कर वेग ही नमस्कार करना चाहिए ॥ ७ ॥ वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ, सर्वज्ञ, पंडित, पौराणिक, विद्वज्जन, याज्ञिक, वैदिक और पवित्र जनों को नमस्कार करते रहना चाहिए ॥८॥ जिसमें कोई विशेष गुण देख पड़ें उसी में सद्गुरु का अधिष्ठान है; अतएव, अति आदर से, उसको नमन करना चाहिए ॥९॥ गरुडेश, सरस्वती, शक्ति, विष्णु और शिव को अनन्त मूर्तियाँ हैं—कहाँ तक बतलाऊँ—उन सब को, प्रेमपूर्वक, नमस्कार करना चाहिए ॥ १० ॥ सब देवताओं को जो नमस्कार किया जाता है वह एक भगवान् को मिलता है—इसी अर्थ में एक वचन कहा है; वह सुनिये ॥ ११ ॥

आकाशात्पतितं ताये यथा गच्छति सागरम् ॥

सर्वदेवनमस्कारः केशवप्रति गच्छति ॥ १ ॥

अतएव, सब देवताओं को, बड़े आदर के साथ, नमस्कार करना चाहिए। देवताओं को परमात्मा का अधिष्ठान मानने से परम सुख होता है ॥ १२ ॥ जैसे देवता लोग परमात्मा के अधिष्ठान हैं वैसे ही सत्पात्र लोग सद्गुरु के अधिष्ठान हैं, इस लिए इन सब को नमस्कार करना चाहिए ॥ १३ ॥ नमस्कार से लीनता आती है, नमस्कार से विकल्प नाश होता है, और नमस्कार से अनेक प्रकार के सज्जनों से मित्रता होती है ॥१४॥ नमस्कार से दोष जाते हैं, नमस्कार से अन्याय क्षमा होते हैं और नमस्कार से सन्देह

दूर होते हैं ॥ १५ ॥ लोग कहते हैं कि 'सिर नीचा हो जाने' से बढ कर और कोई दण्ड नहीं है-अर्थात् नम्रतापूर्वक लज्जित होजाने से ही अपराध क्षमा हो जाता है । अतएव साधुसंतों को वन्दना करके सदैव उनकी शरण में रहना चाहिए ॥ १६ ॥ नमस्कार से कृपा उमडती है, नमस्कार से प्रसन्नता बढती है और नमस्कार से गुरुदेव साधकों पर प्रसन्न होता है ॥१७॥ सदैव नमस्कार करते रहने से-सदा सब से नम्र रहने से-पापों के पर्वत नाश होते हैं और परम पिता परमेश्वर कृपा करता है ॥१८॥ नमस्कार से पातित लोग पावन होते हैं, नमस्कार से संतों की शरण मिलती है और नमस्कार से जन्म-मरण दूर होता है ॥१९॥ कोई बडा भारी अन्याय करके आया हो और सायांग नमस्कार करे तो वह अन्याय श्रेष्ठों को क्षमा करना ही चाहिए ॥२०॥ अतएव, नमस्कार से बढ कर और कोई अनुकरण करने योग्य बात नहीं है । नमस्कार से मनुष्यों को सदबुद्धि प्राप्त होती है ॥२१॥ नमस्कार करने में कुछ खर्च नहीं पडता, कोई कष्ट नहीं उठाना पडता और न, नमस्कार करने में, किसी सामग्री ही को जरूरत होती है ॥ २२ ॥ संसार से छूटने के लिए, नमस्कार के समान, और कोई सहज उपाय नहीं है, परन्तु नमस्कार अनन्य होकर करना चाहिए ! इतना, सहज उपाय छोड कर अनेक साधनों और उद्योगों में व्यर्थ क्यों परिश्रम करना चाहिए ? ॥२३॥ साधक जब भक्ति-भावपूर्वक नमस्कार करता है तब साधू को उसकी चिन्ता लगती है, और वह उसको मुक्ति पाने का सुगम मार्ग बतला देता है ॥२४॥ अतएव वन्दन-भक्ति सर्वश्रेष्ठ है । वन्दना करने से बडे बडे सत्पुरुष प्रसन्न हो जाते हैं । यही छठवीं भक्ति है ॥ २५ ॥

सातवाँ समास--दास्यभक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में वन्दनभक्ति का निरूपण होचुका; अब, सातवाँ भक्ति 'दास्य' का वर्णन सुनिष् ॥ १ ॥ इस भक्ति में, जो कुछ काम आ पड़े, सब करना चाहिए और सदैव देवस्थान में द्वाजिर रहना चाहिए ॥ २ ॥ भगवान् का वंभत्र नमालना चाहिए, कोई न्यूनता न होने देना चाहिए-भगवान् के भजन का सूत्र विस्तार करना चाहिए ॥३॥ दूटे दृष्ट देवालय सुधारना चाहिए, दूटे दृष्ट मंगोवर बंधाना चाहिए, धर्मशालाएं और निवासस्थान जारी रखना चाहिए और निन्द्य नये नये काम शून्य करने चाहिए ॥ ४ ॥

नाना प्रकार की जीर्ण-जर्जर रचनाओं का जीर्णोद्धार करना चाहिए । जो काम आ पड़े शीघ्र ही करना चाहिए ॥ ५ ॥ हाथी, घोड़ा, रथ, सिंहासन, चौकियाँ, पालको, सुखासन, मंचान, डोले और विमान, नये नये, बनवाना चाहिए ॥ ६ ॥ मेघाडंबर, छत्र, चामर, सूर्यमुखी, निशान, आदि बहुत सी सामग्रियाँ, अत्यन्त आदर से, नित्य नवीन नवीन, बनवाना चाहिए ॥ ७ ॥ नाना प्रकार के यान, बैठने के लिए उत्तम स्थान और बहुत प्रकार के सुवर्ण-आसन यत्न के साथ बनवाना चाहिए ॥ ८ ॥ भवन, कोठडियाँ, पेटी, संदूकें, नाँदें, डहरो, घड़े, और सब द्रव्य बड़े प्रयत्न से रखना चाहिए ॥ ९ ॥ भुँहरे, तहखाने, विवर, आदि अनेक स्थलः गुप्तद्वार और अमूल्य वस्तुओं के भांडार बड़े यत्न के साथ बनवाते रहना चाहिए ॥ १० ॥ अलंकार, भूषण, दिव्य वस्त्र, मनोहर रत्न, सुवर्ण, आदि नाना प्रकार की धातुओं के पात्र प्रयत्नपूर्वक एकत्र करना चाहिए ॥ ११ ॥ पुष्पवाटिका, और नाना प्रकार के श्रेष्ठ वृक्षों के वाग लगाना चाहिए, और उनको जल से सींचते रहना चाहिए ॥ १२ ॥ पशु-शाला, पक्षिशाला, चित्रशाला, नाट्यशाला, इत्यादि देवस्थान में तैयार करवाना चाहिए तथा नाना प्रकार के वाद्य और गुणी गायक एकत्र करने चाहिये ॥ १३ ॥ पाक-शाला, भोजनशाला, धर्मशाला, सोनेवालों के लिए शयनागार, सामग्री रखने के लिए स्थान, इत्यादि विशाल स्थल तैयार करवाने चाहिये ॥ १४ ॥ नाना प्रकार के परिमल-द्रव्यों के स्थान, भिन्न भिन्न खाद्य फलों के स्थान, अनेक प्रकार की वस्तुओं के भिन्न भिन्न स्थान, यत्न से बनवाना चाहिए ॥ १५ ॥ अनेक प्रकार की वस्तुओं के भिन्न भिन्न दूटे स्थान नूतन बनवाना चाहिए । भगवान् का वैभव अनिर्वचनीय है—कहाँ तक बतलावें ॥ १६ ॥ सब कामों के लिए तैयार रहना चाहिए, भगवान् की सेवा में तत्पर रहना चाहिए—कोई काम भूलना न चाहिए ॥ १७ ॥ जयन्तियाँ और पर्वों आदि के महोत्सव सदैव इस धूमधाम के साथ करना चाहिए कि जिन्हें देखकर स्वर्ग के देवता भी मुग्ध हो जायें ॥ १८ ॥ भगवान् की नीच से नीच सेवा भी अंगीकार करना चाहिए और मौका आ जाने पर सब प्रकार से सावधान रहना चाहिए ॥ १९ ॥ जो जो कुछ चाहना हो सो सो उसी देना चाहिए और सब सेवा अत्यंत प्रेमपूर्वक करना चाहिए ॥ २० ॥ पाद-प्रक्षालन, स्नान, आचमन, चन्दनाक्षत, वसन, भूषण, आसन, जीवन (जल), नाना प्रकार के सुमन (पुष्प), धूप, दीप और नैवेद्य आदि सब ठीक रखना चाहिए ॥ २१ ॥ शयन के लिए उत्तम स्थान, पीने के लिए सुन्दर शीतल जल, रखना चाहिए; ताम्बूल अर्पण करना चाहिए और राग-रागिनी से रँग कर भक्ति के रसाल पदों का गान करना चाहिए ॥ २२ ॥ परिमलद्रव्य, फुलेल, नाना प्रकार का सुगन्धित तेल और बहुत तरह के खाने लायक फल

मौजूद रहना चाहिए ॥ २३ ॥ देवस्थान लीपपोत कर स्वच्छ रखना चाहिए, जल-पात्रों में जल भरना चाहिए और वस्त्र सुन्दर स्वच्छ रखना चाहिए ॥२४॥

सब की फिकर रखना चाहिए, आये हुए का सत्कार करना चाहिए, यही सत्य सातवीं भक्ति है ॥ २५ ॥ नाना प्रकार की स्तुति और कसणा से पूर्ण ऐसे वचन बोलना चाहिए कि जिनसे मनुष्यमात्र का चित्त प्रसन्न हो ॥ २६ ॥ यह सातवीं दास्यभक्ति यथामति बतलाई गई । जैसे भगवान् को वैसे ही सद्गुरु की भी सेवा करनी चाहिए । यदि प्रत्यक्ष न बन पड़े तो मानस-पूजा की ही तरह यह दास्यभक्ति भी करनी चाहिए ॥२७॥२८॥

आठवाँ समास--सख्यभक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

अभी सातवीं भक्ति का लक्षण बतलाया गया, अब, सावधान होकर, आठवीं भक्ति सुनो ॥ १ ॥ आठवीं भक्ति 'सख्य' का मुख्य लक्षण यह है कि परमात्मा को परम मित्र बनाना चाहिए, उसे प्रेम और प्रीति से वश में कर लेना चाहिए ॥ २ ॥ परमेश्वर से मित्रता करने का मुख्य उपाय यह है कि जो बातें उसे अच्छी लगती हों उन्हींके अनुसार आचरण करना चाहिए ॥ ३ ॥ भक्ति, भाव, भजन, अध्यात्म-निरूपण, भगवत्कथा, भगवद्गुण-कीर्तन, और प्रेमी भक्तों का गान परमेश्वर को अच्छा लगता है ॥ ४ ॥ यही सब बातें हमें भी करना चाहिए, हमें भी यही अच्छा लगना चाहिए; इससे भगवान् का और हमारा मन मिल जायगा; और, बस, दोनों की दोस्ती, सहज ही, हो जायगी ॥ ५ ॥ परमात्मा को मैत्री प्राप्त करने के लिए अपने सारे सुखों को तिलाञ्जलि दे देना चाहिए और, अनन्य भाव से, जीव, प्राण तथा शरीर तक उसे अर्पण कर देना चाहिए ॥ ६ ॥ अपनी गृहस्थों की भङ्गट छोड़ कर भगवान् की चिन्ता करते रहना चाहिए । निरूपण, कीर्तन, कथा, वार्ता, सब, ईश्वर-सम्बन्धी ही करना चाहिए ॥ ७ ॥ जगदीश्वर से मित्रता करने में यदि अपने इष्टमित्र, बन्धु-वान्धव कुटुम्बी, इत्यादि प्रेमियों को भी छोड़ना पड़े तो कोई परवा नहीं-उसे सर्वस्व अर्पण कर देना चाहिए और अन्त में प्राण भी उसके प्रीत्यर्थ जाना चाहिए ॥ ८ ॥ हृदय से, भगवान् में ऐसा प्रेम चाहिए कि हमारा सर्वस्व क्यों न जाय; परन्तु भगवान् को मित्रता न छूटे । भगवान् ही हमारा 'प्राण' है और प्राण की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है-यह परम

प्रीति का लक्षण है ॥ ६ ॥ १० ॥ ऐसी परम मित्रता होने पर परमेश्वर को भक्त को चिन्ता लगती है । देखिये न ! लाक्षागृह में जलते हुए पाण्डवों को विवरद्वारा निकाल कर, उसने कैसी रक्षा की ! ॥ ११ ॥ मित्ररूप में परमात्मा को अपने पास रखने की कुंजी हमारे ही पास है । जिस प्रकार कि पोलो जगह में जैसी हम आवाज करते हैं वैसी ही प्रतिध्वनि आती है उसी प्रकार, हम यदि परमात्मा पर अनन्य भाव रखते हैं तो वह भी, उसी समय, प्रसन्न हो जाता है और यदि हम उसको ओर से कुछ पराङ्मुख होते हैं तो वह भी हमारी ओर से पराङ्मुख हो जाता है ॥ १२ ॥ १३ ॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥

जो जैसी भक्ति करता है वैसा ही परमेश्वर भी उसके लिए हो जाता है ; अतएव इसकी सारी कुंजी हमारे ही पास है ॥ १४ ॥ यदि हमारे मन में अनुकूल कोई बात न हो, और इससे ईश्वर की हमारी भक्ति चली जाय तो इसका भी दोष हमारे ही ऊपर है ॥ १५ ॥ देखिये न, मेघ यद्यपि चातक पर प्रसन्न नहीं होता, तौ भी चातक अपना निश्चय नहीं छोड़ता तथा चन्द्र यद्यपि समय पर नहीं उगता तौ भी चकोर उससे अनन्य भाव रखता ही है ॥ १६ ॥ ऐसी मित्रता रखनी चाहिए । विवेक से धैर्य रखना चाहिए और भगवान् की ममता कभी न छोड़नी चाहिये ॥ १७ ॥ भगवान् को सखा मानना चाहिए । इतना ही नहीं, बरन् माता, पिता, गण, गोत, ब्रह्मा, लक्ष्मी, धन, वित्त, सब कुछ, परमात्मा ही को जानना चाहिए ॥ १८ ॥ यह तो सभी कहते हैं कि ईश्वर को छोड़ कर हमारे लिए और कोई नहीं है; परन्तु उनकी निष्ठा कुछ वैसी ही नहीं होती ! ॥ १९ ॥ अतएव ऐसा करना चाहिए—(यह तो कपट-मैत्री हुई)—मित्रता करना है तो फिर सखा ही करना चाहिए—परमेश्वर को, दृढतापूर्वक, हृदय में रखना चाहिए ॥ २० ॥ अपनी इच्छा के सम्बन्ध से (इच्छा पूर्ण न होने पर,) ईश्वर पर रोध करना सख्यभक्ति का लक्षण नहीं है ॥ २१ ॥ किन्तु ईश्वर की जैसी इच्छा हो वही करना हमें उचित है । इच्छा के कारण भगवान् को क्यों छोड़ना चाहिए ? ॥ २२ ॥ भगवान् की इच्छा के अनुकूल बर्ताव करना चाहिये, और वह जो कुछ करे उसे स्वीकार करना चाहिए, इससे सहज ही वह दया दिखलाता है ॥ २३ ॥ ईश्वर की कृपा के सामने माता की कृपा कोई चीज़ नहीं । माता तो विपत्तिकाल आने पर, बालक को मार भी सकती है ॥ २४ ॥ परन्तु यह कभी देखा या सुना नहीं गया कि ईश्वर ने किसी भक्त को मार डाला हो । शरणागत के लिए ईश्वर वज्र का पिंजरा, पर्याप्त प्रबल रक्षक, बन जाता है ॥ २५ ॥ परमात्मा भक्तों का पक्षपाती है.

वह पतितों को तारता है और अनार्यों का सहकारी बनता है ॥ २६ ॥ भगवान् अनार्यों की, अनेक संकटों से, रक्षा करता है । उस अन्तर्सीली परमात्मा ने गजेन्द्र का भी उद्धार किया था ॥ २७ ॥ ईश्वर कृपा का सागर और करुणा का मेघ है, वह भक्तों को कभी नहीं भूल सकता ॥ २८ ॥ भक्त पर प्रेम रखना परमेश्वर ही जानता है, अतएव उससे सख्यत्व करना चाहिए । ये सब कुटुम्बी बड़े छलिया हैं—ये अन्त में काम नहीं आते ॥ २९ ॥ ईश्वर की मित्रता कभी नहीं छूटती—उस के प्रेम में कभी फर्क नहीं पड़ता और शरणागत की वह कभी उपेक्षा नहीं करता ॥ ३० ॥ अतएव ईश्वर से सख्य'करना चाहिए—उससे अपने दुःख-सुख की बात बतलाना चाहिए—यही अठवीं भक्ति का लक्षण है ॥ ३१ ॥ शास्त्र में परमात्मा और गुरु दोनों बराबर कहे गये हैं; अतएव परमात्मा की तरह सद्गुरु से भी मित्रता चाहिए ॥ ३२ ॥

नववाँ समास--आत्मनिवेदन-भक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

पीछे अठवीं भक्ति का वर्णन किया गया । अब सावधान होकर भक्ति सुनिए ॥ १ ॥ नववीं भक्ति का नाम आत्मनिवेदन है । अब इसे कर के बतलाते हैं ॥ २ ॥ आत्मनिवेदन का लक्षण यह है कि स्वयं अपने परमात्मा के अर्पण करना चाहिए । यह बात (आत्मनिवेदन करना) तब विवरण करने से मालूम होगी ॥ ३ ॥ स्वतः अपने को 'भक्त' कहना 'विभक्त' रह कर ईश्वर को भजना—यह बात विलक्षण है ! ॥ ४ ॥ हाफर विलक्षण, ज्ञान होकर अज्ञान और भक्त होकर विभक्त—इस कहते हैं ॥ ५ ॥ भक्त वही है जो विभक्त न हो और विभक्त वही है भक्त न हो—इस विरोध-भाव का विचार किये बिना कभी सन्तोष नहीं सकता ॥ ६ ॥ इस लिए विचार करना चाहिए; ईश्वर को पहचानना चाहे अन्तःकरण में स्वयं अपनेको दृढ़ना चाहिए ॥ ७ ॥ तत्त्व का विचार कब इसका फैसला किया जाना है, कि "मैं" कौन है, तब साफ हो जाता है "मैं" कोई चीज नहीं ॥ ८ ॥ विवेक से जब यह मालूम जाता है कि तत्त्व तत्त्वों में मिल जाते हैं, तब 'मैं' कहाँ बचता है? आत्मनिवेदन है ॥ ९ ॥ यह मन्त्र तत्त्वरूप भासमान है विवेक से देखो

* प्रकृति नियम के अनुसार जब यह पंचतत्त्वामय शरीर पंचतत्त्वों में मिल जाता है 'मैं' कहाँ बचना है—नर्मान् मनुष्य जिनको 'मैं' कहता है वह तो बचना नहीं, किन्तु शरीर के पाँचे तत्त्व, एक एक करके, पाँचों में मिला देने से जो कुछ बचना है वह वा "मैं" है और उम्हको पहचानना आत्मनिवेदन है ।

सर्व का निरसन हो जाता है । प्रकृति का निरसन करने से, अर्थात् उसे प्रलंग कर देने से, आत्मा रह जाता है—वहाँ 'मैं' कहां से आया? ॥ १० ॥ एक तो मुख्य परमेश्वर है और दूसरो जगत् के आकार में प्रकृति है—अर्थात् माया और ब्रह्म दो तो हैं ही—तीसरा "मैं" चोर बीच में कहां से ले प्राये? ॥ ११ ॥

इतना यह सिद्ध होने पर भी यह भूठी देह की अहंता बीच में लगती है; परन्तु विचार से देखने पर कुछ भी नहीं है ॥ १२ ॥ तत्त्व-विचार से देखने पर जान पड़ता है कि यह पिंड-ब्रह्मांड केवल तत्त्व-रचना है । नाना प्रकार की व्यक्तियां, तत्त्वों से रची हुई, विश्व के अकार में फैली हुई हैं ॥ १३ ॥ साक्षित्व से तत्त्वों का निरसन हो जाता है और आत्मानुभव से साक्षित्व कुछ बचता नहीं, अतएव, आदि और अंत में आत्मा ही है, तब फिर "मैं" कहां से आया? ॥ १४ ॥ आत्मा एक है; वह स्वानन्दघन है और 'अहं आत्मा' यह वचन है; फिर वहां 'मैं' भिन्न कहां से बचा?

१५ ॥ "सोहं हंसा"—अर्थात् मैं वही केवल आत्मा हूं—इस वचन का तीसरी अर्थ देखना चाहिए; आत्मा का विचार करने से फिर वहां "मैं" कुछ नहीं रह जाता ! ॥ १६ ॥ आत्मा निर्गुण निरंजन है, इसके साथ अनपता होनी चाहिए । अनन्य का अर्थ है—"अन्य नहीं;" तब वहां 'मैं' अन्य' कहां से आया? ॥ १७ ॥ आत्मा अद्वैत है; वहां द्वैत-अद्वैत कुछ नहीं है; अतएव वहां भला 'मैं'—पन की कल्पना कहां से रहेगी? ॥ १८ ॥ आत्मा पूर्णता से परिपूर्ण है—वहां गुणागुण कुछ नहीं है । उस निखिल निर्गुण में "मैं" कौन और कहां से आया? ॥ १९ ॥ त्वंपद, तत्पद और तसिपद के भेदाभेद का निरसन हो जाने पर, अर्थात् "तत्त्वमासि" (वह है), यह महावाक्य सिद्ध हो जाने पर, शेष शुद्ध ब्रह्म रह जाता है, वहां 'मैं' कहां से आया? ॥ २० ॥

'जीवात्मा' और 'शिवात्मा' इन उपाधियों का निरसन करने पर जान पड़ता है कि पहले यही दो कहां से प्राये? स्वरूप में दृढ़बुद्धि होने पर, फिर 'मैं' कुछ नहीं रह जाता ॥ २१ ॥ "मैं" मिथ्या है, ईश्वर सच्चा है । 'ईश्वर' और 'भक्त' दोनों अनन्य हैं—दोनों एक हैं । इस वचन का अभिप्राय अनु-

* 'मैं' तत्त्वों का साक्षी है—इससे जान पड़ता है कि 'मैं' तत्त्वों से भिन्न कुछ और ही है । मेरे ही प्रत्यक्ष प्रमाण से साबित हो जाता है कि 'मैं' जो कुछ है वह तत्त्वों से अलग है । और आत्मप्रतीति हो जाने पर, अर्थात् "सर्व खल्विदं ब्रह्म" का ज्ञान हो जाने पर, तब प्रत्यक्ष प्रमाण बचता ही कहा है ? साराश आदि अंत में आत्मा एक ही है—'मैं' उससे कोई भिन्न पदार्थ नहीं है ।

भवी जानते हैं ! ॥ २२ ॥ इसीको आत्मनिवेदन कहते हैं—यही ज्ञानियों का समाधान है ॥ २३ ॥ पंचभूतों में जैसे आकाश और सब देवताओं में जैसे जगत्पिता परमात्मा श्रेष्ठ है उसी प्रकार नवी भक्तियों में यह नवी भक्ति श्रेष्ठ है ॥ २४ ॥ नवी भक्ति, (यह आत्मनिवेदन,) न होने से जन्म-मरण नहीं मिटता—यह वचन सत्य-सिद्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ २५ ॥ अस्तु। यह नवधा (नव प्रकार की) भक्ति करने से सायुज्य मुक्ति मिलती है, सायुज्य मुक्ति का कल्पांत में भी नाश नहीं है ॥ २६ ॥ शेष तीनों मुक्तियों का नाश है; परन्तु सायुज्य मुक्ति अचल है। तीनों लोकों का भी निर्वाण हो जाने पर सायुज्य मुक्ति बनी ही रहती है ॥ २७ ॥ वेद, शास्त्र, आदि सारे सद्ग्रन्थ कुल चार मुक्तियाँ बतलाते हैं—उन में तीन का नाश हो जाता है और चौथी अविनाश रहती है ॥ २८ ॥ पहिली मुक्ति सालोक्य, दूसरी सामीप्य, तीसरी साकृष्य और चौथी सायुज्य है ॥ २९ ॥ ये चारों मुक्तियाँ, मनुष्य भगवद्भजन से पाते हैं ॥ ३० ॥

दसवाँ समास—सृष्टि-वर्णन और मुक्ति-चतुष्टय ।

॥ श्रीराम ॥

आदि ब्रह्म निराकार है—वहाँ स्फूर्तिरूप से अहंकार उत्पन्न होता है, यह अहंकार पंचभूतों का मूल है, इसका विचार आठवें दशक में किया गया है ॥ १ ॥ वह अहंकार वायुरूप है। उसके बाद तेज (अग्नि) का स्वरूप है—और उस तेज के आधार से, आप (जल), आवरणरूप, फैला हुआ है ॥ २ ॥ उस जलावरण के आधार से शेष यह पृथ्वी धारण किये हैं। पृथ्वी छप्पन कोटि (योजन?) के विस्तार में है ॥ ३ ॥ इसको सात समुद्र घेर हुए हैं; बीच में बहुत बड़ा मेरु पर्वत है। और आठ दिग्पाल, जो इस पृथ्वी के पाररूप हैं, दूर दूर से इसको घेरे हुए हैं ॥ ४ ॥ वह बड़ा भारी मेरु पर्वत सोन का है, पृथ्वी को उस का आधार है (?) चौपत्ती हजार (योजन) की विस्तृत उसकी चौड़ाई है ॥ ५ ॥ उँचाई तो वह अमर्यादित है। सोलह सहस्र (योजन) तक वह पृथ्वी में घुसा में हुआ है (?) उस के आसपास लोकालोक पर्वत का घेरा है ॥ ६ ॥ उसके बाद हिमाचल है, जहाँ सब पांडव गल गये थे—सिर्फ धर्म) युधिष्ठिर और तमालनील (कृष्ण? या कुत्ते के रूप में धर्मराज?) आगे गये हैं ॥ ७ ॥ वहाँ जाने के लिए मार्ग नहीं है; बीच में, शीतल वायु से सुखी, बड़े बड़े सर्प फैले हुए हैं—वे भ

पर्वत से जान पड़ते हैं ॥ ८ ॥ उसके बाद बदरीनाथ और बदरीनारायण हैं। यहाँ महा तापसी, निर्वाण समय में, देहत्याग के अर्थ जाते हैं ॥ ९ ॥ उसके बाद ये बदरीनाथ-केदारनाथ हैं, जिनके दर्शन सब छोटे बड़े कर आते हैं; यह सब मेरु पर्वत का विस्तार है ! ॥ १० ॥ इस मेरु पर्वत की पीठ पर तीन ऊँचे ऊँचे शृंग हैं। उन पर, परिवार-सहित, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रहते हैं ॥ ११ ॥ ब्रह्मा का शृंग, मेरुपर्वत ही की जाति का है; विष्णुशृंग मरकतमणि का है और शिवशृंग स्फटिकमणि का बना हुआ है; जिसे कैलास कहते हैं ॥ १२ ॥ विष्णुशृंग का नाम वैकुण्ठ है और ब्रह्मशृंग का नाम सत्यलोक है; तथा इन्द्र का रथल, जिसका नाम अमरावती है; उन तीनों के बाद है ॥ १३ ॥

वहाँ गण, गंधर्व, लोकपाल, तेतीस करोड़ देवता, इत्यादि, सब निवास करते हैं—इसी प्रकार चौदह लोक सुवर्णाचल (मेरु) को घेरे हुए हैं ॥ १४ ॥ वहाँ स्वर्ग-लोक में कामधेनुओं के झुंड के झुंड हैं, कल्पतरु के अनेक वन हैं और अमृत के सरोवर ठौर ठौर में उमड़ रहे हैं ॥ १५ ॥ वहाँ चिन्तामणि, हीरा, और पारस की बड़ी बड़ी खानियाँ हैं तथा सुवर्णमयी धरती चमक रही है ॥ १६ ॥ वहाँ परम रमणीय प्रकाश फैला हुआ है, नवरत्नों की पापाण-शिलाएं लगी हैं और निरन्तर आनंद या हर्ष छाया रहता है ! ॥ १७ ॥ वहाँ अमृत के भोजन हैं, दिव्य सुगन्ध छाई रहती है, दिव्य पुष्प खिले रहते हैं और अप्रनायका तथा गंधर्व सदा गान किया करते हैं ॥ १८ ॥ वहाँ युवावस्था का नाश नहीं होता, रोग और व्याधियाँ भी नहीं होतीं और बुढ़ापा या मरण कभी नहीं आता ॥ १९ ॥ वहाँ एक से एक सुन्दर हैं; एक से एक चतुर हैं; और बड़े बड़े धीर, उदार और शूर हैं ॥ २० ॥ वहाँ के दिव्यदेह-निवासी विदुलता के समान ज्योतिःस्वरूप हैं। उन के यश, कीर्ति और प्रताप की सीमा नहीं है ॥ २१ ॥ वहाँ के स्वर्गभुवन बना हुआ है—वह सम्पूर्ण देवताओं का निवासस्थल है, उसकी महिमा जितनी कही जाय, थोड़ी है ॥ २२ ॥

यहाँ जिस देवता का भजन करते हैं, स्वर्ग में उसी देवता के लोक में वास मिलता है—यही सालोक्य मुक्ति का लक्षण है ॥ २३ ॥ यदि लोक में रहे तो उसे सालोक्य मुक्ति, और समीप रहे तो उसे सामीप्य मुक्ति, तथा देवता के स्वरूप में हो जाय तो उसे सारूप्य (तीसरी मुक्ति) कहते हैं ॥ २४ ॥ सारूप्य मुक्ति का लक्षण यह है कि प्राणी देवरूप तो हो जाता है; परन्तु श्रीवत्सलाञ्छन, कौस्तुभमणि और लक्ष्मी उसे नहीं मिलती ॥ २५ ॥ जब तक सृष्ट-संचय रहता है तब तक प्राणी तीनों

10467

मुक्तियां भोगते हैं और उसके समाप्त होते ही ढकेल दिये जाते हैं *, तथा देवता लोग स्वयं जैसे के तैसे बने रहते हैं ! ॥ २६ ॥ अतएव ये तीनों मुक्तियां नाशवान् हैं, अविनाशी केवल सायुज्य मुक्ति ही है ॥ २७ ॥ कल्पांत में ब्रह्मांड का नाश हो जायगा, सुमेरु पर्वतसहित पृथ्वी भस्म हो जायगी, उस समय जब देवता ही नष्ट हो जायेंगे तब उक्त तीनों मुक्तियां कैसे रह सकती हैं ? ॥ २८ ॥ तब तो केवल निर्गुण परमात्मा रह जाता है । अतएव, सिर्फ उस निर्गुण की ही भक्ति अचल है, वही सायुज्य मुक्ति है ॥ २९ ॥ निर्गुण में अनन्य होने से सायुज्य मुक्ति मिलती है—निर्गुण में मिल जाने ही को—तदाकार होने ही को—सायुज्य मुक्ति कहते हैं ॥ ३० ॥ सगुण भक्ति चलित है और निर्गुण भक्ति अचल है—सद्गुरु के शरण में जाने से यह सब मालूम हो जाता है ॥ ३१ ॥

*क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति— गीता ।

पाँचवाँ दशक ।

पहला समास-गुरु-निश्चय

(सद्गुरु-सेवा बिना मोक्ष नहीं ।)

॥ श्रीराम ॥

हे परम पुरुष, आत्माराम और पूर्णकाम सद्गुरु ! आपकी जय हो; जय हो । आपकी महिमा चर्चन नहीं की जा सकती ॥ १ ॥ जो वेद के लिए कठिन है, जो शब्द में नहीं आ सकती वही अलभ्य 'वस्तु' आपके प्रसाद से सत् शिष्य को तत्काल ही मिल जाती है ॥ २ ॥ जो योगियों का मुख्य रहस्य है, जो शंकर का मुख्य विश्राम है; किम्बहुना जो विश्राम का भी मुख्य विश्राम है तथा जो परम गुह्य और अगाध है वही ब्रह्म आपके योग से प्राणी स्वयं ही हो जाता है-अर्थात् इस दुस्तर संसार के दुःखों से मुक्त हो जाता है ॥ ३-४ ॥

अब, आप ही के प्रसाद से, गुरु-शिष्यों के लक्षण कहते हैं । मुमुक्षुओं को चाहिये कि इनके अनुसार सद्गुरु के शरण में जावें ॥ ५ ॥ वास्तव में गुरु सब के लिए, ब्राह्मण ही है* अतएव, अनन्य भाव से, उसीके शरण में जाना चाहिए ॥ ६ ॥ अहो ! इन ब्राह्मणों के लिए ही स्वयं नारायण ने अवतार लिया और स्वयं विष्णु जब श्रीवत्सलाञ्जन (भृगु की मारी हुई लात का चिन्ह) सादर धारण किये हैं तब दूसरों की क्या कथा है ! ॥ ७ ॥ ब्राह्मण-वचनों से ही-ब्राह्मणों को मन्त्रों से ही-शूद्रादि भी ब्राह्मण बन जाते हैं; किम्बहुना धातु और पापाण में भी देवत्व आ जाता है ! ॥ ८ ॥ जिसका यज्ञोपवीत नहीं हुआ वह निस्सन्देह शूद्र ही है; यज्ञोपवीत संस्कार से जब दूसरा जन्म होता है तब उसे 'द्विज' कहने लगते हैं ॥ ९ ॥ वेद आज्ञा देते हैं कि, ब्राह्मण सब के लिए पूज्य है । यह बात सब को मान्य है । वेद-विरुद्ध बातें भगवान् को अप्रिय हैं ॥ १० ॥ योग, याग, व्रत, दान, तीर्थ, आदि जितने कर्मयोग के अंग हैं, वे कोई, ब्राह्मण के बिना, नहीं हो सकते ॥ ११ ॥ ब्राह्मण साक्षात् वेद-स्वरूप है, ब्राह्मण ही है । विप्र वाक्य से मनोरथ पूर्ण होते हैं ॥ १२ ॥ ब्राह्मण के पूजन से वृत्ति शुद्ध होती है, चित्त भगवान् में लगता है और ब्राह्मण के तीर्थ (चरणामृत) से प्राणी उत्तम गति पाते हैं ॥ १३ ॥ ब्रह्मभोज में भी अन्य जातियों

*वर्णानां ब्राह्मणो गुरु ।

छोड़ कर ब्राह्मण ही की पूजा होती है । तथापि भगवान् भाव का भूखा है—वह जाति-पाँति नहीं देखता ॥ १४ ॥ अस्तु । ब्राह्मण को बड़े बड़े देवता भी वंदन करते हैं, तब मनुष्य विचारे की क्या गिनती है ? आज कल तो, चाहे ब्राह्मण मूढमति हो क्यों न हो तो भी, वह जग को वंदनीय है ॥ १५ ॥ अन्त्यज बड़ा शब्द-ज्ञाता है, परन्तु उसे लेकर क्या करें ? ब्राह्मण के पास बैठ कर उसे पूज थोड़े ही सकते हैं ॥ १६ ॥ लोकमत के विरुद्ध जो कुछ किया जाता है, उसकी वेद भी अवहेलना करते हैं, इस लिए उसे पाखण्डमत कहते हैं ॥ १७ ॥ अस्तु । जो परमात्मा के भक्त होते हैं उनका ब्राह्मण में विश्वास होता ही है । ब्राह्मण की पूजा करके अनेक लोग पवित्र हो चुके हैं ॥ १८ ॥ यदि कहोगे कि जब ब्राह्मण ही से देवाधिदेव परमात्मा मिलता है तब फिर सद्गुरु क्यों करें ? परन्तु यह ठीक नहीं—सद्गुरु बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता ॥ १९ ॥ स्वधर्म-कर्म में ब्राह्मण पूज्य है, परन्तु ज्ञान सद्गुरु के बिना नहीं होता । और ब्रह्मज्ञान हुए बिना जन्ममरण का दुख नहीं मिटता ॥ २० ॥ सद्गुरु के बिना ज्ञान कभी हो नहीं सकता । और अज्ञानी प्राणी संसार-प्रवाह में बहते ही चले जाते हैं ॥ २१ ॥ बिना ज्ञान के जो कुछ किया जाता है वह सब जन्म का कारण होता है, इसी लिए कहते हैं कि, सद्गुरु के चरण दृढतापूर्वक पकड़ना चाहिए ॥ २२ ॥ जिसे परमात्मदर्शन की इच्छा हो उसे सत्संग करना चाहिए, क्योंकि सत्संग बिना देवाधिदेव (ब्रह्म) मिल नहीं सकता ॥ २३ ॥ विचारे अज्ञान पुरुष सद्गुरु को छोड़ कर नाना प्रकार के साधन करते फिरते हैं, परन्तु गुरुकृपा बिना वह सब परिश्रम व्यर्थ ही जाता है ॥ २४ ॥ कार्तिकस्नान, माघस्नान, व्रत, उद्यापन, दान, गौरांजन (ईश्वर के लिए अपने को दाग देना), धूम्रपान (अपने को उलटा वृक्ष में टांग कर नीचे किया हुआ धुआँ पीने का तप) और पञ्चाग्नि आदि नाना-प्रकार के साधन करते हैं ॥ २५ ॥ लोग हरिकथा, पुराणश्रवण और अध्यात्म-निरूपण, आदर से, करते हैं और बड़े बड़े कठिन, सब तीर्थ करते हैं ॥ २६ ॥ स्वच्छता के साथ देवतार्चन, स्नान, सन्ध्या, दर्भासन, तिलक, माला, गोपीचन्दन और श्रीमुद्राओं की छापें आदि सब कुछ धारण करते हैं ॥ २७ ॥ अर्घ्य पात्र, सम्पुट, गोकर्ण-पात्र, मन्त्रयन्त्रों के ताम्रपात्र और नाना प्रकार की सामग्रियों से पूजा करते हैं ॥ २८ ॥ 'घनन घनन' घन्टा बजाते हैं, स्तोत्र, स्तवन, स्तुति, आसन, मुद्रा, ध्यान, नमस्कार, प्रदक्षिणा आदि सब करते हैं ॥ २९ ॥ बेल, नारियल, आदि चढा कर पञ्चायतन-पूजा और मृत्तिका के लाखों लिंगों की पूजा, सांगोपांग करते हैं ॥ ३० ॥ निष्ठ और नेम के साथ उपवास, इत्यादि अनेक कर्म, बड़ी मिहनत के साथ, लोग

करते हैं; परन्तु वे इन सारे कर्मों का केवल फल ही पाते हैं—मर्म नहीं पाते! ॥ ३१ ॥ हृदय में फल की आशा रख कर लोग यज्ञादि कर्म करते हैं और अपनी इच्छा से ही जन्म का ब्याना ले लेते हैं! ॥ ३२ ॥ नाना परिश्रम करके चौदहों विद्याओं का अभ्यास करते हैं और यद्यपि उन पर सारी ऋद्धि-सिद्धियाँ खूब प्रसन्न हो जाती हैं, तथापि सद्गुरु-कृपा विना उनका सन्धा हित कभी नहीं होता—उनका यमपुरी का अनर्थ नहीं मिटता ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ जब तक ज्ञानप्राप्ति नहीं होती तब तक आवागमन नहीं मिटता। गुरुकृपा के विना अधोगति और गर्भवास नहीं जाता ॥ ३५ ॥ जब तक ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक ध्यान, धारणा, मुद्रा, आसन, भक्ति, भाव, भजन आदि सब ग्रांही हैं! ॥ ३६ ॥ सद्गुरु-कृपा प्राप्त किये विना जो लोग अन्य माधनों में भटकते हैं वे ऐसे गिरते हैं जैसे अन्धा किसी खदक या गढे में, टोकर खाकर, गिरता है! ॥ ३७ ॥ जिस प्रकार आखीं में अन्न लगाने से गुप्त स्वजाना देख पड़ता है उसी प्रकार सद्गुरु-वचन से ज्ञान का प्रकाश होता है ॥ ३८ ॥ सद्गुरु विना जन्म निष्फल है, सद्गुरु विना सब दुख ही है और सद्गुरु विना संसार व्यथा नहीं जा सकती ॥ ३९ ॥ सद्गुरु की ही कृपा से ईश्वर प्रगट होता है और अपार संसार-दुःख नाश हो जाते हैं ॥ ४० ॥ प्राचीन काल में जो बड़े बड़े सन्त महन्त और मुनीश्वर हो गये उन्हें भी ज्ञान और विज्ञान का विचार सद्गुरु से ही मिला था ॥ ४१ ॥ महाराजा रामचन्द्र जी और महायोगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी, आदि गुरुभजन में बहुत तत्पर रहते थे। अनेक सिद्ध-साधु और सन्त जनों ने गुरुसेवा की है ॥ ४२ ॥ किम्बहुना, सकल सृष्टि के चालक, जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि हैं, वे भी सद्गुरु-चरणों की सेवा करते रहते हैं—सद्गुरु के आगे इनका भी महत्व नहीं है ॥ ४३ ॥ अस्तु। जिसे मोक्ष चाहना हो उसे सद्गुरु का खोज करना चाहिए, सद्गुरु के विना मोक्ष मिलना असम्भव है ॥ ४४ ॥ परन्तु सद्गुरु कोई अन्य मामूली गुरुओं की तरह नहीं होते; क्योंकि इनकी कृपा से शुद्ध ज्ञान का प्रकाश होता है ॥ ४५ ॥ अब अगले समास में ऐसे ही सद्गुरु के लक्षण बतलाये जाते हैं। श्रोता लोग ध्यानपूर्वक श्रवण करें ॥ ४६ ॥

दूसरा समास-सद्गुरु-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

जो करामत दिखलाते हैं उन्हें भी गुरु कहते हैं; परन्तु वे मोक्षदाता गुरु नहीं हैं ॥१॥ सभा-मोहन मंत्र, टटका-टोना, भाड-फूंक, अनेक प्रकार के टंट घंट मंत्र और नाना प्रकार के असम्भव चमत्कार तथा कौतुक बतलाते हैं ॥ २ ॥ श्लोषधियों का प्रयोग, कीमियागरी, नजरबन्दी, और केवल दृष्टि से इच्छित वस्तु तत्काल प्राप्त कर लेने का मार्ग बतलाते हैं ॥ ३ ॥ साहित्य, संगीत, रागज्ञान, गीत, नृत्य, तान-मान और अनेक वाद्य सिखलाते हैं, ये सभी एक प्रकार के गुरु हैं ॥४॥ पंचाक्षरी विद्या सिखाते हैं, अथवा नाना प्रकार की भाडफूंक, या जिन विद्याओं से पेट भरता है, वे सिखाते हैं ॥ ५ ॥ जिस जाति का जो व्यापार है वह, उदर भरने के लिए, सिखाते हैं-वे भी गुरु हैं; परन्तु वे वास्तव में सद्गुरु नहीं हैं ॥६॥ अपने माता-पिता भी यथार्थ में गुरु ही हैं, परन्तु जो भवसागर से पार करता है वह सद्गुरु दूसरा ही है ॥ ७ ॥ गायत्री मंत्र का उच्चार बतलानेवाला यथार्थ में कुलगुरु है; परन्तु जिस ज्ञान के बिना भवसागर पार नहीं हो सकते वह ज्ञान देनेवाला सद्गुरु दूसरा ही है ॥ ८ ॥ जो ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे; अज्ञानांधकार का निरसन करे, जीव और शिव का ऐक्य करे, जीवपन और शिवपन के कारण ईश्वर और भक्त में जो भिन्नता आ गई है उसे जो मिटावे-अर्थात् परमेश्वर और भक्त को एक करे-वही सद्गुरु है ॥ ९ ॥ १० ॥ भव-भयरूपी व्याघ्र पञ्चविषयरूपी छलांगें भर कर जीवरूपी बछड़े को ईश्वररूपी गौ से छीन लेता है । उस समय जो अपने ज्ञानरूपी खड्ग से उस व्याघ्र को मार कर बछड़े को बचाता है और गौ से फिर उसे मिला देता है-अर्थात् जीव और शिव का ऐक्य कर देता है, वही सद्गुरु है ॥ ११ ॥ जो प्राणी माया-जाल में पड कर संसार-दुःख से दुःखित हों उनको जो मुक्त करता है वह सद्गुरु है ॥ १२ ॥ वासनारूप नदी को बाढ़ में डूबता हुआ प्राणी धबड़ा रहा है, वहां जाकर जो उसे पार लगाता है वही सद्गुरु है ॥ १३ ॥ जो ज्ञान देकर गर्भवास के भारी संकट और इच्छा-बन्धन को वेडियां तुरन्त ही काट देता हो वही सद्गुरु स्वामी है ॥ १४ ॥ जो अपने उपदेश के अप्रतिम प्रभाव से आत्मदर्शन करा देता है वही गुरु अनार्यों का रक्षक है ॥ १५ ॥ जीव विचारा, जो एक देशी है, उसे जो साक्षात् ब्रह्म ही बना देता है और जो उपदेश मात्र से संसार के सारे संकट दूर करता है वह सद्गुरु है ॥१६॥ वेदों का गूढ तत्त्व प्रकट करके जो शिष्य के हृदय में अंकित कर देता है वह सद्गुरु है ॥ १७ ॥ वेदों, शास्त्रों और महानुभावों का अनुभव एक ही

इ और वही अनुभव सद्गुरुरूप है ॥ १८ ॥ वह सन्देह को जड़ से नाश कर देता है, और स्वधर्म का, आदरपूर्वक, प्रतिपालन करता है। वेद के विरुद्ध अन्य कोई बातें उसके पास नहीं रहतीं ॥ १९ ॥ जो मन के पीछे चलता हो-अथवा थों कहे, जिसने मन को जीत नहीं पाया है, वह गुरु नहीं है; भिखारी है; लोभ में आकर शिष्यों के पीछे लगता है ॥ २० ॥ जो शिष्यों को साधन में नहीं लगाते और इन्द्रिय-दमन नहीं कराते-ऐसे गुरु यदि कौड़ी के तीन तीन मिलें तो भी न ग्रहण करना चाहिए ॥ २१ ॥ जो ज्ञान का बोध कराता हो, जो अविद्या का जड़ से नाश करता हो, और इन्द्रिय-दमन का प्रतिपादन करता हो उसे सद्गुरु जानो ॥ २२ ॥ जो केवल द्रव्य के लिए बिके हुए है, जो अति दुराशा से दीनरूप बनाये हुए केवल शिष्य के भरोसे रहते हैं वे गुरु नहीं हैं ॥ २३ ॥ पापिन कामन जैसेके गले पड़ी हुई है; इस कारण, जो शिष्य के मन के अनुसार चल कर, उसे सन्तुष्ट रखना हो अपना कर्तव्य समझता है और जो उससे दब कर चलता है वह महा अधमाधम है, चोटा है, ठग है, पापी और द्रव्य-मोंदू है ॥ २४ ॥ २५ ॥ जिस प्रकार दुराचारी वैद्य रोगी के मन के मुताबिक बल कर उसका सर्वस्व हरण करता है और अन्त में, दब्बू बन कर, उसका गण भी लेता है उसी प्रकार उक्त पापी और द्रव्यमोंदू गुरु, शिष्य की वापलूसी करके, उसे और भी अधिक संसार-बन्धन में डालता है और परमात्मा से मिलने नहीं देता। ऐसा गुरु नहीं चाहिए ॥ २६ ॥ २७ ॥

जो गुरु शुद्ध ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी कर्मयोगी, अर्थात् सत्कर्मों का आचरण करनेवाला, होता है वही सद्गुरु है और वही शिष्य को परमात्म-दर्शन करा सकता है ॥ २८ ॥ जिनमें ऊपरी आडम्बर दिखाने और कान में मंत्र फूँकने ही मर का ज्ञान है वे पापी गुरु, परमात्मा से विरुद्ध हैं ॥ २९ ॥ गुरुप्रतीति, शास्त्रप्रतीति, और आत्मप्रतीति तीनों की अनन्यता जिसके अनुभव में आ गई है-अर्थात् गुरु के भाषण, शास्त्र के वचन और अपने अनुभव में जिसे एक ही बात मिलती है, वही सच्चा सद्गुरु है-सुमुक्त पुरुषों को ऐसे ही सद्गुरु के शरण में जाना चाहिए ॥ ३० ॥ अद्वैत निरूपण करने के लिए तो अगाध वक्ता है; पर विषय-लोलुपता में फँसा हुआ है-ऐसे गुरु से कभी कल्याण नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥ अनुभवजन्य, निश्चयात्मक, ज्ञान न होने के कारण, जैसा प्रसंग आपडता है वैसा, कुछ न कुछ बोलने का जो ढोंग करता है, वह गुरु नहीं है ॥ ३२ ॥ अध्यात्म-निरूपण करते समय सामर्थ्य और सिद्धियों की बात आ जाने पर जिसके मन में दुराशा आ जाती है और अनेक प्रकार के चमत्कारों का हाल जान कर जिसकी बुद्धि चंचल होती है, तथा मत्सर के कारण

जिसके मन में यह लोभ आ जाता है, कि " पूर्वसमय में ईश्वर के समान सामर्थ्यवान् विरक्त, भक्त और ज्ञाता हो गये—कहाँ उनका सामर्थ्य और कहाँ हमारा यह व्यर्थ ज्ञान—हममें भी यदि वैसा ही सामर्थ्य होता तो अच्छा था"—वह सद्गुरु नहीं है ॥ ३३-३५ ॥ सच तो यह है कि, जब दुराशा का विलकुल नाश हो जाता है तभी ईश्वर मिलता है, जो दुराशा रखते हैं वे चद्र और कामुक शब्दज्ञाता हैं—वे सद्गुरु नहीं हैं ॥ ३६ ॥ इसी दुराशा या कामना ने बहुत से ज्ञानियों को धोखा देकर सत्यानाश कर दिया और कोई कोई तो मूर्ख विचारे कामना की इच्छा करते करते ही मर गये ! ॥ ३७ ॥ जिसके पास कामना विलकुल फटकती भी नहीं और जिसका मत अक्षय और अलौकिक है, ऐसा कोई एक विरला सन्त है ॥ ३८ ॥ आत्मरूपी धन तो सब का अक्षय है—(अर्थात् आत्मा, जो सब के पास है, अक्षय है) परन्तु शरीर की ममता नहीं छूटती, इसी कारण ईश्वर का मार्ग सब भूल जाते हैं ॥ ३९ ॥ सामर्थ्य और सिद्धियाँ प्राप्त हो जाने के कारण, देह का महत्व अधिक मान लेते हैं—और इसी कारण देहबुद्धि का अभिमान और भी भडक उठता है ॥ ४० ॥ अक्षय सुख को छोड़ कर जो सामर्थ्य की इच्छा रखते हैं वे मूर्ख हैं; क्योंकि कामना के समान और कोई भी दुख नहीं है ॥ ४१ ॥ ईश्वर-रहित कामनाओं के वश, नाना प्रकार को यातनाएं पाकर, प्राणी अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥ ४२ ॥ शरीर का अंत होने पर सामर्थ्य भी चला जाता है और अंत में मनुष्य, कामना के कारण, ईश्वर से वंचित रहता है ॥ ४३ ॥ अतएव, जो निष्काम और दृढबुद्धि है वही सद्गुरु इस भवसागर से पार करता है ॥ ४४ ॥ सद्गुरु का मुख्य लक्षण तो यह है कि, पहले उसमें विमल ज्ञान, निश्चयात्मक समाधान और स्वरूपस्थिति चाहिए ॥ ४५ ॥ इतना ही नहीं; किन्तु उस में प्रबल वैराग्य, तथा उदास वृत्ति भी हो, और वह विशेषतः स्वधर्माचरण में शुद्ध हो ॥ ४६ ॥ इतना होने पर भी जो सदा अभ्यात्म का श्रवण, हरिकथा का निरूपण और परमार्थ का विवरण किया करता है वही सद्गुरु है ॥ ४७ ॥ जिसने सार-असार का विचार किया है वही जगत् का उद्धार कर सकता है । इसके सिवाय, लोगों का उद्धार करने के लिए नवधा भक्ति की भी बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि भक्ति के आधार से लोक संग्रह अच्छा हो सकता है ॥ ४८ ॥ इस लिए, नवों प्रकार की भक्तियों का जो साधन करता है वह सच्चा सद्गुरु है ॥ ४९ ॥ जिसके अन्तःकरण में तो शुद्ध ब्रह्मज्ञान है, और बाहर से परमात्मा की भक्ति भी निष्ठापूर्वक करता है—(अर्थात् भीतर से ज्ञानयोग, और बाहर से कर्मयोग का भी, जो आचरण करता रहता है) उसके द्वारा अनेक

लोगों का उद्धार होता है ॥ ५० ॥ जिसे उपासना का आधार नहीं है वह परमार्थ एक दिन ढसल पड़ेगा, क्योंकि कर्मयोग के बिना अनाचार मच जाता है और लोग भ्रष्ट होजाते हैं ॥ ५१ ॥ इस लिए ज्ञान, वैराग्य, भजन, स्वधर्म-कर्म, साधन, कथानिरूपण, श्रवण, मनन, नीति, न्याय, और मर्यादा, इनमें यदि एक की भी कमी हुई तो विलक्षणता आ जाती है । इस लिए इन सब गुणों से जो शोभित हो वह सद्गुरु है, अथवा यों कहिये कि सद्गुरु में ये सब गुण विलसते हैं ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ वह (सद्गुरु) बहुतां का पालन करता है, उसे बहुतां की चिन्ता रहती है । समर्थ सद्गुरु के पास अनेक प्रकार के साधन होते हैं ॥ ५४ ॥ जो कर्म-योग-साधन के बिना परमार्थ की प्रतिष्ठा करता है वह पीछे से बहुत जल्द भ्रष्ट होता है—इस लिए महानुभाव पुरुष पहले ही से विचार कर काम करते हैं ॥ ५५ ॥ जो आचार और उपासना छोड़ देते हैं वे भ्रष्ट और अभक्त देख पड़ते हैं—ऐसों की महंती चूल्हे में जाय—उसे कौन पूछता है ! ॥ ५६ ॥ जहां कर्म और उपासना का अभाव है वहां मानो बहकने के लिए ठौर हो जाता है—ऐसे कलंकित समुदाय को प्रपंची जन (संसारि गृहस्थ) भी हँसते हैं ॥ ५७ ॥

नीच जाति का गुरु करना भी बड़े कलंक की बात है । नीच गुरु ब्रह्म-सभा में चोर की तरह छिपता है ! ॥ ५८ ॥ ब्रह्मसभा (ब्राह्मणों की सभा) के सामने उसका तीर्थ (पुण्योदक) नहीं लिया जा सकता और उसका प्रसाद सेवन करने से प्रायश्चित्त होता है ॥ ५९ ॥ तीर्थ (चरणोदक) और प्रसाद का त्याग करने से नीचता प्रगट हो जाती है और एकाएक गुरु-भक्ति का लोप हो जाता है ॥ ६० ॥ यदि गुरु की मर्यादा रखी जाती है, तो ब्राह्मण अप्रसन्न होते हैं, और यदि ब्राह्मणत्व की रक्षा करते हैं तो उधर गुरु की अप्रसन्नता होती है—नीच गुरु करने से ऐसी ही पंचायत पड़ती है ! ॥ ६१ ॥ इस प्रकार जब दोनों ओर से कठिनाई आ पड़ती है तब पछतावा लगता है । इस कारण नीच जाति को गुरुता नहीं दी जा सकती ॥ ६२ ॥ तथापि, यदि किसी नीच जाति के गुरु पर मन जम गया हो तो स्वयं अपने ही को भ्रष्ट करना चाहिए—बहुत लोगों को भ्रष्ट करना ठीक नहीं है ॥ ६३ ॥ अच्छा, अब यह विचार रहने दो । स्वजाति का गुरु चाहिए, नहीं तो भ्रष्टाचार जरूर मचता है ! ॥ ६४ ॥

जितने कुछ उत्तम गुण हैं वही सद्गुरु के लक्षण हैं । तथापि सद्गुरु को पहचान करने के लिए कुछ गुरुओं का यहाँ धर्षण किया जाता है ॥ ६५ ॥ एक योंही गुरु होते हैं, कोई मंत्र देनेवाले गुरु होते हैं; एक यंत्र बतलाने-वाले और कोई तांत्रिक गुरु कहलाते हैं—और लोग किसी किसी को उस्ताद

(गुरु) कहते हैं; एक राजगुरु भी होते हैं ॥ ६६ ॥ एक कुलगुरु होते हैं, एक माना हुआ गुरु होता है, एक विद्या सिखानेवाला गुरु कहलाता है, एक कुविद्या सिखानेवाला भी गुरु है । एक असद्गुरु है, कोई जाति-गुरु है, यह जाति गुरु दंडकर्ता होता है ॥ ६७ ॥ एक माता गुरु है; एक पिता गुरु है, एक राजा गुरु है, एक देवता गुरु है और एक, सकल कला जाननेवाले को जगद्गुरु कहते हैं ॥ ६८ ॥ इस प्रकार ये सब गुरु कहे हैं, इन्हें छोड़ कर और भी कई गुरु हैं, उन्हें भी सुन लीजिए ॥ ६९ ॥ एक स्वप्नगुरु कहलाता है, एक कर्म को दीक्षा देनेवाला गुरु होता है । कोई प्रतिमा ही को गुरु मानते हैं, और कोई कोई तो स्वयंगुरु, अर्थात् अपना गुरु अपने ही को बतलाते हैं ! ॥ ७० ॥ जिस जिस जाति का जो जो व्यापार है उस उसके उतने ही गुरु हैं-यह विस्तार बहुत बड़ा है ॥ ७१ ॥ अस्तु । इस प्रकार बहुत से गुरु हैं-यह तो नाना प्रकार के मतों का विचार हुआ; परन्तु मोक्षदाता जो सद्गुरु है वह अलग ही है ॥ ७२ ॥ जिसमें सद्विद्या के अनेक गुण हों; और साथ ही साथ दया भी हो, उसे सच्चा गुरु समझना चाहिए ॥ ७३ ॥

तीसरा समास-शिष्य-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में सद्गुरु के लक्षण, विस्तारपूर्वक, कहे गये । अब सावधान होकर सत् शिष्य के लक्षण सुनिये ॥ १ ॥ सद्गुरु के बिना सत् शिष्य का कोई उपयोग नहीं, अथवा यों कहिए, सत् शिष्य के बिना सद्गुरु का बहुत सा परिश्रम व्यर्थ है ॥ २ ॥ उत्तम और शुद्ध भूमि दूँड कर उसमें सडियल बीज बोने से, अथवा उत्तम बीज चट्टान में डालने से जो हाल होता है, वही हाल सत् शिष्य का असत् गुरु के पास और असत् शिष्य का सद्गुरु के पास होता है ॥ ३ ॥ उदाहरणार्थ, सत् शिष्य तो सत्पात्र है; परन्तु गुरु उसे तंत्र मंत्र बतलाता है, पैसे दशा में इहलोक या परलोक कुछ नहीं बनता । अथवा गुरु तो पूर्ण कृपा करता है; परन्तु शिष्य अनाधिकारी है-जैसे भाग्यवान् पुरुष का भिखारी पुत्र ! ॥ ४-५ ॥ सारांश, दोनों के योग्य हुए बिना काम नहीं चलता-गुरु और शिष्य बेजोड़ होने से परमार्थ नहीं बनता ॥ ६ ॥ जहाँ सद्गुरु और सच्छिष्य का जोड़ मिल गया, कि बस फिर परिश्रम नहीं पढता-अनायास ही दोनों के हौसले पूरे होते हैं ॥ ७ ॥ अच्छा, अब भूमि भी उत्तम है और बीज भी अच्छा है; पर बिना वर्षा के नहीं

जमता-इसो प्रकार सच्छिष्य और सद्गुरु मिलने पर भी अध्यात्म-निरूपण बिना काम नहीं चलता ॥८॥ अच्छा, अब खेत बोया गया और उगा भी; परन्तु रखवाली के बिना हानि होती है-यही हाल साधना के बिना साधकों का होता है ॥ ६ ॥ सारांश, जब तक फसल हमारे घर में नहीं आ जाती, तब तक सब कुछ करना पड़ता है-किम्बहुना फसल आ जाने पर भी खाली नहीं बैठना चाहिए ॥ १० ॥ अर्थात् आत्मज्ञान हो जाने पर साधन करना ही चाहिए-जिस प्रकार एक बार बहुत सा खा लेने पर भी सामग्री की जरूरत पड़ती ही है; उसी प्रकार पूर्ण आत्मज्ञान हो जाने पर भी साधन आगे चल कर, काम देते ही हैं ॥ ११ ॥ इस लिए, साधन, अभ्यास, सद्गुरु, सच्छिष्य, सत् शास्त्र का विचार, सत्कर्म, सद्वासना, सद्गुण, सदाचरण, स्वधर्मनिष्ठा, सत्संग, नित्यनेम-ये सब जब एकत्र होते हैं तभी विमल ज्ञान का प्रकाश होता है; अन्यथा जनसमुदाय में पाखण्ड, जोर से, संचार करता है ॥ १२-१४ ॥ परन्तु इसमें शिष्य का कोई दोष नहीं-सारी कुंजी सद्गुरु के हाथ में है; सद्गुरु नाना प्रकार के यत्न करके सारे दुर्गुण दूर कर सकता है ॥ १५ ॥ सद्गुरु के द्वारा असत् शिष्य सत् शिष्य बन सकता है; परन्तु सच्छिष्य के द्वारा असद्गुरु सद्गुरु नहीं बन सकता; क्योंकि इससे बड़प्पन जाता है-अर्थात् शिष्य के योग से यदि गुरु सत् गुरु बनाया गया तो 'गुरु' की 'गुरुता' कहाँ रही? ॥ १६ ॥ तात्पर्य, सद्गुरु चाहिए, तभी सन्मार्ग मिलता है; अन्यथा पाखण्ड से सत्यानाश होता है ॥ १७ ॥ यद्यपि भवसागर से पार करने का पूरा जवाबदार सद्गुरु ही है; तथापि यहाँ पर मैं सच्छिष्य के कुछ लक्षण बतलाता हूँ ॥ १८ ॥

सच्छिष्य का मुख्य लक्षण यह है कि सद्गुरु के वचन में पूर्ण विश्वास रखता हो और अनन्य-भाव से उसके शरण में रहता हो ॥ १९ ॥ शिष्य पवित्र, सदाचरणी, विरक्त और मुमुक्षु होना चाहिए ॥ २० ॥ शिष्य को निष्ठावन्त, शुचिवन्त और सब प्रकार से नेमी होना चाहिए ॥ २१ ॥ शिष्य विशेष प्रयत्नशील चाहिए, परम दक्ष चाहिए; और अलक्ष की ओर लक्ष रखनेवाला चाहिए ॥ २२ ॥ शिष्य अति धीर, अति उदार और परमार्थ-विषय में अति तत्पर होना चाहिए ॥ २३ ॥ शिष्य परोपकारी, निर्मत्सरी और अर्थ के भीतर प्रवेश करनेवाला चाहिए ॥ २४ ॥ शिष्य परम शुद्ध परम सावधान और उत्तम गुणों में अगाध होना चाहिए ॥ २५ ॥ शिष्य प्रज्ञावान्, प्रेमी भक्त, मर्यादावन्त तथा नीतिवन्त चाहिए ॥ २६ ॥ शिष्य युक्तिवान्, बुद्धिवान् और सदसत्, या नित्यानित्य, का विचार करनेवाला चाहिए ॥ २७ ॥ शिष्य धैर्यवान्, दृढव्रत, कुलवान् और पुण्यवान् चाहिए ॥ २८ ॥ शिष्य सात्विक, भजन करनेवाला, और साधनकर्ता होना चाहिए

॥ २६ ॥ शिष्य विश्वासी चाहिए; शिष्य शरीरकेश सहने में सहनशील चाहिए और वह यह जानता हो कि परमार्थ को उन्नति कैसे करनी चाहिए ॥ ३० ॥ शिष्य को स्वतंत्र, सर्वाप्रेय और सब प्रकार से सत्पात्र होना चाहिए ॥ ३१ ॥ शिष्य सद्विद्यावान्, सद्भाववन्त और अन्तःकरण का परम शुद्ध होना चाहिए ॥ ३२ ॥ शिष्य अविवेकी न होना चाहिए शिष्य जन्म से ही सुखी (गर्भसुखी) न होना चाहिए, और उसे संसार-दुःख से संतप्तदेह होना चाहिए ॥ ३३ ॥ क्योंकि जो संसार-दुःख से दुःखित होता है और जो त्रिविधतापों से तप्त होता है, वही एक परमार्थ का अधिकारी होता है* ॥ ३४ ॥ संसार-दुःखों के कारण ही वैराग्य आ जाता है, अतएव, जो बहुत दुःख भोगता है उसीके मन में परमार्थ की बात म है ॥ ३५ ॥ जिसे संसार से दुःख होता है उसीको विश्वास उपजता है और वह विश्वास-बल से दृढतापूर्वक सद्गुरु को शरण लेता है ॥ ३६ ॥ जिन्होंने अविश्वास से सद्गुरु का सहारा छोड़ दिया—ऐसे बहुत से इस भवसागर में डूब गये । उन्हें सुख-दुःखरूप जलचरों ने बीच ही में नोच खाया ॥ ३७ ॥ इस लिए सद्गुरु-वचनों पर जिसे दृढ विश्वास है वही सत शिष्य है और वही सब से पहले मोक्ष का अधिकारी है ॥ ३८ ॥ जो सद्गुरु के वचनों से संतुष्ट होता है वही सायुज्यमुक्ति को प्राप्त करता है—वह संसार-दुःख से कभी दुःखित नहीं होता ॥ ३९ ॥ सद्गुरु (निर्गुण परब्रह्म) की अपेक्षा देवता (सगुण हरिहरादि देवता) को जो बड़ा समझता है वह अभागो है—वह वैभव और सामर्थ्य के धोखे में पड कर सच्चे वैभव (शाश्वत सुख) से वञ्चित रहता है ॥ ४० ॥ सद्गुरु सत्स्वरूप है और हरिहरादि देवता लोग तो कल्पान्त में नाश हो जायेंगे, तब उनका सामर्थ्य, जिसके धोखे में पड कर सद्गुरु को उनसे छोटा समझता है, कहां रहेगा ? ॥ ४१ ॥ अतएव, सद्गुरु का सामर्थ्य अधिक है । उसके सामने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इत्यादि कोई चीज नहीं । परन्तु अल्पबुद्धि मनुष्य को यह बात नहीं मालूम होती ॥ ४२ ॥ जो गुरु और देवता को बराबरो करता हो वह शिष्य दुराचारी है—उसके अन्तःकरण में भ्रान्ति बैठी है, और वह सिद्धान्त नहीं जानता ॥ ४३ ॥ देवता की भावना मनुष्य-द्वारा ही हुई है और मंत्र से उसमें देवतापन आया है, परन्तु सद्गुरु की कल्पना ईश्वर से भी नहीं हो

* जब मनुष्य संसार-दुःख से दुःखित होता है, और तीनों तापों से तप्त होता है, तब उसे द्यु गगन बत का ज्ञान हो जाता है कि इस संसार में ऐसी दशा होती है, इससे कोई भी भाग्य नहीं चला चाहिए कि फिर उस कष्टमय संसार में न आना पड़े—इसीका नाम है, परमार्थ का अधिकारी होना । आगे कहने भी हैं ।

सकती ॥ ४४ ॥ इस लिए सद्गुरु, पूर्णरूप से, देवता की अपेक्षा कोटिगुणा बड़ा है। उसका वर्णन करने में घेदों और शाखाओं में भी भगडा मच गया है ॥ ४५ ॥ अस्तु। सद्गुरु-पद के सामने दूसरे किसी को भी महत्त्व नहीं मिल सकता। देवता का सामर्थ्य ही कितना है—वह तो मायाजनित है ॥ ४६ ॥ अहो! जिस पर सद्गुरु की कृपा हो चुकी है उसके सामने देवताओं को सामर्थ्य क्या चल सकतो है? उसने ज्ञानबल से वैभव को तिनके के समान तुच्छ बना दिया है। ॥ ४७ ॥ सद्गुरु-कृपा के ही बल से—अपरोक्ष ज्ञान के होने ही से—मायासहित सारा ब्रह्मांड तुच्छ मालूम होता है ॥ ४८ ॥ ऐसा सत् शिष्य का महत्त्व है। वह सद्गुरु-वचनों में दृढभाव रखता है और इसी कारण वह स्वयं देवाधिदेव (सद्गुरु) बन जाता है ॥ ४९ ॥ ऐसे सत् शिष्यों का अन्तःकरण, पहले, संसार-दुःखों के पश्चात्ताप से तप कर शुद्ध हो जाता है—इसके बाद वे सद्गुरु के उपदेशामृत से अक्षय शान्ति प्राप्त करते हैं ॥ ५० ॥ सद्गुरु के बतलाये हुए मार्ग पर चलते हुए, चाहे सारा ब्रह्मांड भी क्यों न उसके विरुद्ध हो जाय; तथापि, उसकी शुद्ध गुरुभक्ति में कुछ भी फर्क नहीं होता ॥ ५१ ॥ सत् शिष्य सद्गुरु की शरण कभी नहीं छोड़ते और सदाचरणी बन कर ईश्वर के तई पवित्र होते हैं ॥ ५२ ॥

जिनके अन्तःकरण में उपर्युक्त सद्गुरु-विषयक सद्भाव है वे ही मुक्ति के भागी हैं—अन्य मायिक-वेषधारियों को असत् शिष्य जानना चाहिए ॥ ५३ ॥ जिन्हें विषयों में सुख जान पड़ता है और परमार्थ सम्पादन करना केवल लोकाचार जान पड़ता है, ऐसे पढतमूर्ख असच्छिष्य देखादेखी से सद्गुरु के शरण जाते हैं ॥ ५४ ॥ परन्तु ज्योंही विषय-सम्बन्धी वृत्ति अनिवार्य हो जाती है, त्योंही वे दृढतापूर्वक गृहस्थी को पकड लेते हैं और उनकी परमार्थ-चर्चा मलीन हो जाती है ॥ ५५ ॥ परमार्थ का बहाना ले कर प्रपञ्च में प्रेम रखते हैं और कुटुम्ब के भारवाही बन कर सत्यानाश होते हैं ॥ ५६ ॥ प्रपञ्च में आनन्द मान कर परमार्थ का कौतूहल (फार्स) दिखाते हैं तथा भ्रान्त, मूढ़ और मतिमन्द बन कर अनेक कामनाओं में लुब्ध होते हैं ॥ ५७ ॥ जिस प्रकार, यदि सुअर की सुगन्धित लेप से पूजा की जाय, या भैसे के चन्दन मला जाय, तो वह व्यर्थ है उसी प्रकार विषयी पुरुष को ब्रह्मज्ञान या विवेक बतलाना भी व्यर्थ है ॥ ५८ ॥ जैसे घूरे पर लोटने-वाले गधे के लिए परिमल सुवास का आनन्द और अन्धेरे में भागनेवाले उल्लू के लिए हंसों की पंगति है, वैसे ही विषय-द्वार की प्रतीक्षा करनेवाले के लिए भगवद्भक्ति और सत्संग है! ये लोग तो अधोगति ही को प्राप्त होते हैं ॥ ५९ ॥ ६० ॥ जैसे दांत ऊपर को निकाल करके कुत्ता हाड चबाता है, उसी प्रकार विषयी पुरुष विषयभोग में फँसा रहता है ॥ ६१ ॥ उसी कुत्ते

को उत्तम. भोजन देने, अथवा चन्द्र को सुन्दर सिंहासन पर विठाने से जो हाल होता है वही हाल विषयासक्त पुरुष को क्षानोपदेश करने से होता है ॥ ६२ ॥ गधे रखते रखते जिसका जन्म गया है वह (धोवी या कुम्हार) पण्डितों के बीच में जैसे प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता उसी प्रकार विषयासक्त पुरुष को परमार्थ नहीं मिल सकता ॥ ६३ ॥ जैसे कोई डोम-कौवा राजहंसों के मेले में रह कर अपने को हंस बतलावे और उसका ध्यान मैले की ओर हो, वैसे ही विषयी पुरुष सज्जनों के बीच में रह कर अपने को सज्जन कहलाता है और मन विषयरूपी मैले में रखता है ! ॥ ६४-६५ ॥ बगल में स्त्री को लेकर जिस प्रकार कोई कहता हो कि मुझे संन्यासी बनाओ उसी प्रकार विषय में फँसा हुआ पुरुष ज्ञान बढ़-बढ़ाता है ॥ ६६ ॥ अस्तु । ऐसे पढ़तमूर्ख अद्वैत-सुख (वह सुख जिस में द्वैत नहीं रहता-ब्रह्मानन्द) क्या जानें ? ये नारकी प्राणी जानबूझ कर नरक में गिरते हैं ॥ ६७ ॥ वेश्या को सेवा करनेवाला जैसे उपदेशक नहीं हो सकता, वैसे ही विषय-सेवक पुरुष, भक्तराज कैसे कहा जा सकता है ? ॥ ६८ ॥ अतएव, विषयी पुरुषों के लिए ज्ञान क्या है ? वे तो वाचाल बन कर केवल शाब्दिक बडबड करने में ही फँसे रहते हैं ॥ ६९ ॥ ऐसे शिष्यों को परम नष्ट, अत्यन्त चूद्र, हीन, अविवेकी, दुष्ट, और खराब समझना चाहिए ॥ ७० ॥ ऐसे पापपूर्ण, महा अपराधी और अत्यन्त कठोर शिष्यों के लिए भी पश्चात्ताप का एक अच्छा प्रायश्चित्त है ॥ ७१ ॥ इनको फिर से सद्गुरु के शरण में जाना चाहिए-उन्हें प्रसन्न करना चाहिए और उनकी कृपा सम्पादन करके फिर शुद्ध होना चाहिए ॥ ७२ ॥ क्योंकि जिससे स्वामिद्रोह हो जाता है वह यावच्चन्द्र (जब तक चन्द्र है) नरक में पड़ा रहता है । स्वामी को प्रसन्न किये बिना उसे दूसरा उपाय ही नहीं है ॥ ७३ ॥

अस्तु । सिर्फ स्मशानवैराग्य* में आकर सद्गुरु के पैरों पर गिरने से, क्या ज्ञान थोड़े ही ठहर सकता है ? ॥ ७४ ॥ मन में बनावटी भाव लाकर गुरु का मन्त्र लेता है और उस मन्त्र के कारण दो दिन के लिए शिष्य बन जाता है ! ॥ ७५ ॥ इसी प्रकार बहुत से गुरु कर लेता है; पाखण्ड शब्द सीख लेता है; और मुहँजोर, निर्लज्ज, और पाखण्डी बन जाता है ॥ ७६ ॥ कभी रोता है, कभी गिरता पडता है; घड़ी भर के लिए वैराग्य आ जाता है और तुरन्त ही ज्ञातापन का घमण्ड आ जाता है ॥ ७७ ॥ घड़ीभर के

* स्मशान में, वहा की दशा देख कर, सब को कुछ न कुछ, क्षणिक, वैराग्य आ जाता है ।

लिए मन में विश्वास लाता है; उसी दम, दूसरे
 है-इस प्रकार पागल की तरह नाना ढंग रचता /
 मद, मत्सर, लोभ, मोह, अभिमान, कपट, तिरस्कार
 हृदय में छाये हैं ॥ ७६ ॥ अहंकार और शरीर-सम्बन्ध
 और विषयी संग; संसार और प्रपञ्च-विषयक उद्वेग, इत्यादि, ३
 में वास करते हैं ॥ ८० ॥ दीर्घसूत्री, कृतघ्न, पापी, कुकर्मी, कुतूहल
 विकल्पी, अमक्त, अभाविक, शीघ्रकोपी, निष्ठुर, परघातक, हृदयशून्य
 (कठोर या निर्दयी), आलसी, अविवेकी, अविश्वासी, अधीर, अविचारो
 और सन्देही है; तथा आशा, ममता, तृष्णा, कल्पना, कुबुद्धि, दुर्वृत्ति,
 दुर्वासना, बुद्धिहीनता, विषयकामना, आदि, दुर्गुण हृदय में वास करते
 हैं ॥ ८१-८३ ॥ इच्छा, डाह, और तिरस्कार के बश होकर दूसरे की
 निन्दा करने में प्रवृत्त होता है और जानबूझ कर देहाभिमान में आकर
 मतवाला बनता है ॥ ८४ ॥ भूख प्यास रोक नहीं सकता; नींद को
 सहसा सम्हाल नहीं सकता और कुटुम्ब-चिन्ता कभी जाती ही नहीं,
 भ्रान्ति में पडा रहता है ॥ ८५ ॥ केवल शब्दों ही से बड़ी बड़ी बातें बोलता
 है; वैराग्य का लेश नहीं है और पश्चात्ताप, धैर्य तथा साधन का मार्ग नहीं
 पकड़ता ॥ ८६ ॥ भक्ति, विरक्ति और शान्ति नहीं है; सद्वृत्ति, लीनता और
 दमन नहीं है; तथा कृपा, दया, तृप्ति, सुबुद्धि विलकुल ही नहीं है ॥ ८७ ॥
 काया को क्लेशित करने में निर्बल है; धर्म-विषय में परम कृपण है; सदाचरण
 नहीं ग्रहण करता; और कठोर-हृदय-वाला है ॥ ८८ ॥ संसार के लोगों से
 सरलता का वर्ताव नहीं करता, सज्जनों को अप्रिय है और दिन रात दूसरों
 की हीनता मन में रखता है ॥ ८९ ॥ सदा सर्वदा झूठ बोलता है, मायावी
 बातें करके दूसरों को फँसाता है, क्रिया और विचार आदि, किसी बात में
 सत्यता नहीं रखता ॥ ९० ॥ दूसरे को पीड़ा देने में तत्पर रहता है; और
 विच्छू या सर्प की तरह, कुशब्द कह कर, सब के अन्तःकरण विद्ध करता
 है ॥ ९१ ॥ अपने अवगुण छिपाता है, दूसरों से कठोर वचन बोलता है
 और बिना-गुणदोषवालों में झूठे गुणदोष लगाता है ॥ ९२ ॥ पापी और निर्दयी
 है, तथा दुराचारी और हिंसक की तरह दूसरे के दुःख में दुःखी नहीं होता
 ॥ ९३ ॥ दुर्जन दूसरों का दुःख तो नहीं जानते; किन्तु दुःखी को ही और
 दुःख देते हैं, तथा उनके दुःख पाने पर अपने मन में आनन्दित होते हैं ॥ ९४ ॥
 जो अपने दुःख में तो दुःखित होता है और दूसरे के दुःख में हँसता है
 उसे यमपुरी प्राप्त होती है और यमदूत ताड़ना देते हैं ॥ ९५ ॥

ऐसे जो विचारे मशंघ पुरुष हैं और पूर्वपापों के कारण जिन्हें सुबुद्धि
 नहीं भाती उन्हें भगवान् कैसे मिले ? ॥ ९६ ॥ ऐसे पुरुषों को तब जान

पड़ेगा जब बुढ़ापे में अग शिथिल पड जायेंगे और कुटुम्बी लोग छोड देंगे !
 ॥ ६७ ॥ अस्तु. उपर्युक्त दुर्गुणों से जो रहित हैं वही श्रेष्ठ सत् शिष्य हैं—वे
 अपनी दृढभक्ति से स्वानन्द भोगते हैं ॥ ६८ ॥ विकल्पी और कुलाभिमानी
 लोग प्रपंच के कारण दुःखी होते हैं ॥ ६९ ॥ जिसके कारण दुःख हुआ हो
 उसीको दृढतापूर्वक पकडे रहने से फिर दुःख होना ही चाहिए ॥ १०० ॥
 यह जान कर भी, कि संसार (गृहस्थों) के संग से किसी को सुख नहीं
 होता, जो अपना सच्चा हित नहीं कर लेते वे अन्त में दुःखी होते हैं ॥ १०१ ॥
 जो संसार में सुख मानते हैं वे प्राणी भूढमति हैं—ऐसे पढतमुखी जानबूझ
 कर अर्थे वनते हैं ॥ १०२ ॥ प्रपंच (गार्हस्थ्य कर्म) सुख से करना चाहिए;
 परन्तु कुछ परमार्थ भी बढ़ाना चाहिए—यह ठीक नहीं है कि परमार्थ विल-
 कुल ही डुबा दिया जाय ॥ १०३ ॥ ये गुरु-शिष्यों के लक्षण बतला दिये गये ।
 अब मंत्र के लक्षण सुनिये ॥ १०४ ॥

चौथा समास—मंत्र-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

मंत्र के बहुत से लक्षण हैं; पर यहाँ पर थोड़े से बतलाते हैं । सुनिये:-
 ॥ १ ॥ बहुत लोग किसी मंत्र को दीक्षा देते हैं; कोई कोई किसी देवता का
 नाम मात्र ही बतलाते हैं और कोई श्रौंकार का जप कराते हैं ॥ २ ॥ कोई
 शिव, देवी, विष्णु, महालक्ष्मी, अवधूत, गणेश और सूर्य के मंत्र बतलाते
 हैं ॥ ३ ॥ कोई मत्स्य, कूर्म और वाराह के मंत्र बतलाते हैं और कोई नृसिंह,
 वामन, भार्गव, रघुनाथ, तथा कृष्ण के मंत्र जपने के लिए उपदेश करते हैं
 ॥ ४ ॥ कोई कोई भैरव, मल्लारी, हनुमान, यक्षिणी, नारायण, पांडुरंग और
 अघोर इत्यादि के मंत्र जपने के लिए कहते हैं ॥ ५ ॥ शेष, गरुड, वायु,
 वैताल, भोटिंग, आदि के बहुत से मंत्र हैं—कहाँ तक बतलाये जायें ॥ ६ ॥
 घाला, बगुला, काली, कंकाली, और बटुक आदि अनेक शक्तियों के अनेक
 मंत्र हैं ॥ ७ ॥ इसी प्रकार भिन्न भिन्न जितने देवता हैं उतने ही मंत्र हैं ।
 कोई सृष्टि है, कोई अवघड है; कोई विचित्र हैं, कोई खेचर, आदि दारुण
 बीजों के हैं ॥ ८ ॥ संसार में इतने देवता हैं कि उनकी कोई गणना तो कर
 ही नहीं सकता । उन सब के मंत्र भी असंख्य हैं—बाणी को उनके बतलाने
 की शक्ति नहीं है ॥ ९ ॥ अनन्त मंत्रमालाएँ हैं—एक से भी एक बढ कर हैं ।
 यह सब माया की विचित्र कला है—इसे कौन जान सकता है ! ॥ १० ॥

कितने ही मंत्रों से भूत उतर जाते हैं; कितने ही से व्यथा नाश होती है और कितने ही मंत्रों से जूड़ो-बुखार, विच्छू और सर्प उतरते हैं ॥ ११ ॥ इस तरह नाना प्रकार के मंत्र कान में सुनाते हैं और जप, ध्यान, पूजा, यंत्र, इत्यादि, विधानपूर्वक, बतलाते हैं ॥ १२ ॥ कोई 'शिव शिव' बतलाते हैं; कोई 'हरि हरि' कहलवाते हैं; और कोई 'विठ्ठल विठ्ठल' का मंत्र देते हैं ॥ १३ ॥ एक 'कृष्ण कृष्ण' बतलाते हैं; कोई 'विष्णु विष्णु' कहलवाते हैं और कोई 'नारायण नारायण' का मंत्र देते हैं ॥ १४ ॥ कोई 'अच्युत अच्युत' कहते हैं; कोई 'अनंत अनंत' कहते हैं और कोई कहते हैं कि 'दत्त दत्त' कहते रहो ॥ १५ ॥ कोई 'राम राम' बतलाते हैं, कोई 'ॐ ॐ' बतलाते हैं; और कोई कहते हैं कि 'मेघ-श्याम' को बहुत नामों से स्मरण करो ॥ १६ ॥ कोई कहते हैं 'गुरु गुरु', कोई कहते हैं 'परमेश्वर,' और कोई कहते हैं कि 'विघ्नहर' (गणेश) का चिन्तन करते रहो ॥ १७ ॥ कोई 'श्यामराज' को बतलाता है; कोई 'गरुडध्वज' कहाता है और कोई कहता है कि "अधोक्षज" को जपते रहो ॥ १८ ॥ कोई 'देव देव;' कोई 'केशव, केशव' और कोई 'भार्गव, भार्गव' जपने का उपदेश करते हैं ॥ १९ ॥ कोई 'विश्वनाथ,' का जप कराते हैं, कोई 'मल्लारी' का जप बतलाते हैं और कोई 'तुकाई, तुकाई' का जप कराते हैं ॥२० ॥

कहाँ तक बतलावें—'शिव' और 'शक्ति' के अनंत नाम हैं—यही नाम, सब गुरु, अपनी अपनी इच्छा के अनुसार, जपने को कहते हैं ॥२१॥ —कोई खेचरी, भूचरी, चाचरी और अगोचरी ये चार मुद्रा बतलाते हैं और कोई नाना प्रकार के आसन सिखाते हैं ॥ २२ ॥ कोई चमत्कारिक दृश्य दिखाते हैं, कोई अनाहतध्वनि बतलाते हैं और कोई पिंडज्ञानी गुरु पिंडज्ञान (शरीर-रचना का ज्ञान) बतलाते हैं ॥ २३ ॥ कोई कर्ममार्ग और कोई उपासना मार्ग बतलाते हैं और कोई अष्टांग योग और सप्त चक्र बतलाते हैं ॥ २४ ॥ कोई अनेक प्रकार के तप बतलाते हैं; कोई अजप मंत्र का उपदेश करते हैं और जो तत्वज्ञानी हैं वे विस्तार के साथ

१ 'तुकाई' तुलजापुर की दवी को कहते हैं । २ मुद्रा=विषयों से दृष्टि हटा कर एक विशेष पदार्थ पर, एक विशिष्ट प्रकार से, लगाना । ३ दृष्टि को कोई न कोई अपूर्व पदार्थ दिखाना । ४ अनाहतध्वनि, प्राणी के देह में जो अनेक ध्वनिया सतत हुआ करती हैं । ये दस प्रकार की हैं । मामूली ध्वनिया जो बाहर सुन पड़ती हैं, वे आघात से उत्पन्न होती हैं, परन्तु शरीर के भीतर की ध्वनियों की वह दशा नहीं है, इसी लिए उन्हें 'अनाहत' कहते हैं । ५ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये योग के आठ अंग हैं । ये आठो अंग सधने पर योगसिद्धि होती है । योग=चित्तवृत्तनिरोध । ६ शरीर में गुदाद्वार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक सात स्थानों में सात चक्र हैं । ७ प्राणी के श्वासो-

तत्त्वज्ञान बतलाते हैं ॥ २५ ॥ कोई सगुण और कोई निर्गुण का उपदेश करते हैं और कोई तीर्योदन करने का उपदेश करते हैं ॥ २६ ॥ कोई महावाक्यों को बतला कर उनका जप करने के लिए आज्ञा देते हैं और कोई ' सर्वे खल्विदं ब्रह्म ' का मंत्र देते हैं ॥ २७ ॥ कोई शाक्तमार्ग बतलाते हैं; कोई मुक्तिमार्ग को प्रतिष्ठा करते हैं और कोई भक्तिपूर्वक इंद्रिय-पूजन कराते हैं ॥ २८ ॥ कोई वशीकरण, स्तंभन, मोहन, उच्चाटन के मंत्र बतलाते हैं और कोई नाना प्रकार के टोनों का उपदेश करते हैं ॥ २९ ॥ यह मंत्रों की दशा है ! बस अब, कहां तक बतलावें—इस प्रकार के असंख्यों मंत्र होंगे ! ॥ ३० ॥ अस्तु । मंत्र तो अनेक हैं; पर ज्ञान के बिना सब निरर्थक हैं । इस विषय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं:— ॥ ३१ ॥

नानाशास्त्रं पठेद्योको नानादैवतपूजनम्

आत्मज्ञानंविना पार्थ सर्वकर्म निरर्थकम् ॥ १ ॥

शैवशाक्तागमाद्या ये अन्ये च बहवो मताः ।

अपभ्रंशसमास्तेऽपि जीवानां भ्रान्तचेतसाम् ॥ २ ॥

न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिदमुत्तमम् ॥

तात्पर्य, ज्ञान के समान पवित्र और उत्तम अन्य कुछ नहीं देख पड़ता । इस लिए पहले आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए ॥ ३२ ॥ सब मंत्रों से आत्मज्ञान का मंत्र (गुह्य उपदेश) विशेष उत्तम है—इस विषय में भगवान् ने बहुत जगह कहा है ॥ ३३ ॥

यस्य क्रस्य च वर्णस्य ज्ञान देहे प्रतिष्ठितम् ।

तस्य दासस्य दासोह भवे जन्मनि जन्मनि ॥ १ ॥

आत्मज्ञान की महिमा चतुर्मुख ब्रह्मा भी नहीं जानते; फिर बिचारा यह जीवात्मा प्राणी क्या जाने ? ॥ ३४ ॥ सब तीर्थ करके स्नान-दान करने का जो फल है उससे करोड़गुना फल भी ब्रह्मज्ञान की बराबरी नहीं कर सकता ॥ ३५ ॥

पृथिव्यां यानि तीर्थानि स्नानदानेषु यत्फलम् ॥

तत्फलं कोटिगुणित ब्रह्मज्ञान समं हि न ॥ १ ॥

छ्वास के साथ 'सोह' की ध्वनि सतत हुआ करती है, उसे अजपा गायना कहते हैं । द० १७ स० ५ दशो । ८ " प्रज्ञान ब्रह्म, " " अह ब्रह्मास्मि, " तत्त्वमसि, " " अयमात्म ब्रह्म " ये चार महावाक्य क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वणवेद के हैं ।

अतएव, आत्मज्ञान गहन से भी गहन है । यह विषय अब बतलाते हैं, शान्त होकर सुनिये ॥ ३६ ॥

पाँचवाँ समास—बहुधा ज्ञान ।

(आत्मज्ञान से भिन्न अनेक प्रकार के ज्ञान ।)

॥ श्रीराम ॥

जब तक प्रांजल (सच्चा) ज्ञान नहीं है तब तक सब कुछ निष्फल है; क्योंकि ज्ञान के बिना कष्ट नहीं दूर हो सकता ॥ १ ॥ ' ज्ञान ' का नाम लेते ही भ्रम होने लगता है—सब कोई कहते होंगे कि—भाई, इसमें, क्या रहस्य होगा ! अच्छा, अब क्रमशः इस विषय को बतलाते हैं ॥ २ ॥ भूत, भविष्य, वर्तमान, भली भाँति (स्पष्ट), मालूम होने को भी ज्ञान कहते हैं; पर यह ज्ञान नहीं है ॥ ३ ॥ बहुत विद्यापठन करना, संगीत-शास्त्र और रागज्ञान जानना; वैद्यकशास्त्र और वेदाध्ययन करना भी ज्ञान नहीं है ॥ ४ ॥ अनेक व्यवसायों का ज्ञान, नाना प्रकार की दीक्षाओं का ज्ञान और बहुत सी परीक्षाओं का ज्ञान भी सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ ५ ॥ नाना प्रकार की वनिताओं, अनेक भाँति के मनुष्यों और बहुत तरह के नरों की परीक्षा करना भी कोई ज्ञान नहीं है ॥ ६ ॥ बहुत प्रकार के अश्व, गज और श्वापदों (वनैले जीवों) की परीक्षा करना ज्ञान नहीं है ॥ ७ ॥ पशु-पक्षी, इत्यादि नाना प्रकार के जीवों की परीक्षा करना भी ज्ञान नहीं है ॥ ८ ॥ नाना प्रकार के यान, वस्त्र और शस्त्रों की परीक्षा करना भी ज्ञान नहीं कहा जा सकता ॥ ९ ॥ अनेक प्रकार की धातुओं, सिकों और रत्नों की परीक्षा करना भी ज्ञान नहीं है ॥ १० ॥ नाना भान्ति के पाषाणों, काष्ठों और वाद्यों की परीक्षा करना भी ज्ञान नहीं है ॥ ११ ॥ अनेक प्रकार की पृथ्वी, नाना भाँति के जल और तरह तरह के अग्निमयी पदार्थों की परीक्षा को भी ज्ञान नहीं कहते ॥ १२ ॥ नाना प्रकार के रस, बीज और अंकुरों की परीक्षा भी ज्ञान नहीं है ॥ १३ ॥ अनेक तरह के फल, फूल और बल्लियों की परीक्षा भी कोई ज्ञान नहीं है ॥ १४ ॥ अनेक प्रकार के दुःख और रोग तथा भाँति भाँति के चिन्हों की परीक्षा भी कुछ सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ १५ ॥ अनेक प्रकार के मन्त्र, यन्त्र और बहुत तरह की मूर्तियों की परीक्षा कोई सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ १६ ॥ अनेक क्षेत्रों

(खेतों), गृहों (घरों) और पात्रों को परीक्षा भी सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ १७ ॥ नाना प्रकार को भावों-परीक्षा, अनेक समयों को परीक्षा और नाना तर्कों को परीक्षा, ज्ञान नहीं है ॥ १८ ॥ नाना प्रकार को अनुमान-परीक्षा (अंदाजों की जांच), अनेक निश्चयों की परीक्षा, और नाना प्रकार की परीक्षा, सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ १९ ॥ अनेक प्रकार को विद्या, कला और चातुर्य की परीक्षा भी कोई सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ २० ॥ नाना प्रकार के शब्दों की परीक्षा, अनेक अर्थों की परीक्षा और बहुत सी भाषाओं को परीक्षा भी सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ २१ ॥ नाना प्रकार के स्वरों, वर्णों (अक्षरों) की परीक्षा और बहुत तरह को लेखनपरीक्षा (लिपियों की परीक्षा) भी कोई ज्ञान नहीं है ॥ २२ ॥ नाना प्रकार के मत, बहुत तरह के ज्ञान और वृत्तियों की परीक्षा करना भी सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ २३ ॥ अनेक प्रकार के रूप-रस-गन्धों की परीक्षा करना भी कोई सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ २४ ॥ सृष्टिज्ञान, भूमितिज्ञान और पदार्थविज्ञान भी कोई सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ २५ ॥ परिमित भाषण करना, तत्काल ही उत्तर देना (हाज़िर-जवाबी) और शीघ्र कविता करना (आशुकवि होना) भी ज्ञान नहीं है ॥ २६ ॥ नेत्रपल्लवी, नादकला, करपल्लवी, भेदकला (भेद को बात बतलाना) और स्वरपल्लवी आदि संकेत-कला (संकेत के कौशल) जानना भी सच्चा ज्ञान नहीं है ॥ २७ ॥ काव्यकुशलता और संगीतकला-ज्ञान, गीत-प्रबन्ध और नृत्यकला का ज्ञान; सभा-चातुरी और शब्दसौन्दर्य का ज्ञान, इत्यादि कोई सच्चे ज्ञान नहीं हैं ॥ २८ ॥ वाग्बिलास (वाणिसौन्दर्य), मोहनकला (मोह लेने या वश में करने की युक्ति), रम्य और रसाल गायनकला (गानसौन्दर्य), हास्य, विनोद और कामकला (कामकलोल) की युक्ति) —यह ज्ञान नहीं हैं ॥ २९ ॥ नाना प्रकार के कौशल, चित्रकला, वाद्यकला, संगीत की युक्ति और नाना प्रकार को विचित्र कलाओं को भी सच्चे ज्ञान में गिनती नहीं है ॥ ३० ॥ चौंसठ कलाओं से लेकर अन्य जितनी नाना प्रकार की कला हैं वे सब जानना, चौदह विद्याएं और सकल सिद्धियां जानना भी कोई ज्ञान नहीं है ॥ ३१ ॥ अस्तु । चाहे कोई सकल कलाओं में प्रवीण हो और सम्पूर्ण विद्याओं से परिपूर्ण (सम्पन्न) हो, तौ भी यह केवल कुशलता है—इसे 'ज्ञान' कभी नहीं कह सकते ॥ ३२ ॥

यह सब ज्ञान हुआ सा भास (मालूम) होता है; पर मुख्य ज्ञान, सो दूसरा ही है—वहां (उस मुख्य ज्ञान के तर्क) प्रकृति (माया) का ससर्ग विलकुल नहीं है ॥ ३३ ॥ दूसरे के जो को बात जान लेना सच्चा ज्ञान जान पड़ता है; परन्तु यह आत्मज्ञान का लक्षण नहीं है ॥ ३४ ॥ एक

बहुत अच्छा महानुभाव मानसपूजा करते करते बीच में कुछ भूल गया; इतने में किसी एक ने अन्तर्ज्ञान से यह भूल जान कर उस महानुभाव से ललकार कर कहा कि, “ ऐसा नहीं है; आप यहाँ भूल गये ”—ऐसी भीतर की दशा जाननेवाले को लोग परमज्ञाता कहते हैं; पर जिस ज्ञान से मोक्षप्राप्ति होती है, सो ज्ञान यह नहीं है ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ बहुत प्रकार के ज्ञान हैं; जो बतलाये नहीं जा सकते; पर जिससे सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है वह ज्ञान दूसरा ही है ॥ ३७ ॥ इस पर शिष्य पूछता है कि, “ महाराज ! तो फिर वह ज्ञान कौनसा है कि जिसके द्वारा परम शान्ति प्राप्त होती है ? उसे विस्तारपूर्वक बतलाइये ” ॥ ३८ ॥ अच्छा, वह शुद्ध ज्ञान अगले समास में बतलाते हैं । ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ ३९ ॥

छठवाँ समास—शुद्ध ज्ञान का निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

शुद्ध ज्ञान आत्मज्ञान है, और ‘आत्मज्ञान’ का लक्षण यह है कि स्वयं आप ही अपनेको जानना चाहिए ॥ १ ॥ मुख्य देवता को जानना, सत्य-स्वरूप को पहचानना और नित्यानित्य का विचार करना—इसका नाम है ‘ज्ञान’ ॥ २ ॥ जहाँ इस सम्पूर्ण दृश्यप्रकृति का लय हो जाता है; जहाँ पञ्चभौतिक कुछ रहता ही नहीं; जहाँ द्वैत का जड से नाश हो जाता है—(अर्थात् जहाँ एक को छोड़ कर और कुछ रहता ही नहीं) इसका नाम ‘ज्ञान’ है ॥ ३ ॥ जो मन और बुद्धि के लिए भी अगोचर है; जहाँ तर्क की गति नहीं है; जो उल्लेख (निर्देश) और पैरा से भी परे है, उसका नाम है ‘ज्ञान’ ॥ ४ ॥ जहाँ दृश्यमान कुछ नहीं है; जहाँ ‘अहं ब्रह्मास्मि’ यह ज्ञान भी अज्ञान है; ऐसा जो शुद्ध और विमल स्वरूपज्ञान है वही ‘ज्ञान’ है ॥ ५ ॥ ‘सब की साक्षी’ जो तुरीयावस्था है उसे लोग ‘ज्ञान’ कहते

१ चारों प्रकार की वाणियों में सब से बड़ी ज्ञानवाण् वाणी । २ हम ब्रह्म-स्वरूप हैं—यह ज्ञान । ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति होने पर यह ज्ञान न रहना चाहिये और यदि यह ज्ञान बना रहा तो अज्ञान ही है । ३ अवस्था चार हैं—जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अथवा तुर्या । जागृति में जीव सब प्रकार के बाहरी व्यवहार करता है; स्वप्न में सब इन्द्रियों का लय हो जाता है और केवल मन ही सब व्यवहार करता है । सुषुप्ति=गाढ़ी नींद । इस अवस्था में सब इन्द्रियों का और मन का भी अज्ञान में लय जाता है, केवल जीव गूढ़ अवस्था में रहता

हैं; परन्तु उस अवस्था में भी जो ज्ञान होता है, वह पदार्थज्ञान से भिन्न नहीं है, अतएव वह भी व्यर्थ है ॥ ६ ॥ क्योंकि दृश्य पदार्थ के जानने को पदार्थज्ञान ही कहते हैं और शुद्ध स्वरूप के जानने को स्वरूपज्ञान कहते हैं ॥ ७ ॥ जहां किसी का अस्तित्व ही नहीं है वहां 'सर्वसाक्षित्व'—सब का साक्षीपन—कहां से आया? इस लिए तुर्या का ज्ञान भी शुद्ध न मानना चाहिए ॥ ८ ॥ 'ज्ञान' शब्द को कहते हैं—(जहां एक को छोड़ कर दूसरा है ही नहीं)—और तुर्यावस्था तो प्रत्यक्ष द्वैतरूपी है—(अर्थात् तुर्या 'सब को साक्षी है'—इस लिए एक तो स्वयं तुर्या हुई और दूसरे वे सब हुए, जिनकी वह साक्षी है)—अतएव तुर्यावस्था का ज्ञान शुद्ध ज्ञान नहीं है—शुद्ध ज्ञान कुछ और ही है ॥ ९ ॥ अच्छा, अब शुद्ध ज्ञान का लक्षण सुनिये:—“हम शुद्ध स्वरूप ही हैं”—इसका अनुभव होना ही शुद्ध ज्ञान है* ॥ १० ॥ महावाक्य (तत्त्वमसि, तत् + त्वम् + असि, वह (ब्रह्म) तू है) का मन्त्र अच्छा है, परन्तु इस का जप नहीं कहा गया इस वाक्य का तो साधक को विचार ही करना चाहिए ॥ ११ ॥ यह महावाक्य कुल मन्त्रों का सार है, पर उस का विचार ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उसके जप से अज्ञानान्धकार नहीं मिट सकता ॥ १२ ॥ यदि इस महावाक्य का अर्थ लिया जाय तो “हम स्वयं ब्रह्म ही हैं” । इस लिए, उसका जप करने से, व्यर्थ परिश्रम के सिवाय, और कोई लाभ नहीं होता ॥ १३ ॥ इस महावाक्य का विवरण करना ही ज्ञान का मुख्य लक्षण है । उसके शुद्ध लक्ष्य-अंश से जान पड़ता है कि हम ब्रह्मस्वरूप ही हैं ॥ १४ ॥ अपने को अपना मिलना (अर्थात् यह मालूम होना कि मैं कौन हूँ—आत्मस्वरूप को पहचान होना) यह ज्ञान परम दुर्लभ है । यह ज्ञान आदि अन्त में स्वयंभु-स्वरूप ही है ॥ १५ ॥ जहां से यह सब कुछ प्रगट होता है और जिसमें यह सब लीन होता है—वह ज्ञान होने पर बन्धन की भ्रान्ति मिटती है ॥ १६ ॥ जिसके तई ये सब मतमतान्तर निर्वल हो जाते हैं और अति सूक्ष्म विचार से देखने पर उन सब में एक्य जान पड़ता है ॥ १७ ॥ जो इस चराचर का मूल है और जो निर्मल तथा शुद्धस्वरूप है, उसी का नाम, वेदान्तमत से, 'शुद्ध ज्ञान'

है । ये तीनों अवस्थाएँ अज्ञान से होती हैं । तुरीयावस्था में जीव को स्वस्वरूप का ज्ञान होता है—अर्थात् उसे यह अनुभव होता है कि मैं ब्रह्मरूप हूँ । परन्तु यह ज्ञान भी उपाधि-सहित ही है । शुद्ध यह भी नहीं है । इसके बाद उन्मनी अवस्था है, जिसमें मन का भी लय हो जाता है ।

* 'हम' मायने 'अह', और 'शुद्ध स्वरूप' मायने 'ब्रह्म'—अर्थात् “अह ब्रह्म”—यही 'हम शुद्ध स्वरूप हैं' और इसी का अनुभव होना "शुद्ध ज्ञान" है ।

है ॥ १८ ॥ अपना मूलस्थान ढूँढने से अज्ञान सहज ही में उड़ जाता है—
इसी का नाम है मोक्ष देनेवाला ब्रह्मज्ञान ॥ १९ ॥ अपने को पहचानते पह-
चानते सर्वज्ञता प्राप्त होती है, और इससे एकदेशीयता विलकुल जाती
रहती है ॥ २० ॥ यह हेतु रख कर देखने से, कि 'मैं कौन हूँ,' यह जान
पड़ता है कि "मैं निश्चय कर के देहातीत स्वरूप ही हूँ" ॥ २१ ॥

अस्तु । प्राचीन काल में इसी ज्ञान से अनेक महापुरुष मुक्त हो चुके हैं
॥ २२ ॥ व्यास, वासिष्ठ, शुक, नारद, जनक, आदि महाज्ञानी इसी ज्ञान से
तर गये ॥ २३ ॥ वामदेव, वाल्मीकि, अत्रि, और शौनक आदि ऋषीश्वर
इसी ज्ञान से, वेदान्त का विचार करके, परमात्मा को पा गये ॥ २४ ॥
सनकादिक ऋषि, आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, इत्यादि अनेक
महात्मा इसी शुद्ध ज्ञान से मुक्त हो गये ॥ २५ ॥ सिद्ध, मुनि, महानुभाव,
आदि सबों का अन्तर्भाव वही एक शुद्ध ज्ञान है और उसीके सुख से महा-
देवजी सदा डोलते रहते हैं । २६ ॥ वह वेदशास्त्रों का सार है; वह गुरुप्र-
तीति और आत्मप्रतीति (आत्मानुभव) का विचार है और उसकी प्राप्ति
भाविकों को भाग्य के अनुसार होती है ॥ २७ ॥ साधु, संत और सज्जन,
जिसके द्वारा भूत, भविष्य, तथा वर्तमान जानते हैं, उस ज्ञान से भी अधिक
गुह्य (गौप्य) वह आत्मज्ञान है ॥ २८ ॥ तीर्थ, व्रत, तप, दान, धूम्रपान
(अपने को उलटा टांग कर नीचे किया हुआ धुआँ पीना), पचाग्नि (चारों
ओर से अग्निताप और ऊपर से सूर्यताप से तपने का तप) और गौरांजन
(भगवान् के लिए अपने को अग्नि से जलाना) से वह नहीं प्राप्त होता
॥ २९ ॥ सकल साधनों का फल वही है, वह सम्पूर्ण ज्ञानों का शिरोमणि है
और उससे संशय समूल नाश हो जाता है ॥ ३० ॥ छप्पन भाषा और उनके सब
ग्रन्थों से लेकर वेदान्त तक—सब का वह एक ही गहन अर्थ है ॥ ३१ ॥ वह
पुराणों से नहीं जाना जाता; वेद उसका वर्णन करते करते थक गये; परन्तु
श्रीगुरुकृपा से, अब, इसी क्षण, मैं वही बतलाता हूँ ॥ ३२ ॥ यद्यपि संस्कृत
और मराठी आदि ग्रंथों में मेरी कुछ भी गति नहीं है; परन्तु मेरे हृदय में
कृपामूर्ति सद्गुरु स्वामी आ विराजे हैं; अतएव, अब मुझे संस्कृत और
प्राकृत ग्रन्थों की कोई जरूरत नहीं है ॥ ३३-३४ ॥ वेदाभ्यास और सद्ग्रन्थ-
श्रवण इत्यादि किसी प्रकार का भी परिश्रम या प्रयत्न न करने पर भी,
केवल सद्गुरु कृपा से, सब कुछ सहज है ॥ ३५ ॥

मराठी, आदि सब भाषाओं के कुल ग्रन्थों में संस्कृत-ग्रन्थ श्रेष्ठ हैं; संस्कृत
ग्रन्थों में भी वेदान्त सर्वश्रेष्ठ है ॥ ३६ ॥ क्योंकि वेदान्त में वेदों का सम्पूर्ण
रहस्य आगया है ॥ ३७ ॥ उस वेदान्त का भी मथितार्थ (मथ कर निकाला
गया अर्थ) जो अत्यन्त गहन परमार्थ है वह अब सुनिये ॥ ३८ ॥ अहो !

गहन से भी जो गहन है वह सद्गुरु का वचन है—सद्गुरु वचन से अवश्य शान्ति मिलती है ॥ ३६ ॥ सद्गुरुवचन ही वेदान्त है, सद्गुरुवचन ही सिद्धान्त है और सद्गुरुवचन ही प्रत्यक्ष आत्मानुभव है ॥४०॥ जो अत्यंत गहन है, जो मेरे स्वामी का वचन है, जिस से मुझे परम शान्ति मिली है; जो मेरे हृदय का गुह्य है, वही मैं अब, इसी क्षण, बतलाता हूँ—मेरी ओर ध्यान देना चाहिए ॥ ४१-४३ ॥ “ अहं ब्रह्मास्मि ” यह वेद (यजुर्वेद का महावाक्य है । इसका अर्थ अतर्कनीय है । उस से गुरुशिष्य का ऐक्य होता है ॥ ४४ ॥ इस महावाक्य का मर्म यह है कि—स्वयं तू ही ब्रह्म है—इस में संदेह अथवा भ्रम नहीं रखना ! ॥ ४५ ॥ नवधा भक्ति में आत्मनिवेदन नामक जो मुख्य भक्ति है, उसका भी यही मर्म है ॥ ४६ ॥ ये पंचमहाभूत क्रमशः कल्पान्त में नाश हो जाते हैं, और प्रकृति-पुरुष (माया और ब्रह्म) भी ब्रह्म ही हो जाते हैं ॥४७॥ दृश्य पदार्थों के लुप्त होते ही वास्तव में 'मैं' भी नहीं रहता, और परब्रह्म तो आदि ही से अद्वैत है ॥ ४८ ॥ जहाँ सृष्टि की वार्ता ही नहीं है, वहाँ आदि ही से एकता, अर्थात् अद्वैत है—वहाँ पिंड या ब्रह्मांड किसी का पता नहीं है ॥ ४९ ॥ ज्ञानाग्नि के प्रगट होते ही दृश्यरूपी सारा कूड़ा-कचरा नष्ट हो जाता है, तदाकार हो जाने से भिन्नता का मूल टूट जाता है ॥ ५० ॥ जगत् की अनित्यता का ज्ञान हो जाने पर वृत्ति उसमें नहीं लगती, वह उससे पराङ्मुख होती है, और इस लिए यद्यपि दृश्य (संसार) बना रहता है, तथापि उसका अभाव भास होता है—इस प्रकार स्वाभाविक ही आत्मनिवेदन हो जाता है ॥ ५१ ॥ अस्तु । जब गुरु मैं तेरी अनन्य भक्ति है तब तुझे ऐसी क्या चिन्ता है ? उस से अलग रह कर—अभक्त बन कर—नहीं रहना चाहिए ॥ ५२ ॥ इस बात का दृढीकरण होने के लिए सद्गुरु की सेवा करनी चाहिए; क्योंकि सद्गुरु की सेवा से अवश्य ही समाधान होता है ॥ ५३ ॥ यही आत्मज्ञान है । इससे परमशान्ति मिलती है और भव-भय छूट जाता है ॥५४॥ जो देह ही को ' मैं ' समझता है वह आत्मघातकी है । देहाभिमान के कारण वह अवश्य ही जन्म-मरण भोगता रहता है ॥ ५५ ॥

हे शिष्य ! तू चारों देहों से अलग है; तू जन्मकर्म से भिन्न है; और सम्पूर्ण चराचर सृष्टि के भीतर बाहर तू ही भरा है ॥ ५६ ॥ वास्तव में, वद्व कोई नहीं है—ये सब लोग भ्रान्ति से भूले हुए हैं; क्योंकि इन लोगों ने देहाभिमान को मजबूती से पकड़ लिया है ॥ ५७ ॥ हे शिष्य ! परमार्थ के दृढीकरण के लिए एकान्त में बैठ कर, स्वरूप में (ब्रह्मस्वरूप या अहंस्वरूप में) विश्रान्ति लेना चाहिए ॥ ५८ ॥ जब अखंड (लगातार) श्रवण और मनन किया जाता है तभी समाधान मिलता है; और ब्रह्मज्ञान पूर्ण हो जनों

पर वैराग्य प्राप्त होता है ॥ ५६ ॥ हे शिष्य, स्वच्छन्दता के साथ-मनमानी तरह से-यदि तू इन्द्रियों को स्वतंत्र होने देगा तो इस से तेरे जन्म-मृत्यु का दुःख कभी न जायगा ॥ ६० ॥ जैसे मणि का त्याग करते ही राज्यलाभ होता है वैसे ही जिसे विषयों में वैराग्य उपजता है उसी को पूर्णज्ञान होता है ॥ ६१ ॥ सींग के मणि का लोभ करके, मूर्खता से, राज्य को अवहेलना करना अच्छा नहीं ॥ ६२ ॥ अविद्या छोड़ कर सुविद्या ग्रहण करनी चाहिये उस से शोध ही ईश्वर की प्राप्ति होता है ॥ ६३ ॥ जैसे कोई सन्निपात के दुःख में भयानक दृश्य देखता हो और ओषधि पाते ही सुख और आनन्द पा जाता हो, वैसे ही अज्ञानरूप सन्निपात में भी मिथ्या दृश्य (सांसारिक) देख पड़ते हैं; परन्तु ज्ञानरूपी ओषधि लेते ही उन मिथ्या दृश्यों का पता भी नहीं चलता ॥ ६४-६५ ॥ भूठे स्वप्नों से, जो सोनेवाला, भय से चिह्ला रहा हो उसे जगा देने से पहले की निर्भय दशा मिल जाती है ॥ ६६ ॥ स्वप्न है तो मिथ्या ही; परन्तु उसे (देखनेवाले को), सत्य जान पड़ने के कारण, दुःख होता है । परन्तु, जो मिथ्या है उस का निरसन ही कैसे किया जाय ? ॥ ६७ ॥ वह (स्वप्न) जागनेवाले के लिए तो भूठा है; पर सोनेवाले को घेरे हुए है; जाग उठने पर उसे भी कोई भय नहीं है ॥ ६८ ॥ इसी प्रकार अविद्या की नींद इतनी गाढी होती है कि उस से बड़ा भारी भ्रम समा जाता है । ऐसी दशा में श्रवण और मनन के द्वारा पूर्ण जागृति प्राप्त करनी चाहिए ॥ ६९ ॥ जो हृदयपूर्वक विषयों से विरक्त है, वही जागृत (सिद्ध) है ॥ ७० ॥ परन्तु जो विषयों से विरक्त नहीं हुआ वह साधक है-उसे बद्ध-पन का अभिमान छोड़ कर पहले साधन ही करना चाहिए ॥ ७१ ॥ जो साधन भी नहीं कर सकता वह, अपने सिद्धपन के अभिमान से ही, बद्ध (सांसारिक बन्धनों से जकड़ा हुआ) है-उस से तो मुमुक्षु ही अच्छा है, जो ज्ञान का अधिकार तो रखता है ॥ ७२ ॥ अब बद्ध, मुमुक्षु, साधक और सिद्ध के लक्षण अगले समासों में बतलाये जाते हैं । सावधान होकर सुनिये ॥ ७३-७४ ॥

सातवाँ समास-बद्ध-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

सृष्टि के सम्पूर्ण चराचर जीव चार प्रकार के हैं:-बद्ध, मुमुक्षु, साधक और सिद्ध । इनके सिवाय पांचवाँ प्रकार और कोई नहीं है । अब, इन चारों

के लक्षण एक एक समास में विस्तारपूर्वक बतलाते हैं ॥१-३॥ उक्त चारों प्रकार के जीवों में से पहले, इस समास में, बद्ध के लक्षण, सावधान होकर, सुनिये । शेष तीनों के लक्षण आगे बतलाये गये हैं ॥ ४-५ ॥ जैसे अंधे को, बिना दृष्टि के, दसों दिशाएँ शून्याकार जान पड़ती हैं उसी प्रकार, स्वार्थान्धता के कारण, बद्ध को भी, ज्ञानदृष्टि के बिना, सारा संसार सूना समझ पड़ता है ॥६॥ भक्त, ज्ञाता, तपस्वी, योगी, वैरागी, संन्यासी, इत्यादि जिन सत्पुरुषों से यह संसार सधा हुआ है वे कोई भी बद्ध पुरुष की दृष्टि में नहीं आते ॥ ७ ॥ कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म, और सुगम परमार्थ-पंथ, वह नहीं जानता ॥ ८ ॥ सत् शास्त्र, सत्संगति, सत्पात्र और पवित्र सन्मार्ग भी उसे नहीं देख पड़ता ॥ ९ ॥ सारासार का विचार, स्वधर्म का आचार और परी-पकार या दान-पुण्य नहीं जानता ॥ १० ॥ हृदय में भूतदया नहीं होती, शरीर पवित्र नहीं रहता और मनुष्यों को प्रसन्न करने के लिए, मृदु-वचन भी नहीं बोलता ॥ ११ ॥ बद्ध पुरुष भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, मोक्ष और साधन कुछ नहीं जानता ॥ १२ ॥ वह निश्चयात्मक देवता नहीं जानता; संत का विवेक नहीं जानता और माया के कौतुक को नहीं समझता ॥ १३ ॥ उसे परमार्थ की पहचान नहीं मालूम होती है, वह अध्यात्मनिरूपण नहीं जानता और न स्वयं अपने को जानता है ॥ १४ ॥ उसे जीव के जन्म का कारण नहीं मालूम होता; वह साधन का फल नहीं जानता और उसे यथार्थ सत्य का ज्ञान नहीं होता ॥ १५ ॥ उसे यह नहीं मालूम कि, जिस में वह खुद बँधा है, वह बन्धन कैसा है; उसे मुक्ति का लक्षण नहीं मालूम होता है और न उसे विलक्षण वस्तु (ब्रह्म) का ज्ञान होता है ॥१६॥ शास्त्र का अर्थ बतलाने पर वह नहीं समझता, उसे अपना मुख्य स्वार्थ नहीं मालूम होता और वह यह नहीं जानता कि मैं संकल्प से बंधा हुआ हूँ ॥ १७ ॥ आत्मज्ञान का न होना बद्ध का मुख्य लक्षण है । वह तीर्थ, व्रत, दान, पुण्य कुछ नहीं जानता ॥१८॥ उस में दया, करुणा, विनती, मैत्री, शान्ति, क्षमा, आदि गुण नहीं होते ॥ १९ ॥ जिस के पास ज्ञान ही नहीं है उस में ज्ञान के लक्षण कहां से आवेंगे? जिस में कुलक्षण ही कुलक्षण भरे हैं वह बद्ध है ॥ २० ॥ नाना प्रकार के पाप करने में उसे परम संतोष जान पड़ता है और वह मूर्खता का दौंभला रगता है ॥ २१ ॥ जिस पुरुष में काम, क्रोध, गर्व, मद, हंदा, रोदा, आदि अवगुण अधिकता से वास करते हों उसे बद्ध जानना चाहिए ॥ २२ ॥ दर्प, दंभ, विषय, लोभ, कर्कशता और अश्रुमत्ता जिस पुरुष में विशेषता के साथ हों उसे बद्ध समझना चाहिए ॥ २३ ॥ व्यभिचार (कामासक्ति), मत्सर, असूया (परगुणेषु दोषाविष्करणम्) तिर-

॥ २४ ॥ वद्ध पुरुष अभिमान, अकड़ अहंकार, व्यग्रता और क्रुद्धता को खानि होता है ॥ २५ ॥ कपट, वाद-विवाद, कुतर्क, भेद, क्रूरता, निर्दयता, आदि दुर्गुण उस में अधिक होते हैं ॥ २६ ॥ निन्दा, द्वेष, अधर्म, अभिलाषा, आदि बहुत प्रकार के दोष उस में अधिकता से वास करते हैं ॥ २७ ॥ उस में भ्रष्टता, अनाचार, नष्टता, एककार, अनीति, अविचार, आदि दुर्गुणों को अधिकता होता है ॥ २८ ॥ वह बहुत निष्ठुर, घातकी, हत्यारा, पातकी, क्रोधो होता है और अनेक कुविद्या जानता है ॥ २९ ॥ दुराशा, स्वार्थ, कलह, अनर्थ, दुर्मति और बदला लेने को बुद्धि आदि दोष उस में अधिकता के साथ होते हैं ॥ ३० ॥ कल्पना, कामना, तृष्णा, वासना, ममता, भावना आदि अवगुण उस में बहुत होते हैं ॥ ३१ ॥ वह विकल्पो, विषादी, मूर्ख, आसक्त, प्रपञ्च और उपाधी अधिक होता है ॥ ३२ ॥ वह बहुत वाचाल, पाखण्डी, 'दुर्जन ढोंगी, दुष्ट दुर्गुणी होता है ॥ ३३ ॥ अविश्वास, भ्रम, भ्रान्ति, तम, विद्वेष, आलस आदि उस में बहुतायत से होते हैं ॥ ३४ ॥ वद्ध पुरुष बहुत कृपण, उद्धट दूसरे की भलाई न देख सकनेवाला, मस्त, असत्कर्मा और लापरवाह होता है ॥ ३५ ॥ जो परमार्थ विषय में अज्ञान हो: प्रपञ्च का भारी ज्ञान रखता हो और जिसे स्वयं समाधान न हो उस का नाम वद्ध है ॥ ३६ ॥ वह परमार्थ का अनादर करता है; प्रपञ्च का अति आदर करता है और गृहस्थी का भार खुशी से ढोता है ॥ ३७ ॥ जिसे सत्संग अच्छा नहीं लगता; जिस को सन्त-निन्दा से प्रीति है और जिसने देह-बुद्धि को बेडियां डाल ली हैं उसका नाम वद्ध है ॥ ३८ ॥ वह हाथ में द्रव्य को जपमाला लिये रहता है: प्रत्येक समय कांता का ध्यान करते रहता है और उस के पास सत्संग का अभाव रहता है ॥ ३९ ॥ वह सदा नेत्रों से स्त्री तथा धन को देखता है; कानों से भी इन्हीं को चर्चा सुना करता है, और धन ही को चिन्ता करता रहता है ॥ ४० ॥ वह काया, वाचा, मन, चित्त, वित्त, जीव प्राण से धन और स्त्री का ही भजन करता रहता है ॥ ४१ ॥ वह सम्पूर्ण इन्द्रियां स्थिर करके उन्हें स्त्री और धन में ही लगा देता है ॥ ४२ ॥ वह स्त्री और धन ही को तीर्थ: स्त्री और धन ही को परमार्थ तथा स्त्री और धन ही को सर्वस्व जानता है ॥ ४३ ॥ वद्ध पुरुष, व्यर्थ समय न खोते हुए, सदा गृहस्थी को चिन्ता करता रहता है; सब कथा-वार्ता उसी को समझता है ॥ ४४ ॥ उसे अनेक प्रकार की चिन्ता, उद्वेग और दुखों का संसर्ग बना रहता है और वह परमार्थ का त्याग कर देता है ॥ ४५ ॥ घड़ी, पल और निमेष मात्र भी दुश्चेत न होते हुए वह सदा स्त्री-धन-प्रपञ्च का ध्यान किया करता है ॥ ४६ ॥ तीर्थयात्रा, दान, पुण्य,

भक्ति, कथा-निरूपण, मन्त्र, पूजा, जप, ध्यान, आदि सभी कुछ वर स्त्री और धन ही को समझता है ॥ ४७ ॥ जागते में, स्वप्न में, रात में, दिन में, प्रत्येक समय, उसको ऐसा विषय का अध्यास लगता है कि जिस के मारे उसे क्षण का भी अवकाश नहीं मिलता ॥ ४८ ॥ ये बद्ध के लक्षण मुमुक्षु-अवस्था में बदल जाते हैं । उस के लक्षण भी अगले समास में सुनिये ॥ ४९ ॥

आठवाँ समास-मुमुक्षु-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

कुलाभिमान के कारण जिस मनुष्य में अनेक ऋद्ध कुलक्षण आते हैं उस का मुखावलोकन करने से भी दोष ही लगता है ॥ १ ॥ उस बद्ध प्राणी को सौभाग्यवश, संसार में स्वैर-वर्तन करते हुए, कालान्तर में, खेद प्राप्त होता है ॥ २ ॥ इस प्रकार, वह संसार-दुःख से दुःखित होता है; त्रिविध-तापों से संतप्त होता है; और सौभाग्यवश, अध्यात्म निरूपण सुन कर, अन्तःकरण में पड़ताता है ॥ ३ ॥ प्रपञ्च (गृहस्थी) से उदास होता है; मन में विषयों से ऊब जाता है और कहता है कि “बस, अब, गृहस्थी के हौसले बहुत पूरे हो चुके ॥ ४ ॥ सारा प्रपञ्च चला जायगा, यहाँ के श्रम का कोई फल न होगा, अब कुछ अपना समय सार्थक करूँ” ॥ ५ ॥ इस प्रकार बुद्धि पलट जाती है, हृदय में चिन्तित होता है और कहता है कि “मेरी सब उमर व्यर्थ गई! ॥ ६ ॥ पहले के किये हुए अनेक दोषों की याद आती है, और वे सब दोष मूर्तिमान् उसके आगे आ जाते हैं ॥ ७ ॥ वर यमयातना का स्मरण कर करके मन में डरता है और अपने अगाणित पापों पर इस प्रकार पड़ताता है:— ॥ ८ ॥

“मेरे मन में तो कभी पुण्य का विचार भी नहीं आया; पाप के पहाड़ जमा हो गये हैं; अब यह दुस्तर संसार कैसे पार होऊँ? ॥ ९ ॥ जन्मभर अपने दोषों को छिपाया और भले भले आदमियों के गुणों में दोष लगाये! हे ईश्वर, मैंने संत, साधु और सज्जनों की व्यर्थ ही निन्दा की! ॥ १० ॥ निन्दा के समान और संसार में कोई दोष नहीं है, और यही दोष विशेष कर मुझ से हुआ है—मेरे अवगुणों से आकाश डूबने चाहता है! ॥ ११ ॥ मन्तों को नहीं पहचाना, भगवान् को अर्चा नहीं की, और अनियि अग्यागतों को भी संतुष्ट नहीं किया ॥ १२ ॥ पूर्वपापों के कारण

मुझसे कुछ नहीं बन पड़ा ! मेरा मन सदा कुमार्ग ही में पड़ा रहा ! ॥१३॥
 कभी शरीर को कष्टित नहीं किया, परोपकार नहीं किया और काम-मद के
 कारण आचार को रक्षा भी नहीं हो सका ! ॥ १४ ॥ भक्ति माता को दुबा
 दिया; शान्ति और विश्रान्ति का भंग किया और मूर्खता के कारण सदबुद्धि
 और सद्वासना को भ्रष्ट किया ! ॥ १५ ॥ अब जीवन कैसे सार्थक हो ?
 मैंने अनेक व्यर्थ दोष कर डाले !-विवेक तो मेरे पास कभी आया ही नहीं !
 ॥ १६ ॥ कौन उपाय किया जाय ? कैसे परलोक मिले ? हा परमात्मन् !
 आपको कैसे प्राप्त करू ! ॥ १७ ॥ मेरे मन में सद्भाव तो कभी उपजा ही
 नहीं, जन्मभर मान और प्रतिष्ठा ही के प्राप्त करने में लगा रहा, और कर्म
 का खटाटोप, ऊपर ऊपर (दिखाऊ) तथा दाम्भिकता से, किया ॥ १८ ॥
 पेट के लिए हरि-कोर्तन किया, देवताओं को हाटवाट में लगाया* हा दैव !
 अपनी खोटी बुद्धि में ही जानता हू ! ॥१९॥ मन में अभिमान रख कर, मैं
 सदा ऊपर ऊपर से गर्वरहित बातें करता रहा और ध्यान करने के बहाने
 से भीतर भीतर धन को चिन्ता करता रहा ! ॥ २० ॥ मैंने शास्त्रज्ञान से
 जन्मभर लोगों को ठगा; पेट के लिए संतों की निन्दा की। हे ईश्वर ! मेरे हृदय
 में नाना प्रकार के दोष भरे हैं ! ॥२१॥ जो कुछ सत्य देखा उसीका खण्डन
 किया और मिथ्या ही का प्रतिपादन किया, इसी प्रकार, उदर भरने के लिए,
 मैंने अनेक कपट-कर्म किये ! ” ॥ २२ ॥

इस तरह मुमुक्षु पुरुष मन ही मन पछुताता है और आध्यात्म-निरूपण
 सुन कर पहले की अपनी सब चालें बदल देता है ॥ २३ ॥ पुण्यमार्ग की
 ओर उसका मन दौड़ता है, वह सत्संग की इच्छा करता है और संसार
 से विरक्त होता है ॥ २४ ॥ वह यह कहता है कि “ चक्रवर्ती राजा तो
 अपना राज्य छोड़ कर चले ही गये-फिर मेरे वैभव की क्या गिनती है !
 इस लिए अब सत्संगाति करना चाहिए ! ” ॥ २५ ॥ वह अपने अवगुणों
 पर विचार करता है और विरक्ति-बल से उन्हें पहचानता है तथा पश्चात्ताप
 से वह मन ही मन अपनी इस प्रकार निन्दा करता है:- ॥ २६ ॥

“ मैं कैसा अपकारी और दंभधारी हूँ ! मैं बड़ा अनाचारी हूँ ! ॥ २७ ॥
 मैं चांडाल, दुंराचारी, खल और महापापी हूँ ! ॥ २८ ॥ मैं अभक्त दुर्जन हूँ
 मैं हीना से भी हीन हूँ, मैं पत्थर ही पैदा हुआ ! ॥ २९ ॥ मैं दुरमिमाणी
 हूँ, मैं अत्यन्त क्रोधी हूँ, मुझमें कितने दुर्व्यसन भरे हैं ! ॥३०॥ मैं आलसी
 और मुहँचोर हूँ; कपटी और कातर हूँ और अविचारी तथा मूर्ख हूँ ! ३१

*धन पैदा करने के लिए लोग बाजारों में, मेलों में, रास्तों पर, मूर्तियां रखते हैं; जिससे
 सब कोई पैसा उन पर चढ़ावे। यह बड़ा पाप-कर्म है।

मैं निकम्मा और बकवादी हूँ- पाखंडी और मुहँजोर हूँ तथा कुतुम्ह और कुटिल हूँ! ॥ ३२ ॥ मैं विलकुल ही अज्ञान हूँ, मैं सब से हीन हूँ और मुझ में न जाने कितने कुलक्षण है ॥ ३३ ॥ मैं अनाधिकारी हूँ: मलीन और अघोरी हूँ; और अत्यन्त नीच हूँ! ॥ ३४ ॥ मैं कैसा अपस्वार्थी हूँ मैं बड़ा अनर्थी हूँ; और परमार्थ को मुझ में गन्ध भी नहीं है ॥ ३५ ॥ मैं अवगुणों को राशि हूँ; और व्यर्थ के लिए जन्म लेकर भूमि का भार हुआ हूँ! ” ॥ ३६ ॥

इस प्रकार वह अपनी खूब निन्दा करता है, गृहस्थी से विलकुल ही ऊब जाता है और सत्संग के लिए उत्सुक होता है ॥ ३७ ॥ वह अनेक तीर्थ करता है, शम, दम, आदि साधन करता है अनेक ग्रन्थ अच्छी तरह पढ़ता है-परन्तु इन बातों से उसको समाधान नहीं होता-ये सब उसको सन्देह-युक्त जान पड़ते हैं-और कहता है कि अब सन्तो के शरण में जाना चाहिए ॥ ३८-३९ ॥ वह देहाभिमान, कुलाभिमान, द्रव्याभिमान और नाना प्रकार के अभिमान छोड़ कर सन्तचरणों में अनन्य होता है ॥ ४० ॥ वह अहंता छोड़ कर नाना प्रकार से अपनी निन्दा करता है और मोक्ष की इच्छा करता है ॥ ४१ ॥ वह अपने वड़प्पन पर लजाता है, परमार्थ के लिए कपित होता है और उसका संत-चरणों में विश्वास होता है ॥ ४२ ॥ वह गृह-स्वार्थ या प्रपंच छोड़ कर परमार्थ में उत्साह रखता है और यह कहता है कि “ अब मैं सज्जनों का दास होऊंगा ” ॥ ४३ ॥ उपर्युक्त लक्षणों से युक्त पुरुष को मुमुक्षु जानना चाहिए । अब आगे साधक के लक्षण कहते हैं ॥ ४४ ॥

नववाँ समास-साधक-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में मुमुक्षु के लक्षण संक्षेप से बतलाये, अब सावधान होकर साधक के लक्षण श्रवण कोजिए ॥ १ ॥ अपने सब पिछले दुर्गुणों को छोड़ कर सन्तसमागम करता है वह साधक कहलाता है ॥ २ ॥ जो सन्तों के शरण में जाता है, और सन्तजन जिसे आश्वासन भी देते हैं, उसे शास्त्रों में साधक कहा है ॥ ३ ॥ सन्तों से आत्मज्ञान का उपदेश पाकर जिस का संसार-बन्धन टूट गया है, और जो उस आत्मज्ञान को दृढता के लिए साधन करता है उसे ‘साधक’ कहते हैं ॥ ४ ॥ वह अध्यात्म-श्रवण से प्रीति रखता है: अद्वैत निरूपण को रुचि रखता है और सद्ग्रन्थों का मनन करके उनके अर्थ का सार निकालता है ॥ ५ ॥

मायासार का विचार मन लगा कर सुनता है, और सन्देह को मिटा कर दृढतापूर्वक आत्मज्ञान का विचार करता है ॥६॥ साधक, अनेक प्रकार के सन्देह मिटाने के लिए, सत्संगति करता है; और शास्त्र का अनुभव, गुरु का अनुभव और आत्मानुभव तीनों को एक-करता है* ॥ ७ ॥ वह विवेक से देहबुद्धि को रोकता है; आत्मबुद्धि को दृढतापूर्वक धारण करता है; और श्रवण मनन किया ही करता है ॥ ८ ॥ दृश्य (संसार, प्रकृति, माया) का भान छोड़ कर साधक आत्मज्ञान को दृढता से धारण करता है और विवेक से समाधान प्राप्त करता है ॥ ९ ॥ द्वैत को उपाधि (मायिक सृष्टि) को छोड़ कर अद्वैत वस्तु (केवल ब्रह्म) वह, साधन के द्वारा प्राप्त करता है और एकता की समाधि लगाता है ॥ १० ॥ अपना ज्ञान जो मलिन हो गया या उसको, वह प्रकाशित करता है और विवेक से भव-सागर पार होता है ॥ ११ ॥ साधक पुरुष सद्-गुणों में सुने हुए उत्तम साधुओं के लक्षणों को अपने आचरण में लाता है और परमात्मा में लीन होने का उत्साह रखता है ॥ १२ ॥ असत्कर्मों का त्याग करके सत्कर्मों की श्रद्धा करता है और स्वरूपस्थिति को दृढ करता है ॥ १३ ॥ वह दिनोंदिन अवगुण त्यागता है; उत्तम गुणों का अभ्यास करता है और आत्म-स्वरूप में निदिध्यास लगाता है ॥ १४ ॥ अपने दृढनिश्चय के बल से, दृश्य (संसार) का आस्तित्व होने पर भी, उससे बाध्य न होते हुए, वह सदैव स्वरूप में मिलता जाता है ॥ १५ ॥ प्रत्यक्ष होने पर भी माया को लक्ष में नहीं लाता है और अलक्ष, या अदृश्य, वस्तु (ब्रह्म) का अन्तःकरण में लक्ष करता है (अर्थात् 'अलक्ष' को हृदय में लखता है)—इस प्रकार आत्मस्थिति की धारणा रखता है ॥ १६ ॥ जो 'वस्तु' लोगों से छिपी है, जिस का मन से अनुमान नहीं किया जा सकता, उसी को वह दृढता से धारण करता है ॥ १७ ॥ जिस का वर्णन करते ही वाचा बंद हो जाती है; जिस को देखते ही आंखें अंधी हो जाती हैं—अर्थात् वाचा और चक्षु को जहाँ गति नहीं है—उसी को साधक अनेक युक्तियों से प्राप्त करता है ॥ १८ ॥ जो साधने से साध्य नहीं होता, जो लखने से लख नहीं पड़ता उसी को वह अनुभव में लाता है ॥ १९ ॥ जहाँ मन का ही लोप हो जाता है; जहाँ तर्क ही

* जब तक सत्संगति नहीं होती तब तक नाना प्रकार के सन्देह नहीं मिट सकते; क्योंकि इन सन्देहों के मिटाने की शक्ति सन्त लोगों ही में है । सत्संगति करके साधक पुरुष आत्मानुभव, शास्त्रानुभव, गुरु-अनुभव—इन तीनों को एक ही सिद्ध करता है—अर्थात् अपना खुद का अनुभव, शास्त्रों का सिद्धान्त और गुरुद्वारा पाये हुए उपदेश—इन तीनों का अभ्यास करने पर अन्त में उमे इस बात का अनुभव हो जाता है कि ये तीनों एक ही हैं ।

पंगु हो जाता है—उसीको साधक-बाधक दृढतापूर्वक अनुभव में लाता है ॥ २० ॥ वह खानुभव के योग से तुरन्त ही 'वस्तु' को प्राप्त लेता है और वही 'वस्तु' स्वयं हो जाता है ॥ २१ ॥ वह अनुभव के मार्ग जान कर, योगियों के लक्षण प्राप्त करता है और संसार से अलिप्त रह कर कर्मयोगी बनता है ॥ २२ ॥ उपाधि से अलग रह कर, असाध्य 'वस्तु' को वह साधनों से प्राप्त करता है और आत्म-स्वरूप में बुद्धि को दृढ करता है ॥ २३ ॥ ईश्वर क्या है और भक्त क्या है, इस का मूल खोज कर देखता है और जो 'साध्य' करना है वही स्वयं हो जाता है ॥ २४ ॥ साधक पुरुष विवेकबल से गुप्त (अन्तर्मुख) हो जाता है—आप ही आप लुप्त (स्वरूप में सदा के लिए लय) हो जाता है; और यद्यपि (उसका स्थूल शरीर) देख पड़ता है, तथापि 'उसे' कोई न देखता ॥ २५ ॥ वह 'मै-पन' को पीछे छोड़ देता है; स्वयं 'अपने' को दृढता है और तुर्यावस्था को भी पार कर जाता है ॥ २६ ॥ इसके बाद उन्मनी अवस्था के अन्त में वह अखंड रोति से स्वयं 'अपने' से मिलता है, अर्थात् अखंड आत्मानुभव प्राप्त करता है ॥ २७ ॥

इस प्रकार साधक द्वैत का सम्बन्ध छोड़ देता है, भास के भासत्व का साक्षी भी नहीं रहता और, देह में रह कर ही, विदेह बन जाता है ॥ २८ ॥ वह अखंड स्वरूपस्थिति में रहता है, देह का अहंकार छोड़ देता है और सम्पूर्ण सन्देहों से निवृत्त हो जाता है ॥ २९ ॥ पञ्चभूतों का यह सब विस्तार साधक को स्वप्नाकार मालूम होता है और निर्गुणस्वरूप का उसे निर्धार हो जाता है ॥ ३० ॥ जैसे स्वप्न में जो भय मालूम होता है वह जागृति में नहीं जान पड़ता, उसी प्रकार वह इस सम्पूर्ण पसार को समझता है ॥ ३१ ॥ माया का जो यह रूप लोगों को सच्चा मालूम है उसे साधक खानुभव से मिथ्या समझता है ॥ ३२ ॥ जिस पर निद्रा छोड़ कर जागृत होने पर मनुष्य स्वप्न-भय से छूट जाता है, उसी प्रकार माया छोड़ कर साधक स्वरूप-स्थिति को प्राप्त करता है ॥ ३३ ॥ इस तरह अन्तःकरण तो उसका स्वरूप-स्थिति में रहता है, और बाहर से वह निस्पृहता का अवलम्बन करता है—संसार से विरक्त होकर रहता है ॥ ३४ ॥ काम से छूट जाता है, क्रोध से दूर भगता है और मदमत्सर को एक ओर छोड़ देता है ॥ ३५ ॥ कुलाभिमान का त्याग करता है; लोक-लाज को लजाता है और विरक्ति-बल से परमार्थ की धूम मचा देता है ॥ ३६ ॥ अविद्या से दूर होता है, प्रपंच से हटता है; और अचानक लोभ के हाथ से छूट जाता है! ॥ ३७ ॥ बड़प्पन को मार गिराता है; वैभव को लथाड़ बतता है; और विरक्तिबल से प्रतिष्ठा को भी भिन्नकोर डालता है

॥ ३८ ॥ भेद की कमर तोड़ देता है; अहंकार को मार गिरता है और संदेहरूप शत्रु को पटक देता है ! ॥ ३९ ॥ विकल्प का वध करता है; भवसिंधु को थप्पड़ों से मार भगाता है; और सब जीवों के विरोध को तोड़ डालता है ॥ ४० ॥ भवभय को डरवा देता है; काल की टांगें तोड़ डालता है; और जन्ममृत्यु का मस्तक चूर चूर कर देता है ! ॥ ४१ ॥ देह-सम्बन्धी अहंकार पर आक्रमण करता है; संकल्प पर धावा करता है और कल्पना को एकाएक मार डालता है ॥ ४२ ॥ भीति का अकस्मात् ताडन करता है; लिंगदेह को छार छार कर डालता है और पाखंड को विवेकबल से पड़ाड़ देता है ! ॥ ४३ ॥ गर्व को गर्व दिखलाता है; स्वार्थ को अनर्थ में डाल देता है; और अनर्थ का भी नीतिन्याय से दलन कर डालता है ॥ ४४ ॥ मोह को बीच से ही तोड़ डालता है; दुख को दुधड कर देता है और शोक को काट-कर एक ओर फेंक देता है ! ॥ ४५ ॥ द्वेष का देश-निकाला करता है, अभाव (नास्तिकता) का गला घोट डालता है; और उसके डर से ही कुतर्क का पेट फट जाता है ! ॥ ४६ ॥ ज्ञान से विवेक, और विवेक से वैराग्य-विषयक निश्चय, प्रबल करके वह अवगुणों का संहार करता है ॥ ४७ ॥ अधर्म को स्वधर्म से लूट लेता है; कुकर्म को सत्कर्म-द्वारा हटा देता है; और विचार से अविचार को हटा कर रास्ता बतलाता है ॥ ४८ ॥ तिरस्कार को कुचल डालता है; द्वेष को उखाड़ कर फेंक देता है; और अविषाद से विषाद को पैरों तले डाल देता है ॥ ४९ ॥ कोप पर छुपा मारता है, कपट को भीतर ही भीतर कूट डालता है; और संसार के सब मनुष्यों को अपना मित्र बनाता है ॥ ५० ॥ प्रवृत्ति का त्याग करता है; सुहृदों का संग छोड़ देता है, और निवृत्तिपथ से ज्ञानयोग को प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥ विषयरूपी ठग को, ठग लेता है; कुविद्या को घेर लेता है और आप्तरूपी चोरों से अपने को बचाता है ! ॥ ५२ ॥ पराधीनता पर क्रुद्ध हो उठता है; ममता पर संतप्त होता है; और दुराशा को एकाएक त्याग कर देता है ॥ ५३ ॥ स्वरूप में मन को डाल देता है ! यातना को यातना देता है और उद्योग तथा प्रयत्न की प्रस्थापना करता है ॥ ५४ ॥ साधनमार्ग से अभ्यास का संग करता है ; उद्योग को साथ लेकर चलता है और प्रयत्न को अपना अच्छा सहकारी बनाता है ! ५५ ॥ साधक, सावधान और दक्ष होकर, नित्य-अनित्य का विवेक करता है और देहबुद्धि का संग छोड़ कर केवल सत्संग ग्रहण करता है ॥ ५६ ॥ संसार को बलपूर्वक हटा देता है; विवेक से गृहस्थी का जंजाल छोड़ देता है; और शुद्ध आचार से अनाचार को भ्रष्ट करता है ! ५७ ॥ भूल को भूल जाता है; आलस का आलस करता है, और दुश्चित्तता के लिए सावधान नहीं होता उसके लिए दुश्चित्त ही रहता है ! ॥ ५८ ॥

अस्तु । साधक पुरुष अध्यात्मनिरूपण का श्रवण करके अवगुणों को छोड़ देता है और उत्तम मार्ग पर आता है ॥ ५६ ॥ वह दृढतापूर्वक सब से विरक्त होकर परमार्थ-मार्ग का साधन करता है । अब सिद्ध के लक्षण अगले समास में सुनिये ॥ ६० ॥ यहाँ एक संशय उठ सकता है, कि क्या निस्पृह और विरक्त मनुष्य ही साधक हो सकता है, और क्या सांसारिक मनुष्य त्याग बिना साधक नहीं हो सकता ? ॥ ६१ ॥ इस शंका का समाधान अगले समास में ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ ६२ ॥

दसवाँ समास-सिद्ध-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

पीछे जो यह शंका हुई कि, क्या सांसारिक मनुष्य, त्याग के बिना, साधक नहीं हो सकता; उसका अब समाधान करते हैं ॥ १ ॥ गृहस्थों में रहते हुए ही यदि साधक बनाना हो, तो भी सन्मार्ग का स्वीकार और असत् मार्ग का त्याग करना ही चाहिए ॥ २ ॥ क्योंकि कुबुद्धि छोड़े बिना कुछ सुबुद्धि नहीं आ सकती । अतएव कुबुद्धि और असन्मार्ग का छोड़ना ही गृहस्थ या ससारी मनुष्य का त्याग है ॥ ३ ॥ प्रपञ्च को बुरा समझ कर, मन से जब विषय त्याग किया जाता है तभी, आगे चल कर, परमार्थ का मार्ग मिलता है ॥ ४ ॥ नास्तिकता, संशय और अज्ञान का त्याग धीरे धीरे होता है ॥ ५ ॥ उपर्युक्त भीतरी त्याग सांसारिक और निस्पृह (वैरागी) दोनों में अच्छी तरह से होना चाहिए । हाँ निस्पृह के लिए बाह्य त्याग विशेष कहा है ॥ ६ ॥ परन्तु सांसारिकों में भी कहीं कहीं कुछ बाह्य त्याग अवश्य होना चाहिए, क्योंकि इस त्याग के बिना नित्य-नेम और सद्ग्रन्थों का श्रवण नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ इस से उपर्युक्त शंका का सहज ही समाधान हो गया—अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि त्याग के बिना साधक नहीं हो सकता । अस्तु, अब अपने पूर्वनिरूपण पर आइये ॥ ८ ॥ पिछले समास में साधक के लक्षण बतलाये गये थे अब सिद्ध के लक्षण सुनिये:— ॥ ९ ॥

सिद्ध पुरुष स्वयं ब्रह्म बन जाता है उस का संशय ब्रह्माण्ड के बाहर चला जाता है और उस का निश्चय अचल हो जाता है ! ॥ १० ॥ बद्धता के अवगुण मुमुक्षुता में नहीं रहते और मुमुक्षुता के लक्षण साधकपन में नहीं रहते ॥ ११ ॥ तथा, साधक को सन्देहवृत्ति, आगे चल कर, सिद्धा-

वस्था में, निवृत्त हो जाती है । अतएव, जिस में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, उसी को सिद्ध जानना चाहिए ॥ १२ ॥ संशयरहित ज्ञान ही सिद्ध साधु का लक्षण है, सिद्ध पुरुष में संशय नहीं हो सकता ॥ १३ ॥ कर्म-मार्ग संशय से भरा है; साधन में संशय मिला है—सब में संशय भरा है—निस्सन्देह एक साधु ही है ॥ १४ ॥ किसी को यदि अपने ज्ञान, वैराग्य और भजन में संशय है तो उसके लिए ये सब निष्फल है ॥ १५ ॥ किसी को यदि ईश्वर में, अथवा अपनी भक्ति में, शंका है किंवा यदि किसी का स्वभाव सन्देहयुक्त है, तो उस के ये सभी व्यर्थ हैं ॥ १६ ॥ किसी को यदि अपने व्रत, तीर्थ और परमार्थ में संशय है—निश्चय नहीं है—तो उस के ये सब व्यर्थ हैं ॥ १७ ॥ संशयात्मक भक्ति, प्रीति और संगति व्यर्थ हैं और इन से सन्देह ही बढ़ता है ॥ १८ ॥ संशय का जीना और करना-धरना सब कुछ व्यर्थ है ॥ १९ ॥ पोथी, शास्त्रज्ञान, और कोई काम, यदि संशयसहित है—निश्चयरहित है—तो व्यर्थ है ॥ २० ॥ संशययुक्त दक्षता और संशययुक्त पक्षपात व्यर्थ है । संशययुक्त ज्ञान से मोक्ष कभी नहीं मिल सकता ॥ २१ ॥ संत, पण्डित और बहुश्रुत यदि संशयसहित—निश्चयरहित—है तो व्यर्थ हैं ॥ २२ ॥ संशयो श्रेष्ठता और संशयो व्युत्पन्नता व्यर्थ है तथा संशयो ज्ञाता, जिसमें निश्चय नहीं है, व्यर्थ है ॥ २३ ॥ निश्चय के बिना कोई भी अणुमात्र प्रामाणिक नहीं है—ये सब व्यर्थ ही सन्देह के प्रवाह में पड़े हैं ! ॥ २४ ॥ निश्चय के बिना जो कुछ कहा जाय, सब त्याज्य है । वाचालता में आकर, बहुत सा बोलना निरर्थक है ॥ २५ ॥ अस्तु । निश्चय के बिना जो बलना है वह सब केवल विडम्बनामात्र है । संशय से, कुछ समाधान नहीं मिल सकता ॥ २६ ॥ इस लिए, निस्सन्देह, संशयरहित ज्ञान और निश्चययुक्त समाधान ही, सिद्ध का लक्षण है ॥ २७ ॥ इस पर श्रोता प्रश्न करता है कि, “कौन निश्चय किया जाय और निश्चय का मुख्य लक्षण क्या है? मुझे बतलाइये ” ॥ २८ ॥ अच्छा, सुनिये । यह जानना, कि मुख्य देवता कैसा है, निश्चय का ठीक लक्षण है । इसके सिवाय, नाना प्रकार के देवताओं की गडबड़ कभी मचाना ही न चाहिए ! २९ ॥ जिसने चराचर को रचा है उसका विचार करना चाहिए और शुद्ध विवेक-द्वारा परमेश्वर को पहचानना चाहिए ॥ ३० ॥ मुख्य देवता कौन है, भक्त का लक्षण क्या है, सो जानना चाहिए और असत्य छोड़ कर सत्य का ग्रहण करना चाहिए ॥ ३१ ॥ पहले अपने सत्य देव को पहचानना चाहिए; फिर यह देखना चाहिए कि ‘ मैं कौन हूँ ’ सर्वसंग-परित्याग करके वस्तुरूप (ब्रह्मस्वरूप) होकर रहना चाहिए ॥ ३२ ॥ बन्धन का संशय तोड़ना चाहिए; मोक्ष का निश्चय करना चाहिए और पंचभूतों का व्यतिरेक (विच्छेद) करके यह देखना चाहिए कि उनका अन्वय (मिश्रण)

कैसे होता है ॥ ३३ ॥ पूर्वपक्ष (विचार करने की पहलू) को सिद्धान्त (निश्चय की पहलू) से मिला कर प्रकृति का मूल देखना चाहिए—इसके बाद शान्ति के साथ परमात्मा का निश्चय प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥ संशय, देहाभिमान के योग से, सत्य समाधान का नाश कर देता है, इस लिए आत्म-बुद्धि का निश्चय स्थिर रखना चाहिए ॥ ३५ ॥ आत्मज्ञान के सिद्ध हो जाने पर भी, कदाचित्, देहाभिमान सन्देह की कल्पना उठा देता है; इस लिए, आत्म-निश्चय-पूर्वक, समाधान की रक्षा करना चाहिए ॥ ३६ ॥ देह-बुद्धि की याद आते ही विवेक का विस्मरण हो जाता है; अतएव, आत्म-बुद्धि को दृढता से धारण करना चाहिए ॥ ३७ ॥ निश्चय की आत्मबुद्धि होना ही मोक्षश्री की दशा है । अहमात्मा—मैं आत्मा हूँ—यह कभी भूलना ही न चाहिए ॥ ३८ ॥ इस प्रकार, यद्यपि यहाँ निश्चय का लक्षण बतला दिया है; पर सत्संग के बिना यह समझ में नहीं आता—संतों के शरण में जाने से सब संशय मिट जाते हैं ॥ ३९ ॥

अच्छा, अब, यह वार्ता बस कीजिए; और सिद्धों के लक्षण सुनिये । निःसन्देहता सिद्ध का मुख्य लक्षण है ॥ ४० ॥ सिद्ध-स्वरूप में देह तो है ही नहीं; (अर्थात् वह निराकार है) फिर वहाँ सन्देह कहा से आया? इस लिए जो निःसन्देह है वही सिद्ध है ॥ ४१ ॥ देहाभिमान के कारण अनेक लक्षणों का अस्तित्व होता है, परन्तु जो देहातीत है उसके लक्षण क्या बतलाये जायँ? ॥ ४२ ॥ जो चक्षु से लख नहीं पडता, उसके लक्षण कैसे बतलाये जायँ? सिद्ध, जो निर्मल वस्तु (केवल ब्रह्मस्वरूप) है, उसमें लक्षण कहाँ से आये? ॥ ४३ ॥ लक्षण मायने केवल गुण—और उधर वस्तु (ब्रह्म) ठहरी निर्गुण—वही वस्तुरूप (निर्गुण ब्रह्मस्वरूप) होना सिद्धों का लक्षण है ॥ ४४ ॥ तथापि, ज्ञानदशक में सिद्धों के लक्षण, पहचान के लिए, बतलाये गये हैं, इसी कारण प्रस्तुत समास में यहीं व्याख्यान खतम कर दिया है । न्यूनाधिक के लिए श्रोता-गण क्षमा करें! ॥ ४५ ॥

छठवाँ दशक ।



पहला समास-परमात्मा की पहचान ।

॥ श्रीराम ॥ •

चित्त सुचित्त करना चाहिए, जो बतलाया गया है उसे मन में रखना चाहिए और एक पलभर, सावधान होकर, बैठना चाहिए* ॥ १ ॥ यदि अपने को किसी गाँव या देश में रहना है तो पहले उस गाँव या देश के स्वामी से मिलना चाहिए । उससे भेट न करने से सुख कैसे मिलेगा ? ॥ २ ॥ इस लिए जिसको जहाँ रहना हो उसको वहाँ के मालिक से अवश्य मिलना चाहिए-इससे सब प्रकार भलाई होती है ॥ ३ ॥ स्वामी की भेट न करने से मान-अपमान हो जाना सहज है । ऐसी जगह अपना महत्व जाने में देर नहीं लगती ॥ ४ ॥ इस कारण, राव से लेकर रंक तक, जो कोई वहाँ का नायक हो, उससे अवश्य भेट करना चाहिए । विचारी पुरुष इस बात का रहस्य जानते हैं ॥ ५ ॥ उसकी भेट किये बिना नगर में रहने से राजदूत बेगार में पकड़ेंगे और चोरी न करने पर भी वहाँ चोरी लगेगी ! ॥ ६ ॥ अतएव, चतुर मनुष्य स्वामी से अवश्य भेट करते हैं । जो ऐसा नहीं करते उन्हें अपने गार्हस्थ्य जीवन में अनेक संकट उठाने पड़ते हैं ॥ ७ ॥ गाँव में गाँव का अधिपति बड़ा कहा जाता है; फिर उससे देशाधिपति बड़ा होता है और देशाधिपति से भी नृपति बड़ा गिना जाता है ॥ ८ ॥ जो राष्ट्रभर का स्वामी होता है उसे राजा कहते हैं और बहुत राष्ट्रों के स्वामी को महाराजा कहते हैं; तथा महाराजाओं का भी जो राजा है वह चक्रवर्ती राजा कहालाता है ॥ ९ ॥ एक नृपति होता है; एक गजपति होता है; एक अश्वपति कहालाता है और एक भूपति कहाता है; परन्तु इन सब में बड़ा राजा चक्रवर्ती है ॥ १० ॥ अस्तु; इन सब का रचनेवाला 'ब्रह्मा' है-परन्तु

* श्रीसमर्थ रामदासस्वामी श्रोता लोगों से कह रहे हैं कि पहले कष्टमय ससार, त्रिविध ताप, नवधा भक्ति, सद्गुरु, सच्छिष्य और शुद्ध ज्ञान आदि विषयों का जो वर्णन हो चुका है उसे मन में जमाये रखना चाहिए-ऐसा न हो कि इस कान से सुनो और उस कान से निकाल दो । वे श्रोताओं को इशारा देते हैं कि अब चित्त सुचित्त करके बैठो; क्योंकि आगे अष्टास्यारूपण शुरू होनेवाला है ! ॥ १ ॥

उस ब्रह्मा का भी रचायेता कौन है ? ॥ ११ ॥ ब्रह्मा, विष्णु और महेश का भी जो निर्माणकर्ता है वही बड़ा है—उस परमेश्वर को नाना यत्नों से पहचानना चाहिए ॥ १२ ॥ जब तक वह परमात्मा प्राप्त नहीं होता तब तक यमयातना नहीं जाते । उस ब्रह्मांडनायक को भेट न होना, अपने हक में अच्छा नहीं है ! ॥ १३ ॥ सब को जिसने पैदा किया है—जिसने तमाम ब्रह्मांड को रचा है—उसको जिसने नहीं पहचाना वही पतित है ! ॥ १४ ॥ इस लिए ईश्वर को पहचानना चाहिए—जन्मसार्थक करना चाहिए और यदि यह कुछ न जान पड़े तो सत्संग करना चाहिए—इससे सब कुछ मालूम हो जायगा ॥ १५ ॥ जो भगवान् को जानता है वही सत है—और वही शाश्वत और अशाश्वत (नित्यानित्य) का निश्चय करता है ॥ १६ ॥ जिसने परमात्मा का अचल और अटल होना अनुभव कर लिया है उसको महानुभाव, संत और साधु जानना चाहिए ॥ १७ ॥ जो रहता तो लोगों में है; पर बातें करता है मनुष्यों के बाहर को—अलौकिक—और अन्तर में जिसके ज्ञान जगता है, वही साधु है ! ॥ १८ ॥ परमात्मा को निर्गुण निराकार अनुभव करना ही मुख्य ज्ञान है—इससे भिन्न सब अज्ञान है ॥ १९ ॥ पेट भरने के लिए जो अनेक विद्याओं का अभ्यास किया जाता है उसे भी ज्ञान कहते हैं, पर उससे जन्म सार्थक नहीं होता ॥ २० ॥ जिससे परमात्मा पहचाना जाय वही एक ज्ञान है—और उसीसे जीवन सार्थक होता है—बाकी सब कुछ निरर्थक है, पेटविद्या है ! ॥ २१ ॥ जन्मभर पेट भरते हैं, देह को रक्षा करते हैं, पर अन्तकाल में वह सब व्यर्थ जाता है ॥ २२ ॥ एवं, पेट भरने की विद्या को सद्विद्या न कहना चाहिए । जिससे सर्वव्यापक वस्तु (ब्रह्म) तत्काल ही मिल जाय वही ज्ञान है ! ॥ २३ ॥

यही ज्ञान जिसके पास है उसीको साधु जानना चाहिए—उसके पास जाकर परम शान्ति का उपाय पूछना चाहिए ॥ २४ ॥ अज्ञान पुरुष के पास अज्ञान पुरुष के जाने से ज्ञान कैसे मिलेगा ? दरिद्र पुरुष के पास दरिद्रो यदि मांगने जाय तो उसे धन कहाँ से मिलेगा ? ॥ २५ ॥ यदि रोगी के पास रोगी जाय, तो वहाँ उसे आरोग्य कैसे मिलेगा, अथवा निर्बल के पास निर्बल को सहारा कैसे मिलेगा ? ॥ २६ ॥ पिशाच के पास पिशाच के जाने से क्या मतलब निकल सकता है ? और यदि उन्मत्त पुरुष उन्मत्त ही पुरुष की भेट करे तो उसे समझावेगा कौन ? ॥ २७ ॥ भिखारी से भीख, दीक्षाहीन से दीक्षा और कृष्णपक्ष में उजेला कैसे मिलेगा ? ॥ २८ ॥ अनियमित पुरुष के पास यदि अनियमित ही पुरुष जाय तो वह नियमित कैसे बन सकता है ? और यदि बद्ध पुरुष बद्ध ही की भेट करे तो वह सिद्ध कैसे बनेगा ? ॥ २९ ॥ देहाभिमानी यदि देहाभिमानी के पास जाय

तों वह विदेह कैसे हो सकता है ? इसी तरह ज्ञाता के बिना ज्ञानमार्ग नहीं मिल सकता ॥ ३० ॥ अतएव, ज्ञाता की खोज करके, उसकी कृपा सम्पादन करके, उससे सारासार विचार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए—तभी मोक्ष मिल सकता है ॥ ३१ ॥

दूसरा समास--परमात्मा की प्राप्ति ।

॥ श्रीराम ॥

अब उस उपदेश के लक्षण सुनिये जिससे सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है नाना प्रकार के मतों का देखना किसी काम नहीं आता ॥ १ ॥ जिस उपदेश में ब्रह्मज्ञान नहीं है उस में कोई विशेषता नहीं है—वह तो ऐसा ही है जैसे बिना दानों की भूखी ! ॥ २ ॥ छुछले में दाने और मट्टे में मक्खन नहीं निकलता । चावलों के धोवन में दूध का स्वाद नहीं मिलता ॥ ३ ॥ किसी फल के वृक्ष की छाल खाना, अथवा उसके बकले चूसना या गिरी छोड़ कर नरेचा खाना मूर्खता है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार जिस उपदेश में ब्रह्मज्ञान नहीं है वह व्यर्थ है—असार है । ' सार ' को छोड़ कर कौन चतुर पुरुष असार का सेवन करेगा ? ॥ ५ ॥

अस्तु । अब निर्गुण ब्रह्म का निरूपण करते हैं, इस लिए श्रोता लोगों को स्थिरचित्त हो जाना चाहिए ॥ ६ ॥ यह सारी सृष्टि पञ्चमहाभूतों से रची हुई है, यह सदा स्थिर नहीं रह सकती ॥ ७ ॥ इस पंचभौतिक सृष्टि के आदि और अन्त में निर्गुण ब्रह्म है । वहाँ सिर्फ शाश्वत है और वाकी जितना कुछ पञ्चभौतिक है, वह सब नाशवन्त है, ॥ ८ ॥ इन भूतों को परमात्मा कैसे कह सकते हैं ? किसी मनुष्य ही को यदि भूत कहा जाय तो वह चिढ़ता है ॥ ९ ॥ फिर वह तो जगत्पिता परमात्मा है, और उसकी महिमा ब्रह्मा आदि भी नहीं जानते—उसे भूत की उपमा कैसे दी जा सकती है ? ॥ १० ॥ यह कहने से कि, परमात्मा पञ्चभूतों की तरह है, मिथ्यापन का दोष लगता है । यह बात सन्त लोग जानते हैं ॥ ११ ॥ पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश—इन में भीतर-बाहर—सब जगह-जगदीश व्याप्त है; परन्तु इन पञ्चभूतों का नाश हो जाता है और वह अविनाशी है ॥ १२ ॥ जहाँ तक रूप और नाम है वहाँ तक सभी भ्रम है ! तथा, नाम और रूप से जो परे है, उस का मर्म अनुभव से जानना चाहिए ॥ १३ ॥ पञ्चभूत और त्रिगुण से मिल कर जो यह अष्टधा प्रकृति बनी है उसका नाम है ' दृश्य '

॥ १४ ॥ सो इस सब दृश्य (प्रकृति) को वेद और श्रुति नाशवन्त कहते हैं, और निर्गुण ब्रह्म शाश्वत है । यह बात ज्ञानी जानते हैं ! ॥ १५ ॥ ब्रह्म, शस्त्र से कट नहीं सकता, पावक से जल नहीं सकता, जल से गल नहीं सकता; वायु से उड नहीं सकता । वह गिरता-पडता नहीं है; और बनता विगडता नहीं है* ॥ १६-१७ ॥ वह किसी वर्ण का नहीं है, वह सब से परे है, और सर्वदा बना ही रहता है ॥ १८ ॥ देख नहीं पडता तो क्या हुआ; परन्तु वह सब जगह है । जहाँ-तहाँ सूक्ष्म रूप से भरा हुआ है ॥ १९ ॥ मनुष्य की दृष्टि को कुछ ऐसी आदत पड गई है कि जो कुछ उसे देख पडता है उसी को तो वह समझता है कि "है" और बाकी, जो गुह्य है, उस को गौप्य कह कर, वह उसकी उपेक्षा करता है ॥ २० ॥ परन्तु सच तो यह है कि जो कुछ प्रकट है उसे असार समझना चाहिए और जो गुप्त है उसे सार जानना चाहिए—यह विचार गुरु के ही मुख से अच्छी तरह समझ पडता है ॥ २१ ॥ जो समझ न पडे उसे विवेक-बल से समझना चाहिए, जो देख न पडे उसे विवेक-बल से देखना चाहिए और जो जान न पडे उसे विवेक-बल से ही जानना चाहिए ॥ २२ ॥ जो गुप्त है उसी को प्रकट करना चाहिए; जो असाध्य है उसी को साधना चाहिए और जो अवघड या कठिन है उसी का, अच्छी तरह, अभ्यास करना चाहिए ॥ २३ ॥ चारों वेद, चतुर्मुख ब्रह्मा और सहस्रमुख शेष जिस का वर्णन करते करते थक गये हैं उसी परब्रह्म को प्राप्त कर लेना चाहिए ॥ २४ ॥ सन्तों के मुख से अध्यात्म-निरूपण का श्रवण करने से वह प्राप्त होता है ॥ २५ ॥ वह पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश नहीं है, और न वह रंग-रूप या नाम से व्यक्त हो सकता है । सारांश, वह सब प्रकार अव्यक्त है ॥ २६ ॥ वही सत्य 'देव' है, और यों तो लोगों ने, अपने अज्ञान से, अनेक देवताओं की कल्पना कर ली है । जितने गाँव हैं उतने ही देवता हैं ! ॥ २७ ॥ यह तो परमात्मा का निश्चय हुआ, अर्थात् यह बात समझ में आ गई कि परमात्मा निर्गुण है । अब स्वयं 'अपने' को ढूँढना चाहिये ॥ २८ ॥ जो (आत्मा) यह समझता है कि "शरीर मेरा" है 'वह' वास्तव में शरीर से अलग ही है और 'जो' कहता है कि "मन मेरा" है 'वह' वास्तव में मन से भी भिन्न है ॥ २९ ॥ इधर देह का विचार करने से मालूम होता है कि यह सब पञ्चभूतों से ही बनी है । अच्छा, अब उन पाँचों तत्वों में अलग अलग कर देने से, बाकी जो सार रहता है, वह और कुछ नहीं—आत्मा ही है ॥ ३० ॥ अब, जिसको 'मैं मैं' कहते हैं उसका तो वहाँ कहीं पता ही नहीं है—खोज किस का किया

*मन छिन्दन्ति दास्र णि, नैन दहति पावक ।

न वेन प्रेदयन्नापो, न शोषयति मान्त -- गीता ॥

जाय ? पञ्चतत्व थे, सो जहाँ के तहाँ मिल गये ! ॥ ३१ ॥ इस तरह से विचार करने पर मालूम होता है, कि यह शरीर एक पञ्चतत्वों की गठढी है, यह नाश हो जाती है और दूसरा आत्मा है, वह अविनाश रहता है बस, इन दो के सिवाय तीसरा " मैं "—वहाँ कोई नहीं है ॥ ३२-३३ ॥ जब ' मैं ' का कुछ पता ही नहीं है, तब फिर जन्ममृत्यु किस की हो और कैसे हो ? यदि कहा जाय कि आत्मा जन्म लेता है तो यह कैसे हो सकता है: क्योंकि वह पाप-पुण्य, जन्म मृत्यु, आदि से अलग है ॥ ३४ ॥ जब ' उस ' निर्गुण में पाप-पुण्य, जन्म-मरण, यमयातना, आदि नहीं हैं तब ' हम ' में भी वे नहीं हैं: क्योंकि ' हम ' भी तो ' वही ' है ॥ ३५ ॥ सारांश, यह जीव देहाभिमान के कारण बद्ध है, विवेक से देहाभिमान छूट जाता है और यह मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥ बस इतने से जन्म सार्थक हो जाता है—निर्गुण आत्मा और ' हम '—दोनों—एक हो जाते हैं । परन्तु, इसके दृढीकरण के लिए, उक्त विवेक बार बार करते ही रहना चाहिए ॥ ३७ ॥ जैसे जग उठने पर स्वप्न नहीं रहता है वैसे ही विवेक से देखने पर ' दृश्य ' (पञ्च-भौतिक सृष्टि) अदृश्य हो जाता है—मिट जाता है—नाश हो जाता है—और स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) के अनुसन्धान (खोज) से प्राणिमात्र तर जाते हैं ॥ ३८ ॥ विवेक से ' अपने ' का निवेदन करके परमात्मरूप हो जाना चाहिए—उससे भिन्न न रहना चाहिए—यही आत्मनिवेदन है ॥ ३९ ॥ पहले अध्यात्म-निरूपण का श्रवण करना चाहिए, फिर, सद्गुरु के चरणों की सेवा करनी चाहिए; तब, इसके बाद, सद्गुरु के प्रसाद से, आत्मनिवेदन होता ही है ॥ ४० ॥ आत्मनिवेदन के बाद अन्तःकरण में यह बोध होता है कि ' वस्तु ' निर्मल, अलिप्त, सम्पूर्ण, या अखण्ड, और शाश्वत है, और वही ' वस्तु ' (जो आत्मा है) ' हम स्वयं ' है ॥ ४१ ॥ उपर्युक्त ब्रह्मज्ञान से यह जीव स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है और उसका संसार बन्धन कट जाता है, तथा वह आनन्द के साथ, देह को प्रारब्ध पर छोड़ देता है* ॥ ४२ ॥ इसे आत्मज्ञान कहते हैं—इसीसे परम शान्ति मिलती है और इसी ज्ञान से यह जीव परब्रह्म से अभिन्न होकर रहता है—सच्चा ' भक्त ' (मिला हुआ) हो जाता है ॥ ४३ ॥ उस समय उसकी यह स्थिति हो जाती है कि, अब जो कुछ होना हो, सो

* जब प्राणी ब्रह्मज्ञान होने से स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है—ब्रह्म में लीन हो जाता है—उस समय उसे इस पंचभौतिक सृष्टि, या दृश्य पदार्थ, अथवा प्रापंचिक कष्ट, आदि किसीका ज्ञान नहीं रह जाता—ये सब उसके लिए शून्य हो जाते हैं—वह अखंड ब्रह्म ही हो जाता है; ऐसी दशा में उसकी देह प्रारब्ध के भरोसे पर रह जाती है—अर्थात् इस देह का फिर कुछ भी हुआ करे—चाहे वह रहे; चाहे नाश हो. परन्तु ' वह ' सदा अविनाश रहेगा ।

हो और जो कुछ जाना हो, सो जाय; जन्ममृत्यु की मन में जो आशंका थी वह मिट गई—अब कुछ भी हुआ करे ! ॥ ४४ ॥ इस प्रकार वह जन्म-मरण से मुक्त होकर परमात्मा को प्राप्त करता है । यह सब सन्तसमागम की महिमा है ॥ ४५ ॥

तीसरा समास—माया की उत्पत्ति ।

॥ श्रीराम ॥

निर्गुण आत्मा निर्मल है, वह आकाश की तरह सर्वव्यापक है, और अचल तथा सर्वकाल प्रकाशित है ॥ १ ॥ वह अखण्ड है; बड़े से भी बड़ा है; और आकाश से भी अधिक विस्तृत तथा सूक्ष्म है ॥ २ ॥ वह देख नहीं पडता और उसका भास नहीं होता, वह उपजता नहीं और न नाश होता है; वह न आता है और न जाता है ॥ ३ ॥ वह चलता नहीं, टलता नहीं, टूटता नहीं, फूटता नहीं, वनता नहीं बिगडता नहीं ॥ ४ ॥ वह सदा सन्मुख ही रहता है; वह निष्कलंक और निखिल है और आकाश-पाताल-सब में-व्याप्त है ॥ ५ ॥ वह निर्गुण ब्रह्म अविनाश है और सगुण माया नाशवान् है—इस जगत् में सगुण और निर्गुण दोनों मिले हैं ॥ ६ ॥ योगीश्वर लोग इस कर्दम (मिश्रण) का विचार इस प्रकार करते हैं, जैसे क्षीर और नीर का विवेक राजहंस करते हैं ॥ ७ ॥ इस सम्पूर्ण चराचर पञ्चभूतात्मक सृष्टि में आत्मा व्यापक है—यह बात नित्य-अनित्य का विवेक करने से जान पडती है ॥ ८ ॥ ईश्वर की तरह, विवेक से, इस जगत् का रस, या सार, जो ईश्वर है, उसे ले लेना चाहिए और बाकी चीहुर (मायिक दृश्य पदार्थ) छोड देना चाहिए ॥ ९ ॥ रस की उपमा तो दी, पर वह नाशवान् और पतला है, परन्तु आत्मा शाश्वत (नित्य) और निश्चल है; इसके सिवा रस अपूर्ण है और आत्मा केवल तथा परिपूर्ण है ॥ १० ॥ आत्मा के समान यदि कुछ हो तो उसका दृष्टान्त दिया जाय । परन्तु उसके अभाव में, कोई न कोई दृष्टान्त देकर, किसी न किसी तरह से, समझना ही पडता है ॥ ११ ॥ अस्तु । ऐसी तो आत्मा की दशा ठहरी, तब वहां माया कैसे पैदा होगई ? इसका दृष्टान्त देना कठिन है, परन्तु समझना चाहिए कि, जैसे आकाश में वायु की भौंक आ जाती है ! ॥ १२ ॥ वायु से तेज, तेज से आप, और आप से पृथ्वी उत्पन्न हुई ॥ १३ ॥ इसके बाद पृथ्वी से न जाने कितने जीव उत्पन्न हुए; परन्तु ब्रह्म इन सब के आदि अन्त में व्यापक है ॥ १४ ॥ जो कुछ उत्पन्न हुआ है वह सब नश्वर है; परन्तु

आदि परब्रह्म यथातथ्य स्थिर है ॥ १५ ॥ घड़ा बनने के पहले आकाश होता है और घड़ा के भीतर भी आकाश होता है; परन्तु घड़ा फूट जाने पर जैसे आकाश नहीं फूटता-वह नाश नहीं होता-वैसे ही परब्रह्म केवल अचल और अटल है-द्वीच में सम्पूर्ण चराचर जोव होते जाते हैं ॥ १६-१७ ॥ जो कुछ उत्पन्न होता है वह पहले ही ब्रह्म संव्याप्त होता है-और उसके नाश होने पर भी वह अविनाशी ब्रह्म बना रहता है ॥ १८ ॥ ज्ञाता पुरुष उसी अविनाशी ब्रह्म का विवेक करते हैं-अर्थात् पञ्चमहातत्त्वों का पञ्चमहा-तत्त्वों में निरसन करके 'अपने' को प्राप्त करते हैं ॥ १९ ॥ यह देह पञ्च-तत्त्वों से बनी है । ज्ञाता पुरुष इन तत्त्वों का अच्छी तरह आविष्करण करते हैं ॥ २० ॥ तत्त्वों का आविष्करण हो जाने पर उनका देहाभिमान जाता रहता है और इस प्रकार, विवेक से, वे निर्गुण ब्रह्म में अनन्य हो जाते हैं ॥ २१ ॥ विवेक से, इस देह के पाँचो तत्व जब पाँचो तत्त्वों में मिल जाते हैं तब 'मैं' या 'हम' का कुछ पता नहीं रहता * ॥ २२ ॥ जब हम 'अपने' का खोज करते हैं तब मालूम होता है कि 'हमारी' या 'मेरी' या 'अपनी' बातें विलकुल मायिक हैं; क्योंकि तत्त्वों का निरसन करने से वास्तव में केवल निर्गुण ब्रह्म ही रहता है और कुछ नहीं ॥ २२ ॥ "अपन" को (देहबुद्धि को) छोड़ कर केवल निर्गुण ब्रह्म का अनुभव करना ही आत्म-निवेदन का मर्म है; क्योंकि 'मैं-तू' या 'मेरा तेरा' का भ्रम तो तत्त्वों के साथ ही निकल जाता है ॥ २४ ॥ यदि 'मैं' का खोज करते हैं तो वह तो मिलता नहीं और इधर निर्गुण ब्रह्म विलकुल अचल है । अतएव सच पूछिये तो 'हम' वही (निर्गुण ब्रह्म) हैं, परन्तु सद्गुरु के बिना यह बात समझ नहीं पड़ती ॥ २५ ॥ जब हम सम्पूर्ण सारासार का विचार करते हैं तब जो असार है सो निकल जाता है और निर्गुण ब्रह्म, जो सार है, वही रह जाता है ॥ २६ ॥ सारा सृष्टि में उपर्युक्त ब्रह्म ही व्याप्त है; परन्तु यह सब सृष्टि नश्वर है और ब्रह्म अविनाशी है ॥ २७ ॥ विवेक से जब हम इस सम्पूर्ण सृष्टि का संहार करते हैं-अर्थात् जब हम इस पञ्चभूतात्मक सृष्टि का पृथक्करण करते हैं-तब सार और असार अलग अलग निकल आते हैं और 'अपना' 'अपने' को मिल जाता है-अर्थात् आत्मलाभ होता है ॥ २८ ॥ स्वयं ही 'मैं'-पन की कल्पना कर ली गई है; पर वास्तव में वह कुछ नहीं है; क्योंकि तत्व-निरसन के बाद 'मैं'-पन चला जाता है और

* इस देह का विचार करने से जान पड़ता है कि यह पञ्चभूतात्मक है । इस पञ्चभौतिक शरीर के एक एक करके पाँचो तत्व उन्हीं तत्त्वों में बाँट देने से बाकी 'मेरा तेरा' कुछ नहीं बचता है । बचता केवल निर्गुण आत्मा; इसीको 'अपना' या 'मेरा' कह सकते हैं ।

केवल निर्गुण आत्मा रह जाता है ॥ २६ ॥ तत्वों का निरसन होने पर जो निर्गुण आत्मा बच रहता है वही "मैं" है-अर्थात् तत्व-निरसन के बाद मैंपन नहीं रह सकता है ॥ ३० ॥ जब तत्वों के साथ मैंपन चला जाता है, तब स्वाभाविक ही 'वह' स्वयं निर्गुण आत्मा हो जाता है; और इस प्रकार, "सोहं", अनुभव से, आत्मनिवेदन हो जाता है ॥ ३१ ॥ और जहाँ आत्मनिवेदन हो गया, कि बस देव और भक्त में एकता हो जाती है और विभक्तता (भिन्नता) छोड़ कर वह सच्चा 'भक्त' बन जाता है ॥ ३२ ॥ निर्गुण में जन्म-मरण, पाप-पुण्य, आदि कुछ नहीं हैं-ऐसे निर्गुण में अनन्य (एक) होने पर वह स्वयं मुक्त हो जाता है ॥ ३३ ॥ पञ्चभूतों के घर लेने पर प्राणी सशय में फँस जाता है और स्वयं 'अपने' को भूल कर कोहं (कौन हूँ मैं) कहने लगता है ॥ ३४ ॥ भूतों में फँस जाने पर कहता है 'कोहं;' और विवेक करने पर कहता है 'सोहं;' (वह (ब्रह्म) मैं हूँ), और अनन्य (एक) होने पर 'कोहं,' 'सोहं,' आदि सब छूट जाते हैं ॥ ३५ ॥ उपर्युक्त अनुभव होने के बाद, जो रहता है ~~वही सत्य-स्वरूप है।~~ ऐसा सन्त, सदेह रहते हुए ही, देहातीत है ॥ ३६ ॥ अस्तु । विषय गहन होने के कारण एक बार बतलाने से सन्देह नहीं जाता, इस लिए बार बार वही बतलाना पड़ता है-हम से, प्रसंग-विशेष पर, कहीं कहीं, ऐसा हुआ, श्रोता लोग क्षमा करें* ॥ ३७ ॥

चौथा समास-माया का विस्तार ।

॥ श्रीराम ॥

कृतयुग (सतयुग) सत्रह लाख अष्टाइस हजार वर्ष, त्रेतायुग बारह लाख छानवे हजार वर्ष, द्वापर आठ लाख चौंसठ हजार वर्ष, कलियुग चार लाख बत्तीस हजार वर्ष-चारों युग मिला कर तेतालिस लाख बीस हजार वर्ष हुए-यह एक चौकड़ी हुई । ऐसी हजार चौकड़ियों का ब्रह्मा का एक दिन होता है ॥ १-२ ॥ ऐसे जब हजार ब्रह्मा हो जाते हैं तब विष्णु की एक घड़ी होती है और जब हजार विष्णु हो जाते हैं तब महेश का एक पल होता है ॥ ३ ॥ और जब ऐसे हजार महेश हो जाते

* इसे पुनरुक्ति कहते हैं; कहीं कहीं इसे दोष मानते हैं । यहा पर श्री समर्थ रामदास स्वामी ने स्वयं उसका खुलासा कर दिया है-लोगों का सन्देह मिटाने के लिए उन्हें बार बार वही बात कहनी पड़ी है ।

हैं तब कहीं शक्ति (प्रकृति या माया) का आधा पल होता है-पैसी संख्या सब शास्त्रों में कहीं है ! ॥ ४ ॥

चतुर्युग सहस्राणि दिनमेकं पितामहम् ।

पितामहसहस्राणि विष्णोर्घटिकमेव च ॥ १ ॥

विष्णोरेकसहस्राणि पलमेकं महेश्वरम् ।

महेश्वरसहस्राणि शक्तिरर्धपलं भवेत् ॥ २ ॥

पैसी अनन्त शक्तियां होती हैं और अनन्त रचनाएं होती जाती हैं, तो भी परब्रह्म की स्थिति जैसी की तैसी अखण्ड रहती है ॥ ५ ॥ सच पूछिये तो परब्रह्म की 'स्थिति' ही कहां से आई-यह बोलने की रीति है ! उसके विषय में तो वेद श्रुति भी "नेति नेति" (न+इति, न+इति) कहते हैं ॥ ६ ॥ चार हजार, सात सौ, साठ वर्ष कलियुग के बीत चुके* ॥ ७ ॥ चार लाख, सत्ताइस हजार, दो सौ, चालीस वर्ष कलियुग के और हैं । अब विलकुल वर्णसंकर होनेवाला है ! ॥ ८ ॥ इस चराचर सृष्टि में एकसे एक बढ़ कर पडे हुए हैं । इस का पारावार नहीं है ॥ ९ ॥ कोई कहता है विष्णु बड़ा है; कोई कहता है रुद्र (महादेव) बड़ा है और कोई कहता है कि शक्ति सब में बड़ी है ॥ १० ॥ इस प्रकार, अपनी अपनी इच्छा के अनुसार, सभी कहते हैं; परन्तु यह सब कल्पान्त में नाश हो जायगा, क्योंकि श्रुति कहती है कि "यदृष्टं तन्नष्टम्"-अर्थात् जितना कुछ देख पड़ता है वह सब नश्वर है ॥ ११ ॥ सब लोक अपने अपने उपास्य देवता का अभिमान रखते हैं; परन्तु सत्य का निश्चय साधु ही कर सकते हैं ॥ १२ ॥ और, साधु यही निश्चय करते हैं कि, एक सर्वव्यापक आत्मा ही सत्य है और बाकी सभी चराचर सृष्टि मायिक है ॥ १३ ॥ भला आप ही अपने मन में विचारिये कि चित्र-लिखित सेना (मायिक-सृष्टि) में यह कैसे जाना जाय कि कौन बड़ा है और कौन छोटा है ! ॥ १४ ॥ मान लीजिए कि स्वप्न में हमने बहुत कुछ देखा, और छोटे बड़े की कल्पना भी कर ली; परन्तु जागने पर देखो क्या दशा हो जाती है ! ॥ १५ ॥ जब हम जग कर देखते हैं तब हमें छोटा बड़ा कोई नहीं देख पड़ता; किन्तु मालूम होता है कि वह सब स्वप्न था ॥ १६ ॥ कहां का छोटा और कहां का बड़ा-यह सब मायावी विचार है; सच पूछिये तो छोटे बड़े का निर्धारण ज्ञानी ही जानते हैं ॥ १७ ॥ जो जन्म लेकर आता है वह यही कहते कहते

* यह संख्या श्रीमत् दासबोध के रचनाकाल की है-इसकी रचना सम्बत् १७१६ के लगभग हुई ।

जाता है कि "मैं बड़ा हूँ, मैं बड़ा हूँ;" परन्तु इसका सच्चा विचार महात्मा ही करते हैं ॥ १८ ॥ यह बात वेद, शास्त्र, पुराण और साधुसन्त सभी कहते हैं कि जिन्हें आत्मज्ञान हो गया है वही श्रेष्ठ महाजन (सेठ नहीं; महात्मा) हैं ॥ १९ ॥ तात्पर्य, सब से बड़ा एक परमात्मा ही है और ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि उसके अन्तर्गत हैं ॥ २० ॥ वह निर्गुण और निराकार है—उस में उत्पत्ति और विस्तार कुछ नहीं है; और स्थान, मान का विचार तो इधर की बात है ॥ २१ ॥ नाम, रूप, स्थान, मान इत्यादि सभी अनुमान मात्र हैं । ब्रह्म प्रलय में इन सब का फैसला हो जायगा—ये सब नष्ट हो जायेंगे ॥ २२ ॥ परन्तु परब्रह्म का प्रलय में नाश नहीं हो सकता, वह नाम और रूप से अलग है—वह सदा-सर्वदा अटल है ॥ २३ ॥ जो ब्रह्मनिरूपण करते हैं, और जो ब्रह्म को पूर्ण रीति से जानते हैं, उन्हीं को ब्रह्मविद्, अर्थात् ब्राह्मण, कह सकते हैं ॥ २४ ॥

पाँचवाँ समास--माया और ब्रह्म ।

॥ श्रीराम ॥

अच्छा, अब माया और ब्रह्म का निरूपण सुनिये ॥ १ ॥ ब्रह्म निर्गुण कार है और माया सगुण साकार है । ब्रह्म का पारावार नहीं है और माया का है ॥ २ ॥ ब्रह्म निर्मल निश्चल है, और माया चञ्चल चपल है; ब्रह्म उपाधि-रहित और माया उपाधिरूप है ॥ ३ ॥ माया दिखती है, ब्रह्म दिखता नहीं, माया भासती है, ब्रह्म भासता नहीं; माया नाशवान् है और ब्रह्म कल्पान्त में भी नाश नहीं होता ॥ ४ ॥ माया वनती है, ब्रह्म वनता नहीं- माया विगडती है, ब्रह्म विगडता नहीं, और माया अज्ञान को रुचती है, ब्रह्म अज्ञान को नहीं रुचता ॥ ५ ॥ माया उपजती है, ब्रह्म उपजता नहीं, माया मरती है, ब्रह्म मरता नहीं और माया का धारणा शक्ति से आकलन हो सकता है और ब्रह्म का नहीं हो सकता ॥ ६ ॥ माया फूटती है, ब्रह्म फूटता नहीं माया टूटती है, ब्रह्म टूटता नहीं; और माया मलीन होती है, ब्रह्म मलीन नहीं होता—वह अविनाश है ॥ ७ ॥ माया विकारी है, ब्रह्म निर्विकारी है; माया सब कुछ करती है, ब्रह्म कुछ भी नहीं करता और माया नाना रूप धरती है; परन्तु ब्रह्म अरूप है ॥ ८ ॥ माया के पञ्चभूतात्मक अनेक रूप हैं; ब्रह्म शाश्वत एक ही है । माया और ब्रह्म का विवेक विवेकी पुरुष जानते हैं ॥ ९ ॥ माया छोटी है, ब्रह्म

बड़ा है; माया असार है, ब्रह्म सार है; माया का आदि-अन्त है, ब्रह्म का नहीं है ॥ १० ॥ सम्पूर्ण माया के विस्तार से ब्रह्मस्थिति छिपी हुई है; परन्तु साधु जन ब्रह्म को उससे निकाल लेते हैं ॥ ११ ॥ पानी के ऊपर का सेवार (शैवाल) हटा कर पानी ले लेना चाहिए; पानी छोड़ कर दूध का सेवन करना चाहिए—इसी प्रकार माया छोड़ कर ब्रह्म का अनुभव करना चाहिए ॥ १२ ॥ ब्रह्म आकाश की तरह स्वच्छ (Pure) है, माया पृथ्वी की तरह मलीन है; ब्रह्म सूक्ष्मरूप है और माया स्थूलरूप है ॥ १३ ॥ ब्रह्म अप्रत्यक्ष है, माया प्रत्यक्ष है; ब्रह्म सम है, माया विषमरूप है ॥ १४ ॥ माया लब्ध है, ब्रह्म अलक्ष्य (अलख) है; माया साध्य है; ब्रह्म असाध्य है; माया में ज्ञान-अज्ञान दो पक्ष हैं, ब्रह्म में कोई पक्ष ही नहीं है ॥ १५ ॥ माया पूर्वपक्ष (संशययुक्त) है, ब्रह्म सिद्धान्त (उत्तरपक्ष) है; माया अनित्य है, ब्रह्म नित्य है; माया इच्छायुक्त है, ब्रह्म निरिच्छ है ॥ १६ ॥ ब्रह्म अखण्ड घन है, माया पञ्चभौतिक पोच है; ब्रह्म निरन्तर परिपूर्ण है, माया जीर्ण ऊर्जर है ॥ १७ ॥ माया घटित होती है, ब्रह्म घटित नहीं होता; माया गिरती है, ब्रह्म गिरता नहीं; माया विगड़ती है, ब्रह्म विगड़ता नहीं—जैसा का तैसा बना रहता है ॥ १८ ॥ कुछ भी हो, ब्रह्म बना ही रहता है परन्तु माया निरसन करने पर नाश हो जाती है; ब्रह्म में संकल्प-विकल्प नहीं हैं, माया में हैं ॥ १९ ॥ माया कठिन है, ब्रह्म कोमल है; माया अल्प है, ब्रह्म विशाल है; माया का नाश होता है, ब्रह्म का नहीं होता ॥ २० ॥ 'वस्तु' ऐसी नहीं है जो बतलाई जा सके और माया जैसी बतलाई जाय वैसी है, 'वस्तु' (ब्रह्म) को काल नहीं पा सकता और माया को काल भ्रूष लेता है ॥ २१ ॥ ये जो नाना प्रकार के रूप-रंग देख पड़ते हैं वे सब माया के हैं। ये सब नश्वर हैं, परन्तु ब्रह्म शाश्वत है ॥ २२ ॥ अस्तु । यह जो सब चराचर सृष्टि होती जाती है वह सब माया है और परमेश्वर इसके भीतर-बाहर, सब जगह, व्याप्त है ॥ २३ ॥ सकल उपाधियों से रहित परमात्मा इस प्रकार सृष्टि से अलिप्त है जैसे आकाश जल में होने पर भी जल को छूता नहीं ॥ २४ ॥ यह माया-ब्रह्म का विवरण सन्तों के मुख से ही अच्छी तरह समझ पड़ता है। उनके शरण में जाने से जन्म-मरण छूट जाता है ॥ २५ ॥ सन्तों की महिमा का पारावार नहीं है। उनकी कृपा से सहज ही परमात्मा की प्राप्ति होती है ॥ २६ ॥

छटवाँ समास-सत्य देव का निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता वक्ता से विनती करता है कि "महाराज ! आप सर्वज्ञ गोस्वामी हैं; मेरी यह आशंका दूर करें कि, सृष्टि की उत्पत्ति के पहले, यदि ब्रह्म में सृष्टि का बीज ही नहीं होता, तो फिर यह सृष्टि जो देख पड़ती है वह सत्य है या मिथ्या ?" ॥ १-२ ॥ इस पर वक्ता जो उत्तर देता है उसे सावधान होकर सुनिये:- ॥ ३ ॥ गीता के "जीवभूतः सनातनः*" इस वचन से ता सृष्टि सत्य जान पड़ती है ॥ ४ ॥ और "यदृष्टं तनष्टं" (जो दृश्य है वह नश्वर है) इस श्रुतिवाक्य से सृष्टि मिथ्या जान पड़ती है-अब साँच झूठ का निबट्टेरा कौन करे ? ॥ ५ ॥ इसे यदि सत्य कहें तो नाश भी होती है; मिथ्या कहें तो दिखती भी है । अस्तु, अब, जैसी है वैसी बतलाते हैं ॥ ६ ॥ इस सृष्टि में बहुत से लोग, कोई अज्ञान; कोई सज्ञान, हैं-इसी लिए समाधान नहीं होता ॥ ७ ॥ अज्ञान लोगों का मत है कि सृष्टि सत्य है और उसी प्रकार देव, धर्म, तीर्थ और व्रत भी सत्य ही हैं ॥ ८ ॥ ज्ञानी कहता है कि "मूर्खस्य प्रतिमा पूजा"-मूर्तिपूजा मूर्खों के लिए है-और सृष्टि भी सत्य नहीं है, क्योंकि प्रलय में उसका नाश होगा ॥ ९ ॥ इस पर अज्ञान कहता है "तो फिर संन्यासज्ञान, गुरुभजन और तीर्थाटन क्यों करना चाहिए ? ॥ १० ॥ ज्ञानी इसका उत्तर देता है:-

तीर्थे तीर्थे निर्मल ब्रह्मवृन्दं । वृन्दे वृन्दे तत्त्वचिंतानुवादः ।

वादे वादे जायते तत्त्वबोधः । बोधे बोधे भासते चंद्रचूडः ॥१॥

"तीर्थाटन करने का कारण यह है, कि तीर्थों में सन्तसमागम के द्वारा, सारासार का विचार जान कर, ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं और गुरुभजन का कारण गुरुगीता में स्वयं महादेवजी ने कह दिया है ॥ ११ ॥ गुरुभजन का नियम यह है, कि पहले उसके सच्चे स्वरूप को पहचानना चाहिए और फिर विवेक से स्वयं उसीके रूप में लीन हो जाना चाहिए ॥ १२ ॥

ब्रह्मानन्द परमसुखदं केवल ज्ञानमूर्ति ।

द्वद्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यं ॥

एकं नित्य विमलमचल सर्वधीसान्निभूत ।

* गीता में परमात्मरूप श्रीकृष्ण ने कहा है कि "ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन"-सृष्टि में जीवरूप जो कुछ है वह मेरा ही अंश है और अविनाशी है ।

भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरु तं नमामि ॥ १ ॥

ऐसा सच्चा स्वरूप सद्गुरु का गुरुगीता में कहा है । इस स्वरूप के तर्ह सृष्टि का भास नहीं रह सकता ” ॥ १३ ॥ इस प्रकार ज्ञानी जब सद्गुरु का सत्य स्वरूप बतला कर सृष्टि को मिथ्या निश्चित करता है तब तो अज्ञानी और भी अधिक विवाद करने पर तैयार होता है और कहता है कि “ क्यों रे ! तू परमात्मा कृष्ण को अज्ञान सिद्ध करता है ! ॥ १४-१५ गीता का “ जीवभूतः सनातनः ” वचन मिथ्या कैसे हो सकता है ? ” ॥ १६ ॥ इस प्रकार आक्षेप करके जब अज्ञानी मन में खिन्न होने लगा तब ज्ञानी बोला:- ॥ १७ ॥ गीता में श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है उसका भेद तू नहीं जानता है, इसी कारण यह विवाद उठाता है ॥ १८ ॥ श्रीकृष्ण तो कहते हैं कि: —

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम् ॥

अर्थात् ‘पीपल मेरी विभूति है’ । परन्तु वृक्ष तो टूट सकता है—और इधर वही कहते हैं कि ॥ १६ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ १ ॥

‘मेरा स्वरूप न शस्त्रों के द्वारा कट सकता है, न अग्नि से जल सकता है और न जल से गल सकता है’ ॥ २० ॥ परन्तु पीपल (जिसे श्रीकृष्ण अपनी विभूति कहते हैं) शस्त्र से कट सकता है; अग्नि से जल सकता है और जल से भीग सकता है, तथा नाशवान् भी है ॥ २१ ॥ अब श्री कृष्ण ही के उपर्युक्त दोनों परस्पर-विरोधी वचनों का ऐक्य कैसे हों ? इसका मर्म सद्गुरु के मुख से ही मालूम हो सकता है ॥ २२ ॥ श्रीकृष्ण कहते हैं:- “ इन्द्रियाणां मनश्चामि ”—इन्द्रियों में मन ‘मैं’ हूँ—तो फिर चञ्चल मन की लहर क्यों रोकी जाय ? ॥ २३ ॥ अब प्रश्न यह है कि, तो फिर श्रीकृष्ण ने ऐसा क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि, जिस प्रकार कंकड़, आदि रख कर अबोध बालकों को “ ॐ नमः सिद्धम् ” * सिखलाया जाता है उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने अबोध साधकों को गीता-द्वारा साधन-मार्ग बतलाया है ॥ २४ ॥ यह सब वाक्य-भेद वह ‘गोविन्द’ जानता है ।

* रामदास स्वामी के इस उदाहरण से जान पड़ता है कि, शिक्षा की वर्तमान किंडरगार्टन प्रणाली, (बालोद्यान-शिक्षण-पद्धति) जिसे लोग अँगरेजों की निकाली हुई समझते हैं, हमारे देश में पहले प्रचलित थी । हमारे पूर्वज प्राचीन आर्य नैसर्गिक साधनों से शिक्षा देना अच्छी तरह जानते थे ।

उसके तर्क तेरा यह देहाभिमानी विवाद नहीं चल सकता ॥ २५ ॥ उक्त प्रकार के वाक्य-भेद, गीता ही में नहीं, किन्तु वेद, शास्त्र, श्रुति, स्मृति, आदि सभी ग्रन्थों में पाये जाते हैं; परन्तु उनका निर्णय सद्गुरु के धर्मों से ही हो सकता है ॥ २६ ॥ वेद-शास्त्रों का भगवा व्युत्पन्नता से कौन तोड़ सकता है? साधु के बिना वह कल्पान्त में भी नहीं निपट सकता ॥ २७ ॥ शास्त्रों में पूर्वपक्ष और सिद्धान्त का सिर्फ संकेत-मात्र कहा हुआ है—उसका पूरा पूरा विवरण साधुओं के ही मुख से हो सकता है ॥ २८ ॥ यों तो वेदशास्त्रों में, एक से एक बढ कर, अनेक वाद-विवाद के प्रश्न पड़े हुए हैं ॥ २९ ॥ परन्तु हमें, वादविवाद छोड कर, ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसीसे स्वानुभव होकर ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है ॥ ३० ॥ एक ही कल्पना के पेट में जब अनंत सृष्टियां होती जाती हैं तब उसकी बात सच कैसे मानी जाय? ॥ ३१ ॥ भक्त लोग कल्पना से कोई देवता मान लेते हैं और उसी में दृढ भक्ति रखते हैं, परन्तु यदि उस देवता की कुछ हानि हो जाती है तो भक्त भी उसके दुःख से दुःखित होते हैं ॥ ३२ ॥ कोई कोई पत्थर का देवता बनाते हैं, और एक दिन, उसके फूट जाने पर, दुखी होते हैं—रोते हैं, गिरते हैं, चिल्लाते हैं! ॥ ३३ ॥ कोई देवता घर में ही खो जाता है, किसीको चोर उठा ले जाते हैं और किसी देवता की मूर्ति को दुराचारों लोग, बलात्कार से, तोड डालते हैं ॥ ३४ ॥ किसी देवता को भ्रष्ट कर डालते हैं; किसीको पानी में डाल देते हैं और किसी देवता को कोई दुष्ट पैरों तले डाल देते हैं ॥ ३५ ॥ इस पर लोग कहते हैं कि “ क्या बतलावें, इस तीर्थ की महिमा तो बडी थी, परन्तु वह दुरात्मा सब सत्यनाश कर गया! अब न जाने इसका सत्व कहाँ चला गया* ॥ ३६ ॥ किसी देवता को सुनार लोग घडते हैं, किसीको ढालनेवाले ढालते हैं और किसी पाषाणदेवता को संग तराश लोक घडते हैं ॥ ३७ ॥ नर्मदा और गंडिका नदी के तीर भी लाखों देवता पडे रहते हैं। उन असंख्यों गोठों की गणना कौन कर सकता है? ॥ ३८ ॥ चक्रतीर्थ में असंख्यों चक्रांकित देवता पडे रहते हैं—कोई एक देवता मन में निश्चित ही नहीं होता! ॥ ३९ ॥ बाण, तान्दुल, और स्फटिक की मूर्तियां तथा अनेक तांबे, आदि के सिक्के, पूजे जाते हैं—कौन जान सकता है कि ये देवता सच्चे हैं या झूठे! ॥ ४० ॥ कोई रेशम का देवता बनाते हैं और जब वह टूट या सड जाता है तब फिर मिट्टी की मूर्ति बना कर पूजने लगते हैं ॥ ४१ ॥ कोई भक्त कहते हैं कि “ भाई! हमारा देवता तो बहुत

* इन उदाहरणों से, उस समय के धार्मिक अत्याचार का अच्छा पता चलता है। यह अत्याचार बहुधा यवनों के हाथ से होता था।

सच्चा था; हमें विपत्ति में बड़ी मदद देता था और सदा हमारे मनोरथ पूर्ण करता था; परन्तु, अब इसका सत्व चला गया—क्या किया जाय, जो बदा था वही हुआ ! होनहार को ईश्वर भी नहीं रोक सकता !! ” ॥ ४२-४३ ॥
 अरे मूर्ख ! धातु, पत्थर, मिट्टी, काठ और चित्र आदि भी कहीं देव हो सकते हैं ? क्यों भ्रान्ति में पड़ा हुआ है ? ॥ ४४ ॥ यह सिर्फ अपनी कल्पना है । कर्म के अनुसार फल मिलता है । वह सत्य देव कोई और ही है ॥ ४५ ॥ वेद, शास्त्र और पुराण कहते हैं कि यह सृष्टि सिर्फ माया का भ्रम है—और विलकुल मिथ्या है ॥ ४६ ॥ साधु-संत और महानुभावों का भी यही अनुभव है । सत्य देव इस पंचभूतात्मक सृष्टि से परे है । वह शाश्वत है और सृष्टि अशाश्वत है ॥ ४७ ॥ सृष्टि के पहले, सृष्टि के वर्तमान समय में, और सृष्टि के नाश होने पर, वास्तव में वह सत्य देव बराबर स्थिर रहता है—वह आदि-अन्त-रहित है ॥ ४८ ॥ यही सब का निश्चय है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है । माया और ब्रह्म का व्यतिरेक तथा अन्वय—उन दोनों का सम्बन्ध—सिर्फ कल्पना है ॥ ४९ ॥ केवल एक कल्पना के पेट में जो आठ सृष्टियां बतलाई जाती हैं वे ये हैं:— ॥ ५० ॥

पहली कल्पना की सृष्टि, दूसरी शाब्दिक सृष्टि और तीसरी प्रत्यक्ष सृष्टि, जिसे सब जानते हैं ॥ ५१ ॥ चौथी चित्रलेप-सृष्टि, पाँचवीं स्वप्न-सृष्टि, छठी गन्धर्व-सृष्टि और सातवीं ज्वर-सृष्टि है ॥ ५२ ॥ आठवीं सृष्टि दृष्टि-बन्धन है—ये आठ सृष्टियां हुई; और इनमें श्रेष्ठ कौन सी है, जो सत्य मानी जाय ? ॥ ५३ ॥ इसी लिये कहते हैं, कि सृष्टि नाशवान् है—यह बात सब सन्त-महन्त जानते हैं । तथापि, आत्मज्ञान की दृढता के लिए, साधन के तौर पर, सगुण परमात्मा का भजन अवश्य करना चाहिए ॥ ५४ ॥ सगुण के ही आधार से, और सन्त-समागम-द्वारा सारासार के विचार से, अवश्य निर्गुण मिलता है ॥ ५५ ॥ अच्छा, अब, रहने दो, इतना बहुत है । सन्त-समागम से सब समझ पड़ता है, अन्यथा मन सन्देह में पड़ा रहता है ॥ ५६ ॥ इतने पर शिष्य ने आक्षेप किया कि “सृष्टि का मिथ्या होना तो मालूम हो गया; परन्तु जब यह सब मिथ्या है तब फिर देख क्यों पड़ती है ? ॥ ५७ ॥ हे स्वामी ! दृश्य प्रत्यक्ष दिखता है, इस लिए सत्य ही जान पड़ता है—इसके लिए क्या करें, सो बतलाइये ” ॥ ५८ ॥ इसका उत्तर अगले समास में अच्छी तरह दिया गया है । सावधान होकर सुनिये ॥ ५९ ॥ सृष्टि को मिथ्या तो जानना ही चाहिए और सगुण की रक्षा भी करना चाहिए । यह अनुभव का रहस्य अनुभवों ही जानते हैं ॥ ६० ॥

सातवाँ समांस—सगुण-भजन ।

॥ श्रीराम ॥

“ ज्ञान से जब दृश्य मिथ्या प्रतीत हो चुका तब भजन क्यों करना चाहिए—उससे क्या प्राप्त होगा—सो मुझे बतलाइये ॥ १ ॥ जब ज्ञान से श्रेष्ठ कुछ है ही नहीं, तब फिर उपासना की क्या जरूरत है और उपासना से मनुष्य को क्या प्राप्त होता है? ॥ २ ॥ जब मुख्य सार निर्गुण है—वहाँ सगुण दिखता ही नहीं है—तब फिर बतलाइये भजन करने से क्या लाभ होगा? ॥ ३ ॥ जब यह सब एक बार नश्वर सावित हो चुका, तब फिर इसका भजन क्यों करना चाहिए और सत्य को छोड़ कर असत्य का भजन करेगा कौन? ॥ ४ ॥ जब असत्य वस्तु मालूम हो गयी, तब फिर नेम क्यों पीछे लगा है? सत्य छोड़ कर क्यों इस गडबड़ में पडना चाहिए? ॥ ५ ॥ निर्गुण से तो मोक्ष मिलता है और वह प्रत्यक्ष अनुभव में आता है, परन्तु हे स्वामी! बतलाइये, सगुण क्या देता है? ॥ ६ ॥ पहले तो आप बतलाते हैं कि सगुण नाशवान् है; फिर आप ही कहते हैं कि भजन करो, परन्तु अब भजन किस लिए करें? ॥ ७ ॥ महाराज के डर से कह नहीं सकते परन्तु यों तो यह कुछ समझ में नहीं आता! जब साध्य ही प्राप्त हो गया, तब साधन में क्यों लगे? ” ॥ ८ ॥ श्रोता को इस शंका पर वक्ता उत्तर देता है:— ॥ ९ ॥

गुरु के वचनों का प्रतिपालन करना परमार्थ का मुख्य लक्षण है और वचन-भंग करने से अवश्य ही हानि होती है ॥ १० ॥ अतएव गुरु की आज्ञा शिरोधार्य करके सगुण-भजन अवश्य मानना चाहिए। इस पर श्रोता बोल उठा कि “ यह सगुण-भजन ईश्वर ने हमारे पीछे क्यों लगा दिया है? ॥ ११ ॥ ईश्वर इसका क्या उपकार मानता है, इससे क्या साक्षात्कार होता है, अथवा क्या इससे ईश्वर प्रारब्ध का लिखा हुआ भेट डालता है? ॥ १२ ॥ जब होनहार पलट ही नहीं सकता, तब फिर मनुष्य भजन क्यों करे? यह तो कुछ समझ में नहीं आता! ॥ १३ ॥ महाराज की आज्ञा मान्य है—उसे कौन टाल सकता है; परन्तु इससे क्या लाभ है, सो मुझे बतलाइये ” ॥ १४ ॥ इस पर वक्ता कहता है:—अच्छा, तू ज्ञानी बनता है; पर सावधान होकर ज्ञान के लक्षण तो बतला, तुझे कुछ करना पड़ता है या नहीं? ॥ १५ ॥ तू भोजन करता है, जलपान करता है और मलमूत्र त्याग करता है—इनमें से कोई भी बात नहीं छूटती ॥ १६ ॥ लोगो को खुश तू रखता है, अपने और पराए को तू पहचानता है; ये सब बातें तो तू छोड़ नहीं सकता; तब फिर क्या भजन का छोड़ना ही

तू ज्ञान का लक्षण समझता है ? ॥ १७ ॥ ज्ञान और विवेक से सब कुछ मिथ्या तो समझ लिया; परन्तु छोड़ा कुछ नहीं-तो फिर बतला भाई, भजन हो ने तेरा कौन घोड़ा खोला है ? ॥ १८ ॥ साहब को पैरों तले तो तू खुशी से लोटता है, तथा जान बूझ कर नीच बनता है; परन्तु परमात्मा का नहीं मानता-यह कहाँ का ज्ञान है ? ॥ १९ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आदि जिसके आगे हाथ जोड़े खड़े रहते हैं उस यदि तरे समान एक क्षुद्र मनुष्य न भजेगा तो क्या होगा ? ॥ २० ॥ राम हमारा उपास्य है; राम ही से हमारा परमार्थ है और वही, समर्थों का भी समर्थ, देवताओं तक को मुक्त करनेवाला है ॥ २१ ॥ उसके हम सेवक जन हैं; उसीको सेवा से हमें ज्ञान मिला है-उसके प्रति यदि अभाव रखेंगे तो अवश्य पतन होगा ! ॥ २२ ॥ गुरु जो सारासार का विचार बतलाता है उसे मिथ्या कैसे कह सकते हैं ? परन्तु, तू यह विचार क्या जाने; चतुर पुरुष सब जानते हैं ! ॥ २३ ॥ जो समर्थ के मन से गिर गया, जान लो कि उसका मान्य खोटा है-उसका यही हाल है, कि जैसे अभागी पुरुष राज्यपद से व्युत्त हो जाय ! ॥ २४ ॥ जो अपने मन में जानता है कि मैं बड़ा हूँ, वह ब्रह्मज्ञानी नहीं है-विचारपूर्वक देखने से तो वह प्रत्यक्ष देहाभिमानी है ॥ २५ ॥ जो वास्तव में, न तो राम का भजन करता है, और न यही कहता है कि मैं न करूँगा-तो इससे समझना चाहिए कि उसके मन में सन्देह अभी छिपा हुआ है ! ॥ २६ ॥ न इसे ज्ञान कह सकते हैं और न भजन कह सकते हैं-यह केवल देहाभिमान है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। तेरा उदाहरण प्रत्यक्ष है ! ॥ २७ ॥ अस्तु। अब ऐसा न करना चाहिए; राम-भजन में लगना चाहिए-वही सच्चा ज्ञान है ॥ २८ ॥ राम दुर्जनों का संहार करता है, भक्तों को रक्षा करता है। यह प्रत्यक्ष है ॥ २९ ॥ अनुभव की बात है, कि राम-रूपा से मनोरथ पूर्ण होते हैं और सम्पूर्ण विघ्न दूर होते हैं ॥ ३० ॥ रघुनाथ के भजन से ही ज्ञान हुआ है; रघुनाथ के भजन से ही महत्त्व बढा है, इस लिए पहले तुम्हें यही करना चाहिए ! ॥ ३१ ॥ जो कि यह अनुभव की बात है, और तुम्हें विश्वास नहीं आता; अतएव, स्वयं करके देखना चाहिए ! ॥ ३२ ॥ रघुनाथजी का स्मरण करके जो काम किया जाता है, वह तत्काल ही सिद्धि को प्राप्त होता है; परन्तु अन्तःकरण में यह विश्वास होना चाहिए कि कर्ता राम ही है ॥ ३३ ॥ स्वयं अपने को कर्ता न मान कर राम को कर्ता मानना सगुण आत्मनिवेदन भक्ति का लक्षण है और निर्गुण आत्मनिवेदन में तो स्वयं भी निर्गुण हो कर ही अनन्य हो जाना पड़ता है* ॥ ३४ ॥

* सगुण क निवेदन में सर्वस्वता का पूर्ण भाव राम पर रहता है, और स्वयं कवल नाम मात्र के लिए रहता है, परन्तु निर्गुण के निवेदन में स्वयं भी बिलकुल राम ही हो जाता है।

अपने को कर्ता मानने से कर्तापि कोई बात नहीं बनती । इस बात का अनुभव प्राप्त करना कुछ कठिन नहीं है ॥ ३५ ॥ अगर तू कहेगा कि मैं कर्ता हूँ तो इससे तू कष्टों होगा और राम को कर्ता मानने से तुझे यश, कीर्ति और प्रताप मिलेगा ॥ ३६ ॥ सिर्फ भावना से ही चाहे परमात्मा से दूट कर लो, और चाहे उसकी कृपा सम्पादन कर लो-अर्थात् यदि अपने में कर्ता की भावना करोगे तो परमात्मा से दूट होगी और यदि परमात्मा में कर्ता की भावना करोगे तो वह प्रसन्न होगा ॥ ३७ ॥ हम सब दो दिनों के हैं और परमात्मा अनन्त काल के लिए है, हम सब थोड़ी पहचान के हैं और परमात्मा को तीनों लोक जानते हैं ॥ ३८ ॥ रघुनाथ भजन को बहुत लोग मानते हैं । ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक राम-भजन में तत्पर रहते हैं ॥ ३९ ॥ यदि हम भक्त लोग, ज्ञान बल से, उपसना को न मानें तो, इस दोष के कारण, अभक्त बन कर अधोगति को प्राप्त हों ! ॥ ४० ॥ और यदि, बड़ा होकर भी, परमात्मा हमारे उपेक्षा करे, तो फिर उसकी बात वही जाने, परन्तु श्रेष्ठ के लिए वे-जा बात अच्छी नहीं ॥ ४१ ॥ साधुओं को देह के साथ उपासना लगी रहती है; परन्तु भोतर से वे परमात्मा में मिले रहते हैं-अर्थात् देहाभिमान छोड़ कर वे जन्म भर ईश्वरोपासना करते रहते हैं ॥ ४२ ॥ साधु लोग, स्वप्न के दृश्यों को तरह, इस सृष्टि को मिथ्या मानते हैं । यह बात राम-भजन से मालूम होती है ॥ ४३-४४ ॥ श्रोताओं की यह आशंका, कि दृश्य (सृष्टि) यदि मिथ्या है तो देख क्यों पड़ता है, अगले समास में मिटाई गई है ॥ ४५ ॥

आठवाँ समास-दृश्य का मिथ्याभास ।

॥ श्रीराम ॥

अब यह निरूपण सुनिए, कि यह दृश्य (सृष्टि) का आभास मिथ्या कैसे है ॥ १ ॥ जो कुछ देख पड़े उसे सत्य ही मान लेना ज्ञाता का देखना नहीं है; जड़ मूढ़ और अज्ञान लोक चाहे भले ही इसे सत्य माना करें ॥ २ ॥ इस संशय में कभी न आ जाना चाहिए कि तुझे जो कुछ दिखा पड़ना है वही सच्चा है-इसमें दूसरे को कुछ नहीं चल सकती । सिर्फ, इन्द्रमन्त्रियों से शीघ्र पड़ता है-इसमें आधार पर करोड़ों ग्रन्थों और सन्त महन्तों को वाता को मिथ्या कैसे कह सकते हैं ? ॥ ३-४ ॥ मृग, मृगजल (मृगतृष्णा) को देख कर, त्रिमिष्ट की तरह उधर दौड़ता है; परन्तु उस पर से यह कौन बतलावे कि यह जल नहीं है-मिथ्या दृश्य है ॥ ५ ॥ रात

को स्वप्न देखा, कि बहुतसा द्रव्य मिल गया और उस द्रव्यद्वारा बहुत लोगों से व्यवहार भी कर लिया—इसे सब कैसे मानें ? ॥६॥ किसी विचित्र कला-कुराल चित्तरे के बनाये हुए, चित्र देखने से प्रीति पैदा होता है—परन्तु वहाँ है क्या: मिथ्या ॥ ७ ॥ अनेक प्रकार की रमणी, हाथी और घोड़ों को रात में देखने से तो मन मोहित हो जाता है; पर दिन को देखने से वही खाल बहुत बुरी लगती है ! ॥ ८ ॥ काठ और पत्थर की पुतलियाँ नाना प्रकार के कौशल के साथ बनाई जाती हैं और बहुत सुन्दर मालूम होते हैं. परन्तु वहाँ है क्या—वहाँ पत्थर ! ॥९॥ अनेक मन्दिरों पर जो पुतलियाँ बनी होती हैं वे शरीर तिरछा करके, तिरछी नजर से, देखती हैं—उनकी सुन्दरता देख कर तो घृत्ते तल्लान हो जाते हैं. पर उनमें वही त्रिभाग (चूना, बालू और सूत आदि मसाला) होता है ॥१०॥ दशावतारों के नाटक खेलने में सुन्दर सुन्दर स्त्रियाँ आती हैं और कलाकौशल के साथ आखें मटकाती हैं; परन्तु हं वे सभी नाचनेवाले मर्द ! ॥११॥ यह सृष्टि बहुरंगी और असत्य है—यह बहुरूपिया का तमाशा है; लुके यह दृश्य आवेश के कारण सत्य मालूम होता है ॥१२॥ मूठ का साँच के समान देख तो लिया, परन्तु उस विचारना चाहिए । दृष्टि को तरलता—चञ्चलता—के विकार से यदि कुछ और का आँर ही भास हो तो उसे सब कैसे मान सकते हैं ? ॥ १३ ॥ ऊपर देखने से आकाश पट मालूम होता है और वही पानी में देखने से चित मालूम होता है—बोव में नक्षत्र भी चमकते हैं; पर यह सब दृश्य मिथ्या ही तो है ? ॥ १४ ॥ कोई राजा किसी चित्रकार को बुलाता है और वह चित्रकार राजकुटुम्ब के लोगों के यथातथ्य चित्र बनाता है; वे चित्र देखने से तो मालूम होता है कि, मानो सब कुछ वही लोग हैं, जिनके चित्र बनाये गये हैं; पर वास्तव में है वह सब मायिक रचना ! ॥ १५ ॥ स्वयं नेत्रों में कोई चित्र नहीं होता; परन्तु जब हम कुछ देखते हैं तब उस दृश्य वस्तु का हमारे नेत्रों में प्रति-बिम्ब आ जाता है—अब यह प्रतिबिम्ब स्वयं वह वस्तु ही कैसे मानी जा सकती है ? ॥ १६ ॥ पानी में जितने बुलबुले उठते हैं उन सब में हमारे अनेक रूप देख पड़ते हैं, परन्तु क्षणभर ही में, उनके टूट जाने पर उन रूपों को झुठई प्रकट हो जाते हैं ॥ १७ ॥ हाथ में जितने छोटे छोटे दर्पण लिए जाते हैं उतने ही मुख देख पड़ते हैं; परन्तु क्या वास्तव में हमारे उतने ही मुख हैं ? मुख तो एक ही है—वह केवल मिथ्याभास है ॥ १८ ॥ नदी के तौर तौर बाष्पा ले जाने से दूसरा बाष्पा उलटा नदी में देख पड़ता है; अथवा अचानक प्रतिध्वनि को गर्ज होने लगती है ॥ १९ ॥ किसी बावड़ी या तालाब के तौर, पानी में, पशु, पक्षी, नर, वानर और नाना प्रकार के वृक्ष और लताओं आदि का विस्तार देख पड़ता है ॥ २० ॥ तलवार फेरते

समय, देखने में एक की दो तलवारें देख पड़ती हैं और तरह तरह के तन्तुओं को टंकारने से एक के दो-से मालूम होते हैं ॥ २१ ॥ अथवा दर्पणों के मन्दिरे में यदि सभा लगी हो तो एक दूसरी सभा, आभास में दर्पणों में देख पड़ती है और दीपक-पात्यों की भी शोशों में अनेक आभास देख पड़ते हैं ॥ २२ ॥ ऐसे ये बहुत प्रकार के कौतुक सच के समान हो देख पड़ते हैं, परन्तु इन सब को सच कैसे मान सकते हैं ? ॥ २३ ॥ इसी प्रकार यह माया भी झूठी वाजोगरी है । सचों की तरह देख पड़ती है, परन्तु ज्ञाता लोग इसे सच नहीं मानते ॥ २४ ॥ यदि भूठ में सच को सी भावना कर ली जाय तो फिर पाराखियों को क्या जरूरत है ? ये आघेद्या को करतूतें पैसे ही होते हैं ! ॥ २५ ॥ मनुष्यों को वाजोगरी भी बहुत लोगों को सचों सी जान पड़ती है, परन्तु अन्त में, खोज करने पर, उसको झूठाई मालूम हो जाती है ॥ २६ ॥ यही हाल राज्ञसों को माया का भी है—यह देवताओं को भी सचों जान पड़ती है । देखो न; पञ्चवटों में राम हरिन के पीछे दौड़े ! ॥ २७ ॥ राज्ञस लोग अपनी असली काया पलट लेंते हैं, एक ही के बहुत हो जाते हैं और रक्त के बूंद से भी पैदा हो जाते हैं ॥ २८ ॥ अभिमन्यु के व्याह के समय, घटोत्कच को माया से, अनेक राज्ञस नाना प्रकार के पदार्थ और फल आदि हो गये ! स्वयं कृष्ण ने ही गोकुल में कितने ही कपटरूपों दैत्यों का वध किया ॥ २९ ॥ राम से युद्ध करते समय शवण ने कैसा कपट रचा ! माया के अनेकों सिर रचता गया ! और कालनेमि, हनुमान् को मारने के लिए, किस प्रकार कपट-ऋषि बन कर आश्रम में बैठा था ! ॥ ३० ॥ नाना प्रकार के कपटमते दैत्य जब देवताओं से मारे न मरे तब शक्ति (देवी) प्रकट हुई और उसने उनका संहार किया ! ॥ ३१ ॥ यह सब राज्ञसों को माया है । उसे देवता भी नहीं जान सकते । उनको कपटाविद्या को लीला अघटित है ॥ ३२ ॥

मनुष्यों को वाजोगरी, राज्ञसों को बोडम्बरी और भगवान् की नाना प्रकार को विचित्र माया—ये तीनों सचों ही के समान जान पड़ते हैं; परन्तु विचार करने पर वे कुछ नहीं हैं—भीतर प्रवेश करके देखने से उनका मिथ्यापन प्रकट हो जाता है ॥ ३३-३४ ॥ अगर माया को सच कहते हैं तो यह नाश होता है और यदि भूठ कहते हैं तो देख पड़ती है—अर्थात् दोनों ओर से मन में आविश्वास ही रहता है ॥ ३५ ॥ परन्तु वास्तव में यह सच नहीं है—माया को बात मिथ्या है । यह सम्पूर्ण दृश्य स्वप्न की तरह है ॥ ३६ ॥ सुन भाई ! अगर तुझे भास ही सत्य जान पड़ता हो तो फिर यहां तू भूलता है ॥ ३७ ॥ यह दृश्यभास आविद्यात्मक है और तेरी देह भी आविद्यात्मक है, इसी लिए यह आविवेक घुसा हुआ है ! ॥ ३८ ॥

यह अविद्यात्मक लिंग-देह ही का कारण है कि, दृष्टि से दृश्य देखा जाता है और मन उसके भास पर जम जाता है ॥ ३६ ॥ अविद्या, अविद्या को देखती है, इसी लिए उक्त बात पर विश्वास हो जाता है; क्योंकि तेस शरीर भी तो अविद्या ही का बना हुआ है न? * ॥ ४० ॥ और उसी काया को तू स्वतः 'मैं' मानता है—यह देहबुद्धि का लक्षण है—इसीसे सम्पूर्ण दृश्य तेरे लिए सच्चा जान पड़ता है ॥ ४१ ॥ इधर तो देह को सत्य मान लेता है और उधर यह धारणा कर लेता है कि दृश्य सत्य है, इसी कारण प्रबल सन्देह आ जाता है ! ॥ ४२ ॥ देहबुद्धि को दृढ़ करके, धृष्टता के साथ, ब्रह्म देखने के लिए जाता है; परन्तु यहाँ दृश्य (माया) परब्रह्म को रास्ता ही रोक लेता है ॥ ४३ ॥ इस लिए दृश्य को ही सत्य समझ कर भ्रम में पड़ जाता है ॥ ४४ ॥ अस्तु । 'मैं'—पन से ब्रह्म नहीं मिलता । देहबुद्धि के कारण ही दृश्य का मिथ्याभास भी सत्य जान पड़ता है ॥ ४५ ॥ चर्म चक्षुओं से ब्रह्म का दर्शन करनेवाला, ज्ञाता नहीं कहा जा सकता । उसे अंधा या विलकुल मूर्ख ही कह सकते हैं ! ॥ ४६ ॥ जितना कुछ दृष्टि से देख पड़ता है और जो कुछ मन को भास होता है वह सब कालान्तर में नाश होता है । परन्तु वह अविनाशी परब्रह्म दृश्य से परे है ॥ ४७ ॥ सब शास्त्र परब्रह्म को शाश्वत और माया को अशाश्वत निश्चित करते हैं ॥ ४८ ॥ अब आगे देहबुद्धि का लक्षण बतला कर यह भी बतलाया जाता है कि भ्रम में पड़ा हुआ "मैं" कौन है ॥ ४९ ॥ 'मैं' को जान कर, 'मैं'—पन छोड़ते हुए, परमात्मा में अनन्य होने से सहज ही परम शान्ति मिलती है ॥ ५० ॥

नववाँ समास—गुप्त परमात्मा की खोज ।

॥ श्रीराम ॥

घर में गुप्त धन को नौकर लोग नहीं जानते—उन्हें सिर्फ बाहर बाहर का ज्ञान होता है ॥ १ ॥ बाहर के प्रकट दिखनेवाले पदार्थों को उपेक्षा करके, चतुर पुरुष भीतर का मुख्य धन ढूँढ लेते हैं ॥ २ ॥ इसी प्रकार

* दृश्य अविद्यात्मक है और इधर तेरा देह भी अविद्यात्मक ही है—ऐसा दशा में तेरे अविद्यात्मक शरीर को (और शरीर ही को तू 'मैं' मानता है, इस लिए तुझे) यह अविद्यात्मक दृश्य जगत् यदि सब जान पड़े तो कोई बड़ी बात नहीं है—मामूली है ।

विवेकी मनुष्य इस मायिक दृश्य (सृष्टि) को छोड़ कर परमात्मा को खोज लेते हैं और बाकी लोग इसी दृश्य माया में फँसे रहते हैं ॥ ३ ॥ द्रव्य अन्दर रख कर यदि ऊपर से पानी भर दिया जाय तो लोग कहते हैं कि यह तो सरोवर भरा है, पर उसके भीतर का हाल समर्थ जनों को ही मालूम होता है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार समर्थ ज्ञाता लोग परमार्थ को पहचान लेते हैं और बाकी लोग दृश्य पदार्थों को ही अपना स्वार्थ समझते हैं ! ॥ ५ ॥ कुली लोग बोझा ढाँते हैं, और श्रेष्ठ पुरुष सुन्दर रत्नों का भोग करते हैं । कर्मयोग से जिसको जो बदा है उसको वही अच्छा भी लगता है ॥ ६ ॥ कोई जंगल में लकड़ी काठ और कोई कंड़े एकत्र करके अपना निर्वाह करते हैं; परन्तु उत्तम पदार्थ भांगनेवाले नृपातियों का यह हाल नहीं होता ॥ ७ ॥ विद्वान् पुरुष सुखभोग करते हैं और अन्य लोग भार ढाँते ही ढाँते मर जाते हैं ॥ ८ ॥ कोई दिव्य भोजन करते हैं, कोई विष्टा ही बटोरा करते हैं—सभी अपने अपने कार्य का अभिमान रखते हैं ! ॥ ९ ॥ श्रेष्ठ पुरुष सार पदार्थों का सेवन करते हैं और आलसो मनुष्य असार वस्तुओं का ग्रहण करते हैं । सच तो यह है कि, सार-असार को बात सज्जान जानते हैं ॥ १० ॥ पारस और चिन्तामणि गुप्त हैं, कंकड़ और कांच प्रकट हैं, तथा सुवर्ण और रत्नों को खानियां गुप्त हैं; और पत्थर तथा मिट्टी प्रकट हैं ॥ ११ ॥ दक्षिणावर्ती शंख, दक्षिणावर्ती बेल और अमोल वनस्पतियां गुप्त हैं; परन्तु अडा धतूरा और सित्तियों बहुत सो हैं—और प्रकट हैं ॥ १२ ॥ कल्पतरु कहीं नहीं देख पड़ता, परन्तु दूसरे वृक्षों का बहुत विस्तार है । चन्दन के वृक्ष नहीं दिखते; परन्तु बेरी, बबूल, आदि के वृक्ष बहुत हैं ॥ १३ ॥ कामधेनु इन्द्र ही के पास है; परन्तु अन्य गार्ह-वृद्धि बहुत भरे हुए हैं । राज्यभोग राजा लोग ही भोगते हैं । अन्य लोग कर्मानुसार सुख-दुख भोगते हैं ॥ १४ ॥ अनेक प्रकार के व्यापार करनेवाले लोग भी अपने को धनवान् कहते हैं; परन्तु कुंवर को माहेमा कुछ दूसरा ही है ॥ १५ ॥ इसी प्रकार गुप्त अर्थ (परमात्मा) के प्राप्त करनेवाले एक योगेश्वर पुरुष ही हैं । अन्य लोग, जो पेट के दास हैं, नाना मतों को बदलते फिरते हैं ॥ १६ ॥ लोगों को सार 'वस्तु' नहीं दिख पड़ती, असार दिख पड़ती है । सारासार का विवेक साधु जानते हैं ॥ १७ ॥ सच-झूठ की बात अन्य लोग क्या जानें ? साधु-मन्तों को बात साधु-सन्त ही जानते हैं ॥ १८ ॥ जिस प्रकार गुप्त धन, एक विशेष प्रकार का अजन लगाने से देख पड़ता है, उसी प्रकार सन्त-समागम के अजन से गुप्त परमात्मा दृढ़ मिल जाता है ॥ १९ ॥ जिस प्रकार राजा के पास रहने से धन सचज ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार सन्तों के पास

रहने से परमात्मा मिलता है ॥ २० ॥ सज्जनों को परमात्मा मिलता है,
 दुष्टों को दुर्गति मिलता है और विचारवान् पुरुष को विचार प्राप्त होता
 है ॥ २१ ॥ सम्पूर्ण दृश्य अशाश्वत है और परमात्मा, जो अच्युत तथा
 अनन्त है, इस दृश्य से अलग है ॥ २२ ॥ वह सर्वात्मा दृश्य से अलग भी
 है और दृश्य के भीतर भी है-सब चराचर में है-और विवेक से वह अनु-
 भव में आता है ॥ २३ ॥ संसार-त्याग न करते हुए आर प्रपंच-उपाधि
 न छोड़ते हुए, वैधल विचार हा से, जीवन सार्थक हो सकता है ! ॥ २४ ॥
 यह अनुभवसिद्ध बात है । विवेकद्वारा इसका अनुभव करना चाहिए ।
 इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनुभवी पुरुष ही चतुर हो सकते हैं ॥ २५ ॥
 अनुभव और अनुमान, उधार और नकद, अथवा मानरूपूजा और प्रत्यक्ष
 दर्शन-इनमें बड़ा अन्तर है ॥ २६ ॥ अगले जन्म में, सत्कर्मों का फल, मिलने
 का बात, उधार का विषय है; परन्तु सारासार के विचार का फल
 (दुक्ति) तत्काल ही (इसी जन्म में) मिलता है ॥ २७ ॥ सार और
 असार का विवेक करने से तत्काल ही लाभ होता है-मनुष्य संसार से छूट
 जाता है-और जन्म-मरण का सारा संशय मिट जाता है ॥ २८ ॥ विवेक
 के द्वारा इस जन्म में-इसी काल में-संसार से अलग हो सकते हैं और,
 निश्चल स्वरूपाकार होकर, मोक्ष पासकते हैं ! ॥ २९ ॥ इस बात में जो
 सन्देह करेगा वह, चाहे फिर सिद्ध ही क्यों न हो, अवश्य अधांगति पावेगा !
 जो झूठ कहता हो, उसे उपासना की शपथ है ! ! ॥ ३० ॥ यह कथन
 पदार्थ ही है । विवेक से तुरन्त ही मुक्त हो सकते हैं । और, संसार में रह
 कर भी, उससे अलिप्त रह सकते हैं ॥ ३१ ॥ इस बात का विचार करने
 से पूर्ण शान्ति मिल सकती है, कि निर्गुण परमात्मा कैसा है और उसमें
 अनन्य कैसे हो सकते हैं ॥ ३२ ॥ देह में रह कर ही विदेह होना और
 करके भी कुछ न करना-ये जीवन्मुक्तों के लक्षण जीवन्मुक्त हो जाते हैं !
 ॥ ३३ ॥ यों तो यह बात सच्ची नहीं जान पड़ती, इसमें सन्देह होता है,
 परन्तु सद्गुरु के वचनों से वह सन्देह समूल मिट जाता है ॥ ३४ ॥

दसवाँ समास-अनुभव अकथनीय है ।

॥ श्रीराम ॥

अनुभव की बात पूछने पर लोग कहते हैं कि वह अकथनीय है । अतएव, आप इसका सब हाल बतलाइये ॥ १ ॥ जिस प्रकार मूक पुरुष गुड़ का मिठास नहीं बतला सकता, उसी प्रकार, कहते हैं कि, अनुभव भी नहीं बतलाया जा सकता । इसका क्या कारण है ? आप बतलाइये ॥ २-३ ॥ जिससे पूछिये वही कहता है कि यह बात अगम्य है; पर मुझे कुछ इस पर विश्वास नहीं होता । अब आप ऐसा कौजिये, कि “ जिससे यह विचार मेरे मन में आजाय ” ॥ ४ ॥ श्रोता के इस प्रश्न का उत्तर अब सावधान होकर सुनिये ॥ ५ ॥ अब परमशान्ति को बात, अथवा आत्मानुभव का स्वरूप, मैं स्पष्ट रीति से बतलाता हूँ ॥ ६ ॥ जिसका वाचा-द्वारा आकलन नहीं हो सकता, तथा जो बोलें बिना मालूम भी नहीं होता, और जिसकी कल्पना करने से कल्पनाशक्ति यक जाती है, वह वेदों का परम गुह्य परब्रह्म सन्त समागम से मालूम होता है ॥ ७-८ ॥ अस्तु, अब गम्भीर शान्ति का निरूपण करते हैं-अनुभव के बोल सुनिये-अनिर्वाच्य वस्तु का रहस्य बतलाते हैं ॥ ९ ॥ जो बात बतलाई नहीं जा सकती वह बतलाना ऐसा है, जैसे मिठास जानने के लिये गुड़ देना । यह काम गुरु के बिना नहीं हो सकता ॥ १० ॥ जो ‘अपने’ का अन्वेषण करता है-अर्थात् जो देहाभिमान का त्याग करता है उसे पहले सरस-रूपा प्राप्त होती है । इसके बाद ‘वस्तु’ आप ही आप अनुभव में आ जाती है ॥ ११ ॥ बुद्धि को दृढ़ करके प्रथम इसका पता लगाना चाहिये कि “ मैं कौन हूँ ”-इससे एकदम समाधि लगती है ! ॥ १२ ॥ ‘अपने’ का मूल खोजने से मालूम हो जाता है कि ‘अपने’ की बात मिथ्या है-यह अनुभव होने पर वास्तव में स्वयं ‘वस्तु’-रूप हो जाते हैं-यही परमशान्ति है ॥ १३ ॥ पूर्वपक्ष में आत्मा को सर्वसाक्षी कहा है; परन्तु सिद्ध पुरुष पूर्वपक्ष छोड़ कर सिद्धान्त ही ग्रहण करते हैं ॥ १४ ॥ और, सिद्धान्त पर जब हम ध्यान देते हैं तब मालूम होता है कि आत्मा सर्वसाक्षी नहीं है, किन्तु ‘अवस्था’ सर्वसाक्षी है, और आत्मा उससे भिन्न, अर्थात् अवस्थातीत है ॥ १५ ॥ जब पदार्थ-ज्ञान का लय हो जाता है और द्रष्टा, (परमात्मा को देखनेवाला) द्रष्टापन के रूप में, नहीं रहता (अर्थात् जब वह भी स्वयं ब्रह्म में लीन हो जाता है) तब ‘मैं’-पन का नशा उतरता है ! ॥ १६ ॥ और, मैंपन का लय हो जाना ही अनुभव का लक्षण है-इसी कारण इसे अनिर्वाच्य समाधान कहते हैं; क्योंकि जब

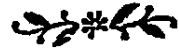
'मैं' कुछ रह ही नहीं गया तब समाधान का वर्णन करेगा कौन ? ॥१७॥
 चाहे जैसे विवेक के बोले हों, तौ भी, अनुभव की दृष्टि से, वे मायावी
 और व्यर्थ ही हैं । परन्तु वे शब्द, भीतर वाचर, गंभीर अर्थ से भरे
 हुए होते हैं ! ॥ १८ ॥ शब्दों से अर्थ मालूम होता है और; अर्थ के विचा-
 रने पर शब्द व्यर्थ हो जाते हैं । शब्द जो कुछ कहते हैं वह यथार्थ है, पर
 स्वयं वे (शब्द) मिथ्या हैं ॥ १९ ॥ शब्दों के योग से 'वस्तु' का भास
 होता है और 'वस्तु' के देखने पर शब्दों का नाश हो जाता है-अर्थात्
 शब्दों के खोल से घना अर्थ खींच लेने पर शब्द वे काम हो जाते हैं ॥ २० ॥
 अथवा शब्दों को भूसा, और अर्थ को अनाज समझिये । अनाज निकाल
 कर यद्यपि भूसा फेंक देते हैं, तथापि अनाज मिलता भूसे ही से है !
 ॥ २१ ॥ जिस प्रकार पोलकट में ठोस (दाना) होता है और ठोस में
 पोलकट नहीं होता उसी प्रकार परब्रह्म शब्दों में होता है, परन्तु परब्रह्म
 में शब्द नहीं होते ॥ २२ ॥ बोलने के बाद शब्द नहीं रहते; परन्तु अर्थ,
 शब्दों के निकलने के पहले से ही, विद्यमान रहता है; अतएव शब्द अर्थ
 को बराबरी नहीं कर सकते ॥ २३ ॥ जिस प्रकार भूसा छोड़ कर अनाज
 ले लेते हैं उसी प्रकार वाच्यांश (शब्द) छोड़ कर लक्ष्यांश, (अर्थ या
 ब्रह्म) शुद्ध स्वानुभव से, ग्रहण करना चाहिए ॥ २४ ॥ दृश्य से अलग
 अर्थात् ब्रह्म-के विषय में जो कुछ बोला जाय उसे वाच्यांश कहते हैं और
 उसके अर्थ को शुद्ध लक्ष्यांश कहते हैं ॥ २५ ॥ उक्त शुद्ध 'लक्ष्यांश' को भी
 पूर्वपक्ष ही समझना चाहिये, स्वानुभव तो अलक्ष्य 'अलख' है-वह लक्ष
 में नहीं आ सकता ॥ २६ ॥ जिसको आकाश की भी उपमा नहीं दी जा
 सकती, और जो अनुभव का सार है, उसको 'लक्ष्यांश' कहना भी
 कल्पना ही है ! ॥ २७ ॥ जो मिथ्या कल्पना से उत्पन्न हुआ है उसमें
 सत्यता कहां से आई? अतएव, उसमें अनुभव का क्या काम है?
 ॥ २८ ॥ परन्तु, अद्वैत (परब्रह्म) के तर्ह भी अनुभव का कोई काम नहीं
 है-अनुभव तो द्वैत ही में रह सकता है ॥ २९ ॥ अनुभव के कारण तो
 त्रिपुटी (अनुभविता, अनुभाव्य, और अनुभव) उपजती है-और अद्वैत
 में द्वैत ही लजित होता है-वहां त्रिपुटी का कैसे निर्वाह होगा-अतएव,
 यही कहना अच्छा लगता है, कि वह 'अनिर्वाच्य' है ॥ ३० ॥ दिन-रात को
 परिमित करनेवाला सूर्य है; परन्तु यदि सूर्य ही का नाश हो जाय तो
 उस अवस्था को क्या कहेंगे? ॥ ३१ ॥ इसी प्रकार शब्दोच्चार करने अथवा
 मौन रहने का मूल ओंकार है; परन्तु यदि वह ओंकार ही न रहे तो
 उच्चार कैसे किया जाय? ॥ ३२ ॥ अनुभव, अनुभविता और अनुभाव्य,
 इत्यादि सब माया ही से हैं और यदि माया ही न रहे तो उसे क्या

कहेंगे ? ॥ ३३ ॥ 'वस्तु' और 'हम' दोनों यदि अलग अलग होते तो अनुभव का विवेक अच्छी तरह बतलाया जा सकता ॥ ३४ ॥ भिन्नता की बात, बॉम्ब को लड़की के समान, मिथ्या है—आदि से ही भिन्नता का नाम नहीं है ॥ ३५ ॥ उदाहरणार्थः—कोई अजन्मा (स्वप्नावस्था में) सो रहा था। वह स्वप्न में क्या स्वप्न देखता है कि मानो वह संसार-दुख के कारण सद्गुरु के शरण में जाता है ॥ ३६ ॥ सद्गुरु को उस पर कृपा होती है, उसका संसार-दुःख नाश होता है और उसे सद्गुरु की कृपा से ज्ञान होता है ॥ ३७ ॥ अतएव, वह जो कुछ था वह 'नहीं' के समान हो जाता है और जो नहीं है वह 'नहीं' है ही; तथा 'है' और 'नहीं' दोनों के न रहने पर—वह शून्यावस्था को प्राप्त होता है ! ॥ ३८ ॥ इसके बाद शुद्धज्ञान से, जो शून्यस्थिति से परे है, उसको परम शान्ति होती है और ऐक्यरूप से अभिन्नता, या सहज-स्थिति प्राप्त होती है ॥ ३९ ॥ अद्वैत-निरूपण होने से उसकी द्वैत की वार्ता मिट जाती है और वह ज्ञानचर्चा करने लगता है। इतने ही में वह अजन्मा स्वप्न ही में जागृत हो जाता है ॥ ४० ॥ अब श्रोता लोग सावधान होकर अर्थ की तरफ ध्यान दें, क्योंकि इसका रहस्य मालूम होने पर समाधान होगा ॥ ४१ ॥ उस अजन्मा ने जितना ज्ञान कहा, उतना सब स्वप्न के साथ चला गया और अनिर्वाच्य सुख जो शब्द से परे है, अलग ही रहा ! ॥ ४२ ॥ उस शब्दातीत सुख के तर्ह, शब्द के बिना ही, एकता है—वहाँ अनुभव और अनुभविता कोई नहीं है। परन्तु वह अजन्मा वहाँ तक न पहुँच कर जागृत हो उठा ! ॥ ४३ ॥ तात्पर्य, उसने स्वप्न में स्वप्न देखा और स्वप्न ही में एकवार जागृत होकर फिर उसकी आंख खुल गई अर्थात् वह असली अवस्था तक नहीं पहुँच सका ! ॥ ४४ ॥ अच्छा, अब इसी निरूपण को और भी स्पष्ट करके बतलाते हैं, जिससे समझ में आ जाय ॥ ४५ ॥

इस पर शिष्य कहता है कि, "महाराज ! हां, इसे अवश्य फिर से समझाइये, ताकि असली बात समझ में आ जाय ॥ ४६-४७ ॥ यह बतलाइये कि, वह अजन्मा कौन है, उसने कैसा स्वप्न देखा और स्वप्न में उसने कौन सी बातें की ?" ॥ ४८ ॥ महाराज उत्तर देते हैं किः—हे शिष्य ! अजन्मा तू ही है; तू स्वप्न में जो स्वप्न देखता है, वह भी अब बतलाता हूँ ॥ ४९-५० ॥ यह संसार ही स्वप्न में स्वप्न है—यहाँ तू सार-असार का विचार करता है ॥ ५१ ॥ सद्गुरु के शरण में जाकर, और शुद्ध निरूपण सुन कर, अब तू प्रत्यक्ष उसकी चर्चा करता है ॥ ५२ ॥ और उसी चर्चा का अनुभव मिलने पर सारा बोलना बन्द हो जाता है। यह शान्तियुक्त विश्राम ही जागृति है ॥ ५३ ॥ ज्ञानचर्चा का गड़बड़ दूर हो जाने से अर्थ प्रकट

होता है और उसका विचार करने से तुम्हें अनुभव प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥
 इस पर तू समझता है कि, यही जागृति है और मुझे (शिष्य को) अनु-
 भव प्राप्त हुआ है, (परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है) इसका तो अर्थ यह
 है कि अभी तेरी भ्रान्ति मिटो ही नहीं! ॥ ५५ ॥ अरे भाई! अनुभव में
 अनुभव डूब जाना और अनुभव विना अनुभव आना भी, वास्तव में, स्वप्न
 से जगना नहीं है ॥ ५६ ॥ क्योंकि जगने पर भी तू कहता है कि "अजन्मा
 में ही हूँ" इससे जान पड़ता है कि तेरे स्वरूपी संसार की लहर अभी
 नहीं गई है ॥ ५७ ॥ जैसे स्वप्न में जागृतावस्था मालूम होती है, वैसे ही
 तुम्हें मालूम होता है कि मुझे अनुभव प्राप्त हो गया है; परन्तु सच-मुच वह
 स्वप्न ही है-और भ्रमरूप है! ॥ ५८ ॥ जागृति तो इसके बहुत आगे है-
 वह बतलाई ही कैसे जा सकती है? वहाँ तो विवेक की धारणा ही टूट
 जाती है! ॥ ५९ ॥ अस्तु। वह ऐसा समाधान है कि जो बतलाया ही
 नहीं जा सकता-अकथनीय है-यही निःशब्द की पहचान है ॥ ६० ॥ यह
 सुन कर शिष्य उस अकथनीय अनुभव को समझ गया! ॥ ६१ ॥

सातवाँ दशक ।



पहला समास-माया की खोज ।

॥ श्रीराम ॥

विद्यावन्तों के पूर्वज, गजानन, एकदन्त, चतुर्भुज, त्रिनयन (?) और परशुपाणि श्रीगणेश जी को नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥ जिस प्रकार कुबेर से धन, वेद से परमार्थ और लक्ष्मी से सौभाग्य प्राप्त होता है, उसी प्रकार आदिदेव मंगलमूर्ति श्री गणेशजी से सकल विद्यापं प्राप्त होती हैं । उन्हीं विद्याओं के द्वारा लोग कवि, पण्डित, सन्त, साधु, इत्यादि बनते हैं ॥ २-३ ॥ जिस प्रकार धनवान् पुरुष के बच्चे, नाना प्रकार के अलंकारों से, सुन्दर जान पड़ते हैं, उसी प्रकार मूलपुरुष (गणेश) ही के द्वारा कवि लोग ध्युत्पन्न बनते हैं ॥ ४ ॥ जिन विद्याप्रकाश, पूर्ण चन्द्र गणेशजी के द्वारा बोधसमुद्र उमड़ने लगता है, उनको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥ वे कर्तृत्व का आरम्भरूप हैं, वे मूलपुरुष और मूलारम्भ हैं, वे परात्पर हैं और आदि अन्त में स्वयम्भु हैं ॥ ६ ॥ जिस प्रकार सूर्य से मृगजल चमकता है उसी प्रकार श्रीगणेशजी से इच्छा-कुमारी सरस्वती प्रकट होती है ॥ ७ ॥ उस मायारूपी शारदा को मिथ्या कहते हैं उन्हें भी वह धोका देती है-वह अपने मायावीपन से मोह लेती है और उन्हें परमात्मा से भिन्न प्रकट करती है-(अर्थात् वक्ता, ब्रह्म का निरूपण करने के कारण, ब्रह्म से भिन्न होता है) ॥ ८ ॥ वह द्वैत की जननी है, अथवा यों कहिये कि वह अद्वैत की खानि है और मूलमाया के रूप में अनन्त ब्रह्माण्डों को घेरे हुए है ॥ ९ ॥ अथवा वह औदुम्बर (गूलर) का वृक्ष है, जिसमें अनन्त ब्रह्माण्ड, गूलर-फल की तरह, लगे हुए हैं ! अथवा पुत्रीरूप से वह मूलपुरुष की माता है ! ॥ १० ॥ वह वेदमाता और आदिपुरुष की सत्ता है । उसकी मैं श्रद्धा करता हूँ ॥ ११ ॥

अब उस समर्प सङ्घ का स्मरण करता हूँ, कि जिसकी कृपादृष्टि से ऐस आनन्द की वृष्टि होती है, जिससे सम्पूर्ण सृष्टि आनन्दमय हो जाती है ॥ १२ ॥ वह आनन्द का जनक है, सायुज्य मुक्ति का नायक है; कैवल्य पद-दायक है और अनाथों का बन्धु है ॥ १३ ॥ जिस प्रकार चातक मेघ की ओर दृष्टि लगाये, बून्दों के लिए रटा करता है उसी प्रकार

मोक्ष की इच्छा रखनेवाला साधक, जब सद्गुरु में भक्ति रख कर कर्षण को प्रार्थना करता है, तब वह कृपाघन सद्गुरु साधकों पर प्रसन्न होता है ॥१४॥ वह (सद्गुरु) भवार्णव (संसार समुद्र) की नौका है; वह भाविकों को, बड़े भारी भवों में, आधार है; वह उन्हें अपने बोध द्वारा संसार से मुक्त करता है ॥१५॥ वह काल का नियन्ता है, संकट से छुड़ाने-वाला है; और भाविकों को परम स्नेहालु माता है ॥ १६ ॥ वह परलोक का आधार है, वह विश्रान्ति का स्थल है और सुख का सुखस्वरूप आश्रयस्थान है । ॥ १७ ॥ ऐसा जो पूर्ण सद्गुरु है, जिसके द्वारा भेद का बन्धन टूट जाता है उस प्रभु को, विदेह होकर, मैं साष्टांग प्रणाम करता हूँ ! ॥ अस्तु । अब साधु सन्त, सज्जन और श्रोता जनों को नमस्कार करके कथा का प्रारम्भ करता हूँ । सावधान होकर सुनिये:-॥ १६ ॥

संसार ही एक बड़ा स्वप्न है । यहाँ, मोह के कारण, लोग यह धरिया करते हैं कि, यह मेरा कांता है, यह मेरा धन है और ये मेरे कन्या-पुत्र हैं ॥ २० ॥ ज्ञानसूर्य के अस्त हो जाने से प्रकाश लुप्त हो गया है और सारा घन्टांड अन्धकार से भर गया है ! ॥२१॥ सत्त्व को चांदनी नहीं रही है कि, जिससे कुछ मार्ग देख पड़े-भ्रांति के कारण सब लोग आप ही अपने को नहीं पहचानते ! ॥ २२ ॥ देहबुद्धि के अहंकार से लोग घोर निद्रा में सोये हुए खुर्राटे ले रहे हैं, और विषयसुख के लिए, दुःख से तड़फड़ाते हुए, रो रहे हैं ! ॥ २३ ॥ न जाने कितने, इसी प्रकार सोते ही सोते, मर चुके हैं और अनेकों पैदा होते ही सोते गये हैं-इसी तरह असंख्यों लोग इस संसार में आये और गये ! ॥ २४ ॥ इस प्रकार, सुप्तावस्था में रह कर ही भटकते भटकते, अनेकों लोग, परमात्मा को न जानने के कारण, आवागमन का कष्ट भोग रहे हैं ॥ २५ ॥ उस कष्ट को दूर करने के लिए आत्म-ज्ञान की आवश्यकता है-इसी लिए यह अध्यात्म-ग्रन्थ "दासबोध" प्रकट हुआ है ! ॥२६॥

सब विद्याओं में अध्यात्म-विद्या श्रेष्ठ है । इस विषय में, भगवद्गीता के दसवें अध्याय में, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं:-॥ २७ ॥

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥

अतएव, अध्यात्म-विद्या को वही समझ सकता है, जो अपनी सब इन्द्रियाँ, मन-सहित, उसमें लगा देता है ॥ २८ ॥ जिस पुरुष का मन चञ्चल है, वह अध्यात्म-विद्या से कोई लाभ नहीं उठा सकता ॥ २९ ॥ परमार्थी पुरुष को ही अध्यात्म-विद्या का विचार करना चाहिए, इससे उसका परमार्थ और भी दृढ़ हो जाता है ॥ ३० ॥ परमार्थ में जिसका प्रवेश नहीं है वह अध्यात्मग्रन्थ नहीं समझ सकता । बिना नेत्रों के भला कोई कुछ देख

भी सकता है? ॥ ३१ ॥ बहुत लोग कहते हैं कि, “ प्राकृत भाषा कुछ ठीक नहीं है—यह तो मले आदमों को सुनना ही न चाहिए! ” परन्तु वे मूर्ख अर्थान्वय को सरलता नहीं जानते! ॥ ३२ ॥ जैसे लोहे को सन्दूक में नाना प्रकार के रत्न भरे हुए हों और कोई अज्ञान उसे लोहा जान कर त्याग दे, उसी प्रकार प्राकृत भाषा में प्रकट किए हुए वेदान्ततत्त्व, भ्रान्त पुरुष, अपनी मन्दबुद्धि के कारण, त्याग देते हैं! * ॥ ३४ ॥ अनायास धन मिल जाने पर, उसे त्याग देना मूर्खता नहीं तो क्या है? द्रव्य ले लेना चाहिए और द्रव्य-पात्र (सन्दूक, आदि) की तरफ देखना भी चाहिए ॥ ३५ ॥ अंगन में पड़ा हुआ पारस, मार्ग में पड़ा हुआ चिन्तामणि और कुप में लगी हुई दादियावर्ती बेल सभी ले लेते हैं ॥ ३६ ॥ उसी प्रकार यदि प्राकृत भाषा में, सुगम रीति से और अनुभवयुक्त, अद्वैत-निरूपण किया गया है और उससे अनायास अपने को अध्यात्म-ज्ञान का लाभ होता है तो उसे अवश्य ले लेना चाहिए ॥ ३७ ॥ सन्त समागम करने से, विद्याभ्यास का धर्म न करने पर भी सब शास्त्र-ज्ञान सुलभ हो जाता है ॥ ३८ ॥ जो विद्याभ्यास से नहीं मालूम होता, वह सन्तसमागम-द्वारा मालूम हो जाता है और सब शास्त्रों का ज्ञान अनुभव में आ जाता है ॥ ३९ ॥ अतएव, ज्ञान प्राप्त करने का सन्त-समागम ही मुख्य उपाय है। व्युत्पन्नता का परिश्रम करना व्यर्थ है। जीवन सार्थक करने का रहस्य दूसरा ही है! ॥ ४० ॥

भाषाभेदाश्च वर्तन्ते ह्यर्थ एको न सशयः ॥

पात्रद्वये यथा खाद्यं स्वादभेदो न विद्यते ॥ १ ॥

भाषा भेद से कुछ अर्थ में झुट्टे नहीं आ सकती; और मुख्य मतलब अर्थ ही से है* ॥ ४१ ॥ वास्तव में प्राकृत भाषा से ही संस्कृत को महत्त्व है; अन्यथा संस्कृत के गुप्त अर्थ को, सर्व-साधारण लोग, किस प्रकार

श्रीधर्म रामदास स्वामी और श्रीगोस्वामी तुलसीदास, इत्यादि सन्त महात्माओं ने मराठी और हिन्दी आदि प्राकृत भाषाओं पर अनन्त उरकार किया है। इन्होंने, अपने अपने समय में, प्राकृत भाषाओं के द्वेषी, अदूरदर्शी संस्कृतज्ञ पण्डितों को, अपने अलौकिक सामर्थ्य से, चकित किया और उनके मन में, प्राकृत भाषाओं की भक्ति उत्पन्न की। महारामा तुलसीदासजी से जब एक संस्कृत के हिमायती ने पूछा, कि आप अपने ग्रन्थ संस्कृत में क्यों नहीं लिखते, तब उन्होंने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया —

का ' भाखा ' का संस्कृत, प्रेम चाहिये सांच ।

काल जो आवे कामरी, का लै करे कमान ।

* भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी एक जगह कहा है:—बात अनूठी चाहिए, भाषा कौक होय

समझ सकते ? ॥ ४२ ॥ अब ये बातें रहने दो । भाषा छोड़ कर अर्थ ग्रहण करना चाहिए—सार लेकर छाल और बकलें का त्याग करना चाहिए ! ॥४३॥ अर्थ सार है और भाषा पोलकट है । लोग भाषा को खटपट अभिमान से करते हैं । नाना प्रकार के अभिमान ने ही मोक्ष का मार्ग रोक रखा है ॥ ४४ ॥ लक्ष्य-अंश को ढूँढ़ते समय वाच्य-अंश की बात ही क्यों करना चाहिए? भगवान् को अगाध महिमा जानना चाहिए ॥ ४५ ॥ जिस प्रकार सूकावस्था के बोल सूक ही जानता है, उसी प्रकार स्वानुभव की बात स्वानुभवो ही जान सकता है ४६ ॥ अध्यात्म-विद्या को समझनेवाले श्रोता विरले ही मिलते हैं । उनको उपदेश करने से, धारणी को आनन्द होता है ॥ ४७ ॥ रत्नपारखी को रत्न दिखलाने से जिस प्रकार आनन्द होता है, उसी प्रकार ज्ञानी से ज्ञान की वार्ता करने में बहुत आनन्द आता है ॥४८॥ जो पुरुष मायाजाल से दुश्चित्त रहता है, उसे अध्यात्म-निरूपण से कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि उसे उसका अर्थ ही नहीं समझ पड़ता ॥ ४९ ॥ श्रीकृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं:—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।

बहुशाखा हानताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ १ ॥

व्यवसाय के कारण जिसकी बुद्धि मलीन हो गयी है उसे अध्यात्मनिरूपण नहीं समझ पड़ता; क्योंकि उसमें तो बड़ी सावधानी की जरूरत है न ? ॥ ५० ॥ जैसे नाना प्रकार के रत्न और सिक्के यदि दुश्चित्तता के साथ (बिना परखे) लिये जायँ तो हानि होती है; परीक्षा न जानने के कारण लोग ठगे जाते हैं; उसी प्रकार अध्यात्म-निरूपण भी, बिना मन लगाये, नहीं समझ पड़ता—चाहे जितना करो, प्राकृत भाषा ही समझ में नहीं आती ! ॥ ५१-५२ ॥ कोई भी भाषा हो, यदि उसमें अध्यात्मनिरूपण का विषय है, और अनुभव का रस है, तो उसे संस्कृत से भी गम्भीर समझना चाहिए—उसीका सुनना अध्यात्म-श्रवण है ॥ ५३ ॥ माया और ब्रह्म के पहचानने को अध्यात्म कहते हैं; तथापि पहले माया का स्वरूप जान लेना चाहिए ॥ ५४ ॥

माया सगुण और साकार है, वह सब प्रकार से विकारी है और उसे पंचभूतों का विस्तार ही जानना चाहिए ॥ ५५ ॥ माया दृश्य है; देख पड़ती है, वह भासमान है; मन में भासती है, क्षणभंगुर है; विवेक से देखने पर नाश हो जाती है ॥५६॥ माया अनेकरूपी और विश्वरूपी है, वह विष्णु का स्वरूप है* जितनी ही बतलाई जाय थोड़ी है ॥ ५७ ॥ वह

*क्योंकि विष्णु का स्वरूप सगुण ब्रह्म है, और ब्रह्म माया की ही उपधि से सगुण होता है; इस लिए माया ही विष्णु का रूप हुई ।

बहुरूपी और बहुरंग है, वह ईश्वर का अधिष्ठान है, तथा देखने में वह अमग और अखिल जान पड़ता है ॥ ५८ ॥ सृष्टि की रचना माया ही है; अपनी कल्पना भी माया ही है, वह ज्ञान के बिना तोड़ने से टूट नहीं सकता ॥ ५९ ॥ अस्तु । यह माया का संक्षिप्त वर्णन हुआ । अब अगले समास में ब्रह्मज्ञान का निरूपण किया जायगा । उससे माया एकदम नष्ट हो जाती है ॥ ६० ॥ ६१ ॥

दूसरा समास-ब्रह्म-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म को साधु लोग निर्गुण, निराकार, निस्संग, निर्विकार और अपरम्पार बतलाते हैं ॥ १ ॥ शास्त्रों में ब्रह्म को सर्वव्यापक, अनेकों में एक और शाश्वत कहा है ॥ २ ॥ वह अच्युत, अनन्त, सर्वदा प्रकाशित, कल्पनारहित और निर्विकल्प है ॥ ३ ॥ वह इस दृश्य से परे है; वह शून्यत्व से भी अलग है और इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जा सकता ॥ ४ ॥ ब्रह्म दृष्टि से नहीं दिखता, वह मूर्ख को समझ में नहीं आता, और साधु के बिना अनुभव में नहीं आता ॥ ५ ॥ वह सब से बड़ा है, उसके समान दूसरा और कोई श्रेष्ठ नहीं है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आदि के लिए भी वह अगोचर और सूक्ष्म है ॥ ६ ॥ शब्द-द्वारा जा कुछ बतलाते हैं उससे भी ब्रह्म अलग है; परन्तु अध्यात्म-श्रवण के अभ्यास से वह मिलता है ॥ ७ ॥ उसके अनंत नाम हैं, पर है वह नामातीत । उसका कारण कुछ नहीं है और उसका दृष्टान्त देते अच्छा नहीं लगता ॥ ८ ॥ ब्रह्म के समान अन्य कुछ सत्य नहीं है, इसी लिए उसका दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता ॥ ९ ॥ श्रुति यह सिद्धांश बतलाती है कि:—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसासह ।

ब्रह्म का वर्णन करने में वाचा कुंठित होती है और मन के द्वारा भी वह अप्राप्य है-अर्थात् मन भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता ॥ १० ॥ मन कल्पना-रूप है और ब्रह्म में कल्पना नहीं है, फिर मन उसे कैसे पा सकता है? अतएव, उपर्युक्त श्रुतिवाक्य यथार्थ है ॥ ११ ॥ अब यदि कहोगे कि जो मन को अप्राप्य है, वह कैसे प्राप्त हो सकता है, तो इसका उत्तर यही है, कि सद्गुरु के बिना यह काम नहीं हो सकता ॥ १२ ॥ भांडारगृह तो भरे हुए

हैं; परन्तु ताले बन्द हैं-और जब तक चाय में कुंजी नहीं आती तब तक कुल्ल नहीं प्राप्त होता ॥ १३ ॥ इस पर श्रोता वक्ता से पूछता है कि " तो फिर वह कुंजी कौन सी है, मुझे बतलाइये न ? " ॥ १४ ॥ वक्ता कहता है:-सद्गुरु को कृपा ही कुंजी है । उससे बुद्धि प्रकाशित होती है और द्वैत के कपाट एकदम खुल जाते हैं ॥ १५ ॥ उस परब्रह्म में सुख का पारावार नहीं है; परन्तु वहाँ मन की गति नहीं है-इस लिए, मनोलय किये बिना, वहाँ कोई साधन काम नहीं देते ॥ १६ ॥ मन के बिना ही उसको प्राप्ति हो सकती है अथवा यों कहिये कि, वहाँ वासना के बिना ही तृप्ति है और वहाँ कल्पना की चतुराई नहीं चल सकती ॥ १७ ॥ वह परा वाणी से भी परे है; मन-बुद्धि से अगोचर है और सर्वसंग परित्याग करने से वह सत्वर मिल जाता है ॥ १८ ॥ ' अपना ' संग छोड़ कर, फिर उसे देखना चाहिए! जो अनुभवी होगा, वह इस बात से सुखी होगा !! ॥ १९ ॥ ' मैं '-पन को ' अपना ' कहते हैं, ' जीवपन ' को ' मैं-पन ' कहते हैं और ' अज्ञान ' को ' जीवपन ' कहते हैं-इसी अज्ञान का संग प्राणी में लगा हुआ है ! ॥ २० ॥ अज्ञान-संग को छोड़ने पर निःसंग (ब्रह्म) से एकता होती है-यही, कल्पना बिना, ब्रह्मप्राप्ति का अधिकार है ॥ २१ ॥ " मैं कौन हूँ " यह न जानने का नाम ' अज्ञान ' है-इस अज्ञान का नाश होने पर परब्रह्म मिलता है ॥ २२ ॥ देहबुद्धि का बहूपन परब्रह्म के सामने नहीं चल सकता-वहाँ तो अहंभाव का अन्त ही हो जाता है ॥ २३ ॥ वहाँ ऊंच-नीच का भेद नहीं है-उसके तर्क राव रंक एक ही समान हैं; चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री हो-सब को एक ही पद है ॥ २४ ॥ ब्राह्मण का ब्रह्म शूद्र है और शूद्र का ब्रह्म अशूद्र है-इसा भेदाभेद वहाँ है ही नहीं ! ॥ २५ ॥ यह भेद भी वहाँ विलकुल नहीं है के, ऊंचा ब्रह्म राजा के लिए है और नीचा ब्रह्म प्रजा के लिए है ! ॥ २६ ॥ जन्म के लिए एक ही ब्रह्म है-वहाँ अनेकत्व नहीं है । चाहे कोई रंक मनुष्य प्राणी हो, चाहे ब्रह्मा विष्णु महेश आदि देवता हों-सब उसी की ओर जाते हैं ॥ २७ ॥ स्वर्ग, मृत्यु और पाताल तीनों लोकों के सारे ज्ञाताओं के लिए वैश्रान्ति की केवल वह एक ही जगह है ! ॥ २८ ॥ गुरु और शिष्य दोनों के लिए एक ही पद है-वहाँ भेदाभेद नहीं है; परन्तु इस देह का संबन्ध छोड़ना चाहिए ! ॥ २९ ॥ देहबुद्धि का अन्त हो जाने पर सब को एक ' वस्तु ' प्राप्ति होती है । श्रुति का वचन है कि " एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति " ब्रह्म एक ही है दूसरा नहीं है ॥ ३० ॥ साधु तो अलग अलग देख पड़ते हैं; परन्तु जब वे स्वरूप में मिल जाते हैं तब सब मिल कर वे एक ही देहातीत ' वस्तु ' हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ ब्रह्म नया नहीं है; पुराना नहीं है, न्यून नहीं है, अधिक नहीं है । जो उसके विषय में न्यून भावना करता है वह देहबुद्धि

का कुत्ता है ! ॥ ३२ ॥ देहबुद्धि का संशय समाधान का क्षय करता है और उसके योग से समाधान का मौका भी निकल जाता है ॥ ३३ ॥ देह को श्रेष्ठ समझना ही देहबुद्धि का लक्षण है; इसी लिए विचक्षण पुरुष देह को मिथ्या जान कर उसको निन्दा करते हैं ॥ ३४ ॥ मरते समय तक देहाभिमान मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ता, इसी कारण मनुष्य जन्म-मरण के फेरे में पडा रहता है ॥ ३५ ॥ मनुष्य-प्राणी ऐसा अज्ञान है कि देह की क्षणभंगुरता को न समझते हुए-किन्तु उसे श्रेष्ठ समझते हुए-अपनी शान्ति खोता है ॥ ३६ ॥ सन्त लोग कहते हैं कि 'हित' देहातीत है और देहबुद्धि से अनहित जरूर हो जाता है ॥ ३७ ॥ योगियों को भी, यदि अपने सामर्थ्य का अभिमान आ जाता है, तो यही देहाभिमान उनके लिए भी विघ्नकारक होता है ॥ ३८ ॥ इस लिए, जब देहबुद्धि का नाश होता है तभी, परमार्थ वनता है-देहाभिमान के कारण ही ब्रह्म से फूट होता है ॥ ३९ ॥ विवेक मनुष्य को 'वस्तु' की ओर खींचता है और देहाभिमान वहां से गिराता है-अहन्ता मनुष्य को परमात्मा से अलग करती है ॥ ४० ॥ इस कारण विचक्षणों को, देहबुद्धि त्याग कर, यथार्थ राति से, परब्रह्म में लीन हो जाना चाहिए ॥ ४१ ॥ इस पर श्रोता प्रश्न करता है कि "सत्य ब्रह्म कौन है?" वक्ता उत्तर देता है:-॥ ४२ ॥

वास्तव में ब्रह्म एक ही है; परन्तु वह बहुत प्रकार से भासता है । अनेक मतों के अनुसार, भिन्न भिन्न प्रकार से अनुभव प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥ जिसे जैसा अनुभव प्राप्त होता है वह वैसा ही मानता है और उसीमें उसका विश्वास होता है ॥ ४४ ॥ परन्तु वास्तव में ब्रह्म नाम और रूप से अतीत है; तथापि निर्मल, निश्चल, शान्त और निजानन्द आदि उसके बहुत से नाम हैं ॥ ४५ ॥ और भी, अरूप, अलक्ष, अगोचर, अच्युत, अनंत, अपरम्पार, अदृश्य, अतर्क्य, अपार नाम हैं ॥ ४६ ॥ नादरूप, ज्योतिर्मय, चैतन्यरूप, सत्तारूप, साक्षरूप, सत्स्वरूप भी उसीके नाम हैं ॥ ४७ ॥ शून्य, सनातन, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वात्मा और जगज्जीवन भी उस ब्रह्म ही को कहते हैं ॥ ४८ ॥ सहज, मदीति, शुद्ध, बुद्ध, मर्वाति, शाश्वत और श्रुतान्त उसीको कहते हैं ॥ ४९ ॥ विशाल, विस्तीर्ण, विश्वम्भर, चिमल, वस्तु व्योमाकार, आत्मा, परमात्मा, और परमेश्वर उसीके नाम हैं ॥ ५० ॥ जगदात्मा, ज्ञानधन, एकरूप, पुरातन, चिद्रूप और चिन्मात्र भी उसी 'अनामो' के नाम हैं ॥ ५१ ॥ ऐसे अमन्यो नाम हैं, परन्तु वह परेश नामातीत है । उनका निश्चित अर्थ करने के लिए ही ये नाम रखे गये हैं ॥ ५२ ॥ वह विश्रान्ति का भी विश्राम है, आदिपुत्र्य और आत्माराम है-वह एक ही परब्रह्म है-दूसरा नहीं है ॥ ५३ ॥

अस्तु, अब चौदह ब्रह्मों के लक्षण, शास्त्र के आधार से, बतलाते हैं । इनमें से भूठे भूठे ब्रह्मों को अलग कर देने से सत्य ब्रह्म का पता लग जायगा ॥ ५४ ॥ ५५ ॥

तीसरा समास—चौदह मायिके ब्रह्म ।

॥ श्रीराम ॥

श्रोतागण सावधान हो जायँ; क्योंकि अब वह ब्रह्मज्ञान बतलाते हैं जिससे साधकों को समाधान होगा ॥ १ ॥ जैसे रत्न ढूँढने के लिए पहले मिट्टी बटोरनी पडती है, उसी प्रकार, सत्य ब्रह्म का निश्चय होने के लिए, इन चौदह मायिक ब्रह्मों के लक्षण यहाँ बतलाये जाते हैं ॥ २ ॥ पदार्थ के बिना संकेत (चिन्ह या नामनिर्देश, द्वैत के बिना दृष्टांत और पूर्वपक्ष के बिना सिद्धान्त बतलाये हो नहीं जा सकते ॥ ३ ॥ इस लिए पहले मिथ्या बातें उठाना चाहिये, फिर उन्हें परख परख कर छोड़ते जाना चाहिए । इसके बाद सत्य बात सहज ही अन्तःकरण में आ जाती है ॥ ४ ॥ अस्तु अब चौदह ब्रह्मों का वर्णन करते हैं । श्रोता लोगों को सावधान हो जाना चाहिए । यह वर्णन सुनने से सत्य सिद्धान्त मालूम हो जायगा ॥ ५ ॥

श्रुति के अनुसार चौदह ब्रह्मों के नाम ये हैं—(१) शब्दब्रह्म, (२) ओमित्येकाक्षरब्रह्म, (३) खंब्रह्म; (४) सर्वब्रह्म; (५) चैतन्यब्रह्म; (६) सत्ताब्रह्म; (७) साक्षब्रह्म; (८) सगुणब्रह्म; (९) निर्गुणब्रह्म; (१०) वाच्यब्रह्म; (११) अनुभवब्रह्म (१२) आनन्दब्रह्म, (१३) तदाकारब्रह्म, (१४) अनिर्वाच्यब्रह्म ॥ ६-६ ॥

ये तो चौदह ब्रह्मों के नाम हुए । अब, संक्षेप से, इनके स्वरूप का मर्म सुनिये—॥ १० ॥ जो अनुभव में नहीं आता, सिर्फ शब्दों में ही बतलाया जाता है वह 'शब्दब्रह्म' है । 'ओमित्येकाक्षरब्रह्म' ओंकार को कहते हैं ॥ ११ ॥ 'खंब्रह्म' का अर्थ है 'आकाशब्रह्म'—वह महदाकाश की तरह व्यापक होता है । अब 'सर्वब्रह्म' का मर्म सुनिये ॥ १२ ॥ इस ब्रह्म के विषय में श्रुति का आशय यह है कि, पंचभूतों के चमत्कार से जितना कुछ, यह सब देख पडता है वह सब ब्रह्म ही है—सर्व खल्विदं ब्रह्म—यही 'सर्वब्रह्म' है । अब चैतन्यब्रह्म का रहस्य सुनिये ॥ १३ ॥ १४ ॥ पंचभूतात्मक माया में जो चेतना लाना है वह 'चैतन्यब्रह्म' है ॥ १५ ॥ चैतन्य के ऊपर जिसकी सत्ता है वह 'सत्ताब्रह्म' है और वह सत्ता जो जागता है वह 'साक्षब्रह्म'

हैं ॥ १६ ॥ उस साक्षीपन में जब तीन गुणों का आरोप होता है तब उसीको 'सगुणब्रह्म' कहते हैं ॥ १७ ॥ जिसमें गुण, आदि कुछ नहीं होते वही 'निर्गुणब्रह्म' है ॥ १८ ॥ जो वाणी-द्वारा बतलाया जाता है; पर अनुभव नहीं होता, वह 'वाच्यब्रह्म' है और जो अनुभव में आता है; पर वाणी-द्वारा बतलाया नहीं जा सकता, वह 'अनुभवब्रह्म' है। आनन्द, (जो) वृत्ति का धर्म है, परन्तु वाच्य है, वह 'आनन्दब्रह्म' है। भेदाभेद से रहित जो तदाकारत्व है, वह 'तदाकारब्रह्म' है; और 'अनिर्वाच्यब्रह्म' को क्या बतलावें—वह तो वाणी का विषय ही नहीं है—सम्वाद समाप्त ! !
॥ १६-२१ ॥

ये जो चौदह ब्रह्म क्रमशः बतलाये हैं उन्हें देख कर साधक लोगों को ब्रह्म में न आना चाहिए, किन्तु शाश्वतब्रह्म पहचान लेना चाहिए और मारिक ब्रह्मों को अशाश्वत समझ कर त्याग देना चाहिए। अभी चौदहों ब्रह्मों का सिद्धान्त हुआ जाता है ! ॥ २२ ॥ २३ ॥

'शब्दब्रह्म' का तो शब्दों से सम्बन्ध है—वह अनुभव-रहित है; अतएव वह मारिक है—उसमें शाश्वतता नहीं हो सकती ॥ २४ ॥ जो न तो जगत् है और न अक्षर * है उसमें 'ओमित्येकाक्षरब्रह्म' (ओम्+इति+एक+अक्षर-ब्रह्म) कहाँ से आया? अतएव इस ब्रह्म में भी शाश्वतता का कोई चिह्न नहीं देख पड़ता ॥ २५ ॥ 'खंब्रह्म' कहा है; परन्तु वह आकाश की तरह शून्य, अर्थात् अज्ञानस्वरूप है, अतएव उसे भी शाश्वतब्रह्म नहीं कह सकते ॥ २६ ॥ अब 'सर्वब्रह्म' को लीजिए; यह तो सभी ज्ञानते हैं कि 'सर्व' (अर्थात् पञ्चभूतात्मक सर्व दृश्य,) का अन्त होगा—और वेदान्तशास्त्र में उसी 'अन्त' को 'कल्पान्त' या 'ब्रह्मप्रलय' कहते भी हैं; अतएव 'सर्वब्रह्म' भी नश्वर ही ठहरा-शाश्वत वह भी नहीं ॥ २७-२८ ॥ अचल में चलन, निर्गुण में गुण, और निराकार में आकार, विचेक्षण पुरुष नहीं मानते ॥ २९ ॥ पञ्चभूतात्मक-सम्पूर्ण पञ्चभूतात्मक रचना-प्रत्यक्ष ही नाशवन्त है—अतएव, 'सर्वब्रह्म' ही ही कैसे सकता है? ॥ ३० ॥ अस्तु। जब सब का नाश हो जायगा तब रहेगा कौन; और देखेगा कौन? ॥ ३१ ॥ अब 'चैतन्यब्रह्म' को देखिये—यह जिसको (पञ्चभूतात्मक रचना को, या सर्वब्रह्म को) चेतना देता है वही जब

* ब्रह्म, क्षर नहीं है और अक्षर, अर्थात् अविनाशी, भी नहीं है। प्रश्न—अविनाशी क्यों नहीं? उत्तर जहाँ नाश ही नहीं है वहाँ 'अविनाशी' शब्द का प्रयोग होना ही क्यों सम्भव है? जो ब्रह्म, क्षर भी नहीं है और अक्षर भी नहीं है वहाँ 'ओमित्येकाक्षरब्रह्म' कहा पे लये ?

मायिक सिद्ध हो चुका, तब इसका 'चैतन्य' -पन कहां रहा ? अतएव यह भी अशाश्वत सिद्ध हुआ ! ॥ ३२ ॥ अब, जब प्रजा ('चैतन्य' और सर्व) ही नहीं है तब फिर वास्तव में सत्ता ही कहां से आई ? अतएव 'सत्ताब्रह्म' भी कुछ नहीं है । अब 'साक्षीब्रह्म' लीजिए; जब सत्ता ही नहीं है तब साक्षी किसका ? इस लिए 'साक्षीब्रह्म' भी नश्वर ही ठहरा ! ॥ ३३ ॥ 'सगुणब्रह्म' तो प्रत्यक्ष ही नाशवन्त है; इसके लिए विशेष प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं ! ॥ ३४ ॥ अच्छा, अब 'निर्गुणब्रह्म' लीजिए; परंतु तो जब 'गुण' ही नहीं है तब 'निर्गुण' यह नाम ही कहां से आया ? गुण के बिना कहीं गौरव प्राप्त हो सकता है ? अतएव 'निर्गुणब्रह्म' तो बिलकुल ही व्यर्थ है ! ॥ ३५ ॥ यह ब्रह्म तो ऐसा ही हुआ, जैसे कोई कहे कि माथा ऐसा है जैसा मृगजल ! अथवा, जैसे कोई आकाश को कल्पना करे, तो वह कहां तक सत्य हो सकता है ? ॥ ३६ ॥ अथवा जैसे, जब ग्राम ही नहीं है तब सीमा कहां से आवेगी ? या, जब जन्म ही नहीं है तब जीवात्मा कहां से आवेगा ? अथवा अद्वैत के लिए द्वैत को उपमा कैसे लगेगी ? यही हाल 'गुण' के बिना 'निर्गुण' ब्रह्म का है ! ॥ ३७ ॥ जैसा माथा के बिना सत्ता, पदार्थ के बिना साक्षीपन और अविद्या के बिना चैतन्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार 'गुण' के बिना 'निर्गुण' भी नहीं हो सकता ॥ ३८ ॥ अस्तु । सत्ता, चैतन्य, साक्षी, इत्यादि सब 'गुण' ही से हैं और जो 'निर्गुण' है उसमें गुण कहां से आया ? ॥ ३९ ॥ और, जिसमें गुण नहीं है उसे 'निर्गुण' संज्ञा देना, मानो उसे स्वयं अशाश्वत सिद्ध करना ही है ! ॥ ४० ॥ अब 'वाच्यब्रह्म' को देखिए; जिस प्रकार 'निर्गुणब्रह्म' स्वयं अपने नाम ही से अशाश्वत सिद्ध हो चुका है, उसी प्रकार 'वाच्यब्रह्म' भी मिथ्या है; क्योंकि वाचा को गति तो उन्हीं विषयों तक है, जिनका उपरुक्त ब्रह्मों में खण्डन हो चुका है ! ॥ ४१ ॥ अब 'आनन्दब्रह्म' को लीजिए; आनन्द भी वृत्ति को ही भावना है; और वृत्ति प्रत्यक्ष नश्वर है, अतएव 'आनन्दब्रह्म' तो प्रत्यक्ष ही अशाश्वत है । अब 'तदाकारब्रह्म' लीजिए; तदाकारता ही जाने पर वृत्ति कुछ अलग रहती ही नहीं, और बिना वृत्ति के 'तदाकार' यह भावना कहां से हो सकती है, अतएव 'तदाकारब्रह्म' भी कुछ नहीं है ! ॥ ४२ ॥ अच्छा, अब रहा 'अनिर्वाच्यब्रह्म'; परन्तु 'अनिर्वाच्य' यह नामनिर्देश भी तो वृत्ति ही के कारण है; परन्तु ब्रह्म में तो निवृत्ति आ जातो है; अतएव 'अनिर्वाच्यब्रह्म' भी शाश्वतब्रह्म नहीं है - तात्पर्य, ब्रह्म का नामनिर्देश ही नहीं हो सकता ॥ ४३ ॥

अस्तु । जो निवृत्तिदशा अनिर्वचनीय है वही उन्मत्ता अवस्था है - वही योगियों की निरुपाधि विश्रान्ति है ॥ ४४ ॥ जिस 'वस्तु' में नाम, रूप, गुण,

वृत्ति, आदि कोई भी उपाधि नहीं है वही ज्ञानियों को सहज समाधि है; और उसीसे भवसागर की आधिव्याधि दूर होती है ॥ ४५ ॥ जहाँ सब उपाधियों का अन्त हो जाता है, वही सिद्धान्त है—सिद्धान्त ही नहीं; किन्तु वही वेदान्त है और वही आत्मानुभव है! ॥ ४६ ॥ अस्तु । ऐसा जो शाश्वतब्रह्म है, जहाँ माया भ्रम नहीं है, उसका मर्म अनुभवो पुरुष स्वानुभव से जानते हैं ॥ ४७ ॥ अपने ही अनुभव से, पहले कल्पना का नाश करके, फिर अनुभव का आनन्द लूटना चाहिए ॥ ४८ ॥ निर्विकल्प की कल्पना करने से कल्पना सहज ही मिट जाती है और कुछ भी न रह कर (परमात्मरूप होकर) करोड़ों कल्प तक रह सकते हैं! ॥ ४९ ॥ कल्पना में एक अच्छाई है, कि उसे जहाँ लगाते हैं वही वृत्ति लग जाती है, और उसे यदि हम परमात्म-स्वरूप में लगा देते हैं तो स्वयं उसीकाल ही हो जाता है और 'हम' भी वही रूप हो जाते हैं! ॥ ५० ॥ निर्विकल्प की कल्पना करने से कल्पना स्वयं मिट जाती है, निःसंग को भेट करने से स्वयं निःसंग हो जाते हैं ॥ ५१ ॥ अस्तु । ब्रह्म कोई पदार्थ नहीं है, कि जो हाथ में रख दिया जाय! सद्गुरु के ज्ञानोपदेश से वह अनुभव में आता है! ॥ ५२ ॥ आगे फिर इसी विषय का निरूपण करते हैं । उससे 'केवल ब्रह्म' समझ में आ जायगा ॥ ५३ ॥

चौथा समास—केवल ब्रह्म ।

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म आकाश से भी अधिक निर्मल, निराकार, विशाल और व्यापक है । १ ॥ इक्कीस स्वर्ग और सात पाताल मिल कर एक ब्रह्मांड बना है—इस प्रकार के अनन्त ब्रह्मांडों में एक वही 'निर्मल' व्याप्त है ॥ २ ॥ अनन्त ब्रह्मांडों के नीचे-ऊपर, सब जगह, वह है—उसके बिना अणुमात्र भी जगह खाली नहीं है ॥ ३ ॥ यह तो सभी जानते हैं कि जल, स्थल, काष्ठ, पाषाण, सब में वह है—ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जिसमें वह न हो ॥ ४ ॥ जिस प्रकार जल में जलचर रहते हैं उसी प्रकार ब्रह्म में सम्पूर्ण प्राणी रहते हैं ॥ ५ ॥ परन्तु ब्रह्म के लिए जल की उपमा ठीक नहीं है, क्योंकि जल मर्यादित है—जल के बाहर रह भी सकते हैं; परन्तु, ब्रह्म अमर्यादित है—उससे अलग होकर कोई रह ही नहीं सकता ॥ ६ ॥ यदि कोई आकाश के बाहर भगना चाहे तो कैसे भग सकता है—वह तो चारों ओर

भरा हुआ है ! इसी तरह उस 'अनन्त' का भी अन्त नहीं है ॥७॥ वह सब में अखण्ड रोति से मिला हुआ है—शरीरभर में लिपटा हुआ है । सब के बहुत पास रह कर भी वह छिपा हुआ है ! ॥ ८ ॥ सब उसीमें रहते हैं, पर उसे जानते नहीं ! जो कुछ मालूम होता है वह भास है, वह परब्रह्म जाना नहीं जाता ॥ ९ ॥ बादल, धुआँ, गर्द और कुहरा आदि से कभी कभी आकाश कुछ धुँधलासा मालूम होता है परन्तु यह ठीक नहीं है—वास्तव में आकाश निर्मल ही है ! ॥ १० ॥ आकाश को ओर जब हम बहुत देर तक देखते रहते हैं तब हमें चक्र की तरह कुछ दृश्य घूमते हुए दिखाई देते हैं; पर वास्तव में वह कुछ नहीं है—मिथ्या भास है ! इसी प्रकार यह दृश्य (सृष्टि) भी ज्ञानियों को मिथ्या देख पड़ता है ॥ ११ ॥ जिस प्रकार सोने-वालों को अपना स्वप्न, जागृतावस्था में आ जाने पर, मिथ्या मालूम होने लगता है, उसी प्रकार ज्ञानरूप जागृति आ जाने पर, मनुष्य को यह सारा स्वप्नवत् 'दृश्य' मिथ्या जान पड़ने लगता है ॥ १२ ॥ अतएव, अपने अनुभव से; ज्ञान-द्वारा, जागृत होना चाहेए । इसके बाद स्वयं यह सब मायिक दृश्य मिथ्या मालूम होने लगता है ॥ १३ ॥ अच्छा, अब यह कूटक रहने दीजिए । जो ब्रह्मांड के परे है, वही अब स्पष्ट करके समझाये देता हूँ:—॥ १४ ॥

ब्रह्म ब्रह्मांड में मिला हुआ है, पदार्थमात्र में व्याप्त है और अंशमात्र से सब विस्तृत है ॥ १५ ॥ ब्रह्म में सृष्टि भासती है और सृष्टि में ब्रह्म रहता है—अनुभव लेने पर वह अंशमात्र से भासता है ॥ १६ ॥ अंशमात्र से तो सृष्टि के भीतर है; परन्तु बाहर उसको मर्यादा कोई निश्चित नहीं कर सकता; क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्म ब्रह्मांड के पेट में समायेगा कैसे ? ॥ १७ ॥ अमृती (चरणामृत रखने का छोटा पात्र) में सम्पूर्ण आकाश नहीं रखा जा सकता—इसी लिए कहते हैं कि, उसका कुछ 'अंश' है ॥ १८ ॥ उसी प्रकार ब्रह्म सब में मिला हुआ है । परन्तु वह हिलता नहीं; किन्तु व्यापकता से सब में परिपूर्ण भरा हुआ है ! ॥ १९ ॥ वह पञ्चभूतों में मिश्रित होकर भी इस प्रकार उनसे अलग है जिस प्रकार पंक में रह कर भी आकाश अलिप्त रहता है ॥ २० ॥ ब्रह्म के लिए कोई दृष्टान्त नहीं है; परन्तु समझने के लिए देना ही पड़ता है ! यदि विचार किया जाय तो आकाश ही में, कुछ कुछ उसके दृष्टान्त का साहित्य पाया जाता है ॥ २१ ॥ श्रुति और स्मृति में क्रमशः ब्रह्म के लिए 'खंब्रह्म और 'गगनसदृश' कहा है; इसी लिए आकाश से उसको उपमा दी जाती है ॥ २२ ॥ जैसे पोतल में यदि कालिमा न हो तो फिर वह स्वच्छ सोना ही है, ऐसे ही यदि आकाश में शून्यत्व न हो तो वही ब्रह्म है ॥ २३ ॥ इसी लिए, गगन की तरह ब्रह्म और पवन की तरह माया समझी जाती है, पर ब्रह्म का दर्शन नहीं होता ॥ २४ ॥ शब्द-सृष्टि की

रचना क्षण क्षण में होती जाती है; पर वह वायु की तरह उठरती नहीं-
चलती जाती है ! ॥२५॥

अस्तु । इस प्रकार माया मिथ्या है; शाश्वत 'केवल ब्रह्म' ही है और वह सब में व्याप्त है ॥ २६ ॥ पृथ्वी में भेद हुआ है, परन्तु वह कठिन नहीं है (क्योंकि पृथ्वी स्वतः जड है, उसको भेदनेवाला कठोर चाहिए!) - मृदुता के लिए दूसरी उपमा ही नहीं है ! ॥ २७ ॥ पृथ्वी से अधिक जल, जल से अधिक अग्नि और अग्नि से भी अधिक वायु सूक्ष्म है ॥ २८ ॥ वायु से भी अधिक आकाश और आकाश से भी अधिक सूक्ष्म ब्रह्म है ॥ २९ ॥ वह वज्र में भी भेदा हुआ है; परन्तु उसको कोमलता जैसी की तैसी बनी है-वह नहीं गई ! ब्रह्म उपमा-रहित भरा हुआ है-वह न कठिन है न मृदु है ! ॥ ३० ॥ वह पृथ्वी में व्याप्त है, पर पृथ्वी नाश होती है और वह नाश नहीं होता-इसी प्रकार जल सूखता है; पर वह, जल में रह कर भी, नहीं सूखता ! ॥ ३१ ॥ वह परब्रह्म अग्नि में रहता है, पर जलता नहीं; पवन में रहता है; पर चलता नहीं और गगन में रहता है, पर भासता नहीं ॥ ३२ ॥ यह कैसे आश्चर्य की बात है कि, वह सारे शरीर में व्याप्त है; पर मिलता नहीं और पास होकर भी दूर हो रहा है ! ॥ ३३ ॥ सामने हो है, चारों ओर है; उसीमें दिन-रात देखा करते हैं-भीतर बाहर, सब जगह, वह प्रत्यक्ष है, इसमें कोई शक नहीं ! ॥ ३४ ॥ उसमें हम हैं, और हममें, भीतर-बाहर, वह है आकाश की तरह, दृश्य से अलग है ॥ ३५ ॥ जहाँ कुछ भी नहीं जान पड़ता वहाँ भी वह भरा पड़ा है ! जैसे अपना धन अपने ही को न दिखता हो उसी प्रकार परब्रह्म अदृश्य हो रहा है ! ॥ ३६ ॥ जो जो पदार्थ देख पड़ते हैं उन उन-पदार्थों के इसी तरफ वह है ! (अर्थात् पहले उस पर दृष्टि पड़ना चाहिए तब पदार्थ पर) अनुभव-द्वारा इस कूटक को हल करना चाहिए ! ॥ ३७ ॥ जैसे सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ (पृथ्वी, आदि) को छोड़ कर, शेष सब, आगे-पोछे, चारों ओर, आकाश ही है वैसे ही वह परब्रह्म चारों ओर समरस भरा है ॥ ३८ ॥ जहाँ तक रूप और नाम है वह सब भूठ ही भ्रम है, और नामरूप से जो परे है, उसका मर्म अनुभवी पुरुष जानते हैं ॥ ३९ ॥ जैसे आकाश में धुँएँ के बड़े बड़े पर्वत उठते हैं, वैसे ही माया देवी अपना आडम्बर दिखाती है ॥ ४० ॥ यह माया अशाश्वत है; ब्रह्म शाश्वत है और वह सब जगह सदा-सर्वदा भरा हुआ है ॥ ४१ ॥ देखिये, पुस्तक पढ़ते समय, वह अक्षरा में भी भरा है और बड़ी कोमलता से नेत्रों में भी प्रविष्ट है ! ॥ ४२ ॥ कानों से शब्द सुनते समय, मन से विचार करते समय, वास्तव में वह परब्रह्म मन के भीतर-बाहर बना रहता है ! ॥ ४३ ॥ मार्ग में चलते समय पर पहले उसी को छूते हैं ! वह सर्वांग में छू रहा है और हाथ में, जब

हम कोई वस्तु लेते हैं तब, उस वस्तु के पहले, परब्रह्म ही हमारे हाथ में आता है ! ॥ ४४ ॥ कहां तक कहें, सारी इन्द्रियां और मन सदा-सर्वदा उसीमें वर्तते हैं, परन्तु उसे जानने में हताश हैं ! ॥ ४५ ॥ वह पास ही है; पर देखने से देख नहीं पड़ता । देख वह अर्थात् नहीं पड़ता, पर वह है अर्थात् ! ॥ ४६ ॥

अस्तु । दृश्य का निरसन करने पर, अपने अनुभव से ही, वह प्राप्त होता है—वह अनुभवगम्य है ! ॥ ४७ ॥ ज्ञानदृष्टि से देखने की 'वस्तु' चर्मदृष्टि से नहीं देख सकती । भीतरी अनुभव की बात भीतर की वृत्ति ही जान सकती है ! ॥ ४८ ॥ ब्रह्म, माया, और अनुभव की बात, जाननेवाली सर्वसाक्षिणी एक तुर्या-अवस्था है ॥ ४९ ॥ उसका साक्षित्व, वृत्ति का कारण है—(अर्थात् तुर्या में वृत्ति है)—उसके बाद उन्मनी-अवस्था अर्थात् निवृत्ति की दशा है, वहां (उन्मनी में) जानपन (ज्ञातृत्व) मिट जाता है, वही विज्ञान है ! ॥ ५० ॥ वहां (उन्मनी अवस्था में) अज्ञान मिट जाता है, ज्ञान भी नहीं रहता, और विज्ञान वृत्ति परब्रह्म में लीन हो जाती है ! वही 'केवल-ब्रह्म' है ! वहां कल्पना का अन्त हो जाता है ! वही योगी जनों का एकान्त-विश्राम है ! उसको अनुभव से जानना चाहिए ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

पाँचवाँ समास—द्वैत-कल्पना का निरसन ।

॥ श्रीराम ॥

उपर्युक्त शाश्वत और शुद्ध ब्रह्म अनुभव में आगया—और माया का भी पता लग गया ! ॥ १ ॥ अर्थात्, ब्रह्म का अन्तःकरण में अनुभव होता है, और माया भी प्रत्यक्ष देख पड़ती है—अब इस द्वैत का किस प्रकार निरसन हो ? ॥ २ ॥ तो फिर, अब मन को सावधान और एकाग्र करके, सुनिये, कि माया और ब्रह्म को जानता कौन है—॥ ३ ॥ द्वैत की यह कल्पना, कि ब्रह्म का संकल्प सत्य है और माया का विकल्प मिथ्या है, मन ही करता है ! ॥ ४ ॥ एक तुर्या अवस्था ही माया और ब्रह्म को जानती है—वह सब जानती

* शिष्य कहता है कि, माया क्या है और ब्रह्म क्या है—सो तो मालूम होगया, परन्तु माया और ब्रह्म के द्वैत का निरसन कैसे होगा ? उत्तर—माया और ब्रह्म की कल्पना होता किसको है ? मन को । वह कल्पना मिटने पर, मनोवृत्ति के न रहने पर, अथवा यों कहिये, कि उन्मन होने पर, फिर द्वैत कैसे रहेगा ? परन्तु यह कल्पना मिटावे कैसे ? कल्पना न

है, इसी लिए उसे 'सर्वसाक्षिणी' कहते हैं ॥५॥ तुर्या 'सब' जानती है; परन्तु जहाँ सब है ही नहीं, वहाँ जानेगा कौन, और किसको? ॥६॥ संकल्प-विकल्प को सृष्टि तो मन ही केपेट से हुई है—सो, अन्त में वह मन ही मिथ्या ठहरता है, तब साक्षी कौन है? ॥७॥ साक्षीपन, चैतन्यता और सत्ता, ये गुण, माया के कारण, व्यर्थ ही के लिए, ब्रह्म के मत्थे मढ़े गये हैं! ॥८॥ घटाकाश, मठाकाश और महदाकाश, ये तीन भेद होने के लिए, जिस प्रकार घट और मठ कारण हैं, उसी प्रकार, माया के योग से ब्रह्म में गुणों का आरोप हो रहा है! परन्तु वास्तव में आकाश एक ही है और ब्रह्म भी निर्गुण तथा शाश्वत है ॥ ९ ॥ जब तक माया सत्य मानी जाती है तभी तक ब्रह्म में साक्षित्व है। आवेद्या का निरास हो जाने पर द्वैत कहां रह सकता है? ॥ १० ॥ एवं च, सर्वसाक्षी मन जब उन्मन हो जाता है तब तुर्यारूप ज्ञान अस्त हो जाता है ॥ ११ ॥ जिसे द्वैत का भास होता है वह मन ही जब उन्मन हांगया, तब द्वैत-अद्वैत का अनुसंधान कहां रहा? ॥ १२ ॥ अर्थात् द्वैताद्वैत की कल्पना वृत्ति का चिह्न है। वृत्ति निवृत्त हो जाने पर द्वैत का पता भी नहीं चलता ॥ १३ ॥ वही वृत्तिरहित ज्ञान (विज्ञान) पूर्ण शान्ति है—वहाँ माया और ब्रह्म का भगडा मिट जाता है ॥ १४ ॥ यह माया और ब्रह्म का भगडा मन ने ही कल्पित किया है—वह ब्रह्म वास्तव में कल्पनातीत है। उसे ज्ञानी ही जानते हैं ॥ १५ ॥ जो मन और बुद्धि से अगोचर है, जो कल्पना से भी परे है, उसका यथार्थ अनुभव करने से द्वैत कहां रह सकता है? ॥ १६ ॥ द्वैत की ओर देखने से ब्रह्म नहीं मालूम होता; ब्रह्म की ओर देखने से द्वैत का नाश हो जाता है—क्योंकि द्वैत और अद्वैत का भास कल्पना से ही है ॥ १७ ॥ कल्पना माया का निवारण करती है, ब्रह्म को स्थापित करती है, तथा संशय उठाने या संशय को रोकनेवाली भी कल्पना ही है ॥ १८ ॥ वह बंधन में डालती है, समाधान देती है और ब्रह्म की ओर ध्यान लगाती है ॥ १९ ॥ कल्पना द्वैत की जननी है, वास्तव में वही ज्ञप्ति या ज्ञान का रूप है और वद्धता या मुक्तता भी उसीसे आती है ॥ २० ॥ शबल (औपाधिक) कल्पना मिथ्या ब्रह्माण्ड देखती है और शुद्ध कल्पना उसी क्षण निर्मल स्वरूप की भावना करती है ॥ २१ ॥ कल्पना क्षणभर में चिंता करती है, क्षणभर में ही स्थिर हो जाती

कल्पना मिटती है। ब्रह्म की कल्पना शुद्ध कल्पना है, सकल्प है। माया की कल्पना शबल (औपाधिक) या अशुद्ध कल्पना है; विकल्प है। अब इस सकल्प से पहले विकल्प का नाश करो, इसके बाद, फिर, सकल्प स्वयं ब्रह्म में लीन हो जायगा और 'केवल ब्रह्म' की प्राप्ति होगी।

है और क्षण ही में विस्मित होकर देखती है ॥ २२ ॥ वह एक क्षणभर में समझती है, क्षणभर में ही घबडाती है और इसी प्रकार अनेक विकार लाती है ! ॥ २३ ॥ कल्पना जन्म का मूल है; भक्ति का फल है और वही मोक्ष देनेवाली है ॥ २४ ॥ अस्तु । साधन करते समय यदि इसी कल्पना का अच्छा उपयोग किया गया तो इसीसे शान्ति मिलती है; अन्यथा यह पतन का मूल ही है ॥ २५ ॥ एवं, सब की जड़ केवल यह कल्पना ही है-इसको निर्मूल करने पर ब्रह्मप्राप्ति होती है ॥ २६ ॥ श्रवण, मनन और निदिध्यास से समाधान मिलता है और मिथ्या कल्पना का भान उड जाता है ॥ २७ ॥ शुद्ध ब्रह्म का निश्चय कल्पना को ऐसे जीत लेता है जैसे निश्चित अर्थ से संशय नाश हो जाता है ॥ २८ ॥ मिथ्या कल्पना का ढोंग सत्य के सामने कैसे टिक सकता है ? सूर्य के उजले के सामने कहीं अंधेरा रह सकता है ? ॥ २९ ॥ जब ज्ञान के प्रकाश से मिथ्या कल्पना का नाश हो जाता है तब द्वैत का भास आपही आप छूट जाता है ॥ ३० ॥ कल्पना के द्वारा कल्पना इस प्रकार उड जाती है जैसे मृग के द्वारा मृग पकड़ा जाता है-अथवा जिस प्रकार आकाशमार्ग में बाण से बाण काट डाला जाता है ॥ ३१ ॥

अस्तु । अब इस बात को स्पष्ट करके बतलाते हैं कि शुद्ध कल्पना की प्रबलता से शबल कल्पना कैसे नाश होती है ॥ ३२ ॥ शुद्ध कल्पना की पहचान यह है कि, वह स्वयं निर्गुण की कल्पना करती है और सत् स्वरूप का विस्मरण नहीं होने देती ॥ ३३ ॥ जो सदा स्वरूप का अनुसंधान, द्वैत का निरसन और अद्वैत-निश्चय का ज्ञान करे वही शुद्ध कल्पना है ॥ ३४ ॥ जो अद्वैत की कल्पना करे वह शुद्ध है, जो द्वैत की कल्पना करे वह अशुद्ध है और अशुद्ध कल्पना ही 'शबल' के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ३५ ॥ अद्वैत-का निश्चय करना ही शुद्ध कल्पना का कार्य है, और शबल (अशुद्ध) कल्पना व्यर्थ के लिए द्वैत की भावना करती है ॥ ३६ ॥ जब अद्वैत-कल्पना प्रकाशित होती है उसी क्षण द्वैत का नाश होता है और द्वैत के साथ ही-शबल (अशुद्ध या औपाधिक) कल्पना का भी निरसन हो जाता है ॥ ३७ ॥ चतुर पुरुषों को यह बात जानना चाहिए, कि कल्पना से कल्पना मिटती है, और 'शबल' कल्पना के चले जाने पर शुद्ध कल्पना बच रहती है ॥ ३८ ॥ शुद्ध कल्पना जिस स्वरूप की कल्पना करती है वही स्वयं उसका स्वरूप है, और उस स्वरूप की कल्पना करते करते वह स्वयं-तद्रूप हो जाती है ॥ ३९ ॥ कल्पना का मिथ्यापन प्रकट हो जाने पर, सहज ही तद्रूपता आ जाती है और आत्मनिश्चय होने पर कल्पना का लय हो जाता है ॥ ४० ॥ सूर्य के अस्त होने पर जिस प्रकार अंधकार प्रबल होता है,

उसी प्रकार निश्चय के डिगने से द्वैत उमड़ता है ॥ ४१ ॥ तथा ज्ञान के मलिन होते ही अज्ञान प्रबल होता है; अतएव सद्ग्रन्थों का श्रवण अखंड रीति से करते रहना चाहिए ॥ ४२ ॥ अस्तु- अब यह वार्ता बस करो । एक ही बात से आशका मिटाता हूँ- अर्थात् जिसको द्वैत का भास होता है वह 'तू' सर्वथा नहीं है ॥ ४३ ॥ पिछला संशय मिट गया, अब आगे के लिए सावधान होना चाहिए ॥ ४४ ॥

छठवाँ समास--मुक्त कौन है ?

॥ श्रीराम ॥

श्रोता कहता है:-“ आपने कल्पनातीत और अद्वैत ब्रह्म का निरूपण करके मुझे क्षणभर के लिए तदाकार कर दिया ॥ १ ॥ परन्तु मैं तदाकार होकर बिलकुल ब्रह्म ही बनना चाहता हूँ और चंचलता से फिर कभी इस संसार में नहीं आना चाहता ! ॥ २ ॥ उस कल्पना-रहित सुख में संसार-दुख नहीं है, इस लिए वही हो जाना चाहिए ! ॥ ३ ॥ वास्तव में, अध्यात्म-श्रवण से ब्रह्म ही हो जाना चाहिए; परन्तु यहाँ तो फिर वृत्ति पर आना पड़ता है ! यह सदा का आना-जाना मिटता ही नहीं ! ॥ ४ ॥ मैं क्षणभर के लिए ऊँचे पर चढ़ कर ब्रह्म ही हो जाता हूँ; परन्तु तुरन्त ही फिर नीचे, वृत्ति में, आ गिरता हूँ ॥ ५ ॥ जैसे लडके, किसी उड़नेवाले कीटक के पैर में डोरा बांध कर उसे नीचे-ऊपर उड़ाते हैं वैसे ही मैं कहां तक नीचे ऊपर प्रत्यावर्तन या आवागमन करते रहूँ ? ॥ ६ ॥ ऐसा कुछ होना चाहिए, कि जिससे उपदेश सुनते समय, तदाकार होते ही, यह शरीर पतन हो जाय अथवा अपने-पराये का भान न रहे ! ॥ ७ ॥ परन्तु वैसा न होते हुए मैं जो कुछ बोलता हूँ उसीमें मुझे लज्जा आती है-और एक बार ब्रह्म बन कर, फिर गृहस्थों में पडना भी विपरीत दिखता है ! ॥ ८ ॥ यह ज्ञान, मुझे स्वयं ठीक नहीं जान पड़ता, कि एक बार जो स्वयं ब्रह्म ही बन चुका है वह फिर उस दशा से लौट क्यों आता है ! ॥ ९ ॥ या तो बिलकुल ब्रह्म ही हो जाना चाहिए, या तो फिर संसार ही में रहना चाहिए-दोनों ओर कहां तक भटका करे ! ॥ १० ॥ अध्यात्म-निरूपण सुनते समय तो ज्ञान प्रबल होता है (यहाँ तक कि स्वयं ब्रह्म में तदाकार हो जाता है); और निरूपण उठ जाने पर वह ज्ञान नष्ट हो जाता है तथा फिर उसी ब्रह्मरूप (मनुष्य) को काम क्रोध घेर लेते हैं ॥ ११ ॥ यह कैसा ब्रह्म

हुआ—यह तो दोनों ओर से गया—गृहस्थी तो थोड़ी, खींचा-तानी ही में, चली गयी ! ॥ १२ ॥ ब्रह्मानन्द लेते समय गृहस्थी के कर्म पीछे खींचते हैं ! और गृहकर्म करते समय ब्रह्म में प्रीति उपजती है ! ॥ १३ ॥ इस प्रकार ब्रह्म-सुख को तो गृहस्थी ले जाती है और गार्हस्थ्य सुख ब्रह्मज्ञान से चला जाता है—दोनों अधरे रहते हैं—एक भी पूरा नहीं होता ! ॥ १४ ॥ इस कारण, मेरा चित्त चंचल और दुश्चित्त होगया है ! क्या करूं, सो कुछ भी निश्चित नहीं होता ! ” ॥ १५ ॥ सारांश, श्रोता यह विनती करता है कि, मैं अखंड ब्रह्माकार तो होता नहीं हूं और इधर गृहस्थी में भी विघ्न आता है; अतएव, अब कैसे रहना चाहिए ? ॥ १६ ॥ अब इसका उत्तर सावधान होकर सुनिये:— ॥ १७ ॥ वक्ता, उलटे, श्रोता से प्रश्न करता है:— क्या जो ज्ञानी ब्रह्म होकर, जड़ की तरह, बिना कर्म किये, पडे रहते हैं वही मोक्ष प्राते हैं; और व्यास आदि, जो कर्मयोगी थे वे क्या डूब गये ? ॥ १८ ॥ वक्ता के इस प्रश्न पर श्रोता यह विवेकन करता है कि:—“श्रुति कहती है कि शुक और वामदेव, केवल दो ही, अभी तक मुक्त हुए हैं ॥ १९ ॥ वेद ने उक्त दो ही ज्ञानियों को मुक्त माना है, अन्य सब ज्ञानियों को उसने बद्ध बना दिया है! अतएव वेदवचन में श्रद्धा कैसे की जा सकती है ? ” ॥ २० ॥ इस प्रकार, श्रोता ने, वेद के आधार से, प्रत्युत्तर दिया और बड़े आग्रह से दो ही को मुक्त सिद्ध किया ! ॥ २१ ॥ इस पर वक्ता कहता है:—यदि ऐसा कहा जाय कि सृष्टि भर में दो ही मुक्त हैं तो फिर औरों के लिए कहां ठिकाना है? ॥ २२ ॥ बहुत से ऋषि, मुनि, सिद्ध, योगी, आत्मज्ञानी और असंख्यो समाधानी होगये:— ॥ २३ ॥

प्रज्ञादनारदपराशरपुंडरीक-

व्यासांवरीषशुकशौनकभीष्मदालभ्यान् ।

रुक्मांगदारुणवसिष्ठत्रिभीषणादीन्

पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि ॥ १ ॥

कविर्हरितरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।

आविर्होत्रोऽथद्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥ २ ॥

इनके अतिरिक्त और बड़े बड़े ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आदि देवर्षि तथा विदेह (जनक) आदि राजर्षि भी होगये ॥ २४ ॥ यदि केवल शुकदेव और वामदेव ही मुक्त हुए तो क्या बाकी ये सब डूब गये ? यह तो मूर्खता का कथन हुआ ! ॥ २५ ॥ इस पर श्रोता कहता है:—“ तो फिर वेद यह क्यों कहता है ? क्या वेद को आप मिथ्या कर सकते हैं ? ” ॥ २६ ॥ वक्ता

उत्तर देता है:-वेद ने यह पूर्वपक्ष कहा है; यह कुछ उसका सिद्धान्त नहीं है; परन्तु मूर्ख लोग उसीको पकड़े बैठे रहते हैं और साधु, विद्वान् तथा दक्ष पुरुष उस बात को नहीं मानते ॥ २७ ॥ तथापि, यह यदि, थोड़ी देर के लिए, मान भी लिया जाय तो फिर वेदों का सामर्थ्य कहाँ रहा? फिर तो यह सिद्ध होता है कि, वेद किसीका उद्धार ही नहीं कर सकते! ॥ २८ ॥ परन्तु यदि वेदों में सामर्थ्य न होता तो फिर उन्हें कौन पूछता? इस लिए ऐसा नहीं हो सकता। वेदों में लोगों के उद्धार करने का सामर्थ्य जरूर है ॥ २९ ॥ वेदाध्ययन करनेवाला पुरुष बड़ा पुण्यात्मा गिना जाता है-वेदों में सामर्थ्य अवश्य है ॥ ३० ॥ साधु लोग कहते हैं, कि वेद, शास्त्र और पुराण बड़े भाग्य से सुनने को मिलते हैं और इनको सुन कर लोग पवित्र हो जाते हैं ॥ ३१ ॥ उनका एक श्लोक, आधा श्लोक, चौथाई श्लोक (एक चरण) अथवा एक शब्द तक, यदि कानों में पड़ जाय तो अनेक पाप दूर होते हैं ॥ ३२ ॥ व्यास आदि महर्षियों के, ऐसे अनेक वचन, वेद-शास्त्र-पुराणों में, हैं ॥ ३३ ॥ जगह, जगह उपर्युक्त ग्रन्थों की महिमा गाई गई है और लिखा है कि, एक अक्षर भी सुन लेने से पवित्र हो जाते हैं ॥ ३४ ॥ अतएव, यदि शुकदेव और वामदेव को छोड़ कर अन्य लोगों का उद्धार न हुआ होता तो उक्त ग्रन्थों की महिमा कैसे रहती? ॥ ३५ ॥ अस्तु। यह सिद्ध है कि, वेद-शास्त्र-पुराणों के द्वारा सभी का उद्धार हुआ है ॥ ३६ ॥ अब, यदि तू कहेगा कि जो काठ की तरह, जड़ होकर, पड़ा रहे वही एक मुक्त संभोग जा सकता है; तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं शुकदेव ने भी (जिन्हें तू मुक्त मानता है) अनेक जगह निरूपण किया है! ॥ ३७ ॥ अस्तु। वेद का यह कथन, कि शुक मुक्त है, सर्वथा सत्य है, पर शुकदेव स्वामी कुछ अचेतन ब्रह्माकार नहीं थे ॥ ३८ ॥ यदि शुकदेव योगीश्वर अचेतन ब्रह्माकार होते तो फिर वे सारासार का विचार कैसे बतला सकते? ॥ ३९ ॥ तेरे कथनानुसार, ब्रह्माकार होनेवाला काठ की तरह, जड़ बन कर, पड़ा रहता है, परन्तु शुकदेवजी ने तो राजा परोक्षित को भागवत सुनाई है ॥ ४० ॥ और कथा-निरूपण करने में तो सारासार का विचार करना पड़ता है तथा दृष्टान्त के लिए तमाम चराचर सृष्टि को ढूँढना पड़ता है-॥ ४१ ॥ क्षणभर के लिए ब्रह्म ही हो जाना पड़ता है और क्षणभर ही में सम्पूर्ण दृश्य सृष्टि को खोजना पड़ता है, तथा अनेक दृष्टान्त देकर वक्तृता का सम्पादन करना होता है ॥ ४२ ॥ और, इसी प्रकार से शुकदेव ने भागवत आदि का निरूपण सुनाया है, परन्तु इससे क्या वे कभी बद्ध कहे जा सकते हैं? ॥ ४३ ॥

अतएव, यह सिद्ध है, कि सद्गुरु के उपदेश से, सब कर्म करने हुए-

निश्चेष्ट, काठ की तरह, न पड़े रहते हुए—सायुज्य मुक्ति मिलती है ॥ ४४ ॥ इस संसार में कोई मुक्त, कोई नित्यमुक्त, कोई जीवन्मुक्त और कोई समाधानी योगी विदेहमुक्त होते हैं ॥ ४५ ॥ जो सचेतन है वे जीवन्मुक्त हैं—(अर्थात् वे जीवितावस्था ही में ज्ञान-द्वारा मुक्त होगये है और व्यवहार कर रहे हैं)—और जो अचेतन है वे विदेहमुक्त कहलाते हैं—(अर्थात् जीवितावस्था ही में भुक्त होगये है; पर अजगर की तरह, देहभान भूले हुए, पड़े हैं)—इन दोनों के अतिरिक्त योगीश्वरों को, नित्यमुक्त जानना चाहिए ॥ ४६ ॥ स्वरूप का बोध होने से जो स्तब्धता (उदासीनता या स्थिरता) आती है उसे तटस्थ अवस्था जानना चाहिए । इस तटस्थता और स्तब्धता में देह का सम्बन्ध बना रहता है* ॥ ४७ ॥ अस्तु । मुक्ति का कारण ' स्वानुभव ' है, और शेष सब व्यर्थ है । अपने अनुभव से ही तृप्त होना चाहिए (अर्थात् स्वानुभव-तृप्त पुरुष ही सच्चा मुक्त है, फिर उसकी हलचल देख कर भले ही उसे कोई बद्ध करा करे !) ॥ ४८ ॥ जो पुरुष कंठ-पर्यन्त, तृप्त होकर, भोजन कर चुका है, उसे यदि कोई भूखा कहे तो कहा करे ! इससे क्या वह सचमुच ही ' जुधा-व्याकुल ' हो सकता है ? ॥ ४९ ॥ निराकार स्वरूप में जब देह ही नहीं है तब वहाँ सन्देह कहाँ से आवेगा ? ' बद्ध ' और ' मुक्त ' की भावना तो सिर्फ देह ही तक है ॥ ५० ॥ और, देहाभिमान रख कर तो ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश तक मुक्त नहीं हो सकते; फिर शुकदेव के मुक्तपन की क्या गणना ? ॥ ५१ ॥ क्योंकि ' मुक्तपन ' की भावना ही बद्धपन का लक्षण है; अतएव ' मुक्त ' और ' बद्ध ' दोनों व्यर्थ हैं—सत्-स्वरूप में न ' बद्ध ' की भावना है, न ' मुक्त ' की भावना है—वह स्वतःसिद्ध है ॥ ५२ ॥ जिस प्रकार पेट में शिला बांध कर पानी में तैर नहीं सकते उसी प्रकार, मुक्तपन का अभिमान रखते हुए, परमात्मा में मिल कर नहीं रह सकते ॥ ५३ ॥ जो ' मैं '-पन से छूट जाता है वही मुक्त होता है; फिर चाहे वह मूक हो, चाहे बोलता हो—वह मुक्त हो है ! ॥ ५४ ॥ जो (सन्त-स्वरूप) बांधा ही नहीं जा सकता उसके तर्क मुक्तपन कहाँ से आया—(अर्थात् जहाँ बद्धपन है वहाँ मुक्तपन की भावना है ।) वहाँ तो सारी गुण-वार्ता व्यर्थ है ॥ ५५ ॥

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।

* स्वरूपबोध होने पर निश्चेष्ट पडा रहना, शिष्य के मत से, मुक्ति का लक्षण है और हिलना डुलना बद्ध का लक्षण है—इम पर सङ्ग रहते हैं कि, हिलना-डुलना, अथवा स्तब्ध या तटस्थ रहना, देह के कारण से है—ओर देहबुद्धि रखने से कोई मुक्त नहीं हो सकता । जो कोई कहेगा कि " मैं मुक्त हूँ " वही वास्तव में बद्ध है ।

गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न वधनम् ॥ १ ॥

जो परमशुद्ध तत्त्वज्ञाता है उनके लिए बद्ध और मुक्त का भेद ही नहीं है । मुक्त-बद्ध का विनोद माया के कारण से है ॥ ५६ ॥ जहां नामरूप मिट जाता है वहां 'मुक्तता' कैसे बन्न सकती है? वहां तो मुक्त और बद्ध का विलकुल ही विस्मरण हो जाता है ॥ ५७ ॥ बद्ध और मुक्त वास्तव में कौन है? वह (बद्ध-मुक्त) 'में' तो है नहीं; किन्तु 'मैपन' अवश्य सब को बांधता है । जो कोई 'मैपन' का धारण करता है उसीको वह बन्धन में डालता है (अर्थात् जो देहाभिमान रखता है उसीको चाहे मुक्त समझे चाहे बद्ध; जिन्होंने 'मैपन' छोड़ दिया है वे न बद्ध हैं, न मुक्त हैं!) ॥ ५८ ॥ एवं च, यह सारा भ्रम है । जब तक मायातीत विश्राम का सेवन नहीं किया जाता तब तक अहंता का यह कष्ट पीछे लगा ही है ! ॥ ५९ ॥ अस्तु । अब बद्धता और मुक्तता कल्पना के मत्थे आती है—तो फिर, क्या वह कल्पना सत्य है? अर्थात् वह भी तो सत्य नहीं है ! ॥ ६० ॥ अतएव, यह सब मृग-जल है; माया ही के कारण ये भूटे मेघाडम्बर उठे हैं ! ज्ञान-जागृति आने पर यह सब माया का स्वप्न तत्काल मिथ्या हो जाता है ॥ ६१ ॥ इस स्वप्न-रूप संसार में, जो समझता है, कि मैं बद्ध हूँ या मुक्त हूँ, वह अभी सब मुच जगा नहीं है—इसी लिए उसे नहीं मालूम होता कि कौन, कैसा, क्या हुआ ! ॥ ६२ ॥ इस लिए, जिनको आत्मज्ञान हो चुका है, वे सभी लोग मुक्त हैं—शुद्ध ज्ञान होने पर मुक्तता की भावना समूल नष्ट हो जाती है ॥ ६३ ॥ बद्धपन या मुक्तपन की भावना देह-बुद्धि के साथ रहती है; परन्तु साधुजन देहातीत 'वस्तु' हैं; अतएव उनके तर्क 'बद्ध' या 'मुक्त' की भावना ही नहीं रहती ॥ ६४ ॥ अच्छा, अब आगे यह बतलाया जाता है कि साधन कैसे करना चाहिए । श्रोता लोग सावधान होकर सुनें ॥ ६५ ॥

सातवाँ समास—साधन का निश्चय ।

॥ श्रीराम ॥

'वस्तु' को यदि कल्पना की जाय तो कैसे? क्योंकि वह तो स्वाभाविक ही निर्विकल्प है—वहां तो कल्पना के नाम से शून्याकार है ॥ १ ॥ इतने पर भी, यदि उनको कल्पना की जाय तो वह कल्पना के दाय में आता नहीं—परचान ही नहीं मिलती—चित्त को भ्रम होता है ! ॥ २ ॥ दृष्टि को

कुछ दिखता ही नहीं है, और न मन को ही कुछ भासता है—जो न भासता है, न दिखता है उसे पहचानें तो कैसे ? ॥३॥ यदि हम निराकार को देखते हैं तो मन गृह्याकार में पड़ता है और यदि हम उसको कल्पना करते हैं तो जान पड़ता है कि अन्धकार भरा है ॥ ४ ॥ कल्पना करने से ब्रह्म काला जान पड़ता है; परन्तु वह काला है न पीला ! वह लाल, नीला, सफेद भी नहीं है—वर्णरहित है ! ॥ ५ ॥ जिसका रंग रूप नहीं है, जो भास से भी अलग है; और इन्द्रियों का विषय नहीं है उसे पहचाने तो कैसे ? ॥ ६ ॥ जो देख नहीं पड़ता उसको पहचान कहां तक करें ? इससे तो व्यर्थ श्रम ही बढ़ता जान पड़ता है ! ॥ ७ ॥ वह निर्गुण या गुणातीत है, वह अदृश्य या अव्यक्त है और वह परमपुरुष अचिन्त्य या चिन्तनातीत है—॥ ८ ॥

अचिन्त्याव्यक्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने ।

समस्तजगदाधारमूर्तये ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

अचिन्त्य को चिन्तना, अव्यक्त का ध्यान-स्मरण और निर्गुण को पहचान किस तरह करें ? ॥ ९ ॥ जो देख ही नहीं पड़ता, जो मन को मिलता ही नहीं उस निर्गुण को कैसे देख सकते हैं ? ॥ १० ॥ असंग का संग करना, निरावलम्ब (निराधार; जैसे आकाश में) वास करना, और निःशब्द का प्रतिपादन करना कैसे हो सकता है ? ॥ ११ ॥ अचिन्त्य को चिन्तना करने से, निर्विकल्प को कल्पना करने से, और अद्वैत का ध्यान करने से, द्वैत ही उठता है ! ॥ १२ ॥ अब यदि ध्यान ही छोड़ दें, अनुसंधान भी न लगावे, तो फिर पीछे से महा संशय में पड़ते हैं ! ॥ १३ ॥ द्वैत के डर से यदि 'वस्तु' का विचार ही न करें तो इससे हृदय को कभी शान्ति नहीं मिल सकती ॥ १४ ॥ अभ्यास करने से अभ्यास हो जाता है, और अभ्यास होने से 'वस्तु' प्राप्त हो जाती है—नित्यानित्य के विचार से समाधान होता है ॥ १५ ॥ 'वस्तु' का चिंतन करने से द्वैत उपजता है और उसे छोड़ देने से कुछ समझ ही नहीं पड़ता, तथा विवेक-विना शून्यत्व के सन्देह में पड़ते हैं ! ॥ १६ ॥

इस लिए विवेक धारण करना चाहिये—ज्ञान के द्वारा प्रपंच से वचना चाहिए और अहंभाव को दूर करना चाहिए । परन्तु वह दूर नहीं होता ! ॥ १७ ॥ परब्रह्म अद्वैत है । उसको कल्पना करते ही द्वैत उठता है—वहां हेतु और दृष्टान्त कुछ चलता ही नहीं ॥ १८ ॥ उसका स्मरण करते समय स्मरण को भूल जाना चाहिए; अथवा विस्मरण हो जाने पर भी उसका स्मरण रहना चाहिए और, उस परब्रह्म को, जान करके 'जानपन' को भूल जाना चाहिए ॥ १९ ॥ उससे न भेटते हुए भेट होती है और मिलने

जाने से विछोह पडता है—ऐसी यह मूकावस्था की अद्भुत बात है ! ॥२०॥ वह साधने से सधता नहीं है, अथवा छोडने से छूटता नहीं है और, निरंतर जो उसका सम्बन्ध लगा है, वह टूट नहीं सकता ॥ २१ ॥ वह सदा बना ही रहता है, अथवा देखने से छिप जाता है और न देखने से जहाँ तहाँ—सर्वत्र—प्रकाश करता रहता है ! ॥ २२ ॥ उसके तई उपाय ही अपाय (विघ्न) है, और अपाय ही उपाय है—यह अनुभव-विना भला क्यों समझ पडने लगा ? ॥ २३ ॥ वह अनसमझे ही समझ पडता है, समझने पर भी कुछ नहीं समझ पडता । वह निवृत्तिपद, वृत्ति छोड़ कर, प्राप्त करना चाहिये ॥ २४ ॥ जब वह ध्यान में नहीं आ सकता तब चिंतन में उसकी चिन्तना कैसे करें ? वह परब्रह्म मन में नहीं समाता ॥ २५ ॥ यदि उसे जल की उपमा दें तो कैसे ? क्योंकि वह निर्मल और निश्चल है । सारा विश्व उसमें डूबा हुआ है; परन्तु वह जगत् से अलिप्त ही बना है ! ॥२६॥ वह प्रकाश—सरीखा भी नहीं है, अथवा अंधकार के समान भी नहीं है, अब उसे किसके समान बतावें ? ॥ २७ ॥ ऐसा वह ब्रह्म निरंजन है, कभी दृश्यमान नहीं होता । तब फिर उसका अनुसंधान किस प्रकार लगावें ? ॥ २८ ॥ पता लगाने से कुछ जान नहीं पडता, और मन सन्देह में पडता है ॥ २९ ॥ ऐसी दशा में मन, घबडा कर, सत्य स्वरूप का अभाव मान लेता है (अर्थात् नास्तिक हो जाता है) और कहता है कि वह है ही नहीं, उसे क्या देखें—कहाँ जायँ ! ॥ ३० ॥ फिर मन में आता है कि यदि वास्तव में उसका अभाव ही है तो फिर वेदशास्त्र क्या मिथ्या है ? परन्तु व्यास, आदि महर्षियों का कथन मिथ्या कैसे हो सकता है ? ॥ ३१ ॥ अतएव, उसे मिथ्या भी नहीं कह सकते । अनेक ज्ञानी महर्षियों ने जो ज्ञान के साधन बतलाये हैं वे मिथ्या कदापि नहीं हो सकते ! ॥ ३२ ॥ स्वयं महादेवजी ने ' गुरुगीता ' में पार्वतीजी को अद्वैत ज्ञान का उपदेश किया है ॥ ३३ ॥ अवधूत (एक ज्ञानी तपस्वी) ने जो ' अवधूत-गीता ' गोरक्ष मुनि को बताई है उसमें भी ज्ञानमार्ग कहा है ॥ ३४ ॥ स्वयं विष्णु ने, राजहंस का रूप धर कर, ब्रह्मा को जो उपदेश किया है वह ' हंसगीता ' के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ३५ ॥ ब्रह्मा ने नारद को चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश किया है । उसीको व्यास ने आगे बहुत विस्तार से बतलाया है ॥ ३६ ॥ वसिष्ठ ऋषि ने ' योगवासिष्ठ ' में श्रीरामचन्द्रजी को ' वसिष्ठसार ' बतलाया है और कृष्ण भगवान् ने अर्जुन से सप्तश्लोकी गीता कही है ॥३७॥ इस प्रकार कदां तक बतलावें—अनेक महर्षियों ने अनेक लोगों को ज्ञानोपदेश किया है । सारांश, अद्वैत-ज्ञान सत्य ही है ॥ ३८ ॥ इस लिए आत्म-ज्ञान को मिथ्या बतलाने से अधोगति मिलती है । परन्तु जा लोग प्रशार-

हित (अज्ञान) है उन्हें यह जान नहीं पड़ता ! ॥ ३६ ॥ जहाँ शेष की प्रज्ञा मन्द पड़ गई और श्रुति भी मौन होगई वह स्वरूपस्थिति, ज्ञान का अभिमान रख कर, बतलाई नहीं जा सकती ॥ ४० ॥ और, जो बात अच्छी तरह अपनी समझ में नहीं आती उसे मिथ्या क्यों कहना चाहिए ? उसे सद्गुरु के मुख से दृढतापूर्वक सीखना चाहिए ॥ ४१ ॥

मिथ्या बात सत्य जान पड़ती है और सत्य बात मिथ्या मान लेते हैं, तथा मन अकस्मात् संदेह-सागर में डूब जाता है ! ॥ ४२ ॥ मन को कल्पना करने की आदत है और मन जिसकी कल्पना करता है सो वह (ब्रह्म) नहीं है, इस कारण, 'मैपन' के ही मार्ग से, संदेह दौड़ता है ॥ ४३ ॥ जो फिर, पहले उस मार्ग (मैपन के मार्ग) ही को छोड़ देना चाहिये । तब परमात्मा से मिलना चाहिये और साधु-संगति से, संदेह को समूल नाश करना चाहिये ॥ ४४ ॥ परन्तु मैपन शस्त्र से दूट नहीं सकता, फोड़ने से दूट नहीं सकता, और कुछ भी करो, वह छोड़ने से दूट नहीं सकता ॥ ४५ ॥ मैपन से 'वस्तु' का बोध नहीं होता, परन्तु भक्ति चली जाती है और वैराग्य की शक्ति गलित हो जाती है ॥ ४६ ॥ मैपन से प्रपंच नहीं बनता, परमार्थ डूब जाता है; तथा यश, कीर्ति और प्रताप सभी उड़ जाते हैं ॥ ४७ ॥ उससे मित्रता दूटती है, प्रीति घटती है और अभिमान आता है ॥ ४८ ॥ मैपन से विकल्प उठता है, कलह मचती है और एकता का प्रेम दूटता है ॥ ४९ ॥ मैपन किसी को भी अच्छा नहीं लगता, फिर वह भगवान् को कैसे अच्छा लगे ? इस लिए जो 'मैपन' को छोड़ कर रहता है वही समाधानी है ॥ ५० ॥ मैपन का त्याग कैसे करना चाहिए, ब्रह्म का अनुभव कैसे करना चाहिए और समाधान (शान्ति) कैसे, तथा किस प्रकार, प्राप्त करना चाहिए ? ॥ ५१ ॥ 'मैपन' को विवेक से, जान कर, छोड़ना चाहिए; ब्रह्म होकर, ब्रह्म का, अनुभव करना चाहिए; और निःसंग होकर समाधान प्राप्त करना चाहिए ॥ ५२ ॥ वही समाधानी धन्य है जो मैपन को छोड़ कर साधन करना जानता है ॥ ५३ ॥ इस बात की कल्पना करने से और भी कल्पना ही उठती है कि " मैं तो स्वयं ब्रह्म ही होगया; अब साधन कौन करेगा " ॥ ५४ ॥ ब्रह्म के विषय में कल्पना नहीं चलती और वही, वहाँ, खड़ी रहता है—उसे जो खोज कर देखता है वही साधु है ॥ ५५ ॥ निर्विकल्प को कल्पना करना चाहिए; परन्तु स्वयं कल्पना न बनना चाहिए—(अर्थात् अपने को यह कल्पना न रहनी चाहिए कि जिसकी कल्पना करते हैं उससे अलग हम कोई वस्तु हैं) इस प्रकार 'मैपन' का त्याग करना चाहिए ॥ ५६ ॥ ये ब्रह्मविद्या के लटकें हैं ! कुछ न होकर भी रहना चाहिए; जो दत्त और समाधानी है वही यह ज्ञान

जानता है ! ॥ ५७ ॥ जब यह समझ आ जाती है कि, जिसकी कल्पना करते हैं, 'हम' स्वयं 'वही' हैं, तब कल्पना के नाम से शून्य रह जाता है ॥ ५८ ॥ अपने पद से चलित न होकर साधन और उपाय करना चाहिए तभी अलिप्तता का मार्ग मिलता है ॥ ५९ ॥ जिस प्रकार राजा, राजगद्दी पर ही, बैठा रहता है और सब सत्ता (हुकूमत) आप ही आप चला करती है, इसी प्रकार, वास्तव में, साध्य ही बन कर साधन करना चाहिए ॥ ६० ॥ साधन देह के मत्थे आ जाता है—और स्वयं 'हम' देह सर्वथा नहीं हैं— इस प्रकार, करके भी सहज ही में अकर्ता हो सकते हैं ॥ ६१ ॥ साधन तभी छोड़ा जा सकता है जब यह कल्पना की जाय कि "हम देह हैं"—(देहाभिमान के बिना साधन का त्याग नहीं किया जा सकता)—साधन के त्याग से देहाभिमान का दोष लगता है । जब 'हम' स्वभाव ही से देहातीत हैं तब फिर देह कहाँ से आयी ? ॥ ६२ ॥ न उसे देह कह सकते हैं—और न उसे साधन कह सकते हैं—'हम' स्वयं निस्सन्देह हैं—देह के रहते हुए भी यही विदेहस्थिति है । ॥ ६३ ॥

साधन के बिना 'ब्रह्म' बनने से देह-ममता नहीं छूटती और ब्रह्मज्ञान के मिस से आलस बढ़ता है ॥ ६४ ॥ परमार्थ के मिस से स्वार्थ जगता है; ध्यान के बहाने निद्रा आती है, और मुक्ति के मिस से अनर्गलता (स्वच्छन्दता) का पाप होता है ॥ ६५ ॥ निरूपण के मिस से निन्दा होती है; संवाद के मिस से विवाद बढ़ता है, और उपाधि के बहाने शरीर में अभिमान आ जाता है ॥ ६६ ॥ तथा ब्रह्मज्ञान के मिस से आलस आता है—और मनुष्य कहता है कि साधन का पागलपन क्या करना है ? ॥ ६७ ॥

किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम् ।

आत्मना पूरित सर्वं महाकल्पांबुना यथा ॥ १ ॥

इस ब्रह्म की पूर्णस्थिति को, आलस्य के कारण, अपने ऊपर लगा लेता है, और स्वयं अपने हाथ से अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारता है ! ॥ ६८ ॥ तथा, उपाय के बदले, अपाय कर बैठता है, अपने सब्बे हित से वञ्चित रहता है और मुक्तपन के बहाने से और भी बद्ध हो जाता है ! ॥ ६९ ॥ ऐसे लोग समझते हैं कि साधन करते ही हमारा सिद्धपन चला जायगा! इस कारण उन्हें साधन करना अच्छा ही नहीं लगता ! ॥ ७० ॥ एक तो उन्हें यही लाज लगती है कि हमें लोग 'साधक' कहते हैं; परन्तु उन्हें यह नहीं मालूम है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि देवता भी साधन करते हैं ॥ ७१ ॥

अस्तु । अब ये अविद्या की बातें रहने दो । विद्या अभ्यास-सारिणी है—

(अर्थात् वह उतनी ही प्राप्त होगी जितना अभ्यास किया जायगा ।) अभ्यास से आद्य, पूर्ण ब्रह्म मिलता है ॥ ७२ ॥ इस पर श्रोता प्रश्न करता है कि कौनसा अभ्यास करना चाहिए और परमार्थ का साधन कौन है ? ॥ ७३ ॥ इसका उत्तर अगले समास में दिया है और परमार्थ का साधन भी बतलाया है ॥ ७४ ॥

आठवाँ समास—श्रवण-महिमा ।

॥ श्रीराम ॥

परमार्थ का मुख्य समाधान-कारक साधन श्रवण है ॥ १ ॥ श्रवण से भक्ति मिलती है; विरक्ति उत्पन्न होती है और विषयों को आसक्ति दूरती है ॥ २ ॥ श्रवण से चित्तशुद्धि होती है, बुद्धि दृढ होती है और अभिमान की उपाधि दूरती है ॥ ३ ॥ श्रवण से निश्चय आता है, ममता दूरती है और अन्तःकरण में समाधान होता है ॥ ४ ॥ श्रवण से अशंका मिटती है, संशय दूरता है और सद्गुण आते हैं ॥ ५ ॥ श्रवण से मनोनिग्रह होता है, समाधान मिलता है और देहबुद्धि का बन्धन दूरता है ॥ ६ ॥ श्रवण से मैपन दूर होता है; सन्देह नहीं आता और अनेक प्रकार के विघ्न भस्म होते हैं ॥ ७ ॥ श्रवण से कार्यसिद्धि होती है; समाधि लगती है और पूर्ण परम-शान्ति प्राप्त होती है ॥ ८ ॥ सन्तसमागम करके अध्यात्म-श्रवण करने से वृत्ति तल्लीन हो जाती है ॥ ९ ॥ श्रवण से प्रबोध बढ़ता है; प्रज्ञा प्रबल होती है और विषयों के पाश टूट जाते हैं ॥ १० ॥ श्रवण से विवेक आता है; ज्ञान प्रबल होता है और उससे साधक को 'वस्तु' का ज्ञान होता है ॥ ११ ॥ श्रवण से सद्बुद्धि आती है, विवेक जगता है और मन भगवान् में लगता है ॥ १२ ॥ श्रवण से कुसंग छूटता है, काम-वासनाएँ क्षीण होती हैं और भव-भय का नाश होता है ॥ १३ ॥ श्रवण से मोह का नाश होता है, स्फूर्ति का प्रकाश होता है और निश्चयात्मक सद्बुद्धि का भास होता है ॥ १४ ॥ श्रवण से उत्तम गति होती है, शान्ति मिलती है और निवृत्ति तथा अचलपद प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ श्रवण के समान और कोई उत्तम साधन नहीं है; क्योंकि उससे सब कुछ हो सकता है । भवनदी से पार होने के लिए श्रवण ही नौका है ॥ १६ ॥

श्रवण, भजन का प्रारम्भ है; इसीसे सब बातें आरम्भ, और पूर्ण, होती हैं ॥ १७ ॥ यह तो सब को प्रत्यक्ष मालूम ही है कि प्रवृत्ति-मार्ग ही अथवा

निवृत्ति मार्ग हो-श्रवण के बिना किसीकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १८ ॥ यह भी सब लोग जानते हैं कि सुने बिना मालूम नहीं होता, इस कारण पहले श्रवण ही मुख्य प्रयत्न है ॥ १९ ॥ जो बात कभी सुनी ही नहीं है उसका निश्चय कैसे हो सकता है? अतएव श्रवण (सुनने) के समान और कोई साधन नहीं है-इसके बिना काम नहीं चल सकता ॥ २०-२१ ॥ जब सूर्य अदृश्य हो जाता है तब सर्वत्र अंधकार छा जाता है। श्रवण के बिना भी यही हाल होता है ॥ २२ ॥ नवधा भक्ति, चतुर्विधा मुक्ति और सहज-स्थिति इत्यादि, किसीके विषय में भी, श्रवण के बिना, कुछ ज्ञान नहीं होता ॥ २३ ॥ विधियुक्त पट्कर्म का आचरण, पुरश्चरण और उपासना कैसे होती है, सो कुछ भी, श्रवण के बिना, नहीं मालूम होता ॥ २४ ॥ नाना प्रकार के व्रत, दान, तप, साधन, योग, तीर्थाटन श्रवण के बिना नहीं जाने जाते ॥ २५ ॥ अनेक प्रकार की विद्या, पिंडज्ञान, अनेक तत्त्वों की खोज, नाना कला और ब्रह्मज्ञान श्रवण बिना नहीं मालूम होते ॥ २६ ॥ जिस प्रकार अनन्त वनस्पतियां एक ही जल से बढ़ती हैं, और एक ही रस से सब जीवों की उत्पत्ति है, तथा जैसे सम्पूर्ण जीव, एक ही पृथ्वी, एक ही सूर्य और एक ही वायु से सथे हैं; और जिस प्रकार सब जीवों के शास-पास आकाश एक ही है तथा, जैसे सम्पूर्ण जीव एक ही परब्रह्म में बसते हैं, उसी प्रकार प्राणिमात्र के लिए श्रवण ही एक अच्छा साधन है ॥ २७-३० ॥ भूमंडल में असंख्यों देश, भाषा और मत हैं उन सब के लिए, श्रवण को छोड़ कर, कोई दूसरा साधन ही नहीं है ॥ ३१ ॥ श्रवण से उपरति होती है, लोग बद्ध से मुमुक्षु बनते हैं और मुमुक्षु से साधक बन कर बहुत नियम से साधन करते हैं ॥ ३२ ॥ और फिर, इसके बाद, जहाँ श्रवण से बोध प्राप्त हुआ, कि बस, वे साधक ही फिर सिद्ध हो जाते हैं ॥ ३३ ॥ श्रवण का ऐसा तात्कालिक गुण है कि, महा दुष्ट और चांडाल भी पुण्य-शील हो जाते हैं ॥ ३४ ॥ जो दुर्बुद्धि और दुरात्मा है, वह भी, श्रवण के योग से, पुण्यात्मा हो जाता है-श्रवण की महिमा अगाध है, वर्णन नहीं की जा सकती ॥ ३५ ॥ कहते हैं कि, तीर्थों और व्रतों का फल आगे मिलेगा, पर श्रवण का यह हाल नहीं है-उसका फल तत्काल मिलता है ॥ ३६ ॥ जैसे अनेक रोग और व्याधियां ओषधि से तत्काल नाश हो जाती हैं उसी प्रकार श्रवण के द्वारा शीघ्र ही अन्त करण शुद्ध होता है। यह बात अनुभवी जानते हैं ॥ ३७ ॥ जब श्रवण किये हुए विषय का अर्थ मालूम होता है तब आप ही आप भाग्यश्री प्रगट होती है और मुख्य परमात्मा स्वानुभव में आ जाता है ॥ ३८ ॥

यह मनन का फल है, क्योंकि जब श्रवण करते समय अर्थ समझने में

साधना रखी जाती है तब पीछे से मनन के द्वारा निदिध्यास लगता है और उसके बाद परम शान्ति प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥ जो कुछ बतलाया जाता है उसका जब अर्थ भी मालूम होता है तभी समाधान मिलता है, और तभी मन का संशय मिटता है ॥ ४० ॥ यह संदेह ही जन्म का मूल है; परन्तु श्रवण से वह समूल नष्ट हो जाता है और फिर सहज ही सत्य समाधान (परमशान्ति) मिलता है ॥ ४१ ॥ जो श्रवण और मनन नहीं करता उसे समाधान कैसे प्राप्त हो सकता है? उसके पैरों में मुक्त-पन के अभिमान की वेडियाँ पड़ी रहती हैं ॥ ४२ ॥ मुमुक्षु, साधक अथवा सिद्ध, कोई भी हो, वह बिना श्रवण के अन्यवस्थित ही है; क्योंकि श्रवण-मनन से चित्तवृत्ति शुद्ध होती है ॥ ४३ ॥ जहाँ नित्य, नियम के साथ, श्रवण का साधन नहीं हो सकता, वहाँ साधकों को, एक क्षणभर भी, न रहना चाहिए ॥ ४४ ॥ जो श्रवण का साधन नहीं करता वह परमार्थ कैसे पा सकता है? श्रवण के बिना पिछला किया धरा सब व्यर्थ हो जाता है ॥ ४५ ॥ इस लिए श्रवण करना चाहिए, इस साधन में मन लगाना चाहिए और नित्य नियमों का पालन करके संसार-सागर से पार होना चाहिए ॥ ४६ ॥ जिस प्रकार एक ही अन्न-जल बार बार (भूक लगने पर) ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार एक ही श्रवण-मनन भी बार बार करना चाहिए, इससे संदेह मिटता है ॥ ४७ ॥ जो मनुष्य, आलस्य के कारण, श्रवण का अन्यास करता है उसके स्वहित की अवश्य हानि होती है ॥ ४८ ॥ आलस्य की रक्षा करना मानो परमार्थ को डुबाना है, इस कारण श्रवण करना ही चाहिए ॥ ४९ ॥ अब अगले समास में यह बतलावेंगे कि श्रवण का नियम क्या है और कैसे ग्रन्थों का श्रवण करना चाहिए ॥ ५० ॥

नववाँ समास—श्रवण का निश्चय ।

॥ श्रीराम ॥

अब यह बतलाते हैं कि श्रवण किस तरह करना चाहिए । श्रोता लोगों को एकाग्रचित्त हो जाना चाहिए ॥ १ ॥ कोई वक्तृता ऐसी होती है कि जिसके सुनने से मिली-मिलाई शान्ति अकस्मात् भंग हो जाती है और निश्चय डिग जाता है ॥ २ ॥ उस मायिक और निश्चय-शून्य वक्तृता को अवश्य ही त्यागना चाहिए ॥ ३ ॥ यदि एक ग्रन्थ के सुनने से कुछ

निश्चय प्राप्त हुआ और दूसरे ग्रन्थ ने उस निश्चय को उड़ा दिया, तो उससे जन्म भर संशय ही बढ़ता जाता है ॥ ४ ॥ इस लिए, ऐसे ग्रन्थ का श्रवण करना चाहिए कि, जिससे संशय मिट जाय, शंका निवृत्त हो जाय और, जिसमें अद्वैत तथा परमार्थ का निरूपण किया गया हो ॥ ५ ॥ मुमुक्षु पुरुष परमार्थ-मार्ग का ग्रहण करता है और अद्वैत-ग्रन्थ से प्रेम रखता है ॥ ६ ॥ जिसने संसार को आसक्ति छोड़ दी है, और मोक्ष को साधना करता है, उसे अद्वैत-शास्त्र का विवेक करना चाहिए ॥ ७ ॥ अद्वैत-प्रिय श्रोता को द्वैत-निरूपण सुनाने से उसका चित्त चूर्ध्व हो उठता है ॥ ८ ॥ यदि मन के अनुसार निरूपण सुनने को मिल जाता है तो बड़ा आनन्द होता है, अन्यथा जो ऊत्र जाता है ॥ ९ ॥ जिसको जो उपासना है, उसीके अनुसार निरूपण में, उसको 'प्रीति' होती है उसके प्रतिकूल, अन्य निरूपण, उसे प्रशस्त नहीं जान पड़ता ॥ १० ॥ 'प्रीति' का लक्षण यह है कि, जैसे पानी स्वयं ही अपने मार्ग से (ढालू जगह की ओर) चल देता है उसी प्रकार प्रीति भी, हृदय से, अनायास ही (अपने प्रिय विषय की ओर) चल देती है ॥ ११ ॥ आत्मज्ञानी पुरुष को वही ग्रन्थ पसन्द आता है जिसमें सारासार का विचार हो। अन्य बात उसे अच्छी ही नहीं लगती ॥ १२ ॥ जिसकी कुल-देवता भगवती है उसके लिए सप्तशती (दुर्गा की पोथी) चाहिए। अन्य देवताओं की स्तुति उसके लिए सर्वथा निरूपयोगी है ॥ १३ ॥ अनन्तव्रत करनेवाले (सकाम पुरुष) के लिए भगवद्गीता (निष्काम-निरूपण) की आवश्यकता नहीं होती, और साधु-संन्यासियों को फलाशा का निरूपण नहीं भाता ! ॥ १४ ॥ वीरकंकण यदि कोई नाक में पहने तो कैसे अच्छा लगेगा ? जो बात जहाँ के लिए है वह वहीं अच्छी लगती है—अन्य स्थान के लिए वह विलकुल निरूपयोगी है ॥ १५ ॥ जिस ग्रन्थ में, जिस तीर्थ की, महिमा गाई गई है, वह ग्रन्थ, उसी तीर्थ में सुनाने से उसका महत्त्व है। अन्य स्थल में यदि वह पढा जाय तो कुछ विलक्षण-सा जान पड़ता है ॥ १६ ॥ जैसे यदि मल्लार स्थल की महिमा द्वारका में, द्वारका का माहात्म्य काशी में और काशी की महिमा वैकटेश स्थल में बतलाई जाय तो अच्छी न लगेगी ॥ १७ ॥ ऐसे अनेक उदाहरण बतलाये जा सकते हैं—वे सब जहाँ के वही अच्छे लगते हैं। ज्ञानियों को अद्वैत-ग्रन्थ ही चाहिए ॥ १८ ॥ योगी के सामने भूत-संचार की बात, जौहरो के सामने पत्थर और पंडित के सामने डफगान अच्छा नहीं लगता ॥ १९ ॥ वेदज्ञ के सामने तंत्र-मंत्र, निस्पृह (संन्यासी) के सामने फलश्रुति और ज्ञानी के सामने कोकशास्त्र की पोथी क्या शोभा देगी ? ॥ २० ॥ ब्रह्मचारी के सामने नाच,

अध्यात्म-निरूपण में रासक्रीडा और राजहंस के सामने जैसे पानी रखा जाय-॥ २१ ॥ वैसे ही अन्तर्निष्ठ (आत्मज्ञानी) के सामने यदि शृंगारिक पुस्तक रखी जाय तो उससे उसका समाधान कैसे होगा ? ॥ २२ ॥ राजा को गरीब की आशा रखना, अमृत को मट्टा बतलाना और संन्यासी को " उच्छिष्ट चांडाली " के मंत्र का व्रत करना कैसे शोभा देगा ? ॥ २३ ॥ कर्मनिष्ठ को वशीकरण का मंत्र और पंचाक्षरी (भाड़ने फूँकनेवालों) को कथा-निरूपण यदि सुनाया जायगा तो इससे अवश्य उनका अन्तःकरण भंग होगा ॥ २४ ॥ वैसे ही, परमार्थी पुरुष के सामने यदि ऐसा ग्रन्थ पढा जायगा, जिसमें आत्मज्ञान नहीं है, तो उसे समाधान न होगा ॥ २५ ॥ अब ये बातें बस करो । जिसे स्वहित करना हो वह सदा अद्वैत-ग्रन्थों का विचार करे ॥ २६ ॥ आत्मज्ञानी को, स्थिरचित्त होकर, अद्वैत-ग्रन्थ देखना चाहिए । और एकान्तस्थल में शुद्ध समाधान प्राप्त करना चाहिए ॥ २७ ॥ सब प्रकार से विचार करने पर, यही निश्चित होता है कि, अद्वैत-ग्रन्थ के समान अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है । वास्तव में परमार्थी पुरुष के लिए तो वह नौका ही है ॥ २८ ॥ दूसरी जो प्रापञ्चिक, हास्य-विनोदी और नवरसिक पुस्तकें हैं वे परमार्थी पुरुष के लिए हितकारक नहीं हैं ॥ २९ ॥ वास्तव में ग्रन्थ वही है कि जिसके द्वारा परमार्थ की वृद्धि हो, विषयों के विषय में पश्चात्ताप हो और भक्ति तथा साधन अच्छा लगे ॥ ३० ॥ जिसे सुनते ही गर्वगलित हो जाय, भ्रान्ति मिट जाय और मन भगवान् में लग जाय, वही सच्चा ग्रन्थ है ॥ ३१ ॥ ग्रन्थ वही है जिससे उपरति हो, अवगुण दूर हों और अधोगति नाश हो ॥ ३२ ॥ सच्चा ग्रन्थ उसीको समझना चाहिए कि, जिसके सुनने से धैर्य आवे, परोपकार हो और विषय-वासना नष्ट हो ॥ ३३ ॥ जिसके द्वारा ज्ञान, मोक्ष और पवित्रता प्राप्त हो, वही उत्तम ग्रन्थ है ॥ ३४ ॥ ऐसे अनेक ग्रन्थ होंगे, जिनमें नाना प्रकार के विधान और फलश्रुतियाँ कही हैं । परन्तु जिससे विरक्ति और भक्ति न उपजे, वह ग्रन्थ ही नहीं है ॥ ३५ ॥ जिस ग्रन्थ की फलश्रुति में मोक्ष का समावेश न हो वह वास्तव में ग्रन्थ ही नहीं है—वह तो दुराशा की पोथी है—उसके सुनने से और दुराशा ही बढ़ेगी ॥ ३६ ॥ ऐसी पोथी के सुनने से मोक्ष उत्पन्न होता है, विवेक दूर भागता है, दुराशा के भूत संचार करते हैं और अधोगति मिलती है ॥ ३७ ॥ फल-श्रुति सुन कर जो कहता है कि, अगले जन्म में फल पाऊंगा, उसको जन्म-रूपी अधोगति प्राप्त ही होती है ॥ ३८ ॥ अनेक पक्षों, ' फल ' खा कर ही, प्रति मान लेते हैं; परन्तु उस चकोर के चित्त में ' अमृत ' ही बसता है ॥ ३९ ॥ इसी प्रकार (अन्य पक्षियों की तरह) संसारी मनुष्य ससार (फल)

ही की इच्छा करते हैं, पर जो भगवान् के अंश हैं, वे (चकोर की तरह) भगवान् (अमृत) ही की इच्छा रखते हैं ॥ ४० ॥

अस्तु । ज्ञानी को ज्ञान, भजक को भजन और साधक को, इच्छानुसार, साधन चाहिए ॥ ४१ ॥ परमार्थी को परमार्थ, स्वार्थी को स्वार्थ और कृपण को धन चाहिए ॥ ४२ ॥ योगियों को योग, भोगियों को भोग, और रोगियों को रोग हरनेवाली मात्रा चाहिए ॥ ४३ ॥ कवियों को काव्यप्रबंध, तार्किकों को तर्कवाद और भाविकों को संवाद अच्छा लगता है ॥ ४४ ॥ पंडितों को पांडित्य, विद्वानों को अध्ययन और कलावंतों को नाना कलाएं चाहिए ॥ ४५ ॥ हरिदास को कीर्तन, शुचिमानों को संध्यास्नान और कर्मनिष्ठों को विधिविधान अच्छा लगता है ॥ ४६ ॥ प्रेमल को करुणा, विचक्षण को दक्षता और चतुर मनुष्य को चातुर्य से प्रीति होती है ॥ ४७ ॥ भक्त मूर्ति-ध्यान देखता है; संगीत और राग जाननेवाला ताल, तान-मान और मूर्च्छना देखता है ॥ ४८ ॥ योगाभ्यासी पिण्डज्ञान, तत्त्वज्ञ तत्त्वज्ञान और नाटिका-ज्ञानी मात्राज्ञान देखता रहता है ॥ ४९ ॥ कामी पुरुष कोकशास्त्र, चेटको चेटकमन्त्र और यान्त्रिक नाना प्रकार के यन्त्र आदरपूर्वक देखता है ॥ ५० ॥ हँसी करनेवाले को विनोद, उन्मत्त को नाना प्रकार के ढोंग और तामसी को मस्तपन अच्छा लगता है ॥ ५१ ॥ मूर्ख ऊपरी बातों को पसन्द करता है, निन्दक पुरुष बुरा अवसर ताकता है और पापी आदमी पापबुद्धि को पकड़ता है ॥ ५२ ॥ किसीको रसाल, किसीको गाथा (व्यर्थ विस्तार) और किसीको केवल भोलीभाली भक्ति ही चाहिए ॥ ५३ ॥ आगमी (तंत्र-शास्त्री) आगम को, शूर संग्राम को और धार्मिक नाना धर्मों को देखता है ॥ ५४ ॥ मुक्त पुरुष मोक्ष के आनन्द का अनुभव करता है, सर्वज्ञ मनुष्य सब कला देखता है और ज्योतिषी, पिंगला (पत्नीविशेष) को देख कर, भविष्य वर्णन करना चाहता है ॥ ५५ ॥ इस प्रकार कहां तक गिनावें-लोग अपने अपने मन के अनुसार, सदा अनेक ग्रन्थ पढ़ा और सुना करते हैं ॥ ५६ ॥ परन्तु जिससे परलोक न सधे उसे श्रवण नहीं कहना चाहिए- अर्थात् जिसमें आत्मज्ञान नहीं है उसे 'दिलबहलाव' कहना चाहिए ! ॥ ५७ ॥ मिठाई के बिना मिठास, नाक के बिना सौन्दर्य और ज्ञान के बिना निरूपण हो ही नहीं सकता ॥ ५८ ॥ अब बस करो, इतना बहुत हुआ । परमार्थ-ग्रन्थ सुनना चाहिए । परमार्थ-ग्रन्थ बिना और सब व्यर्थ गाया है ! ॥ ५९ ॥ इस लिए, जिसमें नित्य-अनित्य का विचार या सार-असार का विवेक कहा गया है उसी ग्रन्थ के श्रवण से मुक्ति मिलती है ॥ ६० ॥

दसवाँ समास—जीवन्मुक्त का देहान्त ।

॥ श्रीराम ॥

माया की ऐसी कुछ लीला है कि मिथ्या सत्य हो जाता है और सत्य मिथ्या जान पड़ता है ! ॥ १ ॥ यद्यपि सत्य का निश्चय होने के लिए अनेक ग्रन्थों का निरूपण किया गया है; तथापि असत्य की प्रबलता नहीं जाती ! ॥ २ ॥ 'असत्य,' मनुष्य के हृदय में छा गया है, और यद्यपि किसीने उसका उपदेश नहीं किया; तथापि वह दृढ भी होगया है; परन्तु जो 'सत्य' है उसका मनुष्य को पता ही नहीं है ! ॥ ३ ॥ वेद-शास्त्र-पुराण सत्य का निश्चय बतलाते हैं; पर तो भी सत्य का स्वरूप मन में नहीं आता ! ॥ ४ ॥ देखिये तो, प्रत्यक्ष, आखों के सामने, देखते ही देखते, यह हाल हो रहा है, कि 'सत्य' शाश्वत होकर भी अच्छादित हो रहा है और 'मिथ्या' नश्वर होने पर भी सत्य हो रहा है ! ॥ ५ ॥ परन्तु, यह माया की लीला सन्तसमागम करके अध्यात्म-निरूपण का विचार करने पर, तत्क्षण मालूम हो जाती है ॥ ६ ॥ अस्तु । पीछे यह बतलाया गया कि—'मैं' का पता लगाने से परमार्थ की पहचान मालूम होती है ॥ ७ ॥ परमार्थ-ज्ञान से समाधान मिलता है, चित्त चैतन्य में लीन होता है और यह मालूम हो जाता है, कि 'मैं' वही मुख्य 'वस्तु' हूँ ॥ ८ ॥ इतना मालूम हो जाने पर, ज्ञानी शरीर को प्रारब्ध के भरोसे छोड़ देता है; बोध से उसका संशय मिट जाता है और वह जान लेता है कि यह कलेवर मिथ्या है—सो चाहे अभी नाश हो जाय अथवा बना रहे ॥ ९ ॥ देह का मिथ्यापन जान लेने के कारण साधुओं की देह पवित्र होती है; अतएव, जहाँ उसका अन्त हो वही पुण्य-भूमि है ॥ १० ॥ साधुओं के पधारने से तीर्थ भी पवित्र होते हैं. साधुओं से ही उनकी महिमा बढ़ती है । जिन तीर्थों में साधु नहीं रहते उन्हें पुण्य-क्षेत्र नहीं कह सकते ॥ ११ ॥ यह विचार, कि किसी पुण्यनदी के तीर शरीरपात होना अच्छा है, अज्ञानियों के लिए है । साधुओं के लिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि वे नित्यमुक्त हैं ॥ १२ ॥ लोग इस सन्देह में रहते हैं कि उत्तरायण में मरना उत्तम है और दक्षिणायन में अधम है पर साधु लोग इस सन्देह में नहीं पड़ते ॥ १३ ॥ शुक पक्ष में, उत्तरायण में घर में, दीपक रहते समय, दिन में, और अन्त में स्मरण रहते हुए, यदि देहान्त हो तो सद्गति मिलती है * ॥ १४ ॥ परन्तु योगी को इन बातों का

*अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

य प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय ॥ ५ ॥

अगला पृष्ठ देखो

कोई जरूरत नहीं । क्योंकि वह पुण्यात्मा तो जीते ही जी मुक्त होकर पाप-पुण्य को तिलांजलि दे देता है ॥ १५ ॥

जिसका देहान्त अच्छी दशा में होता है और जो सुखपूर्वक देह त्यागता है उसके लिए अज्ञानी लोग कहते हैं कि “यह भगवान् के पास पहुँचेगा” ॥१६॥ परन्तु उनका यह मत विपरीत है । यह कल्पना करके, कि अन्त में भगवान् मिलता है, वे स्वयं अपनी हानि कर रहे हैं ॥ १७ ॥ जीवितावस्था में जब परमात्मा की भक्ति नहीं की और व्यर्थ ही आयु गवाँ दी, तब फिर अन्त में भगवान् कैसे मिलेगा? अनाज का बीज तो बोया ही नहीं-जमेगा कैसे? ॥ १८ ॥ जब जन्मभर ईश्वर-भजन किया जाता है तभी मुक्ति मिलती है । जब व्यापार किया जाता है तभी नफा मिलता है ॥ १९ ॥ यह कहावत तो सभी को मालूम होगी कि “दिये बिना मिलता नहीं और बोये बिना उगता नहीं” ! ॥२०॥ जैसे हरामखोर आदमी महीने भर नौकरी का काम न करके मालिक से तनखाह चाहता हो उसी प्रकार अभक्त मनुष्य, जन्म भर ईश्वर की भक्ति न करके ही, अन्त में मोक्ष चाहता है ! ॥ २१ ॥ यदि जीते जी भगवान् की भक्ति नहीं की है तो मरे पर मुक्ति कैसे हो सकती है? अस्तु, जो जैसा करता है वह वैसा पाता है ॥ २२ ॥ एवं, जन्म भर भगवान् का भजन न करने से अन्त में मुक्ति नहीं हो सकती । मृत्यु चाहे जितनी अच्छी आवे; परन्तु भक्ति के बिना अवश्य अधोगति होती है ॥२३॥ इस लिए, साधु जनों को धन्य है, जो जीते जी ही अपना जीवन सार्थक कर लेते हैं ॥ २४ ॥ ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानियों का चाहे वन में शरीरपात हो; चाहे श्मशान में, वे धन्य ही हैं ॥ २५ ॥ यदि साधु की देह पडी रही, अथवा उसे कुत्तों आदि ने खा लिया, तो यह, लोगों को, मन्दबुद्धि के कारण, अच्छा नहीं जान पड़ता ॥ २६ ॥ ये लोग प्रायः इसी लिए दुखी होते हैं, कि अन्त अच्छा नहीं हुआ । पर क्या करें विचारे मर्म ही नहीं जानते ! ॥ २७ ॥ जो वास्तव में जन्मा ही नहीं उसे मृत्यु कहाँ से आवेगी? उसने तो विवेकबल से स्वयं जन्ममृत्यु ही को घोट डाला है ! ॥ २८ ॥ स्वरूपानुसन्धान के कारण उसके तर्क माया तो रहती ही नहीं । ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आदि भी उसको गति नहीं जान सकते ॥ २९ ॥ वह जीते जी ही मरा हुआ है और मृत्यु को भी मार कर जी रहा है ! विवेकबल से उसे जन्म-मृत्यु की याद भी नहीं ॥ ३० ॥ वह, किसी मनुष्य की तरह,

दिष्टे पृष्ठ से आगे ।

आग्नेज्योतिरह शुक्र यमासा उत्तरायणम् ।

नत्र प्रयाना गच्छति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना ॥२८॥

गीता, अ० ८ ।

देख पड़ता है, पर है वह कुछ और ही ! वह लोगों में बर्ताव करता हुआ सा भासता है; पर है वह वास्तव में उनसे अलिप्त ! यहाँ तक कि उस शुद्ध स्वरूप में दृश्य पदार्थ का स्पर्श भी नहीं है ॥ ३१ ॥ अस्तु । ऐसे साधुओं की सेवा करने से सभी लोग मुक्त हो सकते हैं ॥ ३२ ॥

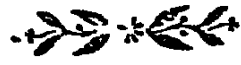
सद्गुरु के कृपापात्र साधक को चाहिए कि, एक बार किया हुआ विवेक ही, फिर से बारम्बार करे । ऐसा करने से अध्यात्म-निरूपण में उसकी बुद्धि प्रविष्ट होती है ॥ ३३ ॥ अब, अन्त में साधकों को यही बतलाना है कि, शुद्ध अद्वैत निरूपण से तुम्हें भी वैसा ही समाधान होगा जैसा कि किसी साधु पुरुष को होता है ॥ ३४ ॥ जो सन्तों के शरण में जाता है वह सन्त ही हो जाता है । और, अपनी कृपा से, वह अन्य लोगों को भी तारता है ॥ ३५ ॥ सन्तों की महिमा बड़ी विचित्र है । सन्तसंग से ज्ञान प्राप्त होता है । सत्संग के समान दूसरा कोई साधन नहीं है ॥ ३६ ॥ गुरु की सेवा से, और अध्यात्म-निरूपण के मनन से मनुष्य का आचरण अवश्य ही शुद्ध होता है, और अन्त में मोक्ष मिलता है ॥ ३७ ॥

सद्गुरु की सेवा ही परमार्थ का जन्मस्थान है, सद्गुरु सेवा से आप ही आप समाधान मिलता है ॥ ३८ ॥ यह शरीर एक दिन नाश होनेवाला है; अतएव, तब तक, जन्म सुफल कर लेना चाहिए । भजनभाव से सद्गुरु का चित्त प्रसन्न करना चाहिए ॥ ३९ ॥ ऐसा एक दाता सद्गुरु ही है, जो शरणागतों की चिंता ऐसे रखता है, जैसे माता, नाना यत्न करके, बालक का पालन-पोषण करती है ॥ ४० ॥ अतएव, जिससे सद्गुरु की सेवा बन पड़ती है वही धन्य है । सद्गुरु की सेवा को छोड़ कर परम-शान्ति प्राप्त करने का अन्य उपाय नहीं है ॥ ४१-४२ ॥ यह बात जिसे मान्य न हो वह 'गुरुगीता' देखे ॥ ४३ ॥ उसमें महादेवजी ने पार्वती से सद्गुरु की महिमा अच्छी तरह बतलाई है । अतएव, सद्गुरुचरणों की सेवा, सद्भाव से, करना चाहिए ॥ ४४ ॥ जो साधक इस ग्रन्थ में कहे हुए विवेक का मनन करता है उसे सत्य ज्ञान का निश्चय होता है ॥ ४५ ॥ जिस ग्रन्थ में अद्वैत-निरूपण किया गया है उसे 'प्राकृत' कह कर उसकी उपेक्षा न करना चाहिए । अर्थ की दृष्टि से, उसे सत्य वेदान्त ही समझना चाहिए ॥ ४६ ॥ प्राकृत के द्वारा वेदांत मालूम होता है, सम्पूर्ण शास्त्रों की बातें उसमें मिल सकती हैं । उनसे चित्त परम शान्त होता है ॥ ४७ ॥ जिसमें ज्ञान के उपाय बताये हैं, उसे 'प्राकृत' कहना ही न चाहिए; पर मूर्खों को यह कैसे मालूम हो? "बन्दर क्या जाने अदरख का स्वाद ! " ॥ ४८ ॥ अस्तु । जितना जिसका अधिकार है उतना ही वह लेता है । परन्तु, (जैसे) यद्यपि मोती सीप में होता है, तथापि उसे कोई नृद्रवस्तु नहीं समझ सकता, (वैसे ही 'प्राकृत'

भाषा में कही गई वेदान्त की बातें भी किसीको चूद्र नहीं मानना चाहिए!)
॥ ४६ ॥ जिसे श्रुति “ नेति, नेति ” कहती है, उसके विषय में भाषा का महत्त्व चल नहीं सकता! परब्रह्म वास्तव में आदि-अन्त-रहित और अनिर्वाच्य है ॥ ५० ॥



आठवाँ दशक ।



पहला समास-परमात्मा का निश्चय ।

॥ श्रीराम ॥

अब, श्रोता लोगों को, सावधान होकर शुद्ध ज्ञान का निरूपण सुनना चाहिए ॥ १ ॥ नाना शास्त्रों को थथोलने के लिए सारी उम्र भी बस नहीं है, और यदि वे देखे भी जायँ, तो भी अंतःकरण में संशय की व्यथा बढ़ती ही जाती है ! ॥ २ ॥ संसार में अनेक बड़े बड़े तीर्थ, कोई सुगम, कोई दुर्गम, कोई दुष्कर; परन्तु पुण्यदायक है ॥ ३ ॥ ऐसा कौन है जो ये सभी तीर्थ कर सकता हो ? यदि इतने सब तीर्थ किये जायँ तो सारी आयु भी बस नहीं है ॥ ४ ॥ अनेक प्रकार के जप, तप, दान, योग, साधन, इत्यादि सब केवल उसी परमात्मा के लिए करते हैं ॥ ५ ॥ यह बात सर्वसम्मत है कि, उस देवाधिदेव-परमात्मा-को, अनेक प्रकार से प्रयत्न करके, अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए ॥ ६ ॥ उसी भगवान् को प्राप्त करने के लिए ये नाना पन्थ और मत निकले हैं । परन्तु उसका स्वरूप कैसा है ? ॥ ७ ॥ आज-कल संसार में इतने देवता मान लिये गये हैं कि उनकी गणना तो कोई कर ही नहीं सकता ! किसी एक देवता का निश्चय नहीं होता ॥ ८ ॥ देवताओं के अनुसार, उपासना के भी अनेक भेद होगये हैं । जिसकी कामना जिससे एक बार पूर्ण होगई वह उसीको पकड़े रहता है ! ॥ ९ ॥ जैसे बहुत से देवता हैं, वैसे ही उनके बहुत से भक्त भी हैं । वे अपनी अपनी इच्छा के अनुसार उन्हींमें आसक्त हैं । तथा बहुत ऋषि हैं और उनके बहुत मत भी, अलग अलग, हैं ॥ १० ॥ अतएव, इस बहुवगार में, एक का निश्चय नहीं होता । सब शास्त्र आपस में लड़ रहे हैं; परन्तु ठीक निर्णय नहीं होता ! ॥ ११ ॥ अनेक शास्त्रों में अनेक भेद हैं । और मतमतान्तरों के विरोध की तो बात ही न पृच्छिये ! अस्तु । इसी प्रकार का वाद-विवाद करते हुए न जाने कितने चले गये ! ॥ १२ ॥

हजारों में कोई एक, परमात्मा का विचार करता है; परन्तु उसके स्वरूप का, उस भो पता नहीं चलता* ॥ १३ ॥ परन्तु, यह कैसे कहते

* मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मा वेत्ति तत्त्वत ॥ ३ ॥ गीता, अ०-७ ।

हो कि “ पता नहीं चलता ’-पता चले कैसे-वहां तो अहंता लगी हुई है न ! उसी अहंता के कारण परमात्मा का दर्शन नहीं होता ॥ १४ ॥ अस्तु । अब, यह बात यही छोड़ कर, आगे यह बतलाते हैं कि, जिस परमात्मा के लिए, लोग नाना प्रकार के साधन करते हैं वह किस तरह मिलता है, और परमात्मा कहते किसे हैं, तथा कैसे उसे जान सकते हैं:-॥ १५ ॥ १६ ॥

जिसने यह सम्पूर्ण चराचर सृष्टि, तथा उसकी हलचल, उत्पन्न की है उसीको अविनाशी ‘ सर्वकर्ता ’ परमेश्वर कहते हैं ॥१७॥ मेघमाला उसीने रची है, चन्द्रविव में अमृतकला उसीने दी है और रविमण्डल को तेज उसीने प्रदान किया है ॥ १८ ॥ उसीकी मर्यादा से सागर स्थित है; शेष को उसीने स्थापित किया है और सम्पूर्ण तारागण उसीकी करामत से आकाश में स्थित है ! ॥ १९ ॥ जारज, उद्भेज, अण्डज, और खेदज नामक चारों प्रकार के जीवों को खानियां, परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी नामक चारों वाणी; तथा चौरासो लक्ष जीवयोनियां; किंवहुना तीनों लोक, जिसने रचे हैं वही परमात्मा है ॥ २० ॥ इसमें कोई शक नहीं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इत्यादि सब उसीके अवतार हैं ॥ २१ ॥ घर का देवता उठ कर इन सब जीवों को नहीं बना सकता-उसके द्वारा यह ब्रह्मांड नहीं रचा जा सकता ॥२२॥ जगह जगह जो ये तमाम देवता रखे हैं उन्होंने भी यह सृष्टि नहीं रची है-चन्द्र, सूर्य, तारागण और मेघमण्डल वे नहीं बना सकते ॥ २३ ॥ जिसने यह सब कुछ रचा है वही ‘ सर्वकर्ता, ’ परमेश्वर है । वास्तव में वह ‘ निराकार ’ है । उसकी कला लीला और कौतुक ब्रह्मा, विष्णु, और महेश इत्यादि देवता भी नहीं जानते ॥ २४ ॥ यहां पर यह आशंका उठी, कि जो ‘ निराकार ’ है वह ‘ सर्वकर्ता ’ कैसे हो सकता है? अस्तु । इस शका का अगले समास में समाधान किया गया है । यहां, प्रस्तुत विषय, सावधान होकर सुनिये:-॥२५॥

अवकाशरूपी जो खाली जगह है, जहां कुछ नहीं है, वही आकाश है । वह निर्मल है । उसीमें वायु का जन्म हुआ ॥ २६ ॥ वायु से अग्नि, और अग्नि से जल उत्पन्न हुआ । यह उसको अघटित घटना तो देखिये ! ॥२७॥ जल से पृथ्वी हुई, जो निराधार स्थित है । ऐसी विचित्र कला करनेवाले का नाम ‘ देवता ’ है ॥ २८ ॥ परन्तु विवेकहीन पुरुष, उस ‘ देवता ’ को बनाई हुई पृथ्वी के पेट से जो पत्थर निकले हैं, उन्हींको देवता कहते हैं ! ॥२९॥ वे यह नहीं जानते कि, वह सृष्टि-निर्माण-कर्ता ‘ देवता ’ सृष्टि के पहले से ही है । यह उसकी सत्ता पीछे से विस्तृत हुई है ॥ ३० ॥ जैसे कुम्हार अपनी कृति (घड़ा) के पहले से ही उपस्थित है, वैसे ही परमेश्वर अपनी

इस कृति (सृष्टि) के पूर्व से ही है। वह पत्थर कदापि नहीं है। पत्थर तो उसकी कृति (सृष्टि) का एक लृद्र अंग है ॥ ३१ ॥ मान लीजिए कि किसीने मिट्टी की सेना बनाई; परन्तु उसका बनानेवाला (निमित्तकारण, या कर्ता) उस सेना से अलग ही है; क्योंकि कार्य-कारण दोनों एक नहीं हो सकते ॥ ३२ ॥ हाँ, यदि कार्य और कारण, दोनों पञ्चभूतात्मक हैं तो, पञ्चभूतात्मक दृष्टि से, वे एक हो सकते हैं; परन्तु जर्त्ता निर्गुण की बात है वहाँ ऐसा कदापि नहीं हो सकता; क्योंकि कार्य-कारण की एकता का सम्बन्ध पञ्चभूतों ही तक है ॥ ३३ ॥ अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि, इस सम्पूर्ण सृष्टि का कर्त्ता, इस सृष्टि से, अलग है ॥ ३४ ॥ कठपुतलियों को नचानेवाला स्वयं कठपुतली कैसे हो सकता है? ॥ ३५ ॥ 'छाया-मण्डप' (वायस्कोप,) की सेना, विलकुल सच्ची ही सेना की तरह, युद्ध करती है और एक मनुष्य वह सब तमाशा करता है; परन्तु क्या वह मनुष्य, उस सेना की कोई भी व्यक्ति, हो सकता है? ॥ ३६ ॥ इसी प्रकार उस परमात्मा ने यह सृष्टि तो रची है; पर वह स्वयं सृष्टि का अंग नहीं है। जिसने अनेक जीवों को रचा है वह स्वयं जीव कैसे हो सकता है? ॥ ३७ ॥ यह कैसे हो सकता है, कि जो जिस पदार्थ को बनाता है, वही पदार्थ वह स्वयं भी है? परन्तु विचारे विवेकहीन पुरुष व्यर्थ ही सन्देह में पड़े रहते हैं! ॥ ३८ ॥ मान लो, सृष्टि की तरह, किसीने कोई सुन्दर मन्दिर बनाया; परन्तु क्या वह मन्दिर बनानेवाला, स्वयं मन्दिर योड़े ही हो सकता है? ॥ ३९ ॥ उसी प्रकार जिसने जगत् रचा है, वह जगत् से विलकुल अलग है। परन्तु कोई कोई मूर्खता से कहते हैं कि जगत् ही जगदीश है! ॥ ४० ॥ एवं, वह जगदीश अलग है और जगत् की रचना उसकी कला है। वह सब में है-परन्तु, सब से अलग रह कर, सब में है! ॥ ४१ ॥

अस्तु। पञ्चभूतों के कर्दम से वह आत्माराम अलग है। अविद्या के कारण, माया का भ्रम सत्य ही जान पड़ता है ॥ ४२ ॥ यह विपरीत विचार कहीं भी नहीं है कि, माया की उपाधि और जगत् का आडंबर सभी सत्य है ॥ ४३ ॥ इस लिए सब से परे जो परमात्मा है, वही सब के भीतर-बाहर व्याप्त है, और वही अन्तरात्मा सत्य है। यह जगत् मिथ्या है ॥ ४४ ॥ उसीको 'देवता' कह सकते हैं; और सब भूठ है। यही वेदान्त का मर्म है ॥ ४५ ॥

अब, यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि, ये यावत् दृश्य पदार्थ नाश-वन्त हैं और भगवान् अविनाशी है; इस लिए भगवान्, इन दृश्य पदार्थों से, परे है ॥ ४६ ॥ सम्पूर्ण शास्त्र जिस परमात्मा को निर्मल तथा अचल कहते हैं उसको चञ्चल या नश्वर कभी नहीं कह सकते ॥ ४७ ॥ उसमें ज्ञाने,

जाने, पैदा होने, मरने, आदि की उपाधि लगाने से महा पाप लगता है ॥४८॥ परमात्मा न कभी जन्म ले सकता है और न मर सकता है । जब उसकी सत्ता मात्र से अन्य देवता अमर होते हैं, तब उसे मृत्यु कैसे आ सकती है ? ॥ ४९ ॥ उपजना, मरना, आना, जाना दुःख भोगना-यह सब उस परमात्मा का कार्य है । वह कर्ता-कारणरूप से अलग है ॥ ५० ॥ अन्तःकरण, पञ्चप्राण, बहुत से तत्व और पिंडमान, इत्यादि सब चञ्चल हैं, इसी लिए ये परमात्मा नहीं हो सकते ॥ ५१ ॥

इस प्रकार जो कल्पनारहित है, वही परमात्मा है; पर वास्तव में उसमें परमात्मापन की बात भी नहीं है—(अर्थात् “परमात्मा-पन” में कल्पना आ जाती है और वह कल्पनातीत है) ॥५२॥ इस पर शिष्य यह आशंका करता है कि “जब परमात्मा कल्पनातीत है तब फिर उसने यह ब्रह्मांड कैसे रचा? यह तो कर्त्तापन से कर्ता-कारण कार्य में आता है * ॥ ५३ ॥ द्रष्टापन के कारण जिस प्रकार द्रष्टा (देखनेवाला) अनायास दृश्य बन सकता है उसी प्रकार कर्त्तापन से निर्गुण में भी गुण आ सकता है ॥ ५४ ॥ अतएव, मुझे बतलाइये कि ब्रह्मांडकर्ता कौन है, उसकी पहचान क्या है और परमात्मा सगुण है या निर्गुण है ? ॥५५॥ कोई कोई कहते हैं कि वह ब्रह्म इच्छामात्र से सृष्टिकर्ता है; उसे छोड़ कर और सृष्टिकर्ता कौन हो सकता है ? ॥५६॥ अस्तु । इस प्रकार की अनेक बातें हैं । परन्तु, हे स्वामी, अब आप मुझे यह बतलाइये कि, यह सारी माया कहां से हुई ” ॥५७॥ इस पर वक्ता कहता है कि अच्छा, आगे माया का वर्णन किया जायगा । श्रोता लोगों को सावधान हो जाना चाहिए ॥ ५८-६० ॥

दूसरा समास—माया के अस्तित्व में शंका ।

॥ श्रीराम ॥

श्रोताओं ने जो यह पूछा कि निराकार में यह चराचर माया कैसे हुई उसका उत्तरः—॥ १ ॥ सनातनब्रह्म में माया, वास्तव में न होकर, इस प्रकार

* कर्ता को “कर्ता” कहने से ही उसमें कर्तृत्वगुण आ जाता है और जिसमें गुण होता है वह कार्य है । इस रीति से कारण ही (कर्ता ही) कार्य बन रहा है । जिस प्रकार देखनेवाले में देखने का गुण या धर्म होने के कारण वह स्वयं भी दूसरे का दृश्य बनता है जैसे इन्द्रिया विषयों की द्रष्टा हैं, परन्तु वे स्वयं मन की दृश्य बन रही हैं—अर्थात् मन-द्वारा देखी जाती हैं ।

अध्यासरूप भासती है जैसे शुक्ति में रजत और डोरी में सर्प भासता है ॥ २ ॥ आदि में, एक नित्यमुक्त और परम अक्रिय, परब्रह्म ही है । उसमें अव्याकृत (अस्पष्ट) और सूक्ष्म मूल माया हुई ॥ ३ ॥

आद्यमेकं परब्रह्म नित्यमुक्तमविक्रियम् ।

तस्य माया समावेशो जीवमव्याकृतात्मकम् ॥ १ ॥

आशंकाः—अच्छा, यदि ब्रह्म एक, निराकार, मुक्त, अक्रिय और निर्विकार है तो फिर उसमें मिथ्या माया कहां से हुई? ॥ ४ ॥ ब्रह्म अखण्ड निर्गुण है—उसमें इच्छा कहां से आवेगी? क्योंकि इच्छा सगुण ही में हो सकती है—निर्गुण में वह नहीं हो सकती ॥ ५ ॥ और, वह तो आदि से ही सगुण नहीं है, तथा इसी लिए उसका 'निर्गुण' नाम पड़ा है; तब फिर उसमें सगुणत्व, अर्थात् इच्छाशक्ति, कहां से आई? ॥ ६ ॥ अच्छा, यदि यह कहा जाय कि, निर्गुण ही सगुण होगया, तो ऐसा कहने से मूर्खता प्रकट होती है ॥ ७ ॥ कोई कहता है कि वह निराकार ईश्वर, करके भी, अकर्ता है—विचारे जीव उसकी लीला क्या जानें? ॥ ८ ॥ कोई कहता है कि वह परमात्मा है; उसकी महिमा, विचारा जीवात्मा, कैसे जान सकता है! ॥ ९ ॥ शास्त्रों का अर्थ छिपा कर व्यर्थ ही के लिए महिमा गाते हैं और निर्गुण पर जबरदस्ती कर्तृत्व लादते हैं ॥ १० ॥ जब कर्तव्यता विलकुल है ही नहीं, तब करके भी अकर्ता कौन है? कर्ता और अकर्ता की वार्ता ही समूल मिथ्या है! ॥ ११ ॥ जो आदि से ही निर्गुण है उसमें कर्तापन कहां से आया? (अच्छा यदि कर्तापन नहीं आया) तो फिर यह सृष्टि रचने की इच्छा कौन करता है? ॥ १२ ॥ (यह तो बहुत लोग कहते हैं कि "परमेश्वर की इच्छा"—पर यह नहीं जान पड़ता कि उस निर्गुण में 'इच्छा' कहां से आई! ॥ १३ ॥ तो फिर यह इतना किसने रचा? अथवा आप ही होगया! ईश्वर के बिना इन सब को उत्पन्न किसने किया? ॥ १४ ॥ यदि कहा जाय कि, बिना ईश्वर के ही सब होगया तो फिर ईश्वर कहां जायगा? इससे तो ईश्वर का अभाव देख पड़ता है ॥ १५ ॥ यदि ईश्वर को सृष्टिकर्ता कहें तो फिर उसमें सगुणता होना चाहिए; इससे तो ईश्वर की निर्गुणता की वार्ता ही समाप्त होती है ॥ १६ ॥ यदि ईश्वर आदि से निर्गुण है तो फिर सृष्टिकर्ता कौन है? यदि ईश्वर को कर्ता कहते हैं तो उसमें सगुणता आती है और, सगुणता नश्वर है ॥ १७ ॥ यहां बड़ी शंका आती है—यह चराचर जगत् हुआ तो कैसे? यदि माया को स्वतंत्र कहें तो भी विपरीत देख पड़ता है ॥ १८ ॥ यदि कहें कि माया को किसीने नहीं बनाया—यह आप ही से फैल गई—तो इससे ईश्वर की वार्ता ही डूबी जाती है ॥ १९ ॥ यह कहना भी उचित नहीं देख

पढ़ता कि, ईश्वर निर्गुण और स्वतःसिद्ध है; उससे और माया से कोई सम्बन्ध ही नहीं है ! ॥ २० ॥ अच्छा, यदि सारी कर्तव्यता माया के ही मत्थे लाई जाय तो फिर भक्तों का उद्धार करनेवाला ईश्वर क्या है ही नहीं ? ॥ २१ ॥ ईश्वर के बिना इस माया को कौन दूर करेगा ? क्या हम, भक्त, लोगों को सँभालनेवाला कोई है ही नहीं ? ॥ २२ ॥ अतएव, माया को स्वतंत्र भी नहीं कह सकते—माया का निर्माणकर्ता वह एक सर्वेश्वर अवश्य ही है ॥ २३ ॥ तो फिर, यह अब विस्तारपूर्वक बतलाना चाहिए कि, वह ईश्वर कैसा है और माया का विचार कैसा है ॥ २४ ॥ इस एक ही आशंका के विषय में लोगों के भिन्न भिन्न अनेक विचार हैं । वे सब क्रमशः बतलाये जाते हैं । ध्यान देकर सुनिये:—॥ २५ ॥ २६ ॥

कोई कहता है, माया को ईश्वर ने ही बनाया है, इसीसे यह चारों ओर फैली हुई है । ईश्वर को यदि इच्छा न हुई होती तो यह माया कहां से आती ? ॥ २७ ॥ कोई कहता है; जब ईश्वर निर्गुण है तब इच्छा कौन करेगा? माया मिथ्या है—यह विलकुल हुई ही नहीं ! ॥ २८ ॥ कोई कहता है कि, जब यह प्रत्यक्ष देख पड़ती है, तब फिर यह कैसे कहते हो कि, वह है ही नहीं । माया ईश्वर की अनादि शक्ति है ॥ २९ ॥ कोई कहता है कि यदि सच्ची है तो फिर यह ज्ञान-द्वारा निरसन क्यों हो जाती है ? सच के समान ही दिखती है; पर है यह मिथ्या ! ॥ ३० ॥ एक कहता है कि, यह जब स्वाभाविक ही मिथ्या है तब फिर साधन क्यों करना चाहिए ? ईश्वर ने भक्ति का साधन, मायात्याग के लिए ही, बतलाया है ॥ ३१ ॥ कोई कहता है कि, वह है तो मिथ्या, परन्तु अज्ञानरूपी सन्निपात से उसका भय मालूम होता है; इस लिए साधनरूपी ओषधि लेनी पड़ती है । परन्तु, वस्तुतः वह दृश्य (माया) मिथ्या ही है ॥ ३२ ॥ एक कहता है कि, अनन्त साधन कहे गये हैं, नाना मत भटक रहे हैं; तब भी माया त्यागी नहीं जा सकती, फिर उसे मिथ्या कैसे कहें ? ॥ ३३ ॥ दूसरा उत्तर देता है:—योगवाणी माया को मिथ्या बतला रही है, वेदशास्त्र और पुराणों में भी उसे मिथ्या कहा है और नाना निरूपणों में भी माया मिथ्या ही कही गई है ! ॥ ३४ ॥ कोई कहता है कि ऐसा हमने कहीं नहीं सुना कि माया, मिथ्या कहने से, चली गई हो—मिथ्या कहते ही वह साथ में लगती है ! ॥ ३५ ॥ कोई इसका उत्तर देता है:—जिसके अन्तःकरण में ज्ञान नहीं है, और जिसने सज्जनों को नहीं पहचाना है, उसे यह मिथ्यामान माया सत्य ही जान पड़ती है ॥ ३६ ॥ जो जैसा निश्चय करता है उसको वैसा ही फलता है । जैसे शीशे में जो देखता है उसीकी छाया उसमें मालूम होती है, वैसा ही शाल माया का है ! ॥ ३७ ॥ कोई कहता है, माया कहां से आई ? जो कुछ

है सब ब्रह्म ही है; घी चाहे जमा हो, चाहे पिघला हो-है सब घी ही !
 ॥ ३८ ॥ इस पर कोई उत्तर देता है कि, परमात्म-स्वरूप में 'जमा' और
 'पिघला' कही नहीं कहा; उसके लिए तुम्हारा यह दृष्टान्त लग नहीं सकता
 ॥ ३९ ॥ कोई कहता है 'सर्वब्रह्म' का मर्म जिसे नहीं मालूम होता, समझ
 लो कि, उसके चित्त का भ्रम अभी गया ही नहीं है ॥ ४० ॥ कोई कहता
 है कि ईश्वर तो एक ही है, वहां 'सर्व' कहां से लाये? 'सर्वब्रह्म तो अपूर्व
 आश्चर्य मालूम होता है! ॥ ४१ ॥ कोई कहता है कि, सच्चा एक ही है;
 दूसरा कुछ है ही नहीं-इस प्रकार स्वाभाविक ही 'सर्व ब्रह्म' है! ॥ ४२ ॥
 कोई, शास्त्र के आधार से, कहता है कि, सब एकदम मिथ्या है; अब जो
 कुछ बचा, वही सच्चा ब्रह्म है! ॥ ४३ ॥ कोई कहता है कि, अलंकार और
 सोने में कोई भेद नहीं है-अर्थात् सोना भी सोना ही है और सोने का अलं-
 कार भी सोना ही है-विवाद में क्यों व्यर्थ परिश्रम करते हो! ॥ ४४ ॥ इस
 पर कोई उत्तर देता है:-यह हीन और एकदेशी उपमा 'वस्तु' से कैसे
 लग सकती है? वर्णव्यक्त और अव्यक्त से बराबरी नहीं हो सकती! ॥ ४५ ॥
 सुवर्ण को देखने से जान पड़ता है कि, उसमें आदि ही से व्यक्तता है।
 सोने का अलंकार (आभूषण) देखने से सोना ही देख पड़ता है ॥ ४६ ॥
 अर्थात् सोना आदि से ही व्यक्त है। वह जड़, एकदेशीय और पीला है।
 ऐसे अपूर्ण का दृष्टान्त, पूर्णब्रह्म के लिए, कैसे दिया जा सकता है? ॥ ४७ ॥
 इस पर फिर वही उत्तर देता है:-समझाने के लिए एकदेशीय दृष्टान्त भी
 देना पड़ता है। सिन्धु और लहर में भिन्नता कहां है? ॥ ४८ ॥ उत्तम, मध्यम
 और निकृष्ट, तीन प्रकार के दृष्टान्त होते हैं-किसी दृष्टान्त से तो तथ्य मालूम
 हो जाता है और किसीसे व्यर्थ सन्देह बढ़ता है ॥ ४९ ॥ इस पर दूसरा कोई
 कहता है, कैसा सिन्धु और कहां की लहर! अचल से कहीं चल की बरा-
 बरी की जा सकती है? माया को सत्य नहीं मानना चाहिए! ॥ ५० ॥ कोई कहता
 है कि, माया कल्पना है। यह लोगों को नाना प्रकार का भास दिखाती है। यों तो
 इसे ब्रह्म ही समझना चाहिए! ॥ ५१ ॥ इस प्रकार, आपस में वाद-विवाद
 होने के कारण मूल आशंका रह गई। अच्छा, अब आगे वही, सावधान
 होकर, सुनिये ॥ ५२ ॥

माया तो मिथ्या मालूम हो चुकी, पर वह ब्रह्म में कैसे हुई? यदि कहा
 जाय कि, 'निर्गुण' ने बनाई है, तो फिर वह आदि से ही मिथ्या है!
 ॥ ५३ ॥ मिथ्या शब्द से तो यह अर्थ निकलता है कि, वह कुछ है ही
 नहीं-तो फिर बनाया क्या और किसने? निर्गुण के तई कर्तृत्व होना भी
 अघटित ही बात है! ॥ ५४ ॥ एक तो, कर्ता, आदि से ही, अरूप है;

दूसरे जो कुछ (माया) उसने बनाया उसका भी अस्तित्व नहीं ! तथापि, श्रोताओं का आक्षेप दूर करेंगे ! ॥ ५५ ॥

तीसरा समास-निर्गुण में माया कैसे हुई ?

॥ श्रीराम ॥

अरे, जो हुआ ही नहीं उसकी बात क्या कही जाय ? तथापि, संशय दूर करने के लिए, बतलाते हैं ॥ १ ॥ डोरी से सर्प, जल से लहर और सूर्य से मृगजल का भास होता है ॥ २ ॥ कल्पना से स्वप्न देख पड़ता है; सिंघी से चांदी भासती है और जल से ओला होता है ॥ ३ ॥ मिट्टी से दीवाल बनती है, समुद्र के कारण लहर आती है और आंख के तिल से दृश्य देख पड़ता है ॥ ४ ॥ सोने से अलंकार, तंतु से वस्त्र और कछुप के अस्तित्व से, उसके हाथ-पैरों का विस्तार होता है ॥ ५ ॥ घी है, तभी वह पिघलता है, खारे पानी से नमक निकलता है और बिम्ब से प्रतिबिम्ब पड़ता है ॥ ६ ॥ पृथ्वी से वृक्ष होता है, वृक्ष से छाया होती है और धातु (वीर्य) से ऊच-नीच वर्णों की उत्पत्ति होती है ॥ ७ ॥

अस्तु । अब ये दृष्टान्त बहुत हुए । अद्वैत में द्वैत कहां से आया; और द्वैत के बिना अद्वैत बतलाते क्यों नहीं बनता ? ॥ ८ ॥ जब किसी वस्तु का भास है, तभी तो वह भासता है । और, दृश्य होता है तभी तो वह दिखता है, परन्तु, अदृश्य का यह हाल नहीं है, इसी लिए अदृश्य की कोई उपमा नहीं होती—वह अनुपम होता है ॥ ९ ॥ कल्पना के बिना हेतु, दृश्य के बिना दृष्टान्त और द्वैत के बिना अद्वैत कैसे हो सकता है ? ॥ १० ॥ जिस भगवंत की विचित्र करनी शेष भी वर्णन नहीं कर सकता उसीने इस अनन्त ब्रह्मांड की रचना की है ॥ ११ ॥ उस परमात्मा, परमेश्वर, के द्वारा ही यह सृष्टि विस्तृत हुई है—वह ईश्वर ही सर्वकर्ता है ॥ १२ ॥ उसके अनन्त नाम हैं । उसने अनन्त शक्तियां निर्माण की हैं । वही मूलपुरुष है ॥ १३ ॥ उस मूल-पुरुष की पहचान, वह स्वयं मूलमाया ही है । अतएव, सब कर्तृत्व उसीमें आता है ॥ १४ ॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥

परन्तु यह खुल्लम-खुल्ला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे (अर्थात्

मूलपुरुष को द्वैत की उपमा दे देने से) बोलना, चालना, श्रवण, मनन, आदि, ब्रह्मप्राप्ति के उपाय ही, नष्ट होते हैं, यों तो देखने में क्या सच है ! ॥ १५ ॥ यह तो सभी मानते हैं कि, परमात्मा से सब हुआ है, पर उस परमात्मा को तो पहचानना चाहिए ॥ १६ ॥ सिद्धों का निरूपण साधकों के काम का नहीं है; क्योंकि उनका अन्तःकरण पक्क नहीं होता ॥ १७ ॥ अविद्या के कारण (पिंडरूप उपाधि धारण करनेवाले को) जीव कहते हैं और माया के कारण (ब्रह्मांड की उपाधि धारण करनेवाले को) शिव कहते हैं और मूलमाया के गुण से परमेश्वर ब्रह्म कहलाता है ॥ १८ ॥ अतएव, अनन्त शक्तियों का धारण करनेवाली मूलमाया ही है । इसका अर्थ अनुभवी पुरुष ही जान सकते हैं ॥ १९ ॥ मूलमाया ही मूलपुरुष है—वही सब का ईश्वर है । अनन्त नामी जगदीश उसीको कहते हैं ॥ २० ॥ यह सम्पूर्ण विस्तृत माया विलकुल मिथ्या है । इसका मर्म बहुत कर्म लोग जानते हैं ॥ २१ ॥ वास्तव में ये बातें अनिर्वच्य हैं, परन्तु हम यहाँ पर बतला रहे हैं ! यों तो स्वानुभव से ही इन्हें जानना चाहिए । ये बातें संत-संग के बिना, कदापि नहीं समझ में आतीं ॥ २२ ॥ अस्तु । साधकों को यह शंका हो सकती है कि, माया ही मूलपुरुष कैसे है ? अच्छा, यदि नहीं है तो फिर अनन्तनामी जगदीश किसे कहेंगे ? ॥ २३ ॥ क्योंकि नाम और रूप तो माया ही तक हैं; अतएव उपर्युक्त कथन में कोई सन्देह की बात नहीं ॥ २४ ॥ अस्तु, पिछली यह आशंका रही जाती है कि, निराकार में मूलमाया कैसे हुई ! अच्छा सुनिये ॥ २५ ॥

दृष्टिवन्धन (नजरबन्दी) के खेल की तरह यह सब माया मिथ्या है; परन्तु, अब यह बतलाते हैं कि, वह नजरबन्दी का खेल—माया का तौतुक—होता किस प्रकार है ॥ २६ ॥ निश्चल आकाश में जिस प्रकार बञ्चल वायु उत्पन्न होती है उसी प्रकार अचल और निराकार स्वरूप में मूलमाया होती है ॥ २७ ॥ परन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि, वायु के होने से आकाश की निश्चलता में, किसी प्रकार की बाधा आवे ॥ २८ ॥ उसी तरह मूलमाया के होने से, परमात्मा की निर्गुणता में भी, किसी प्रकार की बाधा नहीं आती । इस दृष्टान्त से पिछला संशय मिट जाता है ॥ २९ ॥ अब, कुछ यह बात नहीं कि, वायु पहले ही से हो । इसी तरह मूलमाया भी कुछ पुरातन नहीं हो सकती, क्योंकि उसे यदि सत्य मानें तो वह फिर भी लीन हो सकती है । ॥ ३० ॥ वायु की ही तरह मूलमाया का भी रूप जानना चाहिए । वह भास होती है; परन्तु देखने में नहीं आती ॥ ३१ ॥ वायु को आप सत्य कहा करें, परन्तु क्या वह कभी दृष्टि में आती है ? उसको ओर देखने से तो सिर्फ उड़ती हुई धूल (या हिलती हुई पत्तियाँ)

देखने में आती है ॥ ३२ ॥ वस, वायु की ही तरह मूलमाया भी भासती है, पर दिखती नहीं । उसके बाद अविद्या माया का विस्तार है ॥ ३३ ॥ जैसे वायु के योग से दृश्य (धूल आदि) आकाश में दिखता है, वैसे ही, मूलमाया के योग से, यह जग बना है ॥ ३४ ॥ आकाश में जिस प्रकार मेघाडम्बर अकस्मात् आ जाते हैं, उसी प्रकार, माया के ही गुण से, यह जग बना है ॥ ३५ ॥ आकाश में जिस प्रकार एकाएक नश्वर मेघ आजाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में यह मिथ्या माया उत्पन्न हो जाती है ॥ ३६ ॥ उस मेघाडम्बर के कारण जान पड़ता है कि आकाश की निश्चलता चली गई है, पर ऐसा नहीं है—वास्तव में आकाश वैसा ही बना रहता है ॥ ३७ ॥ वैसे ही माया के कारण जान पड़ता है कि निर्गुण, सगुण हो गया, पर ऐसा नहीं है—वह वैसा ही, जैसा का तैसा, बना रहता है ॥ ३८ ॥ बादल आते हैं और चले जाते हैं; पर तौ भी आकाश जिस प्रकार अपने पूर्वरूप में बना रहता है, वैसे ही माया आती है और जाती है; पर निर्गुण ब्रह्म में माया के कारण, गुण नहीं आता है—वह जैसा का तैसा ही बना रहता है ॥ ३९ ॥ जिस प्रकार आकाश, पर्वत के शिखरों पर रखा हुआ सा दिखाई देता है; पर वास्तव में वह केवल भास है, उसी प्रकार निर्गुण भी, माया के कारण, सगुण भास होता है, परन्तु वास्तव में वह निर्गुण ही है ॥ ४० ॥ ऊपर, आकाश की ओर, देखने से नीलिमा (नीलापन) फैली हुई सी देख पड़ती है, पर उसे मिथ्या भास जानना चाहिए ॥ ४१ ॥ मालूम होता है कि आकाश आँधा हुआ चारों ओर से घिरा है और सम्पूर्ण विश्व को बन्द किये हुए है; पर वास्तव में ऐसा नहीं है, वह चारों ओर से खुला हुआ ही है ॥ ४२ ॥ दूर से देखने पर पर्वतों में नीला रंग सा देख पड़ता है; पर वह वास्तव में उनमें नहीं है । इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में भी गुणों का भास होता है; पर वास्तव में वह उनसे अलिप्त है ॥ ४३ ॥ रथ (अथवा आजकल रेल गाड़ी) दौड़ते समय पृथ्वी चलती हुई मालूम होती है; पर सचमुच में है वह निश्चल—इसी प्रकार परब्रह्म निर्गुण और केवल है ॥ ४४ ॥ बादल के कारण, चन्द्र दौड़ता सा मालूम होता है, पर यह सब मिथ्या है; बादल दौड़ता है ! ॥ ४५ ॥ उष्ण वायु (लू) अथवा अग्निज्वाल (आग की लपट) से अन्तराल (वातावरण) कम्पित सा मालूम होता है; पर यह भ्रम है—वह जैसा का तैसा निश्चल रहता है ॥ ४६ ॥ वैसे ही परब्रह्म का स्वरूप, निर्गुण होने पर भी, माया के कारण सगुण सा मालूम होता है; पर यह केवल कल्पना का भ्रम है ॥ ४७ ॥

दृष्टिवन्धन (नजरबन्दी) के खेल के समान यह माया चञ्चल या मिथ्या है; और ' वस्तु ' जैसी की तैसी शाश्वत और निश्चल है ॥ ४८ ॥ परन्तु,

माया निराकार 'वस्तु' को साकार बनाती है—इसका ऐसा ही स्वभाव है—यह बड़ी ढाँगिन है ! ॥ ४६ ॥ माया देखने में तो कुछ भी नहीं है; पर यह सब सी भासती है—यह मेघाडम्बर की तरह उड़ूत होती है, और नाश होती है ॥ ५० ॥ इस प्रकार, माया उड़ूत होती है, पर 'वस्तु' निर्गुण बनी रहती है। ब्रह्म में अचरूप जो स्फूर्ति होती है वही माया है ॥ ५१ ॥ गुण तो माया के खेल हैं—निर्गुण में गुण आदि कुछ भी नहीं है; परन्तु यह (माया) सत्स्वरूप में उत्पन्न और नाश हुआ करती है* ॥ ५२ ॥ जिस प्रकार दृष्टि के चकाचौंध से आकाश में सेना, या एक प्रकार के पुतले से नाचते हुए देख पड़ते हैं; पर हैं वे मिथ्या ॥ ५३ ॥ उसी प्रकार यह सब माया का खेल मिथ्या है। अस्तु। यह उसका सारा उद्भव, नाना तत्वों का पधाड़ा छोड़ कर, बतला दिया गया ॥ ५४ ॥

पञ्चमहातत्व, आदि से ही, मूलमाया में रहते हैं। ओंकार वायु की गति है—अर्थात् स्फूर्ति ही वायु का रूप है। इसका अर्थ दक्ष ज्ञानी पुरुष जानते हैं ॥ ५५ ॥ मूलमाया का चलन ही वायु का लक्षण है। मूल के सूक्ष्म तत्व ही आगे चल कर जड़त्व को प्राप्त होते हैं ॥ ५६ ॥ वे पंचमहाभूत, जो पहले मूलमाया में अव्यक्त थे, सृष्टि-रचना में व्यक्त हो जाते हैं ॥ ५७ ॥ मूलमाया का लक्षण भी पंचभौतिक ही है—उसकी पहचान सूक्ष्म दृष्टि से करना चाहिए ॥ ५८ ॥ आकाश और वायु के बिना मूलमाया में स्फूर्ति और इच्छा कहां से आ सकती है ? (अतएव आकाश और वायु मूलमाया में हैं) तथा उसमें इच्छाशक्ति होना तेज का लक्षण हुआ ॥ ५९ ॥ इसके सिवाय, उसमें जो मृदुता है वही जल है और जड़ता पृथ्वी का लक्षण है; इस प्रकार पांचो महाभूत मूलमाया में होते हैं, अतएव मूलमाया पंचभौतिक ही ठहरी ! ॥ ६० ॥ इतना ही नहीं, बल्कि एक एक भूत में पांचो पाँच भूत रहते हैं। यह बात सूक्ष्म दृष्टि से मालूम हो सकती है ॥ ६१ ॥ आगे चल कर वे स्थूलरूप में आते हैं, तब भी सब आपस में मिले ही रहते हैं। एवं, यह सब पंचभूतात्मक माया फैली हुई है ॥ ६२ ॥ आदि की मूलमाया में, भूमंडल की अविद्या (माया) में, स्वर्ग मृत्यु पाताल में, पाँच ही भूत हैं ॥ ६३ ॥

* गुण तो सिर्फ माया का पसारा है, निर्गुण में यह कुछ नहीं होता, किन्तु उसके अधिष्ठान या साक्षित्व से यह सब होता, जाता है। जिस प्रकार रस्सी के अधिष्ठान से भुजंग का भास होता है; पर वास्तव में रस्सी, रस्सी ही है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म में यह माया होती और जाती है; पर निर्गुण, निर्गुण ही बना रहता है।

स्वर्गे मृत्यौ च पाताले यत्किञ्चित्सत्रगचरम् ।

सर्वे तत्पांचभौतिक्यं पृष्ठ किञ्चिन्न दृश्यते ॥ १ ॥

आदि अन्त में (और सब में) सत्यस्वरूप है, और बाँच में पंचमहाभूत वर्तते हैं; और यहाँ पंचभूतात्मक मूलमाया का स्वरूप है ॥ ६४ ॥ यहाँ एक आशंका उठती है कि पंचभूत तो तमोगुण से हुए हैं और मूलमाया गुणों से परे है; अतएव वह पंचभूतात्मक कैसे हो सकता है? अस्तु । इस शंका का समाधान अगले समास में किया गया है ॥ ६५-६७ ॥

चौथा समास—सूक्ष्म पंचमहाभूत ।

॥ श्रीराम ॥

अब स्पष्टरूप से पिछली आशंका का समाधान किया जायगा, इस लिए श्रोता लोग पल भर वृत्ति ठीक करें ॥ १ ॥ पहले, ब्रह्म में मूलमाया हुई और फिर, उससे गुणमाया हुई, इसी लिए उसे गुणदोभिणी कहते हैं ॥२॥ उससे फिर सत्व-रज-तम नामक तीन गुण हुए । इसके बाद तमोगुण से पंचमहाभूत बने ॥ ३ ॥ इस प्रकार भूत उद्भूत हुए और फिर, आगे चल कर, यही सूक्ष्म भूत सृष्टि के रूप में विस्तृत हुए—एवं, तमोगुण से पंचमहाभूत हुए ॥४॥ श्रोताओं ने पीछे जो यह आशंका उठाई कि जब मूलमाया गुणों से अलग है तब वहाँ भूत कहाँ से आये, इसका अब समाधान करते हैं ॥५॥ और साथ ही यह भी बतलाते हैं कि एक एक भूत में पाँचों पाँच भूत कैसे रहते हैं ॥६॥ सूक्ष्म दृष्टि का कौतुक, और पंचभौतिक मूलमाया को स्थिति सुनने के लिए अब श्रोताओं को अपना विवेक विमल कर रखना चाहिए ॥ ७ ॥ पहले पहल भूतों का रूप पहचानना चाहिए और फिर, सूक्ष्म दृष्टि से, उन्हें साज कर देखना चाहिए ॥ ८ ॥ परन्तु जब तक किसी बात का पहचान न मालूम हो तब तक वह कैसे पहचाना जा सकता है, अतएव श्रोताओं को प्रथम पंचमहाभूतों को कुछ पहचान सुन लेना चाहिए ॥ ९ ॥

जितना कुछ जड़ और कठिन है वह पृथ्वी का लक्षण है; जितना कुछ मनु और गीलापन है वह पानी है ॥ १० ॥ जितना कुछ ऊष्ण और तेजयुक्त है वह सब अग्नि है ॥ ११ ॥ जो कुछ चैनन्य और चंचल है वह सब केवल वायु है; तथा जो कुछ गून्घ, निश्चल और अवकाश देख पड़ता है वह सब आकाश है ॥ १२ ॥ यह तो पंचमहाभूतों की साक्ष्य पहचान हुई । अब

यह सूक्ष्म विचार बतलाते हैं कि एक एक भूत में पाँचों पांच भूत कैसे पैठे हुए हैं और त्रिगुण से परे कौन है । इसे ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ १३ ॥ १४ ॥

अच्छा, अब पहले यह बतलाते हैं कि सूक्ष्म आकाश में पृथ्वी किस प्रकार घुसो है । श्रोता लोगों को यहाँ अपनी धारणाशक्ति स्थिर रखना चाहिए* ॥ १५ ॥ आकाश कहते हैं अवकाश को; अवकाश कहते हैं शून्य को; शून्य कहते हैं अज्ञान को; अज्ञान कहते हैं जड़ता को—यही जड़ता, (आकाश में) पृथ्वी हुई ॥ १६ ॥ आकाश में जो मृदुता है वही 'आप' का लक्षण है, अतएव आकाश में जल अवश्य है ॥ १७ ॥ अज्ञान से आकाश में जो शून्यत्व का भास जान पड़ता है वह भास हो, 'तेज' का लक्षण है, इस लिए आकाश में अग्नि भी है ॥ १८ ॥ अब, वायु और आकाश में कुछ बहुत भेद नहीं है, क्योंकि वायु में भी आकाश ही की तरह स्तब्धता है । अतएव आकाश में जो स्तब्धता है वही 'वायु' का लक्षण है ॥ १९ ॥ अब रहा आकाश में आकाश—सो यह बतलाने की आवश्यकता ही नहीं है कि आकाश में आकाश है ही । अस्तु; यह सिद्ध होगया कि आकाश में पाँचों महाभूत हैं ॥ २० ॥ अब स्थिरचित्त होकर क्रमशः यह सुनिये कि वायु में पञ्चभूत कैसे मिले हुए हैं ॥ २१ ॥ जिस प्रकार किसी हलकी से भी हलकी वस्तु में जड़ता होती है उसी प्रकार वायु में भी जड़ता है; क्योंकि उसका भौंका लगने से वृक्ष गिर जाते हैं । और यही जड़ता पृथ्वी का लक्षण है; अतएव वायु में पृथ्वी है ॥ २२-॥ २३ ॥ अथवा यों कहिये कि वायु में जो शक्ति है वही उसमें पृथ्वी का लक्षण है ॥ २४ ॥ जैसे आग की छोटी से छोटी चिनगारी में भी कुछ न कुछ उष्णता होती ही है वैसे ही वायु में भी जड़ता (पृथ्वी का अंश) सूक्ष्मरूप से ही है ॥ २५ ॥ अब, वायु में जो कोमलता है वही उसमें जल है; और उसका जो कुछ भास है वही अग्नि का स्वरूप है; तथा वायु में, चञ्चल रूप से, वायु तो स्वाभाविक ही वर्तमान है ॥ २६ ॥ और, अवकाशरूप से आकाश वायु में सहज ही मिला हुआ है; इस प्रकार वायु में भी पाँचो भूतों का होना साबित है ॥ २७ ॥ अच्छा, अब तेज में

* यहाँ एक बात का बतला देना आवश्यक है, कि आगे, जब एक एक भूत में पाँचो भूतों का होना बतलाय जायगा, तब श्रोताओं को अपने पंचभूतात्मक देह में ही उसके मिश्रण को ध्यानपूर्वक देखना चाहिए—बाहरी, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की ओर ध्यान, रख कर मिश्रण देखन से उतना स्पष्ट न जान पड़ेगा जितना कि देह की ओर ध्यान रखन से ।

पांचो भूत सुनिये; तेज में जो प्रखरता का भास है वही उसमें पृथ्वी है ॥ २८ ॥ और अग्नि का भास, जो मृदु जान पड़ता है, वही उसमें जल का अंश है । अब, यह बतलाने की आवश्यकता ही नहीं कि तेज में तेज तो स्वयं है ही ॥ २९ ॥ अब अग्नि में जो चञ्चलता है वही वायु है; और जो स्तब्धता है वही आकाश है । इस प्रकार तेज में भी पञ्चभूतों का अस्तित्व है ॥ ३० ॥ अब 'आप' में पञ्चभूत देखिये; वास्तव में मृदुता ही आप का लक्षण है और मृदुता में जो कठिनता का भास होता है वही जल में पृथ्वी का अंश है ॥ ३१ ॥ अब, जल में जल तो है ही ! इसके सिवाय मृदुता (जलांश) में तेज भी मृदु-रूप से भासता है और उसमें जो स्तब्धता होती है वही वायु है ॥ ३२ ॥ अब जल में आकाश के बतलाने की जरूरत ही नहीं; क्योंकि वह तो स्वाभाविक ही सब में व्याप्त है । अस्तु । आप में भी पञ्चभूतों का होना स्पष्ट है ॥ ३३ ॥ अब पृथ्वी में पञ्चभूतों को लीजिए; पृथ्वी में जो कठिनता है वही पृथ्वी में पृथ्वी का लक्षण है । उस कठिनता में जो मृदुता है वही पृथ्वी में आप है ॥ ३४ ॥ अब, पृथ्वी में जो कठिनता का 'भास' है वही 'भास' अग्नि का अंश है और कठिनता (पृथ्वी का लक्षण) में जो निरोध का लक्षण है वही पृथ्वी में वायु है ॥ ३५ ॥ और यह बात प्रकट ही है कि आकाश सब की तरह पृथ्वी में भी है । जब कि आकाश ही में पञ्चभूतों का भास है तब फिर आकाश का अन्य चार भूतों में होना कोई आश्चर्य की बात नहीं ॥ ३६ ॥ क्योंकि आकाश ऐसा सूक्ष्म है कि वह न तोड़ने से टूटता है, न फोड़ने से फूटता है; और न तिलमात्र कहीं से हटता है ॥ ३७ ॥ अस्तु । पृथ्वी में भी पांचो भूतों का होना सिद्ध है और इस प्रकार, प्रत्येक महाभूत में पांचो पाँच भूत उपस्थित हैं ॥ ३८ ॥ परन्तु यह बात ऊपर ऊपर से नहीं मालूम होती; किन्तु मन में बड़ा सन्देह होता है और भ्रान्तिवश, इस बात पर, विवाद करने का अभिमान भी आ जाता है ॥ ३९ ॥

यद्यपि यों तो वायु में और कुछ नहीं जान पड़ता, तथापि, सूक्ष्म वायु में भी, खोजने पर, पञ्चमहाभूतों का अस्तित्व पाया जाता है ॥ ४० ॥ और यही पञ्चभूतात्मक वायु मूलमाया है । इसीमें सूक्ष्म त्रिगुण है; अतएव माया और त्रिगुण, सब पञ्चभौतिक ही हैं ॥ ४१ ॥ इस प्रकार पञ्चमहाभूत, और त्रिगुण, मिल कर अष्टधा प्रकृति बनी है । अतएव त्रिगुणों के साथ वह भी पञ्चभौतिक ही समझिये ॥ ४२ ॥ खोज कर देखे बिना सन्देह रखना मूर्खता है । इस लिए सूक्ष्मदृष्टि से इसका विचार करना चाहिए ॥ ४३ ॥ माया में जो सूक्ष्म पञ्चभूत थे वे त्रिगुणों से मिल कर

स्पष्ट दशा को प्राप्त हुए; और फिर जड़त्व पाकर स्थूल पञ्चतत्त्वों के रूप में हुए ॥ ४४ ॥ फिर उन स्थूल पञ्चतत्त्वों से यह पिरण्ड, ब्रह्माण्ड, इत्यादि की रचना हुई ॥ ४५ ॥ अस्तु । ऊपर जो पञ्चमहाभूतों का मिश्रण, सूक्ष्म रीति से, बतलाया गया वह सब ब्रह्माण्ड बनने के पहले की हालत है* ॥ ४६ ॥ ब्रह्माण्ड या सृष्टि की रचना के पहले मूलमाया थी । उसका सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना चाहिए ॥ ४७ ॥ (पञ्चतत्त्व, अहंकार और महत्तत्त्व मिल कर) यह सप्तकंचुकी प्रचण्ड ब्रह्माण्ड (त्रैलोक्य) तब न हुआ था; यह सब माया-अविद्या का गड़बड़ इसी ओर की बात है (अर्थात् ऊपर जो कुछ बतलाया वह इसके पहले का हाल है) ॥ ४८ ॥ ब्रह्मा-विष्णु-महेश का होना भी इसी तरह की बात है; पृथ्वी, मेरु, सप्तसागर सब इसी ओर के हैं (अर्थात् ये सब पीछे उद्भूत हुए हैं) ॥ ४९ ॥ अनेक लोक, नाना प्रकार के स्थान, चन्द्र, सूर्य, तारागण, सप्त द्वीप, चौदह भुवन-ये सब पीछे से हुए हैं ॥ ५० ॥ शेष, कूर्म, सप्तपाताल, इक्कीस स्वर्ग, अष्ट दिक्पाल और तैंतीस करोड़ देवता-ये सब पीछे की बातें हैं ॥ ५१ ॥ बारह सूर्य, ग्यारह रुद्र, नव नाग, सप्त ऋषि और नाना देवताओं के अवतार-सब पीछे से हुए हैं ॥ ५२ ॥ मेघ, चक्रवर्ती मनु और नाना प्रकार के जीवों का उत्पत्ति, इत्यादि बहुत विस्तार है; कहां तक बतलाया जाय-यह सब पीछे से हुआ है ॥ ५३ ॥ अर्थात् इस सम्पूर्ण विस्तृत ब्रह्माण्ड का मूल वही, पीछे बतलाई हुई, पञ्चभौतिक मूलमाया ही है ॥ ५४ ॥ जिन सूक्ष्म भूतों का वर्णन अभी किया, वही आगे चल कर जड़त्व या स्थूल रूप को प्राप्त हुए । उनका वर्णन अगले समास में, अलग अलग, विस्तृत रीति से किया गया है । श्रोता लोगों को उन पर पूर्ण विचार करना चाहिए ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ इससे पञ्चभूतात्मक ब्रह्माण्ड का हाल अच्छी तरह मालूम हो सकता है और उसके बाद इस मिथ्या 'दृश्य' को छोड़ कर निराकार 'वस्तु' पा सकते हैं ॥ ५७ ॥ जैसे महाद्वार को पार करके देवदर्शन ले सकते हैं वैसे ही इस दृश्य का विवेक करके, इसे छोड़ कर, तब फिर परमात्म-दर्शन पा सकते हैं ॥ ५८ ॥ यह सम्पूर्ण दृश्य पञ्चभूतमय हो रहा है-दृश्य और पञ्चभूत एक दूसरे में लिपटे हुए हैं ॥ ५९ ॥ इस प्रकार यह सारी दृश्य सृष्टि पञ्चभूतों की ही हुई है । इसका वर्णन आगे सुनिये ॥ ६० ॥

* मूलमाया पंचभौतिक है; परंतु ये पंचभूत मूलमाया में सूक्ष्मरूप से हैं । इसके बाद गुणमाया, त्रिगुण, सूक्ष्मभूत और स्पष्ट या स्थूलभूत (जिन्हें श्री समर्थ ने तत्त्व कहा है) क्रमशः निर्माण हुए । परन्तु ऊपर जो एक एक भूत में पंचभूतों का मिश्रण बतलाया वह सूक्ष्म भूतों का है, तब यह ब्रह्माण्ड निर्माण न हुआ था ।

पाँचवाँ समास-स्थूल पंचमहाभूत ।

॥ श्रीराम ॥

प्रस्तुत विषय बहुत कठिनता से समझ में आता है । इसी लिए फिर स्पष्ट करके बतलाते हैं ॥ १ ॥ पञ्चभूतों का जो यह मिश्रण हो गया है वह कुछ अब अलग अलग नहीं हो सकता; तथापि कुछ स्पष्ट करके बतलाते हैं ॥ २ ॥

नाना प्रकार के छोटे बड़े, पर्वत, पत्थर, शिला, शिखर, और कंकड़पत्थर, इत्यादि, पृथ्वी है ॥ ३ ॥ अनेक स्थानों में जो नाना रंग की मिट्टी और बालू आदि है वह सब पृथ्वी है ॥ ४ ॥ बड़े बड़े सुन्दर गाँव, नगर, मन्दिर, महल, सप्तद्वीप, नवखण्ड तक, सब पृथ्वी ही है ॥ ५ ॥ ६ ॥ अनेक देवता और नृपति; बहुत भाषाओं के बोलनेवाले और नाना प्रकार की रीति-रवाजवाले, यहां तक कि चौरासी लाख योनियों के सम्पूर्ण जीव-जितने देहधारी हैं—सब पृथ्वी ही जानना चाहिए ॥ ७ ॥ अनेक घोरान जंगल, घरे भरे जंगल, गिरिकन्दर, इत्यादि नाना प्रकार के स्थान, सब पृथ्वी है ॥ ८ ॥ अनेक प्राकृतिक स्थल, तथा नाना प्रकार के मनुष्यकृत स्थान, सब पृथ्वी है ॥ ९ ॥ सुवर्ण आदि अनेक धातु, नाना प्रकार के रत्न, बहुत तरह के वृक्ष, आदि काठ, सब पृथ्वी है ॥ १० ॥ सारांश, जितना कुछ जड़ और कठिन है वह सब निस्सन्देह पृथ्वी ही है ॥ ११ ॥ अस्तु । पृथ्वी का रूप तो, साधारण तौर पर, बतला दिया । अब 'आप' का भी लक्षण संक्षिप्त रीति से, सावधान होकर, सुनिये:-॥१२ ॥

वापी, कूप, सरोवर, और सरिताओं का जल, मेघ और सप्तसागर—यह सब मिल कर आप है ॥ १३ ॥

चारक्षीरसुरासर्पिर्दाधिर्जुर्जलं तथा ।

चारसमुद्र तो सब लोग प्रायः देखते ही हैं । उसीके जल से नमक बनता है ॥ १४ ॥ एक दूध का समुद्र है । उसे "क्षीरसागर" कहते हैं । यह समुद्र भगवान् ने उप-न्यु का दिया है ॥ १५ ॥ इनके सिवाय मधु, दधि, इक्षुरस और शुद्ध जल के भी समुद्र हैं । ये सातों समुद्र पृथ्वी को घेरे हुए हैं ! ॥ १६ ॥ १७ ॥ इस प्रकार जितना जल है वह सब आप है ॥ १८ ॥ पृथ्वी के भीतर और पृथ्वी के ऊपर तथा तीनों लोक में जितना जल है वह सब आप है ॥ १९ ॥ अनेक प्रकार की बेलों और वृक्षों का रस, मधु, पारा, अमृत, विष, इत्यादि सब आप है ॥ २० ॥ नाना प्रकार

के रस; घी, तेल, इत्यादि विकनार्ह; शुक्र, रक्त, मूत्र, लार, खेद, श्लेष्मा, अथु, इत्यादि, जितना कुछ अद्र है. वह सब आप है ॥ २१-२४ ॥

अच्छा अब 'तेज' का लक्षण सुनिये:-चन्द्र सूर्य, तारागण, तेजस्वी दिव्य देह, इत्यादि 'तेज' के रूप हैं ॥ २५ ॥ साधारण आग्ने, बादल को विजली, प्रलयाग्नि, बड़वानल, रुद्राग्नि, कालाग्नि, भूगर्भाग्नि, आदि सब तेज है ॥ २६ ॥ २७ ॥ तात्पर्य, जितना कुछ तेजस्वी, प्रकाशित, उष्ण और प्रखर है वह सब तेज है ॥ २८ ॥

वायु का मुख्य लक्षण चञ्चलता है । वह चैतन्यस्वरूप है । सब को चेतना देता है । हिलना-डुलना, झेलना चालना, इत्यादि, सृष्टि के बहुत से व्यापार, उसीसे होते हैं ॥२९॥३०॥ जितना कुछ चलन, बलन, प्रसरण, निरोधन, आकुंचन है वह सब चंचलरूपी 'वायु' ही है ॥३१॥ प्राण, अपान, ध्यान, उदान समान ये पांच प्राण; और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय ये पांच उपप्राण, इत्यादि, जितना कुछ चलन है, वह सब वायु का लक्षण है । चन्द्र, सूर्य और तारागण भी आकाश में वायु के कारण ही स्थित हैं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

अब 'आकाश' देखिये; जितना कुछ पोला, निर्मल, निश्चल और अवकाश है उस सब को 'आकाश' जानना चाहिए ॥ ३४ ॥ आकाश सब में व्यापक है; आकाश अनेक में एक है; और आकाश ही में शेष चारों भूत खेल रहे हैं ॥ ३५ ॥ आकाश सब भूतों में श्रेष्ठ है, वह सब से बड़ा है वह निराकार स्वरूप के समान है ॥ ३६ ॥ इस पर शिष्य ने शंका की कि, "जब दोनों का रूप समान ही है तब फिर आकाश ही को ब्रह्म क्यों न कहा जाय? ॥ ३७ ॥ जब आकाश और ब्रह्म में कुछ भेद ही नहीं है तब फिर आकाश को स्वतःसिद्ध 'वस्तु' ही क्यों न कहें? ॥ ३८ ॥ जैसे 'वस्तु' (ब्रह्म) अवज्ञ, अटल, निर्मल और निश्चल है वैसे ही आकाश भी है-वह केवल 'वस्तु' के ही सदृश है" ॥ ३९ ॥ इस पर वक्ता उत्तर देता है:-'वस्तु' निर्गुण शाश्वत है; और आकाश में काम, क्रोध, शोक, मोह, भय, अज्ञान और शून्यत्व, ये सब प्रकार के गुण शास्त्रों में कहे हैं । इसी कारण आकाश की भूतों में गणना हुई है और निर्गुण स्वरूप निर्विकार तथा निरुपम है ॥ ४०-४२ ॥ कांच से जड़ो हुई पथरी और जल विलकुल एक ही से मालूम होते हैं; पण्डु चतुर लोग जानत हैं कि यह कांच है. और यह जल है ॥४३॥ कहीं रुई के बोंब में एक सफ़ाटेक पत्थर पड़ गया था; लोगों ने जाना यह सब रुई ही है; एक दिन एक मनुष्य रुई के धोखे उस पर कूदा-उसका कपालमोक्ष (शिर छूटना) हो गया । यह बात कपास से कैसे हो सकती है? ॥ ४४ ॥ चाबलों में सफ़ेद कंकड़ कोई

काई चावल की ही तरह टेढ़े भी होते हैं-वे चावल चबाते समय जब दांत में पड़ जाते हैं तब मालूम होते हैं ॥ ४५ ॥ त्रिभाग (चुना, बालू और तागे का गारा) का कंकड़ त्रिभाग ही सा मालूम होता है । ढूँढ़ने से कठिनता के रूप में अलग देख पड़ता है ॥ ४६ ॥ गुड़ के समान ही गुड़-पत्थर होता है; परन्तु होता वह विलकुल कठोर है । नागवेल की लकड़ी और मुलहठी एक ही से होते हैं; पर वे एक नहीं कहे जा सकते ॥ ४७ ॥ सोना और सोनपीतल (मुलम्मेदार पीतल) दोनों विलकुल एक ही से मालूम होते हैं; पर पीतल को आग पर तचाने से उसमें कालिमा आ जाती है ॥ ४८ ॥ अच्छा, अब ये हीन दृष्टान्त बस करो । आकाश केवल भूत है, सो वह भूत और अनन्त (ब्रह्म) दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? ॥ ४९ ॥ 'वस्तु' में वर्ण ही नहीं है; और आकाश श्यामवर्ण है-तब फिर भला विचक्षण पुरुष दोनों में समता कैसे कर सकते हैं ? ॥ ५० ॥

इस पर श्रोता लोग कहते हैं कि " आकाश विलकुल अरूप है-आकाश 'वस्तु' ही के रूप का है-भेद नहीं है ॥ ५१ ॥ चारों भूत नश्वर हैं; पर आकाश का नाश नहीं है । आकाश में वर्णव्यक्ति और विकार नहीं है ॥ ५२ ॥ आकाश अचल दिखता है-उसका नाश कहां देख पड़ता है ! हमारी राय में तो आकाश शाश्वत है " ॥ ५३ ॥ ये वचन सुन कर भक्ता उत्तर देता है कि; अच्छा, अब आकाश का लक्षण सुनिये:-॥ ५४ ॥ आकाश तमोगुण से हुआ है, इस कारण वह कामक्रोध से वेष्टित है और अज्ञान या गून्धत्व उसका नाम है ॥ ५५ ॥ अज्ञान से काम, क्रोध, मोह, भय, और शोक आदि जो पैदा होते हैं वे सब आकाश ही के लक्षण हैं ॥ ५६ ॥ जिसका कुछ अस्तित्व नहीं है वही शून्य है । इसी अर्थ में अज्ञान प्राणी को हृदयशून्य कहते हैं ॥ ५७ ॥ आकाश स्तब्धता के कारण शून्य है, और शून्य ही अज्ञान है; तथा अज्ञान ही जडता का रूप है ॥ ५८ ॥ जो कठिन शून्य और विकारी है उसे शाश्वतस्वरूप कैसे कह सकते हैं ? सिर्फ ऊपर ऊपर देखने में वह सतस्वरूप के समान जान पड़ता है ॥ ५९ ॥ परन्तु आकाश में अज्ञान मिला हुआ है । यह आकाश और अज्ञान का मिश्रण ज्ञान से नाश हो जाता है, अतएव आकाश नश्वर ही है ॥ ६० ॥ यद्यपि आकाश और ब्रह्मस्वरूप देखने में एकरूप मालूम होते हैं, पर दोनों में शून्यत्व का विक्षेप है-(आकाश और स्वरूप में इतना ही भेद है कि, आकाश में शून्यत्व है और स्वरूप में नहीं) ॥ ६१ ॥ ऊपर ऊपर, कल्पना से, देखने पर, दोनों एक ही समान अवश्य जान पड़ते हैं; पर वास्तव में आकाश और ब्रह्म में भेद है ॥ ६२ ॥ उन्मत्तो और सुषुप्ति अवस्था, वास्तव में एक ही सी जान पड़ती है; पर विवेक से देखने पर दोनों में भेद पाया जाता है ॥ ६३ ॥

सोटा पदार्थ खरे के समान जान पड़ता है; पर परत्तिव्रत लोग पहचान जाते हैं। चिरेने मृगजल को देख कर क्यों भूल जाते हैं ? इसी लिए तो कि, उन्हें खरे खांटे का ज्ञान नहीं है ॥ ६४ ॥

अस्तु । इन दृष्टान्तों से समझ सकते हैं कि आकाश-भूत और परमात्म-स्वरूप दोनों एक नहीं हो सकते ॥ ६५ ॥ आकाश से अलग रह कर हम उसे देख सकते हैं; पर ब्रह्म को देखने के लिए ब्रह्म ही बनना पड़ता है—'वस्तु' का देखना स्वभाव ही से ऐसा है (अर्थात् जब तक 'वस्तु' से तादात्म्य न होगा तब तक वह नहीं दिख सकता) ॥ ६६ ॥ इतने से आशंका मिट जाती है, सन्देहवृत्ति अस्त हो जाती है । अस्तु । स्वरूप-स्थिते भिन्नता से अनुभव में नहीं आ सकता ॥ ६७ ॥ आकाश अनुभव में आता है, पर स्वरूप अनुभव से अलग है—इस लिए आकाश से उसको बराबरी नहीं हो सकता ॥ ६८ ॥ दुग्ध के समान हो, उसमें मिला हुआ, जल का अंश जिस प्रकार राजहंस ही निकाल सकते हैं उसी प्रकार ब्रह्म और आकाश का विचार सन्त पुरुष ही जानते हैं ॥ ६९ ॥ सम्पूर्ण माया का गाथा-जाल सन्त-संग से अच्छी तरह समझ लेना चाहिए । मोक्ष की पदवी सन्तसमागम से ही प्राप्त होती है ॥ ७० ॥

छठवाँ समास—सत्संग और मोक्ष ।

॥ श्रीराम ॥

ओता वक्ता से विनयपूर्वक पूछता है कि, "कृपामूर्ति, मुझ दीन को यह बतलाइये कि सत्संग की क्या महिमा है और सन्तसमागम से मोक्ष कितने दिन में मिलता है ॥ १ ॥ २ ॥ उत्तरः—सन्तसमागम से मुक्ति तत्काल ही मिलती है; परन्तु साधु के उपदेश में विश्वास रखना चाहिए । दुश्चेत रहने से हानि होती है ॥ ३ ॥ प्रश्नः—स्वस्थ दशा में भी मन कभी कभी अकस्मात् चञ्चल हो जाता है; उसे स्थिर कैसे करना चाहिए ? ॥ ४ ॥ उत्तरः—मन की चञ्चल गतियों को, विवेक से रोक कर, सावधान के साथ, साधुओं का उपदेश श्रवण करके, समय सार्थक करना चाहिये ॥ ५ ॥ जो कुछ श्रवण करे उसके अर्थ और प्रमेय (सिद्धान्त) को मन में विचारना चाहिए । मन यदि चञ्चल होने लगे तो फिर श्रवण करना चाहिए ॥ ६ ॥ अर्थ के भीतर पैठे बिना, जो ऊपर ऊपर का ही श्रवण करता है

लोग इस बात का खेद मानेंगे कि हमको पाषाण बना डाला ! अच्छा, अब सावधान होकर पाषाण का लक्षण सुनिये:-॥ ८ ॥

पत्थर यदि एक बार घड़ कर ठीक कर दिया जाता है तो फिर वह सदा वैसा ही बना रहता है । देखिये, टांकी से पत्थर का जो टुकड़ा फोड़ा जाता है वह फिर नहीं जुड़ता, परन्तु मनुष्य का यह हाल नहीं है-उसको कुबुद्धि यदि एक बार निकाल डाली जाती है तो दूसरी बार फिर भी वह उसमें आ जाती है ॥ ९ ॥ १० ॥ मनुष्य को सिखाने से, एक बार उसका अवगुण चला जाता है; पर फिर पीछे से आ जाता है; (लेकिन पाषाण का ऐसा हाल नहीं है-वह एक बार घड़ कर ठीक कर देने से सदा वैसाही बना रहता है,) इस लिए मनुष्य की अपेक्षा पाषाण बहुत अच्छा ठहरा । ॥ ११ ॥ जिस मनुष्य का अवगुण छूटता ही नहीं उसे पाषाण से भी तुच्छ समझो- उससे तो पत्थर कोटिगुना अच्छा है ॥ १२ ॥ “ पत्थर कोटिगुना क्यों ” ? इसका भी लक्षण सुनिये:-॥ १३ ॥ माणिक, मोती, प्रवाल, वैदूर्य, हीरा, गोमेदमणि, पारस, सोमकान्त, सूर्यकान्त, इत्यादि अनेक बहुमूल्य पत्थर होते हैं, तथा नाना प्रकार की ओपाधि-माणियां अत्यन्त उपयोगी होती हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥ इनके अतिरिक्त और भी अच्छे पाषाण हैं; जो नाना तीर्थों में, बावडियों में, कुआँ में लगे हैं अथवा जो महादेव या विष्णु की मूर्तियों के रूप में पूजे जाते हैं ॥ १६ ॥ इस दृष्टि से, विचार करने पर, जान पड़ता है कि मनुष्य तो उन पत्थरों के सामने अत्यन्त तुच्छ है ॥ १७ ॥ अतएव, मनुष्य उक्त पत्थरों की बराबरी कदापि नहीं कर सकता ! हाँ, दुश्चित्त और अभक्त लोगों को अपवित्र और बेकाम पत्थरों की उपमा भले ही दे दीजिए ! ॥ १८ ॥

अस्तु; अब यह कथन बस करो । यह ध्यान में रखना चाहिए कि दुश्चित्तता से हानि होता है और इसी कारण प्रपंच या परमार्थ, कुछ भी नहीं बनता ॥ १९ ॥ दुश्चित्तता से कार्य नाश होता है, चिंता आती है और सुनी हुई बात जणभर भी मन में नहीं रहती ॥ २० ॥ दुश्चित्तता से द्वार हानो है; जन्ममरण प्राप्त होता है और हानि हानो है ॥ २१ ॥ दुश्चित्तता से साधक लोग साधन और भजन नहीं कर सकते और वे ज्ञान भी नहीं प्राप्त कर सकते ॥ २२ ॥ दुश्चित्तता से निश्चय नहीं होता, जय नहीं मिलता और दुश्चित्तता ही से स्वाहित का क्षय होता है ॥ २३ ॥ दुश्चित्तपन से धयण नहीं बन पड़ता; विचरण नहीं बनता और प्राप्त किया हुआ निरूपण भी चला जाता है ॥ २४ ॥ दुश्चित्त पुरुष ऊपर ऊपर से, देखने में तो स्थिर धैरा हुआ भा श्रेय पड़ता है; पर वास्तव में, भीतर से, उसका मन ठिकाने नहीं रहना ॥ २५ ॥ दुश्चित्त मनुष्यों का समय इसी प्रकार कटता है

प्रकार, पागल, पिशाच से सताये हुए, अंधे, मूक और बहरे पुरुषों का समय जाता है ॥ २६ ॥ सावधानता होने पर भी ऐसे पुरुषों को कुछ समझ नहीं पड़ता, श्रवण (कान) होने पर भी सुन नहीं पड़ता और ज्ञान होने पर भी उन्हें सारासार का विचार नहीं मालूम होता ॥ २७ ॥ जो दुश्चित्त है और रातदिन आलस में रहता है उसे परलोक नहीं मिल सकता ॥ २८ ॥ ज्योंही वह दुश्चित्तता से छूटता है त्योंही आलस उस आ धरता है; जहाँ जहाँ आलस आया वहाँ फिर मनुष्य को अवकाश ही नहीं मिलता ॥ २९ ॥

आलस से विचार रह जाता है, आचार डूब जाता है और, कुछ भी क्यों न किया जाय, आलसी मनुष्य उत्तम उत्तम बातें याद नहीं रख सकता ॥ ३० ॥ आलस से श्रवण नहीं बनता, निरूपण नहीं हो सकता और परमार्थ को पहचान मलिन हो जाता है ॥ ३१ ॥ आलस से नित्यनेम छूट जाता है, अभ्यास डूब जाता है और आलस से, खूब आलस ही बढ़ता है ॥ ३२ ॥ आलस से धारणा और धृति चली जाती है, वृत्ति मलिन हो जाती है और विवेक की गति मंद हो जाती है ॥ ३३ ॥ आलस से निद्रा बढ़ती है, वासना विस्तृत होती है और निश्चयात्मक सद्बुद्धि चली जाती है ॥ ३४ ॥ दुश्चित्तता से आलस आता है; आलस से सुखनीद आती है और सुखनीद से केवल आयु का नाश होता है ॥ ३५ ॥ निद्रा, आलस और दुश्चित्तता का होना ही मूर्ख का लक्षण है। इन अवगुणों के कारण निरूपण समझ में नहीं आता ॥ ३६ ॥ जहाँ ये तीनों कुलक्षण हैं वहाँ विवेक कहाँ से होगा? अज्ञानी पुरुष इन अवगुणों ही में बड़ा सुख मानता है ॥ ३७ ॥ भुग्व लगते ही खाता है, खाकर उठते ही आलस आता है और आलस आते ही निधड़क सो जाता है ॥ ३८ ॥ तथा सोकर उठते ही फिर दुश्चित्त बन जाता है! सारांश, ऐसे पुरुष कभी सावधानचित्त तो रहते ही नहीं; फिर निरूपण में उन्हें आत्महित का ज्ञान न हो तो कैसे? ॥ ३९ ॥ बन्दर को रत्न और पिशाच को द्रव्य-कोश सौंप देने से जो दशा होती है वही दशा दुश्चित्त पुरुष के आगे निरूपण की होती है ॥ ४० ॥

अस्तु। श्रोताओं ने पहले जो यह आशंका की कि सन्त-समागम करने से मोक्ष कितने दिन में मिलता है उसका उत्तर अब सावधान होकर सुनना चाहिए ॥ ४१ ॥ ४२ जैसे लोह पारस के छूने से उसी क्षण सोना हो जाता है, जलविन्दु सागर में तत्क्षण मिल जाता है और जैसे कोई नदी गंगा में मिलते ही गंगा का रूप हो जाता है ॥ ४३ ॥ उसी प्रकार जो पुरुष सावधान, उद्योगी और दक्ष हैं उन्हें तत्काल ही संतसंग से मोक्ष मिलता है और दूसरों के लिए तो वह अलक्ष है—उसे देख ही नहीं सकते ॥ ४४ ॥ उसके लिए शिष्य को प्रज्ञा ही चाहिये; प्रज्ञावन्त को देर नहीं

लगती-अनन्य को तत्काल मोक्ष मिलता है ॥४५॥ जो प्रज्ञावंत और अनन्य है-
उसे मोक्ष पाने में एक क्षण भी नहीं लगता; परन्तु अनन्य भाव जब तक न
हो तब तक प्रज्ञा किसी काम का नहीं ॥ ४६ ॥ विना प्रज्ञा अर्थ नहीं मालूम
होता, और विना विश्वास 'वस्तु' का ज्ञान नहीं होता । प्रज्ञा और विश्वास
से देहाभिमान छूट जाता है ॥४७॥ तथा, देहाभिमान छूट जाने पर सहज
ही 'वस्तु' को प्राप्ति होती है । सत्संग से सत् गति मिलते देर ही नहीं लगती
॥ ४८ ॥ जो विशेष सावधान, उद्योगी, प्रज्ञावंत और विश्वासी है उसे साधन
का परिश्रम करना ही नहीं पड़ता ॥ ४९ ॥ और जो उत्तम भाविक हैं उन्हें
भी साधन से मोक्ष मिलता है । साधुसंग से तत्काल ही विवेकदृष्टि का
विकास होता है ॥ ५० ॥ तथापि अध्यात्म निरूपण के श्रवण-का साधन
अवश्य करना चाहिये क्योंकि इस साधन से सब को लाभ होता है ॥ ५१ ॥

अब, आगे यह सब निरूपण अच्छी तरह से बतलाया गया है कि मोक्ष
कैसा है, स्वरूप को दशा कैसी है और सत्संग-द्वारा उसका प्राप्ति का
भंगेसा क्यों करना चाहिए । श्रोता लोग स्थिरचित्त होकर इस निरूपण की
श्रुति ध्यान दें ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ अवगुण छुड़ाने के लिए न्याय-नेष्टुर (जो
घात न्याय से नेष्टुर है) बोलना पड़ता है । श्रोता लोग, कृपा करके, ऐसे
वचनों से अप्रसन्न न हों ! ॥ ५४ ॥

सातवाँ समास-मोक्ष-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

पोंछे श्रोताओं ने जो यह प्रश्न किया था कि मोक्ष कितने दिन में होता है
उसका उत्तर स्थिर चित्त से सुनिये । १ ॥ इसके सिवाय यह भी बतलाया
जाता है कि, मोक्ष को कैसे जानना चाहिए, मोक्ष कहते किसे हैं और
सत्संग से मोक्ष कैसे मिलता है ॥ २ ॥ बँधे हुए को 'बद्ध' कहने हैं और
छूटे हुए, या मोक्ष पाये हुए, को 'मुक्त' कहते हैं । अस्तु । अब यह बतलाते
हैं कि, सन्तसमानम से मोक्ष कैसे मिलता है ॥ ३ ॥ प्राणी संकल्प से बंधा
होता है-जीवपन से बद्ध हुआ होता है-उसे विवेक से साधु जन मुक्त करते
हैं ॥ ४ ॥ यह दृढ़ संकल्प, कि " मैं जीव हूँ, " धारण किये हुए कल्प
व्यतीत हो जाते हैं, इसी कारण, देहबुद्धि से, प्राणी बद्ध होता है ॥ ५ ॥
जिसको यह कल्पना दृढ़ हो गई है कि " मैं जीव हूँ, मुझे बंधन
है, मुझे जन्ममरण है और अब किये हुए कर्मों का फल मैं भोगूंगा । पाप

का फल दुःख है और पुण्य का फल सुख है । पापपुण्य भोग छूट नहीं सकता और गर्भवास भी मिट नहीं सकता ” ॥ ६-८ ॥ उसीका नाम है- वैधा हुआ । जैसे रेशम का कोड़ा अपने को ही बांध कर मृत्यु पाता है उसी प्रकार प्राणी ' जीवपन ' के अभिमान से स्वयं बद्ध बन रहा है ॥ ९ ॥ अज्ञान प्राणी (मनुष्य) भगवान् को न जानते हुए कहता है कि “ मेरा जन्ममरण तो छूटता ही नहीं ! ॥ १० ॥ अब, कुछ दान करूं, जो अगले जन्म का आधार होगा और जिससे मेरा जीवन सुख से व्यतीत होगा ॥ ११ ॥ पूर्वजन्म में दान नहीं किया, इसीसे दरिद्रता पाई है-अब तो कुछ करना चाहेए न ! ” ॥ १२ ॥ इली विचार से वह पुराने वस्त्र तथा एक तांबे का पैसा दान करता है ! और कहता है कि अब आगे कोटिगुना पाऊंगा ॥ १३ ॥ कुशावर्त और कुरुक्षेत्र में, दान करने की महिमा सुन कर, दान करता है और मन में करोड़गुना पाने की आशा रखता है ! ॥ १४ ॥ धेली सूका (आठ-चार आना) दान कर देता है, आतोये-अभ्यागत को एक टुकड़ा डाल देता है और मन में सोचता है “ कि अब तो हमारा करोड़ टुकड़ों का ढेर जमा होगया ! ॥ १५ ॥ वह करोड़ टुकड़ों का ढेर में अगले जन्म में बैठे बैठे खाऊंगा ! ” अस्तु । इसी प्रकार प्राणियों की वासना जन्म-कर्म में सुँधी रहती है ॥ १६ ॥

जो ऐसी कल्पना करता हो कि, इस जन्म में मैं जो कुछ दूंगा सो अगले जन्म में पाऊंगा, उसे अज्ञान, बद्ध जानना चाहिए ॥ १७ ॥ बहुत जन्मों के बाद नरदेह मिलतो है-य.दे इस देह में ज्ञान-द्वारा सहाते न हुई तो फिर गर्भवास नहीं छूटता ॥ १८ ॥ और फिर यह भी नहीं हो सकता कि, गर्भ-वास नरदेह ही में होता हो; किन्तु अकस्मात् नाच-योनि भोगना पड़ती है । १९ ॥ बहुत से शास्त्रों में, बहुतों ने, बहुत प्रकार से, ऐसा ही निश्चय किया है कि, संसार में फिर नरदेह दुर्लभ है ॥ २० ॥ भागवत में व्यास का ध्यान है कि, जब पापपुण्य की समता होती है तभी नरदेह मिलतो है-अन्यथा नहीं ॥ २१ ॥

नृदेहमाद्य सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान्भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥१॥

परम दुर्लभ और सुदुर्लभ नरदेहरूपी नौका, गुरुरूपी कर्णधार, और ईश्वर कृपारूपी अनुकूल वायु, पाकर भी जो मनुष्य भवसागर पार नहीं करता वह आत्महत्यारा है ॥ २२ ॥ २३ ॥ ज्ञान बिना मनुष्य को चौरासो लाख जन्ममृत्यु भोगनी पड़ती हैं-मानो वह उतनी हो (चौरासो लाख) आत्म-हत्यापं करता है-इसी लिए वह आत्महत्यारा हुआ ! ॥ २४ ॥ प्राणी नरदेह

में जब तक ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता तब तक जन्ममरण नहीं छूटता और नाना दारुण नाच योनियां भोगनो पढती हैं ॥२५॥ ज्ञान न होने के कारण प्राणी को रोछ, वन्दर, कुत्ता, सुअर, घोड़ा, बैल, भैंसा, गध्रा, फाँवा, गुर्गा, स्यार, विलार, गिर्दान (गिर्गिट), मँढक और मख्खो आदि को नाच योनियां भोगनो पढती हैं; पर मूर्ख मनुष्य (जाति) अगस्त जन्म को फिर भी आशा रखता है ! ॥ २६ ॥ २७ ॥ यह विश्वास रखने में लाज भी नहीं आती कि मरने पर फिर भी मनुष्य का ही शरीर मिलेगा ! ॥ २८ ॥ ऐसा कौनसा पुण्य जोड़ा है जो फिर नरदेह मिलेगा ! अगले जन्म को आशा रखना दुराशा मात्र है ॥ २९ ॥ यह मूर्ख, अज्ञान मनुष्य (जाति) अपने ही संकल्प से स्वयं अपने धो ही बाँध लेता और स्वयं अपना ही शत्रु बन बैठता है - ॥ ३० ॥

आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

अस्तु । वह संकल्प का बन्धन सन्तसमागम से छूट जाता है ॥ ३१ ॥

सब चराचर जीवों का शरीर पांच भूतों से बनता है । प्रकृति स्वभाव ही से जगत् के आकार में वर्तने लगती है ॥३२॥ देह, अवस्था, अभिमान, स्थान, भोग, मात्रा, गुण और शक्ति आदि चौपुटो तत्त्वों का लक्षण है ॥ ३३ ॥ ऐसी पिंड ब्रह्मांड की रचना है; विस्तार से कल्पना बढ़ गई है और तत्त्वज्ञान का निर्धार करते करते नाना मत भटक रहे हैं ॥ ३४ ॥ उन नाना मतों में नाना भेद हैं, और भेदों से विवाद बढ़ता जाता है; परन्तु एकता की बात सिर्फ साधु ही जानते हैं ॥ ३५ ॥ उस बात का लक्षण यह है कि:-देह पंचभूतिक है, और उसमें आत्मा मुख्य है ॥ ३६ ॥ देह अंत में नाश हो जाती है; अतएव, उसे आत्मा नहीं कह सकते । देह में नाना तत्त्वों का समुदाय आगया है ॥३७॥ अंतःकरण, प्राण, विषय, दस इंद्रियां सूक्ष्म देह, इत्यादि का विवेक, या लक्षण, शास्त्रों में बतलाया गया है ॥३८॥ सूक्ष्म देह का शोध करने से मालूम होता है कि अंतःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहकार आदि नाना तत्त्वों की उपाधियों से आत्मा अलग है ॥ ३९ ॥ स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, विराट, हिरण्यगर्भ, अन्याकृत और मूलप्रकृति नाम के आठ देह हैं ॥ ४० ॥ चार पिंड में, चार ब्रह्मांड में- इस प्रकार कुल आठ देह हैं; इनमें प्रकृति और पुरुष बढ़ा देने से दस देह हो जाते हैं ॥४१॥ ऐसा तत्त्वों का लक्षण है-आत्मा उनका साक्षी है; पर तौभी वह उनसे अलग है-कार्य, कर्ता और कारण ये तीनों उसके दृश्य हैं ॥४२॥

१ दशक १७ समाप्त ९ पद्य १-६ में इसका विस्तृत वर्णन है । २ इसका विशेष विवरण द० १७ स० ९ प० १८-२२ में देखिये ।

जीवशिव, पिंडब्रह्मांड, इत्यादि माया-अविद्या का गड़बड़ है । यह गड़बड़ बतलाया जाय तो बहुत विस्तृत है; परन्तु आत्मा इससे अलग है ॥ ४३ ॥ वास्तव में देखने से आत्मा चार हैं; उनका लक्षण बतलाते हैं; इसे दृढ़ता-पूर्वक स्मरण रखिये ॥ ४४ ॥ पहला जीवात्मा, दूसरा शिवात्मा, तीसरा परमात्मा, जो सम्पूर्ण विश्व का आत्मा है, और चौथा निर्मलात्मा ॥ ४५ ॥ माया के कारण इन चारों में ऊंचनीच का भेद भासता है; पर वास्तव में ये चारों एक ही हैं । इसका दृष्टान्त लीजिये:- ॥ ४६ ॥ जैसे घटाकाश, मठाकाश, महदाकाश और चिदाकाश-ये चार भेद आकाश के (उपाधि के कारण) हैं; पर वास्तव में सब मिल कर आकाश एक ही है ॥ ४७ ॥ वैसे ही, जीवात्मा, शिवात्मा, परमात्मा और निर्मलात्मा-ये चार भेद सिर्फ माया के कारण हैं; पर वास्तव में कुल मिल कर आत्मा एक ही है ॥ ४८ ॥ घट (घड़ा, पात्र) में जो आकाश व्यापक (भरा हुआ) है वह घटाकाश है । उसी तरह पिंड (सचराचर-देह) में जो ब्रह्मांश व्याप्त है उसे जीवात्मा कहते हैं ॥ ४९ ॥ मठ (मन्दिर, भवन) में जो आकाश व्यापक है वह मठाकाश है, वैसे ही ब्रह्मांड में जो ब्रह्मांश है वह शिवात्मा है ॥ ५० ॥ मठ के बाहर जो आकाश फैला हुआ देख पड़ता है उसे महदाकाश कहते हैं-इसी तरह ब्रह्मांड के बाहर जो ब्रह्मांश है उसे परमात्मा कहते हैं ॥ ५१ ॥ जैसे ' चिदाकाश ' घटमठादि उपाधियों से अलग होता है उसी प्रकार परमात्मा भी दृश्यरूप उपाधि से अलग है ॥ ५२ ॥ उपाधि के योग से भिन्न मालूम होने पर भी, जैसे आकाश अभिन्न है, वैसे ही स्वानन्दघन, सच्चिदानन्द परमात्मा भी समस्त और अभिन्न है ॥ ५३ ॥ दृश्य में भीतर-बाहर, निरन्तर परमात्मा व्याप्त है । उसको बड़ाई करने के लिए शेष भी असमर्थ है ॥ ५४ ॥ इस परमात्मा को जान लेने से जीवपन नहीं रहता । उपाधि को देखते हुए मालूम होता है कि जीवात्मादि चारों भेद उसीके योग से हैं; पर वास्तव में वे सब अभिन्न हैं ॥ ५५ ॥ प्राणी, जीवपन के कारण, एकदेशी होकर, अहंकार के योग से, जन्म के फेर में पड़ गया है; पर विवेक-द्वारा देखने पर जान पड़ता है कि, उसे जन्म आदि कुछ नहीं है ! ॥ ५६ ॥

अस्तु । जन्ममृत्यु से छूट जाने को मोक्ष कहते हैं और तत्वों को छुंढने से वास्तविक ' वस्तु ' मिलती है ॥ ५७ ॥ वही वस्तु हम हैं-" सोहं "-इस महावाक्य का तात्पर्य साधु लोग ही अपने मुख से बतलाते हैं ॥ ५८ ॥ जिसी क्षण में साधु अनुग्रह करता है उसी क्षण मोक्ष हो जाता है-आत्मा में बंधन कहां से आया ! ॥ ५९ ॥ इतने से आशंका मिट जाती है-संदेह-वृत्ते अस्त हो जाते हैं-संतसंग से तत्काल मोक्षपदवी मिलती है ॥ ६० ॥

प्रकार अज्ञान के कारण बद्ध हुआ जीव, ज्ञान से मोक्ष पा जाता है ॥ ६१ ॥ अज्ञान निशे का अंत होने पर संकल्प-दुःख नाश हो जाते हैं-और तत्काल मोक्ष को प्राप्ति होता है ॥ ६२ ॥ स्वप्न का बंधन तोड़ने के लिए दूसरे साधनों को आवश्यकता नहीं-उसके लिए जागृति को छोड़ कर और कोई प्रयत्न है ही नहीं ॥ ६३ ॥ उसी प्रकार जीव, जो संकल्प से बंधा हुआ है, उसे और दूसरा उपाय ही नहीं है-उसका बंधन विवेक से ही छूटेगा ॥ ६४ ॥ विवेक बिना जो जो उपाय किये जायेंगे सब व्यर्थ होंगे-और विवेक से देखने पर तो प्राणी स्वयं आत्मा ही है ! ॥ ६५ ॥ आत्मा में न तो बद्ध है न मोक्ष है-वहां दो में से कुछ भी नहीं है । तथा जन्म और मृत्यु का होना भी आत्मा में कभी सम्भव नहीं ! ॥ ६६ ॥

आठवां समास-परमात्मा का दर्शन ।

॥ श्रीराम ॥

पछे यह बताया गया कि परमात्मा वही है। अब उस परमात्मा को देखिये:- ॥ १ ॥ परमात्मा में जन्म-मृत्यु, आवागमन और बन्ध या मोक्ष नहीं है ॥ २ ॥ वह निर्गुण, निराकार, अनंत, अपार और नित्यनिरन्तर जैसा का तैसा ही है ॥ ३ ॥ वह सब में व्यापक है, अनेक में एक है। और उसका विवेक अतर्कनीय है ॥ ४ ॥ परमात्मा की स्थिति ऐसी ही (जैसी ऊपर कही गई) श्रुति और वेद बतलाते हैं। इसमें संशय नहीं कि परमात्मा भक्ति से मिलता है ॥ ५ ॥ वह भक्ति नव प्रकार की है। नवधा भक्ति से अनेकों भक्त मुक्त हो चुके हैं ॥ ६ ॥ उस नव प्रकार की भक्ति में आत्मनिवेदन भक्ति मुख्य और श्रेष्ठ है। उसका विचार स्वयं स्वानुभव से करना चाहिए ॥ ७ ॥ अपने ही अनुभव से अपने को निवेदन करना चाहिए-इसी को आत्मनिवेदन कहते हैं ॥ ८ ॥ जैसे महा-पूजा के अन्त में, अपनत्व का मोह छोड़ कर देवता पर मस्तक काट कर चढ़ा दिया जाता है, वैसे ही आत्मनिवेदन भक्ति में भी परमेश्वर में अपने अपनत्व को लीन कर देना होता है ॥ ९ ॥ ऐसे भक्त थोड़े होते हैं जो अपने को निवेदन करते हैं; और जो करते हैं, उन्हें परमात्मा तत्काल मुक्ति देता है ॥ १० ॥ इस पर श्रोता कहता है कि "अपने को कैसे निवेदन करें, कहां जा कर गिर पड़ें या देवता के सामने मस्तक काट के रखें

आत्मनिवेदन का लक्षण यह है कि, पहले देखे कि मैं कौन हूँ, इसके बाद फिर निर्गुण परमात्मा को पहचाने ॥ १३ ॥ इस प्रकार, 'परमात्मा' का और 'भक्त' का खोज करने से आत्मनिवेदन होता है। भक्त परमात्मा की शाश्वतता का अनुभव करता है ॥ १४ ॥ परमात्मा को पहचानते पहचानते वह उसीमें तद्रूप हो जाता है और परमात्मा, तथा भक्त में बिलकुल भिन्नता नहीं रहती ॥ १५ ॥ जोकि भक्त परमात्मा से 'विभक्त' नहीं होता, इसी लिए वह 'भक्त' कहलाता है—जैसे कि जिसे बन्धन नहीं होता वही मुक्त होता है—यह हमारा कथन शास्त्रोक्त है! ॥ १६ ॥ जब हम परमात्मा और भक्त का मूल देखते हैं, तब जान पड़ता है कि, इनमें कोई भेद नहीं। ये दोनों एक ही हैं और इस दृश्य जगत् से अलग हैं ॥ १७ ॥ परमात्मा में मिलने पर द्वैत नहीं रहता। 'परमात्मा' और 'भक्त' की भिन्नता का भेद मिट जाता है ॥ १८ ॥ आत्मनिवेदन के अन्त में जो अभेद भक्ति होती है उसी को सत्य सायुज्यमुक्ति जानना चाहिए ॥ १९ ॥ जो सन्तों के शरण जाता है; और अद्वैत निरूपण से बोध पाता है; (वह जरूर तद्रूप हो जाता है) वह यदि फिर अलग किया भी जाय तो भी नहीं होता! ॥ २० ॥ जैसे जो नदी समुद्र में मिल जाती है वह फिर अलग नहीं की जा सकती, और जो लोहा सोना बन जाता है उसमें फिर कालिमा नहीं आ सकती ॥ २१ ॥ वैसे ही जो भगवान् में मिल जाता है वह फिर अलग नहीं किया जा सकता। भक्त स्वयं परमात्मा हो जाता है—फिर वह विभक्त नहीं हो सकता ॥ २२ ॥ जो परमात्मा और भक्त की अनन्यता का अनुभव कर लेता है वही साधु मोक्षदायक है ॥ २३ ॥

अस्तु। जब भक्तपन से परमात्मा का दर्शन किया जाता है तभी परमात्मा का ऐश्वर्य अपने में आता है ॥ २४ ॥ देह ही को 'मैं' मान लेने से स्वाभाविक ही देहदुख भोगना पड़ता है और देहातीत होकर रहने से परब्रह्म मिलता है ॥ २५ ॥ अब बतलाइये कि देहातीत कैसे हों, परब्रह्म कैसे पावें और ऐश्वर्य के कौन से लक्षण हैं? ॥ २६ ॥ इसका उत्तर बतलाते हैं। सावधान हो कर सुनिये:—॥ २७ ॥ "वस्तु" देहातीत है और वही परब्रह्म तू अपने को जान। तुम्हें विदेह को देहसंग का कोई काम नहीं है" ॥ २८ ॥ ऐसी (उपर्युक्त प्रकार की) जिसकी बुद्धि हो जाती है, उसका वेद भी वर्णन करते हैं और नाना शास्त्र उसे, ढूँढने पर, नहीं पा सकते ॥ २९ ॥ देहबुद्धि छोड़ने पर वास्तव में यह ऐश्वर्य आ जाता है और देह ही को 'मैं' मान लेने से अधोगति होती है ॥ ३० ॥ अस्तु। साधु-वचनको मिथ्या न मानना चाहिए; क्योंकि इस से पाप लगता है ॥ ३१ ॥ इस पर शिष्य पूछता है कि "हे स्वामी एक बार मुझे यह

वतला दीजिए कि, साधु-वचन क्या है, और किस पर विश्वास रखना चाहिए? ॥ ३२ ॥ “स्वानंदघन, अजन्मा और सोहं शब्द से निर्दिष्ट जो आत्मा है वही तू है”-यही साधु-वचन है और इसी पर विश्वास रखना चाहिए ॥ ३३ ॥ महावाक्य का यही गुह्य है कि “तू ही निरन्तर ब्रह्म है” । इस वचन को भूलना ही न चाहिए ॥ ३४ ॥ इस कथन को निर्भ्रान्त कभी न मानना चाहिए कि “जब देह का अन्त होगा तब मैं अनन्त (ब्रह्म) को पाऊंगा” ॥ ३५ ॥ कोई कोई मूर्ख कहते हैं कि जब कल्पान्त में माया नाश हो जायगी तब हम को ब्रह्मप्राप्ति होगी-अन्यथा नहीं ॥ ३६ ॥ यह कहना मिथ्या है कि, माया का जब कल्पान्त होगा, अथवा देह का जब अन्त होगा, तब मैं ब्रह्म पाऊंगा । इस प्रकार समाधान नहीं हो सकता । समाधान का लक्षण ही अलग है ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ (यह मूर्खता को कल्पना है कि) सारी सेना मर जाने पर राज्यपद प्राप्त किया जाय ! उनको यह नहीं मालूम कि, सेना के उपस्थित रहते ही, राज्य कर सकते हैं ॥ ३९ ॥ वह समाधान प्राप्त करना चाहिए कि, जिस में माया रह कर भी, नहीं रहती और देह के रहते हुए ही, विदेहदशा आ जाती है ॥ ४० ॥ राज्यपद दाय आजाने पर, फिर सेना बनी भी रहे, तो कोई हर्ज नहीं; क्योंकि यह तो हो ही नहीं सकता कि, सेना के रहने से राज्य चला जाय ॥ ४१ ॥ आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर यही हाल दृश्य देहभान का है । देहभान दृष्टि पडने से कुछ समाधान जा नहीं सकता* ॥ ४२ ॥ रास्ते में किसी वृक्ष को स्पर्शकार जड देखने पर बहुत डर लगता है, पर जब यह मालूम हो जाता है कि, यह सर्प नहीं है, जड है, तब फिर उसे कोई नहीं मारता ॥ ४३ ॥ इसी प्रकार माया भयानक है; पर विचार कर देखने से मिथ्या है; तब फिर उसको धाक क्यों मानना चाहिए ! ॥ ४४ ॥ मृगजल की बात को देख कर यदि कोई कहे, कि कैसे पार होऊंगा, तो यह भ्रम है, उसका विचार करने से कोई संकट की बात नहीं ॥ ४५ ॥ भयानक स्वप्न देखने से स्वप्नावस्था में बहुत डर मालूम होता है; पर जग उठने पर डर क्यों करना चाहिए? ॥ ४६ ॥ हां, इतना जरूर है कि माया कल्पना को विगती है पर कल्पनातीत हो जाने पर, वहां, निर्विकल्प-दशा में, माया

* जैसे २२६ राज्यपद और सेना के वंश ही उधर आत्मज्ञान और दृश्य देहभान है । सारी सेना मर जाने पर राजा बनने की अपेक्षा, सेना बनी रहते ही राजा होना अच्छा है । राजा बनी रहने पर भी, वह निरन्तर जान पड़नी चाहिए और देह बनी रहने पर भी, विदेह-दशा प्राप्त होनी चाहिए । राज्यपद मिलने पर सेना के बने रहने से क्या विगडना है ? इसी प्रकार आत्मज्ञान हो जाने पर माया और देह क्या डर मचाने हैं ?

कहा आ सकती है ? ॥ ४७ ॥ यह तो सभी कहते हैं कि, अन्त में जैसी मति होती है वैसी गति मिलती है । इस लिए देहबुद्धि का नाश होने पर सहज ही मोक्ष को प्राप्ति होती है ॥ ४८ ॥ स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महा-कारण, इन चारों देहों के अन्त से, और जन्म से, आत्मा अलिप्त है—वही आत्मा 'तू' है ॥ ४९ ॥

अस्तु । जिसकी ऐसी (उपर्युक्त) मति है उसे ज्ञान से आत्मगति मिलती है—वह गति-अवगति से अलग हो जाता है ॥ ५० ॥ जहाँ वेदों की मति मन्द हो जाती है वहाँ गति-अवगति कहाँ से आई—वहाँ तो आत्म-शास्त्र-गुरु-प्रतीति की एकता हो जाती है—ये तीनों प्रतीतियाँ एक हो जाती हैं ॥ ५१ ॥ सद्गुरुबोध से जीवपन की भ्रान्ति मिटती है, 'वस्तु' आत्म-अनुभव में आती है और प्राणी उत्तम गति पाता है ॥ ५२ ॥ सद्गुरु-बोध के आते ही चारों देहों का अन्त हो जाता है, और इसीसे सत्स्वरूप में निदिध्यास लगता है ॥ ५३ ॥ उस निदिध्यास से प्राणी अन्त में स्वः ध्येय (परब्रह्म) ही बन जाता है और सायुज्यमुक्ति का स्वामी बन बैठता है ! ॥ ५४ ॥ दृश्य पदार्थों का निरसन करने से वास्तव में जो कुछ बचना है वह सब आत्मा ही है । ध्यान से विचार करने पर मालूम होता है कि दृश्य, आदि से ही, मिथ्या है ॥ ५५ ॥ इस मिथ्या (माया) के मिथ्यात्व को समझना, और उस मिथ्यात्व को अनुभव में लाना ही, मोक्ष है ॥ ५६ ॥ जो सद्गुरु-वचन हृदय में धरता है वही मोक्ष का अधिकारी है । वह बारम्बार, अति आदर से, श्रवण-मनन किया ही करता है ॥ ५७ ॥ जहाँ दोनों पक्ष नहीं रहते और जहाँ न लक्ष है, न अलक्ष है ठीक वही आत्मा है—और उसीका नाम मोक्ष है ॥ ५८ ॥ वहाँ ध्यानधारणा की समाप्ति हो जाती है, कल्पना निर्विकल्प में लीन हो जाती है और केवल ज्ञप्तिमात्र-ज्ञानस्वरूप सूक्ष्म ब्रह्म-वच रहता है ॥ ५९ ॥

भव-भृगजल नहीं रहता, मिथ्या बन्धन छूट जाता है । उस दशा में, वह मुक्त, अजन्मा (आत्मा) को सचमुच जन्मदुःख से मुक्त करता है ! ॥ ६० ॥ निस्संग की संगत्याधि, विदेह की देहबुद्धि और निष्पञ्च की उपाधि विवेक से तोड़ डालता है ! ॥ ६१ ॥ अद्वैत का द्वैत तोड़ डालता है, एकान्त को एकान्त दे देता है और अनन्त को अनन्त का अन्त दे देता है ! ॥ ६२ ॥ जागृति को जगाता है, जगो हुए को सावधान करता है और आत्मज्ञान को आत्मज्ञान का प्रबोध करता है ! ॥ ६३ ॥ अमृत को अमर, मोक्ष को मुक्ति का घर, बनाता है और संयोग को निरन्तर योग देता है ! ॥ ६४ ॥ निर्गुण को 'निर्गुण' करता है । इस प्रकार सार्यक का सार्यक होता है और बहुत दिन में अपने को 'अपना' मिलता है ! ॥ ६५ ॥ द्वैत

का पड़दा फट जाता है, अभेद भेद को तोड़ डालता है और भूतपञ्चक (पञ्चभूतात्मक शरीर की अहंता) की बाधा निकल जाती है ! ॥ ६६ ॥ साधन का फल मिलता है, निश्चल को निश्चल मिलता है और विवेकबल से निर्मल का भी 'मल' चला जाता है ! ॥ ६७ ॥ पास या, पर भूले हुए थे । अब जिसका जो है वह उसको प्राप्त हो जाता है, और देखते ही देखते जन्मदुःख मिट जाता है ! ॥ ६८ ॥ दुष्ट स्वप्न में ब्राह्मण नीचजाति पाकर घबड़ाता है, पर जग उठने पर वह अपने को अपनी ही जाति में पाता है ॥ ६९ ॥ इसी प्रकार जीव, जो अज्ञानरूप स्वप्न में, अपने सत्य स्वरूप को, भूला हुआ था, ज्ञानरूप जागृति आ जाने पर, अपने सत्य स्वरूप को पहचानता है । अस्तु । ऐसे ही ज्ञानी के लक्षण अगले समास में बतलाये गये हैं ॥ ७० ॥

नववाँ समास-साधु-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

जैसे अमृत पान करने पर, शरीर तेजस्वी हो जाता है वैसे ही सत्स्वरूप का अनुभव हो जाने पर, फिर सन्तों के लक्षणों को क्या पूछना है ? ॥ १ ॥ तथापि यह जानने के लिए कि, सच्चा आत्मज्ञानी कौन है, यहाँ पर, साधारण तौर पर साधुओं के लक्षण बतलाये जाते हैं:- ॥ २ ॥ वास्तव में सिद्ध या साधु साक्षात् सत्स्वरूप ही है । सत्स्वरूप और सिद्धस्वरूप में कोई भेद नहीं है ॥ ३ ॥ जो सत्स्वरूप ही होकर रहता है उसे सिद्ध कहते हैं-सिद्धस्वरूप ही में (ब्रह्मस्वरूप ही में) सिद्धपन शोभा देता है ॥ ४ ॥ जो स्वतःसिद्ध सत्स्वरूप वेदशास्त्रों में प्रसिद्ध है; उसी को सिद्ध कह सकते हैं-दूसरे को नहीं ॥ ५ ॥ तथापि साधकों को विवेक का ज्ञान होने के लिए कुछेक बतलाते हैं । सिद्ध-लक्षणों का कौतुक सुनिये ॥ ६ ॥ जब अन्तःस्थिति स्वरूपाकार हो जाती है तब काया का वर्तव्य ऐसा ही रह जाता है जैसे स्वभावस्था की भूठी स्वंप्ररचना ! ॥ ७ ॥ तथापि, सिद्धों के कुछ लक्षण बतलाता हूँ, जिससे परमार्थ की मुख्य पहचान मालूम हो जाय:- ॥ ८ ॥

साधु का मुख्य लक्षण यह है कि वह सदा स्वरूपानुसन्धान रखता है और लोगों में रह कर भी, लोगों से अलग रहता है ! ॥ ९ ॥ स्वरूप में दृष्टि लगते ही उसकी ससार की चिंता टूट जाती है और अध्यात्म-निरूपण में ममता लग जाती है ॥ १० ॥ यह है तो साधक का लक्षण; पर सिद्ध में यह होता है-साधक विना सिद्ध का लक्षण हो ही नहीं

सकता ॥११॥ सिद्ध का यह लक्षण चतुरों को जान लेना चाहिए, कि सिद्ध लोग बाहर से साधक की तरह रहते हैं; पर भीतर स्वरूपाकार ! ॥ १२ ॥ संदेहरहित साधन का होना ही सिद्धों का लक्षण है और उनके भीतर-बाहर अटल समाधान रहता है ॥ १३ ॥ जब अंतरस्थिति (भीतरी दशा) अचल हो जाती है तब वचां चंचलता का प्रवेश कैसे हो सकता है ? स्वरूप में वृत्ति लगने से वह स्वरूप ही हो जाती है ॥ १४ ॥ ऐसी दशा होने पर, फिर ' वह ' चलते हुए भी अचल है-चंचल होकर भी निश्चल है और वह ' स्वयं ' निश्चल है, किन्तु ' उसका ' देह चंचल है ! ॥ १५ ॥ जब वह स्वरूप में स्वरूप ही हो जाता है तब फिर चाहे वह पड़ा ही रहे, चाहे उठ कर भगे पर तौभी, है ' वह ' अचल ही ! ॥ १६ ॥ यहाँ मुख्य कारण अंतरस्थिति है-अंतर में ही निवृत्ति चाहिए । जिसका अंतर (हृदय) भगवान् में लगा है वही साधु है ॥१७॥ बाहर (देहादि) चाहे जैसा हो; पर अंतर ' स्वरूप ' में लगा हो-ये सब लक्षण साधु में स्वामात्रिक ही देख पड़ते हैं ॥ १८ ॥ जिस प्रकार राज्य पाने पर राजकला सहज ही आ जाती है उसी प्रकार अतःकरण ' स्वरूप ' में लग जाने से ये सब लक्षण सहज ही आ जाते हैं ॥ १९ ॥ अन्यथा, अभ्यास करने से, ये लक्षण कभी हाथ नहीं आते । वास्तव में, स्वरूप में स्वरूप ही होकर रहना चाहिए ॥ २० ॥ निर्गुण में वृत्ति रहना ही सब से बड़ा अभ्यास है । सन्तसमागम करके, अध्यात्म-निरूपण का मनन करने से, स्वरूपस्थिति आ जाती है ॥ २१ ॥ स्वरूपाकार होकर उत्तम लक्षणों का अभ्यास करना चाहिए । ' स्वरूप ' छोड़ देने से गोस्वामी भटकते हैं ! ॥ २२ ॥ अस्तु, अब यह कथन बस करो । साधु के लक्षण सुनो, जिनसे साधक को समाधान प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ स्वरूप में जब कल्पना लीन हो जाती है तब ' कामना ' कैसे रह सकती है ? इसी कारण साधुजनों के पास काम नहीं रहता ॥ २४ ॥ कल्पना किया हुआ विषय जब हाथ से चला जाता है तब ' क्रोध ' आता है, पर साधुजनों की अक्षय सन्पत्ति कभी जा नहीं सकती ॥ २५ ॥ इसी लिए वे ' क्रोध '-रहित होते हैं-वे नाशवंत पदार्थ छोड़ कर शाश्वत स्वरूप को जानते हैं ॥ २६ ॥ जहाँ दूसरा भेद ही नहीं है वहाँ क्रोध आवे तो किस पर ? इसी लिए साधुजन सचराचर में क्रोधरहित बर्ताव करते हैं ॥ २७ ॥ वे आप अपने ही में आनंदित रहते हैं-फिर ' मद ' किस पर करें, इस कारण (मद के न होने से) वे ' वाद; विवाद ' से भी अलग रहते हैं ॥ २८ ॥ साधु निर्विकार-स्वरूप होता है, उसमें ' तिरस्कार ' कहाँ से आया ? जहाँ सब आप ही अपना है वहाँ ' मत्सर ' किस पर किया जाय ? ॥ २९ ॥ साधु अनायास ही ' वस्तु '-

रूप होता है—इस कारण उसमें 'मत्सर' नहीं हो सकता—मदमत्सर के पिशाच साधु को नहीं लगते ! ॥ ३० ॥ साधु स्वयंभू स्वरूप होता है, अतएव, उसमें 'दंभ' कहां से आ सकता है ? वहां तो द्वैत का आरंभ ही नहीं होता ॥ ३१ ॥ जो दृश्य को नष्ट कर देता है उसमें 'प्रपंच' कैसे आ सकता है ? इस लिए साधु को 'निष्प्रपंच' जानना चाहिए ॥ ३२ ॥ सारा ब्रह्मांड उसका घर होता है । पंचभौतिक पसारे को वह मिथ्या समझ कर, सत्वर (शीघ्र) त्याग कर देता है ॥ ३३ ॥ इस कारण उसमें 'लोभ' नहीं होता—साधु सदा 'निर्लोभ' रहता है—उसकी वासना शुद्ध-स्वरूप में समरस (मिल जाना) हो जाती है ॥ ३४ ॥ जब सब अपना आप ही है तब 'शोक' किसका किया जाय ? इस कारण साधु को 'शोकरहित' जानना चाहिए ॥ ३५ ॥ नाशवान् दृश्य को छोड़ कर, शाश्वत स्वरूप का सेवन करने के कारण, साधु को शोकरहित जानना चाहिए ॥ ३६ ॥ शोक से वृत्ति को दुखित करना चाहें तो (यह नहीं हो सकता; क्योंकि) साधु में वृत्ति की निवृत्ति होगई है—इस लिए साधु (जो निवृत्त है) सदा शोकरहित ही होता है ॥ ३७ ॥ यदि 'मोह' से मन को व्याप्त करना चाहें, तो मन ही वहां उन्मन होगया है, इस कारण साधु जन सदा 'मोहातीत' होते हैं ॥ ३८ ॥ साधु अद्वय 'वस्तु' होता है—वहां 'भय' का ठिकाना कहां ? परब्रह्म निर्भय है और साधु भी उसीका रूप होता है ॥ ३९ ॥ अतएव, साधु 'भयातीत,' 'निर्भय' और 'शांत' होता है । सब का अंत हो जायगा, पर साधु अनन्तरूप है ॥ ४० ॥ जो सत्यस्वरूप में अमर हो चुका है उसे भय कैसे जान पड़ेगा ? अतएव, साधुजन निर्भय होते हैं ॥ ४१ ॥ जहां द्वंद्वभेद नहीं है—सब आप ही अपना अभेदरूप है—वहां 'देहबुद्धि' का खेद कैसे उठ सकता है ? ॥ ४२ ॥ साधु पुरुष बुद्धि से निर्गुण का निश्चय कर लेता है—और निर्गुण को कोई ले नहीं जा सकता—इस कारण साधुजनों को 'खेद' होने का कोई कारण ही नहीं ॥ ४३ ॥ साधु स्वयं तो विलकुल अकेला ही होता है, तब फिर 'स्वार्थ' किसका करे ? और जहां दृश्य (माया) है ही नहीं, वहां 'स्वार्थ' के लिए ठौर ही नहीं है ॥ ४४ ॥ जब साधु स्वयं ही एक है, तब वहां दुःख और शोक कहां का ? और द्वैत के बिना 'अविवेक' भी नहीं आ सकता ॥ ४५ ॥ परमार्थ की आशा रखने से साधु को स्वार्थ-सम्बन्धी 'दुराशा' टूट जाती है, अतएव, 'नैराश्य' होना भी साधु को एक पहचान है ॥ ४६ ॥ साधु आकाश की तरह मृदु होता है अतएव उसके वचनों में 'कठोरता' कहां से आ सकती है ? ॥ ४७ ॥ ब्रह्म-स्वरूप के संयोग से साधु स्वयं भी ब्रह्म-स्वरूप ही हो जाता है, अतएव वह निरंतर वीतरागी (विषय-प्रेम से रहित) रहता है ॥ ४८ ॥ स्वरूप

स्थिति आ जाने के कारण साधु देह को चिंता छोड़ देता है, इस कारण उसे होनहार की कोई 'चिंता' नहीं रहती ॥ ४६ ॥ साधुओं को बुद्धि परब्रह्म-स्वरूप में लीन रहती है, इस कारण उनकी सम्पूर्ण 'उपाधि' टूट जाती है और वे निरुपाधि हो न हैं ॥ ५० ॥ साधु सदा परब्रह्म-स्वरूप में ही रहता है और परब्रह्मस्वरूप में किसी प्रकार के 'संग' की गति नहीं, अतएव साधु 'मानापमान' की परवा नहीं करता ॥ ५१ ॥ अलक्ष में लक्ष लगाने कारण, साधु परमदक्ष होता है । वह परमार्थ का पक्ष करना जानता है ॥ ५२ ॥ साधु स्वयं ब्रह्मस्वरूप होता है; और ब्रह्मस्वरूप में 'मल' की गति नहीं; अतएव, साधु 'निर्मल' होता है ॥ ५३ ॥ परन्तु साधु का मुख्य लक्षण यह है कि, वह, परब्रह्म-स्वरूप में ही लीन रहना, अपना सब धर्मों से श्रेष्ठ धर्म समझता है—इसीको वह 'स्वधर्म' समझता है ! ॥ ५४ ॥

साधु की संगति करने से स्वरूपस्थिति आप ही आप आ जाती है—और स्वरूपस्थिति आ जाने से, साधु-लक्षण शरीर में आ जाते हैं ॥ ५५ ॥ अध्यात्म-निरूपण के सुनन से शरीर में साधुजनों के लक्षण आ जाते हैं, परन्तु स्वरूपानुसन्धान रहना बहुत आवश्यक है ॥ ५६ ॥ निरंतर ब्रह्मस्वरूप में रहने से वास्तव में स्वयं भी 'स्वरूप' हो जाते हैं; इसके बाद, शरीर में साधु के लक्षण आने में, देर नहीं लगती ॥ ५७ ॥ स्वरूप में मति रहने से, सारे अव-गुण छूट जाते हैं; पर इसके लिए सत्संगति और अध्यात्म-निरूपण चाहिए ॥ ५८ ॥ अस्तु । सारी सृष्टि में अनुभव एक ही नहीं है—अनेक अनुभव हैं—वे सब अगले समास में बतावेंगे ॥ ५९ ॥ लोग किस स्थिति से रहते हैं और कैसा अनुभव करते हैं, सो सब ध्यानपूर्वक सुनिये ॥ ६० ॥

दसवाँ समास—बहुधा अनुभव ।

॥ श्रीराम ॥

जब हम, लोगों के भिन्न भिन्न अनुभव की ओर, ध्यान देते हैं तब जान पड़ता है कि संसार में बड़ा गड़बड़ मच रहा है । इसका वृत्तान्त, कौतुक से सुनिये:—॥ १ ॥ कोई कहता है कि, गृहस्थी में ही रहने से तर सकते हैं; क्योंकि यह सब पसारा कुछ अपना नहीं है—सब जीव ईश्वर के हैं ! ॥२॥ कोई कहता है कि, यह नहीं हो सकता । मोह आ ही जाता है और पेट के लिए कुटुम्ब की सेवा करनी ही पड़ती है ॥ ३ ॥ कोई कहता है कि, स्वाभाविक ही सुख से गृहस्थी में रहना चाहिए; पर सद्गति के लिए

कुछ दानपुण्य भी करते रहना चाहिए ॥ ४ ॥ कोई कहता है कि, संसार भूठा है, वैराग्य लेकर देराटन करना चाहिए-इससे स्वर्गलोक के मार्ग खुलते हैं ! ॥ ५ ॥ कोई कहता है कि, कहां जाय, व्यर्थ हो क्यों घूमें, अपने ही आश्रम में, आश्रम-धर्म करके, रहना चाहिए ॥ ६ ॥ कोई कहता है कि, कहां का धर्म लाये-सारा अधर्म हो रहा है-इस संसार में रह कर नाना प्रकार के काम करने हो पड़ते हैं ॥ ७ ॥ कोई कहता है कि, जहां तक हो सके, वासना अच्छी रहना चाहिए, इसीसे अनायास संसार से पार हो जाते हैं ॥ ८ ॥ कोई कहता है कि, मुख्य कारण भाव है-भाव ही से परमेश्वर मिलता है और बाकी सब यह व्यर्थ का गाथाजाल है ! ॥ ९ ॥ कोई कहता है कि, जितने बड़े (बुजुर्ग) लोग हैं उन्हें सब को देवता ही मानना चाहिए और मावाप की पूजा अनन्य भाव से करते रहना चाहिए ॥ १० ॥ कोई कहता है कि, ब्राह्मण और देवता की पूजा करनी चाहिए । नारायण ही जगत् के लोगों का मावाप है ॥ ११ ॥ कोई कहता है कि, शास्त्र देखना चाहिए, उसमें ईश्वर ने जो आज्ञा दी है उसीके अनुसार चल कर परलोक प्राप्त करना चाहिए ॥ १२ ॥ कोई कहता है कि, अरे भाई, शास्त्र देखने से काम नहीं चलता, साधु की शरण में जाना चाहिए ॥ १३ ॥ कोई कहता है अजी, ये बातें छोड़ो; व्यर्थ ही क्यों बकवाद करते हो-सब से मुख्य तो यही है कि, हृदय में भूतदया हो ॥ १४ ॥ कोई कहता है, अच्छा तो यही है कि, अपने आचार से रहे और अंतकाल में सर्वोत्तम परमात्मा का नाम ले ॥ १५ ॥ कोई कहता है, पुण्य होगा तभी नाम आवेगा, नहीं तो अन्तकाल में विस्मरण हो जायगा ॥ १६ ॥ कोई कहता है कि, जीते ही जी सार्थक करना चाहिए । कोई कहता है कि तीर्थाटन करना चाहिए ॥ १७ ॥ कोई कहता है कि यह सब भगड़ा है-तीर्थों में क्या रखा है? वहां तो पानी और पत्थर की भेट है ! डुबकी मार मार कर व्यर्थ के लिए क्यों हैरान होना चाहिए ? ॥ १८ ॥ कोई कहता है कि वाचालता छोड़ो जी, भूमंडल में तीर्थों को अगाध महिमा है; उनके दर्शन मात्र ही से महापातक भस्म हो जाते हैं ! ॥ १९ ॥ कोई कहता है कि, सब का कारण जो मन है उसको रोकने से तीर्थ अपने ही पास है, कोई कहता है कि नहीं, नहीं, प्रसन्नतापूर्वक 'कीर्तन' करना चाहिए ॥ २० ॥ कोई कहता है कि सब से अच्छा तो योग है, मुख्य करके उसीको पहले साधना चाहिए और अकस्मात् देह को अमर करना चाहिए ! ॥ २१ ॥ कोई कहता है कि, इससे क्या होता है, काल को धोखा न देना चाहिये । कोई कहता है कि भक्तिमार्ग का साधन करना चाहिए ॥ २२ ॥ कोई कहता है कि, ज्ञान अच्छा है कोई कहता है कि नहीं, साधन करना चाहिए और

कोई कहता है कि, सदा मुक्त रहना चाहिए ॥ २३ ॥ कोई कहता है कि, अनर्गल पाप से डरना चाहिए; कोई कहता है कि श्ररे, हमारा तो मार्ग ही खुला हुआ है ! ॥ २४ ॥ कोई कहता है कि, सब से अच्छा तो यही है कि, किसीकी निन्दा या द्वेष न करे, कोई कहता है कि दुष्ट-संग सदा के लिए छोड़ देना चाहिए ॥ २५ ॥ कोई कहता है कि भाई, जिसका खाय उसीके सामने यदि मरे तो इससे तत्काल ही मोक्षपद प्राप्त होता है ! ॥ २६ ॥ कोई कहता है कि चलो, ये बातें छोड़ो, सब से पहले रोटी का डौल चाहिए; फिर बैठे बैठे चाहे जितना बकवाद किया करे ! ॥ २७ ॥ कोई कहता है कि, वर्षा ठीक समय पर होती जाय तो सब योग ठीक रहते हैं, क्योंकि अच्छा यही है कि अकाल न पड़े ! ॥ २८ ॥ कोई कहता है कि तपोनिधि बनने से सकल सिद्धियां प्रसन्न होती हैं; कोई कहता है, श्ररे, सब से पहले इन्द्रपद प्राप्त करना चाहिए ! ॥ २९ ॥ कोई कहता है कि आगम* देखना चाहिए, बैताल प्रसन्न कर लेना चाहिए; इससे स्वर्ग में परमेश्वर मिलता है ! ॥ ३० ॥ कोई कहता कि अघोर मंत्र से ही स्वतंत्रता मिल सकती है और उसीके द्वारा श्रीहरि की कलत्र, अर्थात् लक्ष्मी, प्रसन्न होता है ! ॥ ३१ ॥ उसी लक्ष्मी में सब धर्म लगे हैं-अन्य क्रियाकर्म कहां से आया ! कोई कहता है कि, उसीके मद से तो लोग कुकर्म करते हैं ! ॥ ३२ ॥ कोई कहता है कि, मृत्युंजय के जप ही का प्रयत्न करना चाहिए-इसीसे सब संकल्प सिद्ध होते हैं ! ॥ ३३ ॥ कोई कहता है कि, बटुक-भैरव की पूजा करने से सब वैभव मिलता है और कोई कहता है कि, मोर्दिंग ही सब कामना पूर्ण करता है ! ॥ ३४ ॥ कोई कहता है कि, काली कंकाली; कोई कहता है, भद्रकाली और कोई कहता है कि “ उच्छिष्ट चांडाली ” को वश करना चाहिये ॥ ३५ ॥ कोई कहता है कि, विध्नहर गणेश की पूजा करनी चाहिए; कोई कहता है, भोलाशंकर को पूजना चाहिए और कोई कहता है कि, भगवती शीघ्र प्रसन्न होती है ॥ ३६ ॥ कोई कहता है कि, खंडोबा जल्दी ही भाग्यवान् बनाता है; कोई कहता है कि, वेंकटेश की भक्ति करना सब से अच्छा है ॥ ३७ ॥ कोई कहता है कि, पूर्व-कर्माँ के अनुसार फल मिलता है; कोई कहता है कि नहीं, प्रयत्न करना चाहिए; और कोई कहता है, अजी कुछ नहीं, सब ईश्वर ही पर छोड़ देना चाहिए ! ॥ ३८ ॥ कोई कहता है कि कहां का लाये ईश्वर ! वह तो भलों की, कष्ट-द्वारा, परीक्षा ही करता रहता है ! कोई कहता है कि, इसमें ईश्वर का कोई दोष नहीं, यह तो शुग

* तंत्रशास्त्र.—आगत शिववक्त्रेभ्यो, गतञ्च गिरिजाश्रुतौ ।

मतञ्च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ॥

हिं. दा. ३०

का धर्म है ॥ ३६ ॥ कोई आश्चर्य मानते हैं; कोई विस्मित होते हैं और कोई घबडा कर कहते हैं कि जो कुछ हो, सो देखना चाहिए ! ॥ ४० ॥ इस प्रकार, प्रापंचिक जनों के लक्षण, यदि बतलाये जायें तो बहुत हैं; पर यहाँ पर, कुछ थोड़े से चिन्ह बतला दिये हैं ॥ ४१ ॥

अस्तु । अब ज्ञाताओं के भिन्न भिन्न अनुभव भी बतलाते हैं । सावधान होकर सुनिये:—॥ ४२ ॥ कोई ज्ञाता कहता है कि, भक्ति करना चाहिए; श्रीहरि सद्गति देगा । कोई कहता है कि, ब्रह्मप्राप्ति कर्म ही से होती है ॥ ४३ ॥ कोई कहता है कि, भोग छूटता नहीं, और जन्म-मरण दूटता नहीं ! कोई कहता है कि, अज्ञान की लहरें बहुत हैं ॥ ४४ ॥ कोई कहता है कि, जहाँ 'सर्व' ब्रह्म है वहाँ क्रियाकर्म कहां से आये ? कोई कहता है कि, ऐसी अधर्म की बात न करना चाहिए ! ॥ ४५ ॥ कोई कहता है कि, 'सर्व' नाश हो जाने पर जो कुछ बचता है वही ब्रह्म है, कोई कहता है कि, इसका नाम समाधान नहीं है ॥ ४६ ॥ कोई कहता है कि, 'सर्व ब्रह्म' और 'केवल ब्रह्म' ये दोनों पूर्वपक्ष के भ्रम हैं—अनुभव का भ्रम अलग है ॥ ४७ ॥ कोई कहता है कि यह नहीं हो सकता । 'वस्तु' अनिर्वाच्य है । उसको बतलाते हुए वेदशास्त्र भी मौन हो रहते हैं ! ॥ ४८ ॥ इतने पर, श्रोता पूछता है कि, तो फिर निश्चय क्या किया ? क्योंकि सिद्धान्तमत से तो अनुभव को ठौर ही नहीं है—(अर्थात् जहाँ अनुभव का नाम लिया वहाँ द्वैत आवे ही गा !) ॥ ४९ ॥ उत्तर:—यह पहले ही बतला चुके हैं कि अनुभव प्रत्येक का अलग अलग है । अतएव अब उसमें कुछ भी नहीं हो सकता ! ॥ ५० ॥ कोई साक्षत्व से वर्तते हैं और साक्षी को (दृश्य से) अलग ही बतलाते हैं । तथा स्वयं द्रष्टा बन कर स्वानुभव की स्थिति में रहते हैं ॥ ५१ ॥ दृश्य से द्रष्टा अलग है । अलिप्तपन की रीति यह है कि, स्वानुभव-द्वारा साक्षत्व से स्वयं अलग रहते हैं ॥ ५२ ॥ जो सब पदार्थों का ज्ञाना है वह पदार्थमात्र से अलग है—इस अनुभव के होने से, देह में रह कर भी, सहज ही अलिप्तता आ जाती है ॥ ५३ ॥ कोई ज्ञाता स्वानुभव से ऐसा कहता है, कि साक्षत्व से वर्तना चाहिए और द्रष्टापन से, सब काम करते हुए भी, अलग रहना चाहिए ॥ ५४ ॥ कोई कहता कि भेद है ही नहीं—'वस्तु' आदि ही से अभेद है—वहाँ द्रष्टा कहां से लाये ? ॥ ५५ ॥ जहाँ सब स्वाभाविक शक्ति ही शक्ति है वहाँ से कइया अलग करें ? इसी तरह जहाँ स्वानुभव से साक्षी ब्रह्म ही है वहाँ द्रष्टा कहां से आया ? ॥ ५६ ॥ प्रपंच और परब्रह्म अभेद है, भेदवादी इनमें भेद मानते हैं; परन्तु यह स्वानन्द आत्मा ही दृश्याकार हुआ है ॥ ५७ ॥ जैसे पिघला घृआ घी जम जाता है वैसे निर्गुण भी सगुण हो जाता है—वहाँ

द्रष्टापन से, अलग क्या किया जाय ? ॥ ५८ ॥ अर्थात् द्रष्टा और दृश्य सब, जब एक जगदीश ही है तब फिर द्रष्टापन के भेद की क्या आवश्यकता है ? ॥ ५९ ॥ किसीका यह अनुभव है कि, यह सब दृश्याकार ब्रह्म ही है ॥ ६० ॥ एक दूसरा अनुभव इस प्रकार का है कि, जब सब में आत्मा ही पूर्ण है तब स्वयं भिन्न कहां बचा ? ॥ ६१ ॥ अब तीसरा अनुभव सुनो । ये लोग कहते हैं कि सारा प्रपंच निरसन करके जो शून्य बच रहता है वही ईश्वर है ॥ ६२ ॥ वे कहते हैं कि सारा दृश्य अलग करने पर, केवल अदृश्य ही, जो बच जाता है उसीको ब्रह्म समझना चाहिए ॥ ६३ ॥

परन्तु उसे (शून्य को) ब्रह्म नहीं कह सकते । उसको ब्रह्म कहना अपाय (विघ्न) का उपाय के समान मानना है । शून्यत्व को ब्रह्म कैसे कह सकते हैं ? ॥ ६४ ॥ सम्पूर्ण दृश्य पार कर जाने पर, अदृश्यरूप शून्यत्व मिलता है । अज्ञान प्राणी इसी शून्य ही को ब्रह्म समझ कर वही से लौट पड़ता है ! ॥ ६५ ॥ इधर-इस पार-दृश्य रहता है और उस पार परब्रह्म रहता है; बीच में शून्यत्व का ठौर है-इसी ठौर को लोग, मन्दबुद्धि के कारण, ब्रह्म कहते हैं ! ॥ ६६ ॥ राजा को तो पहचानते नहीं और सेवक को राजा मान लेते हैं ! परन्तु राजा को देखने पर सब निरर्थक मालूम होता है ॥ ६७ ॥ उसी प्रकार शून्यत्व को ब्रह्म मान लेते हैं; पर आगे, परब्रह्म को देखने से, शून्यत्व का सारा भ्रम मिट जाता है ॥ ६८ ॥ अस्तु । यह सूक्ष्म, विघ्न, विवेक से इस प्रकार अलग करना चाहिए जैसे राजहंस दूध ग्रहण करके जल छोड़ देता है ॥ ६९ ॥

पहले दृश्य को छोड़ देते हैं; फिर शून्यत्व को लांघते हैं; इसके बाद, तब फिर, कहीं मूलमाया से भी परे जो ब्रह्म है वह मिलता है ॥ ७० ॥ अलग रह कर उसे देखते हैं, इस लिये वृत्ति शून्यत्व में पड़ जाती है; और इसीसे शून्यत्व का भ्रम हृदय में आ जाता है ॥ ७१ ॥ भिन्नता से अनुभव करने को ही शून्य कहते हैं; पर ' वस्तु ' को लक्ष करने के लिए पहले अभिन्न होना चाहिए ॥ ७२ ॥ निश्चय करके ' वस्तु ' का देखना

१ एक मत यह है कि, द्रष्टा द्रव्य से अलग है, दूसरा मत यह है कि, द्रष्टा और दृश्य एक ही हैं-जो कुछ है सो सब ब्रह्म है । तीसरा मत ऐसा है कि, दृश्य अलग करने पर जो ' कुछ नहीं है ' यही ब्रह्म है ।

२ दृश्य पार करके परब्रह्म तक जाते हुए, बीच में " शून्यत्व " मिलता है । कितने ही अर्द्धज्ञानी तो इसीको ब्रह्म समझ लेते हैं और यहीं रह जाते हैं-वे आगे जाने की जरूरत ही नहीं समझते, पर यह भ्रम है-ऐसा न करना चाहिए-यह शून्यत्व का विघ्न विवेक से दूर करके आगे बढ़ना चाहिए, तब कहीं जाकर ब्रह्म मिलेगा ।

वही है कि, जब स्वयं ही 'वस्तु'-रूप हो जाय । परन्तु भिन्नता के साथ देखने से तो शून्यत्व ही मिलता है ॥ ७३ ॥ अस्तु । शून्य कुछ परब्रह्म नहीं हो सकता । परब्रह्म को तो स्वानुभव से, 'वस्तु'-रूप होकर ही, देख सकते हैं ॥ ७४ ॥ यथार्थ में 'स्वयं' 'वस्तु' ही है । यह कल्पना कभी न करना चाहिए कि 'मैं' मन हूँ । साधु सदा यही बात बतलाते हैं कि आत्मा स्वयं तू ही है ॥ ७५ ॥ संतों ने यह मिथ्या निरूपण कहीं नहीं किया कि 'मैं' मन है; तब फिर किसके कथन के आधार पर यह माना जाय कि 'मैं' मन है ॥ ७६ ॥ संत-वचन में भाव रखना ही शुद्ध स्वानुभव है । मन स्वाभाविक ही चञ्चल होता है । वह 'मैं' नहीं है; किन्तु 'मैं' स्वयं 'वस्तु' ही है ॥ ७७ ॥ जिसका अनुभव पाना है, वास्तव में वही निरवयव 'वस्तु' हम हैं और 'अपना' ही अनुभव सारे जगत के लोग लेते हैं ! ॥ ७८ ॥ लोभी पुरुष धन प्राप्त करते हुए स्वयं धनरूप हो जाता है; पर उस धन का भोग भाग्यवान् पुरुष आनन्द के साथ करते हैं ॥ ७९ ॥ देहबुद्धि छोड़ने से वास्तव में साधकों का भी यही हाल होता है । यही अनुभव की मुख्य बात है ॥ ८० ॥ ज्ञान का विवेक ऐसा है कि, स्वयं 'हम' और 'वस्तु' दोनों वास्तव में विलकुल एक ही हैं ॥ ८१ ॥ यथामति मैंने यह आत्मज्ञान का निरूपण किया । श्रोता लोग न्यूनाधिक के लिए क्षमा करें ॥ ८२ ॥

नववाँ दशक ।



पहला समास-ब्रह्म-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

यह मुझे बतलाइये कि निराकार, निराधार और निर्विकल्प का क्या अर्थ है ॥ १ ॥ निराकार का अर्थ यह है कि परब्रह्म का आकार नहीं है, निराधार का अर्थ यह है कि परब्रह्म का आधार नहीं है और निर्विकल्प अर्थात् उस परब्रह्म को कल्पना नहीं की जा सकती ॥ २ ॥ निरामय, निरामास, निरवयव का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ ३ ॥ निरामय अर्थात् परब्रह्म विकार-रहित है, निरामास अर्थात् उसका भास नहीं होता और निरवयव अर्थात् उसमें अवयव भी नहीं है ॥ ४ ॥ मुझे निष्प्रपंच, निष्कलंक और निरुपाधि का अर्थ बतलाइये ॥ ५ ॥ निष्प्रपंच अर्थात् परब्रह्म में प्रपंच नहीं है, निष्कलंक अर्थात् उसमें कलंक नहीं है और निरुपाधि अर्थात् उसमें उपाधि नहीं है ॥ ६ ॥ निरुपम, निरवलम्ब और निरपेक्ष का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ ७ ॥ निरुपम अर्थात् उस परब्रह्म की उपमा नहीं है, निरवलम्ब अर्थात् उसे अवलम्ब नहीं है और निरपेक्ष का अर्थ यह है कि, उसमें अपेक्षा नहीं है ॥ ८ ॥ निरंजन, निरंतर और निर्गुण का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ ९ ॥ निरंजन अर्थात् उसमें कालापन नहीं है, निरन्तर अर्थात् उसमें अन्तर नहीं है और निर्गुण अर्थात् उसमें गुण नहीं है ॥ १० ॥ निस्संग, निर्मल और निश्चल का अर्थ क्या है, सो मुझे बतलाइये ॥ ११ ॥ निस्संग अर्थात् जिसमें संग नहीं है, निर्मल, जिसमें मल ही नहीं है और निश्चल; जिसमें चलन नहीं है, ऐसा वह परब्रह्म है ॥ १२ ॥ निश्शब्द, निर्दोष और निवृत्ति का अर्थ क्या है? ॥ १३ ॥ निश्शब्द अर्थात् जिसमें शब्द नहीं, निर्दोष, जिसमें दोष नहीं और निवृत्ति; जिसमें वृत्ति नहीं, ऐसा वह परब्रह्म है ॥ १४ ॥ निष्काम, निर्लेप और निष्कर्म का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ १५ ॥ निष्काम; जिसमें काम नहीं है, निर्लेप; जिसमें लेप नहीं है और निष्कर्म. जिसमें कर्म नहीं है; ऐसा वह परब्रह्म है ॥ १६ ॥ अनाम्य, अजन्म और अप्रत्यक्ष का अर्थ क्या है, मुझे बतलाइये ॥ १७ ॥ अनाम्य; जिसका नाम नहीं, अजन्मा; जिसका जन्म नहीं और अप्रत्यक्ष अर्थात् जो प्रत्यक्ष नहीं है, ऐसा वह परब्रह्म है ॥ १८ ॥ अगणित, अकर्तव्य, अक्षय का

अर्थ क्या है, मुझे बतलाइये ॥ १९ ॥ अगणित, जो गिना नहीं जा सकता, अकर्तव्य, जिसमें कर्तव्य नहीं है और अक्षय, जिसका क्षय नहीं है, ऐसा वह ब्रह्म है ॥ २० ॥ अरूप, अलक्ष और अनन्त का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ २१ ॥ अरूप अर्थात् जिसमें रूप नहीं; अलक्ष अर्थात् जिसको लक्ष नहीं सकते-जो 'अलक्ष' है-और अनन्त अर्थात् जिसका अंत नहीं, ऐसा वह परब्रह्म है ॥ २२ ॥ अपार, अटल, अतर्क्य का अर्थ मुझे, कृपा करके, बतलाइये ॥ २३ ॥ अपार, जिसका पार नहीं है, अटल; जो टल नहीं सकता और अतर्क्य, जिसका तर्क नहीं किया जा सकता, ऐसा वह ब्रह्म है ॥ २४ ॥ अद्वैत, अदृश्य और अच्युत का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ २५ ॥ अद्वैत अर्थात् जिसमें द्वैत नहीं, अदृश्य; जो दृश्य नहीं और अच्युत जो कभी च्युत नहीं हो सकता, ऐसा वह परब्रह्म है ॥ २६ ॥ अच्छेद्य, अदाह्य और अक्लेद्य का अर्थ मुझे बतलाइये ॥ २७ ॥ अच्छेद्य, जो छेदा नहीं जा सकता, अदाह्य; जो जलाया नहीं जा सकता और अक्लेद्य जो घुलाया नहीं जा सकता, ऐसा वह ब्रह्म है ॥ २८ ॥ परब्रह्म उसे कहते हैं जो सब से परे है। उसके स्वरूप का विचार करने से स्वयं 'हम' वही हैं-यह बात अनुभव से, सद्गुरु करने पर, मालूम होती है ॥ २९ ॥

दूसरा समास-आत्म-ज्ञान ।

॥ श्रीराम ॥

जितना कुछ साकार देख पड़ता है उतना सब कल्पान्त में नाश हो जाता है। पर स्वरूप-परब्रह्मस्वरूप-सदा बना ही रहता है ॥ १ ॥ जो सब में सार 'वस्तु' है, जो मिथ्या नहीं है; सत्य है, और जो नित्य-निरन्तर बना रहता है ॥ २ ॥ वही भगवान् का मुख्य रूप है-उसीको 'स्वरूप' कहते हैं। इसके अतिरिक्त और भी उसके बहुत से नाम हैं ॥ ३ ॥ उसका ज्ञान करने के लिए उसमें नामनिर्देश किया जाता है; पर वास्तव में वह स्वरूप नामार्थात् है और सदा बना ही रहता है ॥ ४ ॥ वह दृश्य में भीतर-बाहर, सब जगह है; पर वह विश्व से छिपा हुआ भी है-(अर्थात् किसीको देख भी नहीं पड़ता)। देखो, वह कैसा पास रह कर भी गुप्त ही रहता है ! ॥ ५ ॥ परमेश्वर का यह वर्णन सुन कर दृष्टि को देखने की इच्छा होती है; पर देखने से सारा दृश्य ही दृश्य देव पड़ता है ॥ ६ ॥ दृष्टि का विषय जो दृश्य है उन्हींको देखने से दृष्टि को संतोष होता है, पर यह सच्चा देखना

नहीं है ॥ ७ ॥ दृष्टि को जो कुछ दिखता है वह नाश होता है; इस विषय में श्रुति है (कि “ यदृष्टं तन्नष्टं ”) । अतएव, जो दृष्टि को देख पड़ता है वह ‘ स्वरूप ’ नहीं है; (क्योंकि दृष्टि को देख पड़नेवाला पदार्थ नश्वर है और स्वरूप अविनाशी है) ॥ ८ ॥ स्वरूप निराभास है और दृश्य का भास होता है । वेदान्तशास्त्र में भास का नाश कहा है ॥ ९ ॥ देखने पर दृश्य ही का भास होता है; ‘ वस्तु ’ दृश्य से अलग है; किन्तु स्वानुभव से देखने पर वह दृश्य के भीतर बाहर-सब जगह-दिखती है ॥ १० ॥ जो निराभास और निर्गुण है उसकी पहचान क्या बताई जाय; पर यह जान लो कि, वह ‘ स्वरूप ’ है अपने पास ही ॥ ११ ॥ जैसे आकाश में भास भासता है, और आकाश सब में है, उसी प्रकार जगदीश भी सब जगह भीतर-बाहर है ॥ १२ ॥ पानी में है; पर भीगता नहीं, पृथ्वी में है; पर घिसता नहीं और अग्नि में होने पर भी उसका स्वरूप जलता नहीं ॥ १३ ॥ वह कीचड़ में है; पर सनता नहीं, वायु में है; पर उड़ता नहीं, और सोने में है; पर सोने के समान गढता नहीं ॥ १४ ॥ ऐसा वह सदा संचित है; पर कभी उसका आकलन नहीं होता उस अभेद में भेद बढ़ानेवाली यह अहंता है ॥ १५ ॥ इस लिए अब उस अहंता* के लक्षण बतलाता हूं, सावधान होकर सुनिये:—॥ १६ ॥

जो स्वरूप की ओर जाती है, जो अनुभव के साथ रहती है और जो अनुभव के सब शब्द बोल कर बतलाती है ॥ १७ ॥ जो कहती है कि, “ मैं ही ‘ स्वरूप ’ हूं ” वही अहंता का रूप है—वह निराकार में आप ही आप अलग हो जाती है ॥ १८ ॥ अहंता भ्रम से स्वयं अपने ही को ब्रह्म समझती है; पर बहुत सूक्ष्म विचार करने पर उसका भ्रम प्रकट हो जाता है ॥ १९ ॥ “ मैं ही ब्रह्म हूं ”—यह हेतु-यह कहना-कल्पना से आकलन किया जा सकता है; परन्तु ‘ वस्तु ’ कल्पनातीत है, इसी लिए तो उस अनंत के अन्त का आकलन नहीं हो सकता ॥ २० ॥ अष्ट देहों के उद्भूत होने का नाम अन्वय और उस उद्भव के संहार होने का नाम व्यतिरेक है । अष्ट देहों का उद्भूत और संहार बतलाया जाना एक शाब्दिक ज्ञान है; परन्तु निःशब्द जो परब्रह्म है उसे सूक्ष्म विवेक से ढूँढना चाहिए ॥ २१ ॥ पहले वाच्यांश लीजिए; फिर लक्ष्यांश को पहचानिये । लक्ष्यांश को देखने पर वाच्यांश रह ही कैसे सकता है ? ॥ २२ ॥ सर्वब्रह्म और माया-विरहित विमलब्रह्म, इन दो के प्रतिपादन करनेवाले

* यहा बहुत ऊंची अहंता बतलाई जायगी; वास्तव में अहंता यही है जो कहती हो कि मैं स्वयं ब्रह्मस्वरूप हूं । “ अहं ब्रह्मास्मि ” वाली अहंता से यहा तात्पर्य है ।

दो पक्ष हैं, पर ये सिर्फ बोलने ही भर के लिए हैं। लक्ष्यांश का मर्म मालूम हो जाने पर—(परब्रह्म वास्तव में क्या है, इसका ज्ञान हो जाने पर)—बोलना (वाच्यांश) रहता ही नहीं और न ये दोनों पक्ष ही रहते हैं ॥ २३ ॥ ' सर्व ' और ' विमल ' दोनों पक्ष वाच्यांश ही में रह जाते हैं—बे बोलने के आगे जात ही नहीं—और लक्ष्यांश में लक्ष रखने से पक्षपात नहीं रहता ॥ २४ ॥ इस लक्ष्यांश का अनुभव करना चाहिए—यहां बोलने (वाच्यांश) का काम ही नहीं है। मुख्य अनुभव की पहचान में बोलना कहां से आया ! ॥ २५ ॥ जहां पर परा, पश्यंति, मध्यमा और वैखरी चारो वाणी कुठित हो जाती है वहां शब्दकला-कौशल का काम ही क्या है? ॥ २६ ॥ भला देखो तो, जब शब्द बोलते ही नाश हो जाता है तब उसमें शाश्वतता कहां से आ सकता है? प्रत्यक्ष के लिए कोई प्रमाण नहीं है, देखो ! ॥ २७ ॥ शब्द प्रत्यक्ष नश्वर है, इसी कारण पक्षपात नहीं होता। (पक्ष नहीं रहते) अनुभव में ' सर्व ' और ' विमल ' का भेद ही नहीं है ॥ २८ ॥ अनुभव का लक्षण सुनो। अनुभव का अर्थ है अनन्य हो जाना। अब, अनन्य का लक्षण जैसा है, वह सुनो:—॥ २९ ॥

जहां अन्य नहीं है वही अनन्य है, जैसे आत्मनिवेदन। संग-भग होने के बाद (द्वैत नष्ट होने पर) आत्मपन से बना ही रहता है ॥३०॥ 'आत्मा' में 'आत्मपन' न होना ही निस्संग का लक्षण है। यह बात हम वाच्यांश से इसी लिए बतलाते हैं ताकि मालूम हो जाय ॥३१॥ अन्यथा यह कैसे हो सकता है कि लक्ष्यांश, वाच्यांश से बताया जाय। महावाक्य के विवरण से आप ही आप मालूम होने लगता है ॥ ३२ ॥ तत्त्वाविवरण करने से, निर्गुण ब्रह्म का खोज लगाने से और स्वतः अपने को देखने से, सब मालूम होता है ॥ ३३ ॥ बिना बोले ही उसका, मनन (विचार) करना चाहिए—और मनन करते ही रहना चाहिए। इसी लिए तो महापुरुष को अन-बोल ही रहना शोभा दता है ॥ ३४ ॥ यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि, उस कं दतला शब्द भी निःशब्द होता है और श्रुति " नेति नेति " कहती है ॥ ३५ ॥ प्रतीति हो जाने पर संशय रखना प्रत्यक्ष दुरभिमान है; तो फिर अब यही कहना चाहिए कि, " मैं अज्ञान हूं, मुझे कुछ भी नहीं मालूम ! ॥ ३६ ॥ मैं मिथ्या, मेरा बोलना मिथ्या, मैं मिथ्या, मेरा चलना मिथ्या ! ' मैं-मेरा ' सभी मिथ्या और काल्पनिक है ! ॥ ३७ ॥ मुझे-मैंपन को—बिलकुल ही ठौर नहीं है, मेरा सारा बोलना व्यर्थ है।

∴ ब्रह्म अनिर्वाच्य होने के कारण सत्पुरुष बोल वर नहीं बताते। सच है, " गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम् " ।

मेरा बोलना प्रकृति का स्वभाव है, और प्रकृति मिथ्या है ! " ॥ ३८ ॥
जहाँ प्रकृति और पुरुष दोनों का निरसन हो जाता है वहाँ मीपन
का रहना कब सम्भव है ? ॥ ३९ ॥ जहाँ कुछ भी नहीं बचा वहाँ
विशेष क्या बतलाया जाय ? मुहँ से यह कहने से, कि " मैंने
मौनव्रत धारण किया है, " जिस प्रकार मौन नष्ट हो जाता है उसी प्रकार
यदि मुहँ से कोई अनुभव बतलाने लगे तो समझ लेना चाहिए कि अभी
इसे अनुभव हुआ ही नहीं ! ॥ ४० ॥ अब मौन भंग न करना चाहिए
करके भां कुछ न करना चाहिए (क्रिया-दोष-धिरहित क्रियां करना चाहिए)
और विवेकबल से, रह कर भी, बिलकुल न रहना चाहिए ! ॥ ४१ ॥

तीसरा समास-ज्ञानी का जन्म-मरण नहीं ।

॥ श्रीराम ॥

इस पर श्रोता लोग शंका करने हैं कि, यह कैसा ब्रह्मज्ञान है ? रह
करके भी कुछ न रहना कैसे हो सकता है ? ॥ २ ॥ सब कुछ करके भी
अकर्ता, सब कुछ भोग करके भी अभोक्ता और सब में अलिप्तता होना
कैसे सम्भव है ? ॥ २ ॥ तुम जो यह कहते हो कि, योगी भोग करके
भी अभोक्ता रहता है तो, इस हिसाब से, क्या वह स्वर्ग और नर्क भोग
कर भी अभोक्ता ही बना रहता है ? * ॥ ३ ॥ जन्म-मृत्यु भोगता ही रहता
है; तो भी योगी, उसे भोग करके भी, अभोगी बना रहता है ! और
यातना का भी उसके लिए ऐसा ही हाल होता है ! ॥ ४ ॥ योगेश्वर कुट
कर भी नहीं कुटता, रोकर भी नहीं रोता और कांख कर भी नहीं कांखता !
॥ ५ ॥ जन्म न होकर भी वह जन्म पाता है, पतित न होकर भी पतित
होता है और यातना न होकर भी नाना प्रकार की यातनाएं वह भोगता
है ! ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रोताओं ने शंका की और उद्वेगमय मार्ग का स्वीकार
किया । अब, इसका समाधान करना चाहिए ॥ ७ ॥ ब्रह्मा कहता है कि,

* श्रोता इस स्थान में, बिलकुल अनसमझ बन कर प्रश्न करता है—आप कहते हैं कि
योगी सब करके भी अकर्ता और सब भोग कर भी अभोक्ता है, तो फिर पापचरण करने-
वालों के लिए अकुश कहां रहा ही नहीं, क्योंकि पाप करके भा न करने के समान हुआ ।
तब तो कहना चाहिए कि, पाप-पुण्य, सुकृत-दुकृत सब समान ही हो गये । स्वर्ग जाकर
भी न जाने के समान है, और नर्क जाकर भी न जाने के समान है !

अच्छा, सावधान हो आओ । तुम ठीक करते हो पर तुम्हें अपने ही अनुभव से ऐसा होता है ॥ ८ ॥ जिसका जैसा अनुभव है वह वैसा बोलता है । परन्तु सामर्थ्य या सम्पदा विना, धनवान् बनना निरर्थक है ! ॥ ९ ॥ जिसके पास ज्ञान-संपदा नहीं है, वह अज्ञान-दरिद्रता के कारण, केवल शब्दज्ञान से, सदा आपदा भोगता ही रहता है ॥ १० ॥ योगेश्वर को योगी हो पहचानता है, ज्ञानेश्वर को ज्ञानी ही पहचानता है और महाचतुर को चतुर ही पहचानता है ॥ ११ ॥ अनुभवी को अनुभवी ही जानता है, अलिप्त को अलिप्त ही जानता है और विदेही को विदेही जानता है ॥ १२ ॥ यह कहने को जरूरत नहीं है कि, जो पुरुष बद्ध के समान सिद्ध और सिद्ध के समान बद्ध की भावना करता है वह मूर्ख अर्थात् अज्ञान है ॥ १३ ॥ जिसे भूत लगता है वह देहधारी होता है और पंचाक्षरी-भाड़ने-वाला-भी देहधारी होता है, पर दोनों को एक ही समान कैसे कह सकते हैं ? ॥ १४ ॥ इसी तरह जो पुरुष, अज्ञान या पतित और ज्ञानी या जीवन्मुक्त, दोनों को समान मानता है उसे बुद्धिमान् कैसे कहें ? ॥ १५ ॥ अब ये दृष्टान्त बस करो ! अब कुछ अनुभव को बात बतलाता हूँ: कुछ देर सावधान होकर सुनिये:- ॥ १६ ॥

जो ज्ञान से गुप्त (लीन) होता है, जो विवेक से आत्मस्वरूप में लय होता है और अनन्य हो जाने के कारण अलग नहीं रहता है ॥ १७ ॥ उसे कैसे प्राप्त करें ? ' क्योंकि जब हम उसे ढूँढने जाते हैं, तब हम भी स्वयं वही हो जाते हैं और ' वही ' हो जाने से कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रहती ॥ १८ ॥ देह में देखने से दिखता नहीं और तत्त्व से शोधने पर भासता नहीं । ब्रह्म है, पर, कुछ भी करें, पहचाना नहीं जाता ॥ १९ ॥ देखने में तो देहधारी है; पर भीतर निर्विकारी है, तब फिर उसको, ऊपर ऊपर से देखने पर, कैसे पहचान सकते हैं ? ॥ २० ॥ यदि उसका ज्ञान करने के लिए हम उसे ढूँढते हैं तो वह नित्य और निरन्तर जान पड़ता है । उसके ढूँढने से विकारी भी निर्विकारी हो जाता है ॥ २१ ॥ वह केवल परमात्मा है-उसमें मायामल नहीं है । वह अखंड है । कामना की छूत उसमें कभी लगी ही नहीं ॥ २२ ॥ ऐसा जो योगिराज है वह स्वाभाविक ही आत्मा है, वह वेदबीज पूर्णब्रह्म है; सिर्फ देह की ओर देखने से वह जाना नहीं जा सकता ॥ २३ ॥ देह की भावना करने से देह ही दिखती है; पर गुह्य बात अलग ही है ! खोजने से मालूम होता है कि, उस (योगिराज) का जन्ममरण नहीं है ॥ २४ ॥ जिसका जन्ममरण होता है वह अंतरात्मा कदापि नहीं है । जो है ही नहीं उसे लापें तो कहां से, और कैसे ? ॥ २५ ॥ निर्गुण के जन्म अथवा मृत्यु को

कल्पना करने से स्वयं अपने को ही जन्म और मृत्यु मिलती है ॥ २६ ॥
 दोपहर को सूर्य पर थूंकने से वह थूंक अपने ही ऊपर आ गिरता है ।
 इसी प्रकार दूसरे का भलाई-बुराई की चिन्ता करने से अपनी ही भलाई
 बुराई होती है ॥ २७ ॥ समर्थराज को महिमा जानने से समाधान होता है:
 परन्तु यदि कुत्ता भूंकने लगे तो (क्या कहा जाय? आखिर) वह कुत्ता
 ही है ! ॥ २८ ॥ ज्ञानी सत्यस्वरूप है, पर अज्ञानी (उसको-ज्ञानी को)
 मनुष्यरूप देखता है । भाव के अनुसार ईश्वर प्राप्त होता है ॥ २९ ॥ ईश्वर
 निराकार निर्गुण है और लोग पापाण को ईश्वर मानते हैं ! पापाण तो फूट
 जाता है; पर निर्गुण कैसे फूट सकता है ? ॥ ३० ॥ ईश्वर सद्योदित एक
 ही बना है; लोगों ने उसे बहुत प्रकार का बना डाला है ! पर यह कब हो
 सकता है कि, वह बहुत प्रकार का हो जाय ? ॥ ३१ ॥ उसी प्रकार आत्म-
 ज्ञानी साधु अपने ज्ञान से पूर्ण समाधानो होता है । वह विवेक से आत्म-
 निवेदनी और आत्मरूपी होता है ॥ ३२ ॥

काठ का रूप जल कर उसकी आग्नि, काठ के आकार की देख पड़ती
 है; पर यह नहीं हो सकता कि, वह सचमुच काठ हो जाय ॥ ३३ ॥ कपूर
 के समान ही ज्ञानी के देह की दशा है । एक बार कपूर जल जाने से फिर
 वह केला के उदर में कभी नहीं आ सकता । इसी प्रकार ज्ञानी का देह,
 एक बार अदृश्य हो जाने पर, फिर जन्म नहीं पाता ॥ ३४ ॥ भुना हुआ बीज
 उग नहीं सकता, जला हुआ वस्त्र फिर बन नहीं सकता और
 गंगा में दूसरी नदी का प्रवाह देखने से अलग नहीं देख पड़ता !
 ॥ ३५ ॥ वह प्रवाह गंगा के पीछे दिखता है; (क्योंकि) गंगा
 एकदेशी है; परन्तु साधु का कुछ भास ही नहीं होता (क्योंकि जिसमें
 वह मिला होता है वह) आत्मा सर्वगत है ॥ ३६ ॥ (पारस से बना
 हुआ) सोना फिर लोहा नहीं हो सकता, इसी प्रकार साधु का जन्म फिर
 नहीं हो सकता । परन्तु जो जड़मूढ अज्ञान प्राणी हैं उन्हें यह बात समझ
 ही नहीं पड़ती ! ॥ ३७ ॥ जैसे अंधे को कुछ नहीं देख पड़ता उसी प्रकार
 उन अज्ञानियों को भी सत्य बात नहीं मालूम होती । उन्हें, सन्निपात में
 बरति हुए पुरुष को तरह, पागल समझना चाहिए ॥ ३८ ॥ जो स्वप्न में
 डरा हुआ हैं वह स्वप्न-भय से बरतिता है । वह भय जगते हुए मनुष्य को
 कैसे हो सकता है ? ॥ ३९ ॥ किसी वृद्ध को सर्पाकार जड़ को देख कर
 कोई डर जाता है और कोई उसे पहचान जाता है; अब दोनों की दशा
 एक कैसे मानी जा सकती है ? ॥ ४० ॥ एक आदमी उस जड़ को हाथ से
 पकड़े हुए है और वह (भ्रम का सर्प) उसे नहीं काटता; परन्तु दूसरे
 आदमी को यह विश्वास ही नहीं आता ! इसका मतलब यही है कि

उसकी कल्पना ही उसे डरवा रही है ! ॥ ४१ ॥ जिमको विच्छूया सर्प काटता है वही दुखित होता है, लेकिन उसके काटने के दुख से दूसरे लोग कैसे घबड़ा सकते हं ? ॥ ४२ ॥ इतने से श्रोताओं का संदेह मिट जाता है । अर्थात् ज्ञान, ज्ञानियों ही को मालूम होता है और अज्ञानों का जन्ममरण नहीं छूटता ! ॥ ४३ ॥ सिर्फ ज्ञान न होने के कारण ही बहुत लोग पतन हो चुके हं । अज्ञान के कारण ही लोग जन्ममृत्यु का कष्ट उठाते हैं ॥ ४४ ॥ इसीका निरूपण अगले समास में सावधान होकर सुनिये ॥ ४५ ॥

चौथा-समास-अज्ञान और सुज्ञान ।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी पर सब तरह के लोग हं, कोई सम्पन्न है कोई दुर्बल है, कोई निर्मल है और कोई मैले-कुचैले हैं-पेंसा क्यों है ? ॥ १ ॥ कितने हो राजा बन कर आनन्द करते हं, कितने हो आदमी दरिद्रता भोगते हैं । कितनों ही को उत्तम स्थिति है और कितने ही अध्रमाधम स्थिति में हं ॥ २ ॥ यह हाल किस कारण हो रहा है ? मुझे बतलाइये ॥ ३ ॥ उत्तरः—यह सब गति, गुण के कारण है । जो गुणवान् है वे तो भाग्यश्री भोगते हं और जो अवगुणी हं उन्हें दरिद्र-भोग मिलता है । इसमें कुछ भी संदेह नहीं ॥ ४ ॥ जो जिस जाति में उत्पन्न होता है वह जब उसी जाति का व्यवसाय सीखता है तब लोग उसको प्रशंसा करते हैं ॥ ५ ॥ सुज्ञान कार्य करता है और अज्ञान कुछ नहीं करता । सुज्ञान पेट भरता है और अज्ञान भूख मागता हं ॥ ६ ॥ यह बात प्रगट ही है—इसे सब लोग प्रत्यक्ष देखते हं—कि, जिसके पास विद्या नहीं है वह अभागो होता है और विद्यावाला भाग्यवान् होता है ॥ ७ ॥ जहां देखो वही बुजुर्ग लोग यह सिखावन दिया करते हं कि, “ अपनी विद्या न सोखोगे तो क्या भूख मॉगोगे ? ” ॥ ८ ॥ बाप के अभागो होने पर भी, कभी कभी लड़का भाग्यशाली देखा जाता है । इसका कारण यही है कि, वह लड़का विद्या में बड़ा होता है ॥ ९ ॥ विद्या, बुद्धि, विवेक, उद्योग, कुशलता और व्यापार आदि गुणों के न होने से मनुष्य अभागो होता है ॥ १० ॥ इतने सब गुण जिसमें होते हं उसके पास वैभव को कमो नहीं रहता । वैभव को छोड़ने पर भी, वह आप ही आप, उसके पोछे लगता है ॥ ११ ॥ बुजुर्ग धनवान् और घंटे भिखारी होने का कारण यह है, कि घंटे अपने बुजुर्गों का सा उद्योग नहीं करते, इस लिए वे भिखारी होते हं ॥ १२ ॥ जैसा विद्या होती

हे वैसा ही हीसला-उत्साह-होता है और जैसा ध्यापार होता है वैसा ही वैभव मिलता है । लोग वजन, या गौरव, देख कर मान करते हैं ॥ १३ ॥ जहाँ विद्यावैभव नहीं होता वहाँ स्वच्छता कैसे रह सकता है ? अभाग्य के कारण मनुष्य कुरूप, मैला-कुचैला और रोगी-सा जान पड़ता है ॥ १४ ॥ जब गुणवान् पशु-पक्षियों का भी सब लोग आदर करते हैं तब मनुष्य के गुण को प्रतिष्ठा क्यों न हो ? गुण के बिना प्राणिमात्र का जीवन व्यर्थ है ॥ १५ ॥ जिस मनुष्य में गुण नहीं होता उसका गौरव नहीं होता, और सामर्थ्य, महत्त्व, कौशल, चतुरता आदि कुछ उसमें नहीं होता ॥ १६ ॥ अतएव, उत्तम गुण का होना ही सौभाग्य का लक्षण है । अन्यथा सहज ही कुलक्षणाता आती है ॥ १७ ॥ सुज्ञान पुरुष का ही मान होता है । कोई भी एक विद्या होने से मनुष्य को महत्त्व प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रपंच या परमार्थ, दो में से किसी एक का भी, अथवा दोनों का, जानने-वाला समर्थ होता है और जो कुछ नहीं जानता उसका जीवन व्यर्थ है ॥ १९ ॥ अनजानपन में ही विच्छेद सर्प डँस लेता है, जीवघात हो जाता है और प्रत्येक कार्य नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥ अनजानपन से ही मनुष्य फँस जाता है: दृढ में पड़ता है ठगा जाता है; और कोई पदार्थ भूल जाता है ॥ २१ ॥ अनजानपन में ही वैरी जीत लेता है, अनजानपन से ही मनुष्य संकट में पड़ता है और अनजानपन से ही संहार होता है-जीव नाश होता है ॥ २२ ॥ अपना हित न मालूम होने के कारण लोग यातना भांगते हैं । ज्ञान न होने के कारण ही अज्ञान को अधोगति मिलती है ॥ २३ ॥

माया-ब्रह्म, जीव-शिव, सारासार और भाव-अभाव जानने से जन्म-मरण मिटता है ॥ २४ ॥ निश्चय करके कर्ता कौन है, और बद्ध गुक्त किसे कहते हैं-यह जानने से प्राणियों का हृदकारा होता है ॥ २५ ॥ निर्गुण देव पहचानना चाहिये, " मैं " क्या है-सो जानना चाहिए और अनन्य-लक्षण पहचानना चाहिए । इससे मुक्ति मिलती है ॥ २६ ॥ जितना ही जान कर छोड़ दिया जाता है उतना ही दृश्य (माया) को पार कर लेते हैं । ज्ञाता को जानने से मैपन का मूल मिट जाता है ॥ २७ ॥ विना जाने चाहे करोड़ों, नाना प्रकार के साधन क्यों न कर डालो; पर मोक्ष के अधिकारी नहीं बन सकते ॥ २८ ॥ माया-ब्रह्म पहचानना चाहिए और स्वयं ' अपने ' को जानना चाहिए । वस, इतना जानने से सहज ही जन्म-मरण मिट जाता है ॥ २९ ॥ राजा या धनवान् पुरुष के मन की बात जान कर तब, प्रसंग के अनुसार, बर्ताव करने से बहुत वैभव मिलता है ॥ ३० ॥ इस लिए जानना कोई सामान्य बात नहीं है । जानने से सर्वमान्य बनते हैं और कुछ भी न जानने से सब जगह अपमान होता है ॥ ३१ ॥ कोई पदार्थ देख, उसमें भूत

की भावना करके, अज्ञान पुरुष डर कर प्राण छोड़ देते हैं और सुजान आदमी यह बात जानते हैं कि भूतों की बात मिथ्या है ॥ ३२ ॥ सुजान को मम मालूम हो जाता है और अज्ञान आदमी मिथ्या कर्मों में फँसा रहता है । धर्म, अधर्म, आदि सब कुछ जानने ही से मालूम होता है ॥ ३३ ॥ अज्ञान को यमयातना मिलती है, और सुजान किमो संकट में नहीं पड़ता । जो सब कुछ जानकर उसका विचार करता है वही मुक्त होता है ॥ ३४ ॥ राजनीति की बात न जानने के कारण, कर्मों कर्मों अपमान के साथ साथ, प्राणों से भी हाथ धो बैठना पड़ता है । अनजानपन के कारण सभी पर संकट आते हैं ॥ ३५ ॥ इस लिए अनजानपन में रहना अच्छा नहीं है । अनजान प्राणी अभागों हैं । जानने और समझने से जन्ममरण मिटता है ॥ ३६ ॥ इस लिए जानने में असावधानी न करनी चाहिए । जानना ही एक मुख्य उपाय है । जानने से परलोक का मार्ग मिलता है ॥ ३७ ॥ जानना सब को अच्छा मालूम होता है; पर मूर्ख को अच्छा नहीं जान पड़ता ! अलिप्तता की पहचान जानने से ही मालूम होता है ॥ ३८ ॥ जानने (ज्ञान) के बिना, प्राणियों को और कौन मुक्त कर सकता है ? कोई भी काम हो, बिना जाने नहीं मालूम होता ॥ ३९ ॥ जानना; अर्थात् स्मरण और न जानना; अर्थात् विस्मरण । अब यह बात चतुर लोग जान सकते हैं कि, इन दोनों में ठोक क्या है ॥ ४० ॥ जो जानकार है वे ही चतुर हैं और जो अनजान हैं वे ही पागल और दीन हैं । जानपन से विज्ञान (अनुभवज्ञान) भी मालूम होने लगता है ॥ ४१ ॥ जहाँ जानपन कुठेत हुआ कि, वस समझ लो, वहाँ बोलना भी खतम हुआ । यह दशा आ जाने पर ही अनेर्वाच्य समाधान मिलता है ॥ ४२ ॥

इतना सुन कर श्रोता कहते हैं कि, यह ठीक है, हम लोगों को इस से बहुत समाधान प्राप्त हुआ, पर अब हम को पिंड और ब्रह्मांड के प्रत्यय का लक्षण बतलाइये ॥ ४३ ॥ बहुत लोग कहते हैं कि, जो ब्रह्मांड में है वही पिंड में है; परन्तु आप इसे इस प्रकार बतलावें कि, जिससे हम लोगों को इसका प्रत्यय आ जाय ॥ ४४ ॥

पाँचवाँ समास—पिण्ड और ब्रह्माण्ड ।

॥ श्रीराम ॥

यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि, पिंड के समान ब्रह्मांड की रचना कैसे है । इस बात को प्रतीति करने के लिए नाना मत भटक रहे

हैं ॥ १ ॥ समय समय पर तत्त्वज्ञ लोग कहा करते हैं कि, जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है ॥ २ ॥ लोगों का कथन है कि, पिंड और ब्रह्माण्ड दोनों एक ही तरह के हैं; पर यह बात प्रत्यय की कसौटी में जँच नहीं सकती ॥ ३ ॥ स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, ये चार, पिंडों के देह हैं और विराट्, हिरण्यगर्भ, अद्व्याकृति और मूल-प्रकृति, ये चार, ब्रह्माण्ड के देह हैं ॥ ४ ॥ यह तो शास्त्रकथन हुआ; पर प्रतीति कैसे करें? प्रतीति का विचार करने से बड़े गडबड में पडते हैं ! ॥ ५ ॥ जैसे पिंड में अन्तः-करण है वैसे ही ब्रह्माण्ड में विष्णु है; और जैसे पिंड में मन बतलाते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड में चन्द्रमा है ॥ ६ ॥ पिंड में जैसे बुद्धि का होना बतलाते हैं वैसे ही ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा है; और पिंड में जैसे चित्त है वैसे ही ब्रह्माण्ड में नारायण है ॥ ७ ॥ पिंड में अहंकार बतलाते हैं; इधर ब्रह्माण्ड में रुद्र का होना निश्चय करते हैं। यह विचार शास्त्रों में कहा है ॥ ८ ॥ अच्छा तो फिर विष्णु का अन्तःकरण कौन है? चन्द्र का मन कैसा है? और ब्रह्मा की बुद्धि कैसी है? मुझे बतलाइये ॥ ९ ॥ नारायण का चित्त कैसा है? रुद्र का अहंकार क्या है? इन सब का ठीक ठीक विचार करके मुझे बतलाइये ॥ १० ॥ प्रतीति और निश्चय के आगे अनुमान ऐसा है जैसे सिंह के सामने कुत्ता ! सब्जे के आगे भूटे को कोई कैसे ठीक मान सकता है? ॥ ११ ॥ पर इसके लिए पारखी चाहिए। पारखी के द्वारा सत्य बात मालूम होती है और परोक्षा न जानने से सदेह में पड़ा रहना होता है ॥ १२ ॥ हैं स्वामी, विष्णु, चन्द्र, ब्रह्मा, नारायण और रुद्र, इन पाँचों के अन्तःकरण हमें बतलाइये ॥ १३ ॥ यहाँ प्रतीति ही प्रमाण है; शास्त्र के अनुमान को आवश्यकता नहीं है। अथवा शास्त्रों को ही देख कर सत्य बात प्रत्यय में लाना चाहिए ॥ १४ ॥ प्रतीति के बिना कोई भी कथन अच्छा नहीं लगता। वह कथन ऐसा होता है जैसे कुत्ता मुँह फैला कर रो गया हो? ॥ १५ ॥ जहाँ प्रत्यय के नाम से शून्याकार है वहाँ क्या सुना जाय, और क्या दृढ़ कर देखा जाय ! ॥ १६ ॥ जहाँ सारे अंधे ही अंधे जमा हैं वहाँ आंखवाले को क्या चल सकती है? जहाँ अनुभव के नेत्र चले जाते हैं वहाँ अंधकार हो जाता है ॥ १७ ॥ जहाँ दूध और पानी नहीं है, विष्टा फैला है, वहाँ राजहंसों का क्या काम? वहाँ तो डोमकौवों का ही काम है ! ॥ १८ ॥

अपनी इच्छा से, पिंड के समान ब्रह्माण्ड की कल्पना तो कर ली; पर वह प्रतीति में भी तो आना चाहिए ॥ १९ ॥ अतएव, यह सारा सन्देह कल्पना का ऊजड़ जंगल है। भले आदमी जंगल को टेढी रास्ता नहीं पकड़ते-चोर पकड़ते हैं ! ॥ २० ॥ मंत्र कल्पना-द्वारा निर्माण किये हुए हैं और देवता भी कल्पना से हुए हैं। देवता स्वतंत्र नहीं हैं; वे मंत्राधीन हैं ॥ २१ ॥

यह बात बिना बतलाये ही जान लेना चाहिए । जैसे चतुर पुरुष अंधे को, उसकी चाल पर से, जान लेते हैं उसी प्रकार उक्त बात विवेक से जान लेना चाहिए ॥ २२ ॥ जिसे जैसा भासता है वह वैसा ही काव्य बनाता है; पर अपनी बुद्धि से उसे जान लेना चाहिए ॥ २३ ॥ ब्रह्मा सम्पूर्ण सृष्टि रचता है; पर ब्रह्मा को कौन रचता है ? विष्णु सारे विश्व को पालन करता है; पर विष्णु का पालनेवाला कौन है ? ॥ २४ ॥ रुद्र विश्व का संहारकर्ता है; पर रुद्र का संहारकर्ता कौन है ? काल सब का नियन्ता है; पर काल का शासन करनेवाला कौन है ? ये सब बातें मालूम होनी चाहिए ॥ २५ ॥ जब तक उक्त प्रकार की बातें नहीं मालूम होतीं तब तक सब अंधकार ही समझना चाहिए । अतएव, सारासार का विचार करना चाहिए ॥ २६ ॥ ब्रह्मांड आप ही आप हो जाता है, और पिंडाकार मान लिया जाता है । मान तो लिया जाता है, पर इसका प्रत्यय कभी नहीं आता ॥ २७ ॥ ब्रह्मांड की प्रतीति का विचार करने से बहुत से संशय उठते हैं । वास्तव में यह सब काल्पनिक जानना चाहिए ॥ २८ ॥ पिंड के समान ब्रह्मांड की रचना कौन मान सकता है ? ब्रह्मांड में अनेक पदार्थ भरे पड़े हैं; पर वे पिंड में कहां हैं ? ॥ २९ ॥ साढ़े तीन कोटि भूतों की जातियां साढ़े तीन कोटि तीर्थ और साढ़े तीन कोटि मंत्र पिंड में कहां हैं ? ॥ ३० ॥ तैंतीस करोड़ देवता, अठ्ठासी हजार ऋषि और नव करोड़ कात्यायनी देवी पिंड में कहां हैं ॥ ३१ ॥ छुपन करोड़ चामुंडा देवी, कितने ही प्रकार के करोड़ों जीव और चौरासी लाख योनियों का जमाव पिंड में कहां है ? ॥ ३२ ॥ ब्रह्मांड में और भी जो बहुत से, नाना प्रकार के, पदार्थ अलग अलग निर्माण हुए हैं वे भी सब पिंड में बतलाना चाहिए ॥ ३३ ॥ अनेक ओषधियां, अनेक रसाल फल, नाना प्रकार के बीज, अनाज, ये सब, पिंड में भी बतलाइये ॥ ३४ ॥ यद्यपि यह बतलाने से पूरा नहीं हो सकता, तथापि योंही बतलाया भी नहीं जा सकता, - और बतलाया हुआ ध्यान में न आने से लाज आती है ! ॥ ३५ ॥

अस्तु । जब यह बतलाया ही नहीं जा सकता तब फिर व्यर्थ क्यों बोलना चाहिए । सन्देह की कोई जरूरत नहीं ॥ ३६ ॥ वास्तव में पांच भूत ब्रह्मांड में और पांच ही पिंड में भी बर्तते हैं । इसे अच्छी तरह समझ लीजिए ॥ ३७ ॥ पांच भूतों का ब्रह्मांड है और यह पिंड भी पंचमौतिक ही है-इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब अनुमान-ज्ञान है ! ॥ ३८ ॥ जितना कुछ अनुमान का कथन है उतना सब वमन की तरह त्याज्य है और जो निश्चयात्मक कथन है वही प्रत्ययपूर्ण और ग्राह्य है ॥ ३९ ॥ यद्यपि इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता कि, जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है,

तथापि, पंचभूतों का पसारा दोनों में है ॥ ४० ॥ इन दोनों के विषय में यह सिर्फ अनुमान मात्र है । तब फिर मुख्य समाधान क्या है ? ॥ ४१ ॥

छठवाँ समास—पंचभूत और त्रिगुण ।

॥ श्रीराम ॥

आकाश की तरह ब्रह्म निराकार है । आकाश में जिस प्रकार वायु का विकार उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म में मूलमाया होती है ॥ १ ॥ यह इस ग्रन्थ में बतलाया जा चुका है—पिछले दशक में इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं—मूलमाया में पंचभूतों का अस्तित्व दिखलाया जा चुका है ॥२॥ उसमें (मूलमाया में) जो जानपन है वही सत्त्वगुण है, अनजानपन तमोगुण है और दोनों का मध्यम (कुछ जानपन और कुछ अनजानपन) रजोगुण है ॥ ३ ॥ यदि कहेंगे कि वहाँ जानपन कहां से आया, तो इसका अभिप्राय यह है कि, जिस तरह पिंड में महाकारण देह ही सर्वसाक्षिणी (तुर्या) अवस्था होती है ॥ ४ ॥ उसी प्रकार ब्रह्मांड का महाकारण देह मूलप्रकृति है; इसलिये मूलप्रकृति में जानपन का अधिष्ठान है ॥ ५ ॥ अस्तु । मूलमाया में त्रिगुण गुप्त रीति से रहते हैं । परन्तु जब वे स्पष्ट होते हैं तब उस दशा को चतुर लोम गुणक्षोभिणी (गुणमाया) कहते हैं ॥ ६ ॥ जैसे किसी घास की वाली खिल कर खुल जाती है उसी प्रकार मूलमाया से त्रिगुण भी सद्दज ही में प्रकट हो जाते हैं ॥ ७ ॥ मूलमाया वायुस्वरूप होती है और उसीको, अल्प गुण-विकार होने पर, गुणक्षोभिणी कहते हैं ॥ ८ ॥

इसके बाद जानपन, अनजानपन और जान-अनजान-पन का मध्यम ये तीनों (अर्थात् त्रिगुण) प्रकट होकर मिश्रितरूप से बर्तने लगते हैं । इसके बाद शब्द प्रकट होता है, जो अकारादि अक्षरों का अधिष्ठान है ॥ ९ ॥ वही शब्द आकाश का गुण है । शब्द से ही वेदशास्त्रों का आकार हुआ है ॥ १० ॥ पंचभूत, त्रिगुण, जानपन, अनजानपन, इत्यादि सब वायु का ही विकार है ॥ ११ ॥ वायु न होने से जानपन कहां से आ सकता है ? और जानपन न होने से अनजानपन कहां से हो सकता है ? जान-अनजानपन वायु के कारण से ही रह सकते हैं ॥ १२ ॥ जहां चलन (वायु का लक्षण) विलकुल नहीं है वहां ज्ञान-लक्षण कहां से हो सकता है ? इस लिये वायु का ही गुण मुख्य है ॥ १३ ॥ यद्यपि एक से दूसरे का प्रकट होना प्रत्यक्ष में देखा जाता है, तथापि तीन गुण और पांच भूत मूलस्वरूप (मूलमाया) में ही होते हैं ॥ १४ ॥ इस प्रकार, यह कर्दम आदि ही का है—वही फिर

पीछे से स्पष्ट होता है । इसके सिवाय, यह कहना भी सच है कि, क्रमशः एक से दूसरे को उत्पत्ति होता है ॥ १५ ॥ ऊपर वायु का मिश्रण बतलाया गया । अब, उसके बाद, वायु से अग्नि होता है । परन्तु, वास्तव में वह भी कर्दमरूप ही होता है ॥ १६ ॥ फिर अग्नि से आप और आप से पृथ्वी होती है । परन्तु ये भी कर्दमरूप ही होते हैं ॥ १७ ॥

यहां यह आशंका उठती है कि, भूतों में जानपन किसने देखा है । पंचमहाभूतों में तो जानपन का होना कभी सुना भी नहीं गया ! ॥ १८ ॥ वास्तव में जानपन चलनशक्ति को कहते हैं, और चलनशक्ति वायु का लक्षण है, तथा वायु में सारे गुणों का होना पीछे बतला ही चुके हैं ॥ १९ ॥ इस तरह, जान-अजान-पन से मिश्रित सारे पंचभूत बर्तते हैं । अतएव, भूतों में जानपन अवश्य है ॥ २० ॥ हां, यह जरूर है कि, वह कहीं दिखता है और कहीं नहीं दिखता; पर वह भूतों में व्याप्त अवश्य है । उसकी स्थूलता या सूक्ष्मता तीव्र बुद्धि से भासती है ॥ २१ ॥ भूतों में भूत सन कर पंचभूत बने हैं । वास्तव में देखने से कोई स्थूल और कोई सूक्ष्म भासते हैं ॥ २२ ॥ जिस प्रकार निरोध वायु का भास नहीं होता उसी प्रकार जानपन भी नहीं देख पड़ता । देख नहीं पड़ता; पर वह भूतरूप में है जरूर ॥ २३ ॥ काठ में जिस प्रकार अग्नि देख नहीं पड़ता, निरुद्ध वायु जिस प्रकार भास नहीं होता, उसी प्रकार भूतों में जानपन भी एकाएक नहीं लख पड़ता ॥ २४ ॥ भूत अलग अलग दिखते हैं; पर वास्तव में वे मिले हुए हैं । बहुत चतुरता के साथ अनुभव प्राप्त करना चाहिए ॥ २५ ॥ ब्रह्म से मूलमाया, मूलमाया से गुणमाया और गुणमाया से त्रिगुण हुए हैं ॥ २६ ॥ इसके बाद, गुणों से, पंचमहाभूत हुए हैं । उन सब का रूप बतला दिया गया है ॥ २७ ॥ श्रोता कहता कि, यह कभी नहीं हो सकता कि, आकाश गुण से हुआ है । शब्द व आकाश का गुण मानना ही मिथ्या है ॥ २८ ॥ इस पर वक्ता कुछ रूठ क कहता है:- बतलाते कुछ हैं और भावना करता है कुछ-व्यर्थ के लिए गाय जाल बढ़ाता है । अब इस पागल को कौन समझावे ? ॥ २९ ॥ सिखा से तो मालूम नहीं होता, समझाने से भी नहीं समझता ! यह मन्दरु (शिष्य) दृष्टान्त से तर्कना भी नहीं करता ! ॥ ३० ॥

यह बतला दिया है कि, एक भूत से दूसरा भूत बड़ा है, अब भूतों में बड़ा और स्वतंत्र कौन है ? ॥ ३१ ॥ जब मूलमाया ही पंचभौतिक है तब और कौन सा विवेक रह गया ! हां, मूलमाया से परे एक निर्गुण ब्रह्म है ॥ ३२ ॥ उस ब्रह्म में होनेवाली मूलमाया का जब हम विचार करते हैं तब जान पड़ता है कि, वह पंचभूतों और त्रिगुणों की बनी हुई है ॥ ३३ ॥ च

भूत विकारवंत हैं: पर आकाश निर्विकार है । आकाश की जो भूतों गिनती हुई है सो उपाधि के कारण से ॥ ३४ ॥ पिंड में व्यापक होने के कारण जिस प्रकार 'जीव' नाम हुआ है और ब्रह्मांड में व्यापक होने के कारण जैसे 'शिव' नाम पड़ा है, वैसे ही आकाश भी उपाधि के कारण भूत कहलाता है ॥ ३५ ॥ उपाधि में पड़ गया है और सूक्ष्मता के साथ देखने से भासता है-वस, इसी कारण, आकाश भूतरूप हुआ है ॥ ३६ ॥ आकाश, शेष चारों भूतों की उपाधि से, पोलेपन के रूप में, भासता है; परन्तु परब्रह्म निराभास है । वास्तव में, उपाधि-रहित आकाश ही परब्रह्म है ॥ ३७ ॥ जानपन, अजानपन और इन दोनों की मध्यम स्थिति-यही तीन गुणों का लक्षण है । यहाँ त्रिगुण भी रूप-सहित बतला दिये गये ॥ ३८ ॥ ज्यों ज्यों प्रकृति विस्तृत होती गई त्यों त्यों और का और ही बनता गया । जो विकारवंत ही हैं उसका क्या नियम ? ॥ ३९ ॥ काला और सफेद मिलाने से नीला बनता है और काला-पीला मिलाने से हरा बनता है ॥ ४० ॥ इस प्रकार, नाना तरह के रंग मिलाने से जैसे परिवर्तन होता जाता है वैसे ही यह विकारी दृश्य (प्रकृति) भी एक दूसरे के मिलने से नाना रूप धरता है ॥ ४१ ॥ एक ही पानी नाना रंगों से, तरंग के रूप में, उठने लगता है । इस पलटने के विकार का कहां तक विचार किया जाय ? ॥ ४२ ॥ एक पानी ही के विकार यदि देखे जाय तो अपार हैं ! फिर पांच भूतों का विस्तार तो चौरासी लाख योनियों के रूप में है ! ॥ ४३ ॥ नाना देहों का बीज पानी ही है । सारे लोग उदक से ही हुए हैं । कीड़ा, चींटी, श्वापदादिक सब उदक से ही होते हैं ॥ ४४ ॥ रज और वीर्य को गणना पानी ही में है और उसी पानी का यह शरीर है । नख, दंत, और जितनी हड्डियां हैं, वे भी सब पानी ही से बनती हैं ॥ ४५ ॥ जड़ों के बारीक तंतुओं के द्वारा वृक्ष में पानी भरता रहता है और उसी उदक से वृक्षमात्र का विस्तार होता है ॥ ४६ ॥ आम के वृक्ष में भी पानी ही के कारण आता है और सारे वृक्ष पानी ही के कारण सब फल-फूल से लद जाते हैं ॥ ४७ ॥ वृक्ष की पंखी, या कंधा, फोड़ कर फल यदि छूटा जाय तो नहीं मिल सकता-वहाँ मीली छिली ही रहती है ॥ ४८ ॥ जड़ से लेकर, ऊपर फुंगसी तक, उसके भीतर फल नहीं देख पड़ता; फिर फल आता कहां से है ? उसमें फल जलरूप से ही रहता है । यह बात चतुर लोग विवेक से जानते हैं ॥ ४९ ॥ वही जल जब ऊपर चढ़ता है तब सब वृक्ष फल-फूल से लद जाते हैं-इस प्रकार कुल्लू का कुल्लू ही बनता है ! ॥ ५० ॥ इसी प्रकार पत्र, पुष्प और फल बनते हैं । बार बार वही बात कहां तक बतलाई जाय ? सूक्ष्म दृष्टि से सब स्पष्ट हो जाता है ! ॥ ५१ ॥

भूतों का विकार कहां तक बतलाऊं ? क्षण क्षण में बदलते हैं ! नाना वर्णों के रूप में कुछ के कुछ ही बनते हैं ! ! ॥५२॥ त्रिगुण और पंचभूतों (अर्थात् अष्टधा प्रकृति) की हलचल का विचार करने से जान पड़ता है कि, उनके बहुत से रूप हैं । वे नाना प्रकार से बदलते रहते हैं । वे कहां तक बतलाये जायें ? ॥ ५३ ॥ इस प्रकृति का विवेक-द्वारा अच्छी तरह से निरसन करना चाहिए । इसके बाद, फिर, उस परमेश्वर परमात्मा का अनन्य भाव से भजन करना चाहिए ॥ ५४ ॥

सातवाँ समास-विकल्प-निरसन ।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता आशंका करता है:—पहले एक स्थूल देह है; इसके बाद फिर उसमें अन्तःकरण-पंचक है । ज्ञातापन का विवेक स्थूल के ही कारण से है ॥१॥ इसी प्रकार, ब्रह्मांड के बिना मूलमाया में जानपान नहीं आ सकता । स्थूल के आधार से सभी काम चलता है ॥ २ ॥ जब स्थूल ही निर्माण नहीं हुआ तब अंतःकरण कहां रहेगा ? ॥ ३ ॥ उपर्युक्त आशंका का उत्तर:—रेशम के कीड़े की जाति के, कई छोटे-बड़े जीव, अपनी शक्ति के अनुसार, अपनी पीठ ही पर घर बना लेते हैं और उसीके भीतर रहते हैं ॥ ४ ॥ तथा शंख, सिंघी, घोंघे और कौड़े पहले निर्माण होते हैं या पहले उनके घर बनते हैं ? इसका भी विचार करना चाहिए ॥ ५ ॥ वास्तव में पहले उपर्युक्त प्राणी ही उत्पन्न होते हैं और फिर वे अपने घर बनाते हैं—यह बात प्रत्यक्ष अनुभव की है—इसके बतलाने की कोई जरूरत नहीं ॥ ६ ॥ इसी प्रकार पहले सूक्ष्म और फिर स्थूल निर्माण होता है । अस्तु । इसी दृष्टान्त से श्रोताओं का प्रश्न हल हो जाता है ! ॥ ७ ॥

इसके बाद श्रोता फिर यह पूछता है कि, अब मुझे जन्म-मरण का विचार बतलाइये ॥ ८ ॥ जन्म देनेवाला कौन है और जन्म लेनेवाला कौन है ? यह कैसे जानना चाहिए ? ॥ ९ ॥ कहते हैं कि, ब्रह्मा जन्म देता है, विष्णु प्रतिपाल करता है और रुद्र संहारता है ॥१०॥ परन्तु यह प्रवृत्ति (जनरूढ़ि) का कथन समझ में नहीं आता ! अनुभव की दृष्टि से यह कथन विश्वसनीय नहीं हो सकता ॥ ११ ॥ ब्रह्मा को कौन जन्म देता है ? विष्णु का कौन प्रतिपालन करता है और महाप्रलय में रुद्र का संहार कौन करता है ?

॥ १२ ॥ मेरी समझ में तो यह सब सृष्टि का प्रभाव है—यह सारा माया का स्वभाव है । अच्छा यदि निर्गुण देव को कर्ता मानें तो वह निर्विकारी है—(विकार विना कर्तृत्व कैसे आ सकता है ?) ॥ १३ ॥ और यदि कहा जाय कि, यह सब माया ने किया है, तो माया तो स्वयं ही उत्पन्न होती और नाश होती है—माया का तो विस्तार स्वयं ही होता है और विचार करने से जान पड़ता है कि, वह स्थिर भी नहीं है । (इस लिए ऐसी अशाश्वत माया कर्ता कैसे कही जा सकती है ?) ॥ १४ ॥ इसके सिवाय, यह भी बतलाइये कि, जो जन्मता है वह कौन है, उसकी पहचान क्या है और संचित का लक्षण क्या है ? ॥ १५ ॥ पुण्य और पाप का स्वरूप कैसा है ? और प्रस्तुत शब्दों में शंका उठानेवाला कौन है ? (इन शब्दों द्वारा जिसने शंका उठाई वह “ मैं ” कौन हूँ) ॥ १६ ॥ यह कुछ भी समझ में नहीं आता । कहते हैं कि, वासना जन्म लेती है; पर वासना तो दिखती ही नहीं और न पकड़ी जा सकती है—जन्म कैसे लेती है ? ॥ १७ ॥ वासना, कामना, कल्पना, हेतु, भावना, और नाना प्रकार की मति, आदि अनेक वृत्तियाँ अन्तःकरणपंचक की हैं ॥ १८ ॥ अस्तु । ये सारे जानपन के यंत्र हैं । जानपन का अर्थ है केवल स्मरण; पर उस स्मरण में जन्मसूत्र कैसे लगता है ? ॥ १९ ॥ देह पांच भूतों की बनी हुई है; वायु उसका चालक है और जानना मन का मनोभाव है ! ॥ २० ॥ इस प्रकार यह सब स्वाभाविक ही—आप ही आप होता जाता है—यह सब पंचमहाभूतों का गुन्ताड़ा है—कौन किसको जन्म देता है ? ॥ २१ ॥ अतएव, मेरी राय में तो, जन्म है ही नहीं । जो प्राणी एक बार पैदा हो चुकता है वह फिर जन्म ले ही नहीं सकता ! ॥ २२ ॥ अच्छा, जब किसीका जन्म ही नहीं है, तब फिर सन्त-समागम की क्या आवश्यकता है ? ॥ २३ ॥ पहले न तो स्मरण था और न विस्मरण; यह स्मरण बीच ही में आ गया है । वह अन्तःकरण की जाननेवाली कला है ॥ २४ ॥ जब तक चैतन्य रहता है तभी तक स्मरण रहता है और चैतन्य के नष्ट होते ही विस्मरण आ जाता है, तथा विस्मरण के आते ही प्राणी का मरण हो जाता है ॥ २५ ॥ अर्थात् जब स्मरण और विस्मरण के नष्ट होते ही देह को मरण प्राप्त होता है, तब फिर जन्म किसको और कौन देता है ? ॥ २६ ॥ इस लिए न तो जन्म ही है और यातना भी नहीं दिख पड़ती । यह सारी कल्पना व्यर्थ ही बढी हुई है ! ॥ २७ ॥ सारांश, श्रोताओं की आशंका यह ठहरी कि, किसीका जन्म होता ही नहीं—अर्थात् जो एक बार मर चुके वे फिर जन्म नहीं पाते ! ॥ २८ ॥ सूखा हुआ काठ फिर हरा नहीं होता; गिरा हुआ फल फिर नहीं लगता—इसी प्रकार पतन हुआ शरीर फिर जन्म नहीं पा सकता ! ॥ २९ ॥ जो मटका अचानक फूट गया वह

कूः ही गया-वह जिस प्रकार फिर नहीं बनता, उसी प्रकार मृत मनुष्य फिर जन्म नहीं पाता ! ॥ ३० ॥ अर्थात् मर कर जब कोई जन्म ही नहीं पाता तब तो फिर, श्रोताओं की राय में, अज्ञान और सज्ञान बराबर ही हुए ! ॥ ३१ ॥

इस पर वक्ता कहता है कि, सुनोजी, सारा पाखंड ही मत बना डालो! यदि शंका आई हो तो विवेक-द्वारा विचार करना चाहिए ॥ ३२ ॥ यह कमी नहीं हो सकता कि, प्रयत्न बिना कोई काम हो जाय, बिना खाये पेट भर जाय, या ज्ञान के बिना मुक्त हो जाय ॥ ३३ ॥ जिसने स्वयं भोजन कर लिया है उसको जान पड़ता है कि, संसार तृप्त हो चुका; पर यह कैसे हो सकता है-जब तक कि, सब लोग तृप्त न हो जायें! ॥ ३४ ॥ जो तैरनी सीखता है वही पार होता है और जो तैरना नहीं जानता वह डूब जाता है, इसमें कोई शंका नहीं ॥ ३५ ॥

उसी प्रकार जिन्हें ज्ञान प्राप्त होता है वही तरते हैं । जिनका बंधन टूट जाता है वही मुक्त होते हैं ॥ ३६ ॥ मुक्त पुरुष कहता है कि, बंधन नहीं है और इधर, लोग प्रत्यक्ष बंदी बने हैं- उनका क्या हाल है-सो भी तो तुम देखो ! ॥ ३७ ॥ जो दूसरे का दुख नहीं जानता वह " दूसरे के दुख में सुख माननेवाला " है ! यही हाल इस अनुभव का भी है ॥ ३८ ॥ जिसको आत्मज्ञान हो जाता है, जो वास्तव में सम्पूर्ण तत्त्वों का विचार कर लेता है, उसे अनुभव मिलने पर परम-शान्ति होती है ॥ ३९ ॥ यह कथन कि, ज्ञान से जन्म-मरण मिटता है, यदि मिथ्या माना जाय, तो वेद, शास्त्र और पुराणों को भी मिथ्या ही कहना पड़ेगा ॥ ४० ॥ और वेद, शास्त्र तथा महापुराणों का कथन यदि संसार में मिथ्या माना जाय तो हम लोगों की ही बात कौन मान सकता है? अतएव, जिसमें आत्मज्ञान होता है वही मुक्त होता है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ यह कथन भी ज्ञान ही का है कि, वास्तव में सभी मनुष्य मुक्त हैं, पर जब ज्ञान हो तभी यह सम्भव है ॥ ४३ ॥ आत्मज्ञान ज्ञान से दृश्य मिथ्या हो जाता है, परन्तु अज्ञान-दशा में यही दृश्य सब को भ्रम रहता है! ॥ ४४ ॥ अस्तु, इतने से यह प्रश्न हल हो जाता है-अर्थात् ज्ञानी ज्ञान से मुक्त होता है और अज्ञानी पुरुष अपनी कल्पना ही से बंधा रहता है ॥ ४५ ॥ विज्ञान के समान अज्ञान, मुक्त के समान बद्ध, और निश्चय के समान अनुमान, मानना ही न चाहिये ॥ ४६ ॥ यह बात सच है कि, वास्तव में बन्धन कुछ भी नहीं है पर वह सब को घेरे हुए तो है? ज्ञान के सिवाय उसका और कोई उपाय ही नहीं है ॥ ४७ ॥ पहले तो यही आश्चर्य देखो कि, कुछ भी न होकर भी, वह सब को बांधे हुए है । लोग इस बंधन (माया) को

(ज्ञान के द्वारा) मिथ्या नहीं समझते; इसी लिए तो वे “ बद्ध ” हैं !
 ॥ ४८ ॥ इस भरोसे में रहना कि, “ भोले भाव ही से सिद्धि होती है ”
 गौण बात है । मुख्य बात तो यही है कि, विवेक, या ज्ञान, को प्राप्त कर
 के तत्काल ही मुक्त होना चाहिए ॥ ४९ ॥ प्राणी के मुक्त होने के लिए,
 सब से पहले, जानने की कला होनी चाहिए । फिर क्या है, सब कुछ
 जानने से, सहज ही में, प्राणी बंधन से अलग-ब्रह्मस्वरूप-हो जाता है
 ॥ ५० ॥ कुछ भी न जानना ‘ अज्ञान ’ है और सब कुछ जानना ‘ ज्ञान ’ है,
 तथा सब कुछ जानने की भावना का भी लय हो जाना ‘ विज्ञान ’ है ।
 वस, यही दशा आ जाने पर प्राणी स्वयं आत्मा हो जाता है ॥ ५१ ॥ जो
 अमृत का सेवन करके स्वयं अमर हो गया है वह औरों के लिए कहता
 है कि, ये लोग कैसे मरते हैं ? इसी प्रकार विवेकी पुरुष बद्ध के लिए
 कहता है कि, यह फिर जन्म कैसे लेता है ? ॥ ५२ ॥ भाड फूंक करने-
 वाला-झुडवैया-लोगो से कहता है कि, क्यों भाई, तुम्हें भूत कैसे लगता
 है ? और निर्विष पुरुष कहता है कि, तुम्हें विष कैसे चढता है ? ॥ ५३ ॥
 परन्तु ये बातें ऐसे नहीं मालूम हो सकतीं । पहले स्वयं उसी दशा में आना
 चाहिए-अर्थात् विवेक को एक ओर रख कर, पहले स्वयं बद्ध के समान
 बन कर, बद्ध के लक्षणों का विचार करना चाहिए । ऐसा करने से फिर
 उससे पूछने की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ५४ ॥ जागनेवाला सोनेवाले
 से कहता है कि, अरे, बरता क्यों है ? पर यह पूछने की अपेक्षा, यदि
 उसे बराने का अनुभव लेना है तो, स्वयं सोकर ही देखना चाहिए ॥ ५५ ॥
 चूंकि ज्ञाता की वृत्ति, ज्ञान के कारण, जागृत होती है; अतएव, वह बद्ध
 की तरह फँसती नहीं । अघाये हुए को भूखे का अनुभव नहीं होता ॥ ५६ ॥
 वस, इतने से आशंका मिट जाती है । यह सिद्ध है कि, ज्ञान से मोक्ष-
 प्राप्ति होती है और विवेक करने से आत्मानुभव प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

आठवाँ समास—बद्ध का पुनर्जन्म ।

॥ श्रीराम ॥

ज्ञाता तो ज्ञान के विचार से छूट जाता है; पर बद्ध को फिर जन्म कैसे
 मिलता है ? और उसके मरने के बाद उसका कौन सा अवयव जन्म लेने
 के लिए रह जाता है ? ॥ १ ॥ जहाँ एक बार बद्ध प्राणी मर गया वहाँ
 फिर कोई अवयव उसका नहीं बचता और उसका जानपन तो उसके
 मरने के पहले ही चला जाता है ॥ २ ॥ इस आशंका का उत्तर अब साव-

धान होकर सुनिये:-॥ ३ ॥ चूंकि वासना को वृत्ति प्राणों के साथ रहती है, अतएव, जब पंच-प्राण अपने अपने स्थान छोड़ कर जाने लगते हैं तब वासना भी उन्हीं के साथ, देह को छोड़ कर चली जाती है ॥ ४ ॥ इस प्रकार, प्राणवायु के साथ, जो वासना पहले चली जाती है वही फिर, हेतु के अनुसार, जन्म लेकर संसार में आती है ॥ ५ ॥ कभी कभी देखा गया है कि, कितने ही प्राणी विलकुल मर जाते हैं; और फिर पीछे से जा उठते हैं। वे ठकेल दिये जाते हैं, इस लिए उनके हाथ, पैर, आदि भी पीटा करते रहते हैं ॥ ६ ॥ यह भी देखा गया है कि, सर्प के काटने से आदमी मर जाता है, और तीन तीन दिन के बाद, वैद्य लोग उसे जिला देते हैं। यह कैसे हो जाता है? वही वासना फिर लौट आती है ॥ ७ ॥ कितने ही मृतक लोगों को, कोई कोई फिर से जिला देते हैं और यमलोक से प्राणियों को लोट्टा लेते हैं? ॥ ८ ॥ कितने ही लोग शाप पाकर अन्य देह पाते हैं और, उश्शाप का समय आने पर, फिर अपनी पूर्वदेह में आ जाते हैं ॥ ९ ॥ कितने ही लोग बहुत से जन्म धारण करते हैं; कितने ही परकाया में प्रवेश करते हैं। ऐसे न जाने कितने आये और चले गये ॥ १० ॥ जैसे डूंक मारते ही अग्नि प्रकट हो जाती है वैसे ही वासनारूपी वायु जन्म पाती है ॥ ११ ॥ मन की नाना वृत्तियां हैं, उन्हींमें वासना उत्पन्न होती है। यद्यपि वासना देखने से दिखती नहीं; पर है वह अवश्य ॥ १२ ॥ वासना में जानपन का हेतु है और जानपन मूलमाया से निकला हुआ तंतु है। यह कारणरूप से मूलमाया में मिश्रित रहता है ॥ १३ ॥ जानपन कारणरूप से ब्रह्मांड में और कार्यरूप से पिंड में वर्तता है। जल्दी जल्दी में उसका अनुमान करने से वह अनुमान में नहीं आता ॥ १४ ॥ परन्तु वह वायु के स्वरूप की तरह सूक्ष्म है। देवतागण और भूतसृष्टि वायुरूप है ॥ १५ ॥ वायु में नाना विकार हैं। तथापि वायु देखने से दिख नहीं पडती। इसी प्रकार जानपन की वासना भी अति सूक्ष्म है-वह भी नहीं दीख पडती ॥ १६ ॥ त्रिगुण और पंचभूत वायु में मिश्रित हैं। यह वात यद्यपि अनुमान में नहीं आती; तथापि मिथ्या इसे कभी नहीं कह सकते ॥ १७ ॥ स्वाभाविक वायु से ही सुगन्ध-दुर्गन्ध मालूम होती है और उष्णता तथा शीतलता का भास होता है ॥ १८ ॥ वायु ही से मेघ बरसते हैं, वायु ही से नक्षत्र चलते हैं और सारी सृष्टि उस वायु के ही द्वारा वर्तती है ॥ १९ ॥ देवता और भूत भी वायुरूप ही से अकस्मात् शरीर में आकर भर जाते हैं। विधि-विधान या मंत्रप्रयोग से मुर्दे जा उठते हैं ॥ २० ॥ शरीर में देवता लाने से, शत्रु-पिशाच दूर हो जाते हैं, धरोहर मिल जाती है और अनेक गुण वार्ते प्रत्यक्ष मालूम होने लगती हैं ॥ २१ ॥ वायु अलग नहीं बोलती,

पर देह में भर कर बोलती है । कितने ही प्राणी इच्छा लेकर जन्म को प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥ ऐसा वायु का विकार है-इसका विस्तार मालूम ही नहीं होता । सारे चराचर जीव वायु ही से वर्तते हैं ॥ २३ ॥ वायु स्तब्ध-रूप से सृष्टि धारण करता है और चंचलरूप से सृष्टि रचता है । यह बात यद्यपि स्पष्ट नहीं मालूम होती, तथापि विचार में प्रवृत्त होने से मालूम होती है ॥ २४ ॥ आदि से लेकर अंत तक, सब कुछ, वायु ही करता है । वायु के बिना जो कर्तृत्व हो वह चतुर लोग मुझे बतावें ! ॥ २५ ॥

मूलमाया जानपन के रूप में होती है । वही जानपन हम में भी रहता है । इस प्रकार, वह, कहीं गुप्त और कहीं प्रकट होकर, जगत् में वर्तता रहता है ॥ २६ ॥ जैसे पानी भाप के रूप में गुप्त होकर फिर बरस कर प्रकट होता है उसी प्रकार जानपन वायु में सदा घट बढ कर गुप्त और प्रकट हुआ करता है । वह कहीं विकृत होता है और कहीं योंही वायु के रूप में रहता है ॥ २७ ॥ २८ ॥ कभी कभी शरीर पर से वायु के निकलने से हाथ पैर आदि अंग अकड़ जाते हैं । कभी कभी वायु चलने से ही खड़ी फसलें सूख जाती हैं ॥ २९ ॥ अनेक रोगों के, ऐसे अनेक वायु हैं कि, जिनसे लोगों को कष्ट होता है । आकाश में विजली भी वायु ही के कारण कड़कड़ाती है ॥ ३० ॥ वायु ही के द्वारा संगीत शास्त्र का ज्ञान होता है और स्वरज्ञान का निश्चय होता है । संगीत शास्त्र में (दीपकल्याण राग से) दीपक जलने का और (मेघमल्लार राग से) मेघ बरसने का चमत्कार वायु ही के कारण होता है ॥ ३१ ॥ वायु के लगने से भ्रम हो जाता है, वृक्षादि सूख जाते हैं-और वायु ही के द्वारा नाना प्रकार के मंत्र चलते हैं ॥ ३२ ॥ मंत्रों से देवता प्रगट होते हैं, भूत भागते हैं और मंत्रसामर्थ्य से ही वाजी-गरी और राक्षसी माया आदि के कौतुक देखने में आते हैं ॥ ३३ ॥ राक्षसों की माया-रचना, जो देवादिकों को भी नहीं मालूम होती, और स्तम्भन-मोहन आदि नाना प्रकार के विचित्र सामर्थ्य इत्यादि, सब वायु ही के कारण से हो सकते हैं ॥ ३४ ॥ अच्छे को पागल और पागल को अच्छा बना देना आदि, अनेक विकार, वायु से होते हैं-कहां तक बतलावें ? ॥ ३५ ॥ मंत्र से ही देवों का संग्राम होता है, मंत्र से ही ऋषियों का अभिमान रहता है । मंत्र-सामर्थ्य की महिमा कौन जान सकता है ? ॥ ३६ ॥ मंत्र से पक्षी बश किये जाते हैं; मूषक, श्वापद, आदि बाँधे जाते हैं, महा सर्प स्तब्ध हो जाते हैं और धनलाभ होता है ॥ ३७ ॥ अस्तु । उपर्युक्त विचार से बद्ध का जन्म मालूम हो जाता है और श्रोताओं की पिछली आशंका मिट जाती है ॥ ३८ ॥

नववाँ समास—ब्रह्म में ब्रह्मांड ।

॥ श्रीराम ॥

“ ब्रह्म रोकने से रुक नहीं सकता, हिलाने से हिल नहीं सकता और न एक ओर हट सकता है ॥ १ ॥ ब्रह्म भेदने से भिद नहीं सकता, छेड़ने से छिद नहीं सकता और अलग करने से अलग नहीं हो सकता ॥ २ ॥ जब कि ब्रह्म में खंड नहीं पड़ता—वह अखंड है—और ब्रह्म में दूसरा कुछ गडबड़ नहीं है, तब फिर उसके बीच में यह ब्रह्मांड कैसे घुस आया ? ॥ ३ ॥ पर्वत, पाषाण, शिला, शिखर और नाना स्थल-स्थलान्तर आदि भूगोल-रचना, परब्रह्म के बीच में किस प्रकार आई ? ॥ ४ ॥ ब्रह्म में भूगोल है और भूगोल में ब्रह्म है । विचार करने पर एक दूसरे में प्रत्यक्ष दिखता है ॥ ५ ॥ ब्रह्म में भूगोल प्रविष्ट है और भूगोल में ब्रह्म भरा हुआ है । विचार करने से यह बात प्रत्यक्ष प्रत्यय में आ जाती है ॥ ६ ॥ यह बात तो ठीक जान पड़ती है कि, ब्रह्म ब्रह्मांड में पैठा हुआ है; परन्तु यह समझ में नहीं आता कि, ब्रह्मांड ब्रह्म में कैसे पैठा हुआ है ॥ ७ ॥ यदि कहा जाय कि ब्रह्मांड ब्रह्म में प्रविष्ट नहीं है तो भी ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि ब्रह्म में ब्रह्मांड सब को, अनुभव से, सहज ही देख पड़ रहा है ! ॥ ८ ॥ तो फिर यह कैसे हुआ ? अब विचार करके बतलाना चाहिए ”—इस प्रकार श्रोताओं ने प्रश्न किया ॥ ९ ॥ अब इसका उत्तर सावधान होकर सुनिये । यहाँ ब्रह्म के सन्देह की बात आ पड़ी है ! ॥ १० ॥

यदि कहता हूँ कि, ब्रह्मांड नहीं है तो नहीं बनता; क्योंकि वह देख पड़ता है और यदि कहता हूँ कि, दिखता है, तो भी नहीं ठीक है; क्योंकि वह नाश होता है, अब यह बड़ी पंचायत आ पड़ी—श्रोता लोग समझें कैसे ॥ ११ ॥ यह सुन कर श्रोता लोग उत्कंठित हुए और बोले कि, हम लोग सावधान हैं ! अस्तु । अब प्रसंगानुसार उचित उत्तर देता हूँ:— ॥ १२ ॥ देखिये, आकाश में दीपक जलाया गया; परन्तु यह कैसे हो सकता है बिना वह आकाश से अलग रखा जाय ? ॥ १३ ॥ आप, तेज अथवा वायु आकाश को हटा नहीं सकते । क्योंकि वह सघन है—चंचल नहीं है ॥ १४ ॥ पृथ्वी यद्यपि कठिन है, तथापि आकाश ने उसको चलनी बना डाला है । वह सम्पूर्ण पृथ्वी में व्याप्त हो रहा है ! ॥ १५ ॥ सच तो यह है कि जितना कुछ जड़ है उतना सब नाश होता है और आकाश जैसा का तैस बना रहता है—वह अचल है ॥ १६ ॥ जो कुछ भिन्न रह कर देखते हैं उसीव आकाश कहते हैं और अभिन्न होकर देखने से आकाश ही परब्रह्म (अर्थात् आकाश और परब्रह्म में यही अन्तर है कि, आकाश तो भि

रहने पर भी देख पड़ता है; पर परब्रह्म तभी देख पड़ता है जब तद्रूप हो जावें) ॥ १७ ॥ सारांश, आकाश अचल है। उसका भेद मालूम नहीं होता। जो कुछ ब्रह्म का सा भासता है उसको आकाश कहना चाहिए ॥ १८ ॥ वह निर्गुण ब्रह्म सा भासता है और कल्पना करने से अनुमान में आता है, इसी लिए उसे आकाश कहते हैं—कल्पना के कारण वह आकाश कहाता है ॥ १९ ॥ कल्पना को जितना कुछ भास भासता है वह आकाश ही है—परन्तु ब्रह्म निराभास और निर्विकल्प है ॥ २० ॥ आकाश स्वाभाविक ही शेष चारों भूतों में भरा हुआ है; वह भासनेवाला ब्रह्मांश है ॥ २१ ॥ जो प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, और नाश होता है, उसे अचल कैसे कह सकते हैं? वह गगन को भेद नहीं सकता ॥ २२ ॥ पृथ्वी के न रहने पर पानी बचता है, पानी के न रहने पर अग्नि बचता है और अग्नि के बुझने पर वायु रहता है—वह भी अन्त में नाश हो जाता है ॥ २३ ॥ जो मिथ्या है वह आता है और जाता है, परन्तु इससे कुछ यह नहीं हो सकता कि, सत्य का भंग हो जाय ॥ २४ ॥ भ्रम के कारण वह प्रत्यक्ष दिखता है; पर विचार करने पर उसमें कुछ भी नहीं है। इस भ्रममूल जगत् को सत्य कैसे कह सकते हैं? ॥ २५ ॥ भ्रम का खोज लगाने से जान पड़ता है कि, वह कुछ है ही नहीं; तब फिर भेदा किसने और किसको? यदि कहा जाय कि, भ्रम ने भेदा तो कैसे हो सकता है, वह तो खुद ही मिथ्या है ॥ २६ ॥ भ्रम का रूप जब मिथ्या प्रतीत हो चुका, तब फिर सुख से कहते रहो कि, उसने भेदा है! जो स्वयं मिथ्या है उसने जो कुछ किया वह भी वैसा ही होना चाहिए! ॥ २७ ॥ जो स्वयं मिथ्या है वह चाहे जो कर डाले, परन्तु इससे हमारा क्या जाता है? चतुर मनुष्य मिथ्या के कर्तृत्व को मिथ्या ही समझते हैं ॥ २८ ॥ जैसे सागर में खसखस का दाना, वैसे ही परब्रह्म में यह सारा दृश्य! मति के अनुसार हृदय में मति का प्रकाश पड़ता है ॥ २९ ॥ मति विशाल करने से आकाश को भी हाथ में ले सकते हैं और ब्रह्मांड कैसा सा मालूम होने लगता है! ॥ ३० ॥ वृत्ति उससे भी अधिक विशाल करने से ब्रह्मांड बेर जान पड़ता है—और केवल ब्रह्माकार हो जाने पर कुछ भी नहीं रहता ॥ ३१ ॥ विवेक-द्वारा अपने को अमर्यादित विशाल करने से ब्रह्मांड बट-बीज के समान देख पड़ने लगता है ॥ ३२ ॥ उससे भी अधिक विस्तीर्ण होने पर यह ब्रह्मांड बट-बीज के कोट्यांश के समान (सूक्ष्म) जान पड़ता है, और बिलकुल परिपूर्ण हो जाने पर, कुछ नहीं रहता ॥ ३३ ॥ परन्तु जो, भ्रम के कारण, छोटा बन कर अपने को सिर्फ देहधारी मान लेता है, वह ब्रह्मांड को अपने हाथ में कैसे ला सकता है? ॥ ३४ ॥ वृत्ति को इतना बढ़ाना चाहिए कि, उसे फैला कर बिलकुल रखना ही न चाहिए

और उसको पूर्णब्रह्म के चारों ओर से पूर देना चाहिए ! ॥ ३५ ॥ भला देखो तो, कि यदि एक जब भर सोना लाकर उससे ब्रह्मांड मढा जाय तो वास्तव में क्या दशा होगी ! ॥ ३६ ॥ (जिस प्रकार जब भर सोने का पत्र घना कर कोई यदि ब्रह्मांड मढना चाहे तो वह पत्र फट जायगा—सोना लय हो जायगा, उसी प्रकार) जब वृत्ति से ब्रह्म का कोई आकलन करना चाहता है तब वृत्ति फट कर लय हो जाती है और केवल निर्गुण आत्मा जैसा का तैसा बच रहता है ! ॥ ३७ ॥

इतने से आशंका मिट जाती है । श्रोता लोगो ! संदेह न रखो । यदि शंका हो तो विवेक से उसका निरसन करो ! ॥ ३८ ॥ विवेक से सन्देह मिटता है, समाधान होता है और विवेक से, आत्मनिवेदन होने पर, मोक्ष मिलता है ॥ ३९ ॥ जो मोक्ष की भी उपेक्षा करता है, (क्योंकि अपेक्षा करना पूर्वपक्ष ही है), विचार से पूर्वपक्ष को अलग कर देता है और सिद्धांत वस्तु (आत्मा) को प्रत्यक्ष प्रत्यय में लाता है, उसके लिए अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता है ? ॥ ४० ॥ ये प्रतीति के वचन, सारासार का विचार करने पर, मालूम होते हैं । मनन के अभ्यास से साक्षात्कार होता है और परम शान्ति मिलती है ! ॥ ४१ ॥

दसवाँ समास—आत्मस्थिति ।

॥ श्रीराम ॥

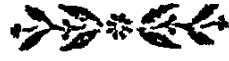
देवता की मूर्ति तो मन्दिर के भीतर होती है और कौवा मन्दिर की चोटी पर जा बैठता है; परन्तु इससे क्या वह कौवा देवता से बड़ा हो सकता है ? ॥ १ ॥ राजमन्दिर में सभा लगी होती है और बन्दर उस मन्दिर के एक खंभे पर जा बैठता है; परन्तु इससे क्या वह बन्दर सभा से श्रेष्ठ हो सकता है ? ॥ २ ॥ ब्राह्मण स्नान करके पानी से अलग हो जाता है और बगुला पानी ही में बना रहता है, परन्तु उसे ब्राह्मण के समान पवित्र कैसे मान सकते हैं ? ॥ ३ ॥ ब्राह्मणों में कोई नियमपूर्वक रहते हैं, कोई अव्यवस्थित रहते हैं और कुत्ता सदा ध्यानस्थ ही रहता है; परन्तु क्या इससे कुत्ता ब्राह्मण की बराबरी कर सकता है ? ॥ ४ ॥ मान लो कोई ब्राह्मण एकाग्र ध्यान नहीं जानता और विलार ध्यान लगाने में बहुत चतुर होता है; पर ब्राह्मण के समान श्रेष्ठ उसे कौन कह सकता है ? ॥ ५ ॥ ब्राह्मण भेद-अभेद का विचार रखता है; मक्षिका सब को बराबर समझती है; पर

इससे यह कैसे कहा जा सकता है कि, मक्षिका को ज्ञानबोध होगया है ?
 ॥ ६ ॥ मान लो, कोई नीच मनुष्य उच्च श्रेणी के वस्त्र पहने हुए है और
 कोई राजा नंगे बदन बैठा है; परन्तु चतुर पुरुष उन दोनों को तुरन्त ही
 पहचान लेगा ॥ ७ ॥ सारांश, बाहरी रूप चाहे जितना बनाया जावे; परन्तु
 वह ढाँग ही कहलायेगा । यहाँ तो मुख्य आत्म-निष्ठा चाहिए ॥८॥ जिसने
 सांसारिक प्रतिष्ठा तो बहुत प्राप्त कर ली है; परन्तु आत्मजागृति नहीं की
 है—जो परमात्मा को भूला हुआ है—वह आत्मघातकी है ! ॥ ९ ॥ देव का
 भजन करने से देवलोक, पितरों को भजने से पितृलोक और भूतों को
 भजने से भूतलोक मिलता है ॥ १० ॥ जो जिसको भजते हैं वे उस लोक
 को जाते हैं । निर्गुण को भजने से स्वयं निर्गुण होते हैं ॥ ११ ॥ निर्गुण का
 भजन यह है, कि निर्गुण में अनन्य होकर रहना चाहिए । अनन्य होने से
 अवश्य धन्यता प्राप्त होती है ॥ १२ ॥ सम्पूर्ण कर्मों का फल यही है कि,
 एक परमात्मा को पहचानना चाहिए और यह विचार करना चाहिए कि,
 'हम' कौन हैं ॥ १३ ॥ निराकार परमात्मा का अनुभव करने से देहामि-
 मान नहीं रहता और यह निश्चय आ जाता है कि, "हम वही है" ॥१४॥
 उक्त दशा आ जाने पर, सन्देह के लिए जगह नहीं रहती, परमात्मा में
 अनन्यता हो जाती है और देह की भावना का पता नहीं लगता ॥ १५ ॥
 उस अवस्था में सिद्धान्त और साधन सिर्फ भ्रममात्र रह जाते हैं । मुक्त के
 लिए साधन, इत्यादि के बन्धन की क्या जरूरत है ? ॥१६॥ क्योंकि साधन
 के द्वारा जो कुछ साध्य करना है वह तो वह (मुक्त) स्वयं ही है । अब
 साधक बनने की आवश्यकता नहीं रही ! ॥ १७ ॥ जो कुम्हार राजा
 होगया वह अब गधे क्यों रखे ? कुम्हारपन की धराउठाई से अब उसे क्या
 प्रयोजन है ? ॥ १८ ॥ इसी प्रकार, साध्य वस्तु प्राप्त हो जाने पर, सम्पूर्ण
 वृत्ति-भावना और साधन-प्रयत्न नहीं रहते ॥ १९ ॥ उस दशा में साधन से
 क्या सिद्ध किया जाय ? नेम से क्या फल प्राप्त किया जाय ? जब वह
 (मुक्त) स्वयं 'वस्तु' ही होगया तब फिर क्यों भटकना चाहिए ? ॥२०॥

देह तो पंचभूतों की बनी हुई है और जीव ब्रह्म का अंश है—सो भी
 परमात्मा में लीन हो सकता है ॥ २१ ॥ अतएव, 'मैंपन' यह बीच में यों
 ही आ गया है । वास्तव में विचार करने पर यह कुछ नहीं है । पंचमहा-
 भूतों का निरसन हो जाने पर, निखिल आत्मा रह जाता है ॥ २२ ॥ आत्मा
 आत्मपन से है, जीव जीवपन से है, और माया मायापन से विस्तृत है
 ॥ २३ ॥ इस प्रकार सब कुछ है, और 'हम' भी कोई एक है । इन सब
 को खोज करके जो देखता है वही ज्ञानी है ॥ २४ ॥ जो सब का खोज
 करना जानता है; पर 'अपने' को देखना नहीं जानता उस ज्ञानी की वृत्ति

एकदेशीय रहती है-व्यापक नहीं होती ॥ २५ ॥ ऐसी वृत्ति का जब हम विचार करते हैं तो जान पड़ता है कि, वास्तव में वह कुछ नहीं है: क्योंकि प्रकृति का निरसन करने पर कुछ विकारवन्त (पदार्थ) टिक नहीं सकता ॥२६॥ यदि कुछ टिक सकता है, तो वह केवल निर्गुण ही है, और विचार करने पर वही 'हम' है। यह परमार्थ की बड़ी भारी पहचान है ॥ २७ ॥ उस अवस्था में यह विवेक नहीं है कि, फल 'अलग हो और 'हम' अलग हो-वहाँ 'फल' और 'हम' एक ही हो जाते हैं ॥ २८ ॥ मान लो कि, कोई भिखारी राजा होगया, और उसे यह अनुभव भी हो रहा है कि, मैं राजा हूँ। अब वह भीख क्यों मांगे? जो भिखारी हो वही भीख मांगे! ॥२९॥ वेद, शास्त्र और पुराण जिसका वर्णन कर रहे हैं तथा अनेक सिद्ध और साधु जिसके लिए नाना प्रकार के साधनों और निरूपणों का परिश्रम करते हैं वह ब्रह्मरूप, जब सारासार के विचार से, स्वयं ही हो जाता है-तब फिर वहाँ करने और न करने इत्यादि का कुछ विचार नहीं रहता ॥ ३० ॥ ३१ ॥ मान लो, कोई भिखारी राजाज्ञा सुन कर डर गया और वही भिखारी फिर, आगे चल कर, राजा होगया, अब उस दशा में उसे राजाज्ञा का भय कैसे रह सकता है? ॥ ३२ ॥ वेद वेदाज्ञा से किस प्रकार चलें, सञ्छास्त्र शास्त्रों का अभ्यास किस प्रकार करें और तीर्थ तीर्थों को किस प्रकार जायें? ॥ ३३ ॥ अमृत अमृत का सेवन कैसे करे? अनन्त अनन्त को कैसे देखे? और भगवान् भगवान् को कैसे लखे? ॥ ३४ ॥ सत्स्वरूप सत्स्वरूप से कैसे मिले? निर्गुण निर्गुण की भावना कैसे करे? और आत्मा आत्मा में कैसे रममाण हो? ॥ ३५ ॥ स्वयं अंजन, अंजन कैसे लगावे? धन धन को कैसे प्राप्त करे? और निरंजन किस प्रकार निरंजन का अनुभव करे? ॥ ३६ ॥ स्वयं साध्य साधन कैसे करे? ध्येय ध्यान कैसे धरे? और जो उन्मत्त है (अर्थात् जिस का मन लय होगया है) वह मन को किस प्रकार रोके? ॥ ३७ ॥

दसवाँ दशक ।



पहला समास-अन्तःकरण एक है ।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता यह प्रश्न करता है कि, “सब का अन्तःकरण एक है अथवा अलग अलग है? यह मुझे निश्चयात्मक बतलाइये” । अच्छा, इसका उत्तर सुनो:- ॥ १ ॥ २ ॥ इसमें कोई शक नहीं कि, सब का अन्तःकरण एक ही है । यह अनुभव की बात है ॥ ३ ॥ इस पर श्रोता कहता है कि, यदि सब का अन्तःकरण एक ही है तो फिर सब में एकता और मेल क्यों नहीं है? ॥ ४ ॥ यदि अन्तःकरण एक ही है तो फिर एक के खाने से सब को श्रधा जाना चाहिए, एक के संतुष्ट होने पर सब को संतुष्ट रहना चाहिए और एक के मरने पर सब को मर जाना चाहिए ! ॥ ५ ॥ इस जगत् में कोई तो सुखी और कोई दुःखी हो रहे है; फिर यह कैसे जाना जाय कि, सब का अन्तःकरण एक है? ॥ ६ ॥ लोगों की भावना अलग अलग है; किसीसे किसीका भी मेल नहीं खाता-अतएव यह समझ में नहीं आता कि, अन्तःकरण एक कैसे है ॥ ७ ॥ यदि सब का अन्तःकरण एक होता तो एक के अन्तःकरण की बात दुसरे को मालूम हो जाती और जगत् में कोई गौप्य या गुह्य बात छिपी न रह सकती ॥ ८ ॥ इस लिए, यह बात समझ में नहीं आती । अन्तःकरण एक होना सम्भव नहीं । यदि वह एक है तो फिर लोगों में विरोध क्यों फैल रहा है? ॥ ९ ॥ सर्प काटने को दौड़ता है और प्राणी डर कर भागता है । यदि सब जीवों का अन्तःकरण एक है तो फिर यह विरोध क्यों है? (अर्थात् न तो सर्प को काटने के लिए दौड़ना चाहिए और न उस जीव को डर कर भागना चाहिए) ॥ १० ॥

ऐसी शंका श्रोता ने उठाई; इस पर वक्ता कहता है कि, घबड़ाओ मत-सावधान होकर निरूपण सुनो ॥ ११ ॥ अन्तःकरण कहते हैं संज्ञा को; और संज्ञा कहते हैं जानने के स्वभाव को; और यही देहरक्षा का उपाय, अर्थात् जानने की कला है ॥ १२ ॥ सर्प जान कर डँसने आता है और प्राणी जान कर भागता है-अर्थात् संज्ञा (consciousness) दोनों ओर है ॥ १३ ॥ जब सरासर दोनों तरफ संज्ञा एक ही देख रहे हैं तब अन्तःकरण भी जरूर एक ही हुआ । क्योंकि ऊपर अन्तःकरण को

संज्ञा का रूप बतला ही चुके हैं ॥ १४ ॥ अतएव, यह सिद्ध है कि, संज्ञा-रूप से अन्तःकरण सब का एक ही है । सम्पूर्ण जीवों में जानपन एक ही है ॥ १५ ॥ दृष्टि का देखना, जीभ का चाखना, और सुनना, छूना, बास लेना, आदि बातें सब में एक ही सी हैं ॥ १६ ॥ पशु, पक्षी, कीड़ा चीटी, आदि जितने जीव जगत् में निर्माण हुए हैं उन सब में संज्ञा-शक्ति एक ही है ॥ १७ ॥ सब के लिए जल शीतल है, सब के लिए अग्नि प्रखर है और सब के लिए अन्तःकरण की संज्ञा एक ही है ॥ १८ ॥ अच्छा लगना या बुरा लगना देह-स्वभाव का कारण है; पर यह बात अन्तःकरण ही के योग से मालूम होती है ॥ १९ ॥ सब का अन्तःकरण एक है । यह बात बिलकुल निश्चय है । इसका कौतुक सब जानते हैं ॥२०॥ इतने से आशंका मिट जाती है, अब शंका करने की जरूरत नहीं है । जितना कुछ जानना है वह सब अन्तःकरण का धर्म है ॥ २१ ॥

जान कर जीव चारा खाते हैं, जान कर डरते हैं, छिपते हैं और जान कर ही प्राणिमात्र भग जाते हैं ॥ २२ ॥ कीड़ा चीटी से लेकर और ब्रह्मा विष्णु महेश तक, अन्तःकरण सब का एक है । इस बात का कौतुक अनुभव से जानना चाहिए ॥ २३ ॥ बड़ा हो या छोटा हो; है वह अग्नि ही, थोड़ा हो चाहे बहुत हो, है वह पानी ही—इसी तरह छोटा हो चाहे बड़ा हो, प्राणी अन्तःकरण से ही जानता है ॥२४॥ कहीं न्यून है, कहीं अधिक है—परन्तु जिन्स की वानगी एक ही है । संज्ञारहित कोई भी जगम प्राणी नहीं है ॥ २५ ॥ संज्ञा अन्तःकरण को कहते हैं और अन्तःकरण विष्णु का अंग है । इस प्रकार विष्णु पालन करता है (अर्थात् अन्तःकरणरूप होकर सब में रहना उसका पालन करना है) ॥ २६ ॥ जहाँ प्राणी संज्ञारहित हुआ, कि वस फिर वह मर जाता है और संज्ञारहित होना तमोगुण का लक्षण है । इस प्रकार तमोगुण से रुद्र संहार करता है ॥ २७ ॥ कुछ संज्ञा-और कुछ बे-संज्ञा होना रजोगुण का लक्षण है; और इसी के कारण प्राणी जन्म पाते हैं ॥ २८ ॥ जानपन से सुख होता है और अनजानपन से दुःख होना है, तथा उत्पत्तिगुण से (अर्थात् जान-अनजान के मिश्रण से) सुख-दुःख दोनों अवश्य भोगने पड़ते हैं ॥ २९ ॥ जानपन और अनजानपन की मिली हुई बुद्धि ही इस देह में ब्रह्मा है । वही वास्तव में उत्पत्तिकर्ता है ॥ ३० ॥ यह उत्पत्ति-स्थिति और संहार का विचार, प्रसंग आ जाने के कारण, व्रता दिया: पर इस का निश्चय अनुभव से करना चाहिए ॥ ३१ ॥

दूसरा समास—उत्पत्ति के विषय में शंका ।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता आशंका करता है:—स्वामी ने ऊपर जो विचार बताया उस में तो विष्णु का अभाव देख पडता है—विष्णु ही का क्यों ? उसमें तो ब्रह्मों, विष्णु और महेश किसी को भी ठौर नहीं रहता ॥ १ ॥ उत्पत्ति, स्थिति और संहार, ब्रह्मा, विष्णु और महेश कैसे करते हैं, सो कुछ समझ में नहीं आता ॥ २ ॥ आप के इस विचार में उत्पत्तिकर्ता चतुर्भुज विष्णु भी सिर्फ सुना ही जाता है ॥ ३ ॥ यह भी प्रत्यय में नहीं आता कि, महेश कैसे संहार करता है । पुराणों में जो लिंगमहिमा कही है वह भी विपरीत हुई जाती है ! ॥ ४ ॥ यह तो मालूम होना चाहिए कि, मूलमाया को किसने बनाया । तीनों देवों का रूप तो उसके पीछे हुआ है ॥५॥ मूलमाया लोक-जननी है, उससे गुणक्षोभिणी माया उत्पन्न हुई है और गुणक्षोभिणी संत्रिगुणात्मक त्रिदेव हुए है ॥६॥ ऐसा शास्त्रकार बतलाते है और प्रवृत्ति, या परम्परा, बतलानेवाले लोग भी ऐसा ही कहते है; पर अनुभव का प्रश्न आ जाने पर कितने ही लोग घबड़ा जाते हैं ! ॥ ७ ॥ इस लिए उनसे पूछते नहीं बनता; और वे समझा भी नहीं सकते—तथा बिना समझे सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं ॥ ८ ॥ यदि अनुभव बिना कोई अपने को वैद्य कहलाये और थों ही धरा-उठाई करे तो उस मूर्ख की प्रारोमात्र निंदा करते है ॥ ९ ॥ वैसा ही विचार यह भी है । वास्तविक निर्धार अनुभव से करना चाहिए । अनुभव न होने से गुरु-शिष्य दोनों में अंधकार रहता है ॥ १० ॥ अच्छा, लोगों को क्या कहा जाय ? वे जो कुछ कहते हैं, ठीक ही है; पर अब स्वामी इस बात को विशद करके बतलावें ॥ ११ ॥

यदि कहा जाय कि, देवों ने माया बनाई है तो देवों के रूप माया ही में आते हैं और यदि कहा जाय कि, माया ने माया बनाई है तो यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि माया तो कुल एक ही है ॥ १२ ॥ और यदि कहा जाय कि, भूतों ने बनाई है तो वह भूतों की ही बनी हुई है और यदि कहें कि, परब्रह्म ने माया बनाई है तो ब्रह्म में कर्तृत्व ही नहीं है—वह बना कैसे सकता है ॥ १३ ॥ और यदि कहा जाय कि, माया सच्ची होगी तो ब्रह्म में कर्तृत्व लगता है और यदि माया को मिथ्या समझें तो भी उसमें कर्तृत्व कहां से आया ? ॥ १४ ॥ हे स्वामी महाराज, कृपा करके अब इस प्रकार समझाइये कि, जिससे यह सारा वृत्तान्त अनुभव में आजाय ॥ १५ ॥ अक्षर बिना वेद नहीं होते, अक्षर बिना देह के नहीं होते और देह बिना देह के निर्माण नहीं होता ॥ १६ ॥ सब देहों

में नरदेह श्रेष्ठ है, नरदेह में ब्राह्मणदेह श्रेष्ठ है और ब्राह्मणदेह को ही वेद का अधिकार है ॥ १७ ॥ अस्तु । वेद कहां से हुए ? देह किसकी बनी हुई है ? देव कैसे प्रगटे और किस प्रकार प्रगटे ? ॥ १८ ॥

ऐसी शंका बढ़ी, इसका समाधान करना चाहिए । इस पर वक्ता कहता है कि अच्छा, अब सावधान हो जाओ ॥ १९ ॥ अनुभव का विचार करने से संकट उपस्थित होता है; (क्योंकि लोकव्यवहार और शास्त्रनिर्णय एक ही प्रकार के न होने के कारण अनुभव एक प्रकार का नहीं होता) । सारा बिगाड़ पैदा होता है, और घड़ी घड़ी अनुमान करने से व्यर्थ समय नष्ट होता है ॥ २० ॥ लोकव्यवहार और शास्त्रनिर्णय में बहुत प्रकार के निश्चय हैं—इस कारण एक अनुभव नहीं आ सकता ॥ २१ ॥ अब यदि शास्त्र को डरते हैं तो यह गोलकधंधा सुरभूता नहीं है और यदि यह गोलकधंधा सुरभाते हैं तो शास्त्रभेद उपस्थित होता है ॥ २२ ॥ शास्त्र की रक्षा करके प्रतीति लाना चाहिए, पूर्वपक्ष त्यागकर सिद्धान्त देखना चाहिए और चतुर या मूर्ख एक वचन से समझाना चाहिए ॥ २३ ॥ शास्त्र में पूर्वपक्ष कहा है और पूर्वपक्ष मिथ्या को कहते हैं । अतएव, इसका दोष हम पर नहीं आ सकता ॥ २४ ॥ तथापि शास्त्र की रक्षा करके कुछ कौतुक बतलाते हैं । श्रोताओं को अच्छी तरह विचार करना चाहिए ॥ २५ ॥

तीसरा समास—सृष्टि की उत्पत्ति ।

॥ श्रीराम ॥

निरुपाधि आकाश ही निराभास ब्रह्म है । ऐसे निराभास ब्रह्म में मूल-माया का जन्म हुआ ॥ १ ॥ वह मूलमाया वायुस्वरूप ही है । पंचभूत और त्रिगुण उस वायुरूपी मूलमाया में होते हैं ॥ २ ॥ आकाश से जो वायु हुआ, वह वायुदेव कहलाया और वायु से जो अग्नि हुआ, वह अग्निदेव कहलाया ॥ ३ ॥ अग्नि से जो आप हुआ वही आपो-नारायण कहलाया और आप से जो पृथ्वी हुई वही सम्पूर्ण जीवों की माता हुई ॥ ४ ॥ पृथ्वी से जो पत्थर हुए वही देव कहलाये । पाषाण-देवों के विषय में लोगों के बहुत अनुभव हैं ॥ ५ ॥ यद्यपि लोग पत्थर, मिट्टी, इत्यादि को देवता मानते हैं, पर वास्तव में सम्पूर्ण देवता वायु में रहते हैं ॥ ६ ॥ देव, यक्षिणी, कात्यायनी, चामुंडा, जाखणी, मानविणी, आदि नाना शक्तियाँ, भिन्न भिन्न देशों के अनुसार, अनेक स्थानों में रहती हैं ॥ ७ ॥ इनके सिवाय कितने ही देवता पुरुषवाचक

नामों से, तथा 'भूत' और 'देवता,' आदि अनेक नपुंसक नामों से भी रहते हैं ॥ ८ ॥ देव, देवता, दैवत, भूत, आदि पृथ्वी में असंख्य हैं; परंतु ये सब वायुरूप में कहे जाते हैं ॥ ९ ॥ सदा वायुरूप रहना, प्रसंग आ पड़ने पर नाना देह धरना, गुप्त और प्रगट होना, आदि इन सब का काम है ॥ १० ॥ वायुस्वरूप से देवता विचरते हैं, वायु में चेतना, वासना और वृत्ति आदि नाना रूपों से जगज्ज्योति रहती है ॥ ११ ॥ आकाश से जो वायु हुआ है, वह दो प्रकार का है । ध्यान-पूर्वक सुनिये ॥ १२ ॥ एक साधारण हवा, जिसको सब लोग जानते हैं और दूसरी वह है जो वायु में जगज्ज्योति के रूप में रहती है—उसो जगज्ज्योति के रूप में देवी-देवताओं को अनन्त मूर्तियां रहती हैं ॥ १३ ॥ वायु यद्यपि बहुत विकार-युक्त है; तथापि वह कुल दो ही प्रकार से विभाजित है। अब, श्रोताओं को तेज का विचार सुनना चाहिये ॥ १४ ॥ वायु से तेज हुआ है, जो उष्ण, शीतल और प्रकाशित है । तेज का रूप भी दो प्रकार का है, सुनिये ॥ १५ ॥ एक तेज उष्ण है और दूसरा शीतल है । उष्ण से प्रकाशवान् और देदीप्यमान् सूर्य, सर्वभक्षक अग्नि और विद्युल्लता हुई ॥ १६ ॥ शीतल तेज से आप, अमृत, चन्द्र तारा, और हिम इत्यादि हुए हैं । अब श्रोता लोग सावधान होकर आगे का वृत्तान्त सुनें ॥ १७ ॥ तेज भी यद्यपि बहुत विकारयुक्त है; पर दो ही प्रकार का कहा है । आप भी दो ही प्रकार का कहा है:—आप और अमृत ॥ १८ ॥ अब पृथ्वी का विचार सुनिये:—इसका एक प्रकार तो पाषाण और मिट्टी है तथा दूसरा प्रकार सुवर्ण, पारस और नाना रत्न आदि हैं ॥ १९ ॥ इस वसुंधरा का नाम है " बहुरत्ना " । कौन खोटा है और कौन खरा है, सो सब विचार करने से मालूम होता है ॥ २० ॥ अब यह मुख्य आशंका रह गई कि, मनुष्य कहां से हुए । इसे भी सावधान होकर सुनिये ॥ २१ ॥

चौथा समास—उत्पत्ति का विस्तार ।

॥ श्रीराम ॥

जब हम उत्पत्ति की ओर ध्यान देते हैं तब स्पष्ट मालूम होता है कि, मनुष्य से मनुष्य और पशु से पशु उपजते हैं ॥ १ ॥ खेचर, भूचर, वनचर, जलचर, आदि नाना प्रकार के शरीर, शरीर से ही होते हैं ॥ २ ॥ प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण, निश्चय के सामने अनुमान और सरल-मार्ग होते हुए भी टंके-मेढे जंगल के मार्ग की क्या आवश्यकता है ? ॥ ३ ॥ विपरीत से विप-

शीत होते हैं; पर कहलाते वे शरीर ही हैं-शरीर बिना उत्पत्ति हो ही नहीं सकती ॥४॥ तो फिर यह उत्पत्ति हुई कैसे? काहे की और किसने बनाई? और जिसने बनाई उसकी देह किसने निर्माण की? ॥५॥ ऐसा विचार करने तो बहुत दूर निकल जाना होता है। परन्तु आदि में शरीर कैसे बना और परकिसने, किस पदार्थ का और कैसे, उद्भूत किया? ॥६॥ ऐसा यह पिड्डली आशंका रह गई थी, सो सुनो। प्रतीति हो जाने पर फिर आशंका उठाने की कोई आवश्यकता नहीं ॥ ७ ॥ प्रतीति ही मुख्य है; परन्तु मूर्ख यह बात नहीं समझता। वास्तव में प्रतीति की बातों पर ही विश्वास होता है ॥ ८ ॥ ब्रह्म में जो मूलमाया होती है वही, आगे चल कर, अष्टधा प्रकृति कहलाती है। पंचभूतों में और त्रिगुणों में मूलमाया मिली हुई होती है ॥ ९ ॥ वह मूलमाया वायुस्वरूप है; और वायु में जो चेतना का रूप है वही इच्छा है; पर इसका आरोप ब्रह्म पर नहीं आता ॥ १० ॥ तथापि ब्रह्म में इच्छा करने का आरोप यदि मान भी लिया जाय तो वह व्यर्थ है; क्योंकि ब्रह्म निर्गुण और शब्दातीत है ॥ ११ ॥ आत्मा निर्गुण वस्तु ब्रह्म है। नाम-मात्र जितना है सब भ्रम है। यदि ब्रह्म में कल्पना करके उपाधि लगा दी जाय तो वह लग कैसे सकती है? ॥ १२ ॥ तथापि, यदि ब्रह्म में आरोप लगाया भी जाय तो वह ऐसा ही है कि, जैसे आकाश को पत्थर मारा जाय। परन्तु इससे आकाश टूट फूट कैसे सकता है? ॥ १३ ॥ उसी प्रकार निर्विकार ब्रह्म में विकार लगाना व्यर्थ है। विकार का नाश है और निर्विकार शाश्वत, जैसा का तैसा, बना रहता है ॥ १४ ॥

अब अनुभव की बात सुनो। इसे जान कर निश्चय करना चाहिए। इसीसे अनुभव पर जय मिलता है ॥ १५ ॥ ब्रह्म में समीररूप जो मूलमाया है उसमें जो चेतना है वही ईश्वर है, उसीको ईश्वर और सर्वेश्वर कहते हैं ॥ १६ ॥ वही ईश्वर जब गुणयुक्त होता है तब उसके, गुणों के अनुसार, तीन भेद होते हैं; जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहते हैं ॥ १७ ॥ सत्त्व, रज, तम, ये तीन गुण हैं। इनका वर्णन पीछे हो चुका है ॥ १८ ॥ ज्ञाता विष्णु भगवान् है, ज्ञाता-अज्ञाता चतुरानन ब्रह्मा है और अज्ञाता पंचानन महेश है, जो अत्यंत मोला है ॥ १९ ॥ त्रिगुण आपस में सने हुए हैं-वे अब अलग कैसे हो सकते हैं? पर जो थोड़े बहुत भासते हैं वे बतलाने पड़ेंगे ॥ २० ॥ पहले वायुस्वरूप मूलमाया में सत्त्वगुणात्मक विष्णु का स्वरूप भी वायुस्वरूप ही होता है, इसके बाद वह रूप देहधारी चतुर्भुज बनता है ॥ २१ ॥ उसी प्रकार पीछे से ब्रह्मा और महेश भी देह धरते हैं। उन्हें गुप्त या प्रगट होते देर नहीं लगती ॥ २२ ॥ अब, प्रत्यक्ष प्रतीति कर लो कि, जब मनुष्य ही गुप्त और प्रगट होते हैं; तब फिर देवताओं के लिए क्या

कहना है—वे तो स्वयं सामर्थ्यवान् हैं ॥ २३ ॥ देव, देवता, भूत और दैवत इत्यादि में खूब बढ़ा चढ़ा हुआ सामर्थ्य होता है। उन्हींकी तरह राक्षसों में भी सामर्थ्यकला होती है ॥ २४ ॥ भोटिंग वायुस्वरूप रहता है और जल्दी से खड़खड़ चलता है और नारियल या छोहारे आदि अकस्मात् डाल देता है ! ॥ २५ ॥ यदि सब का अभाव मान लेंगे तो भी नहीं हो सकता; क्योंकि यह बात बहुत से लोगों को मालूम है और अपने अपने अनुभव के अनुसार सारे लोग जानते हैं ॥ २६ ॥ मनुष्य जब अनेक वेष धरते हैं; अनेक पुरुष परकाया में प्रवेश करते हैं; तब फिर वह स्वयं परमात्मा जगदीश-पैसा क्यों नहीं कर सकेगा ? ॥ २७ ॥ इस प्रकार वायुस्वरूप से देहरूप होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश बनते हैं और इसके बाद फिर बच्ची पुत्र-पौत्रों में विस्तृत होते हैं ॥ २८ ॥ वे अंतःकरण में स्त्रियों की कल्पना करते हैं, कल्पना करते ही वे बन जाती हैं; परन्तु उनसे सन्तानोत्पत्ति या प्रजोत्पत्ति कभी नहीं होती ॥ २९ ॥ वे इच्छामात्र ही से पुत्रों की भी कल्पना कर लेते हैं। जब जब वे कल्पना करते हैं तब तब पुत्र बन जाते हैं। इसी प्रकार हरि, हर, विधि आदि बनते रहते हैं ॥ ३० ॥ इसके बाद ब्रह्मा सृष्टि की कल्पना करता है और उसकी इच्छा के अनुसार सृष्टि बन जाती है, तथा इसी तरह ब्रह्मा जीवसृष्टि का निर्माण करता है ॥ ३१ ॥ नाना प्रकार के प्राणियों की कल्पना कर ली जाती है—वे इच्छा के अनुसार निर्मित हो जाते हैं। अंडज, जारज, आदि सभी जाँव जोड़े सहित पैदा होते हैं ॥ ३२ ॥ जो स्वेद से होते हैं वे स्वेदज प्राणी कहलाते हैं और जो वायु से होते हैं वे उद्भिज कहलाते हैं ॥ ३३ ॥ इसी प्रकार मनुष्यों की गारुडी विद्या (इन्द्रजाल), राक्षसों की आडम्बरी विद्या और ब्रह्मा की सृष्टि-विद्या होती है ॥ ३४ ॥ कुछ मनुष्यों को, उससे भी विशेष राक्षसों की और उससे भी विशेष ब्रह्मा की सृष्टि-विद्या है ॥ ३५ ॥ कोई ज्ञाता और कोई अज्ञाता प्राणी बनाये जाते हैं, वेद प्रकट करके, उनके द्वारा, वे प्राणी मार्ग में लगाये जाते हैं—इस प्रकार ब्रह्मा यह सृष्टि निर्माण करता है ॥ ३६ ॥ इसके बाद शरीरों से शरीर बनते जाते हैं, विकार से सृष्टि बढ़ती जाती है और इस प्रकार सब शरीर निर्माण होते हैं ॥ ३७ ॥ इतने से आशंका मिट जाती है—यह मालूम हो जाता है कि, सारी सृष्टि कैसे विस्तृत हुई, और विचार करने से ठीक ठीक अनुभव में आ जाती है ॥ ३८ ॥ इस प्रकार ब्रह्मा तो सृष्टि रचता है, अब आगे श्रोता लोगों को यह वर्णन सुनना चाहिए कि; विष्णु उस का प्रतिपाल कैसे करता है:— ॥ ३९ ॥

विष्णु का मूलरूप सत्त्वगुण, चेतनता या ज्ञान है। यह सूक्ष्म रूप अदृश्य

रहता है । इसके द्वारा सब प्राणियों को रक्षा होती है । यह विष्णु का सूक्ष्म रूप, स्थूल शरीर धारण करके, दुष्टों का संहार करता है ॥ ४० ॥ नाना अवतार धरने, दुष्टों का संहार करने और धर्मस्थापन करने के लिए विष्णु का जन्म होता है ॥ ४१ ॥ धर्मस्थापन करनेवाले पुरुष भी विष्णु का अवतार हैं । उनके सिवाय जो अभक्त और दुर्जन हैं वे सहज ही राक्षसों की गणना में आ जाते हैं ! ॥ ४२ ॥ अब, जो प्राणी पैदा होते हैं वे चैतन्य न रहने पर नाश हो जाते हैं और इस प्रकार रुद्र तमोगुण से उनका संहार करता है ॥ ४३ ॥ रुद्र का पूर्ण कोप होने पर सम्पूर्ण सृष्टि का संहार हो जायगा—उस समय सारा ब्रह्माण्ड ही भस्म हो जायगा ॥ ४४ ॥ यह उत्पात्ति, स्थिति और संहार का वर्णन श्रोताओं को ध्यान में रखना चाहिये ॥ ४५ ॥ अब अगले समास में कल्पान्त के संहार का वर्णन किया जायगा । पाँच प्रलयों का पहचाननेवाला ही ज्ञानी हो सकता है ॥ ४६ ॥

पाँचवाँ समास—पंच-प्रलय ।

॥ श्रीराम ॥

अब प्रलय का लक्षण सुनिये:—पिण्ड (शरीर) में दो प्रलय होते हैं; निद्रा और दूसरा मरण ॥ १ ॥ तीनों देहधारक मूर्तियाँ जब निद्रा सम्पादन करती है तब उसे ब्रह्माण्ड का निद्राप्रलय कहते हैं ॥ २ ॥ जब तीनों मूर्तियों का और ब्रह्माण्ड का भी अन्त हो जाता है तब उसे ब्रह्म प्रलय कहते हैं ॥ ३ ॥ कुल चार प्रकार के प्रलय हैं; जिनमें से दो पिण्ड में हैं और दो ब्रह्माण्ड में हैं और पाँचवाँ सब से बड़ा प्रलय विवेक का है ॥ ४ ॥ ऐसे ये पाँचों प्रलय क्रमशः बतला दिये; अब इन्हें इस प्रकार बतलाता हूँ कि, जिससे अनुभव में आ जाय ॥ ५ ॥

जब निद्रा का सञ्चार होता है तब जागृति के सारे व्यापार चले जाते हैं और अकस्मात् शरीर में स्वभावस्था या सुषुप्ति अवस्था आ जाती है ॥ ६ ॥ इसी जागृति के क्षय हो जाने का नाम निद्राप्रलय है । अब मृत्युप्रलय का हाल सुनो । वह देहान्त समय में होता है ॥ ७ ॥ देह में जब राग बढ़ते हैं अथवा जब कोई कठिन प्रसंग आ पडता है तब पञ्चप्राण अपना व्यापार

*परित्नाणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मस्थापनार्थाय संभवाभि युगे युगे ॥ ८ ॥

(गीता, अ० ४ ।)

छोड़ कर चले जाते हैं ॥ ८ ॥ उस समय मन भी चला जाता है; केवल शरीर रह जाता है । यही दूसरा प्रलय है ॥ ९ ॥ तीसरा प्रलय वह है कि जब ब्रह्मा सो जाता है, सृष्ट्युलोक लय हो जाता है तथा प्राणिमात्र का सारा व्यापार बन्द हो जाता है ॥ १० ॥ उस समय प्राणियों के सूक्ष्मांश वायुचक्र में वास करते हैं । बहुत सा समय व्यतीत हो जाने पर, तब कहीं ब्रह्मा में जागृति आती है ॥ ११ ॥ ब्रह्मा फिर सृष्टि रचता है—विसञ्चित जीवों को फिर से सञ्चित करता है । और जब उसकी आयु को भी सीमा समाप्त हो जाती है तब ब्रह्मप्रलय होता है:—॥ १२ ॥

सौ वर्ष तक पानी नहीं बरसता, इस कारण प्राणी मर जाते हैं । पृथ्वी असम्भाव्य और अमर्यादित रोति से फट जाती है ॥ १३ ॥ सूर्य बारह कला करके तपने लगता है—इस कारण पृथ्वी जलने लगती है और अग्नि के पाताल में पहुँचते ही शेष भी विष वमन करता है ॥ १४ ॥ आकाश में सूर्य की ज्वालाएं भभकती हैं; पाताल में शेष विष वमन करता है—इससे भूगोल दोनों ओर जलता है—ऐसी दशा में पृथ्वी का बचाव कहाँ है ? ॥ १५ ॥ सूर्य की प्रखरता बढ़ती है, चारों ओर कोलाहल मचता है और मेरु के सिरे धड़ाधड़ टूटते हैं ॥ १६ ॥ अमरावती, सत्यलोक, वैकुण्ठ, कैलास, आदि जितने लोक हैं, सब भस्म हो जाते हैं ! ॥ १७ ॥ सारा मेरु ढह पड़ता है—उसकी महिमा ही समाप्त हो जाती है और देवसमुदाय वायुचक्र में घूमने लगता है ! ॥ १८ ॥ धरती के भस्म हो जाने पर मूसला-धार पानी बरसता है और पलभर में पृथ्वी जल में गल जाती है ॥ १९ ॥ इसके बाद सिर्फ पानी ही पानी रह जाता है—उसे भी अग्नि शोष लेता है और फिर अमर्यादित अग्निज्वाला एकत्रित होती है ॥ २० ॥ समुद्र का बड़वानल, शिवनेत्र का नेत्रानल, सप्तकंबुकी ब्रह्मांड का आवर्णानल, सूर्य और विद्युलता, इतने सब, अग्नि एकत्रित होते हैं, इस कारण देवता देह छोड़ देते हैं और पूर्वरूप से प्रमंजन (वायु) में मिल जाते हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥ वह वायु अग्नि को झडपता है, अग्नि एकदम बुझ जाता है और वायु स्वच्छन्दता से परब्रह्म में दौड़ता है ॥ २३ ॥ जैसे धुआँ आकाश में फैल कर नष्ट हो जाता है वैसा ही हाल उस समय समीर (वायु) का होता है । बहुत में थोड़े का नाश कहा ही हुआ है ॥ २४ ॥ वायु का लय होते ही सूक्ष्म भूत, त्रिगुण और ईश्वर* निर्विकल्प में लीन होकर अपना अपना अधिष्ठान छोड़ देते हैं ॥ २५ ॥ उस समय जानपन नहीं रहता; जगज्ज्योति का लय हो जाता है—शुद्ध, सार, निराकार स्वरूपस्थिति रह जाती है ॥ २६ ॥

जितना कुछ नाम रूप है; सब प्रकृति के कारण है—प्रकृति के न रहने पर

* प्रकृति और पुरुष, अर्थात् मूलमाया ।

बोलना कैसे हो सकता है ? ॥ २७ ॥ प्रकृति के रहते हुए ही विवेक करना विवेक-प्रलय कहलाता है । ये पांचो प्रलय अच्छों तरह बतला दिये ॥ २८ ॥

छठवाँ समास—भ्रम-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

ऊपर उत्पत्ति, स्थिति और संहार का वृत्तान्त बतलाया गया; परन्तु निर्गुण, निराकार परमात्मा उसके बाद भी जैसा का तैसा बना रहता है ॥ १ ॥ होने, बर्तने और जाने का सम्बन्ध उस परमात्मा से नहीं है; वह आदि, मध्य और अंत में, सदा, एकसा रहता है ॥ २ ॥ परब्रह्म बना ही रहता है; बीच ही में यह भ्रम (सृष्टि-भ्रम) भासता है । यह भासता है; पर कालान्तर में सब नाश हो जाता है ॥ ३ ॥ उत्पत्ति, स्थिति और संहार बीच में अखंड रीति से होते जाते हैं; आगे, अंत में, सब का प्रलय होता है ॥ ४ ॥ परन्तु, जिसमें विवेक, ...ह पहले ही से जानता है—वह, सारासार-विचार के कारण, इस उत्पत्तिस्थिति लय का हाल पहले ही से जानता है और ऐसे ही पुरुष को ज्ञानी कहते हैं ॥ ५ ॥ जहाँ बहुत से भ्रमिष्ठ जमा हैं वहाँ एक समझदार पुरुष क्या कर सकता है? इस सृष्टि में ऐसे पुरुष बहुत थोड़े हैं जो समझदार हैं ॥ ६ ॥ इन समझदारों का मुख्य लक्षण यह है कि ऐसे महापुरुष भ्रम से अलग रहते हैं ॥ ७ ॥ जो भ्रम में न फँसा हो उसे मन में पहचान लेना चाहिए । है वा भ्रम का हाल बतलाते हैं; सुनो ॥ ८ ॥ एक परब्रह्म परिपूर्ण भरा हुआ है—वह विकारयुक्त कभी नहीं हो सकता—उसे छोड़ कर और जितना कुछ भास है सब भ्रमरूप है ॥ ९ ॥ जिन त्रिगुण और पंचभूतों का (अष्टधा प्रकृति का) प्रलय होता है वह सब भ्रमरूप ही है ॥ १० ॥ मैं, तू, उपासना और ईश्वर-भाव भी निश्चय करके भ्रम ही है ॥ ११ ॥

भ्रमेणाहं भ्रमेण त्वं भ्रमेणोपासका जनाः ।

भ्रमेणेश्वरभावत्वं भ्रममूलमिदं जगत् ॥ १ ॥

इस कारण सृष्टि, भासमान होने पर भी, सारी भ्रमरूप ही है । इसमें जो विचारवान् हैं वही धन्य हैं ॥ १२ ॥ अब भ्रम का विचार अत्यंत ही स्पष्ट करता हूँ और दृष्टान्त-द्वारा श्रोताओं को समझाता हूँ—॥ १३ ॥ दूर देश में भ्रमण करते हुए यदि अपने को दिशाभ्रम हो जावे या अपने कुटुम्बियों को न पहचान सकें तो इसका नाम भ्रम है ॥ १४ ॥ अथवा नशे

के द्रव्य (भांग, धतूरा, आदि) सेवन करने से एक के अनेक भासने लगें या भूतों के लगने से जो नाना व्यथाएं होती हैं, उनको भ्रम कहते हैं ॥१५॥ दशावतार का नाटक खेलते समय पुरुषों का स्त्री मालूम होना, बाजीगरी का खेल अथवा योंही यदि अन्तःकरण में कोई संदेह पैठ जाय तो इसका नाम है भ्रम ॥ १६ ॥ किसी वस्तु की रखी हुई जगह को भूल जाना, चलते रास्ता भूल जाना अथवा शहर में भटकते फिरना भ्रम है ॥ १७ ॥ अपने पास रहते हुए भी कोई वस्तु खोई हुई समझ कर दुश्चित्त होना अथवा अपने ही को स्वयं भूलना—इसका नाम भ्रम है ॥ १८ ॥ किसी पदार्थ का भूल जाना, अथवा सीखा हुआ भूल जाना अथवा स्वप्नदुःख से घबड़ाना भ्रम है ॥ १९ ॥ दुश्चिन्ह अथवा अपशकुन या मिथ्या वार्ता से मनोभंग होना अथवा किसी पदार्थ को देख कर ठिठकना भ्रम है ॥ २० ॥ वृत्त या काठ देख कर मन में भूत आने की आशंका होना, कुछ भी न होकर भय करना—इसका नाम भ्रम है ॥ २१ ॥ पानी को कांच समझकर उसमें गिरना, अथवा दर्पण में सभा का दूसरा विम्ब देख कर उसमें घुसना या द्वार भूल कर इधर उधर भटकना भ्रम है ॥ २२ ॥ कुछ का कुछ ही मालूम होना, कुछ बतलाने से और ही कुछ समझना और कुछ देख कर और ही कुछ मन में लाना भ्रम है ॥ २३ ॥ इस समय जो जो देते हैं सो सो आगे पाते हैं अथवा मरे हुए मनुष्य भोजन करने आते हैं—यह समझना भ्रम है ॥ २४ ॥ इस जन्म का अगले जन्म में पाने की आशा रखना अथवा मनुष्य के नाम में प्रीति लगाना भ्रम है ॥ २५ ॥ मन में यह बात अखंड जम जाना कि, मरा हुआ मनुष्य स्वप्न में आकर हम से कुछ मांगता है, भ्रम है ॥ २६ ॥ सब को मिथ्या बतला कर, फिर भी धन-दौलत पर मन दौड़ाना अथवा ज्ञाता बन कर भी वैभव पर भूलना भ्रम है ॥ २७ ॥ कर्मठपन से ज्ञान को भुलाना अथवा ज्ञातापन से बलात् भ्रष्ट होना अथवा किसी मर्यादा का भी उल्लंघन करना भ्रम है ॥ २८ ॥ देहाभिमान, कर्माभिमान, जात्याभिमान, कुलाभिमान, ज्ञानाभिमान और मोक्षाभिमान होने का नाम भ्रम है ॥ २९ ॥ न्याय न मालूम होना, किया हुआ अन्याय न मालूम होना, और व्यर्थ ही अभिमान बढ़ाना भ्रम है ॥३०॥ कोई पिछली बात बिसर जाना, अगला विचार न सूझना और अखंड रीति से गर्व में आ-जाना भ्रम है ॥ ३१ ॥ प्रतीति बिना ओषधि लेना, प्रतीति बिना पथ्य करना और प्रतीति बिना ज्ञान बतलाना भ्रम है ॥ ३२ ॥ फल जाने बिना कोई प्रयोग करना, ज्ञान के बिना योग करना और व्यर्थ शारीरिक भोग भोगना भ्रम है ॥३३॥ ब्रह्मा भाग्य में जो कुछ लिखता है उसे छुठी के दिन, छुठी माता पढ़ जाती है—इस प्रकार की बातों को भ्रम कहते हैं ॥३४॥

इसी प्रकार से अज्ञान जनों में खूब भ्रम पैठा हुआ है। यहाँ मैंने साधारण तौर पर जानने के लिए, संचित रीति से, बतलाया है ॥ ३५ ॥ जब सारा विश्व स्वाभाविक ही भ्रमरूप है तब फिर क्या कहना है? निर्गुण ब्रह्म छोड़ कर और सब भ्रमरूप है ॥ ३६ ॥ ज्ञानी संसार से अलग होता है, अतएव, गत ज्ञानी के चमत्कार भी भ्रम ही समझना चाहिए ॥ ३७ ॥ यहाँ पर यह एक आशंका उठती है कि, ज्ञाता की समाधि जो पूजी जाती है उससे कुछ फल होता है या नहीं? ॥ ३८ ॥ उसी प्रकार अवतारी पुरुष यद्यपि अब नहीं हैं; पर उनका सामर्थ्य बहुत देखा जाता है; तो क्या वे वासना में फँसे हुए हैं? ॥ ३९ ॥ यह आशंका उठती है; अब समर्थ को यह शंका मिटानी चाहिए। इतने ही में भ्रम की कथा भी समाप्त हुई ॥ ४० ॥

सातवाँ समास—साधु चमत्कार नहीं करते ।

॥ श्रीराम ॥

श्रोता लोग आशंका करते हैं कि, जब अवतारी पुरुष, ज्ञानी और सन्त लोग, बिलकुल मुक्त ही हो गये तब फिर उनका सामर्थ्य आज तक कैसे चला जाता है? इस पर वक्ता कहता है कि, यह प्रश्न तो बहुत अच्छा किया है, अब इसका उत्तर सुनिये:—॥ १ ॥ २ ॥ ज्ञानी मुक्त हो जाते हैं और पीछे उनका सामर्थ्य भी चलता रहता है, पर वे वासना धर कर नहीं आते ॥ ३ ॥ लोगों को जो चमत्कार मालूम होता है और लोग जो उस चमत्कार को सच्चा मानते हैं, इसका विचार चतुरों को करना चाहिए ॥ ४ ॥ मर जाने के बाद की तो बात ही जाने दो, जीते रहने पर न जाने कितने चमत्कार लोगों में हुआ करते हैं। इस प्रकार की तात्कालिक प्रतीति प्रत्यक्ष देख लो ॥ ५ ॥ वह तो स्वयं एक जगह से गया नहीं और लोगों ने प्रत्यक्ष उसे दूसरी जगह देखा—ऐसा यह चमत्कार हुआ; अब इसे क्या कहें*? ॥ ६ ॥ लोगों का अपना भाव ही इसका कारण है, भाविकों को देव यथार्थ है—भाव के बिना सारी कल्पना व्यर्थ और कृतर्क से भरी है ॥ ७ ॥ अपनी प्यारी वस्तु स्वप्न में जब कोई देखता है तब क्या वास्तव में वह वस्तु वहाँ से आ जाती है? यदि

* जान पड़ता है कि यह पद्य उदाहरणस्वरूप किसी साधु के चमत्कार को अनुलक्ष करके लिखा गया है ।

कहा जाय कि नहीं, उसको याद आती है-अच्छा, अगर याद आती है तो फिर दूसरे द्रव्यों का रूप क्यों दिखता है; केवल उसीकी याद स्वप्न में भी क्यों नहीं आती ! ॥८॥ अतएव; यह सब अपनी कल्पना है । स्वप्न में नाना पदार्थ देख पड़ते हैं; परन्तु वास्तव में वे कुछ नहीं हैं और न वे याद ही आते हैं ॥ ९ ॥ इतने से यह आशंका मिट जाती है ज्ञाता के जन्म की कल्पना मत करो । यदि समझ में न आवे तो विवेक से अच्छी तरह समझ लो ॥१०॥ ज्ञानी मुक्त हो जाते हैं और उनका सामर्थ्य चलता रहता है; क्योंकि वे पुण्यमार्ग से चलते हैं ॥ ११ ॥ इस लिए पुण्यमार्ग से चलना चाहिए, ईश्वर का भजन बढ़ाना चाहिए और न्याय छोड़ कर, अन्याय मार्ग से, न जाना चाहिए ॥१२॥ अनेक शुभ पुरश्चरण करना चाहिए, खूब तीर्थाटन करना चाहिए और वैराग्यबल से अपने सामर्थ्य को बढ़ाना चाहिए ॥ १३ ॥ यदि परमात्मा में विश्वास हो तो ज्ञानमार्ग से भी सामर्थ्य बढ़ सकता है; पर ऐसा न करना चाहिए कि, जिससे शान्ति भंग हो जाय ॥ १४ ॥ गुरु या ईश्वर, दो में से एक में, अथवा दोनों में, श्रद्धा अवश्य रखना चाहिए; क्योंकि श्रद्धा के बिना सब व्यर्थ है ॥ १५ ॥ जो ज्ञाता लोग, निर्गुण का ज्ञान हो जाने पर, सगुण की ओर से ध्यान हटा लेते हैं वे दोनों ओर से जाते हैं ॥ १६ ॥ उन ज्ञाताओं में वस्तुतः न भक्ति ही होती है और न ज्ञान ही होता है—सिर्फ अभिमान ही अभिमान बीच में आ जाता है । अतएव, जप और ध्यान कभी न छोड़ना चाहिए ॥१७॥ जो सगुण-भजन छोड़ देता है, वह चाहे ज्ञानी भी हो, तौ भी उसे यश नहीं मिलता । इस लिए सगुण भजन छोड़ना ही न चाहिए ॥१८॥ निष्काम बुद्धि से जो भजन किया जाता है उसकी तुलना तीनों लोक में किसी से नहीं की जा सकती । परन्तु, सामर्थ्य बिना निष्काम भजन नहीं हो सकता ॥ १९ ॥ सकाम भजन से फल मिलता है और निष्काम से भगवान् मिलता है ! अब कहो, कहां फल और कहां भगवान् ! ओः बड़ा अन्तर है ॥२०॥ ईश्वर के पास नाना फल हैं—और फिर फल तो भगवान् से मनुष्य का दूर करता है—इस कारण परमेश्वर को निष्काम ही भजना चाहिए ॥ २१ ॥ निष्काम भजन का फल अद्भुत है—उससे असीम सामर्थ्य बढ़ता है—ऐसी दशा में विचारे फलों की क्या गिनती ! ॥ २२ ॥ भक्त जो बात मन में धरता है वह ईश्वर स्वयं ही करता है—भक्त को किसी बात की चिंता नहीं करनी पड़ती ॥ २३ ॥ दोनों सामर्थ्य एक होने पर काल भी कुछ नहीं कर सकता, फिर औरों की क्या गिनती है ? और सब तो वहां फीड़े की तरह हैं ! ॥ २४ ॥ इस लिए निष्काम भजन, और साथ ही साथ ब्रह्मज्ञान, के सामने तीनों लोक की सम्पदा कोई चीज नहीं ॥२५॥ इससे अधिक और

क्या बुद्धि का प्रकाश हो सकता है? निष्काम भक्त को कीर्ति, यश और प्रताप सदा मिलता है ॥ २६ ॥ जहाँ अध्यात्म-निरूपण और हरिकीर्तन हुआ करता है वहाँ मनुष्यमात्र का कल्याण होता है ॥२७॥ जिस परमार्थ में भ्रष्टाकार नहीं होता वह कभी संकुचित नहीं होता और उसके निश्चय का समाधान नहीं बिगड़ता ॥ २८ ॥ सारासार का विचार करने से, और न्याय अन्याय पर सदा दृष्टि रखने से, परमात्मा की दी हुई बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥ २९ ॥ अनन्यभक्त को भगवान् स्वयं बुद्धि देता है । भगवद्गीता का वचन सुनिये:-॥ ३० ॥

ददामि बुद्धि योगं तं येन मामुपयांति ते ॥

परन्तु सगुण-भजन, तिस पर भी ब्रह्मज्ञान; और फिर अनुभवयुक्त शान्ति संसार में दुर्लभ है ॥ ३१ ॥

आठवाँ समास-प्रतीति-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

प्रतीति के लक्षण सुनो । जो प्रतीति का विचार करते हैं वही चतुर हैं । और बाकी पुरुष, जो प्रतीति-रहित हैं वे, पागल और दीन हैं ॥ १ ॥ नाना प्रकार के रत्न और सिक्के, बिना परीक्षा किये लेने से हानि होती है, इसी प्रकार यदि विश्वास न आवे तो निरूपण में बैठना ही न चाहिए ॥ २ ॥ घोड़ा और शस्त्र फेर कर देख लेना चाहिए । जब वे अच्छे मालूम हों तब जानकार पुरुष को उन्हें लेना चाहिए ॥ ३ ॥ जब यह देख ले कि, बीज उगने लायक है तब दाम डाल कर उसे लेना चाहिए । इसी प्रकार जब प्रतीति हो जाय तब निरूपण सुनना चाहिए ॥ ४ ॥ जब लोगों को यह विश्वास हो जाय कि, यह मात्रा लेने से शरीर आरोग्य होता है तब उस मात्रा को अवश्य लेना चाहिए ॥ ५ ॥ प्रतीति बिना ओषधि लेना अपनी आरोग्यता बिगाड़ना है-अनुमान से कार्य करना मूर्खता है ॥ ६ ॥ बिना प्रतीति के सोने का गहना बनवा लेना मानो जान-बूझ कर अपने को ठगवाना है ॥ ७ ॥ बिना देखे-भाले कोई काम करना ठीक नहीं, इससे प्राण जाने की शंका रहती है ॥ ८ ॥ भले आदमियों को अनुमान से कार्य कभी न करना चाहिए, वैसा करने से भलाई के बदले बुराई हो रहती है ॥ ९ ॥ पानी में डूबी हुई भैंस की खरीद करना अच्छी बुद्धि का लक्षण नहीं है । बिना देखे भाले व्यर्थ पड़तावा होता है ॥ १० ॥ बहुत से मनुष्य विश्वास में

आकर घर मोल ले लेते हैं; परन्तु कपटी लोग अपना कपट उसमें चला ही देते हैं। उस कपट को समझना चाहिए ॥ ११ ॥ बिना देखे-भाले अन्न या वस्त्र लेने से कभी कभी लोग प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं। भूठे का विश्वास करना ही मूर्खता है ॥ १२ ॥ चोर की संगति करने से अवश्य हानि होगी। कपटी और ठग पहचानने से जाना जाता है ॥ १३ ॥ भूठ, तामसी, भेष बदल कर ठगनेवाले और नाना प्रकार के कपट-जाल रचने-वालों को अच्छी तरह से पहचान रखना चाहिए ॥ १४ ॥ दिवालियों* का चमत्कार और वैभव देखने से तो बहुत बड़ा मालूम होता है; पर है वह सारी धोखेबाजी! आगे चल कर उसका भंडा फूट जाता है ॥ १५ ॥ इसी प्रकार, बिना विश्वास ज्ञान ग्रहण करने से समाधान नहीं होता। सन्देहयुक्त ज्ञान से बहुतों का अनहित हो चुका है ॥ १६ ॥ मंत्र यंत्र के उपदेश से अज्ञान प्राणी ऐसे फँसाये जाते हैं जैसे रोगी को चुपके से अनाड़ी वैद्य मार डाले ॥ १७ ॥ कच्चा वैद्य होने के कारण यदि किसी विचारे मनुष्य के प्राण चले जायँ तो इसमें दूसरे का क्या उपाय है? ॥ १८ ॥ दुख के मारे भीतर ही भीतर सूखता जाता है; पर वैद्य से दवा पूछने में लजाता है, तो फिर आत्महत्यारूपन उसे क्यों न शोभे? ॥ १९ ॥ ज्ञाता पर अभिमान करना स्वयं, अज्ञानी होने के कारण, डूबना है। भला देखो तो, पेसा करने से हानि किसकी होती है (ज्ञाता की या अभिमान करनेवाले की?) ॥ २० ॥ जब स्वयं यह विश्वास हो जाय कि, पापों का खंडन हो गया और जन्म-यातना मिट गई, तब जानो कि अब भलाई है ॥ २१ ॥ जब समझो कि, हमने परमेश्वर को पहचान लिया, हम कौन हैं—सो भी जान लिया और आत्मनिवेदन हो गया, तब जानो कि अब ठीक है ॥ २२ ॥ जब यह मालूम हो जाय कि, ब्रह्मांड किसने रचा और किस पदार्थ का रचा, मुख्य कर्ता कौन है, तब समझो कि, अब सब ठीक है ॥ २३ ॥ इतना मालूम होने में यदि शंका रह गई तो समझ लो कि, अब तक का किया हुआ सारा परमार्थ व्यर्थ गया और बिना विश्वास के वह पुरुष संशय में ही डूबा रहा! ॥ २४ ॥ यह परमार्थ का मर्म है—इसमें यदि कोई असत्य कहता हो तो वह अधम है और जो असत्य मानता हो उसे यथार्थ में पापियों का सिरताज समझना चाहिए! ॥ २५ ॥ यहाँ अब बोलने की सीमा हो चुकी (इससे अधिक अब क्या कहा जाय?) न जानने से परमात्मा नहीं जाना जाता, इसमें कुछ भी असत्य नहीं है; हे परमात्मा! तू

* ऐसे दिवालिये किसी शहर में जाकर अपनी दुकान जमाते हैं और लोगों का बहुत सा धन हाथ आ जाने पर फिर दिवाला निकाल देते हैं !

ही जानता है ! ॥ २६ ॥ मेरी उपासना की विशेषता यही है कि, सत्य ज्ञान बतलाया जाय; क्योंकि मिथ्या कहने से प्रभु पर शोष आता है ॥२७॥ इस लिए सत्य ही कहते हैं ! कर्ता को पहचानना चाहिए और माया की उत्पत्ति का कारण खोजना चाहिए ॥ २८ ॥ वही बतलाया हुआ निरूपण फिर अच्छी तरह से बतलाया गया है-श्रोता लोगों को सावधान होकर सुनना चाहिए ॥ २९ ॥ जहाँ सूक्ष्म निरूपण आ पड़ता है वहाँ कदा हुआ ही फिर से कहते हैं, क्योंकि श्रोता लोगों की समझ में वह बातें अच्छी तरह आ जाना चाहिए ॥ ३० ॥ वास्तव में प्रतीति को सम्भालने से जनरूढ़ि उड़ जाती है; इस लिए (अर्थात् जनरूढ़ि की रक्षा करते हुए प्रतीति कराने के लिए) यह खटपट करना पड़ती है ॥ ३१ ॥ यदि जनरूढ़ि ही के अनुसार बतलावें तो प्रतीति का समाधान डूब जाता है और यदि प्रतीति-समाधान की रक्षा की जाय तो जनरूढ़ि उड़ जाती है ! ॥ ३२ ॥ इस प्रकार का दोनों ओर संकट उपस्थित होता है-इसी कारण बताया हुआ ही फिर बताना पड़ता है । अच्छा, अब दोनों (जनरूढ़ि और प्रतीति-समाधान) की रक्षा करके यह कूटक हल किये देता हूँ ॥ ३३ ॥ अतएव, अब जनरूढ़ि और प्रतीति-प्रमाण, दोनों की रक्षा रख कर किया हुआ निरूपण, परम चतुर श्रोता लोगों को मनन करना चाहिए ॥ ३४ ॥

नववाँ समास-पुरुष और प्रकृति ।

॥ श्रीराम ॥

आकाश में जैसे वायु निर्माण होता है वैसे ही ब्रह्म में मूलमाया होती है । इसके बाद फिर उस वायुरूप मूलमाया से त्रिगुण और पंचभूत होते हैं ॥ १ ॥ वटबीज में बहुत बड़ा पेड़ है; पर बीज फोड़ कर देखने से वह देख नहीं पड़ता । वास्तव में नाना वृक्षों का समूह बीज ही से होता है ॥ २ ॥ उसी प्रकार यह मूलमाया भी बीजरूप है-इसीसे यह सारा विस्तार हुआ है । उसका स्वरूप खोज कर अच्छी तरह देखना चाहिए ॥ ३ ॥ वहाँ निश्चल और चंचल दोनों दिखते हैं-उनकी प्रतीति विवेक-द्वारा करना चाहिए । निश्चल में जो चंचलस्थिति है वही वायु है ॥ ४ ॥ उसमें जो चेतनाशक्ति है वही जगज्ज्योति की स्फूर्ति है । वायु और चेतनाशक्ति मिल कर मूलमाया कहलाती है ॥ ५ ॥ ' सरिता ' कहने से जान पड़ता है कि, यह कोई स्त्री होगी, पर वहाँ देखो तो क्या है ? पानी ! इसी

प्रकार विवेकी पुरुष माया को समझें ! ॥ ६ ॥ वायु और चेतनाशक्ति या जगज्ज्योति मिल कर मूलमाया कहती है । पुरुष और प्रकृति उन्हींका नाम है ॥ ७ ॥ वायु को प्रकृति कहते हैं और जगज्ज्योति को पुरुष कहते हैं—उन्हींका नाम है पुरुष-प्रकृति या शिव-शक्ति ॥ ८ ॥ इस बात में विश्वास रखना चाहिए कि, वायु में जो चेतना-विशेष है वही प्रकृति में पुरुष है ॥ ९ ॥ वायु 'शक्ति' है और चेतना 'शिव' है—इन्हींको लोग सदा 'अर्ध-नारी नटेश्वर' कहा करते हैं ॥ १० ॥ वायु में चेतनागुण है और यही ईश्वर का लक्षण है—इसीसे फिर आगे त्रिगुण हुए हैं ॥ ११ ॥ त्रिगुण में सत्वगुण-शुद्ध चेतना का लक्षण है—इसका देहधारी स्वरूप स्वयं विष्णु हुआ है ॥ १२ ॥ भगवद्गीता कहती है कि, उसी विष्णु के अंश से जगत् चलता है । यह गोलक-धंधा विचार से कैसा स्पष्ट हो जाता है ! ॥ १३ ॥ एक ही चेतनाशक्ति सब प्राणियों में फैली हुई है और अपने जानपन से सब शरीरों की रक्षा करती है ॥ १४ ॥ उसीका नाम जगज्ज्योति है—उसीसे प्राणिमात्र जीते हैं—इसकी साक्षात् प्रतीति प्रत्यक्ष देख लेना चाहिए ॥ १५ ॥ पत्ती, श्वापद, कीड़ा, चींटी, आदि, जगत् का कोई भी प्राणी हो, उसके शरीर में चेतना निरन्तर खेला करती है ॥ १६ ॥ उसीके गुण से, उसीके जानपन से, शरीर को भगाते हैं, बचाते हैं, और छिपाते हैं ॥ १७ ॥ वह सारे जगत् का पालन करती है—इसी लिए उसका नाम जगज्ज्योति है; इसके चले जाने पर प्राणी जहाँ के तहाँ मर जाते हैं ॥ १८ ॥ मूलमाया की चेतना का विकार, आगे चल कर, इस प्रकार विस्तृत हुआ है जैसे पानी का तुषार बन कर अनंत रेणुओं के रूप में होता है ॥ १९ ॥ उसी प्रकार देव, देवता, दैवत, भूत, इत्यादि मिथ्या नहीं कहे जा सकते; ये सब अपने अपने सामर्थ्य से इस सृष्टि में फिरते रहते हैं ॥ २० ॥ ये सब सदा वायु-स्वरूप से विचरा करते हैं और अपने इच्छानुसार रूप बदलते रहते हैं । अज्ञान प्राणी अपने भ्रम और संकल्प से उनके द्वारा पीड़ित होते हैं ॥ २१ ॥ ज्ञान में संकल्प होता ही नहीं; इसी कारण ये सब उसे नहीं बाधते; अतएव आत्मज्ञान का अभ्यास अवश्य करना चाहिए ॥ २२ ॥ आत्मज्ञान का अभ्यास करने से सब कर्मों का खंडन हो जाता है—यह विलकुल प्रत्यक्ष, अनुभव की बात है—इसमें कुछ भी संदेह नहीं ॥ २३ ॥ यह कभी नहीं हो सकता कि, ज्ञान के बिना कर्म का खंडन हो जाय । इसी प्रकार यह भी असम्भव है कि, सद्गुरु के बिना ज्ञान प्राप्त हो जाय ॥ २४ ॥ इस लिए सद्गुरु करना चाहिए—सत्संग ढूँढ कर उसके शरण जाना चाहिए और अन्तःकरण में तत्त्वज्ञान का मनन करना चाहिए ॥ २५ ॥ तत्त्व में तत्त्व निकल जाने से वास्तव में स्वयं जो 'आप' है वही रह जाता है—इस

रात्मा को वही जानते हैं जो विचारवन्त हैं ॥ ३२ ॥ आत्मा, जगज्ज्योति और सर्वज्ञता, तीनों को एक ही जानना चाहिए; इसीको अन्तःकरण या ज्ञप्ति, निश्चयपूर्वक समझना चाहिए ॥ ३३ ॥ पदार्थों के और पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक नामों के ही ढेर लगे हुए हैं, तब फिर सृष्टि-रचना के नाम और कहां तक बताये जायें? ॥ ३४ ॥ सब का चालक एक वही है। वह अन्तरात्मा अनन्त ब्रह्माण्ड का व्यापार चलाता है। चींटो से लेकर ब्रह्मा-विष्णु-महेश, इत्यादि देवता तक, सब उसीके द्वारा बर्तते हैं ॥ ३५ ॥ उस अन्तरात्मा को यहां थोड़े ही में जान लेना चाहिए। नाना प्रकार का तमाशा सब उसी में है! ॥ ३६ ॥ वह जान पड़ता है; पर दिखता नहीं, उसके विषय में प्रतीति आती है; पर उसका भास नहीं होता और वह शरीर में है; पर एक ठौर में नहीं बैठता ॥ ३७ ॥ वह तीक्ष्णता से आकाश में भर जाता है, सरोवर देखते ही पसर जाता है और पदार्थ देखते हुए चारों ओर व्याप्त रहता है ॥ ३८ ॥ जैसा पदार्थ दिख पड़ता है वह वैसा ही हो जाता है और चञ्चलता में वह वायु से भी अधिक है ॥ ३९ ॥ वह अनेक दृष्टियों से देखता है, अनेक रसनाओं से चखता है और अनेक मनो से परखता है ॥ ४० ॥ कान में बैठ कर शब्द सुनता है, घ्राणेंद्रिय से वास लेता है और त्वचा से ठंड और गर्म इत्यादि जानता है ॥ ४१ ॥ इसी प्रकार वह सब के मन की बातें जानता है, वह सब में है और सब से निराला है। उसकी अगाध लीला वही जानता है! ॥ ४२ ॥ वह न पुरुष है; न स्त्री है; न बाल है; न तरुण है, और न कुमारी है। वह नपुंसक शरीर का धारण करनेवाला है, पर नपुंसक भी वह नहीं है ॥ ४३ ॥ वह सब देहों को चलाता है, वह करके भी अकर्ता कहलाता है, वह क्षेत्रज्ञ है, क्षेत्रवासी है और उसको देही तथा कूटस्थ भी कहते हैं ॥ ४४ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते ॥ १ ॥

जगत् में दो प्रकार के पुरुष होते हैं—एक क्षर और दूसरे अक्षर। सर्व भूतों को क्षर और कूटस्थ को अक्षर कहते हैं ॥ ४५ ॥ उत्तम पुरुष और ही है—वह निष्प्रपंच, निष्कलंक, निरंजन, परमात्मा, एक और निर्विकार है ॥ ४६ ॥ साधकों को चारों देहों का निरसन करके देहातीत होना चाहिए। देहातीत को ही अनन्य भक्त जानना चाहिए ॥ ४७ ॥ जब देहमात्र का निरसन हो जाता है तब अन्तरात्मा भी कहां चञ्चल है? निर्विकार में विकार

के लिए ठीर ही नहीं है * ॥ ४८ ॥ विवेक-द्वारा यह निश्चयात्मक प्रत्यय कर लेना चाहिए कि, निश्चल एक परब्रह्म है और जितना चंचल है उतना सब मायिक है ॥ ४९ ॥ इसमें बहुत खटखट की आवश्यकता नहीं; क्योंकि हैं दो ही-एक चंचल और एक निश्चल । इन दो में से शाश्वत कौन है, यह बात केवल ज्ञान से पहचानना चाहिए ॥ ५० ॥ सारासार-विचार इस लिए कहा है कि, जिससे असार छोड़ कर सार ले लिया जाय । ज्ञानी लोग सदा यह बात विचारते रहते हैं कि, नित्य क्या है और अनित्य क्या है ॥ ५१ ॥ जहाँ ज्ञान ही विज्ञान हो जाता है, जहाँ मन ही उन्मन हो जाता है, ऐसे आत्मा में चंचलता कैसे हो सकती है ? ॥ ५२ ॥ बतलाने-बतलाने का कोई काम नहीं, अपने ही अनुभव से जानना चाहिए । बिना अनुभव के व्यर्थ परिश्रम करना ही पाप है ॥ ५३ ॥ सत्य के समान सुकृत नहीं और असत्य के बराबर पाप नहीं और बिना प्रतीति के कहीं समाधान नहीं ॥ ५४ ॥ 'सत्य' का अर्थ है ब्रह्म और यही पुण्य है, तथा असत्य का अर्थ है माया, यही पाप है ॥ ५५ ॥ मायारूप पाप के नष्ट होने से पुण्यरूप परब्रह्म बच रहता है और उसमें अनन्य होते ही स्वयं भी नामातीत हो जाते हैं ॥ ५६ ॥ 'हम' स्वनःसिद्ध 'वस्तु' हैं-वहाँ देहसम्बन्ध नहीं है । इतना हो जाने पर पाप के ढेर स्वयं भस्म हो जाते हैं ॥ ५७ ॥ ब्रह्मज्ञान के बिना अनेक साधन करना व्यर्थ परिश्रम है । नाना पापों का क्षालन कैसे हो सकता है ? ॥ ५८ ॥ यह शरीर पाप (दृश्य या माया) का बना हुआ है और आगे भी, (माया को सत्य मानने के कारण) पाप ही एकत्र होते हैं । भीतर रोग होने पर ऊपर ऊपर उपचार करने से क्या होता है ? ॥ ५९ ॥ अनेक क्षेत्रों में मुड़ाते हैं; अनेक तीर्थों में इसे (शरीर को) दण्ड देते हैं; जगह जगह नाना प्रकार के निग्रह से इसे खंडन करते हैं; अनेक भांति की मिष्टियों से इसे घिसते हैं, तप्त मुद्रा से दागते हैं; इस प्रकार ऊपर ऊपर से चाहे जितना इसे कष्ट दिया जाय, तथापि यह कुछ शुद्ध थोड़े ही हो सकता है ? ॥ ६० ॥ ६१ ॥ चाहे गोबर के गोले निगले जायँ, गोमूत्र की धारें पी जायँ; अथवा रुद्राक्ष या काष्ठमाणिक्य की चाहे जितनी माला पहनी जायँ-इस प्रकार से, ऊपर ऊपर, चाहे जितना वेष बनाया जाय; पर यदि भीतर पाप भरा है तो उसके दूर करने के लिए आत्मज्ञान ही चाहिए ! ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ अनेक प्रकार के व्रत, दान, योग, तीर्थाटन, इत्यादि, सब से करोड़गुना अधिक आत्मज्ञान की महिमा है

* "अन्तरात्मा" शब्दप्रयोग देह की अपेक्षा से हुआ है, इस लिए देह का ही निरास हो जाने पर अन्तरात्मा कहा जाता है ? ब्रह्मस्वरूप निर्विकार है-उसमें विकार नहीं ।

"अन्तरात्मा" शब्द का प्रयोग देह की उपाधि के योग से हुआ है-यह उपाधि ब्रह्ममें नहीं है ।

॥ ६४ ॥ जो पुरुष सदा आत्मज्ञान का विचार करता है उसके पुण्य की सीमा नहीं है । उसके पास से दुष्ट पाप की बाधा दूर हो जाती है ॥ ६५ ॥ वेदशास्त्र में जो सत्यस्वरूप कहा है वही ऐसे ज्ञानों का भी रूप है । उसे अनुपम पुण्यवान् और असोम सृकृता समझना चाहिए ॥ ६६ ॥ ये अनुभव की बातें हैं-आत्मदृष्टि से अनुभव करना चाहिए और अनुभव से अलग रह कर कष्टी न होना चाहिए ॥ ६७ ॥ ये अनुभववाले लोगो ! बिना अनुभव के सारा शोक है इस लिए रघुनाथकृपा से निश्चयात्मक अनुभव बना रहे ! ॥ ६८ ॥



ग्यारहवाँ दशक ।



पहला समास-सिद्धान्त-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

यह तो मालूम हो जाता है कि, आकाश से वायु कैसे होता है । परन्तु, वायु से अग्नि कैसे होता है, सो सावधान होकर सुनो:—॥ १ ॥ वायु की कठिन रगड़ से अग्नि, और शीतल मन्द वायु से पानी उत्पन्न होता है ॥२॥ आप से यह पृथ्वी होती है, जो नाना बीजों का रूप है । बीज से उत्पत्ति होना स्वाभाविक ही है ॥ ३ ॥ सृष्टि आदि ही से कल्पनामय है और कल्पना मूलमाया की है; तथा उसीसे (त्रिगुणात्मक) त्रिदेवों की उत्पत्ति हुई है ॥ ४ ॥ निश्चल (परब्रह्म) में जो चंचल (मूलमाया) होती है वह केवल कल्पना ही है-वही अष्टधा प्रकृति का मूल है ॥ ५ ॥ अर्थात् कल्पना ही अष्टधा प्रकृति है और अष्टधा प्रकृति ही कल्पना है । अष्टधा प्रकृति मूलमाया से उत्पन्न हुई है ॥ ६ ॥ पांच भूत और तीन गुण मिल कर आठ हुए-इसी लिए इसे अष्टधा प्रकृति कहते हैं ॥ ७ ॥ यह आदि में कल्पनारूप से होती है और फिर आगे, वही विस्तृत होकर, सृष्टिरूप में स्थूलता को प्राप्त होती है ॥ ८ ॥ जो मूल में होती है वह मूल-माया है; उससे जो त्रिगुण होते हैं वह गुणमाया है; और उससे सृष्टिरूप में जो स्थूलता को प्राप्त होती है वह अविद्यामाया है ॥ ९ ॥ उसीसे फिर (जारज, उद्भिज, अंडज और स्वेदज नामक) चार खानि; (परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी नामक) चार वाणी, अनेक योनि और अनन्त व्यक्तियां प्रकट होकर विस्तृत होती हैं ॥ १० ॥

इस प्रकार तो उत्पत्ति होती है और संहार का हाल पिछले दशक में स्पष्ट करके बतलाया ही जा चुका है ॥ ११ ॥ तथापि यहाँ पर फिर सांक्षिप्त-रूप से बतलाते हैं । ध्यान देकर सुनिये:—॥ १२ ॥ शास्त्र में कल्पान्त का वर्णन इस प्रकार है कि, सौ वर्ष तक अनावृष्टि रहती है, इस कारण सारी जीवसृष्टि समाप्त हो जाती है ॥ १३ ॥ बारह कला करके सूर्य तपता है, इससे पृथ्वी राख हो जाती है और फिर वह राख जल में घुल जाती है ॥ १४ ॥ फिर उस जल को भी अग्नि सोख लेता है; अग्नि को वायु मारता है और फिर स्वयं वायु भी लीन हो जाता है तथा निराकार जहाँ का तहाँ रह जाता है ॥ १५ ॥ इस प्रकार सृष्टि-संहार होता है ॥ यही पीछे विस्तार-

पूर्वक बतलाया जा चुका है । अस्तु, इस प्रकार माया का निरास हो जाने पर निराकार स्वरूपस्थिति बच रहती है ॥ १६ ॥ वहाँ जीव-शिव, पिंड-ब्रह्मांड, आदि का भगड़ा मिट जाता है और अविद्यामाया का सम्पूर्ण गड़-बड़ नाश हो जाता है ॥ १७ ॥

यह प्रलय विवेक से भी किया जा सकता है; उसे 'विवेक-प्रलय' कहते हैं । उसे विवेकी ही जानते हैं । मूर्ख विचारे क्या जानें ? ॥ १८ ॥ सारी सृष्टि का खोज करने पर जान पड़ता है कि, एक चंचल है और एक अचल है । चंचल का कर्ता चंचलरूपो ही है ॥ १९ ॥ जो सब शरीरों में प्रवृत्त होता है और जो करके भी अकर्ता कहा जाता है ॥ २० ॥ जो रंक से लेकर राजा तक, और ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इत्यादि देवों तक, सब में बर्तता है और जो इन्द्रियों के द्वारा सम्पूर्ण शरीरों का व्यापार चलाता है ॥ २१ ॥ उसे लोग 'परमात्मा' कहते हैं और उसीको सर्वकर्ता भी जानते हैं; पर उसका भी नाश होता है । विवेक से इसकी प्रतीति करना चाहिए ॥ २२ ॥ वह कुत्ते में रह कर गुरगुराता है, सूकर में रह कर कुरकुराता है और गधे में रह कर जोर से रँकता है ॥ २३ ॥ साधारण लोगों का ध्यान सिर्फ इन नाना प्रकार के शरीरों की ओर रहता है; परन्तु विवेकी लोग इन शरीरों के भीतर की वस्तु देखते हैं, अर्थात् वे 'पंडित' (विवेकी) लोग समदर्शी होते हैं:- ॥ २४ ॥

विद्याविनयसपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनिचैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १ ॥

वे लोग प्राणिमात्र को एक ही समान इस प्रकार देखते हैं, कि ऊपर ऊपर देखने में देह तो अलग अलग हैं, पर भीतर सब के एक ही वस्तु है ॥ २५ ॥ यद्यपि देखने में ये अनन्त प्राणी देख पड़ते हैं, पर ये सब एक ही शक्ति से बर्तते हैं, और वह शक्ति "जगज्ज्योति" या "संज्ञा-शक्ति" है ॥ २६ ॥ 'ज्योति' या 'शक्ति' कान में रह कर अनेक प्रकार के शब्दों का ज्ञान करती है, त्वचा में रह कर शीत और उष्ण को जानती है और चक्षु में रह कर अनेक पदार्थों के देखने का ज्ञान करती है ॥ २७ ॥ तथा रसना में रह कर रस, घ्राण में रह कर गन्ध और कर्मेन्द्रियों में रह कर नाना प्रकार के विषय-सुखों को जानती है ॥ २८ ॥ इस प्रकार वह सूक्ष्मरूप से अन्तर में रह कर स्थूल की रक्षा करती है और नाना सुखदुःखों को पहचानती है-अतएव, उसे अन्तःसाक्षी या अन्तरात्मा भी कहते हैं ॥ २९ ॥ उसीको आत्मा, अन्तःरात्मा, विश्वात्मा, चैतन्य, सर्वात्मा, सक्षमात्मा, जीवात्मा, शिवात्मा

परमात्मा, द्रष्टा साक्षी और सत्त्वारूप कहते हैं ॥ ३० ॥ यही विकारी (अन्तरात्मा) विकार (दृश्य सृष्टि) में रह कर अखंड रीति से नाना प्रकार के विकार किया करता है और इसीको मूर्ख लोग 'वस्तु' या परब्रह्म समझते हैं ॥ ३१ ॥ सत्र (चंचल और निश्चल) को एक ही समान समझना—सारा एककार करना—यह जो मायिक स्थिति है सो सिर्फ इसी चंचल आविद्यामाया के कारण से है ॥ ३२ ॥ परन्तु वास्तव में, चंचल और मिथ्या माया अलग है और अचल तथा शाश्वत परब्रह्म अलग है—इसीको जानने के लिए नित्यानित्य-विवेक की आवश्यकता होती है ॥ ३३ ॥ जो जीव जानता है वह सज्ञान है, जो नहीं जानता वह अज्ञान है और जो जन्मता है वह वासनात्मक है ॥ ३४ ॥ तथा जो जीव ब्रह्म से ऐक्य पाया हुआ है वह ब्रह्मांश है। उसके तर्क पिंड और ब्रह्मांड, दोनों का निरसन हो जाता है। यही चार जीव हैं ॥ ३५ ॥

अस्तु। ये सारे चंचल हैं और जितना कुछ चंचल है वह सब नश्वर है। और जो निश्चल है वह आदि-अंत में निश्चल ही है ॥ ३६ ॥ वह 'वस्तु' आदि, मध्य और अन्त में समसमान है, तथा निर्विकारी, निर्गुण, निरञ्जन, निस्संग और निष्पंच है ॥ ३७ ॥ उपाधि का निरास हो जाने पर वास्तव में जीवशिव को एकता हो जाती है; परन्तु विचार करके देखने पर उपाधि कुछ है ही नहीं ॥ ३८ ॥ अस्तु। जितना कुछ जानना है उतना सब ज्ञान है; परन्तु परब्रह्म में अनन्य हो जाने पर इस ज्ञान का विज्ञान हो जाता है और मन उन्मन हो जाता है। उस उन्मनी दशा को मन से कैसे पहचान सकते हैं? ॥ ३९ ॥ वृत्ति को निवृत्ति नहीं मालूम होती, गुण को निर्गुण-प्राप्ति कैसे हो सकती है? साधक विवेक से गुणातीत होकर सत्स्वरूप को प्राप्त करते हैं ॥ ४० ॥ श्रवण से मनन श्रेष्ठ होता है; क्योंकि मनन से सारासार मालूम होता है और फिर उसके बाद निदिध्यास से निस्संग 'वस्तु' का साक्षात्कार होता है ॥ ४१ ॥ निर्गुण में अनन्यता होना ही सायुज्य मुक्ति है। वहां लक्ष्यांश वाच्यांश दोनों समाप्त हो जाते हैं ॥ ४२ ॥ अलक्ष में लक्ष लीन हो जाता है; सिद्धान्त में पूर्वपक्ष का लय हो जाता है; और अप्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष (दृश्य), रह कर भी, नहीं रहता ॥ ४३ ॥ अर्थात् मायिक उपाधि रहते हुए ही, स्वरूपाकार वृत्ति होने का नाम सहज समाधि है। श्रवण से निश्चय की बुद्धि बढ़ानी चाहिये ॥ ४४ ॥

दूसरा समास-सृष्टिक्रम ।

॥ श्रीराम ॥

एक निश्चल है, एक चंचल है । चंचल में सब फँसे हुए हैं और जो निश्चल है वह जैसा का तैसा निश्चल ही है ॥ १ ॥ ऐसा लाखों में कोई एक है जो निश्चल का विवेक करता है । निश्चल के समान जो निश्चयात्मक है वह निश्चल ही है ॥ २ ॥ ऐसे बहुत लोग हैं जो निश्चल की तो बातें करते हैं, परन्तु चंचल की तरफ दौड़ते हैं । चंचलचक्र से निकल जानेवाले थोड़े ही हैं ॥ ३ ॥ चंचल में चंचल जन्मता है, चंचल ही में बढ़ता है तथा जन्म भर सारा चंचल ही प्रतिबिम्बित होता है ॥ ४ ॥ सारी पृथ्वी चंचल की ओर जा रही है, जितना कुछ करना धरना है सब चंचल ही में होता है । ऐसा कौन है जो चंचल को छोड़ कर निश्चल की ओर दुलता हो ? ॥ ५ ॥ चंचल कुछ निश्चल नहीं हो सकता, और निश्चल कदापि चल नहीं सकता-यह बात नित्यानित्य के विवेक से लोगों को कुछ समझ पड़ती है ॥ ६ ॥ थोड़ा समझने से निश्चय नहीं होता और संशय बना रहता है ॥ ७ ॥ परन्तु संशय, अनुमान और भ्रम इत्यादि की आपत्ति सिर्फ चंचल ही में रहती है, निश्चल में कदापि नहीं रहती-इसका मर्म समझना चाहिए ॥ ८ ॥ जितना कुछ चंचलाकार है वह सब माया है और मायिक सब लय हो जायगा-इसमें छोटा बड़ा कहने की आवश्यकता नहीं ॥ ९ ॥ सारी माया फैली हुई है-अष्टधा प्रकृति विस्तृत है-और नाना प्रकार के रूप में चित्रविचित्र विकार पाई हुई है ॥ १० ॥ नाना प्रकार की उत्पत्ति के अनेक विकार, नाना प्रकार के छोटे-बड़े प्राणी, तथा नाना रूपों के पदार्थ, इत्यादि सब माया का खेल है ॥ ११ ॥ यह विकारवान् माया विकृत होकर सूक्ष्म से स्थूल होती है और अमर्यादित रीति से कुछ की कुछ बन कर देख पड़ती है ॥ १२ ॥

फिर नाना प्रकार के शरीर बनते हैं, अनन्त नाम रखे जाते हैं और भिन्न भिन्न भाषाओं के अनुसार कुछ कुछ मालूम होते हैं ॥ १३ ॥ फिर नाना प्रकार के रीति-रवाज और जनरूढ़ियां जारी होती हैं; नाना प्रकार के आचार होते हैं, और उनके अनुसार सब लोग वर्तने लगते हैं ॥ १४ ॥ अष्टधा प्रकृति के छोटे- बड़े शरीर निर्माण होते हैं और फिर अपने अपने मन के अनुसार वर्तने लगते हैं ॥ १५ ॥ नाना मत निर्माण होते हैं, अनेक प्रकार के पाखण्ड फैलते हैं; और बहुत प्रकार के अनेकों गड़बड़ मन्त्र होते हैं ॥ १६ ॥ जैसी जनरूढ़ि पड़ जाती है वैसाही लोग वर्ताने करने लगते हैं । कौन किस को रोक सकता है ? एकता नहीं है ॥ १७ ॥ सारी पृथ्वी में

गड़बड़ मचा हुआ है; एक से एक बड़ा है—कौन जाने कि, कौन सच्चा है और कौन भूठा है ॥ १८ ॥ आचार बहुत बुरे पड़ गये हैं, कितने ही पेट के लिए डूबे मरते हैं, कितने ही अभिमान में आकर आडम्बर रच रहे हैं ॥ १९ ॥ अगणित देवता हो गये हैं, उनका गड़बड़ मचा हुआ है, देवों और भूतों का ढोंग भी खूब मचा हुआ है ॥ २० ॥ मुख्य देव मालूम नहीं होता, किसीका किसीसे मेल नहीं खाता, एक को और एक नहीं भुक्तता । सभी स्वच्छन्द बन रहे हैं ॥ २१ ॥ इस प्रकार विचार नष्ट होगया है, सारासार का विचार कोई नहीं करता ! कहां का छोटा, कहां का बड़ा—कुछ जान ही नहीं पड़ता ! ॥ २२ ॥ शास्त्रों का बाजार लगने लगा, देवताओं का गड़बड़ मचा हुआ है, लोग सकाम व्रत के लिए मरे जाते हैं ! ॥ २३ ॥ इस प्रकार सब सत्यानाश हो रहा है; सत्य-असत्य का पता नहीं लगता और चारों ओर स्वैरता का वर्ताव हो रहा है ! ॥ २४ ॥ मतमतान्तरों का भगड़ा मचा हुआ है, कोई किसीको पूजता ही नहीं; जो जिस मत में पड़ गया है उसको वही बड़ा जान पड़ता है ॥ २५ ॥ असत्य के अभिमान से पतन होता है; इसी लिए ज्ञाता लोग सत्य का खोज करते हैं ॥ २६ ॥ लोग जो कुछ वर्ताव करते हैं वह सब ज्ञाता को करतलामलकवत् रहता है । अतएव, हे विवेकी लोगो ! सुनो—॥ २७ ॥ लोग किस पंथ से जा रहे हैं और किस देवता का भजन करते हैं—सो प्रत्यक्ष अनुभव की बात सावधान होकर सुनोः—॥ २८ ॥

मिट्टी, पत्थर और अन्य धातुओं की मूर्तियों को देवता मान कर बहुत से लोग उन्हींको पूजने लगे हैं ॥ २९ ॥ कोई अनेक देवताओं के अवतारों के चरित्र सुनते हैं और सदा उन्हींका जप, ध्यान तथा पूजा किया करते हैं ॥ ३० ॥ कोई सब के अंतरात्मा, विश्व में वर्तनेवाले विश्वात्मा, द्रष्टा, साक्षी या ज्ञानात्मा को मानते हैं ॥ ३१ ॥ कोई निर्मल और निश्चल हैं—कभी चंचल होते ही नहीं—और अनन्य भाव से स्वयं केवल वस्तुरूप हो रहे हैं ॥ ३२ ॥ सारांश, इस सृष्टि में कुल चार प्रकार के देवता हैंः—प्रथम नाना प्रकार की प्रतिमाएं, दूसरे अवतार, तीसरे अंतरात्मा और चौथे निर्विकारी—इन्हें छोड़ कर अन्य किसीमें लोगों की भावना नहीं है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ कोई कोई सब एक ही मानते हैं; और परमेश्वर को साक्षी बतलाते हैं; परन्तु जिसके कारण वे परमेश्वर को साक्षी कहते हैं उस अष्टधा प्रकृति को भी पहचानना चाहिए ॥ ३५ ॥ वास्तव में प्रकृति का साक्षी जो परमेश्वर है वह प्रकृति का ही स्वभाव है । परन्तु उस भावार्थ परब्रह्म को विवेक से जानना चाहिए ॥ ३६ ॥ जो निर्मल का ध्यान करेगा वह निर्मल ही हो जायगा । जो जिसको भजेगा वह उसी रूप में

हो जायगा । ॥ ३७ ॥ पानी और दूध को जो अलग अलग करते हैं वे राजहंस कहलाते हैं तथा जो सार-असार जानते हैं वे महानुभाव हैं ॥ ३८ ॥
 अरे ! जो चंचल (माया) का ध्यान करेगा वह स्वाभाविक ही नाश होगा
 और जो निश्चल (ब्रह्म) का भजन करेगा वह निश्चल ही रहेगा ॥ ३९ ॥
 प्रकृति के अनुसार चलना चाहिए, परन्तु अन्तःकरण में शाश्वत को
 पहचानना चाहिए । और सत्य स्वरूप होकर साधारण लोगों को तरह
 बर्ताव करना चाहिए ॥ ४० ॥

तासरा समास-सांसारिक उपदेश ।

॥ श्रीराम ॥

मनुष्य का शरीर बहुत जन्मों के बाद मिलता है; इस लिए, इसको
 पाकर, नीति-न्याय के साथ सत्य बर्ताव करना चाहिए ॥ १ ॥ प्रपच
 (सांसारिक कार्य) नियमपूर्वक करना चाहिए और उसके साथ ही
 परमार्थ का भी विचार करना चाहिए । इससे इहलोक और परलोक
 दोनों में सुख होता है ॥ २ ॥ सौ वर्ष की आयु नियत की गई है, जिसमें
 से बाल्यावस्था अज्ञान में और युवावस्था सम्पूर्ण विषयों में चली जाती
 है ॥ ३ ॥ बुढ़ापे में नाना रोग और कर्मभोग भोगने पड़ते हैं । अब
 भगवान् का भजन किस समय किया जाय ? ॥ ४ ॥ राजकीय और दैवी
 उद्वेग तथा चिन्ताओं में, अन्न-वस्त्र और शरीर-रक्षा में, तथा अन्य इसी
 प्रकार की अनेक भक्तियों में अचानक मृत्यु आ जाती है ॥ ५ ॥ लोग मर
 मर जाते हैं, यह प्रत्यक्ष है; अनेक पुरखा लोग चले गये-यह सब जानते
 तो हो; पर निश्चय क्या किया ? ॥ ६ ॥ घर में तो आग लगी हुई है और
 घर का मालिक सावकाश सो रहा है- ऐसे आत्महत्यारे को कौन भला
 कहेगा ? ॥ ७ ॥ पुण्यमार्ग सारा डूबा हुआ है, पापसंग्रह बहुत हो चुका
 है; और यमयातना का धक्का कठिन है ! ॥ ८ ॥ इस लिए अब ऐसा न
 करना चाहिए, बहुत सँभाल कर चलना चाहिए । इहलोक और परलोक
 दोनों साधना चाहिए ॥ ९ ॥ आलस का फल प्रत्यक्ष है, जमुहाई आकर
 नींद आ जाती है और आलसों लोग इसीको सुख मान कर चाहते हैं
 ॥ १० ॥ उद्योग करने से यद्यपि कष्ट होता है; परन्तु आगे सुख मिलता है ।
 यत्न करने से खाने-पीने आदि सब प्रकार का सुख मिलता है ॥ ११ ॥
 आलस से उदासीनता और दरिद्रता आती है, प्रयत्न निष्फल जाता है

और दुर्भाग्य प्रकट होता है ॥ १२ ॥ इस लिए आलस न होने से ही वैभव मिल सकता है और इहलोक तथा परलोक में भी मनुष्य को समाधान होता है ॥ १३ ॥

अस्तु । अब, प्रयत्न कौनसा करना चाहिए, सो थोड़ी देर सावधान होकर सुनो:- ॥ १४ ॥ बड़े सवेरे उठ कर कुछ उत्तम वचन याद करना चाहिए और यथा-शक्ति परमात्मा का स्मरण करना चाहिए ॥ १५ ॥ इसके बाद ऐसी जगह दिशा के लिए जाना चाहिए जो किसीको मालूम न हो ! और निर्मल जल से शौच तथा आचमन (कुल्ला) करना चाहिए ॥ १६ ॥ मुखमार्जन, प्रातःस्नान, सध्या, तर्पण, देवतार्चन करके अग्निपूजन और उपासना सांगोपांग करनी चाहिए ॥ १७ ॥ इसके बाद कुछ जलपान करके गृहकार्य करना चाहिए और मधुर भाषण से सब को राजी रखना चाहिए ॥ १८ ॥ अपने अपने व्यापार में खबरदार रहना चाहिए । दुश्चिन्त रहने से दुष्ट लोग धोखा देते हैं ॥ १९ ॥ सभी जानते हैं कि, दुश्चिन्तता और आलस से मनुष्य चूक जाता है, ठग जाता है, विसर जाता है, छोड़ देता है और याद आने पर तडफडाता है ॥ २० ॥ इस लिए मन सावधान और एकाग्र रखना चाहिए, तभी खाना-पीना अच्छा लगता है ॥ २१ ॥ भोजन के बाद, कुछ पठना और चर्चा करना चाहिए या एकान्त में जाकर नाना प्रकार के ग्रन्थों का मनन करना चाहिए ॥ २२ ॥ ऐसा करने से ही मनुष्य चतुर हो सकता है, अन्यथा मूर्ख ही रहता है । लोग खाते हैं और वह मूर्ख, दीनरूप किये हुए, टुकुर टुकुर हेरता है ! ॥ २३ ॥ अब भाग्य-वान् के लक्षण सुनिये:-ऐसा मनुष्य अपना एक क्षणभर भी समय व्यर्थ नहीं खोता और अपना सांसारिक व्यवसाय (प्रपञ्च-कार्य) बड़ी दक्षता से करता है ॥ २४ ॥ पहले कुछ कमा लेता है तब खाता है, फँसे हुए लोगों को उबारता है और शरीर को किसी न किसी अच्छे काम में लगाता है ॥ २५ ॥ कुछ धर्मचर्चा, पुराण, हरिकथा, अध्यात्म-निरूपण, आदि करता है और दोनों ओर का (प्रपञ्च+परमार्थ) एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देता ॥ २६ ॥ ऐसा जो सब प्रकार से सावधान है उसे दुःख कैसे हो सकता है ? उसका अभिमान विवेक से मिट जाता है ॥ २७ ॥ यह समझ कर चलना चाहिए कि, जो कुछ है सब ईश्वर का है । इस प्रकार चलने से उद्वेग समूल नाश हो जाता है ॥ २८ ॥ प्रपञ्च में जैसे सुवर्ण (धन) चाहिए वैसे ही परमार्थ में पञ्चीकरण चाहिए । इसके बाद महावाक्यों का विवरण करने से मुक्ति होती है ॥ २९ ॥ कर्म, उपासना और ज्ञान से समाधान होता है । इस लिए परमार्थ के साधनों का श्रवण करते रहना चाहिए ॥ ३० ॥

चौथा समास-सद्विचार ।

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म निराकार है । वह आकाश की तरह है । परन्तु उसमें विकार नहीं है-वह निर्विकार है ॥ १ ॥ ब्रह्म निश्चल है और अन्तरात्मा चञ्चल है । द्रष्टा और साक्षी अन्तरात्मा ही को कहते हैं ॥ २ ॥ उसी को ईश्वर कहना चाहिए । उसका स्वभाव चञ्चल है । वह सब जीवों में रह कर उनका पालन करता है ॥ ३ ॥ उसके बिना पदार्थ जड़ है, देह व्यर्थ है । उसी से परमार्थ इत्यादि सब कुछ मालूम होता है ॥ ४ ॥ कर्ममार्ग, उपासनामार्ग, ज्ञानमार्ग, सिद्धान्तमार्ग, प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग ईश्वर ही चलाता है ॥ ५ ॥ चञ्चल (अन्तरात्मा) के बिना निश्चल (परब्रह्म) मालूम नहीं होता और चञ्चल स्थिर नहीं रहता-इस प्रकार के ये अनेक विचार अच्छी तरह देखो ॥ ६ ॥ चञ्चल (अन्तरात्मा) और निश्चल (परब्रह्म) की सन्धि (माया) में बुद्धि चकराती है । कर्ममार्ग इत्यादि उस सन्धि (माया) के अनन्तर प्रकट हुए हैं ॥ ७ ॥ उन सब का मूल ' ईश्वर ' (अन्तरात्मा) है; परन्तु ईश्वर का न मूल है और न डाल है । परब्रह्म निश्चल और निर्विकारी है ॥ ८ ॥ जो निर्विकारी और विकारी को एक कहे वह मूर्ख है ! इससे तो देखते देखते विचार नष्ट होता है ! ॥ ९ ॥ सारे परमार्थ का मूल केवल पञ्चीकरण और महावाक्य का विचार है । उसी का बार बार मनन करना चाहिए ॥ १० ॥ स्थूल देह पहला है और मूलमाया देह आठवां है । आठों देहों का निरसन हो जाने पर विकार कहाँ रह जाता है ? ॥ ११ ॥ वास्तव में यह विकारवान् माया बाजीगरो की तरह सच सी जान पड़ती है । इस को कोई तो समझ जाता है और कोई सच मान लेता है ॥ १२ ॥ निर्विकार उत्पत्ति, स्थिति और संहार से अलग है । यही मालूम होने के लिए सारासार का विवेक कहा है ॥ १३ ॥ जब सार-असार दोनों को एक बना दिया तब वहाँ विवेक कहाँ रहा ? बेसमझ लोग परीक्षा नहीं जानते ! ॥ १४ ॥ जो एक सब में फैला हुआ है वही अन्तरात्मा कहलाता है वह नाना प्रकार के विकारों से विकृत है; अतएव वह निर्विकारी नहीं हो सकता ॥ १५ ॥ प्रगट ही है । अपने अनुभव से देखना चाहिए । अविवेकी पुरुष को यह नहीं जान पड़ता कि, क्या रहता है और क्या जाता है ! ॥ १६ ॥ जो अखण्ड रीति से उत्पन्न और नाश होता रहता है उसे सब लोग प्रत्यक्ष देखते ही हैं ॥ १७ ॥ एक रोता है, एक तड़फड़ाता है, एक दूसरे की नारी धरता है और एक दूसरे पर इस प्रकार टूटे पड़ते हैं

जैसे अकाल के मारे आतुर हों ॥ १८ ॥ न्याय नहीं है, नीति नहीं है । इस प्रकार ये लोग बर्तते हैं और विवेकहीन सभी को उत्तम कहते हैं ॥१९॥ एक तरफ तो पत्थर छोड़ कर सोना ले लेते हैं, माटी छोड़ कर अन्न खा लेते हैं, और दूसरी तरफ मूर्खता से सभी को उत्तम बतलाते हैं ! ॥२०॥ इस लिए इसका विचार करना चाहिए; सत्य मार्ग ही का अनुसरण करना चाहिए और विवेक का लाभ जान लेना चाहिए ॥२१॥ जब हीरा और पत्थर को एक ही समान समझ लिया तब वहाँ परीक्षा कहां रही ? अतएव, चतुरों को परीक्षा करनी चाहिए ॥ २२ ॥ जहां परीक्षा का अभाव होता है वहां कष्ट ही होता है । “ सब धान बाईस पंसेरी ” करना लंठपन है ! ॥ २३ ॥ जो ग्राह्य हो बची लेना चाहिए और जो अग्राह्य हो उसे छोड़ देना चाहिए । ऊंच-नीच पहचानने का ही नाम ज्ञान है ॥ २४ ॥ लोग (नरदेह की पूंजी लेकर) संसार के बाजार में आते हैं । उन में से कोई तो (अपनी इस पूंजी का अच्छा उपयोग करके) लाभ पाकर श्रीमान् हो जाते हैं और कोई कोई ठगा कर (दुरुपयोग करके) अपनी पूंजी भी गवां बैठते हैं ! ॥ २५ ॥ परन्तु ज्ञाता पुरुष को ऐसा न करना चाहिए—(अर्थात् यह नर-देहरूप अपनी पूंजी भी न खो बैठना चाहिए) सार ढूँढ़ लेना चाहिए और असार वमन की तरह छोड़ देना चाहिए ॥ २६ ॥ उस वमन का सेवन करना कुत्ते का स्वभाव है । उसके लिए पवित्र ब्राह्मण क्या करेगा ? ॥ २७ ॥ जो जैसा सञ्चित करता है उसको वैसा मिलता है । जो आदत पड जाती है वह तो नहीं छूटती ! ॥ २८ ॥ कोई दिव्य पदार्थों का भोजन करते हैं और कोई विष्ठा बटोरते हैं; परन्तु अपने पुरखों की बातें सभी मारते हैं ॥ २९ ॥ अस्तु । विवेक बिना जितना कथन है सब व्यर्थ है । श्रवण और मनन सब को बार बार करना चाहिए ॥ ३० ॥

पांचवाँ समास—राजनैतिक दावँ-पेंच ।

॥ श्रीराम ॥

कर्म किया हुआ ही करना चाहिए, ध्यान धरा हुआ ही धरना चाहिए और विवरण किये हुए निरूपण का ही फिर से विवरण करना चाहिए ॥ १ ॥ यही बात हम से हुई है । बोला हुआ ही फिर से बोलना पडा है । ऐसा इस लिए करना पडा है कि, जिस से बिगड़ा हुआ समाधान अच्छी

तरह स्थापित हो जाय ॥२॥ उपाय का मुख्य अभिप्राय यह है कि, जिस से समुदाय में अनन्यता रहे और अन्य लोगों को भी उसके विषय में भक्ति उत्पन्न हो ॥ ३ ॥ हरिकथा और अध्यात्म-निरूपण मुख्य हैं; इसके बाद राजनीति का विषय है; और फिर तसिरा काम सब के विषय में सावधान रहना है ॥ ४ ॥ इसके बाद, अत्यन्त उद्योग करना चौथा कर्तव्य है । अनेक आक्षेपों को दूर करना चाहिए तथा छोटे-बड़े अपराधों को भी क्षमा करते रहना चाहिए ॥ ५ ॥ दूसरे के हृदय की बात जानना चाहिए, सदैव उदासीनता रहनी चाहिए और नीतिन्याय में अन्तर न पड़ने देना चाहिए ॥ ६ ॥ चतुरता से लोगों के मन अपनी ओर आकर्षित कर लेना चाहिए । एक एक करके सब को बोध करना चाहिए और यथाशक्ति 'प्रपञ्च' को भी सम्हालना चाहिए ॥ ७ ॥ 'प्रपञ्च' का मौका देखना चाहिए, बहुत धैर्य रखना चाहिए । किसी से बहुत सम्बन्ध न रखना चाहिए ॥ ८ ॥ व्यवसाय को व्यापक करना चाहिए, परन्तु उसकी उपाधि में न फँसना चाहिए । नचिता और मूर्खता पहले ही से अपने सिर ले लेना चाहिए ॥ ९ ॥ दूसरों के दोष छिपाना चाहिए; सदा किसी के अवगुण न बतलाते रहना चाहिए और दुर्जनों को अपने पजे में लाकर, उनके साथ भलाई करके, फिर उन्हें छोड़ देना चाहिए ॥ १० ॥ किसी बात पर बहुत हठ न करना चाहिए । नाना प्रकार के उपाय खोज निकालना चाहिए और जो कार्य न होता हो उसीको अपने दीर्घ प्रयत्न से सिद्ध करना चाहिए ॥ ११ ॥ समुदाय में फूट न पड़ने देना चाहिए—कोई संकट का प्रसंग आ पड़े तो उसे सम्हालना चाहिए और बहुत वाद-विवाद किसीसे न करना चाहिए ॥ १२ ॥ दूसरे का अभीष्ट जानना चाहिए, बहुतों का बहुत सहना चाहिए और न सहा जाय तो वहाँ न रहना चाहिए ॥ १३ ॥ दूसरे का दुःख जानना चाहिए और उस दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा समुदाय की बुराई-भलाई सहने के लिए तैयार रहना चाहिए ॥ १४ ॥ अनेक गद्यपद्यमय वचन याद रहना चाहिए, विचार पास ही रहना चाहिए और सदा सर्वदा परोपकार में तत्पर रहना चाहिए ॥ १५ ॥ अपन में शान्ति लाकर औरों में शान्ति स्थापित करना चाहिए, अपनी हठ छोड़ कर दूसरे की हठ छुड़ाना चाहिए और स्वयं कार्य करके औरों से कार्य करवाना चाहिए ॥ १६ ॥ यदि किसी के साथ अपाय (विघ्न) करना हो तो उसे पहले ही से न कह डालना चाहिए, किन्तु अलग ही अलग उसे उस (विघ्न) का प्रत्यय (अनुभव) करा देना चाहिए ॥ १७ ॥ जो बहुतों की नहीं सहता उसे बहुत लोग नहीं मिलते, पर बहुत सहने से भी अपना महत्त्व नहीं रहता* ॥ १८ ॥ राज-

* यह सच है कि, बहुतों की सहने पर बहुत लोग मिलते हैं, पर बहुत सहनशीलता

नैतिक दावें-पेंच बहुत करना चाहिए, पर सब गुप्त रखना चाहिए और दूसरों को कष्ट पहुँचाने की इच्छा न रखना चाहिए ॥१९॥ लोगों को परख लेना चाहिए और राजनैतिक दावें-पेंचों से उनका अभिमान गलित कर देना चाहिए तथा किसी दूसरे ही सूत्र से (वाला वाला) उन्हें फिर भिला लेना चाहिए ॥ २० ॥ कच्चे आदमी को दूर रखना चाहिए, बदमाश से बात ही न करना चाहिए और यदि सम्बन्ध पड़ जाय तो बच कर निकल जाना चाहिए ॥ २१ ॥ अस्तु । इस प्रकार राजनैतिक दावें-पेंच यदि बतलाये जायँ तो बहुत हैं । स्थिरचित्त रहने से राजनैतिक दावें पेंच अच्छी तरह मालूम होते हैं ॥ २२ ॥ डरनेवाले को दिलासा देना चाहिए और सिर उठानेवाले को ललकारना चाहिए । इस प्रकार के अनेक राजनैतिक दावें-पेंच हैं जो बतलाये नहीं जा सकते ॥ २३ ॥ खोजने से तो पकड़ में नहीं आता और कीर्ति तो अपनी चारों ओर फैलाये बिना मानता नहीं । सम्पत्ति और वैभव उसके पास आते हैं; पर वह उन्हें स्वीकार नहीं करता !! ॥२४॥ किसीकी तो सहायता करना और किसीको देख भी न सकना चातुर्य का लक्षण नहीं है (अर्थात् सब का मन रखना चाहिए) ॥ २५ ॥ न्याय की बात मानता नहीं और हित की बात मन में नहीं आती, उसे त्याग देने के अतिरिक्त अन्य उपाय ही नहीं है ॥ २६ ॥ श्रोताओं के मन के अनुसार यह विषय बतलाया गया । न्यूनाधिक के लिए क्षमा करना चाहिए ॥ २७ ॥

छठवाँ समास—महन्त के लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

शुद्ध और सुन्दर लिखना चाहिए, लिखकर शुद्ध रीति से शुद्ध करना चाहिए; और शुद्ध करके शुद्ध रीति से पढ़ना चाहिए—भूलना न चाहिए ॥ १ ॥ बिगड़े हुए अक्षर सम्हालना चाहिए, विषय को दृढतापूर्वक मन में रखकर सरस कथाओं का वर्णन करना चाहिए ॥ २ ॥ जानने की बात कही नहीं जा सकती, कहने की बात थोड़े में, परन्तु निश्चयात्मक, नहीं

दिखाने से भी, कभी कभी अपना महत्व कम हो जाने का डर रहता है; इस लिए प्रसंग देख कर चलना चाहिए ।

हो सकता और बिना समझे कोई भी बात नहीं आती ॥ ३ ॥ हरिकथा, अध्यात्म-निरूपण, निश्चयात्मक 'राजनैतिक दाव-पेच' और व्यावहारिक ज्ञान, इत्यादि बातें भी होनी चाहिए ॥ ४ ॥ पूछना जानता हो, बतलाना जानता हो, अनेक प्रकार से अर्थ करना जानता हो और सब का समाधान रखना जानता हो ॥ ५ ॥ पते की बात पहले मालूम हो जाती हो, सावधानी के साथ अकाट्य तर्क करता हो और जान जानकर यथायोग्य चुनाव करता हो ॥ ६ ॥ इस प्रकार जो सब जानता हो वही बुद्धिमान महंत है। इसके अतिरिक्त सब यो ही हैं ॥ ७ ॥ महन्त पुरुष को ताल का अवसर, तान-मान, प्रबन्ध, कविता, सुभाषित श्लोक, इत्यादि अनेक सभा-चातुर्य की बातें मालूम होती हैं ॥ ८ ॥ वह एकान्त-विचार में तत्पर रहता है; अनेक गद्यपद्यमय वचन याद करता है अथवा किसी गहन ग्रन्थ का मार्मिक अर्थ ढूँढता रहता है ॥ ९ ॥ इस प्रकार, जो पहले स्वयं सीख कर फिर अन्य लोगों को सिखाता है वही श्रेष्ठ (महन्त) की पदवी पाता है। वह अपने विवेक के बल से फैसे हुए लोगों को उबारता है ॥ १० ॥ लिखना-पढ़ना, बोलना-चालना सब उसका सुन्दर हाँता है; भक्ति, ज्ञान, वैराग्य में वह पूर्ण दक्ष होता है ॥ ११ ॥ प्रयत्न करना उसे बहुत अच्छा लगता है, नाना प्रसंगों में वह प्रवेश करता है, साहस के साथ आगे बढ़ता है—पीछे कभी नहीं हटता ! ॥ १२ ॥ वह संकट में निर्वाह करना जानता है; उपाधि में मिलना जानता है, परन्तु उससे वह अपने को अलिप्त रखना भी जानता है ॥ १३ ॥ रहता तो वह सब जगह है; पर ढूँढने पर कहीं नहीं मिलता। वह अन्तरात्मा की तरह सब जगह रह कर भी गुप्त रहता है ! ॥ १४ ॥ ऐसा तो कुछ नहीं है जिसमें अन्तरात्मा न हो; परन्तु देख नहीं पड़ता, और न दिखते हुए ही प्राणिमात्र का व्यापार वह चला रहा है ! ॥ १५ ॥ वस! इसी तरह महन्त भी नाना प्रकार से अनेक लोगों को चतुर बनाया करता है। छोटे-बड़े सब प्रकार के लोगों में अनेक विद्याओं का प्रचार किया करता है ॥ १६ ॥ जो अपने ही प्रयत्न से दक्ष बनता है वह स्वाभाविक ही प्रयत्न का अवलम्ब करता है, और यही सच्चे महन्त का लक्षण है ॥ १७ ॥ वह नीति-न्याय की रक्षा करना जानता है। अन्याय न स्वयं करता है न किसीसे कराता है और कठिन प्रसंग आ पढ़ने पर उपाय करना जानता है ॥ १८ ॥ ऐसी (उपर्युक्त) धारणा-शक्ति का जो पुरुष होता है वही अनेक लोगों का आधार होता है। 'रामदास' कहता है कि ऐसे ही महन्त वे गुण ग्रहण करना चाहिए ॥ १९ ॥

सातवां समास—मायारूपी चञ्चल नदी ।

॥ श्रीराम ॥

चञ्चल (माया) गुप्त गंगा नदी है । इसका विवरण करने से यह जगत को पावन करती है । प्रत्यक्ष प्रतीति कर लो; इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है ॥ १ ॥ यह अचल (जैसे नदी अचल-पर्वत-से वैसे ही माया अचल ब्रह्म) से निर्माण होती है और जोर से नीचे की ओर बही चली जाती है । यह अखंड बह रही है, पर कोई इसे देख नहीं सकता ॥ २ ॥ इसमें जगह जगह मुकाव, टेढाव, भँवर, उफनाहट, तरंग, सोता, लहरें, दलदल, कतराव, आदि हैं ॥ ३ ॥ शुष्क (गुप्त) जल बह रहा है; धारा है; प्रपात है; खलबल है; चपल पानी उछलता हुआ भर-भर-भर-भर दौड़ता है ॥४॥ फेना उठता है, बुलबुले और हिलोड़ें उठती हैं । पानी स्वच्छन्दता क साथ दौड़ता है । वृन्द, फूँहें और अणु-रेणु कहां तक गिने जायें ॥ ५ ॥ बाढ में बहुत सा कूडा-कचरा बहता आता है, ऊंचे से पानी गिरता है, छोटे-बड़े पत्थर, कंकड, चट्टानें बीच में पड़ती हैं और भँवर उठते हैं ॥ ६ ॥ कोमल धरती कट गई है, कठोर वैसे ही बनी है । यही हाल जगह जगह स्पष्ट में देखा जा रहा है ॥ ७ ॥ कोई इसमें बहते ही चले जाते हैं, कोई भँवर में अटके पड़े हैं और कोई औंधे मुख होकर खंदक में अटक रहे हैं ॥ ८ ॥ कोई गिरते-पड़ते चले जाते हैं, कोई कुचल-कुचल कर मर जाते हैं और कोई पानी भर जाने के कारण फूल गये हैं ॥ ९ ॥ जो बलवान् है वे तैरते हुए उद्गम (ब्रह्म) तक पहुँच जाते हैं और उसका दर्शन करके स्वयं पवित्र बन कर तीर्थस्वरूप हो जाते हैं ॥ १० ॥ वहाँ (उद्गम में), ब्रह्मा आदि देवताओं के भवन हैं, ब्रह्मांड के देवताओं के स्थान हैं—जो लोग उलटी गंगा पार कर जाते हैं वे सब वहाँ मिलते हैं ॥ ११ ॥ इस जल के समान कुछ निर्मल नहीं है, उसक समान कोई चञ्चल भी नहीं है—उसे केवल ' आपो-नारायण ' कहते हैं ॥ १२ ॥ वह नदी बड़ी भारी है; परन्तु गुप्त है; सर्व काल प्रत्यक्ष बहती है; और देखो, स्वर्ग-मृत्यु-लोक और पाताल में भी फैली हुई है ॥ १३ ॥ नीचे उपर आठों दिशा में उसका पानी घूम रहा है । ज्ञाता लोग उसे जगदीश के समान ही जानते हैं ॥ १४ ॥ सारे मनुष्य, जो पात्र हैं, माया-नदी के पानी से भरे हुए हैं । किसी किसी का पानी टपक जाता है (जैसे साधुओं का) और कोई कोई अपना पानी संसार में खच कर देते हैं (जैसे बद्ध मनुष्य) ॥१५॥ किसीके साथ में बह कड़ू हो जाती है, किसीके साथ में मीठी और किसीके साथ में तीखी, कसैली या नम-

कीन हो जाती है ॥१६॥ जिस जिस पदार्थ से वह मिलती है उसमें उसीका रूप होकर मिलती है । गहरी पृथ्वी में वह गहराई के साथ प्रविष्ट होती है ॥ १७ ॥ वह विष में विषमयी हो जाती है, अमृत में मिल जाती है, वह सुगंध में सुगंध और दुर्गंध में दुर्गंध ही हो जाती है ॥ १८ ॥ गुण-अ-वगुण में मिल जाती है; जिसके साथ मिलती है वैसी ही हो जाती है । ज्ञान के बिना उस उदक की महिमा नहीं मालूम होती ॥ १९ ॥ अपरम्पर पानी बह रहा है । यह नहीं जान पड़ता कि नदी है या भील । कितने ही लोग जलवास कर रहे हैं—(उसी माया में डूबे हैं) ॥ २० ॥ उद्गम के उस पार जाने पर जब फिर कर देखते हैं तब वह पानी ही खतम हो जाता है—कुछ नहीं रहता ॥ २१ ॥ योगीश्वर वृत्तिशून्य होते हैं, इस बात का विचार करना चाहिए । 'दास' कहता है कि बार बार कहां तक बतलाऊं ! ॥२२॥

आठवाँ समास—अन्तरात्मा का निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

पहले सकलकर्ता की वन्दना करता हूँ । वह सब देवों का स्वामी है । अरे भाई, कोई तो उसके भजन में प्रवृत्त हो ! ॥ १ ॥ उसके बिना काम नहीं चलता, एक पत्ता भी उसके बिना नहीं चिलता, उसीके द्वारा तीनों लोकों का व्यापार चल रहा है ॥ २ ॥ वह सब का अन्तरात्मा है; देव-दानव और मानव जातियों का तथा चार खानियों, चार वाणियों का प्रवर्तक है ॥ ३ ॥ वह अकेला ही सब घटों में, भिन्नरूप होकर, व्यवहार करता है । मार्ग सृष्टि की बात कहां तक बताई जाय ? ॥ ४ ॥ ऐसा जो गुप्त ईश्वर है उसीको 'ईश्वर' कहना चाहिए । उसीके द्वारा सब लोग बड़े बड़े पेश्वर्य भोगते हैं ॥ ५ ॥ उसे जो कोई पहचान लेता है वह निश्चय ही हो जाता है । उसके आगे समाधि और सद्दृजस्थिति को कौन पूंजना है ? ॥ ६ ॥ जब तीनों लोक का विवरण किया जाय तब

कहीं मुख्य मर्म प्राप्त होता है। उस परम 'निधान' के प्राप्त हो जाने पर, फिर कोई परिश्रम बाकी नहीं रहता ॥ ७ ॥ वास्तव में ऐसा कौन है जो अन्तरात्मा का विवरण कर के देखता हो ? जिसे देखो वही थोड़ा-बहुत मालूम करके समाधान मान लेता है ॥ ८ ॥ अरे, यह देखा हुआ ही देखना चाहिए, विवरण किये हुए का ही फिर फिर विवरण करना चाहिए, और पढा हुआ ही बार बार पढना चाहिए ! ॥ ९ ॥ अन्तरात्मा कितना बड़ा है, कैसा है, उसका विचार करनेवाले की दशा कैसी होती है, इत्यादि अनेक देखी और सुनी हुई बातें विवेक बतला देता है ॥ १० ॥ तथापि चाहे जितना देखा सुना जाय; पर वह अन्तरात्मा के लिए बस नहीं है। जीव, जो एक चद्र देहधारी है, (उस सर्वव्यापी अन्तरात्मा को) क्या जान सकता है ? ॥ ११ ॥ उस पूर्ण (अन्तरात्मा) को यह अपूर्ण (जीव) क्यों नहीं जान सकता ? इसी लिए कि यह (जीव) उसका अखंड रीति से विवरण नहीं करता-यदि यह अखंड रीति से विवरण करे तो फिर यह उससे पृथक् नहीं बचता ('यह' भी 'वही' हो जाता है) ॥ १२ ॥ और विभक्त होकर न रहनेवाला ही (अनन्य होकर रहनेवाला ही) 'भक्त' कहला सकता है; अन्यथा व्यर्थ खटाटोप करके परिश्रम उठाना है ॥ १३ ॥ योंही घर को देखे हुए चला आता है; पर घर के मालिक को नहीं पहचानता ! अथवा राज्य ही से होकर चला आता है और राजा को नहीं पहचानता ! ॥ १४ ॥ बड़े अचरज की बात है कि, देह के साथ में विषय-भोग तो करते हैं, और देह के योग से सुखी होते हैं, पर जो देह को धारण करनेवाला है उस (अन्तरात्मा) को भूले रहते हैं ! ॥ १५ ॥ इस प्रकार लोग प्रत्यक्ष अवि-वेकी बने हुए हैं; पर वे कहते क्या हैं कि, हम विवेकी हैं ! अच्छा भाई, जैसी जिसकी योग्यता हो वैसा करो ! ॥ १६ ॥ अज्ञान लोग किसी का मन रखना नहीं जानते; इसी लिए ज्ञानी की जरूरत होती है; परन्तु ये ज्ञानी ही मूर्ख बने हुए हैं ! ॥ १७ ॥ जैसे कोई अपना गड़ा हुआ धन भूल जाय और इधर उधर भटकते फिरे; वैसे ही अज्ञान जीव ईश्वर के पास रहते हुए भी, इधर उधर दूढते फिरते हैं ॥ १८ ॥ सृष्टि में ऐसा कौन है जो इस अन्तरात्मा का ध्यान कर सके ? वृत्ति एकदेशीय होती है-वह इस सर्वव्यापी का आकलन कैसे कर सकती है ? ॥ १९ ॥ ब्रह्माण्ड में, अनन्त रूपों से, अनन्त प्रकार के, प्राणी भरे हुए हैं। यहाँ तक कि भूगर्भ और पाषाणों के भीतर भी अनेक जीव भरे हैं ॥ २० ॥ उन सब में-अनेकों में-वह एक ही बरत रहा है-वह कहीं गुप्त है तो कहीं प्रकट है ॥ २१ ॥ परन्तु जो चञ्चल है वह निश्चल नहीं हो सकता-यह

अनुभव की बात है-और जो चञ्चल नहीं है वही निश्चल परब्रह्म है ॥२२॥ इस शरीर के सब तत्त्व, जब एक एक करके चले जाते हैं तब उन्हींके साथ देहाभिमान भी उड़ जाता है-और चारो ओर निर्मल, निश्चल, निरंजन रह जाता है ! ॥ २३ ॥ वस्तुतः विवेक का मार्ग यह है कि, 'हम' कौन हैं, कहां हैं, कहां के हैं (यह सोचना चाहिए) परन्तु प्राणी, जो स्वयं अपरिपूर्ण है उसे, यह जान नहीं पड़ता ! ॥ २४ ॥ अतएव, भले आदमी को विवेक धारण करना चाहिए और उसके द्वारा यह दुस्तर संसार तरना चाहिए, तथा हरिभक्ति करके अपने सारे वंश का भी उद्धार करना चाहिए ॥ २५ ॥

नववाँ समास-ज्ञानोपदेश ।

॥ श्रीराम ॥

प्रथमतः मनुष्य को विधिपूर्वक कर्म करना चाहिए । इसमें यदि गड़बड़ हो जाता है तो दोष लगता है ॥ १ ॥ इस लिए कर्म का आरम्भ करना चाहिए । जितना कुछ ठीक ठीक बन पड़े उतना अच्छा है और यदि अन्तर पड़ जाय तो वहां हरिस्मरण करना चाहिए ॥ २ ॥ (खाली 'स्मरण' ही न करना चाहिए) किन्तु यह विचार भी करना चाहिए कि, वह हरि कैसा है । संध्या के पूर्व उस जगदीश का चौबीस नामों से स्मरण करना चाहिए ॥ ३ ॥ वह चौबीसनामी, सहस्रनामी, अनन्तनामी-और अनामी-कैसा है, सो विवेक से अन्तःकरण में जानना चाहिए ॥ ४ ॥ ब्राह्मण स्नानसंध्या करके आता है और फिर वह देवतार्चन के लिए बैठता है, तथा विधिपूर्वक प्रतिमा-पूजन करता है । इस प्रकार अनेक देवताओं की मूर्तियां लोग प्रेमपूर्वक पूजते हैं; परन्तु जिसकी वे मूर्तियां हैं वह परमात्मा कैसा है-सो भी तो पहचानना चाहिए ! पहचान करके भजन करना चाहिए । जैसे साहब को, पहचानने के बाद, बन्दगी करते हैं, वैसे ही उस परमात्मा परमेश्वर को अच्छी तरह पहचानना चाहिए, तभी इस भ्रमसागर-भवसागर-का पार मिल सकता है ॥ ५-८ ॥ अवतारी पुरुष तो निजधाम को चल जाते हैं; परन्तु, उनकी मूर्तियों के द्वारा वह पूजा अन्तरात्मा को प्राप्त होती है ॥ ९ ॥ तथापि वे अवतारी भी निजरूप में रहते हैं । वह निजरूप 'जगज्ज्योति' है-यही सत्त्वगुण है और इसीको चेतनाशक्ति कहते हैं

॥ १० ॥ उस शक्ति के पेट में करोड़ों देवता रहते हैं—ये अनुभव की बातें प्रत्यय से जानना चाहिए ॥ ११ ॥ देहरूपी नगरी में जो ईश रहता है उसे पुरुष कहते हैं और सम्पूर्ण जगत् में जो व्याप्त है उसे जगदीश कहते हैं ॥ १२ ॥ सम्पूर्ण संसार के शरीरों को चेतना ही चलाती है और इसी चेतना को अन्तःकरण-विष्णु जानना चाहिए ॥ १३ ॥ वह विष्णु सम्पूर्ण जगत् के अन्तःकरण में है और वही हमारे अन्तःकरण में भी है । चतुर पुरुष उसी अन्तरात्मा को कर्त्ता-भोक्ता जानें ॥ १४ ॥ वही सुनता, देखता, सूँघता और चखता है । बुद्धि से विचार करके वही सब कुछ पहचानता है और अपना-पराया वही जानता है ॥ १५ ॥ वास्तव में सम्पूर्ण जगत् का अन्तरात्मा वह एक ही है; परन्तु शारीरिक मोह बॉच में आ पडा है; शरीर ही के योग से वह भिन्न होकर अभिमान धारण करता है ॥ १६ ॥ वह उपजता है, बढ़ता है, मरता है, और जिस प्रकार समुद्र के योग से लहरों पर लहरें उठती जाती हैं उसी प्रकार इस अन्तरात्मा के योग से त्रैलोक्य होता जाता है ॥ १७ ॥ तीनों लोकों को चलानेवाला वह एक ही है, इसी लिए उसे त्रैलोक्यनायक कहते हैं—यह अनुभव की बात प्रत्यक्ष देख लेना चाहिए ॥ १८ ॥

ऐसा अन्तरात्मा कहा है; परन्तु इसकी भी तत्वों में ही गणना है । इसके बाद महावाक्य का विचार करना चाहिए ॥ १९ ॥ प्रथम अपने देह के अन्तरात्मा को देखना चाहिए; फिर उसीको सम्पूर्ण जगत् में व्यापक जानना चाहिए; इसके बाद परब्रह्म का विचार आता है ॥ २० ॥ परब्रह्म का विचार करने से सारासार का निर्णय हो जाता है । यह निश्चय है कि, चंचल का नाश होगा ही ॥ २१ ॥ निरंजन 'वस्तु' उत्पत्ति, स्थिति और संहार से परे है । वहाँ ज्ञान का विज्ञान हो जाता है ! ॥ २२ ॥ जब आठों देहों का, तथा नाम-रूप आदि का, विवेक के द्वारा निरसन हो जाता है तब निरंजन विमल ब्रह्म की प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥ विचार ही से अनन्य होना चाहिये; देखनेवाले के बिना-द्रष्टापन के बिना-अनुभव (प्रत्यय) आना चाहिये; परन्तु (प्रत्यय आना) यह भी वृत्ति है । इस वृत्ति की भी निवृत्ति होनी चाहिये । अच्छी तरह विचार करो ॥ २४ ॥ बस, इतने पर 'वाच्यांश' छूट जाता है; 'लक्ष्यांश' भी विवेक से देख कर छोड़ दिया जाता है; तथा 'लक्ष्यांश' के साथ ही वृत्तिभावना भी चली जाती है ॥ २५ ॥

दसवाँ समास-निस्पृह का बर्ताव ।

॥ श्रीराम ॥

मूर्ख एकदेशीय (संकुचित विचारवाला) होता है, और चतुर, जिस प्रकार अन्तरात्मा सर्वव्यापक होकर नाना सुख भोगता है उसी प्रकार, सर्वत्र देखता है ॥ १ ॥ महन्त भी वही अन्तरात्मा है; वह संकुचित विचारवाला कैसे हो सकता है? वह तो व्यापक, सर्वज्ञ और विख्यात योगी होता है ॥ २ ॥ वास्तव में कर्ता और भोक्ता वही है; भूमंडल में सब सत्ता उसीकी है । उसके बिना उसे देखनेवाला (जाननेवाला) ज्ञाता और कौन हो सकता है ! ॥ ३ ॥ ऐसा ही महंत होना चाहिए-उसे सब सार ढूँढ लेना चाहिए और यदि कोई उसका खोज करे तो एकाएक पकड़ में न आना चाहिए ! ॥ ४ ॥ सच्चा निस्पृह महन्त कीर्तिरूप से तो जगत् में बहुत विख्यात होता है-यहां तक कि छोटे-बड़े सब उसे जानते हैं-परन्तु वह किसी एक भेष में नहीं देखा जाता ॥ ५ ॥ उसकी अटल कीर्ति प्रत्यक्ष संसार में छाई रहती है, पर वह स्वयं लोगों को मालूम नहीं होता, लोग जब उसे ढूँढते हैं तो उसका पता ही नहीं चलता ! ॥ ६ ॥ भेष की सुन्दरता को वह दूषण समझता है और कीर्ति की बड़ाई को वह भूषण समझता है; तथा अखण्डरूप से उसके मन में विचारस्फूर्तियां उठा करती हैं ॥ ७ ॥ पहचान के लोगों को छोड़ता जाता है-सदा-सर्वदा नित्य-नूतन परिचय करता रहता है । लाग उसके मन की याद पाना चाहते हैं; पर कुछ भी उसकी इच्छा मालूम नहीं होती ॥ ८ ॥ वह पूरा पूरा किसीकी ओर देखता नहीं, पूरा पूरा किसीसे घोलता नहीं; पूरा पूरा एक जगह रहता नहीं-उठ कर चल देता है ! ॥ ९ ॥ जहां जाना है वह जगह बतलाता नहीं, और जहां के लिए बतलाता है वहां तो जाता नहीं-सारांश, अपनी दशा किसीके अनुमान में नहीं आने देता ! ॥ १० ॥ लोग जो कुछ उसके साथ करना चाहते हैं उमसे वह बच कर निकल जाता है, लोग उसके विषय में जो तर्क करते हैं उसे वह मूठ बना देता है; और लोग जो कुछ उसके विषय में तर्क करते हैं उसे वह निष्फल कर देता है ॥ ११ ॥ लोग उसके दर्शन करना चाहते हैं-उसको गरज नहीं । लोग सेवा में हाजिर हैं, उसकी इच्छा नहीं ॥ १२ ॥ एवं वह योगेश्वर (महन्त, निस्पृह) कल्पना में नहीं आता, नरक उसके सामने नहीं चलता; और कदापि उसकी भावना नहीं की जा सकती ॥ १३ ॥ इस प्रकार उसका मन नहीं मिलता । उसका शरीर

एक जगह नहीं रहता; और एक क्षणभर भी वह 'कथा-कीर्तन' नहीं भूलता ॥ १४ ॥ लोग उसके विषय में जो संकल्प-विकल्प करते हैं वे सब निष्फल हो जाते हैं । वह योगेश्वर, लोगों को स्वयं उनकी ही वृत्ति से लजा देता है ! ॥ १५ ॥ जब बहुत लोग परीक्षा कर लें-जब बहुतों के मन में स्थान पा जाय-तब कहीं जानना चाहिए कि, अब हमारा बड़ा भारी काम होगया ॥ १६ ॥ अखंड रीति से एकान्त का सेवन करना चाहिए; अभ्यास ही करते रहना चाहिए, तथा अन्य लोगों को भी साथ लेकर, अपना समय सार्थक करते रहना चाहिए ॥ १७ ॥ जितने कुछ उत्तम गुण हों उन सब को पहले स्वयं ग्रहण करना चाहिए; इसके बाद वही गुण फिर दूसरे लोगों को सिखलाना चाहिए । बहुत बड़ा समुदाय एकत्र करना चाहिए; परन्तु गुप्त-रूप से ! ॥ १८ ॥ उन सब को अखण्ड रीति से काम में लगाये रहना चाहिए; सम्पूर्ण संसार को उपासना में लगाना चाहिए; लोग जब जान लेते हैं कि, यह सच्चा निस्पृह महन्त है तब कहीं वे उसकी आज्ञा पाने की इच्छा करते हैं ॥ १९ ॥ जब पहले कष्ट सहोगे तब कहीं फल मिलेगा । जहाँ कष्ट ही नहीं वहाँ फल कहाँ का ? विना उद्योग या प्रयत्न के सब व्यर्थ ही है ॥ २० ॥ अनेक लोगों को हूँह हूँह कर अपने हाथ में लेना चाहिए; उनकी योग्यता जानना चाहिए; और फिर, योग्यता के अनुसार, किसी को पास और किसीको दूर रखना चाहिए ॥ २१ ॥ योग्यता के अनुसार कार्य होता है । जब योग्यता ही नहीं है तब वह आदमी किस काम का ? सब के मन की अच्छी तरह परीक्षा कर लेनी चाहिए ॥ २२ ॥ योग्यता देख कर काम बतलाना चाहिए; और कार्य-शक्ति देख कर विश्वास रखना चाहिए; तथा अपना विचार कुछ और हो रखना चाहिए ॥ २३ ॥ ये अनुभव के बोल हैं-पहले किये गये हैं; पीछे बतलाये गये हैं; यदि अच्छे लगें तो कोई ग्रहण करे * ! ॥ २४ ॥ महन्त को चाहिए कि, वह अन्य अनेक महन्त उत्पन्न करे और उन्हें 'शुक्ति' तथा 'बुद्धि' से पूर्ण करके, ज्ञाता बनाकर, अनेक देशों में फैलावे ॥ २५ ॥

* यह समास बड़े महत्त्व का है-इसमें जो बातें कहीं गई हैं वे अनुभवपूर्ण हैं । श्रीधर्म रामदास स्वामी कहते हैं कि ये सब बातें उन्होंने ने पहले की हैं तब पीछे से सिखाई हैं-इनमें कच्चापन नहीं है । यह समास मानो उनका आत्मचरित्र ही है ।

बारहवाँ दशक ।



पहला समास-विमल लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

पहले 'प्रपञ्च' (गार्हस्थ्य धर्म) का अच्छी तरह आचरण करना चाहिए; फिर परमार्थ का विचार ग्रहण करना चाहिए। हे विवेकी पुरुषो! इसमें आलस न करना चाहिए ॥ १ ॥ यदि 'प्रपञ्च' छोड़ कर परमार्थ करोगे तो इससे तुम दुखी होगे। तुम विवेकी तभी कहाओगे जब प्रपञ्च और परमार्थ दोनों को रक्षा करोगे ॥ २ ॥ यदि 'प्रपञ्च' छोड़ कर कोई 'परमार्थ' करेगा तो उसे पहले अन्न ही खाने को न मिलेगा, फिर उस अभागी के लिए परमार्थ का तो नाम ही न लो! ॥ ३ ॥ तथा यदि कोई 'परमार्थ' छोड़ कर 'प्रपञ्च' करेगा तो भी वह यम-यातना भोगेगा और उससे अन्त में परम कष्टी होगा ॥ ४ ॥ यह बात तो लोग देखते ही हैं कि, जब कोई 'साहब' के काम पर न जा कर घर ही में सुख से बैठा रहता है तब 'साहब' उसको कूटता है; और लोग तमाशा देखते हैं! ॥ ५ ॥ ऐसी दशा में उसका महत्त्व ही चला जाता है-वह दुर्जनों के हास्य का पात्र बनता है और स्वयं बहुत दुख भोगता है ॥ ६ ॥ यही हाल अन्त में होनेवाला है-इस लिए भगवान् का भजन करना चाहिए और परमार्थ का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए ॥ ७ ॥ जो संसार में रहते हुए ही, उससे मुक्त (अलिप्त) रहता है उसीको सच्चा भक्त जानना चाहिए। वह अखण्ड रीति से युक्तायुक्त का विचार किया करता है ॥ ८ ॥ 'प्रपञ्च' में जो सावधान है, समझ लो कि, वह परमार्थ भी करेगा और जो प्रपञ्च ही में ठोक नहीं है वह परमार्थ क्या करेगा? ॥ ९ ॥ इस लिए सावधानी के साथ 'प्रपञ्च और परमार्थ' चलाना चाहिए। ऐसा न करने से नाना दुख भोगने पड़ते हैं ॥ १० ॥ वनस्पतियों पर के कीड़े (लम्बे और हरे छोटे छोटे कीड़े) भी आगे देख कर अपना शरीर उठाते हैं (चलते हैं)-अर्थात् जीवजन्तु भी, इस प्रकार, विवेक से चलते हैं-परन्तु जो पुरुष होकर भी भ्रम में पड़े हुए हैं उन्हें क्या कहा जाय! ॥ ११ ॥ अतएव, दूरदर्शिता का स्वीकार करना चाहिए, अखण्ड रीति से विचार करते रहना चाहिए और आगे होनेवाली बातें-भविष्य घट-

नाएँ-पहले ही से जान लेना चाहिए ॥ १२ ॥ यह तो सभी जानते हैं कि, खबरदारी रखनेवाला (सावधान पुरुष) सुखी रहता है और बेखबर (गाफिल या असावधान) दुखी रहता है ॥ १३ ॥ अतएव, जो सब प्रकार से सावधान है वह धन्य है; वही एक लोगों को सन्तुष्ट रख सकता है ॥ १४ ॥ पहले से तो सावधान रहने में आलस किया और बीच में अचानक हमला होगया; अब सम्भलने का मौका कहाँ है ? ॥ १५ ॥ इस लिए जो दूरदर्शी पुरुष हैं उनके विचार का अनुकरण करना चाहिए; क्योंकि एक दूसरे का आदर्श देख कर ही लोग चतुर बनते हैं ॥ १६ ॥ इस लिए चतुर और गुणवान् लोगों को पहचान कर उनके गुणों को ग्रहण करना चाहिए और अवगुणों को परीक्षा करके उन्हें छोड़ देना चाहिए ॥ १७ ॥ विवेकी पुरुष सब को परीक्षा तो करता ही है; परन्तु मन किसीका नहीं तोड़ता; वह मनुष्यमात्र को अपने अनुमान में लाकर परखता है ॥ १८ ॥ यों तो वह सब को समान देख पड़ता है; पर वास्तव में वह बड़ा अच्छा विवेकी होता है—वह कम्मे-निकम्मे (उद्योगी और आलसी) लोगों को अच्छी तरह पहचानता है ॥ १९ ॥ सब से बड़ी उसमें यही होती है कि, जानबूझ कर, वह सब प्रकार के लोगों का अंगीकार करता है और जिसको जैसा चाहिए उसको वैसा ही गौरव देता है ॥ २० ॥

दूसरा समास—संसार का अनुभव ।

॥ श्रीराम ॥

हे संसार में आये हुए स्त्री-पुरुष और निस्पृह लोगो ! मैं जो कुछ कहता हूँ उसे ध्यानपूर्वक सुनो ॥ १ ॥ वासना क्या कहती है? कल्पना किस बात की कल्पना करती है? देखना चाहिए। क्यों मन में नाना प्रकार की तरंगें उठती हैं ॥ २ ॥ इच्छा तो यह होती है कि, अच्छा खायें, अच्छा पियें, अच्छे गहने और अच्छे कपड़े पहनें, तथा सब बातें मन के अनुकूल हों; परन्तु इनमें से होती एक बात भी नहीं है—भलाई करते हुए अकस्मात् बुराई हो जाती है ॥ ३ ॥ ४ ॥ संसार में प्रत्यक्ष कोई सुखी और कोई दुःखी देख पड़ते हैं और प्रायः लोग घबड़ा कर अन्त में

भाग्य पर आ गिरते हैं ! ॥ ५ ॥ अचूक यत्न कर नहीं सकते, इसी लिए जो कुछ करते हैं वह ठीक नहीं होता, और चाहे सो करो, अपना अवगुण जान नहीं पड़ता ॥ ६ ॥ जो आप अपना ही नहीं जानता वह दूसरे का क्या जानेगा ? ऊपर जो सिद्धान्त बतलाया उसके अनुसार न चलने से स्वाभाविक ही दरिद्रता आती है ॥ ७ ॥ सब तो यह है कि, लोग आपस में एक दूसरे के मन की बात जान नहीं सकते; और इसी कारण उनमें समान वर्ताव नहीं होता; तथा अज्ञान के कारण, नाना प्रकार के भगड़े उपस्थित होते हैं ॥ ८ ॥ वही भगड़े फिर बढ़ते जाते हैं; अतएव, सभी कष्ट पाते हैं । प्रयत्न तो एक ओर रह जाता है; व्यर्थ श्रम ही होता है ॥ ९ ॥ परन्तु वास्तव में यह वर्ताव विहित नहीं है । नाना प्रकार के लोगों की परीक्षा करनी चाहिए और जो जैसा हो उसे वैसा समझना चाहिए ॥ १० ॥ वचनों की और मन की परीक्षा दत्त पुरुष को थोड़ी बहुत मालूम होती है; मूर्ख पुरुष को ये बातें कैसे मालूम हो सकती हैं ? ॥ ११ ॥ संसार में प्रायः यही देखा जाता है कि, लोग अपना पक्षपात और दूसरे की निन्दा करना जानते हैं ॥ १२ ॥ परन्तु अपनी प्रतिष्ठा रखने के लिए भले आदर्मी को वह निन्दा भी सहनी पड़ती है; न सहने से हँसी होना स्वाभाविक बात है ॥ १३ ॥ जहाँ अपने को अच्छा नहीं लगता वहाँ रहना कदापि सुहाता नहीं और किसीको मुरौवत तोड़ कर जाना भी अच्छा नहीं लगता ॥ १४ ॥ परन्तु, जो सत्य बोलता है, और सत्य ही आचरण करता है, उसे छोटे बड़े सभी चाहते हैं । न्याय और अन्याय की बात आपस में सहज ही मालूम हो जाती है ॥ १५ ॥ जब तक कोई मनुष्य, दूसरों के अपराधों को, त्रिवेकपूर्वक, क्षमा नहीं करता तब तक उस पर लोगों की भक्ति नहीं होती और लोग उसे एक मामूली मनुष्य समझते हैं ॥ १६ ॥ जब तक चन्दन घिसता नहीं तब तक सुगंध प्रकट नहीं होती और अन्य वृक्षों की तरह वह भी समझा जाता है ॥ १७ ॥ जब तक लोगों को किसीके उत्तम गुण नहीं मालूम होते तब तक उन्हें उसकी परीक्षा कैसे हो सकती है ? उत्तम गुण देख कर संसार प्रसन्न हो जाता है ॥ १८ ॥ और संसार के प्रसन्न होते ही संसार से मित्रता हो जाती है तथा सम्पूर्ण लोग प्रसन्न हो जाते हैं ॥ १९ ॥ और जब जगत्‌रूपी जनार्दन (ईश्वर) ही उस पर प्रसन्न हो गया तब फिर उसके लिए क्या कमी है ? परन्तु सब को राजी रखना कठिन है ! ॥ २० ॥ बोया हुआ उगता है; दिया हुआ वायन लौट कर मिलता है । मर्म की बात कह देने से दूसरे का मन दुखता है ॥ २१ ॥ लोगों के साथ भलाई करने से सुख बढ़ता है । शब्द के अनुसार, ही प्रतिशब्द आता है ॥ २२ ॥ यह सब अपने ही अधीन की बात

है—दूसरों का इसमें कोई दोष नहीं—अपने मन को क्षण क्षण पर सिखाते रहना चाहिए ॥ २३ ॥ यदि कहीं दुर्जन या दुष्ट मिल जाय और अपने से क्षमा न करते बने तो साधक को वहाँ से तुरंत ही चुपके से चल देना चाहिए ॥ २४ ॥ लोग नाना प्रकार की परीक्षाएँ तो जानते हैं; परन्तु दूसरे का मन परखना नहीं जानते; इसी कारण ये लोग दुःख पाते हैं; इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ २५ ॥ अपने को एक दिन मरना है, इस लिए भूलमंसी से चलना चाहिए ॥ विवेक का लक्षण कठिन है ॥ २६ ॥ छोटे हों, बड़े हों, बराबर वाले हों, अपने हों, पराये हों, कोई हों; सब से घनी मित्रता रखनी चाहिए ॥ २७ ॥ यह तो सभी जानते हैं कि, अच्छे का नतीजा अच्छा होता है; अब और अधिक क्या बतलाना है? ॥ २८ ॥ हरि-कथा तथा अध्यात्म-निरूपण करना चाहिए और महत्त्वपूर्ण राजनैतिक विषयों की ओर भी ध्यान देना चाहिए; परन्तु बिना प्रसंग देखे कुछ भी ठीक नहीं है ॥ २९ ॥ कोई बहुत विद्या सीखा हुआ है; पर अक्सर नहीं जानता, तो फिर ऐसी विद्या को कौन पूछता है? ॥ ३० ॥

तीसरा समास—ईश्वर और भक्त ।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी के सम्पूर्ण लोगों को विवेक से चलना चाहिए और इहलोक तथा परलोक, दोनों का अच्छी तरह विचार करना चाहिए ॥ १ ॥ इहलोक साधने के लिए ज्ञाता की संगति करना चाहिए और परलोक साधने के लिए सद्गुरु चाहिए ॥ २ ॥ सद्गुरु तो चाहिए; परन्तु पहले यही नहीं मालूम होता कि, उससे पूछा, क्या जाय! अच्छा, वास्तव में पहले अनन्य भाव से उससे दो बातें पूछनी चाहिए ॥ ३ ॥ वे दो बातें कौन हैं? वे ये हैं कि, 'ईश्वर' कौन है और 'हम' कौन हैं—इन दो बातों का किया हुआ ही विवरण बार बार करना चाहिए ॥ ४ ॥ पहले यह देखना चाहिये कि, मुख्य ईश्वर कौन है; फिर यह देखना चाहिए कि, 'हम' जो भक्त हैं सो कौन हैं। पचीकरण और महावाक्य का विवरण बार बार करना चाहिए ॥ ५ ॥ सब कुछ करने का तात्पर्य यही है कि, निश्चल और शाश्वत को पहचाने और इस बात का केवल विचार करे कि,

‘हम’ कौन हैं ॥ ६ ॥ सारासार का विचार करने से जान पड़ता है कि, किसी भी ‘पद’ में शाश्वतता नहीं है । अतएव, पहले सब का कारण जो भगवान् है उसे पहचानना चाहिए ॥ ७ ॥ निश्चल, चञ्चल और जड़, यह सारा माया का पवाड़ा है, पर इन सब में ‘वस्तु’ ही सार है; उसका नाश नहीं है ॥ ८ ॥ उस परब्रह्म को टूटना चाहिए, विवेक से तीनों लोक में घूम फिरना चाहिए और मायिक का विचार से खण्डन कर डालना चाहिए ॥ ९ ॥ खोटा छोड़ कर खरा लेना चाहिए । परीक्षावान् को परीक्षा करना चाहिए और माया का सारा रूप मायिक या मिथ्या जानना चाहिए ॥ १० ॥ यह माया पञ्चभौतिक है । जितना कुछ मायिक है सब लय हो जायगा । पिण्ड-ब्रह्माण्ड और आठो देह नाश-वंत हैं ॥ ११ ॥ जितना कुछ दिखेगा उतना सब नाश होगा, जितना कुछ उपजेगा उतना सब मरेगा और जितना माया का रूप बनेगा उतना सब त्रिगडेगा ॥ १२ ॥ जितना कुछ बढेगा उतना सब घटेगा, जितना कुछ आवेगा उतना सब जायगा और कल्पान्त-काल में भूतों को भूत खायगा ! ॥ १३ ॥ जितने देहधारी हैं उतने सब नाश होंगे । यह बात तो प्रत्यक्ष ही है । मनुष्य बिना वीर्योत्पत्ति कैसे हो सकती है ? ॥ १४ ॥ अन्न न होने से वीर्य कहां से होगा ? ओषधि न होने से अन्न कैसे होगा ? और पृथ्वी न होने से ओषधि कैसे रहेगी ? ॥ १५ ॥ आप न होने से पृथ्वी नहीं हो सकती, तेज न होने से आप नहीं हो सकता; और वायु न होने से तेज नहीं हो सकता ॥ १६ ॥ अन्तरात्मा न होने से वायु कैसे होगा ? विकार न होने से अन्तरात्मा कहां से आवेगा ? और देखो तो भला कि निर्विकार में विकार कहां से आया ? ॥ १७ ॥ निर्विकार में पृथ्वी, आप, तेज, वायु, अन्तरात्मा, इत्यादि कोई विकार नहीं है ॥ १८ ॥ जो निर्विकार निर्गुण है वही शाश्वत का लक्षण है और सम्पूर्ण अपृष्ठा प्रकृति नाशवंत है ॥ १९ ॥ जितना कुछ नाशवन्त है उतना सब यदि विवेक से देख लिया जाता है तो वह रहते हुए ही नाश-सा हो जाता है और सारासार-विचार से समाधान प्राप्त होता है ॥ २० ॥ इस प्रकार विवेकपूर्वक देखने से सारासार का विचार मन में बैठ जाता है ॥ २१ ॥

अच्छा, यह तो मालूम हो चुका कि, जो शाश्वत और निर्गुण है वही मुख्य देवता है अब यह मालूम होना चाहिए कि, ‘मैं’ कौन है ॥ २२ ॥ मैं कौन है, सो मालूम होना चाहिए । देह के सम्पूर्ण तत्त्वों को टूटने से मालूम होता है कि, “मैं-तू-पन” मनोवृत्ति में रहता है ॥ २३ ॥ सारे शरीर को टूटने से-तत्त्वविचार करने से-“मैं-तू-पन” का कहीं पता नहीं चलता । वास्तव में ‘मैं-तू-पन’ तत्त्वों में ही लीन रहता है ॥ २४ ॥ जब

दृश्य पदार्थ ही का निरसन हो जाता है और तत्त्वों में तत्त्वों का लय हो जाता है तब 'मैं-तू-पन' कहाँ बचता है? उस समय तो वास्तव में केवल 'वस्तु' ही बच रहती है ॥ २५ ॥ पञ्चीकरण, तत्त्वविवरण और महावाक्य से सिद्ध हो जाता है कि, 'मैं' ही 'वस्तु' हूँ; (पर यों कह देने से कोई 'वस्तु'-ब्रह्म-नहीं हो सकता;) निस्संगता के साथ निवेदन (आत्मनिवेदन) करना चाहिए ॥ २६ ॥ ईश्वर और भक्त का मूल खोजने पर निरुपाधि और केवल आत्मा की प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥ मैं-पन डूब जाता है, विवेक से भिन्नत्व चला जाता है, और निवृत्तिपद या उन्मनी पद मिल जाता है ॥ २८ ॥ ज्ञान विज्ञान में लीन हो जाता है, ध्यान ध्येय में चला जाता है और कार्य-कारण आदि सब का विवेक हो जाता है ॥ २९ ॥ जन्ममरण की खटखट मिट जाती है, सारे पाप डूब जाते हैं और यमयातना का नाश हो जाता है ॥ ३० ॥ सारा बन्धन टूट जाता है, विचार से मोक्ष प्राप्त होता है, सारे जन्म की सार्थकता होती है ॥ ३१ ॥ नाना सन्देहों का निवारण हो जाता है, सारे धोखे टूट जाते हैं और ज्ञान के विवेक से अनेक लोग पवित्र होते हैं ॥ ३२ ॥ और बहुतों के मन में यह प्रतीति आ जाती है कि, पतितपावन के दास (पतितपावन-राम-के दास "रामदास") जगत् को पावन करते हैं ॥ ३३ ॥

चौथा समास-विवेक-वैराग्य ।

॥ श्रीराम ॥

(यदि किसीको राज्य प्राप्त हो जाय; और वह उसका भोग करना न जानें तो उसकी क्या दशा होगी? यही दशा बिना विवेक के वैराग्य-वाले की होती है ॥ १ ॥ गृहस्थों को नाना प्रकार की भङ्गों से ऊब कर तथा दुःखित होकर वैराग्य आ जाता है और मनुष्य घर छोड़ कर निकल जाता है ॥ २ ॥ ३ ॥ वह चिन्ता से छूटता है, परार्थीनता से अलग होता है और सांसारिक दुःखों से मुक्त होकर किसी रोगी की तरह चंगा होता है ॥ ४ ॥ परन्तु पशुओं की तरह स्वच्छन्द फिर कर उसे नष्ट-भ्रष्ट न होना चाहिए ॥ ५ ॥ (बिना विवेक के जो वैराग्य लेता है वह अविवेक से अनर्थ में पड़ता है और उसका दोनों ओर से सत्यानाश

होता है ॥ ६५ ॥ उसका न तो प्रपञ्च बनता है और न परमार्थ; साय जीवन व्यर्थ जाता है । अविवेक से अनर्थ होता है ॥ ७ ॥ (बिना वैराग्य-योग के व्यर्थ ज्ञान बनना ऐसा है जैसे कारागृह में बन्दी बना हुआ पुरुष पुरुषार्थ की बातें करता हो ॥ ८ ॥ वैराग्य बिना ज्ञान की बातें करना व्यर्थ अभिमान दिखलाना है । ऐसे आदमी को मोह और दम्भ के कारण कष्ट उठाना पड़ता है ॥ ९ ॥ कुत्ता बाँधने पर भी भूँकता है; इसी तरह वह भी स्वार्थ से बड़बड़ाता है और अभिमान के कारण दूसरे का उत्कर्ष नहीं देख सकता ॥ १० ॥ (विवेक के बिना वैराग्य, अथवा वैराग्य के बिना विवेक; दोनों अवस्थाओं में शोक ही होता है ।) अब विवेक और वैराग्य दोनों का योग जिसमें होता है उसके लक्षण सुनिये:- ॥ ११ ॥

ऐसा पुरुष विवेक के द्वारा तो भीतर से विरक्त होता है और वैराग्य के द्वारा 'प्रपञ्च' से अलग होता है-इस प्रकार वह अन्तर्बाह्य मुक्त होकर निस्संग योगी बन जाता है ॥ १२ ॥ जैसा मुख से ज्ञान बतलाता है वैसा ही आचरण भी करता है । उसका उपदेश सुन कर बड़े बड़े पवित्र पुरुष भी चकित होते हैं ॥ १३ ॥ वह त्रैलोक्य-राज्य की भी परवा नहीं करता है, उस में वैराग्य की स्थिति समा जाती है और यत्न, विवेक तथा धारणा शक्ति की उसमें सीमा नहीं रहती ॥ १४ ॥ वह हृदयपूर्वक सुन्दर रसाल हरिकीर्तन करता है, तालस्वर के साथ प्रेमपूर्वक भक्तिपूर्ण भजन गाता है ॥ १५ ॥ उसके हृदय में ऐसा विवेक जागृत रहता है कि, जिसके द्वारा वह अनेक लोगों को तत्काल ही सन्मार्ग में लगा सकता है । उसकी वक्तृता में अनुभव का साहित्य नहीं छूटने पाता ॥ १६ ॥

सन्मार्ग-प्रचार करता हुआ, अपनी व्यापकता से जो जगत् में-सम्पूर्ण लोगों में-मिल जाता है उस पर जगदीश प्रसन्न होता है । अस्तु । सच तो यह है कि, भौका देखना चाहिए ॥ १७ ॥ प्रसर वैराग्य, उदासीनता, अनुभवजन्य ब्रह्मज्ञान, स्नान-संध्या, भगवद्भजन और पुण्यमार्ग का आचरण होना चाहिए ॥ १८ ॥ वास्तव में विवेकयुक्त वैराग्य ही पक्का वैराग्य है-केवल वैराग्य या सिर्फ शब्दज्ञान से काम नहीं चलता ॥ १९ ॥ अतएव, विवेक और वैराग्य दोनों ही का होना महा भाग्य है । 'रामदास' कहता है कि, यह बात योग्य साधु ही जानते हैं ॥ २० ॥

पाँचवाँ समास—त्रिविध आत्मनिवेदन ।

॥ श्रीराम ॥

लकीरों के मोड़ से अक्षर बनते हैं, अक्षरों से शब्द बनते हैं; और शब्दों से गद्य-पद्य-मय प्रबन्ध होते हैं ॥१॥ इसी प्रकार वेद, शास्त्र, पुराण, अनेक काव्य, इत्यादि अगणित ग्रन्थों का निरूपण होता है ॥ २ ॥ अनेक ऋषि, उनके अनेक मत; तथा भाषा और लिपि भी अनन्त हैं ॥ ३ ॥ वर्ग, ऋचा, श्रुति, स्मृति, अध्याय, सर्ग, स्तवक, जाति, प्रसंग, मान, समास, पोथी आदि अनेक नाम हैं ॥ ४ ॥ पद, श्लोक, वीर, कड़खा, साखी, दोहा इत्यादि अनेक नाम हैं ॥ ५ ॥ डफगान, मुरजगान, वीणागान, कथागान, इत्यादि नाना प्रकार के गान हैं । ऐसे ही अनेक खेल भी हैं ॥ ६ ॥ ध्वनि, घोष, या नाद, चारों वाणियों में है । इसका भेद सुनिये:— ॥ ७ ॥ उन्मेष, अर्थात् स्फुरण, परा से; ध्वनि पश्यन्ति से; नाद मध्यमा से और शब्द चौथी वाणी या वैखरी से उत्पन्न होता है । वैखरी नाना शब्दरत्नों को मगट करती है ॥ ८ ॥ अकार, उकार, मकार, तथा आधी मात्रा, इस प्रकार 'ॐ' की कुल साठे तीन मात्राओं से ही सम्पूर्ण वर्णों की उत्पत्ति हुई है ॥ ९ ॥ इसके बाद फिर, राग-ज्ञान, नृत्यभेद, तान-भान, अर्थभेद, तत्त्वज्ञान, इत्यादि की सृष्टि हुई है ॥ १० ॥ शुद्ध सतोगुण ही सम्पूर्ण तत्त्वों में मुख्य तत्त्व है । ॐ की अर्धमात्रा ही शुद्ध सतोगुण-महत्तत्त्व या मूलमाया-है * ॥ ११ ॥ अनेक छोटे बड़े तत्त्व मिल कर आठों शरीर बने हैं । अष्टधा प्रकृति नाशवान् है ॥ १२ ॥ परब्रह्म हवा से रहित आकाश की तरह सघन है । अष्ट देहों का निरसन करके उसे देखना चाहिए ॥ १३ ॥ ब्रह्माण्ड से पिण्ड तक उत्पत्ति, और पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक संहार—इन दोनों से अलग जो शुद्ध सार है वही विमल ब्रह्म है ॥१४॥ दृश्य प्रकृति जड़ है; आत्मा चञ्चल है; और विमल ब्रह्म निश्चल है । उसीका विवेक करके उसीमें तद्रूप होना चाहिए ॥ १५ ॥ यह समझना, कि तन, मन, वचन और पदार्थमात्र के सहित मैं परमात्मा का हूँ, जड़ आत्मनिवेदन है ॥ १६ ॥ यह समझना कि—सम्पूर्ण सृष्टि का कर्ता जो वह जगदीश है उसीका प्राणिमात्र अंश है, जो कुछ है सब उसीका है—'हम' कुछ नहीं है; वही कर्ता है, चञ्चल आत्मनिवेदन है ॥ १७ ॥ १८ ॥ अब निश्चल आत्मनिवेदन यह है कि, चञ्चल माया तो स्वप्न की तरह नश्वर है

* 'ॐ' में से अकार तमोगुण का, उकार रजोगुण का और मकार सत्त्वगुण का दर्शक है और आधी मात्रा (बिन्दु) शुद्ध सत्त्वगुण या मूलमाया या महत्तत्त्व की दर्शक है ।

और परमात्मा निश्चल तथा निराकार है । इसके सिवाय जब चञ्चल माया वास्तव में कुछ है ही नहीं तब 'हम' की कल्पना ही मिथ्या है* ॥ १६ ॥ २० ॥ उपर्युक्त तीनों प्रकार से विचार करने पर "हम" कुछ नहीं है-दूजापन है ही नहीं-और जब 'हम' ही नहीं है तब "मैंपन" कहाँ हो सकता है? ॥ २१ ॥ सोचते सोचते सब अनुमान में आ जाता है, मालूम होते होते सब मालूम हो जाता है; और पूर्ण अनुभव आ जाने पर बोलना शान्त हो जाता है ॥ २२ ॥

छठवाँ समास-उत्पत्ति का क्रम ।

॥ श्रीराम ॥

परब्रह्म निर्मल, निश्चल, शाश्वत, सार, अमल, विमल तथा आकाश तरह सर्वव्यापक है ॥ १ ॥ उसमें करना-धरना, जन्मना-मरना, जान न जानना, इत्यादि कुछ नहीं है-वह शून्य से भी अतीत है ॥ २ ॥ न बनता है न बिगड़ता है, न होता है न जाता है-वह मायातीत, निरं है-उसका पार नहीं है ॥ ३ ॥ आगे जो संकल्प उठता है उसे षड्गुणेश्वर और अर्धनारी नटेश्वर कहते हैं ॥ ४ ॥ उसे सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, साक्षी, द्रष्टा, ज्ञानघन, परेश, परमात्मा, जगज्जीवन और मूलपुरुष कहते हैं ॥ ५ ॥ उसीको मूलमाया भी कहते हैं, वह बहुगुणी होता है । उसमें जब सृष्टि बनाने की इच्छा होती है तब उसीको गुणक्षोभिणी कहते हैं, त्रिगुण उसीसे उत्पन्न होते हैं ॥ ६ ॥ फिर चेतनारूपी तथा सतोगुणरूपी विष्णु उत्पन्न होता है । यह तीनों लोक का पालन करता है ॥ ७ ॥ इसके बाद ज्ञान-अज्ञान-मिश्रित रजोगुणरूपी ब्रह्मा होता है । इससे तीनों लोक की उत्पत्ति होती है ॥ ८ ॥ फिर सकलसंहार का कारण तमोगुणरूपी रुद्र उत्पन्न होता है । वस, यहाँ से कर्तृत्व समाप्त होता है ॥ ९ ॥

* आत्मनिवेदन के तीन प्रकार हैं-जड़, चंचल और निश्चल । 'मैं' और 'मेरा,' जो कुछ है, सब ईश्वर का है-यह बुद्धि होना जड़ आत्मनिवेदन है, यह मालूम होना चंचल आत्मनिवेदन है कि, जो कुछ है सब ईश्वरस्वरूप है-अर्थात् कुछ है और वह ईश्वर स्वरूप है-यह मालूम होना चंचल आत्मनिवेदन है, पर निश्चल आत्मनिवेदन वह है कि जिसमें यह निश्चय हो जाय कि, परब्रह्मस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं ।

वहाँ से फिर पञ्चभूत स्पष्ट दशा को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार अष्टधा प्रकृति का स्वरूप मूलमाया ही में होता है ॥ १० ॥ निश्चल में जो चलन होता है वही वायु का लक्षण है । पञ्चभूत और त्रिगुण मिल कर अष्टधा सूक्ष्म प्रकृति होती है ॥ ११ ॥ आकाश अन्तरात्मा ही की तरह होता है; उसकी महिमा अनुभव से जानना चाहिए । उसीसे वायु का जन्म होता है ॥ १२ ॥ उस वायु के दो प्रकार होते हैं; एक शीतल और दूसरा उष्ण । शीतल वायु से तारागण और चन्द्र होता है, तथा उष्ण से सूर्य, अग्नि और विजली, इत्यादि होते हैं । शीतल और उष्ण दोनों मिल कर 'तेज' कहलाता है ॥ १३ ॥ १४ ॥ उस तेज से आप होता है, आप से पृथ्वी का रूप होता है । इसके बाद अनन्त ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं ॥ १५ ॥ ओषधियों से अनेक प्रकार के बीज तथा अन्नादि के रस उत्पन्न होते हैं तथा उन्हींसे भूमण्डल में चौरासी लाख योनियों का विस्तार होता है ॥ १६ ॥

इस प्रकार सृष्टि-रचना होती है । इसका विचार मन में लाना चाहिए । प्रतीति क विना संशय का पात्र बनना पड़ता है ॥ १७ ॥ इस प्रकार उत्पत्ति होती है और इसी प्रकार संहार भी होता है । इसका विचार करना ही 'सारासार-विचार' कहलाता है ॥ १८ ॥ जो जो जहाँ से पैदा होता है वह वह वहीं लीन हो जाता है—इस प्रकार महा-प्रलय में सब का संहार होता है ॥ १९ ॥ जो आदि, मध्य और अन्त में शाश्वत तथा निरंजन है उसीका ज्ञाता पुरुष को अनुसंधान लगाना चाहिए ॥ २० ॥ नाना प्रकार की रचना होती जाती है; पर वह कुछ भी टिकती नहीं—इस कारण सार-असार के विचार की जरूरत है ॥ २१ ॥ अन्त-रात्मा को द्रष्टा और साक्षी कह कर सब लोग महिमा गाते हैं, पर इस सर्वसाक्षिणी अवस्था का प्रत्यय करना चाहिए ॥ २२ ॥ आदि से लेकर अन्त तक सब माया का ही विस्तार है और उसमें नाना विद्याएं तथा कला-कौशल हैं ॥ २३ ॥ जो उपाधि का अन्त पावेगा उसे मालूम हागा कि, यह सब भ्रम है; और जो उपाधि में फँस जायगा उसे कौन निकाल सकता है? ॥ २४ ॥ विवेक और अनुभव के काम सन्देह और भ्रम से कैसे हो सकते हैं? सारासार-विचार के योग से ही ब्रह्म पा सकते हैं ॥ २५ ॥ वास्तव में मूलमाया ब्रह्माण्ड का महाकारण देह है; परन्तु विवेकहीन पुरुष इसी अपूर्ण को पूर्ण ब्रह्म कहते हैं ॥ २६ ॥ सृष्टि में बहुत प्रकार के लोग हैं; कोई राज्य भोगते हैं और कोई विष्टा ढाँते हैं; अब प्रत्यक्ष देख ला ! ॥ २७ ॥ ऐसे बहुत लोग होते हैं और सब अपने को बड़ा कहते हैं; पर विवेकी पुरुष सब कुछ जानते हैं ॥ २८ ॥ ऐसी

दशा है; इस लिए विचार चाहिए । बहुतों के कहने से इस संसार का विगाड न करना चाहिए ॥ २६ ॥ यदि पुस्तक-ज्ञान से निश्चय हो जाय तो फिर गुरु करने की आवश्यकता ही क्या रह गई? अतएव अपने अनुभव से विवरण करना चाहिए ॥ ३० ॥ जो बहुतों के कहने में लगा, समझ लो कि, वह अवश्य डूबेगा । एक मालिक न होने पर तनखाह किससे माँगे ? ॥ ३१ ॥

सातवाँ समास विषय-त्याग ।

॥ श्रीराम ॥

न्याय के कारण निष्ठुर बोलना बहुतों को बुरा लगता है । जो मचलाते समय भोजन करना अच्छा नहीं है ॥ १ ॥ बहुत लोग विषयों को निन्दा करते हैं; परन्तु वही स्वयं उनका सेवन करते हैं । क्योंकि विषय-त्याग से शरीर की रक्षा होना असम्भव है ॥ २ ॥ कहना कुछ और करना कुछ-इसका नाम है विवेकहीनता । इससे संसार में हँसी होती है । ३ ॥ अच्छी तरह देखो, ठौर ठौर में ऐसा कहा है कि, बिना विषय-त्याग के परलोक कुछ प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ४ ॥ प्रपंची खाते-पीते हैं तो परमार्थी क्या उपवास करते हैं? नहीं । विषयों के विषय में दोनों समान ही दिखते हैं ॥ ५ ॥ अतएव, हे देव, कृपा करके मुझे यह बतलाइये कि, देह रहते हुए संसार में विषयों को कौन त्याग सकता है ? ॥ ६ ॥ यह बात तो विचित्र मालूम होती है कि सम्पूर्ण विषय छोड़ दिये जायें; तभी परमार्थ किया जाय ॥ ७ ॥ ऊपर श्रोता का कथन हुआ; अब वक्ता इस पर उत्तर देता है:- ॥ ८ ॥

वैराग्य से त्याग जब किया जाता है तभी परमार्थ का योग होता है । प्रपच के त्यागने से सांगोपांग परमार्थ बनता है ॥ ९ ॥ प्राचीन समय में बहुत ज्ञानी इस आर्यावर्त में हो गये । उन्होंने भी जब पहले बहुत कष्ट सहा है तभी भूमंडल में विख्यात हुए हैं ॥ १० ॥ बाकी लोग मत्सर करते करते ही चले गये-अन्न अन्न करके मर गये और कितने ही पेट के लिए अष्ट हो गये ॥ ११ ॥ जिन लोगों में आदि से ही वैराग्य नहीं है, प्रत्यय का ज्ञान नहीं है, शुचि आचार भी नहीं है और भजन का नाम भी नहीं जानते, इस प्रकार के आदमी अपने को सज्जन कहते हैं । पर वास्तव में वे भ्रम में पड़े हुए हैं ॥ १२ ॥ १३ ॥ अपने पूर्वकृत कर्मों पर पश्चात्ताप न होना ही बड़ा भारी पाप है । ऐसा बद्ध पुरुष परोत्कर्ष देख कर

ही क्षण क्षण में दुखी होता रहता है ॥ १४ ॥ यह तो लोग जानते ही हैं कि, यहां ऐसे लोग हैं, जो कहते हैं कि, हमारे पास नहीं है, इस लिए तुम्हारे पास होना भी अच्छा नहीं लगता । खाते-पीते पुरुष को दरिद्र पुरुष-देख ही नहीं सकते ॥ १५ ॥ दिवालिया लोग बड़े बड़े भाग्य-वानों की निन्दा करते हैं और साह को देख कर चोर तड़फड़ाते हैं ॥ १६ ॥

(यह सब हाल देख कर जान पड़ता है कि,) वैराग्य के समान और कोई भाग्य नहीं है । जहां वैराग्य नहीं है वहां अभाग्य है और बिना वैराग्य के परमार्थ करना भी योग्य नहीं है ॥ १७ ॥ जो प्रत्ययज्ञानी और धीतरागी है, जो विवेकबल से सकल-त्यागी है, उसीको महायोगी ईश्वरी पुरुष समझना चाहिए ॥ १८ ॥ जो महादेव आठों सिद्धियों की उपेक्षा करके योगदीक्षा लेकर घर घर भिक्षा मांगते फिरते हैं—॥ १९ ॥ उनकी बराबरी कोई वेषधारी पुरुष कैसे कर सकता है? इस लिए सब बराबर नहीं हो सकते ॥ २० ॥ उदासी और विवेकी को सब लोग दूँढते हैं; परन्तु लालची, मूर्ख, दरिद्री और दुर्बल को कोई नहीं पूछता ॥ २१ ॥ जो विचार से च्युत होते हैं, आचार से भ्रष्ट होते हैं और विषयलोभी बन कर वैराग्य करना भूल जाते हैं ॥ २२ ॥ जिन्हें भजन अच्छा नहीं लगता; शुभ पुरश्चरण कभी जिनसे होता नहीं, ऐसे लोगों से भलों की पटती नहीं ॥ २३ ॥ वैराग्यशील होने पर भी जो आचार से भ्रष्ट नहीं होते; ज्ञानी होकर भी जो भजन नहीं छोड़ते और व्युत्पन्न होकर भी जो वित-रुडावाद में नहीं पड़ते, ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं ॥ २४ ॥ परिश्रम का कष्ट सहने से खेत में अन्न तैयार होता है; अच्छी वस्तु, तत्काल विक जाती है, ज्ञानी पुरुष की सेवा के लिए सब लोग कौतुक से दौड़ते हैं ॥ २५ ॥ परन्तु जो दुराशा रखते हैं उनका महत्व नहीं रहता और ज्ञान भ्रष्ट हो जाता है ॥ २६ ॥ निरर्थक विषयों का त्याग करके केवल आवश्यक विषयों को ही ग्रहण करना विषयत्याग का मुख्य लक्षण है ॥ २७ ॥ परमात्मा सर्वकर्ता है; माया कुछ नहीं है; यह विवेकी लोगों की सम्मति है ॥ २८ ॥ शूरता में जो प्रखर होता है उसे छोटे-बड़े सब मानते हैं । निकम्मा और उद्योगी एक कैसे हो सकते हैं? ॥ २९ ॥ जो त्याग अत्याग और तर्क-विषय जानता है, कहने के अनुसार चलना जानता है, पिएड-ब्रह्माण्ड आदि सब यथायोग्य जानता है उस उत्तमलक्षणी सर्वज्ञाता पुरुष का समागम करने से सहज ही सार्थकता होती है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

आठवाँ समास-काल का रूप ।

॥ श्रीराम ॥

मूलमाया ही जगदीश्वर है । उसीसे सृष्टिक्रम के अनुसार अष्टधा प्रकृति का आकार फैला है ॥ १ ॥ जब यह कुछ नहीं या तब एक निराकार, आकाश की तरह, विस्तारमात्र या और काल, इत्यादि को कल्पना भी न थी ॥ २ ॥ जब से उपाधि का विस्तार हुआ तभी से काल देखने में आया, अन्यथा काल के लिए स्थान ही नहीं है ॥ ३ ॥ एक चञ्चल है और एक निश्चल है, इनके अतिरिक्त और काल कहाँ है? जब तक चञ्चल है तभी तक काल कह लो ! ॥ २४ ॥ आकाश अवकाश को कहते हैं, अवकाश विलम्ब को कहते हैं-उस विलम्बरूप काल को जान लेना चाहिए ॥ ५ ॥ वह विलम्ब सूर्य के कारण मालूम होता है, इसीसे सब की गणना लगती है और पल से युग तक गिनती की जाती है ॥ ६ ॥ सूर्य ही के कारण पल, घड़ी, पहर, दिन, सन्ध्या, पखवाड़ा, महीना, छमासा, वर्ष और युगों की सृष्टि हुई है ॥ ७ ॥ सतयुग, त्रेता, द्वापर और कालियुग आदि की संख्या भूमण्डल में सूर्य ही के योग से चली है और शाखाओं में देवताओं की जो बड़ी बड़ी अवस्थाएं कहीं हैं वे भी सब सूर्य ही के कारण उत्पन्न हुई हैं ! ॥ ८ ॥ त्रिगुणात्मक ब्रह्मा-विष्णु-महेश की खटपट (उत्पत्ति, स्थिति, संहार) सूक्ष्मरूप से और विशेष लगाव के साथ, सब पिएडों में हो रही है, परन्तु लोग संप्रदाय या रीति छोड़ते हैं, और इसी कारण उन्हें खटपट लगती है ॥ ९ ॥ मिश्रित त्रिगुण अलग अलग नहीं हो सकते और उन्हींसे, आदि से अन्त तक, सृष्टि की रचना है । यह कैसे कहा जाय कि, कौन बड़ा है और कौन छोटा है ? ॥ १० ॥ अस्तु । ये ज्ञाता के काम हैं, अज्ञाता व्यर्थ के लिए भ्रम में फँसता है । अनुभव के द्वारा मुख्य तत्व जानना चाहिए ॥ ११ ॥ उत्पन्नकाल, सृष्टिकाल, स्थितिकाल, संहारकाल, आदि-अन्त का सब काल, विलम्बरूपी है ॥ १२ ॥ प्रसंग के अनुसार काल का नाम पड जाता है । यह बात अगर अनुमान से अच्छी तरह ध्यान में न आती हो तो आगे और सुनो:- ॥ १३ ॥

वर्षाकाल, शीतकाल, उष्णकाल, सन्तोषकाल, सुखदुःख या आनन्दकाल प्रसंगानुसार मालूम होते हैं ॥ १४ ॥ प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल, वसंतकाल, पर्वकाल, कठिनकाल, इत्यादि सब प्रसंगानुसार जान पड़ते हैं ॥ १५ ॥ जन्मकाल, बालकाल, तरुणकाल, वृद्धकाल, अन्तकाल, और विषमकाल, आदि समय के रूप हैं ॥ १६ ॥ सुकाल, दुष्काल,

प्रदोषकाल और पुण्यकाल आदि सब समय मिल कर काल कहलाता है ॥ १७ ॥ होता कुछ है और मालूम होता कुछ है—इसका नाम है विवेक-हीनता । नाना प्रकार की प्रवृत्ति के लोग प्रवृत्ति ही जानते हैं ॥ १८ ॥ प्रवृत्ति अधोमुख चलती है, निवृत्ति उच्चमुख चलती है । उच्चमुख चलने से नाना सुख होते हैं; उन्हें विवेकी ही जानते हैं ॥ १९ ॥ जहां से ब्रह्माण्ड-रचना हुई है वहां तक विवेकी दृष्टि डालता है और विवरण करते करते पूर्वापर (मूल) स्थिति को प्राप्त होता है ॥ २० ॥ जो 'प्रपञ्च' में रह कर 'परमार्थ' करता है और प्रारब्धयोग से लोगों में रहता है वह भी उसी स्थिति को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥ सब का मूल एक ही है; पर उन्हींमें से कोई, ज्ञाता हैं कोई मूर्ख हैं । विवेक से तत्काल परलोक साधना चाहिए ॥ २२ ॥ इसीसे जन्मसार्थक होता है और दोनों तरह के लोग उसे अच्छा कहते हैं । वास्तव में मुख्य तत्व का विवेक करना चाहिए ॥ २३ ॥ जो लोग विवेकहीन हैं उन्हें पशु-समान जानो । उनका भाषण सुनने से परलोक कैसे मिल सकता है ? ॥ २४ ॥ अच्छा, इससे हमारा क्या जाता है ! जैसा करते हैं वैसा फल पाते हैं । जो बोते हैं वही उगता है और वही भोगते हैं ! ॥ २५ ॥ आगे भी जो जैसा करेगा वह वैसा पावेगा । भक्तियोग से भगवान् मिलता है और भगवान् तथा भक्त का मेल हो जाने से अपूर्व समाधान प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ जो मरने पर अपनी कीर्ति नहीं छोड़ जाते वे यों ही संसार में आते हैं और चले जाते हैं—चतुर होकर भूल जाते हैं—क्या बतलावें ! ॥ २७ ॥ जान तो ऐसा पडता है कि, सभी यहां का यहीं रह जाता है; पर क्यों भाई, बतलाते क्यों नहीं हो; कौन क्या ले जाता है ? ॥ २८ ॥ सांसारिक पदार्थों के विषय में उदासीनता रखना चाहिए और निश्चिन्त होकर विवेक का साधन करना चाहिए । ऐसा करने से जगदीश, जो अलभ्य है, मिलता है ॥ २९ ॥ और जगदीश लाभ के समान और कोई लाभ नहीं है । आवश्यकतानुसार सब कुछ करते हुए, और गृहकर्म करते हुए भी, समाधान प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

प्राचीन समय में जनक आदि अनेक राजा, राज्य करते हुए भी, भगवान् को प्राप्त करते थे—अब भी कितने ही पुण्यश्लोक ऐसे हैं ! ॥ ३१ ॥ राजा की यदि मृत्यु आवे और राजा यदि लाख करोड़ रुपये भी उसे देने कहे तो भी मृत्यु कुछ उसे छोड़ नहीं सकती ॥ ३२ ॥ ऐसा यह पराधीन जीवन है ! इसमें नाना दुःख, कष्ट, उद्वेग और चिन्ता आदि में कहां तक फँसा रहे ? ॥ ३३ ॥ अतएव, संसार की हाट लगी है; इसमें ईश्वर की नफा कर लो, तभी इन कष्टों का बदला मिलेगा ॥ ३४ ॥

नववाँ समास-प्रयत्न का उपदेश ।

॥ श्रीराम ॥

दुर्बल, लाचार, दरिद्री, आलसी, बहुत खानेवाला, ऋणियां, मूर्खता के कारण सब व्यस्त है, और कुछ भी नहीं है ॥ १ ॥ खाने को नहीं, पीने को नहीं, पहनने को नहीं, विछाने को नहीं, ओढने को नहीं, और भोपड़ी भी नहीं; अभागी है ॥ २ ॥ सहायक नहीं, कुंदुम्बी नहीं, इष्ट नहीं, मित्र नहीं, कहीं पहचानवाले भी नहीं दिखते, आश्रयरहित है और परदेशी है ॥ ३ ॥ ऐसा पुरुष क्या करे? किसका सहारा पकड़े? बचे या मरे? किस प्रकार रहे? ॥ ४ ॥ ऐसा कोई प्रश्न करता है, इसका कोई उत्तर देता है; श्रोताओं को अब सावधान होकर सुनना चाहिए:- ॥ ५ ॥

छोटा बड़ा कोई भी काम हो, किये बिना नहीं होता । इस लिए हे अभागी पुरुष ! प्रयत्न कर, जिससे तू भी भाग्यवान् हो ! ॥ ६ ॥ जब चित्त ही सावधान नहीं रहता और यत्न भी पूरा पूरा किये नहीं होता तब सुखसंतोष कैसे मिल सकता है ? ॥ ७ ॥ इस लिए आलस छोड़ना चाहिए, परिश्रम के साथ यत्न करना चाहिए और दुश्चित्तता को निकाल बाहर करना चाहिए ॥ ८ ॥ प्रातःकाल उठना चाहिए, प्रातःस्मरण करना चाहिए ॥ और नित्य-नियमानुसार कुछ सुभाषित भी याद करना चाहिए ॥ ९ ॥ पीछे का उधरना (Revision या मुताला) चाहिए; आगे का पाठ करना चाहिए; नियम से चलना चाहिए; और व्यर्थ बक बक न करना चाहिए ॥ १० ॥ दिशा के लिए दूर जाना चाहिए, पवित्र होकर आना चाहिए और लौटते समय कुछ न कुछ लाना चाहिए, खाली हाथ आना अच्छा नहीं है ॥ ११ ॥ धौतवस्त्र निचोड़ कर डाल देना चाहिए, पैर धोना चाहिए और फिर यथाविधि देवदर्शन और देवतार्चन करना चाहिए ॥ १२ ॥ इसके बाद कुछ फलाहार करके अपना व्यवसाय करना चाहिए और गैर-लोगों को भी अपना समझना चाहिए ॥ १३ ॥ सुन्दर अक्षर लिखना चाहिए, स्पष्ट और ठीक पढ़ना चाहिए और मनन करके मार्मिक अर्थ जानना चाहिए ॥ १४ ॥ ठीक ठीक और सुन्दर रीति से पूछना चाहिए, स्पष्ट कर के बतलाना चाहिए और अनुभव बिना न बोलना चाहिए; क्योंकि ऐसा बोलना पाप है ॥ १५ ॥ सावधानी रखनी चाहिए; नीति मर्यादा रखनी चाहिए और क्रियासिद्धि ऐसी करनी चाहिए जो लोगों को पसन्द हो ॥ १६ ॥ आये हुए का समाधान, हरिकथा, अध्यात्म-निरूपण और सदा प्रसंग देख कर वर्ताव करना चाहिए ॥ १७ ॥ ताल, धाटी, मुद्रा, अर्थ, प्रमेय, अन्वय, इत्यादि शुद्ध होने चाहिए और

गद्यपद्य आदि के दृष्टान्त शुद्ध तथा क्रमानुसार होने चाहिए ॥ १८ ॥ गाना, वजाना, नाचना, हावभाव दिखाना, सभारंजक वचन कहना, उपकथा, छन्द-प्रबन्ध, आदि ठीक होना चाहिए ॥ १९ ॥ बहुतों का समाधान रखना चाहिए, जो बहुतों को अच्छा लगे वही बोलना चाहिए और कथा में झुटि न पढ़ने देना चाहिए ॥ २० ॥ लोगों को बहुत चिढ़ाना न चाहिए, लोगों का हृदय खोल देना चाहिए—ऐसा करने से सहज ही यश फैलता है ॥ २१ ॥ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग, नाना साधनों के प्रयोग, जिनके मननमात्र से ही भवरोग दूर होता है, बताना चाहिए ॥ २२ ॥ जैसे वचन बोलना चाहिए वैसी ही चाल चलना चाहिए, इससे स्वाभाविक ही महन्तपन प्राप्त होता है ॥ २३ ॥ युक्ति-रहित चाहे जैसा अच्छा योग हो वह दुराशा का रोग है । उससे साथ में रहनेवाले लोगों को कष्ट होता है ॥ २४ ॥ अतएव, ऐसा कमी न करना चाहिए । लोगों को कष्ट न देना चाहिए और हृदय में समर्थ रघुनाथजी का चिन्तन करना चाहिए ॥ २५ ॥ उदासवृत्ति लोगों को पसन्द होती है । इसके सिवाय कथानिरूपण भी करना चाहिए और रामकथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैला देना चाहिए ॥ २६ ॥ जो महन्त सांगोपांग लक्षणों से युक्त है, सुन्दर लोकप्रिय गाना जानता है, उसके पास वैभव की क्या कमी है ? जैसे आकाश में तारागण एकत्र रहते हैं वैसे ही, ऐसे महन्त के यहाँ, लोग जमा रहते हैं ॥ २७ ॥ जहाँ बुद्धि नहीं है वहाँ सारी अव्यवस्था ही रहती है । एक बुद्धि के बिना सब व्यर्थ है ॥ २८ ॥ बुद्धि का विस्तार करके ब्रह्मांड से भी बड़ा हो जाना चाहिए, ऐसी दशा में नीच अभाग्य कहां से आवेगा ? ॥ २९ ॥ इतने से आशंका मिट जाती है; यत्न में बुद्धि का प्रवेश हो जाता है और अन्तःकरण में कुछ आशा भी बढ जाती है ॥ ३० ॥

दसवाँ समास—उत्तम पुरुष ।

॥ श्रीराम ॥

पेट भर भोजन करके बाकी अन्न वॉट देना चाहिए; व्यर्थ फेंक देना धर्म नहीं है ॥ १ ॥ उसी प्रकार ज्ञान से पहले स्वयं तृप्त हो लेना चाहिए; फिर वही ज्ञान लोगों को बताना चाहिए । तैरैया को चाहिए कि वह डूबनेवाले को डूबने न दे ॥ २ ॥ पहले स्वयं उत्तम गुण ग्रहण करना

चाहिए, और फिर वही बहुतों को बतलाना चाहिए; बिना बर्ते जो बोला जाता है वह मिथ्या है ॥ ४ ॥ स्नान-संध्या और देवार्चन करके एकान्त में जपध्यान करना चाहिए और हरिकथा तथा अध्यात्म-निरूपण करना चाहिए ॥ ४ ॥ शरीर परोपकार में लगाना चाहिए, बहुतों के काम आना चाहिए और किसीकी हानि न होने देना चाहिए ॥ ५ ॥ दुखी और पीड़ित को जानना चाहिए, यथा-शक्ति उसके काम आना चाहिए और सब से मीठे वचन बोलना चाहिए ॥ ६ ॥ दूसरे के दुख से दुखी और दूसरे के सुख से सुखी होना चाहिए और मृदु वचनों से प्राणिमात्र को मिला लेना चाहिए ॥ ७ ॥ बहुतों के अन्याय क्षमा करना चाहिए, बहुतों का काम करना चाहिए और गैर-लोगों को अपनाना चाहिए ॥ ८ ॥ दूसरे के मन की बात जानना चाहिए और उसके अनुसार बर्ताव करना चाहिए तथा लोगों को नाना प्रकार से परखते रहना चाहिए ॥ ९ ॥ मित-भाषण करना चाहिए, तत्काल ही उत्तर देना चाहिए और कभी क्रोध में न आना चाहिए, क्षमारूप रहना चाहिए ॥ १० ॥ सब आलस छोड़ देना चाहिए, बहुत यत्न करना चाहिए और किसीका मत्सर न करना चाहिए ॥ ११ ॥ उत्तम पदार्थ दूसरे को देना चाहिए, शब्द सोच कर बोलना चाहिए और सावधानी के साथ अपनी चरित्र-सम्हालना चाहिए ॥ १२ ॥ मरण का स्मरण रखना चाहिए, हरिभक्ति में तत्पर रहना चाहिए और इस प्रकार, मरने के बाद भी, अपनी कीर्ति बनी रखनी चाहिए ॥ १३ ॥ जिसका बर्ताव अच्छा होता है वह बहुतों को मालूम हो जाता है । जो सब से विनीत-भाव रखता है उसके लिए किसी बात की कमी नहीं ॥ १४ ॥ ऐसे उत्तम गुण जिसमें होते हैं वही वास्तव में पुरुष है । उसके भजन से परमात्मा तृप्त होता है ॥ १५ ॥ चाहे जितना कोई धिक्कार कर बोलता हो तो भी अपनी शान्तिभंग न होने देना चाहिए । उन साधुओं को धन्य है जो दुर्जन में भी मिल कर रहते हैं; अर्थात् उसे भी अपना सा कर लेते हैं ॥ १६ ॥ जो ज्ञान, वैराग्य, आदि उत्तम गुणों से सुशोभित है उसी एक को भूमण्डल में भला जानना चाहिए ॥ १७ ॥ स्वयं कष्ट कर बहुतों का उपकार करना चाहिए और इस प्रकार अपना शरीर परोपकार में लगा कर कीर्तिरूप से संसार में अमर रहना चाहिए ॥ १८ ॥ कीर्ति की ओर देखने से सुख नहीं है और सुख की ओर देखने से कीर्ति नहीं मिलती । बिना विचार के कहीं भी समाधान नहीं है ॥ १९ ॥ दूसरे के हृदय में धक्का न लगाना चाहिए, भूल कमी न पढ़ने देना चाहिए, जो क्षमाशील है उसकी प्रतिष्ठा को कभी हानि नहीं पहुँचती ॥ २० ॥ अपना हो चाहे पराया हो-काम सब

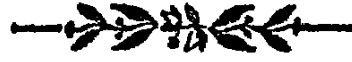
करना चाहिए । मौके पर काम के लिए बरका जाना अच्छा नहीं ॥ २१ ॥ यह तो प्रत्यक्ष जान पड़ता है कि, अच्छी तरह बोलने से सुख होता है । पराये को भी आत्मवत् मानना चाहिए ॥ २२ ॥ यह तो जान ही पड़ता है कि, कठिन शब्द से बुरा मालूम होता है; तिस पर भी यदि बुरा बोलें तो किस लिए ? ॥ २३ ॥ अपने चिमोटा लेने से कष्ट होता ही है—इसी तरह सब को समझना चाहिए ॥ २४ ॥ जिस वाणी से दूसरे को दुख पहुँचता हो वह वाणी अपवित्र है—वह किसी समय अपना भी घात कर बैठेगी ॥ २५ ॥ जो बोया जाता है वही उगता है, जैसा बोला जाता है वैसा ही उत्तर मिलता है, तो फिर कर्कश क्यों बोलना चाहिए ? ॥ २६ ॥ अपने पुरुषार्थ और वैभव से बहुतों को सुखी करना ठीक है; परन्तु किसी को कष्ट देना राक्षसी काम है ॥ २७ ॥ भगवद्गीता में १६ वें अध्याय के चौथे श्लोक में कहा है कि, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, और कठिन वचन अज्ञान का लक्षण है ॥ २८ ॥ जो उत्तम गुणों से सुशोभित है वही महासज्जन है; और उसीको कितने ही आदमी ढूँढते फिरते हैं ॥ २९ ॥ किर्या विना जो केवल शब्दज्ञान है वही कुत्ते का वमन है । भले आदमी उसकी तरफ कभी देखते तक नहीं हैं ॥ ३० ॥ जो पुरुष मन से भक्ति करता है और उत्तम गुणों को अवश्य ग्रहण करता है उस महापुरुष के लिए लोग ढूँढते चले आते हैं ॥ ३१ ॥ ऐसे महानुभाव पुरुष को समुदाय एकत्र करना चाहिए और भक्तियों से उस देवाधिदेव परमात्मा को अपना बनाना चाहिए ॥ ३२ ॥ अपने को तो एक दिन अकस्मात् मर जाना है; फिर भजन कौन करेगा, ऐसा समझ कर और भी बहुत से लोगों को भजन में लगाना चाहिए ॥ ३३ ॥ हमारी तो यह प्रतिज्ञा है कि, शिष्यों से और कुछ न माँगे; सिर्फ इतना माँगे कि, भाई, हमारे मरने पर तुम लोग जगदीश का भजन करते रहना ! ॥ ३४ ॥ अतएव, बड़े उत्साह के साथ समुदाय एकत्र करना चाहिए और हाथोंहाथ देवाधिदेव को प्रसन्न कर लेना चाहिए ॥ ३५ ॥ अब समुदाय के लिए दो बातों की आवश्यकता है; श्रोता लोग सावधानी के साथ इस जगह मन लगावें ! ॥ ३६ ॥ जिस युक्ति से बहुतों में भक्ति आती है वह प्रत्यक्ष प्रबोधशक्ति (समझाने की ताकत) है । बहुतों का मन अपने हाथ में लेना चाहिए ॥ ३७ ॥ पीछे जो उत्तम गुण बतलाये गये वे तो होना ही चाहिए; पर प्रबोधशक्ति (उपदेश देने का बल) उन सब से अधिक आवश्यक है ॥ ३८ ॥ दूसरी बात यह है कि, जो बोलने के अनुसार चलता है, और पहले स्वयं करके तब बतलाता है, उसकी बातें सभी लोग सत्य मानते हैं ॥ ३९ ॥ जो बातें लोगों को पसन्द नहीं हैं वे बातें लोग मानते ही

नहीं-और अकेला आदमी क्या कर सकता है? ॥ ४० ॥ इस लिए साथी होने चाहिए, थोड़ा थोड़ा उन्हें सिखाना चाहिए और धीरे धीरे विवेक से पार लगाना चाहिए ॥ ४१ ॥ परन्तु ये विवेक के काम हैं-इनको विवेकी ही ठीक ठीक कर सकता है, अन्य लोग तो विचारे भ्रम से भागडने ही लगते हैं ॥ ४२ ॥ बिना सेना के बहुतों से अकेला लड़ना कैसे हो सकता है? इस कारण बहुतों को राजी रखना चाहिए ॥ ४३ ॥

— — —



तेरहवाँ दशक ।



पहला समास—आत्मानात्म-विवेक ।

॥ श्रीराम ॥

आत्मा और अनात्मा का विवेक करना चाहिए, करके अच्छी तरह मनन करना चाहिए; और मनन करके दृढतापूर्वक जी में धरना चाहिए ॥ १ ॥ आत्मा कौन है और अनात्मा कौन है, इसका निरूपण अब सावधान होकर सुनो:— ॥ २ ॥ पुराणों के कथनानुसार चार खानि, चार वाणी, और चौरासी लाख जीव संसार में बरत रहे हैं ॥ ३ ॥ इस सृष्टि में अपार, नाना प्रकार के, शरीर दिखते हैं । अब, यह निश्चय करना चाहिए कि उनमें आत्मा कौन है ॥ ४ ॥ वह प्रत्यक्ष दृष्टि में देखता है, श्रवण में सुनता है, रसना में स्वाद लेता है ॥ ५ ॥ घ्राण में वास लेता है, सर्वांग में छूता है और वाचा में शब्द का ज्ञान करता है ॥ ६ ॥ वह सावधान रह कर चञ्चल है और अकेला ही, इन्द्रियों-द्वारा, चारों ओर, सारी हलचल मचा रहा है ॥ ७ ॥ जो पैर चलाता है, हाथ हिलाता है, भौंह सिकोडता है, आंख फिराता है और संकेत-लक्षणों-वतलाता है, वही आत्मा है ॥ ८ ॥ जो ठिठार्ई करता है, लजाता है, खुजलाता है, खोंसता है, आँकता है, थूँकता है और भोजन करता तथा पानी पीता है वही आत्मा है ॥ ९ ॥ जो मलमूत्र त्याग करता है, सम्पूर्ण शरीर को सम्हालता है और प्रवृत्ति-निवृत्ति का विचार करता है वही आत्मा है ॥ १० ॥ जो सुनता है, देखता है, सूँघता है, चखता है, नाना प्रकार से पहचानता है, सन्तोष पाता है और डरता है वही आत्मा है ॥ ११ ॥ जो आनन्द, विनोद, उद्वेग, चिन्ता, काया, छाया, माया, ममता और जीवन-समय में नाना व्यथा पाता है वही आत्मा है ॥ १२ ॥ जो पदार्थ की आस्था रखता है, लोगों में बुरा-भला करता है, अपनों को रखता है और परायों को मारता है वही आत्मा है ॥ १३ ॥ युद्ध के समय में दोनों दलों के अनेक शरीरों में जो, छाया रहता है और जो परस्पर में मरता गिरता और मार गिराता है वही आत्मा है ॥ १४ ॥ वह आता है, जाता है, देह में वर्तता है, हँसता है, रोता है, पछुताता है, उद्योग के अनुसार धनवान् और गरीब होता है ॥ १५ ॥

जो डरपोक होता है, बलवान् होता है, विद्यावान् होता है, मूढ होता है, न्यायवन्त होता है और उद्धट होता है वही आत्मा है ॥ १६ ॥ जो धीर, उदार, कृपण, पागल, विचक्षण, उच्छृंखल, सहनशील होता है वही आत्मा है ॥ १७ ॥ जो विद्या-कुविद्या दोनों में आनन्दरूप से छाया रहता है; जहां देखो वहां, सब ओर, जो दिखता है वही आत्मा है १८ ॥ जो सोता है, उठता है, बैठता है, चलता है, दौड़ता है, डोलता है, निहुरता है, और साथी-सलाही बनाता है वही आत्मा है ॥ १९ ॥ जो पोथी पढता है, अर्थ बतलाता है, ताल धरता है, गाने लगता है, वादविवाद करता है वही आत्मा है ॥ २० ॥ जब देह में आत्मा नहीं रहना तब वह मुर्दा हो जाता है । आत्मा देह के साथ से सब कुछ करता है ॥ २१ ॥ एक के बिना एक बेकाम है; शरीर और आत्मा दोनों के संयोग से सब व्यापार चलता है ॥ २२ ॥ देह अनित्य है, आत्मा नित्य है—यही नित्य-अनित्य का विवेक है । उस सूक्ष्म का सम्पूर्ण वृत्तान्त ज्ञानी जानते हैं ॥ २३ ॥ पिंड में देहधर्ता या देही जीव है; ब्रह्मांड में देही शिव है और ईश्वर तनुचतुष्टय में देही ईश्वर है ॥ २४ ॥ त्रिगुण से परे जो “ अर्धनारी-नटेश्वर ” ईश्वर है उसीसे सारी सृष्टि का विस्तार हुआ है ॥ २५ ॥ अच्छी तरह से विचार करने से जान पड़ता है कि, वहां स्त्री पुरुष कुछ नहीं है; कुछ थोड़ा चंचलरूप सा जान पड़ता है ॥ २६ ॥ आदि से लेकर अन्त तक—ब्रह्मा-विष्णु-महेश से लेकर चीटी तक—सब देहधारी ही हैं । यह नित्यानित्य का विवेक चतुरों को जानना चाहिए ॥ २७ ॥ जितना कुछ जड है सब अनित्य है; और जितना कुछ सूक्ष्म है सब नित्य है—इसमें भी जो नित्य-अनित्य है वह आगे कहा है ॥ २८ ॥ विवेक से इस सृष्टि और सूक्ष्म दोनों को लांघ जाते हैं; कारण महाकारण को भी छोड़ देने हैं, और विराट् तथा हिरण्यगर्भ तक का खंडन कर डालते हैं ॥ २९ ॥ इसके बाद अव्याकृत और मूलप्रकृति में जाकर वृत्ति बैठती है, अब इस वृत्ति की भी निवृत्ति होने के लिए अध्यात्म-निरूपण सुनना चाहिए ॥ ३० ॥ यहां जो आत्म-अनात्म-विवेक बतलाया गया उससे चंचल आत्मा प्रत्यय में आ जाता है । अब अगले समास में सार-असार-विचार बतलाया गया है ॥ ३१ ॥

दूसरा समास-सारासार-विचार ।

॥ श्रीराम ॥

यह जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड का आडम्बर देख पड़ता है उसमें कौन सार है और कौन असार है-सो पहचानना चाहिए ॥ १ ॥ जो कुछ देख पड़ता है वह नाश होता है और जो आता है वह जाता है; अब सार उसीको जानना चाहिए जो सदा बना ही रहता है ॥ २ ॥ पिछले समास में जो आत्मानात्म-विवेक बतलाया गया उसमें अनात्मा को पहचान कर छोड़ दिया; और आत्मा को जानने से मूल का पता लग गया ॥ ३ ॥ परन्तु उस मूल में जो वृत्ति रह जाती है उसकी भी निवृत्ति होनी चाहिए; इसके लिए श्रोताओं को सारासार का विचार अच्छी तरह करना चाहिए ॥ ४ ॥ नित्यानित्य-विवेक किया और आत्मा को नित्य ठहराया; परन्तु उस निराकार में भी निवृत्तिरूप से हेतु (निवृत्त होने की भावना) बनी रहती है ॥ ५ ॥ यह 'हेतु' भी चंचल है; वास्तव में निश्चल निर्गुण है। सारासार के विचार से इस चंचल (आत्मभावना) का भी निरसन हो जाता है ॥ ६ ॥ यह नश्वर है, इसी लिए चंचल है। वह शाश्वत है; इसी लिए निश्चल है। निश्चल के तई चंचल अवश्य ही उड़ जाता है ॥ ७ ॥ ज्ञान और उपासना दोनों को एक ही समझो। उपासना से लोगों का, जगत् का, उद्धार होता है ॥ ८ ॥ द्रष्टा, साक्षी, ज्ञाता, ज्ञानधन, चैतन्य, और जिसकी सब पर सत्ता है वह, सब ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही है। अच्छी तरह विचार करो ॥ ९ ॥ परन्तु उस ज्ञान का भी विज्ञान हो जाता है। अनेकों मतों का अच्छी तरह विचार करो। जितना कुछ चंचल है वह सब नाश हो जाता है ॥ १० ॥ जिसके मन में अभी तक यह संदेह बना हुआ है कि, नाशवंत नाश होगा या नहीं, वह पुरुष सहसा ज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता ॥ ११ ॥ नित्य का निश्चय हो जाने पर भी यदि संदेह बना रहा तो समझ लो कि, वह महा मृगजल में बह रहा है ! ॥ १२ ॥ परब्रह्म का क्षय नहीं है वह अक्षय्य है, वह सर्वव्यापी है, उस निर्विकार में 'हेतु' या संदेह कुछ नहीं है ॥ १३ ॥ वह बहुत बड़ा और सघन है; आदि, मध्य और अन्त में भी वह अचल, अटल, पूर्ण और जैसा का तैसा बना रहता है ॥ १४ ॥ देखने में वह गगन का सा है; गगन से भी अधिक सघन है। उसमें अंजन (मल, तम या अनित्यता) नहीं है-वह निरंजन है और सदा एकसा प्रकाशित रहता है ॥ १५ ॥ चर्मचक्षु और ज्ञानचक्षु आदि तो सभी पूर्व-पक्ष हैं। निर्गुण वास्तव में अलक्ष है-लखा नहीं जा सकता ॥ १६ ॥ सर्व-

संग-परित्याग के बिना कुछ परब्रह्म नहीं हो सकते । मौन्यगर्भ (ब्रह्म) को संगत्याग करके देखना चाहिए ॥ १७ ॥ निरसन करने से सारा निकल जाता है—जितना कुछ चंचल है सब निकल जाता है—निश्चल परब्रह्म रह जाता है; वही सार है ॥ १८ ॥ आठवें देह (मूलमाया) तक का निरसन हो जाता है । साधु लोग कृपापूर्वक मुक्ति का उपाय बतलाते हैं ॥ १९ ॥ “ सोहं हंसः ” (वह परब्रह्म मैं हूँ) “ तत्त्वमसि ” (वह तू है)—यह स्थिति, विवेक से सहज ही प्राप्त होती है ॥ २० ॥ ऐसा पुरुष ऊपर ऊपर से तो साधक सा देख पड़ता है; परन्तु भीतर से परब्रह्म हो जाता है, इससे वृत्ति भी नहीं रहती । सारासार-विचार का यही फल है ॥ २१ ॥ वह परब्रह्म न तपता है, न सिराता है, न उजला होता है, न काला होता है और न मैला होता है, न साफ होता है ॥ २२ ॥ वह न भीगता है, न सूखता है, न बुझता है, न जलता है और उसे कोई ले जा नहीं सकता ॥ २३ ॥ वह न दिखता है, न भासता है, न उपजता है, न नासता है, न आता है, न जाता है ॥ २४ ॥ वह सन्मुख ही है; चारों ओर है, उसके तई दृश्यभास नहीं रहता—ऐसे निर्विकार ब्रह्म में जो लीन होता है वह साधु धन्य है ! ॥ २५ ॥ जो निर्विकल्प, अर्थात् कल्पनातीत है वही सत्-स्वरूप है, और बाकी सब असत् या भ्रमरूप हैं ॥ २६ ॥ जो खोटा छोड़ कर खरा लेता है वही परीक्षावंत कहाता है । असार छोड़ कर सार को, उस परब्रह्म को, लेना चाहिए ॥ २७ ॥ जानते जानते जानपन लीन हो जाता है और अपनी भी वृत्ति तद्रूप हो जाती है—इसीका नाम है आत्म-निवेदिनी भक्ति ॥ २८ ॥ वाच्यांश से भक्ति-मुक्ति बोलना चाहिये, लक्ष्यांश से तद्रूपा का अनुभव करना चाहिये । मनन करते करते जब ‘ हेतु ’ न रहे उसी अवस्था को तद्रूपता कहते हैं ॥ २९ ॥ सद्रूप, चिद्रूप, तद्रूप, और स्वस्वरूप—स्वस्वरूप अर्थात् अपना रूप, और अपना रूप अर्थात् अरूप यही दशा तत्त्व-निरसन के बाद होती है ॥३०॥

तीसरा समास—उत्पत्ति-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म घना और निराकार है । आकाश से भी अधिक विशाल, निर्मल निश्चल और निर्विकारी है ॥ १ ॥ बहुत समय तक ऐसा ही रहने के बाद वहां से भूगोल का आरम्भ होता है । अब उस भूगोल का मूल

सावधान होकर सुनो:— ॥ २ ॥ निश्चल परब्रह्म में चञ्चल संकल्प उठता है; उसीको आदिनारायण, जगदीश्वर, मूलमाया, तथा षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न भगवान् कहते हैं । अष्टधा प्रकृति उसीमें रहती है ॥ ३ ॥ ॥ ४ ॥ उसके बाद गुणक्षोभिणी होती है, वही त्रिगुण जन्म लेते हैं, वहां से ओंकार की उत्पत्ति होती है ॥ ५ ॥ अकार, उकार और मकार तीनों मिल कर ओंकार होता है । इसके बाद पंचभूतों का विस्तार होता है ॥ ६ ॥ अन्तरात्मा को आकाश कहते हैं, उससे वायु का जन्म होता है और वायु से तेज का जन्म होता है ॥ ७ ॥ वायु की रगड़ से अग्नि की उत्पत्ति होती है । उसमें फिर सूर्याविम्ब प्रकट होता है ॥ ८ ॥ शीतल वायु से जल उत्पन्न होता है, जल जम कर पृथ्वी होती है ॥ ९ ॥ पृथ्वी में अनन्त कोटि बीजों की जातियां होती हैं; पृथ्वी और पानी का मेल होने पर उन बीजों से अंकुर निकलते हैं ॥ १० ॥ अनेक प्रकार की वेलें होती हैं; पत्र-पुष्प होते हैं, अनेक प्रकार के स्वादिष्ट फल होते हैं ॥ ११ ॥ नाना रंग के रसीले पत्र, पुष्प, फल, मूल, धान्य, अन्न, इत्यादि होते हैं ॥ १२ ॥ अन्न से रेत (वीर्य) होता है, रेत से प्राणी उत्पन्न होते हैं—सो प्रत्यक्ष सब को मालूम ही है ॥ १३ ॥ अण्डज, जारज, खेदज, उद्भिज सब का बीज पृथ्वी और पानी है; यही सृष्टिरचना का अद्भुत चमत्कार है ॥ १४ ॥

इस प्रकार चार खानि, चार बाणी, चौरासी लाख जीवयोनि, तीन लोक, पिरण्ड, ब्रह्माण्ड सब निर्मित होते हैं ॥ १५ ॥ यों तो सम्पूर्ण अष्टधा प्रकृति मूलमाया ही में होती है; परन्तु पानी का पृथ्वी से संयोग होने पर सब जड़ चेतन जीव प्रकट होते हैं । पानी यदि न हो तो सब प्राणी मर जायें ॥ १६ ॥ इस कथन में कोई सन्देह नहीं । वेद, शास्त्र और पुराणों से इसका विश्वास कर लेना चाहिये ॥ १७ ॥ जिस पर विश्वास न आवे उस सन्देहयुक्त बात का ग्रहण न करना चाहिए । विश्वास के बिना कोई व्यवहार नहीं होता ॥ १८ ॥ प्रवृत्ति हो, चाहे निवृत्ति हो—दोनों के व्यवहार में प्रतीति चाहिए । प्रतीति के बिना जो सन्देह में पड़े रहते हैं वे विवेकहीन हैं ॥ १९ ॥

इस प्रकार यह सृष्टिरचना का विस्तार संक्षेप से बतलाया; अब इस विस्तार का संहार सुनो ॥ २० ॥ आदि से लेकर अन्त तक जो कुछ होता है सब आत्माराम ही करता है और वही यथायोग्य इसकी व्यवस्था भी करता है ॥ २१ ॥ अब आगे प्रलय का निरूपण सुनना चाहिए । यह पर यह समास पूर्ण होता है ॥ २२ ॥

चौथा समास-प्रलय-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

शास्त्रों में कहा है कि, पृथ्वी का अन्त हो जाता है और सम्पूर्ण भूत नष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥ सौ वर्ष तक अनावृष्टि रहती है, इससे सम्पूर्ण सृष्टि जल जाती है और पृथ्वी में ऐसे दरारे पड जाते हैं कि, उनमें पर्वत तक समा जाते हैं ॥ २ ॥ बारह कलाओं करके सूर्यमण्डल तपता है; किरणों से ज्वालाय निकलती हैं; सौ वर्ष तक सम्पूर्ण भूगोल जलता रहता है ॥ ३ ॥ वसुंधरा सिन्दूरवर्ण हो जाती है, शेषनाग ज्वालाओं से जल कर वेग से विष वमन करता है ॥ ४ ॥ उस विष की जो लपट छूटती है उनसे सातों पाताल जलते हैं । इस प्रकार पाताल लोक भी महापावक में भस्म होते हैं ॥ ५ ॥ इसके बाद महाभूत सन्तप्त होते हैं; प्रलय-घात छूटते हैं और चारों ओर प्रलयाग्नि बढ़ता है ॥ ६ ॥ ग्यारह रुद्र क्रुपित होते हैं, बारह सूर्य कड़कडा कर फटते हैं और, प्रलयकाल में जितने अग्नि हैं, सब एकत्र होते हैं ॥ ७ ॥ वायु और विजलियों की चोट से सारी पृथ्वी फट जाती है और उसकी सघनता चारों ओर छिन्न-भिन्न हो जाती है ॥ ८ ॥ वहाँ मेरु की क्या गिनती है? कौन किसको संभालता है? चन्द्रसूर्य और तारागणों की थकिया बंध जाती है! ॥ ९ ॥ पृथ्वी अपना वीर्य (काठिन्य) छोड़ देती है; सारी पृथ्वी दगदगाने लगती है और इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड-मट्टी एकदम जल जाती है ॥ १० ॥

इसके बाद खूब वृष्टि होती है और पृथ्वी जल में लय हो जाती है ॥ ११ ॥ जैसे भुना हुआ चूना जल में गल जाता है उसी प्रकार पृथ्वी भी फिर नहीं ठहरती । अपनी कठिनता छोड़ कर तुरन्त ही जल में मिल जाती है ॥ १२ ॥ शेष, कूर्म, वाराह के नष्ट हो जाने से पृथ्वी का आधार चला जाता है और वह अपना सत्त्व छोड़ कर जल में मिल जाती है ॥ १३ ॥ प्रलयमेघ उमड़ते हैं; वही घोर आवाज से गर्जते हैं, विजलियाँ अस्वगड रीति से कड़कडाती हैं; कोलाहल मच जाता है! ॥ १४ ॥ पर्वत के से शोले गिरते हैं, पर्वत उड़ा देनेवाली हवा चलती है, ऐसा निविड अन्धकार छा जाता है कि, जिसको उपमा ही नहीं ॥ १५ ॥ सम्पूर्ण नदियाँ और समुद्र एक हो जाते हैं; मानो आकाश से ही नदियाँ गिर रही हैं; सम्पूर्ण धाराएँ मिल जाती हैं; अन्तर नहीं रहता, पानी ही पानी हो जाता है! ॥ १६ ॥ उसमें पर्वत के समान मच्छ, कूर्म और सर्प गिरने हैं, गर्जना शोन ही जल में जल मिल जाता है ॥ १७ ॥ सातों समुद्र 'आचरण' में मिल जाते हैं; 'आवरण' का घेरा टूट जाता है, सब जल-

मय होने के बाद प्रलयपावक प्रबल होता है ॥ १८ ॥ ब्रह्माण्ड के समान तप्त लोहा जैसे जल के समूह को सोख ले वैसे ही हाल उस जल का होता है ॥ १९ ॥ अर्थात् सम्पूर्ण पानी सूख जाता है और उसके बाद फिर अग्नि ही अग्नि छा जाता है; उस अग्नि को प्रलय-वात मारता है ॥ २० ॥ जैसे अञ्चल डुलाने से दीपक बुझ जाता है वैसे ही प्रलयपावक भी बुझ जाता है ! इसके बाद असम्भवनीय वायु प्रबल होता है ॥ २१ ॥ परन्तु बहुत विस्तृत पॉलेपन में वह वायु भी लय हो जाता है और इस प्रकार यह सम्पूर्ण पञ्चभूतात्मक पसारा समाप्त हो जाता है ! ॥ २२ ॥ मूलमाया, जो महद्भूत है, वह भी अपने में ही भूल कर लय हो जाती है ! इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थमात्र के रहने को ठौर नहीं रहता ॥ २३ ॥ सम्पूर्ण दृश्य जगत् को प्रलय खा जाता है । जड़ और चञ्चल सब का लय हो जाता है और शाश्वत परब्रह्म रह जाता है ॥ २४ ॥

पाँचवाँ समाप्त-सृष्टि की कहानी ।

॥ श्रीराम ॥

कोई दो उदासीन साधु पृथ्वी पर्यटन करते थे । उन्होंने ने मनोरंजन के लिए एक कहानी छेड़ दी ॥ १ ॥ उन दो में से एक श्रोता हुआ; दूसरा वक्ता बना । श्रोता वक्ता से कहता है कि, “ भाई, कोई अच्छी सी कहानी तो सुनाओ ” । वक्ता कहता है, “ अच्छा सावधान, होकर सुनो:— ॥ २ ॥ ‘ कोई एक स्त्री-पुरुष (प्रकृति-पुरुष) थे; दोनों में बड़ा प्रेम था । वे सदा एक साथ रहते और कभी अलग न होते थे ॥ ३ ॥ इस प्रकार कुछ समय के बाद उनके एक लडका हुआ । वह लडका अच्छा कार्यकर्ता और सब विषयों में चतुर था ॥ ४ ॥ कुछ दिनों के बाद उसके भी पुत्र हुआ, वह पिता से भी अधिक उद्योगी निकला । व्यापकता में अपने पिता से आधा चतुर हुआ ॥ ५ ॥ उसने बहुत बड़ा व्यवसाय फैलाया—बहुत कन्या-पुत्र (तमाम सृष्टि) पैदा किये और नाना प्रकार से बहुत लोग इकट्ठे

१ सत्त्वगुणात्मक चेतनरूप प्रतिपालक विष्णु । २ रजोगुणी चेतन-अचेतन-मिश्रित उत्पत्तिकर्ता ब्रह्मा । ३ ‘ आधा चतुर ’ इस लिए कि ब्रह्मा में आधा भाग चेतन का और आधा अचेतन का है । ४ तमोगुणी अचेतनरूप सहारक महेश ।

॥ ६ ॥ उसका जेठा लडकॉ अज्ञान और क्रोधी हुआ; जरा सा भूलन से खूब संहार करने लगा ॥ ७ ॥ पिता (मूलपुरुष) चुप ही बैठा रहा, लडके (विष्णु) ने बहुत व्यवसाय किया; यह जेठा पुत्र सर्वज्ञ, चतुर और बहुत अच्छा हुआ ॥ ८ ॥ नाती (ब्रह्मा) उसका आधा जानता है, पनती (शंकर) कुछ भी नहीं जानता है, भूलने पर संहार करता है और क्रोधी है ॥ ९ ॥ लडका सब का पालन करता है, नाती बराबर वृद्धि करता है और पनती अकस्मात्, भूलने पर, संहार करता है ॥ १० ॥ इस प्रकार वंश बढ़ता है, बहुत ही विस्तार होता है और आनन्द के साथ बहुत समय व्यतीत होता है ॥ ११ ॥ अनन्त विस्तार बढ़ता है, बड़ों को कोई नहीं मानता, आपस में विरोध बढ़ता है ॥ १२ ॥ घर ही घर में बड़ा भारी झगडा मचता है, इससे बहुत संहार होता है, बड़ों बड़ों में बैर होता है, सब निरंकुश हो जाते हैं! ॥ १३ ॥ इसके बाद, जैसे उन्मत्तता के कारण यादों का नाश हुआ वैसे ही अज्ञानता के कारण सब का नाश हो जाता है ॥ १४ ॥ सब सत्यानाश हो जाता है—कन्या, पुत्र, इत्यादि किसी का नाम-निशान भी नहीं बचता! ॥ १५ ॥ इस हानी का जो मनन करता है वह जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है; इसकी प्रतीति से श्रोता वक्ता दोनों धन्य होते हैं ॥ १६ ॥ ऐसी विचित्र कहानी बहुत बार होती जाती है—इतना कह कर वे गोस्वामी चुप हो जाते हैं ॥ १७ ॥

यह कहानी सब को अपने हृदय में रख कर बार बार मनन करना चाहिए ॥ १८ ॥ भूलते-बिसरते, संक्षिप्त रीति से, इतना बतलाया गया; म्यूनाधिक के लिए श्रोताओं को क्षमा करना चाहिए ॥ १९ ॥ जो पुरुष ऐसी कहानी विवेक से सदा सुनते हैं, 'दास कहता है' कि, वे ही पुरुष जगत् का उद्धार करते हैं ॥ २० ॥ उस जगदुद्धार के लक्षणों का विवरण करना चाहिए। सार वस्तु ढूँढ़ कर लोगों के सम्मुख रख देना ही निरूपण है ॥ २१ ॥ निरूपण का श्रद्धापूर्वक विचार करना चाहिए; अनेक गुप्त तत्त्वों को समझना चाहिए और समझते समझते निस्सन्देह बनना चाहिए ॥ २२ ॥ आठों देहों का विवरण करके देखने से सहज ही निस्सन्देहता प्राप्त होती है और अखंड निरूपण से समाधान होता है ॥ २३ ॥ जहाँ तत्त्वों का गड़बड़ है वहाँ शान्ति कहां से मिल सकती है? इस कारण सब को इस गड़बड़ से दूर रहना चाहिए ॥ २४ ॥ इस सूक्ष्म संवाद को बार बार मनन करना चाहिए। अब, अगले समास में सावधान होकर लघुबोध सुनो ॥ २५ ॥

छठवाँ समास-लघुबोध* ।

॥ श्रीराम ॥

पहले पञ्चतत्त्वों के नामों का अभ्यास करना चाहिए; फिर, अपने अनुभव से उनका रूप जानना चाहिए ॥ १ ॥ इसके बाद इस बात का निश्चय करना चाहिए कि, शाश्वत क्या है और अशाश्वत क्या है ॥ २ ॥ पञ्चभूतों का विचार, उनके नामरूप और सारासार का निश्चय यहाँ बतलाया जाता है सो सावधान होकर सुनो:—॥ ३ ॥ पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश नाम के पाँच भूत हैं । अब इनका रूप सुनना चाहिए ॥ ४ ॥ पृथ्वी कहते हैं धरती को, आप कहते हैं पानी को और अग्नि, सूर्य, तथा अन्य जो सतेज पदार्थ हैं, उन्हें तेज कहते हैं ॥ ५ ॥ वायु हवा को कहते हैं; और इस सारे पोलेपन को आकाश कहते हैं । अब इनमें जो शाश्वत हो उसे अपने मन में विचारो ॥ ६ ॥ जैसे भात का एक सीत टटोलने से सब का मर्म मालूम हो जाता है वैसे ही थोड़े अनुभव से बहुत जानना चाहिए ॥ ७ ॥ यह तो प्रत्यक्ष मालूम है कि, पृथ्वी बनती और बिगड़ती है; सृष्टि में नाना प्रकार की रचना होती जाती है ॥ ८ ॥ और जो बनता है वह बिगड़ता है; आप (जल) भी नाश हो जाता है, तेज भी प्रगट होकर बुझ जाता है और वायु भी नहीं रहता ॥ ९ ॥ अबकाश (आकाश) नाममात्र के लिए है; सो भी, विचार करने से, नहीं रहता । पञ्चभौतिक कभी नहीं रह सकता ॥ १० ॥ ऐसा पाँच भूतों का विस्तार है; यह निश्चयपूर्वक नाशवंत है । निराकार आत्मा को सत्य और शाश्वत जानना चाहिए ॥ ११ ॥ वह आत्मा किसीको मालूम नहीं होता; विना ज्ञान के उसका आकलन नहीं होता; इस लिए उसे संतजनों से पूँछना चाहिए ॥ १२ ॥ सज्जनों से पूँछने पर वे कहते हैं कि, वह अविनाशी है । आत्मा के लिए जन्म-मृत्यु का नाम ही न लेना चाहिए ॥ १३ ॥ निराकार में आकार भासता है और आकार में निराकार भासता है—निराकार और आकार विवेक से पहचानना चाहिए ॥ १४ ॥ निराकार को नित्य और आकार को अनित्य जानना चाहिए; इसीको नित्य-अनित्य का विचार कहते हैं ॥ १५ ॥ सार में असार भासता है और असार में सार भासता है—सारासार का विचार खोज कर देखना चाहिए ॥ १६ ॥ पञ्चभौतिक मायिक है; पर अनेक रूपों से भासता है और आत्मा

* कहते हैं कि श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने श्रीमान् छत्रपति शिवाजी महाराज को शिंगणवाडी में यह लघुबोध किया ।

एक सर्वव्यापी है ॥ १७ ॥ चारों भूतों में जैसे आकाश व्याप्त है वैसे ही गगन में भी सघन (परब्रह्म) व्याप्त है । विचारपूर्वक देखने से आकाश और 'वस्तु' (परब्रह्म) अभिन्न दिखते हैं ॥ १८ ॥ उपाधि के योग से ही आकाश है, यदि उपाधि न हो तो आकाश क्या है ? वह निराभास है- और निराभास ही अविनाशी है-वैसा ही आकाश है ॥ १९ ॥

अस्तु । अब यह विवंचना बस करो । परन्तु जिसका नाश न देख पड़ता हो वही विवेक से अनुमान में लाना चाहिए ॥ २० ॥ यह विचार मुख्य जानना चाहिए कि, परमात्मा निराकार है । अब यह विचार करना चाहिए कि, 'हम' कौन हैं ॥ २१ ॥ देहान्त के समय वास्तव में वायु चला जाता है । अगर इसे भूठ समझो तो अभी श्वासोच्छ्वास रोक कर देख लो ! ॥ २२ ॥ श्वास रोकने से देहपात होता है, देहपात होते ही मुरदा हो जाता है । मुरदे से कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता ॥ २३ ॥ देह बिना वायु कुछ नहीं कर सकता, वायु बिना देह कुछ नहीं कर सकती । विचार करने से जान पड़ता है कि, एक के बिना एक कुछ नहीं कर सकता ॥ २४ ॥ यों ही देखने पर मनुष्य दिखता है, विचार करने से कुछ भी नहीं है-है वही 'वस्तु'-इस प्रकार अभेद भक्ति का लक्षण पहचानना चाहिए ॥ २५ ॥ यदि हम अपने को कर्ता कहते हैं तो हमारी इच्छा ही के अनुसार सब होना चाहिए; पर ऐसा नहीं होता; अतएव अपने को कर्ता कहना व्यर्थ है ॥ २६ ॥ और जब हम कर्ता ही नहीं हैं तब भोक्ता कैसे हो सकते हैं ? यह विचार की बात अविचार से नहीं मालूम हो सकती ॥ २७ ॥ अविचार और विचार ऐसे हैं जैसे प्रकाश और अंधकार ! विकार और निर्विकार एक नहीं हो सकते ॥ २८ ॥ जहाँ विचार नहीं है वहाँ कुछ भी नहीं चलता-सच बात ही कदापि अनुमान में नहीं आती ॥ २९ ॥ अनुभव को न्याय और वे अनुभव को अन्याय कहते हैं । जन्मान्ध पुरुष रत्नों की परीक्षा कैसे कर सकता है ? ॥ ३० ॥ इस लिए ऐसे ज्ञाता को धन्य कहना चाहिए, जो निर्गुण में अनन्य रहता है । यह परमपुरुष, आत्मनिवेदन के कारण, सब को मान्य होता है ॥ ३१ ॥

सातवाँ समास-अनुभव का विचार ।

॥ श्रीराम ॥

वह निर्मल, निश्चल और निरामास है । उसे आकाश का दृष्टान्त दिया जाता है । जो यह अवकाश या पोलापन फैला हुआ है उसीको आकाश कहते हैं ॥ १ ॥ पहले अवकाश है फिर उसमें सब पदार्थ हैं-(पहले आकाश, फिर उसमें या-उससे-चाकी चार भूत हैं।) अनुभव से देखने पर यह यथार्थ है; पर विना अनुभव के सब कुछ व्यर्थ है ॥ २ ॥ ब्रह्म निश्चल है और आत्मा चञ्चल है । आत्मा को वायु का दृष्टान्त दिया जा सकता है ॥ ३ ॥ घटाकाश ब्रह्म का दृष्टान्त है, घटविब (आकाश में) आत्मा का दृष्टान्त है । विवरण करने से दोनों का अर्थ अलग अलग है ॥ ४ ॥ जितना होता है उसे भूत कहते हैं-और जितना होता है वह सब नाश होता है । चञ्चल आता है और चला जाता है; यह जानना चाहिए ॥ ५ ॥ अविद्या जड़ है, आत्मा चञ्चल है । जड़ (अविद्या) कपूर है और आत्मा अनल (अग्नि) है-दोनों जल कर तत्काल बुझ जाते हैं ॥ ६ ॥ ब्रह्म और आकाश निश्चल जाति के हैं, आत्मा और वायु चञ्चल जाति के हैं-खरे खोटे की पहचान परीक्षावान् करते हैं ॥ ७ ॥ जड़ अनेक है, आत्मा एक है-यही आत्म-अनात्म का विवेक है । जो जगत् का व्यापार चलाता है उसे जगन्नायक कहते हैं ॥ ८ ॥ जड़ अनात्मा है, चेतन आत्मा है और सब में जो वर्तता है वह सर्वात्मा है-सब मिल कर चञ्चलात्मा है-यह निश्चल नहीं है ॥ ९ ॥ परब्रह्म निश्चल है-वहाँ दृश्य भ्रम नहीं है । विमल ब्रह्म निर्भ्रम है-अचल है ॥ १० ॥ पहले आत्म-अनात्म का विवेक मुख्य है; फिर, इसके बाद, सारासार-विचार करना चाहिए । सारासार-विचार से प्रकृति का संहार हो जाता है ॥ ११ ॥ विचार से प्रकृति का संहार हो जाता है-दृश्य रहते हुए भी नष्ट हो जाता है और अध्यात्म-श्रवण से अंतरात्मा निर्गुण में संचार करता है ॥ १२ ॥ चढता हुआ अर्थ लागने से अन्तरात्मा चढते ही जाता है और उतरे हुए अर्थ से भूमंडल में उतर आता है ॥ १३ ॥ अर्थ के अनुसार आत्मा हो जाता है; जिधर ले जाओ उधर जाता है । अनुमान से वह कभी कभी संदेह में भी पड़ता है ॥ १४ ॥ यदि निस्सन्देह अर्थ चलता है तो आत्मा भी निस्संदेह हो जाता है और अनुमान-अर्थ से अनुमानरूप हो जाता है ॥ १५ ॥ नवरसिक अर्थ होने से श्रोता नवरसिक ही हो जाते हैं और कुअर्थ होने से सब श्रोता भी कुअर्थी हो जाते हैं ॥ १६ ॥ जैसा जैसा संग होता है वैसा ही वैसा गिर्दान का रंग भी बदलता जाता है । इस लिए उत्तम मार्ग देख कर चलना चाहिए ॥ १७ ॥

उत्तम भोजनों का बखान करने से मन भी भोजनाकार ही हो जाता है । वनिता के लावण्य का वर्णन सुनने से मन उसी में जा लगता है ॥ १८ ॥ सब पदार्थ-वर्णन कहां तक बतलाया जाय ? इतने ही से समझ लेना चाहिए कि, ऐसा होता है या नहीं ॥ १९ ॥ जो जो देखा और सुना जाता है वह सब मन में दृढता से बैठ जाता है, परीक्षावंत पुरुष उसमें से हित-अनहित की परीक्षा करता है ॥ २० ॥

सब छोड़ कर केवल ईश्वर को दूँटना चाहिए; तभी कुछ मर्म मिलता है ॥ २१ ॥ ये नाना प्रकार के सुख ईश्वर ही ने बनाये हैं, परन्तु लोग उसको भूले हुए हैं, और जन्म भर भूले ही रहते हैं ॥ २२ ॥ स्वयं परमात्मा ही ने कहा है कि, सब छोड़ कर मुझे दूँटो* परन्तु लोगों ने भगवान् की बात नहीं मानी ! ॥ २३ ॥ इसी लिए तो नाना दुःख भोगते हैं-सदा कष्टी होते हैं; मन में सुख चाहते हैं; पर कहां ठिकाना है ? ॥ २४ ॥ जिससे अनेक सुख मिलते हैं उसको ये पागल भूले हुए हैं । सुख सुख कहते ही, दुख भोगते हुए, मर जाते हैं ॥ २५ ॥ चतुर मनुष्य को ऐसा न करना चाहिए, जिससे सुख हो वही करना चाहिए और ब्रह्मांड से बाहर तक ईश्वर को दूँटते जाना चाहिए ! ॥ २६ ॥ जब मुख्य ईश्वर ही प्राप्त होगया तब फिर उसे कर्मा क्या रही ? लोग पागल हैं जो विवेक को छोड़ देते हैं ॥ २७ ॥ विवेक का फल सुख है और अविवेक का फल दुःख है-अब इन दो में से जो अच्छा लगे उसे अवश्य करना चाहिए ॥ २८ ॥ कर्ता को पहचानना चाहिए, और इसीको विवेक कहते हैं-विवेक छोड़ने से परम दुखी होना पडता है ॥ २९ ॥ अस्तु । अब यह कथन बस करो । कर्ता को पहचानना चाहिए । चतुर पुरुष को अपना हित न भूलना चाहिए ॥ ३० ॥

आठवाँ समास-कर्ता कौन है ?

॥ श्रीराम ॥

श्रोता पूछता है कि, निश्चय करके कर्ता, कौन है और सब सृष्टि या ब्रह्मांड को किसने बनाया है ? ॥ १ ॥ यह सुन कर जो एक से एक अच्छे समापंडित ये उन्हींने बोलना शुरू किया । उनके बोलने का कौतुक अब

* सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरणं ब्रज । — (भगवद्गीता १८।६६) ।

श्रोता लोगों को सावधान होकर सुनना चाहिए:—॥ २ ॥ कोई कहता है कि, कर्ता ईश्वर है; कोई कहता है कि, ईश्वर कौन है ? इस प्रकार अपना अपना अभिप्राय सब बतलाने लगे ॥ ३ ॥ उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ—जिसका जैसा भाव है वह वैसा स्पष्ट बतलाते हैं । अपनी अपनी उपासना लोग श्रेष्ठ मानते हैं ॥ ४ ॥ कोई कहता है कि, कर्ता मंगलमूर्ति गणेश है, कोई कहता है कि, सरस्वती सब करती है ॥ ५ ॥ कोई कहता है कि, कर्ता भैरव है, कोई कहता है कि, खंडेराव है, कोई कहता है कि, वीरदेव कर्ता है, और कोई कहता है कि, भगवती है ॥ ६ ॥ कोई कहता है कि, नरहरी, कोई कहता है, वनशंकरी और कोई कहता है कि, सर्वकर्ता नारायण ही है ॥ ७ ॥ कोई कहता है, श्रीराम कर्ता है, कोई कहता है, श्रीकृष्ण कर्ता है और कोई कहता है कि, भगवान् केशवराज कर्ता है ॥ ८ ॥ कोई कहता है कि, पांडुरंग कर्ता है, कोई कहता है कि, श्रीरंग कर्ता है और कोई कहता है कि, भोटिंग सब करता है ॥ ९ ॥ कोई कहता है कि, 'मुंज्या' कर्ता है, कोई कहता है कि, सूर्य कर्ता है और कोई कहता है कि, अग्निदेव सब कुछ करता है ॥ १० ॥ कोई कहता है; लक्ष्मी करती है, कोई कहता है; मासती करता है और कोई कहता है कि, धरती सब कुछ करती है ॥ ११ ॥ कोई कहता है; 'तुकाई,' कोई कहता है; 'यमाई,' और कोई कहता है कि, 'सटवाई' सब करती है ॥ १२ ॥ कोई कहता है कि, भार्गव कर्ता है, कोई कहता है कि, वामन कर्ता है और कोई कहता है कि, केवल परमात्मा ही कर्ता है ॥ १३ ॥ कोई 'विरंणा' को, कोई 'वस्वंणा' को और कोई 'रेवंणा' को सब का कर्ता बतलाते हैं ॥ १४ ॥ कोई कहता है कि, 'खलया' कर्ता है, कोई कहता है, कार्तिक स्वामी कर्ता है और कोई कहता है कि, वेंकटेश सब कुछ करता है ॥ १५ ॥ कोई कहता है कि, गुरु कर्ता है, कोई कहता है कि, दत्तात्रेय कर्ता है और कोई कहता है कि, मुख्य कर्ता जगन्नाथ है ॥ १६ ॥ कोई कहता है कि, ब्रह्मा कर्ता है, कोई कहता है; विष्णु कर्ता है और कोई कहता है कि, निश्चय करके महेश कर्ता है ॥ १७ ॥ कोई कहता है कि, पर्जन्य कर्ता है, कोई कहता है; वायु कर्ता है और कोई कहता है कि, निर्गुण देव करके भी अकर्ता है ॥ १८ ॥ कोई कहता है कि, माया करती है, कोई कहता है; जीव करता है और कोई कहता है कि, प्रारब्ध-योग सब करता है ॥ १९ ॥ कोई कहता है कि, प्रयत्न करता है, कोई कहता है; स्वभाव कर्ता है और कोई कहता है; कौन जान कि, कौन करता है ! २० ॥

इस प्रकार कर्ता का प्रश्न उठते ही बाजार-सा लग जाता है । अब

कराता है ॥ १८ ॥ इसके बाद फिर हाथ से कौर उठवाता जाकर मुख पसरता है और दातां से अच्छी तरह कौर चबवा में स्वयं जिह्वा में रह कर सरस पदार्थों का स्वाद लेता है और या ककड पड जाता है तो उसी वक्त थूक देता है ! ॥ २० ॥ मालूम होने से नमक मांगता है, स्त्री को "अरी ! क्यों री ! और आखें लाल करके गुस्से के साथ देखता है ! ॥ २१ ॥ भोजन लगने से आनन्दित होता है और न अच्छा लगने से बहुत खेद करता तथा कुवचन कह कर आत्मा को दुखाता है ॥ २२ ॥ नाना प्रकार के अन्नों को मिठास और नाना रसों का स्वाद पहचानता है । कड़ू लगने पर मस्तक हिलाता है और खाँसता है ! ॥ २३ ॥ तथा क्रोध में आकर इस प्रकार कटु वचन कहता है— "बहुत मिरचे डाल दिये ! क्या बनाती है ? पत्थर" ! ॥ २४ ॥ यदि कमी बहुत घी खा जाता है तो भोजन के बाद तुरन्त ही लोटा उठा कर खूब पानी पीने लगता है ॥ २५ ॥

इस प्रकार देह में सुखदुख भोगनेवाला केवल आत्मा ही है । आत्मा के बिना देह व्यर्थ है—मुर्दा है ॥ २६ ॥ मन की अनन्त वृत्तियों को ही आत्मस्थिति जानना चाहिए । तीनों लोक में जितनी व्यक्तियाँ हैं सब में आत्मा है ॥ २७ ॥ जग में जगदात्मा है, विश्व में विश्वात्मा है और जो नाना रूप से सब का व्यापार चलाता है वह सर्वात्मा है ॥ २८ ॥ वह सूँघता है, चाखता है, सुनता है, देखता है, कोमल-कठिन पहचानता है और ठंडा या गर्म तुरन्त ही जान लेता है ॥ २९ ॥ सावधानी के सात लीला करता है, बहुत धरा-उठाई करता है; इस धूर्त (चतुर) को धूर्त ही पहचान सकता है ! ॥ ३० ॥ वायु के साथ अच्छा (परिमल) बुरा (धूल) सब कुछ आता है, पर वायु स्वयं निर्मल रहता है ॥ ३१ ॥ शीत, उष्ण, सुवास, कुवास, सब वायु के साथ रहते हैं, पर वे उसमें मिल कर नहीं रह सकते ॥ ३२ ॥ वायु के साथ रोग आते हैं, भूत दौड़ते हैं और उसीके साथ धूल और कुहरा आता है ॥ ३३ ॥ परन्तु यह कुछ भी वायु के साथ ठहरता नहीं, इसी प्रकार आत्मा के साथ वायु भी नहीं टिकता । आत्मा की चपलता वायु से अधिक है ॥ ३४ ॥ वायु कठिन पदार्थ में अड़ जाता है पर आत्मा उसमें भी भिड़ जाता है । तथापि उस कठिन पदार्थ में छेद नहीं होता ! ॥ ३५ ॥ वायु के चलते समय एक प्रकार का शब्द होता है; पर आत्मा का शब्द आदि कुछ नहीं होता । मनन करने से भीतर ही भीतर उसका चुपके से ज्ञान हो जाता है ॥ ३६ ॥ शरीर के साथ जो भलाई की जाती है वह आत्मा तक पहुँचती है । इस प्रकार शरीरयोग से उसे समाधान होता है ॥ ३७ ॥ देह को छोड़ कर चाहे जो किया जाय; पर आत्मा

तक नहीं पहुँच सकता । देह ही के योग से वासना तृप्त होती है ॥ ३८ ॥
 देह और आत्मा के ऐसे ही अनेक कौतुक हैं; पर बिना देह के आत्मा को
 अडचन पड़ती है ॥ ३९ ॥ देह और आत्मा दोनों के एकत्र होने से बहुत
 कुछ हो सकता है; परन्तु अलग रहने से कुछ भी नहीं हो सकता । देह
 और आत्मा के योग से, विवेकद्वारा, तीनों लोकों का ज्ञान हो
 सकता है ! ॥ ४० ॥

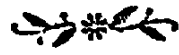
दसवाँ समास—उपदेश-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

पत्र, पुष्प, फल, बीज, पाषाण और कौड़ियों की, मालाएं सूत से गुँथी
 जाती हैं ॥ १ ॥ स्फटिक 'जहर-मुहरा,' काष्ठ, चन्दन, धातु, रत्न, आदि
 की मालाएं, जालियाँ, चन्दोवे आदि सूत से ही गुँथे जाते हैं ॥ २ ॥ सूत
 यदि न हो तो काम नहीं चल सकता । (इसी प्रकार आत्मा से सम्पूर्ण
 जगत् गुँथा हुआ है) परन्तु यहाँ, आत्मा के लिए सूत का दृष्टान्त पूरा
 पूरा नहीं लगता ॥ ३ ॥ क्योंकि सूत तो गुरिया के बीच में ही रहता है
 और आत्मा सर्वांग में समानरूप से व्याप्त रहता है ॥ ४ ॥ इसके सिवाय
 आत्मा स्वाभाविक ही चपल है; और सूत जड़ निश्चल है! अतएव यह
 उपमा नहीं लगती ॥ ५ ॥ अस्तु । अनेक बेलियों में जल का भाग भरा
 रहता है, ईखों में भी रस भरा होता है; परन्तु रस और उनका बकला
 कुछ एक नहीं है ॥ ६ ॥ इसी प्रकार देही (आत्मा) और देह (अनात्मा)
 दोनों भिन्न भिन्न हैं—और इन दोनों से भिन्न निरञ्जन और निरुपम परमात्मा
 है ॥ ७ ॥ राजा से लेकर रंक तक सब मनुष्य ही हैं; पर सब को एक
 ही समान कैसे कर सकते हैं? देव, दानव, मानव, नीच योनि, हीन
 जीव, पापी, सुकृती आदि बहुत से हैं ॥ ८ ॥ एक ही अंश से जगत्
 चलता है; पर सामर्थ्य सब का अलग अलग है । एक के साथ में मुक्ति
 मिलती है, एक के साथ से रौरव नरक मिलता है ! ॥ ९ ॥ शक्कर और
 मिट्टी दोनों पृथ्वी के अंश हैं; पर मिट्टी नहीं खाई जा सकती; चिप क्या
 जल नहीं है? पर वह बुरी चीज है ॥ ११ ॥ 'पुण्यात्मा' और 'पापात्मा'
 दोनों में 'आत्मा' लगा है—इसी तरह कोई साधु है, कोई भौंदू है, पर सब

की मर्यादा अलग अलग है, वह छूट नहीं सकती है ॥ १२ ॥ यह बात सच है कि, सब का अंतरात्मा एक ही है, पर डोम साथ में नहीं लिया जा सकता । पंडित और ' लौंडे ' एक कैसे हो सकते हैं ? ॥ १३ ॥ मनुष्य और गधे, राजहंस और मुर्गे; राजा लोग और बन्दर एक कैसे हो सकते हैं ? ॥ १४ ॥ भागीरथी का जल भी आप है, मोरी और गढ़े का पानी भी आप है; परन्तु मैला पानी थोड़ा भी नहीं पिया जा सकता ॥ १५ ॥ इस कारण पहले तो आचारशुद्ध, फिर विचार-शुद्ध, वीतरागी और सुबुद्ध होना चाहिए ॥ १६ ॥ शूरों को छोड़ कर यदि डरपोंकों की भरती की जाय तो युद्ध के अवसर पर अवश्य हार होगी । श्रीमान् को छोड़ कर दरिद्री की सेवा करने से क्या हाल होगा ? ॥ १७ ॥ यह सच है कि, एक ही पानी से सब हुआ है; पर देख कर सेवन करना चाहिए; एक तरफ से सभी सेवन करना मूर्खता है ॥ १८ ॥ पानी से ही अन्न हुआ है और अन्न का वमन होता है । पर वमन का भोजन नहीं किया जा सकता ॥ १९ ॥ इसी प्रकार निन्दनीय बात छोड़ देना चाहिए और प्रशंसनीय बात हृदय में रखना चाहिए, तथा सत्कीर्ति से भूमंडल को भर देना चाहिए ॥ २० ॥ उत्तम को उत्तम अच्छा लगता है, निकृष्ट को वह अच्छा नहीं लगता-
 लिए ईश्वर ने उसको अभागी बना रखा है ॥ २१ ॥ सारा अभागीपन छोड़
 चाहिए, उत्तम लक्षण ग्रहण करना चाहिए, हरिकथा, पुराण-श्रवण,
 ति, न्याय, आदि का स्वीकार करना चाहिए ॥ २२ ॥ विवेकपूर्वक
 चलाना चाहिए; सब लोगों को राजी रखना चाहिए और धीरे धीरे सब
 को पुण्यात्मा बनाते रहना चाहिए ॥ २३ ॥ जैसे बालक के साथ, उसकी
 ही चाल से चलना पड़ता है और जैसा उसको रुचता है वैसा ही बोलना
 पड़ता है, वैसे ही धीरे धीरे लोगों को सिखला कर चतुर बनाना चाहिए
 ॥ २४ ॥ सच तो यह है कि, सब का मन रखना चाहिए । यही सब
 चतुरता के लक्षण है । जो चतुर है वह चतुरों के अंग जानता है, अन्य
 लोग पागल हैं ॥ २५ ॥ परन्तु पागल को ' पागल ' भी न कहना चाहिए,
 मर्म की बात कभी न बोलना चाहिए, तभी निस्पृह पुरुष दिग्विजय कर
 सकता है ॥ २६ ॥ अनेक स्थलों में, अनेक अवसरों को जान कर, यथोचित
 वर्ताव करना चाहिए और प्राणिमात्र का अंतरंग (अभिन्नहृदय मित्र) हो
 जाना चाहिए ॥ २७ ॥ एक दूसरे को राजी न रखने से सभी को तकलीफ
 होती है । एक दूसरे का मन तोड़ने से कुशल नहीं होती ॥ २८ ॥ अतएव
 जो सब का मन प्रसन्न रखता है वही सच्चा महन्त है-और उसीकी ओर
 सब लोग आकर्षित होते हैं ॥ २९ ॥

चौदहवाँ दशक ।



पहला समास—निस्पृह-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

निस्पृह की युक्ति, बुद्धि और चतुराई का सिखापन सुनो । इससे सदा समाधान रहता है ॥ १ ॥ जैसे मन्त्र सहज और फलदायक हों, श्लोकाधियां साधारण और गुणदायक हों, वैसे ही मेरे वचन सादे और अनुभवयुक्त हैं ॥ २ ॥ इनसे अवगुण तत्काल ही चले जाते हैं और उत्तम गुण प्राप्त होते हैं; इस लिए ये तीव्र श्लोकाधिरूपी वचन श्रोताओं को ध्यानपूर्वक सेवन करना चाहिए ॥ ३ ॥ पहले तो निस्पृहता रखना ही न चाहिए और यदि रख ली ही तो छोड़ना न चाहिए और यदि छोड़ दी हो तो पहचानवालों में घूमना न चाहिए ॥ ४ ॥ कांता को दृष्टि में न रखना चाहिए, कान्ता-विषय का स्वाद मन को न चखाना चाहिए और यदि धैर्य का भंग हो जाय तो लोगों में फिर अपना मुख न दिखाना चाहिए ॥ ५ ॥ एक स्थल में न रहना चाहिए, संकोच न रखना चाहिए और मोह में फँस कर द्रव्य या दारा की तरफ न देखना चाहिए ॥ ६ ॥ आचार भ्रष्ट न होना चाहिए, यदि कोई द्रव्य दे तो न लेना चाहिए और अपने उपर कोई दोष न आने देना चाहिए ॥ ७ ॥ मित्रा माँगने में लज्जा न करनी चाहिए, बहुत मित्रा न लेना चाहिए और पूछने पर भी अपनी पहचान न देना चाहिए ॥ ८ ॥ सजा हुआ और मलीन वस्त्र न पहनना चाहिए, मिष्टान्न न खाना चाहिए, दुराग्रह न करना चाहिए और मौका देख कर चलना चाहिए ॥ ९ ॥ भोग में मन न रखना चाहिए, देहसुख से घबडाना न चाहिए और आगे जीवन की आशा न रखनी चाहिए ॥ १० ॥ विरक्ति न छूटने देना चाहिए, धैर्य भंग न होने देना चाहिए और विवेकबल से ज्ञान मलीन न होने देना चाहिए ॥ ११ ॥ करुणा-कीर्तन छोड़ना न चाहिए, अन्तर-ध्यान मोड़ना न चाहिए और सगुण मूर्ति का प्रेमतन्तु तोड़ना न चाहिए ॥ १२ ॥ मन में चिन्ता न रखना चाहिए, कष्ट में खेद न मानना चाहिए और कुछ भी हो; समय पर धैर्य न छोड़ना चाहिए ॥ १३ ॥ अपमान होने से बुरा न मानना चाहिए;

कोई ताना मारे तो दुख न करना चाहिए और कुछ भी हों, धिक्कारने पर, खेद न करना चाहिए ॥ १४ ॥ विरक्त पुरुष को लोकलाज न रखना चाहिए, लज्जित करने से लजाना न चाहिए और खिझाने से खिझना न चाहिए ॥ १५ ॥ शुद्ध मार्ग न छोड़ना चाहिए, दुर्जन से वाद न करना चाहिए, और चांडाल से सम्बन्ध न पड़ने देना चाहिए ॥ १६ ॥ तापटपन न रखना चाहिए, भगडाने से भगड़ना न चाहिए और अपनी निजस्थिति उड़ने न देना चाहिए ॥ १७ ॥ हँसाने से हँसना न चाहिए, बुलाने से बोलना न चाहिए और क्षण क्षण में चलाने से चलना न चाहिए ॥ १८ ॥ एक वेष न रखना चाहिए, एक ही साज से न रहना चाहिए और एक-देशीय न होकर, सर्वत्र भ्रमण करते रहना चाहिए ॥ १९ ॥ किसी का दृढ संसर्ग न होने देना चाहिए, दान न लेना चाहिए और सभा में सब समय न बैठना चाहिए ॥ २० ॥ शरीर के साथ कोई नेम न लगा लेना चाहिए, किसी को भरोसा न देना चाहिए और किसी निश्चित बात का अंगीकार न करना चाहिए ॥ २१ ॥ नित्यनेम न छोड़ना चाहिए, अभ्यास न डूबने देना चाहिए और कुछ भी हों, परतन्त्र न होना चाहिए ॥ २२ ॥ स्वतन्त्रता मोड़ना न चाहिए, निरपेक्षता तोड़ना न चाहिए और क्षण क्षण में परापेक्ष न होना चाहिए ॥ २३ ॥ वैभव दृष्टि से देखना न चाहिए, उपाधिसुख में रहना न चाहिए और स्वरूपस्थिति का ध्यान न मोड़ने देना चाहिए ॥ २४ ॥ अनर्गलता (स्वेच्छाचार) न करना चाहिए, लोकलाज न रखना चाहिए और कभी कहीं आसक्त न होना चाहिए ॥ २५ ॥ परम्परा न तोड़ना चाहिए, उपासनामार्ग की उपाधि न मोड़ने देना चाहिए और ज्ञानमार्ग कभी न छोड़ना चाहिए ॥ २६ ॥ कममार्ग न छोड़ना चाहिए, वैराग्य न मोड़ने देना चाहिए और साधन तथा भजन का कभी खण्डन न करना चाहिए ॥ २७ ॥ बहुत वाद-विवाद, न करना चाहिए, अनित्य बात मन में न रखना चाहिए और व्यर्थ क्रोध से हठ न करना चाहिए ॥ २८ ॥ जो न माने उसे बतलाना न चाहिए, घबड़ाहट लानेवाली बातें न करना चाहिए और एक जगह बहुत दिन न रहना चाहिए ॥ २९ ॥ कुछ उपाधि न फैलाना चाहिए, यदि फैलाई हो तो रखना न चाहिए और यदि रखी हो तो उसमें फँसना न चाहिए ॥ ३० ॥ बड़प्पन से न रहना चाहिए, महत्व रख कर न बैठना चाहिए और कहीं भी कुछ मन की इच्छा न करना चाहिए ॥ ३१ ॥ सादापन (सादगी) न छोड़ना चाहिए, छोटापन न मोड़ना चाहिए और बलात् अपने शरीर में अभिमान न लाना चाहिए ॥ ३२ ॥ अधिकार बिना न बोलना चाहिए, डाँट कर उपदेश न देना चाहिए और परमार्थ को कभी संकुचित न

रखना चाहिए ॥ ३३ ॥ कठिन वैराग्य न छोड़ना चाहिए, कठिन अभ्यास न छोड़ना चाहिए और किसीके विषय में कठिनता न रखनी चाहिए ॥ ३४ ॥ कठोर वचन न बोलना चाहिए, कठिन आज्ञा न करनी चाहिए, और कुछ भी हो, कठिन धैर्य न छोड़ना चाहिए ॥ ३५ ॥ स्वयं आसक्त न होना चाहिए, किये बिना कहना न चाहिए और शिष्यवर्गों से बहुत कुछ माँगना न चाहिए ॥ ३६ ॥ उद्धत शब्द न बोलना चाहिए, इन्द्रियों का स्मरण न करना चाहिए और स्वच्छन्दता से शाक्त मार्ग में न चलना चाहिए ॥ ३७ ॥ नीच कृति में लजाना न चाहिए, वैभव में मस्त न हो जाना चाहिए और जानबूझ कर क्रोध में न आना चाहिए ॥ ३८ ॥ बड़प्पन में भूलना न चाहिए, न्यायनीति छोड़ना न चाहिए और कुछ भी हो, अप्रामाणिक वर्तव न करना चाहिए ॥ ३९ ॥ बिना जाने कहना न चाहिए, अनुमान से निश्चय न करना चाहिए और मूर्खता से कहने का बुरा न मानना चाहिए ॥ ४० ॥ सावधानी न छोड़ना चाहिए, व्यापकता न छोड़ना चाहिए और आलस में सुख न मानना चाहिए ॥ ४१ ॥ मन में विकल्प न रखना चाहिए, स्वार्थ की आज्ञा न देना चाहिए और यदि दी हो तो अपने को आगे न करना चाहिए ॥ ४२ ॥ प्रसंग बिना बोलना न चाहिए, क्रम छोड़ कर जाना न चाहिए और बिना विचारे, अविचारपंथ में, न जाना चाहिए ॥ ४३ ॥ परोपकार न छोड़ना चाहिए, परपीड़ा न करनी चाहिए और किसीके विषय में मन मैला न करना चाहिए ॥ ४४ ॥ भोलापन न छोड़ना चाहिए, महंती न छोड़ना चाहिए और द्रव्य के लिए 'कीर्तन' करते हुए न घुमना चाहिए ॥ ४५ ॥ संशयात्मक न बोलना चाहिए, बहुत निश्चय न करना चाहिए और ग्रन्थ समझे बिना उसे दूसरे को समझाने के लिए हाथ में न लेना चाहिए ॥ ४६ ॥ जानबूझ कर पूछना न चाहिए अहंभाव प्रगट न करना चाहिए और किसीसे यह न कहना चाहिए कि बताऊंगा ॥ ४७ ॥ ज्ञानगर्व न रखना चाहिए, सहसा किसीको कष्ट न देना चाहिए और किसीसे कहीं वाद न करना चाहिए ॥ ४८ ॥ स्वार्थबुद्धि न रखना चाहिए, कारबार में न पड़ना चाहिए और राजद्वार में कार्यकर्ता न बनना चाहिए ॥ ४९ ॥ किसीको भरोसा न देना चाहिए; जो भिक्षा न दी जा सके वह न माँगना चाहिए और भिक्षा के लिए अपनी परम्परा न बतलाना चाहिए ॥ ५० ॥ व्याह-शादी के काम में और मध्यस्थी के काम में न पड़ना चाहिए । 'प्रपंच' की उपाधि, शरीर के साथ न लगाना चाहिए ॥ ५१ ॥ प्रपंच के झगड़े में न पड़ना चाहिए, बुरा अन्न न खाना चाहिए और पाहुने के समान निमंत्रण न लेना चाहिए ॥ ५२ ॥ श्राद्ध-पक्ष, छठी, छमछी (छमासी), रोग आदि की शान्ति, बर्सा, मानगन, व्रत, उद्यापन,

आदि में निस्पृह को न जाना चाहिए—वहाँ का अन्न न खाना चाहिए और अपने को दीन न बनाना चाहिए ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ लग्न-प्रसंग में न जाना चाहिए, पेट के लिए न गाना चाहिए और धन लेकर कहीं भी कीर्तन न करना चाहिए ॥ ५५ ॥ अपनी भिन्ना न छोड़ना चाहिए, पाली पाली से अन्न न खाना चाहिए और निस्पृह को मूल्य लेकर कोई सुकृत न करना चाहिए, तनखाह लेकर पुजारी न बनना चाहिए और इनाम या जागीर यदि कोई देता भी हो, तो भी निस्पृह को न लेना चाहिए ॥ ५७ ॥ कहीं मठ बनाना न चाहिए, यदि बनाया हो तो उसे पकड़ कर रहना न चाहिए, निस्पृह पुरुष को मठाधिपति बन कर न बैठना चाहिए ॥ ५८ ॥

मुख्य बात यह है कि, निस्पृह को सब कुछ करना चाहिए; पर स्वयं उसमें फँसना न चाहिए और अलग रह कर ही भक्तिमार्ग को स्थापित करना चाहिए ॥ ५९ ॥ प्रयत्न विना न रहना चाहिए, आलस दृष्टि में न लाना चाहिए और देह रहते हुए उपासना का वियोग न सहना चाहिए ॥ ६० ॥ उपाधि में पड़ना न चाहिए, उपाधि शरीर में लगाना न चाहिए और अव्यवस्थित होकर भजनमार्ग मोड़ना न चाहिए ॥ ६१ ॥ बहुत उपाधि न करना चाहिए, पर उपाधि विना भी काम नहीं चलता । सगुण-भक्ति छोड़ना न चाहिए; परन्तु ईश्वर से विभक्त होकर रहना भी अच्छा नहीं ॥ ६२ ॥ बहुत दौड़ना न चाहिए, पर एक जगह भी बहुत न रहना चाहिए, बहुत कष्ट न सहना चाहिए, पर बहुत आलस में रहना भी अच्छा नहीं ॥ ६३ ॥ बहुत बोलना न चाहिए, पर विना बोले भी काम नहीं चलता । बहुत अन्न न खाना चाहिए, पर उपवास भी अच्छा नहीं ॥ ६४ ॥ बहुत सोना न चाहिए, पर बहुत निद्रा मोड़ना भी न चाहिए । बहुत नेम न रखना चाहिए, और न विलकुल अनियमित हो रहना चाहिए ॥ ६५ ॥ बहुत लोगों में न रहना चाहिए, बहुत वनवास भी न करना चाहिए । देह को बहुत न पालना चाहिए, पर आत्महत्या कर लेना भी बुरा है ॥ ६६ ॥ बहुत संग न करना चाहिए, परन्तु संतसंग न छोड़ना चाहिए । कर्मठपन से काम नहीं चलता, पर अनाचार भी अच्छा नहीं है ॥ ६७ ॥ लोकाचार बहुत न छोड़ना चाहिए, परन्तु लोगों के अधीन होकर भी न रहना चाहिए, बहुत प्रीति न करना चाहिए; पर निष्ठुरता रखना भी अच्छा नहीं ॥ ६८ ॥ बहुत संशय न रखना चाहिए; परन्तु बहुत स्वच्छन्द भी न रहना चाहिए, बहुत साधनों में न पड़ना चाहिए; पर विना साधन रहना भी अच्छी बात नहीं है ॥ ६९ ॥ बहुत विषय न भोगना चाहिए, पर विलकुल विषय-त्याग किया नहीं जा सकता । देह से मोह न रखना चाहिए, पर बहुत कष्ट भी न सहना चाहिए ॥ ७० ॥ अलग रह कर

अनुभव न लेना चाहिए; पर विना अनुभव लिए रहना न चाहिए। आत्मा स्थिति बतलाना न चाहिए; पर विलकुल स्तब्धता भी अच्छी नहीं ॥ ७१ ॥ मन न रहने देना चाहिए—उन्मन होना चाहिए, पर मन विना काम नहीं चलता। अलक्ष 'वस्तु' लक्ष में नहीं आती; पर उसे लखे विना रहना भी अच्छा नहीं ॥ ७२ ॥ वह मन बुद्धि से अगोचर है; पर मन-बुद्धि के विना उसका ज्ञान भां नहीं होता। जानपन भूलना चाहिए; परन्तु अजानपन भी अच्छा नहीं ॥ ७३ ॥ ज्ञातापन न रखना चाहिए, पर ज्ञान विना काम नहीं चलता। अतर्क्य वस्तु तर्क में नहीं आती; पर तर्क विना रहना अच्छा नहीं ॥ ७४ ॥ दृश्य का स्मरण करना अच्छा नहीं; पर विस्मरण भी न होने देना चाहिए। कुछ चर्चा न करना चाहिए, पर विना चर्चा किये भी काम नहीं चलता ॥ ७५ ॥ लोगों में भेद न मानना चाहिए; पर वर्णसंकर भी न करना चाहिए। अपना धर्म न छोड़ना चाहिए; पर धर्माभिमान भी अच्छा नहीं ॥ ७६ ॥ आशावद्ध बात न बोलना चाहिए, विवेक विना न चलना चाहिए और कुछ भी हो, शान्तिभंग न होने देना चाहिए ॥ ७७ ॥ अद्वयवस्थित पोथी न लिखना चाहिए, पर विना पोथी के भी काम नहीं चलता। अद्वयवस्थित न पढ़ना चाहिए, पर विना पढ़े रहना भी अच्छा नहीं ॥ ७८ ॥ निस्पृह को वक्तृत्व न छोड़ना चाहिए; परन्तु शंका निकालने पर विवाद भी न करना चाहिए और श्रोताओं को बात का बुरा न मानना चाहिए ॥ ७९ ॥ यह उपदेश मन में रखने से सब सुख मिलते हैं और महन्तपन के लक्षण आप ही आप आ जाते हैं ॥ ८० ॥

दूसरा समास—भिक्षा-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

ब्राह्मण की मुख्य दीक्षा यह है कि, भिक्षा माँगना चाहिए और “ औ-भवति-पक्ष ” की रक्षा करना चाहिए ॥ १ ॥ भिक्षा माँग कर जो खाता है वह निराहारी कहलाता है और वह भिक्षा माँगने के कारण प्रतिग्रह (के दोष) से बच जाता है ॥ २ ॥ सज्जन हो, चाहे असज्जन हो—उसके यहाँ जो पुरुष रूखा अन्न माँग कर भोजन करता है वह मानो रोज अमृत-पान करता है:- ॥ ३ ॥

भिन्नाहारी निराहारी, भिन्ना नैव प्रतिग्रहः ।

असतो वापि संतो वा, सोमपानं दिने दिने ॥

ऐसी भिन्ना की महिमा है । भिन्ना माँगना सर्वोत्तम ईश्वर को भी पसन्द है । बड़े बड़े सिद्ध योगी तक भिन्ना माँगते हैं ॥ ४ ॥ दत्तात्रेय, गोरखनाथ आदि सिद्ध पुरुषों ने भी लोगों में भिन्ना माँगी है । भिन्ना से निस्पृहता प्रगट होती है ॥ ५ ॥ कोई कोई वार लगा कर भिन्ना ग्रहण करते हैं; परन्तु यह परार्थीनता की बात हुई; तथा रोज एक ही घर से भिन्ना ग्रहण करने में भी स्वतंत्रता नहीं रहती ॥ ६ ॥ आठ आठ दिन के लिए अन्न जमा कर रखना भी अच्छा नहीं है । ऐसा करने से नित्य नूतनता का आनन्द नहीं मिलता ॥ ७ ॥ नित्य नूतन नूतन स्यानों में घूमना चाहिए, खूब देशाटन करना चाहिए—तभी भिन्ना माँगने में शोभा है आर तभी प्रशंसा होती है ॥ ८ ॥ जिसे भिन्ना माँगने का अखण्ड अभ्यास है उसे परदेश कहीं नहीं जान पड़ता, जहाँ देखो वहाँ, तीनों लोक, उसके लिए स्वदेश ही हैं ॥ ९ ॥ भिन्ना माँगने में खिझना न चाहिए, लजाना न चाहिए, थकना न चाहिए—परिभ्रमण करना चाहिए ॥ १० ॥ जो पुरुष अनेकों चमत्कार करता है, सदा भगवान् की कीर्ति वर्णन करता है, ऐसे पुरुष को, निस्पृहता क साथ, भिन्ना माँगते हुए देख कर छोटे-बड़े सब लोग चकित होते हैं ॥ ११ ॥ भिन्ना कामधेनु है । उससे सदा फल मिलता है । वह कोई सामान्य बात नहीं है । जो भिन्ना को अमान्य करता है वह जोगी अभागी है ॥ १२ ॥ भिन्ना से पहचान होती है, भिन्ना से भ्रम मिटता है और साधारण भिन्ना सब स्वीकार कर लेते हैं ॥ १३ ॥ भिन्ना एक प्रकार की निर्भयस्थिति है, भिन्ना से महंती प्रगट होती है । भिक्षा के द्वारा स्वतंत्रता मिलती और ईश्वरप्राप्ति होती है ॥ १४ ॥ भिन्ना में किसी प्रकार की रोक-टोक या बाधा नहीं है, भिन्नाहारी सदा स्वतंत्र रहता है । भिन्ना के द्वारा समय को सार्थक कर सकते हैं ॥ १५ ॥ भिन्ना अमरवेलि है । यह फल-फूल से लदी हुई है । यह कुसमय आ पड़ने पर निर्लज्ज पुरुष को फलदायक होती है ॥ १६ ॥ पृथ्वी में अनेक देश हैं, घूमने से कोई भूखों नहीं मर सकता—वह कहीं भी लोगों को खल नहीं सकता ॥ १७ ॥ गोरज्य, (गौवं रखना) वाणिज्य और कृषि से भी अधिक भिन्ना की प्रतिष्ठा है । भोली को कभी न छोड़ना चाहिए ॥ १८ ॥ भिन्ना के समान अन्य वैराग्य नहीं है और वैराग्य के समान अन्य सौभाग्य नहीं है । वैराग्य न होने से, एकदेशीय होने के कारण, अभाग्य बना रहता है ॥ १९ ॥ यह पूछने पर कि “कुछ भिन्ना है?” यदि कोई बहुत भिन्ना देने लगे तो, अल्पसंतोषी रह कर, सिर्फ एक मुठी

ले लेना चाहिए ॥ २० ॥ आनन्द-पूर्वक भिन्ना माँगना चाहिए । यही निस्पृ-
हता के लक्षण हैं । मधुर वचन से सब को सुख होता है ॥ २१ ॥ ऐसी
भिन्ना की यह श्रल्प स्थिति यथामति बतला दी । भिन्ना समय-कुसमय
आनेवाली विपत्ति को बचा देती है ॥ २२ ॥

तीसरा समास—काव्य-कला ।

॥ श्रीराम ॥

शब्द-सुमन-मालारूप कविता के सुन्दर सुगन्धित परिमलरूप अर्थ से
सन्तजनरूप भ्रमर समूह को आनन्द प्राप्त होता है ॥ १ ॥ ऐसी माला अन्तः-
करण में गूँथ कर राम-चरणों की पूजा करो । ओंकार-तन्तु अखंडित
रखना चाहिए—उसका कमी खंडन न करना चाहिए ॥ २ ॥ परोपकार के
लिए कविता करना आवश्यक है । ऐसी कविता के लक्षण बतलाते हैं
॥ ३ ॥ पहले ऐसी कविता का अभ्यास बढ़ाना चाहिए कि, जिसके द्वारा
भगवद्भक्ति और विरक्ति उत्पन्न हो ॥ ४ ॥ परन्तु आचरण के बिना कोरे
शब्दज्ञान को सज्जन पुरुष कभी पसन्द नहीं करते; अतएव (कविता का
अभ्यास करने के पहले) अनुताप के द्वारा—करुणार्द्र हृदय से—परमात्मा
को प्रसन्न कर लेना चाहिए ॥ ५ ॥ क्योंकि परमात्मा की प्रसन्नता से—ईश्वरीय
स्फूर्ति से—जितना कुछ मुख से निकलता है वही श्लाघनीय है—और उसीको
प्रासादिक कह सकते हैं ॥ ६ ॥

लोगों की सम्मति से तीन प्रकार की कविता कही है:—(१) ढीठ
(धृष्ट) • (२) पाठ; और (३) प्रासादिक । अब इन तीनों का क्रमशः
विचार किया जाता है ॥ ७ ॥ कोई कोई, ढिठाई से जो कुछ मन में आता
है उसी पर बलात् कविता बनाते हैं; उसे 'ढीठ-कविता' कहते हैं ॥ ८ ॥
किसी किसीको अनेक काव्य-ग्रन्थों के पढ़ने से बहुत सी कविता पाठ हो
जाती है और उसीको अदल बदल कर वे अपनी कविता बना लेते हैं;
ऐसी कविता को "पाठ-कविता" कहते हैं ॥ ९ ॥ कुछ लोग शीघ्र ही
कविता करने लगते हैं; जो कुछ सामने आ जाता है उसीका वर्णन करने
लगते हैं, भक्तिरहित तुकबन्दी जोड़ते हैं; ऐसी कविता को ढीठ-पाठ कविता
कहना चाहिए ॥ १० ॥ कामिक, रसिक शृंगारिक, वीर, हास्य, प्रस्ता-
विक, कौतुक और विनोद आदि विषयों की कविता ढीठ-पाठ कहलाती
है ॥ ११ ॥ जब मन कामातुर हो जाता है तब उद्गार भी वैसे ही निकलते

हैं; परन्तु इस ढीठ-पाठ कविता से जन्म सफल नहीं हो सकता ॥ १२ ॥
 उदरशान्ति होने के लिए नरस्तुति करनी पडती है । ऐसी नरस्तुति में जो
 काव्यकौशल दिखाया जाता है उसे ढीठ-पाठ कहते हैं ॥ १३ ॥ परन्तु
 कवित्व ढीठ-पाठ न होना चाहिए, कवित्व में खटपट न होनी चाहिए
 और पाखंड-मत-पूर्ण या उद्धट कविता भी न होनी चाहिए ॥ १४ ॥ कविता
 चादपूर्ण, रसहीन, कर्कश और दृष्टान्तहीन न होनी चाहिए ॥ १५ ॥ कविता
 में अनावश्यक विस्तार और सारहीन विषय न होना चाहिए । कुटिल को
 सम्बोधन करके भी कविता न लिखनी चाहिए ॥ १६ ॥ कविता हीन न
 होनी चाहिए, कच्चा हुआ ही फिर न कहना चाहिए, छन्दोभंग न करना
 चाहिए और कविता लक्षणरहित न होनी चाहिए ॥ १७ ॥ व्युत्पत्तिहीन,
 तर्कहीन, कलाहीन, शब्दहीन, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-हीन कविता न होनी
 चाहिए ॥ १८ ॥ भक्तिहीन कविता को सिर्फ ढोंग समझना चाहिए
 नीरस वक्तृता घबडाहट उत्पन्न करती है ॥ १९ ॥ भक्ति बिना जो कुछ
 बोला जाता है वह एक प्रकार का स्वांग है । प्रीति के बिना कहीं संवाद
 हो सकता है? ॥ २० ॥ अस्तु । ढीठ और पाठ कविता करना सिर्फ
 मिथ्या अहंता का पागलपन है । श्रव प्रासादिक काव्य के लक्षण बतलाते
 हैं — ॥ २१ ॥

जिसे खी और धन आदि से घृणा हो जाती है और अन्तःकरण में
 परमात्मा का ध्यान लग जाता है ॥ २२ ॥ जो निरन्तर भगवत्प्रेम में रँग
 रहता है और भगवद्भजन का उत्साह जिसका “ दिन दूना रात चौगुना ”
 बटता जाता है ॥ २३ ॥ जो भगवद्भजन बिना एक क्षण भी नहीं जा
 देता और जिसका अन्तःकरण सदा भक्तिरंग में रँग रहता है ॥ २४ ॥
 और जिसके अन्तःकरण में अचल और शान्त-स्वरूप भगवान् वार
 करता है—ऐसा पुरुष स्वाभाविक ही जो कुछ बोलता है वह ब्रह्मनिरूप
 ही है ॥ २५ ॥ हृदय में गोविन्द का निवास होने के कारण उसे भक्ति
 का चसका लग जाता है और भक्ति को छोड़ कर वह अन्य कुछ बोलत
 ही नहीं ॥ २६ ॥ जिस विषय में हृदय से प्रीति होती है वही उसका
 वाणी बोलता है । वह भक्तिभाव से करुणा-कीर्तन करता है और प्रेम
 आकर नाचता है ॥ २७ ॥ मन भगवान् में लग जाता है, इससे देहभा
 में नहीं रहता; तथा शका और लज्जा भी दूर भग जाती है ॥ २८ ॥ व
 प्रेमरंग में रँग जाता है, भक्तिमद में मतवाला हो जाता है और अहंभा
 को पैरों के नीचे डाल देता है ॥ २९ ॥ निश्चिंक होकर गाता और नाचत
 है । उसे लोग कहां देख पडते हैं? उसकी दृष्टि में तो वह त्रैलोक्यनाथ
 वास करने लगता है? ॥ ३० ॥ ऐसा जो भगवान् में रँग जाता है उसे

और किसी बात की आवश्यकता नहीं रहती । वह स्वच्छा से भगवान् के रूप, कीर्ति और प्रताप का वर्णन करने लगता है ॥ ३१ ॥ वह भगवान् के नाना रूप, मूर्ति, प्रताप और अनन्त कीर्ति का वर्णन करता है । नर-स्तुति उसे तृण के समान तुच्छ जान पडती है ॥ ३२ ॥ अस्तु; ऐसा भगवद्भक्त जो विरक्त होकर संसार में रहता है उसे साधुजन मुक्त मानते हैं ॥ ३३ ॥ वह अपनी भक्ति का रसाल वर्णन करता है उसीको 'प्रासादिक कविता' कहते हैं । वह साधारण ही जो कुछ बोलता है उसमें विवेक भरा रहता है ॥ ३४ ॥

अस्तु । अब साधारण तौर पर कविता का लक्षण फिर से बतलाते हैं; सुनिये । इससे श्रोताओं का हृदय सन्तुष्ट होगा :- ॥ ३५ ॥ कविता निर्मल, सरल, स्पष्ट, और क्रमानुसार होनी चाहिए ॥ ३६ ॥ कविता भक्तिबलयुक्त, अर्थप्रचुर और अहन्ता-रहित होनी चाहिए ॥ ३७ ॥ कविता कीर्ति से भरी हुई, रम्य, मधुर और विस्तृत प्रतापवाली होनी चाहिए ॥ ३८ ॥ कविता सरल, संक्षिप्त और सुलभ पद्यात्मक होनी चाहिए ॥ ३९ ॥ कविता मृदु, मंजुल, कोमल, भव्य, अद्भुत, विशाल, सुहावनी, मधुर और मक्तिरस से रसाल होनी चाहिए ॥ ४० ॥ अक्षरबन्ध, पदबन्ध, माना चालुर्य के प्रबन्ध, नाना प्रकार के कौशल, छन्दबन्ध, धाटी, मुद्रा, आदि अनेक बातें काव्य में होनी चाहिए ॥ ४१ ॥ नाना प्रकार की युक्ति, बुद्धि, कला, सिद्धि और अन्वय आदि का निर्वाह करके, नाना प्रकार की कविता बनानी चाहिए ॥ ४२ ॥ कविता में नाना प्रकार के साहित्य-विषयक दृष्टान्त, तर्क, युक्ति, उक्ति, सम्मति, सिद्धान्त, पूर्वपक्ष (शंका) सहित, होना चाहिए ॥ ४३ ॥ नाना प्रकार की गति, विद्वत्ता, मति, स्फूर्ति, धारणा, धृति आदि कविता में होना चाहिए ॥ ४४ ॥ कविता में शास्त्राधार से शंका-समाधान की बातें भी होनी चाहिए, ताकि निश्चय हो जाय और संशय मिट जाय ॥ ४५ ॥ जिसमें नाना प्रकार के प्रसंग, विचार, योगविवरण और तत्वचर्चा का सार हो उसे काव्य कहते हैं ॥ ४६ ॥ जिसमें नाना साधन, पुरश्चरण, तप, तीर्थाटन, आदि का वर्णन हो और नाना प्रकार के सन्देह मिटाये गये हों उसका नाम कवित्व है ॥ ४७ ॥ जिससे पश्चात्ताप उपजे, और लौकिक विषय लज्जित हों तथा जिससे ज्ञान का बोध हो उसका नाम कवित्व है ॥ ४८ ॥ जिससे ज्ञान प्रबल हो, वृत्ति का अन्त हो और भक्तिमार्ग मालूम हो वही कविता है ॥ ४९ ॥ जिससे देहाभिमान नष्ट हो, भवसागर सूख जाय, और भगवान् हृदय में प्रगट हो वही कविता है ॥ ५० ॥ जिससे सद्बुद्धि प्राप्त हो, पाखण्ड का नाश हो और विवेक जागृत हो वही सच्चा काव्य है ॥ ५१ ॥ जिससे

सद्वस्तु का भास हो, जिससे भास का निरास हो और जिससे भिन्नत्व का नाश हो वही कवित्व है ॥ ५२ ॥ जिससे समाधान हो, जिससे संसार-बन्धन टूटे और जिसे सज्जन मानते हों वही कवित्व है ॥ ५३ ॥ इस प्रकार काव्य के लक्षण यदि बतलाये जायँ तो बहुत हैं; पर यद्वासाधारण तौर पर जान लेने के लिए थोड़े से बतला दिये गये हैं ॥ ५४ ॥

चौथा समास-कीर्तन-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

कालियुग में 'कीर्तन' करना चाहिये और भगवान् के गुण मधुर शब्दों में बड़ी कुशलता के साथ, गाना चाहिए । परन्तु कीर्तन में कठिन और कर्कश वचन न निकालना चाहिए ॥ १ ॥ कीर्तन के द्वारा संसार की सारी खटपट मिटा देना चाहिये; दुष्टों से झगडा न करना चाहिए और सच-भूठ से अपनी शान्ति भंग न होने देना चाहिए ॥ २ ॥ गर्वगीत न गाना चाहिये, गाते गाते थकना न चाहिए और गौप्य या गुह्य प्रकट न करना चाहिए; भगवान् के गुण गाना चाहिए ॥ ३ ॥ कीर्तन करने में बहुत हिलना-डोलना या खांसना न चाहिए ॥ ४ ॥ भगवान् के अनन्त नाम, सगुण ईश्वर के अनेक ध्यान और भगवत्कीर्ति के अनेक अद्भुत चमत्कार कीर्तन में प्रकट करना चाहिये ॥ ५ ॥ कीर्तन में कोई अच्छी बात छोडना न चाहिए और बुरी बात छेड़ना न चाहिए । तथा ऐसी बात न करना चाहिए कि, जिससे किसीका मन खिन्न हो ॥ ६ ॥ कीर्तन के द्वारा किसी के साथ छल न करना चाहिए; परन्तु यदि अपने साथ कोई छल करे तो सहन करना चाहिए ॥ ७ ॥ कीर्तन करते समय किसीकी व्यर्थ प्रशंसा न करना चाहिए; जो लोग जागृत रहते हैं वे पवित्र होते हैं । बड़े डौल के साथ जनतारूप जनार्दन को-श्रोतागणरूपी ईश्वर को-सन्तुष्ट करना चाहिए ॥ ८ ॥ जिस प्रकार प्यासा मनुष्य शीतल झरने के पास स्वयं जाता है वैसे ही प्रेमी श्रोता भगवत्कीर्तन में आते हैं ॥ ९ ॥ ऐसे श्रोताओं को बुलाने या उनके आने के लिए प्रयत्न करने, इत्यादि की आवश्यकता नहीं पडती ॥ १० ॥ कीर्तन करने में टालाटूली या बहाना न करना चाहिए और न लज्जित होना चाहिए ॥ ११ ॥ कीर्तन में विज्र डालनेवाले दुष्टों को पास न आने देना चाहिए । बीच में झगडा न होने देना चाहिए; क्योंकि इससे ध्यान भंग हो जाने का भय रहता है ॥ १२ ॥

कीर्तन करते समय अभिमान में आकर भूल न जाना चाहिए ॥ १३ ॥
 कीर्तन करते हुए, धीरे धीरे डोलते हुए, परमात्मा के प्रेम में नाचना
 चाहिए; विलकुल स्तब्ध न रहना चाहिए ॥ १४ ॥ सुन्दर रीति से नम्रता-
 पूर्वक मधुर स्वर से गाना चाहिए ॥ १५ ॥ करताल, तम्बूरा, तानमान,
 तालबद्ध तंतुगान, आदि सुन कर बुद्धिमान् लोग तत्काल तन-मन से
 तल्लीन हो जाते हैं ॥ १६ ॥ प्रेमी भक्तों का थिरक थिरक कर नाचना देख
 कर और उनका सुस्वर गान सुन कर सब लोग प्रसन्न होते हैं ॥ १७ ॥
 दक्ष कीर्तनकार का कौशलयुक्त कथा-प्रबन्ध सुन कर श्रोतागणों का
 अन्तःकरण करुणा से भर आता है ॥ १८ ॥ उसका कीर्तन सुनने के लिए
 चतुर पुरुष तुरन्त ही दौड़ आते हैं और उसकी बुद्धिविलक्षणता देख कर
 वे लोग दंग रह जाते हैं । इस प्रकार जमते जमते कीर्तन का रंग जम
 जाता है ॥ १९ ॥ नाना प्रकार के विद्वत्तापूर्ण हाव-भाव और कौतुक
 कीर्तन में बतलाना चाहिए ॥ २० ॥ कीर्तन ऐसा करना चाहिए कि,
 जिसके द्वारा पाप नाश हो जाय और पुण्य का प्रकाश हो; तथा श्रोता
 लोग बराबर उसका बखान करते रहें ॥ २१ ॥ कीर्तन में व्यर्थ न बोलना
 चाहिए और न किसीकी निन्दा करना चाहिए ॥ २२ ॥ उत्तम भक्तिपूर्ण
 कथा सुनने के लिए सभी लोग उत्साह से दौड़ते हैं ॥ २३ ॥ जो भक्त
 परोपकार के व्रत से भूषित होता है उसकी सब प्रशंसा करते हैं ॥ २४ ॥
 कीर्तनकार का उत्तम उपदेश मानना चाहिए, मोह में मत्त न होना
 चाहिए । अभिमान करने से हानि होती है ॥ २५ ॥ शिद्दापूर्ण वक्तृता
 सुनने के लिए आप ही आप लोग जमा हो जाते हैं—बुलाना नहीं पडता
 ॥ २६ ॥ राग-रंग-युक्त, रसाल और सुन्दर रंगीले संगीत से श्रोताओं
 का अन्तःकरण रंग जाता है । जिस प्रकार रत्नपरीक्षक लोग रत्न के पीछे
 दौड़ते हैं उसी प्रकार उत्तम कीर्तन के परीक्षक उस कीर्तन को सुनने
 के लिए दौड़ते हैं ॥ २७ ॥ भक्तिपूर्ण कीर्तन सुन कर लोगों में ईश्वर-प्रेम
 बढ़ता है; मन निर्मल होता है और भूतदया का संचार होता है ॥ २८ ॥
 कीर्तन में व्यर्थ वचन नहीं बोलना चाहिए, व्यर्थ विवरण न करना चाहिए
 और विनीत होकर वक्तृत्व से लोगों को संतुष्ट करना चाहिए ॥ २९ ॥
 समस्त लोगों को सारासार का विचार सिखलाना चाहिए । साहित्य
 और संगीत, सज्जन पुरुष को, अच्छा मालूम होता है ॥ ३० ॥ सच-भूठ
 में से सच बात मालूम हो जाने पर लोगों का मन सन्तुष्ट हो जाता
 है । खोटो बात कोई नहीं मानता ॥ ३१ ॥ जिसके वचन वेद, शास्त्र
 और विद्वानों के अनुकूल नहीं होते उसके वचन कोई नहीं मानता ॥ ३२ ॥
 जो आनन्द में आकार फूल जाता है, ऐसी दिल्लीगो में पडा रहता

है उसका हित नहीं होता ॥ ३३ ॥ अलक्ष (ब्रह्म) की ओर लक्ष लग कर उसे लखना चाहिए । लोचन, जो स्वयं द्रष्टा है, उनको भी देखना चाहिए; ऐसा करने से एकदम अलक्ष में लक्ष लग जाता है ॥३५॥ क्षेत्रज्ञ (आत्मा) क्षेत्र (देह) को लुब्ध करता है और क्षमा से क्षमा करके उसको शान्त भी करता है, उस सर्वव्यापी क्षेत्रज्ञ (आत्मा) में क्षमा और क्षोभ दोनों हैं ॥ ३५ ॥

पाँचवाँ समास—हरिकथा की रीति ।

॥ श्रीराम ॥

अब बुद्धिमान् श्रोता लोगों को हरिकथा की रीति सावधान होकर सुनना चाहिए ॥ १ ॥ हरिकथा किस प्रकार कहना चाहिए—उसमें रंग कैसे लाना चाहिए कि, जिससे रघुनाथ-रूपा की पदवी मिले ? ॥ २ ॥ यदि सोने में सुगंध और ईख में सुन्दर, मधुर, रसाल फल हों तो कितनी अपूर्वता की बात है ! ॥ ३ ॥ उसी प्रकार हरिदास और फिर विरक्त, ज्ञाता और प्रेमल भक्त, तथा व्युत्पन्न होकर भी वादरहित, होना अपूर्वता ही है ॥ ४ ॥ इतना होकर भी यदि कहीं वह रागज्ञानी, ताल-ज्ञानी, सकलकलायुक्त, ब्रह्म-ज्ञानी, और निरभिमान होकर लोगों में वर्ताव करता है तो फिर क्या कहना है ? ॥ ५ ॥ जिसके पास मत्सर नहीं है, जो सज्जनों को अत्यन्त प्रिय है, जो चतुरों के सब अंग जानता है और आत्म-निष्ठ है वही उत्तम हरिदास है ॥ ६ ॥ जयंतियां आदि नाना पर्व, अपूर्व तीर्थक्षेत्र, जहां देवाधिदेव सामर्थ्यरूप से बसता है, जो लोग नहीं मानते और सिर्फ अपने शब्दज्ञान से उन्हें मिथ्या बतलाते हैं उन पामरों को भला श्रीपति भगवान् कैसे मिल सकता है ? ॥ ७ ॥ ८ ॥ सन्देह के कारण निर्गुण में उनका मन नहीं लगता, और ब्रह्म-ज्ञान के अभिमान के कारण सगुण भी नहीं भाता; इस प्रकार वे दोनों ओर से नष्ट होते हैं ॥ ९ ॥ आगे सगुण मूर्ति के रहते हुए जो निर्गुण की कथा कहते हैं और निर्गुण का प्रतिपादन करके सगुण का उच्छेदन करते हैं वह पढत-मूर्ख हैं ॥ १० ॥ वास्तव में ऐसी हरिकथा न करना चाहिए कि, जिससे दोनों पंथ (सगुण और निर्गुण) हाथ से चले जाँय । अस्तु, अब हरिकथा के लक्षण सुनो:—॥ ११ ॥

सगुण मूर्ति के सम्मुख भावपूर्वक करुणा-कीर्तन करना चाहिए और ईश्वर के प्रताप और कीर्ति से युक्त नाना ध्यानों का वर्णन करना चाहिए ॥ १२ ॥ इस प्रकार गान करने से सहज ही रसाल कथा मुख से निकलती आती है और सब के अन्तःकरण में प्रेमसुख हिलोड़ने लगता है ॥ १३ ॥ कथा रचने की युक्ति यह है कि, सगुण में निर्गुण न लाना चाहिए और दूसरों के (या श्रोताओं के) दोष-गुण न कहना चाहिए ॥ १४ ॥ भगवान् के वैभव और महत्व का नाना प्रकार से वर्णन करना चाहिए-सगुण में श्रद्धा रख कर कथा कहना चाहिए ॥ १५ ॥ लोक-लाज छोड़ कर, धन की आस्था छोड़ कर, नित्य नूतन, कीर्तन से प्रेम रखना चाहिए ॥ १६ ॥ देवमन्दिर के राजांगण में निश्शंक होकर लोटना चाहिए, करताली बजा कर, नाचते हुए, नामघोष करना चाहिए ॥ १७ ॥ एक देवता की कीर्ति दूसरे देवता के सामने वर्णन करना अच्छा नहीं लगता, अतएव जिसकी कीर्ति हो उसीके सम्मुख वह कहना चाहिए ॥ १८ ॥ यदि सामने सगुण मूर्ति न हो, और साधुजन श्रोता हों, तो फिर अद्वैतनिरूपण अवश्य करना चाहिए ॥ १९ ॥ जहाँ मूर्ति न हो और सज्जन (साधु) भी न हों; भाविक जन श्रोता हों, वहाँ पश्चात्तापयुक्त (करुणापूर्ण) वैराग्य का कीर्तन करना चाहिए ॥ २० ॥ शृंगारादिक नवरसिक वर्णन में से एक शृंगार-विषय छोड़ देना चाहिए; स्त्री आदि का कौतुक न वर्णन करना चाहिए ॥ २१ ॥ स्त्रियों के लावण्य का वर्णन सुन कर, सहज ही, मन में विकार आ जाता है और तत्काल श्रोताओं का धैर्य भंग हो जाता है ॥ २२ ॥ इस लिए उस वर्णन को ही छोड़ देना चाहिए । वह सहज ही साधकों के लिए बाधक है । ऐसे वर्णन को ग्रहण करने से अन्तःकरण में स्त्रियों का ध्यान बैठता है ॥ २३ ॥ स्त्रियों का लावण्य ध्यान में आने से मन कामाकार हो जाता है और ईश्वर का ध्यानस्मरण नहीं हो सकता ॥ २४ ॥ जो स्त्री का वर्णन करने से सुखी होता है और स्त्रीलावण्य के आनन्द में मग्न रहता है, वह ईश्वर से वंचित रहता है ॥ २५ ॥ एक पलभर भी यदि परमात्मा ध्यान में आ जाता है तो कथा में बहुत मन लगता है ॥ २६ ॥ ईश्वर के ध्यान में मन लग जाने पर फिर संसार की याद कैसे आ सकती है ? निश्शंक और निर्लज्ज होकर कीर्तन करने से आनन्द आता है ॥ २७ ॥ कथा कहनेवाले को रागज्ञान, तालज्ञान और स्वरज्ञान में व्युत्पन्न होना चाहिए तथा उपदेशपूर्ण कीर्तन करना चाहिए ॥ २८ ॥ छुप्पन भाषा, नाना कला और कोकिला की सी कठमधुरता, आदि गौण विषय हैं; भक्तिमार्ग इनसे अलग है, उसे भक्त ही जानते हैं ॥ २९ ॥ भक्तों को ईश्वर ही का ध्यान रहता है, ईश्वर को छोड़ कर दूसरे को वे जानते ही नहीं और

कलावंतों का मन कला में ही लगा रहता है ॥ ३० ॥ श्रीहरि के बिना जितनी कला हैं सब व्यर्थ हैं । भक्तिरहित कलाओं में मग्न हुआ पुरुष ईश्वर से प्रत्यक्ष वंचित रहता है ॥ ३१ ॥ जिस प्रकार सर्पों से घिरे रहने के कारण चंदन दुर्मिल होता है, और जैसे भूतप्रेत के डर से द्रव्य का भांडार दुष्प्राप्य रहता है, वैसे ही नाना प्रकार की कलाओं के कारण ईश्वर भी दुर्लभ हो जाता है ॥ ३२ ॥ सर्वज्ञ परमात्मा को छोड़ कर नाद में मग्न होना मानो प्रत्यक्ष बीच में विघ्न उपस्थित करना है ॥ ३३ ॥ मन तो खर में फँसा हुआ है; फिर श्रीहरि का चिंतन कौन करे ? यह तो वैसा ही हाल हुआ जैसे कोई चोर किसीको जबरदस्ती पकड़ कर उससे सेवा कराता हो ! ॥ ३४ ॥ परमात्मा की प्राप्ति में रागज्ञान विघ्न डालता है और मन को पकड़ कर खर के पीछे ले जाता है ॥ ३५ ॥ राजा की भेट करने के लिए जाने से जैसे जबरदस्ती कोई बेगारी पकड़ ले वैसा ही हाल कला से कलावत का हो जाता है ॥ ३६ ॥ ईश्वर में मन रख कर जो कोई हरिकथा कहता है उसीको इस संसार में धन्य जानो ॥ ३७ ॥ जिसे हरिकथा से प्रीति है, और नित्य नई प्रीति बढ़ती जाती है, उसे भगवान् की प्राप्ति होगी ॥ ३८ ॥ जहाँ हरिकथा हो रही हो वहाँ के लिए सब छोड़ कर जो शौडता है और आलस्य, निद्रा तथा स्वार्थ को छोड़ कर जो हरिकथा में तत्पर होता है ॥ ३९ ॥ और जो हरिभक्त के घर में नीच कृत्य का भी अंगीकार करता है और सब प्रकार से स्वयं यत्नपूर्वक साह्यभूत होता है ॥ ४० ॥ तथा नामस्मरण में जिसका विश्वास होता है उसको हरिदास कहते हैं, यहाँ से यह समास पूर्ण होता है ॥ ४१ ॥

छँठवाँ समास—चातुर्य-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

रूप और लाघण्य का अभ्यास नहीं किया जा सकता. स्वाभाविक गुणों के लिए कोई उपाय नहीं चलता, अतएव आगन्तुक गुणों के लिए कुछ न कुछ उपाय करना चाहिए ॥ १ ॥ काला मनुष्य गौरा नहीं हो सकता. गुरुरे मनुष्य के लिए कोई उपाय नहीं है, मूक पुरुष के वाच नहीं फूट सकती, क्योंकि ये सब स्वाभाविक गुण हैं ॥ २ ॥ अंधा मनुष्य डिठियार (डीठियार = दृष्टिवाला) नहीं हो सकता, बाधिर सुन नहीं

सकता और पैगुआ फिर पैर नहीं पा सकता; ये स्वाभाविक बातें हैं ॥ ३ ॥ कुरूपता के लक्षण कहां तक बतलाये जायें ? सारांश, स्वाभाविक होने के कारण ये बदले नहीं जा सकते ॥ ४ ॥ परन्तु अवगुण छोड़ने से चले जाते हैं, अभ्यास करने से उत्तम गुण आ जाते हैं; इस लिए चतुर लोग कुविद्या छोड़ कर सुविद्या सीखते हैं ॥ ५ ॥ मूर्खपन छोड़ने से चला जाता है; चतुरता सीखने से आ जाती है; उद्योग करने से सब कुछ समझ में आ जाता है ॥ ६ ॥ प्रतिष्ठा पाना यदि पसन्द है तो फिर उसकी अपेक्षा क्यों करना चाहिए ? बिना चतुरता के ऊंची पदवी कदापि नहीं मिल सकती ॥ ७ ॥ यदि इस बात पर प्रतीति होती है तो फिर स्वाहित क्यों नहीं करते ? सन्मार्ग पर चलनेवाले लोगों को सज्जन मानते हैं ॥ ८ ॥ देह का चाहे जितना शृंगार किया जाय; परन्तु यदि चतुरता नहीं है तो सब व्यर्थ है । गुण के बिना ऊपर से रूप बनाने में कोई लाभ नहीं ॥ ९ ॥ अंतर्कला (अन्तःकरण) का शृंगार करना चाहिए, नाना प्रकार से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और संपदा प्राप्त करके सुख से भोगना चाहिए ॥ १० ॥ जो प्रयत्न नहीं करता, सीखता नहीं, शरीर से श्रम भी नहीं करता, उत्तम गुण नहीं लेता और सदा क्रोध करता है उसे सुख नहीं मिलता ॥ ११ ॥ हम दूसरे के साथ जैसा करेंगे वैसा ही उसका बदला हम को तुरंत मिलेगा । लोगों को कष्ट देने से हमको भी बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा ॥ १२ ॥ जो न्याय से चलता है वह चतुर है और जो अन्यायी है वह नीच है । नाना चतुराइयों के चिन्ह चतुर ही जानता है ॥ १३ ॥ सर्वसामान्य बात को सभी ग्रहण करते हैं; और निन्दनीय बात को कोई पसन्द नहीं करता ॥ १४ ॥ लोग तुम्हारे ऊपर प्रसन्न रहें या सभी लोग तुम्हारे ऊपर दूट पड़ें ? (इन दो बातों में से तुम को कौन पसन्द है ?) जिससे तुमको समाधान मिले वह बात करना चाहिए ॥ १५ ॥ समाधान से समाधान बढ़ता है, मैत्री से मैत्री जुड़ती है और नाश करने से क्षण भर ही में भलाई का नाश हो जाता है ॥ १६ ॥ 'अहो' का उत्तर 'क्यों हो' और 'अरे' का उत्तर 'क्यों रे' रोज सुनते हो या नहीं ? यह बात मालूम होते हुए भी, फिर निकम्भापन क्यों ? ॥ १७ ॥ चातुर्य से हृदय की शोभा होती है और वस्त्र से शरीर की शोभा बनती है; अब भला देखो तो कि, इन दोनों में श्रेष्ठ शृंगार कौन है ? (भीतर का शृंगार श्रेष्ठ है या बाह्य शृंगार ?) ॥ १८ ॥ बाहरी शृंगार से लोगों का क्या लाभ है ? चातुर्य से तो बहनों की, नाना प्रकार से, रक्षा होती है ॥-१९ ॥ अच्छा खाना, अच्छा पीना अच्छा पहनना और सब में अच्छा-कहाना सब चाहते हैं ॥ २० ॥ परन्तु

जब तक तन-मन से परिश्रम नहीं करते तब तक कोई प्रशंसा नहीं करता । व्यर्थ संकल्प-विकल्प में पडने से कष्ट ही होता है ॥ २१ ॥ लोगों का रुका हुआ कार्य जिसके द्वारा होता है उसके पास लोग स्वाभाविक अपने काम के लिए जाते ही हैं ॥ २२ ॥ इस लिए दूसरे को सुखी करके उससे स्वयं भी सुखी होना चाहिए । दूसरे को दुःख देने से अपने को भी कष्ट उठाना पडता है ॥ २३ ॥ यह बात है तो प्रगट ही, पर विचार किये बिना काम नहीं चलता । प्राणिमात्र के लिए 'समझना' ही एक उपाय है ॥ २४ ॥ जो समझ-बूझ कर बर्ताव करते हैं वही पुरुष भाग्यवान् कहलाते हैं; उन्हें छोड़ कर बाकी सब अभागी हैं ॥ २५ ॥ जैसा व्यापार किया जाता है वैसा ही वैभव मिलता है और जैसा वैभव मिलता है वैसा ही सुख मिलता है । उपाय प्रगट ही है, समझना चाहिए ॥ २६ ॥ आलस से कार्य नाश होता है, प्रयत्न धीरे धीरे होता है । जिसे प्रत्यक्ष बात नहीं जान पडती वह कैसा सयाना है ? ॥ २७ ॥ मित्रता करने से काम बनता है और बैर करने से मौत होती है । यह बात सत्य है या असत्य-सो पहचानना चाहिए ॥ २८ ॥ जो अपने को चतुर बनाना नहीं जानते, जो स्वयं अपना हित नहीं जानते और जो लोगों से मित्रता रखना नहीं जानते, किन्तु बैर करते हैं, उन्हींको अज्ञान कहते हैं । ऐसे लोगों के पास कौन समाधान पा सकता है ? ॥ २९ ॥ ३० ॥ कोई यदि एकाएक अकेले संसार से लड़ने के लिए तैयार हो तो बहुतों के सामने उस अकेले पुरुष को विजय कैसे मिल सकता है ? ॥ ३१ ॥ बहुतों के मुख में रहना चाहिए; बहुतों के अन्तःकरण में बैठ जाना चाहिए और प्राणिमात्र को उत्तम गुण सिखाते रहना चाहिए ॥ ३२ ॥ लोगों को चतुर बनाना चाहिए, पतितों को पावन करना चाहिए और सृष्टि में भगवद्भजन बढ़ाना चाहिए ॥ ३३ ॥

सातवाँ समास-कलियुग का धर्म ।

॥ श्रीराम ॥

नाना वेप और नाना आश्रम आदि सबों का मूल गृहस्थाश्रम है । इस आश्रम में सब प्रकार के लोग विश्राम पाते हैं ॥ १ ॥ देव, ऋषि, मुनि, योगी, नाना तापसी, वीतरागी, पितृ आदि अधिकारी, अतिथि-अभ्यागत,

इत्यादि सब गृहस्थाश्रम में उत्पन्न होते हैं । यद्यपि ये लोग अपना आश्रम छोड़ जाते हैं, तथापि कीर्तिरूप से वे गृहस्थ के घर में सदा घूमते रहते हैं ॥ २ ॥ ३ ॥ इस कारण गृहस्थाश्रम सब से श्रेष्ठ है; परन्तु स्वधर्म और भूतदया की आवश्यकता है—(अर्थात् ये दो गुण गृहस्थ में अवश्य होना चाहिए, तभी गृहस्थाश्रम की शोभा है) ॥ ४ ॥ वेदविहीन कर्मों का आचरण करना चाहिए और सब से मधुर वचन बोलना चाहिए ॥ ५ ॥ सब प्रकार से उचित वर्तन करना चाहिए; सब काम शास्त्रानुकूल करना चाहिए, और भक्तिमार्ग से चलना चाहिए ॥ ६ ॥ जो पुरश्चरणी और कायाक्लेशी है, दृढव्रती और परम उद्योगी है और जिसके लिए जगदीश को छोड़ कर और कोई बड़ा नहीं है ॥ ७ ॥ जो काया, वाचा, जीव और प्राण से भगवान् के लिए कष्ट करता है और मन से भजनमार्ग में दृढ होता है ॥ ८ ॥ वही सच्चा भगवद्भक्त है वह विशेष करके भीतर से विरक्त होता है और संसार की चिन्ता छोड़ कर, ईश्वर के लिए, मुक्त बन जाता है ॥ ९ ॥ वास्तव में जिसमें भीतर से वैराग्य है वही महा भाग्यशाली है । आसक्ति के समान और अभाग्य नहीं है ॥ १० ॥ बहुत से राजा लोग राज्य छोड़ कर भगवान् के लिए इधर उधर घूमते रहे और भूमंडल में कीर्तिरूप से पावन हुए ॥ ११ ॥ ऐसे ही (उपर्युक्त) योगीश्वर अनुमती होते हैं और अपने सदुपदेश से वे सम्पूर्ण मनुष्यों को पवित्र करते हैं ॥ १२ ॥ उन उदासीन वृत्तिवाले आत्मज्ञानियों के दर्शनमात्र से मनुष्य पावन होते हैं ॥ १३ ॥ उनसे मनुष्यमात्र का कल्याण ही होता है; उनसे किसीकी चुराई नहीं होती और उनका हृदय, अखंड रीति से, भगवान् में लगा रहता है ॥ १४ ॥ ऐसा योगी, लोगों को तो दुश्चित्त सा देख पड़ता है; पर वास्तव में है वह सावधानचित्त; क्योंकि उसका चित्त निरंतर परमेश्वर में लगा रहता है ॥ १५ ॥ उसका चित्त उपास्य मूर्ति के ध्यान में मग्न रहता है, अथवा आत्मानुसन्धान में लगा रहता है, अथवा सदा श्रवण-मनन में उसका चित्त लगा रहता है ॥ १६ ॥ जब पूर्वजों के करोड़ों पुण्यों का संग्रह होता है तभी लोगो को ऐसे पुरुष की भेट होती है ॥ १७ ॥

प्रतीतिरहित जो ज्ञान है वह प्रायः सभी अनुमानमात्र है; उसके द्वारा मनुष्यों को मुक्ति नहीं मिल सकती ॥ १८ ॥ इस कारण प्रतीति मुख्य है, विना प्रतीति के काम नहीं चलता । चतुर लोग 'उपाय' और 'अपाय' दोनों जानते हैं ॥ १९ ॥ कोई कोई पागल सुख के लिए गृहस्थी छोड़ जाते हैं; पर तौ भी वे दुख ही दुख में मर जाते हैं और इहलोक तथा परलोक दोनों से वञ्चित रहते हैं ॥ २० ॥ जो क्रोध करके घर से निकल जाता है वह भगड़ते ही भगड़ते मर जाता है; बहुत लोगों को दुखी करता है

और स्वयं भी दुखी होता है ॥ २१ ॥ वैरागी होकर निकल तो जाता है; पर, अज्ञान बना रहता है, लोग चेला बन कर उसके साथ लगते हैं, परन्तु गुरु-शिष्य दोनों समान ही अज्ञानरूप बने रहते हैं ॥ २२ ॥ इस प्रकार का आशावद्ध और अनाचारो यदि गृहस्थी छोड़ कर निकल जाता है तो वह लोगों में अनाचार ही फैलाता है ॥ २३ ॥ घर में भूखों के मारे कष्ट पाकर जो वैरागी हो जाते हैं उन्हें ठौर ठौर में, चोरी करते हुए पाकर, लोग मारते हैं ॥ २४ ॥ परन्तु जो संसार को मिथ्या जान कर, ज्ञान प्राप्त करके निकल जाता है वह अपने समान लोगों को भी पावन करता है ॥ २५ ॥ एक की संगति से लोग तर जाते हैं और एक की संगति से डूब जाते हैं इस लिए (संगति करने के पहले) उसकी जांच अच्छी तरह कर लेना चाहिए ॥ २६ ॥ जो स्वयं विवेकवान् नहीं है वह दूसरे को उपदेश क्या देगा? ऐसे अविवेकी को तो भिन्ना भी माँगे नहीं मिलती ॥ २७ ॥ परन्तु जो दूसरे के हृदय की बात जानता है; देश, काल और प्रसंग जानता है, उसे जगत् में किस बात की कमी है? ॥ २८ ॥

जहाँ नीच प्राणी गुरुत्व पाता है वहाँ आचार ही डूब जाता है; ऐसी दशा में वेद, शास्त्र और ब्राह्मण को कौन पूछता है? ॥ २९ ॥ ब्रह्म-ज्ञान के विचार का अधिकार ब्राह्मण ही को है; ऐसा कहा भी है कि, “वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः”-अर्थात् सब वर्णों का गुरु ब्राह्मण है ॥ ३० ॥ परन्तु ब्राह्मण बुद्धिच्युत हो गये हैं, आचार-भ्रष्ट होगये हैं और गुरुत्व छोड़ कर शिष्यों के भी शिष्य बन गये हैं! ॥ ३१ ॥ कितने ही पीर को भजते हैं और कितने ही अपनी इच्छा से ‘तुरुक’ हो जाते हैं ॥ ३२ ॥ यही कलियुग के आचार का हाल है; विचार का कहीं पता नहीं है; अब इसके आगे तो वर्णसंकर ही होनेवाला है! ॥ ३३ ॥ नीच जाति को गुरुत्व प्राप्त हुआ है, कुछ थोड़ी महंती बढा कर शूद्र लोग ब्राह्मणों का आचार डुबो रहे हैं! ॥ ३४ ॥ ब्राह्मणों को यह मालूम नहीं होता, उनकी वृत्ति ही नहीं सुकती और उनका मूर्खता का मिथ्या अभिमान नहीं मिटता! ॥ ३५ ॥ राज्य म्लेच्छों के घर में चला गया; गुरुत्व कुपात्रों में चला गया; हम न अरत्र में रहे न परत्र में; कुछ भी नहीं रहा! ॥ ३६ ॥ ब्राह्मणों को ग्रामण्य ने डुबो दिया, जिन विष्णु ने भृगुलता को आदरपूर्वक धारण किया उन्हीं विष्णु ने परशुराम होकर ब्राह्मणों को शाप दिया! ॥ ३७ ॥ हम भी वही ब्राह्मण हैं, दुख के साथ कहना पडता है कि, पुरखा लोग हमारे पीछे ग्रामण्य लगा गये! ॥ ३८ ॥ अब के ब्राह्मणों ने क्या किया? ऐसे हुए कि, जिन्हें अन्न भी नहीं मिलता! यह बात तुम सभी लोग जान सकते हो! ॥ ३९ ॥ अच्छा, पुरखों को क्या कहें? ब्राह्मणों का भाग्य ही ऐसा जानना चाहिए!

प्रसंग आ पडने पर, साधारण तौर पर, इतना कह दिया; क्षमा करना चाहिए ! ॥ ४० ॥

आठवाँ समास-अखण्ड ध्यान ।

॥ श्रीराम ॥

अच्छा, जो हुआ सो तो होगया, अब तो ब्राह्मणों को जगना चाहिए ।
 ॥ १ ॥ विमल हस्त से परमात्मा की पूजा करना चाहिए, इससे सब वैभव मिलता है । मूर्ख अभक्त और व्यस्त लोग दरिद्रता भोगते हैं ॥ २ ॥ पहले ईश्वर को पहचानना चाहिए, फिर अनन्य भाव से उसका भजन करना चाहिए । उस सर्वोत्तम का अखण्डरूप से ध्यान रखना चाहिए ॥ ३ ॥ सब में जो उत्तम है उसका नाम है 'सर्वोत्तम' । आत्मानात्म-विवेक करके उसका मर्म जानना चाहिए ॥ ४ ॥ आत्मा जानपन से देह की रक्ष करता है, वह द्रष्टा और अन्तर्साक्षी है, वह जानपन से पदार्थमात्र की परीक्षा करता है ॥ ५ ॥ वह सब देहों में वर्तता है, इंद्रियगण को चेष्टा देता है और अनुभव से प्राणिमात्र के प्रत्यय में आ जाता है ॥ ६ ॥ प्राणि-मात्र के अन्तःकरण में परमेश्वर है; इस लिए सब के अन्तःकरणों को सन्तुष्ट रखना चाहिए । वही एक दाता और भोक्ता सब कुछ है ॥ ७ ॥ सम्पूर्ण जगत् के अन्तःकरण में परमात्मा वर्तता है—वही हमारे अन्तः-करण में भी विराजमान है । वही तीनों लोक के प्राणिमात्र में है, अच्छी तरह देखो ! ॥ ८ ॥ वास्तव में देखनेवाला वह एक ही है, परन्तु वह सब ठौर फैला हुआ है । वह देहप्रकृति से भिन्न भिन्न हो जाता है ॥ ९ ॥ देह की उपाधि के कारण भिन्न भासता है; परन्तु वस्तुतः सम्पूर्ण जगत् के अन्तःकरण में वह एक ही व्याप्त है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि, बोलना-चालना आदि सब उसीके द्वारा होता है ॥ १० ॥ अपनेपराये सब लोग; पक्षी, श्वापद, पशु आदि; कीड़ा चींटी आदि सब देहधारी प्राणी; खेचर, भूचर, वनचर, नाना प्रकार के जलचर—चार खानियों का विस्तार कहां तक बतलावें—सब प्राणी चेतनाशक्ति से वर्तते हैं । इसकी प्रत्यक्ष प्रतीति यही देख लो कि, उस चेतनाशक्ति को और हमारी संगति अखंड बनी रहती है ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ जगत् के अन्तःकरण में जो परमात्मा व्याप्त है उसके प्रसन्न हो जाने पर (अर्थात् सब मनुष्यों के प्रसन्न हो जाने पर)

अनन्त मनुष्य हमारे पास एकत्र हो सकते हैं; और उस जगद्रूप परमात्मा को प्रसन्न करने का उपाय हमारे ही पास है ॥ १४ ॥ वास्तव में सब को राजी रखना चाहिए, क्योंकि देह के साथ भलाई करने से वह आत्मा को प्राप्त होती है ॥ १५ ॥ दुर्जन प्राणी में जो ईश्वरांश होता है उसका स्वभाव भी वैसा ही होता है । इस लिये ऐसा आदमी यदि क्रोध में आ जाय तो उससे झगडा न करना चाहिए ॥ १६ ॥ उससे बरका ही जाना चाहिए, बाद को उस पर विचार करना चाहिए । विवेक से सब लोगों को सज्जन बनना चाहिए ॥ १७ ॥ जैसे ओषधिभेद से एक ही जल में नाना प्रकार का स्वाद आ जाता है वैसे ही देहसम्बन्ध से आत्मत्व में भी भेद हो जाता है ॥ १८ ॥ चाहे विष हो, चाहे अमृत हो, पर उसका आपन नहीं जाता । इसी प्रकार साक्षित्व से आत्मा को पहचानना चाहिए ॥ १९ ॥ जो अन्तर्निष्ठ पुरुष है वह अन्तर्निष्ठा के कारण श्रेष्ठ है, जगत् में जो जगदीश है उसे वह पहचानता है ॥ २० ॥ जैसे कोई आंख से ही आंख को देखे या मन से ही मन को ढूँढे वैसा ही भगवान् को घट घट में व्यापक जानना चाहिए* ॥ २१ ॥ उसके बिना कार्य रुका रहता है, सब कुछ उसीसे हो सकता है और उसीके योग से प्राणी को विवेक प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ जागृति में जो व्यापार होता है उसका सम्बन्ध उसीसे रहता है और इसी प्रकार स्वप्न में भी जो कुछ होता है सो सब उसीके सम्बन्ध से होता है ॥ २३ ॥ इस बात का विचार करने से अखण्ड ध्यान का लक्षण मालूम हो जाता है और परमात्मा का अखण्ड स्मरण सहज ही होने लगता है ॥ २४ ॥ लोगों में जो दोष देखा जाता है वह यही है कि, वे सहज छोड़ कर कठिन पकड़ते हैं—वे आत्मा छोड़ कर अनात्मा का ध्यान करते हैं ॥ २५ ॥ पर वह (अनात्मा का ध्यान) हो ही नहीं सकता—नाना व्यक्तियां ध्यान में आती हैं । व्यर्थ के लिए तकलीफ उठाते हैं! ॥ २६ ॥ प्रयत्न करके मूर्ति का ध्यान करने से वहां कुछ और का और ही देख पड़ता है; जिसका भास न होना चाहिए—ऐसा ही कुछ विलक्षण भासने लगता है ॥ २७ ॥ पहले स्वयं इस बात का अच्छी तरह विचार करना चाहिए कि, ध्यान देव का करना चाहिए या देवालय का? ॥ २८ ॥ देह देवालय है; उसमें आत्मा देव है; इन दो में से तुम किसमें भक्ति रखना चाहते हो? देव को पहचान कर उसीमें मन लगाना चाहिए ॥ २९ ॥ सच्चा ध्यान यही है और जनरूढि का ध्यान अन्य है । सच तो यह है कि, अनु-

* जैसे सब प्राणिमात्र में परमेश्वर है वैसे ही वह हम में भी है । इससे दूसरों का अन्त करण जानना मानो सर्वघटव्यापक भगवान् को भगवान् के द्वारा ही देखना है ।

भव विना सब व्यर्थ है ॥ ३० ॥ सन्देह ही बढ़ता है । ऐसी दशा में जो ध्यान किया जाता है वह तुरन्त ही भंग हो जाता है । व्यर्थ के लिए विचारे स्थूल ध्यान में कष्ट सहते हैं ॥ ३१ ॥ परमात्मा को देहधारी मानते हैं, इस लिए उनके मन में नाना विकल्प उठते हैं । भोग, त्याग आदि विपत्तियां देह के योग से ही होती हैं ॥ ३२ ॥ नाना प्रकार की बातें मन में आती हैं, उनका विचार करना बहुत कठिन है । जो दिखावे कभी स्वप्न में भी नहीं दिख पड़ते वही, नाना प्रकार से, दिख पड़ते हैं ॥ ३३ ॥ दिखता है सो बतलाया नहीं जा सकता-और जबरदस्ती उसमें विश्वास रखा नहीं जा सकता; इस कारण साधक अन्तःकरण में घबड़ाता है ॥ ३४ ॥ ध्यान के सांगोपांग बन पड़ने का गवाह (साक्षी) अपना मन है । मन में विकल्प का दर्शन नहीं होने देना चाहिए ॥ ३५ ॥ चञ्चल मन स्थिर करके अखंडित ध्यान करने से कौन फल मिल सकता है ? देखते क्यों नहीं ! ॥ ३६ ॥ अखण्ड ध्यान से यदि किसीका हित न हो तो फिर उसे पतित जानना चाहिए; इस बात को सुचित्त होकर अच्छी तरह विचारना चाहिए ॥ ३७ ॥ ध्यान धरता है सो कौन है और ध्यान में आता है सो कौन है-दोनों में अनन्य लक्षण होना चाहिए ॥ ३८ ॥ वास्तव में अनन्य तो स्वाभाविक ही है; पर अडचन यह है कि, साधक खोज कर देखता नहीं, और जो ज्ञानी पुरुष है वह उसका मनन करके समाधान में मग्न रहता है ॥ ३९ ॥ अस्तु । ये अनुभव के काम हैं; अनुभव के बिना भ्रम से बाधा में पड़ते हैं । साधारण लोग जनरूढि के अनुसार चलते हैं ॥ ४० ॥ जो अवलक्षणी-अभागी-हैं वे जनरूढिवाले ध्यान का लक्षण ही पकड़े रहते हैं । बाजारू लोग (साधारण जन) सत्यासत्य नहीं जानते ॥ ४१ ॥ ऐसे लोग गप्प उड़ा कर व्यर्थ ही हुल्लाह मचाते हैं; पर मन में सोचने पर, अन्त में, सभी मिथ्या जान पड़ता है ॥ ४२ ॥ कोई एक मनुष्य (स्थूल मूर्ति ध्यान में लाकर) मानस पूजा कर रहा था । (मुकुट के कारण फूलों की माला मूर्ति के गले में न जाती थी;) कोई एक दूसरा मनुष्य, (अन्तः-साक्षित्वशक्ति से यह बात जान कर) उससे कहता है कि, “ मुकुट उतार कर माला डालो तब ठीक होगा ” ॥ ४३ ॥ अरे भाई, मन में क्या अकाल था जो ओछी माला कल्पित की ? (ऐसी दशा में ओछी माला की कल्पना करनेवाला और मुकुट उतार कर माला डालने की युक्ति बतानेवाला) दोनों को निपट मूर्ख जानना चाहिए ॥ ४४ ॥ प्रत्यक्ष कुछ कष्ट उठाना नहीं पड़ता, डोरा से फूल गूँथने नहीं पड़ते; फिर भी कल्पना की माला ओछी क्यों बनाते हैं ! ॥ ४५ ॥ जितने बुद्धि-विहीन प्राणी हैं वे सभी मूर्ख हैं; उनसे कौन खटपट करे ! ॥ ४६ ॥ जो जैसा परमार्थ करता है उसकी वैसी

ही रीति पृथ्वी पर फैल जाती है और सात पांच का अभिमान बढ जाता है ॥ ४७ ॥ प्रत्यय के बिना अभिमान करना ऐसा है जैसे धोखा देकर रोगी को मारना । वहां सभी अनुमान है, ज्ञान का कहां ठिकाना है ? ॥ ४८ ॥ अतएव सम्पूर्ण अभिमान छोड़ देना चाहिए, प्रतीति-पूर्वक विवेक प्राप्त करना चाहिए और मायारूप पूर्वपद का विवेकबल से खण्डन करना चाहिए ॥ ४९ ॥

नववाँ समास-शाश्वत-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

पीछे पिंड का कौतुक देखा गया और आत्मानात्म का विवेक भी किया गया; उससे यह मालूम हो गया कि, पिंड अनात्मा है और आत्मा, जो सब का कर्त्ता है, उससे अलग है ॥ १ ॥ इसके सिवाय यह भी मालूम हो गया कि, उस आत्मा के तर्ई अनन्य रहना चाहिए । अब, ब्रह्मांड-रचना का विचार करना चाहिए ॥ २ ॥ आत्मा और अनात्मा का विवेक पिंड में है और सार-असार का विवेक ब्रह्मांड में है-दोनों का विवरण कर कर के उसकी मजा लेनी चाहिए ॥ ३ ॥ पिंड कार्य का ब्रह्मांड (पंचभूत) कारण है, इसका विवरण किस प्रकार करना चाहिए सो आगे बतलाया है ॥ ४ ॥ असार नाशवंत को कहते हैं और सार शाश्वत को कहते हैं । जिसका कल्पान्त में नाश हो जाता है वह सार नहीं है ॥ ५ ॥ पृथ्वी जल से हुई है और आगे वह जल में ही लय होती है । जल की उत्पत्ति तेज से हुई है ॥ ६ ॥ उस जल को तेज सुखा डालता है-अर्थात् महत्तेज से जलका लय हो जाता है, इसके बाद तेज ही बच रहता है ॥ ७ ॥ तेज वायु से होता है, इस लिए वायु ही उसको लय करता है, इस प्रकार तेज के लय हो जाने पर फिर वायु ही बच रहता है ॥ ८ ॥ वायु गगन से होता है, इस लिए अन्त में उसीमें वह लय भी हो जाता है । यह कल्पान्त का वर्णन वेदान्तशास्त्र में है ॥ ९ ॥ गुणमाया और मूलमाया भी, अन्त में परब्रह्म में लय हो जाती है । अब, उस परब्रह्म का विवरण करने के लिए विवेक चाहिए ॥ १० ॥ जो सब उपाधियों का अन्त है, जहां दृश्य की खटपट नहीं है, ऐसा वह निर्गुण परब्रह्म सब में व्याप्त है ॥ ११ ॥ चाहे जितने कल्पान्त हुआ करें, पर तौभी उसका नाश नहीं है । माया त्याग कर शाश्वत को पहचानना चाहिए ॥ १२ ॥ ईश्वररूप अन्तरात्मा सगुण है,

इसी सगुण से निर्गुण मिलता है और निर्गुण के ज्ञान से विज्ञान (अनुभवात्मक ज्ञान) होता है ॥ १३ ॥ जो कल्पनातीत निर्मल है वहाँ माया-मल कहाँ से आया ? मिथ्यात्व से, अर्थात् माया से, यह सारा दृश्य होता जाता है ॥ १४ ॥ जो होता है और एकदम चला जाता है वह तो प्रत्यक्ष देख ही पड़ता है; पर जिसमें होना था जाना नहीं है उसे (उस परब्रह्म को) विवेक से पहचानना चाहिए ॥ १५ ॥ एक ज्ञान है, एक अज्ञान है और एक विपरीतज्ञान है—इस त्रिपुटी का लय होना ही विज्ञान (या अद्वैतानुभवज्ञान) है ॥ १६ ॥ वेदान्त, सिद्धान्त और 'धादांत' (स्वानुभव) की प्रतीति प्राप्त करना चाहिए । वह निर्विकार परब्रह्म सर्वत्र सदा प्रकाशित रहता है ॥ १७ ॥ उसे (उस सदोदित निर्विकार परब्रह्म को) ज्ञान-दृष्टि से देखना चाहिए और देख कर उसीमें अनन्य (या लीन) रहना चाहिए; इसीको मुख्य आत्मनिवेदन कहते हैं ॥ १८ ॥ दृष्टि को दृश्य देख पड़ता है, मन को भास भासता है; पर अविनाशी परब्रह्म दृश्य और भास दोनों से परे है* ॥ १९ ॥ विचार करने से जान पड़ता है कि, परब्रह्म अत्यंत दूर है; पर वास्तव में वह भीतर बाहर, सब जगह, व्याप्त है—उसका अन्त ही नहीं है—अनन्त है—उपमा किसकी दें ? ॥ २० ॥ चंचल स्थिर नहीं होता और निश्चल कभी चलता नहीं । बादल आते जाते रहते हैं; पर आकाश अचल रहता है ॥ २१ ॥ जो विकार से बढता है, घटता है उसमें शाश्वतता कहाँ से हो सकती है ? सब कुछ कल्पांत में लय हो जाता है ॥ २२ ॥ जो अन्तःकरण में ही भ्रमित है, जो मायासंभ्रम से सम्भ्रमित है, उसे इस अपार चक्र का बोध कैसे हो सकता है ॥ २३ ॥ संकोच से व्यवहार नहीं होता, संकोच से सिद्धान्त नहीं मालूम होता और संकोच से अन्तःकरण में परमात्मा का आकलन नहीं होता ॥ २४ ॥ यदि वैद्य की प्रतीति न आती हो और संकोच भी न छोड़ता हो तो फिर जान लेना चाहिए कि, यह रोगी नहीं बचेगा ॥ २५ ॥ जिसने राजा को पहचान लिया है वह किसी ऐसे-वैसे को राव नहीं कह सकता—जिसने परमात्मा को पहचान लिया है उसे परमात्मरूप ही समझो; (क्योंकि विना परमात्मरूप हुए परमात्मा को कोई पहचान ही नहीं सकता) ॥ २६ ॥ जिसे मायिक का

दृष्टि से, अर्थात् चर्मचक्षु से, वह परब्रह्म नहीं दिख सकता है, क्योंकि वह दृश्य से परे है—इसी तरह भास से, अर्थात् मन से, वह परब्रह्म नहीं भासता, क्योंकि वह भास से भी परे है; इस लिए दृश्यात्मक चक्षु या भासात्मक मन, ये दोनों, जहा नहीं रहते—जब दृश्य अदृश्य हो जाता है; मन उन्मन हो जाता है और अनन्यता आ जाती है तभी—उसी अनिर्वाच्य दशा में—परब्रह्म.....।

डर है वह नीच क्या बतलावेगा ? विचार करके देखने से सब कुछ स्पष्ट है ॥ २७ ॥ संकोच माया के इस ओर है और परब्रह्म उस ओर है—वह इधर उधर, दोनों ओर, सदोदित है ॥ २८ ॥ मिथ्या का संकोच करना, और भ्रम से और का और ही करना, विवेक के लक्षण नहीं है ॥ २९ ॥ जितना कुछ खोटा है सब छोड़ देना चाहिए, और खरे को प्रत्यय से पहचानना चाहिए । माया को त्याग करके परब्रह्म जानना चाहिए ॥ ३० ॥ उसी माया का लक्षण आगे बतलाया गया है । सुचितता के साथ उसका विचार करना चाहिए ॥ ३१ ॥

दसवाँ समास—माया मिथ्या है ।

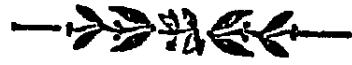
॥ श्रीराम ॥

माया दिखती है; पर नाश होती है, 'वस्तु' न दिखती है और न नाश होती है । माया सत्य जान पड़ती है; पर बिलकुल मिथ्या है ॥ १ ॥ जैसे अभागी मनुष्य उताना पड कर नाना प्रकार की कल्पना करता है; पर उसकी इच्छा के अनुसार कुछ नहीं होता; यही हाल माया का है ॥ २ ॥ जैसे द्रव्यदारा का स्वप्नवैभव और नाना प्रकार के विलासयुक्त हावभाव क्षणभर के लिए जान पड़ते हैं; पर वास्तव में वे मिथ्या—वैसी ही माया है ॥ ३ ॥ जैसे आकाश में नाना प्रकार के गंधर्वनगर (बादल इत्यादि के मिथ्या दृश्य) दिखते हैं उसी प्रकार यह माया नाना रूपों से और नाना विकारों से दिख पड़ती है ॥ ४ ॥ बहुरूपी का वैभव जिस प्रकार सच्चा मालूम होता है, पर है वह मिथ्या, उसी प्रकार माया है ॥ ५ ॥ दशहरा के शमीपत्रों की भेट को लोग सोना कहते हैं; पर है वे पत्ते, और सब जगह इसकी चाल है, वैसी ही माया है ॥ ६ ॥ जैसे मृत पुरुष का महोत्सव करना, सती की कीर्ति बढाना और श्मशान में जाकर रोना मिथ्या है वैसी ही माया मिथ्या है ॥ ७ ॥ जैसे राख को लक्ष्मी (भभूत = विभूति = लक्ष्मी) कहते हैं, दूसरी एक और लक्ष्मी होती है (जो मंत्रित तागे के रूप में स्त्रियां गर्भरक्षा के लिए कमर में बांधे रहती है) और तीसरी नाममात्र की लक्ष्मी—वैसी ही माया है ॥ ८ ॥ जैसे बालविधवा स्त्री का नाम हो जन्मसावित्री और घर घर में घूमने वाले को कुवेर कहें वैसी ही माया है ॥ ९ ॥ जैसे नाटक में द्रौपदी का

[ट] लेनेवाले पुरुष को जीर्ण वस्त्र की तृष्णा उत्पन्न हो, अथवा किसी
 शी का नाम पयोष्णी हो वैसी ही माया है ॥ १० ॥ जैसे बहुरूपी राम
 लीलाओं को सोंग दिखलाता हो, और 'महाराज' कह कर लघुत्व
 गट करता हो; वैसी ही माया है ॥ ११ ॥ जैसे अन्नपूर्णा तो नाम है
 और घर में अन्न ही न मिलता हो, नाम तो सरस्वती है; पर पढती नहीं,
 गेवर पायती है ! ॥ १२ ॥ जैसे कुत्ते का 'व्याघ्र' नाम हो, पुत्र को
 'इन्द्र' नाम से पुकारते हैं, और कुरूप होने पर भी 'सुन्दरा' कह कर
 पुकारते हैं ! ॥ १३ ॥ जैसे मूर्ख का नाम 'सकलकला' हो, गधी का नाम
 'कोकिला' हो और फूटी आँखवाले को जैसे 'आँखवाला' कहते हैं
 ॥ १४ ॥ जैसे धनकुन का नाम तुलसी (विष्णुप्रिया) हो, चमारिन का
 नाम काशी हो और अति शूद्रिणी को जैसे भागीरथी कहते हैं ! ॥ १५ ॥
 और जैसे अंधकार की छाया; वैसी ही माया है ॥ १६ ॥ जैसे कान,
 अँगुलियाँ, संधियाँ, करतल आदि शरीर के कोई कोई भाग रविरश्मियों
 के कारण रम्य लाल रंग के चमकते हुए अंगार से देख पड़ते हैं वैसी ही
 माया है ॥ १७ ॥ जैसे भगवें रंग का वस्त्र देखने से जान पड़ता है कि,
 आग सी लगी है; पर विचार से निश्चय हो जाता है, वैसी ही माया है
 ॥ १८ ॥ जैसे जल में हाथ पैर और अँगुलियाँ बहुत सी, छोटी, बड़ी
 और टेढ़ी देख पड़ती है वैसी माया है ॥ १९ ॥ भौंरे से जैसे पृथ्वी
 औंधी या घूमती हुई मालूम होती है, कौवल होने से सारे पदार्थ पाले
 जान पड़ते हैं और सन्निपातवाले को जैसे सब पदार्थ उलट-पलट अनुभव
 में आते हैं, वैसी ही माया है ॥ २० ॥ जैसे कोई कोई पदार्थ-
 विकार योंही भासमात्र दिखता है, और का और ही देख पड़ता है वैसी
 ही माया है ! ॥ २१ ॥



पन्द्रहवाँ दशक ।



पहला समास-चतुर का वर्ताव ।

॥ श्रीराम ॥

इन अस्थिमांस के शरीरों में जीवात्मा रहता है और वह नाना प्रकार के विकारों में प्रवृत्त भी होता है ॥ १ ॥ जीव विचार करके यह सब जानता है कि, वास्तव में क्या ठोस है और क्या पोला है, अथवा क्या चाहिए और क्या न चाहिए ॥ २ ॥ कोई मांग मांग कर पाता है और किसीको बिना मांगे ही देते हैं । प्रतीति से सुलक्षणों को पहचानना चाहिए ॥ ३ ॥ अपने जीव को अन्य जीवों के जीव में डालना चाहिए, आत्मा को आत्मा में मिलाना चाहिए और दूसरों के अन्तःकरण में प्रवेश करके उनके भीतर का भाव जानना चाहिए ॥ ४ ॥ जैसे जनेऊ ढीला रहने से उलझ जाता है और ठीक रहने से अच्छा लगता है वैसे ही यह मन भी ढीला रखने से उलझ जाता है और विवेक से ठीक रहता है । इस मन को दूसरे के मन से मिलाना चाहिए ॥ ५ ॥ ६ ॥ सन्देह से सन्देह ही बढ़ता है, संकोच से कार्य नाश होता है; अतएव, पहले प्रतीति कर लेना चाहिए ॥ ७ ॥ दूसरे के मन की बात मालूम नहीं कर सकते, दूसरे का अन्तःकरण जान नहीं सकते, फिर नाना प्रकार के लोग वश में कैसे हों? ॥ ८ ॥ बुद्धि के बिना लोग दूसरे को वशीकरण करते हैं, पर पीछे से, जब उनका प्रयोग अपूर्ण रह जाता है तब, वे सब लोगों की दृष्टि से उतर जाते हैं ॥ ९ ॥ सम्पूर्ण जगत् में जगदीश व्याप्त है, फिर चेटकों का प्रयोग किस पर करें! जो कोई विवेक से विचार करता है वही श्रेष्ठ है ॥ १० ॥ श्रेष्ठ पुरुष श्रेष्ठ काम करता है और जो कृत्रिम (बनावटी) काम करता है वह कनिष्ठ है । कर्म के अनुसार मनुष्य बुरे और भले होते हैं ॥ ११ ॥ राजा राजपंथ से जाते हैं, चोर चोरपंथ से जाते हैं । मूर्खता और अल्पस्वार्थ के कारण पागल ठगे जाते हैं ॥ १२ ॥ मूर्ख जानता है कि, मैं बड़ा सयाना हूँ; पर वास्तव में वह पागल और दीन है । नाना चातुर्यों के चिन्ह चतुर जानता है ॥ १३ ॥ जो जगत् के अन्तःकरण से मिल जाता है वह जगत् का अन्तःकरण ही हो जाता है और उसे इस लोक या परलोक में किसी बात की कमी नहीं रहती ॥ १४ ॥ बुद्धि भगवान् की देनगी है,

बुद्धि विना मनुष्य कच्चा है । बुद्धि-विहीन पुरुष अनमोल राज्य छोड़ कर मीख माँगता है ॥ १५ ॥ जो जहाँ उत्पन्न होता है उसे वहीं अच्छा लगता है । अभिमान के कारण लोग ठौर ठौर में धोखा खाते हैं ॥ १६ ॥ जगत् में सभी कहते हैं कि, हम बड़े हैं, सभी कहते हैं कि, हम सुन्दर हैं और सभी कहते हैं कि, हम चतुर हैं ॥ १७ ॥ इस दृष्टि से तो कोई छोटा नहीं है; परन्तु ज्ञाता पुरुष सब जानते हैं ॥ १८ ॥ अपने अपने अभिमान से लोग अनुमान करके चल रहे हैं; परन्तु इस बात का विवेक से विचार करना चाहिए ॥ १९ ॥ मिथ्या का अभिमान रखना और सत्य को बिलकुल छोड़ देना मूर्खता के लक्षण हैं ॥ २० ॥ सत्य के अभिमानी को ही निरभिमानी जानना चाहिए । न्याय और अन्याय एक समान कभी नहीं हो सकते ॥ २१ ॥ न्याय उसे कहते हैं जो शाश्वत है और अन्याय उसे कहते हैं जो अशाश्वत है । मूर्ख और सज्जन एक कैसे हो सकते हैं? ॥ २२ ॥ कोई निश्चित सुख-भोग करते हैं, कोई चोर मगे जाते हैं । बहुता की महती प्रशंसनीय है, और बहुता की निन्दनीय है ॥ २३ ॥ आचार विचार के बिना जो कुछ किया जाता है वह निष्फल है । इस बात का विचार वही लोग करते हैं जो चतुर और विचक्षण हैं ॥ २४ ॥ सर्वसाधारण लोगों को चतुर पुरुष बश में रख सकता है; चतुर के सामने उन लोगों की कुछ भी नहीं चलती ॥ २५ ॥ इस लिए मुखियों से मित्रता करना चाहिए । ऐसा करने से असंख्य लोग आ मिलते हैं ॥ २६ ॥ चतुर को चतुर ही अच्छा लगता है, चतुर चतुरों से ही मिलते हैं और यों तो पागल लोग बिना काम घूमते रहते हैं ॥ २७ ॥ चतुर को जिसकी चतुरता मालूम हो जाती है उसके मन से उस चतुर का मन मिल जाता है; पर यह सब गुप्त रूप से करना चाहिए ! ॥ २८ ॥ सामर्थ्यवान् पुरुष का मन रख लेने से-या उसकी इच्छा के अनुसार चलने से-बहुत लोग आ मिलते हैं और सर्वसाधारण जन तथा सज्जन, सब लोग, विनती करते हैं ॥ २९ ॥ पहचान से पहचान खोलना चाहिए, बुद्धि से बुद्धि का विकास करना चाहिए और नीति-न्याय से पाखंड का मार्ग रोकना चाहिए ॥ ३० ॥ ऊपर ऊपर से बावला वेष धरना चाहिए; पर हृदय में नाना प्रकार की कलापें रहनी चाहिए और किसीका मन न तोड़ना चाहिए ॥ ३१ ॥ निस्पृह होकर नित नई नई जगहों में घूमनेवाला, प्रत्ययात्मक ब्रह्मज्ञान रखनेवाला, और प्रकट ज्ञाता सज्जन, जग में दुर्लभ है ॥ ३२ ॥ अनेक प्रकार के सुभाषित वचनों से सब के मन प्रसन्न होते हैं । अतएव चारों ओर भ्रमण करके सब को अपनी ओर आकर्षित करना चाहिए ॥ ३३ ॥ एक जगह बैठे रहने से तो फिर काम ही नहीं चलता, इस लिये साव-

धानी के साथ सब से मिलते रहना चाहिए ! ॥ ३४ ॥ लोगों से मिल मिल कर उन्हें सन्तुष्ट रखना और फिर कर मिलने के लिए उत्सुक रहना चातुर्य के लक्षण हैं । उत्तम गुणों से सब मनुष्य समाधान हैं ॥ ३५ ॥

दूसरा समास—निस्पृह का काम ।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी में छोटे बड़े बहुत से मानवी शरीर भरे पड़े हैं, और वे क्षण क्षण में अपने मनोविकार बदलते रहते हैं ॥ १ ॥ जितनी मूर्तियां हैं उतने ही स्वभाव हैं—वे कभी एकसा नहीं रहते । नेम ही नहीं है; कहां तक और क्या देखें ? ॥ २ ॥ कितने ही म्लेच्छ होगये, कितने ही फिरंगियों में मिल गये और कितने ही देशभाषा के कारण रुके पड़े हैं ॥ ३ ॥ इस प्रकार 'महाराष्ट्रीय' लोग बहुत थोड़े रह गये हैं, और जो रह भी गये हैं वे राजकीय विषयों में फँसे हैं—उन्हें भोजन के लिए भी अवकाश नहीं है । अनेक काम लगे हैं ! ॥ ४ ॥ कितने ही युद्ध-प्रसंग में गुंथे रहने के कारण उन्मत्त होगये हैं और रात दिन युद्ध ही की चर्चा करने लगे हैं ! ॥ ५ ॥ उद्यमी लोग अपने व्यापार ही में फँसे हैं; उन्हें भी अवकाश नहीं है । सदा अपने ही पेट के धन्धे में लगे रहते हैं ॥ ६ ॥ षड्दर्शन, नाना मत और पाखण्ड बहुत बढ गये हैं, जहां देखो वहां लोग इन्हीं विषयों का उपदेश करते फिरते हैं ॥ ७ ॥ इतने पर भी जो लोग बच-बचा गये हैं उन सबों को स्मार्त और वैष्णवों ने अपने में मिला लिया है । इस प्रकार खूब गड़बड मच गया है ! ॥ ८ ॥ कितने ही कामना के भक्त ठौर ठौर में आसक्त हो रहे हैं । युक्त-अयुक्त का विचार कौन करता है ? ॥ ९ ॥ इस गड़बड में जो कोई दूसरा गड़बड़ बढाते हैं, उन्हें वैदिक लोग देख नहीं सकते—वे उनकी आंखों में कांटे से चुभते हैं ? ॥ १० ॥ उसमें भी हरि-कीर्तन की ओर बहुत से लोगों का मन लगा है । प्रत्ययात्मक ब्रह्मज्ञान कौन देखता है ? ॥ ११ ॥

अस्तु । ज्ञान बहुत दुर्लभ है; यह अलभ्य लाभ पुराय से होता है । परन्तु

१ अर्थात् सम्पूर्ण देश की भाषा एक न होने के कारण आपस में मिल नहीं सकते ।
२ इस वर्णन में उस समय के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पडता है ।

विचारवान् पुरुषों के लिए सब कुछ सुलभ है ॥ १२ ॥ मालूम होनेवाला विचार बतलाते नहीं बनता, बहुत से विघ्न आते हैं और उपाय करने से बहुत विघ्न उपस्थित होते हैं ॥ १३ ॥ परन्तु जो तीक्ष्ण कार्यकर्ता है वह क्षणभर भी व्यर्थ नहीं जाने देता । ऐसा चतुर, तार्किक और विचक्षण पुरुष सब को मान्य होता है ॥ १४ ॥ उसे नाना प्रकार के बहुत से चुटकुले कंठाग्र होते हैं, उन्हें वह लोगों के सामने कहने लगता है और अपने सामर्थ्य के बल से नीति मार्ग को स्वच्छ और प्रशस्त कर देता है ॥ १५ ॥ वह प्रबोधशक्ति के अनन्त मार्ग जानता है, सब के अन्तःकरण की बात जानता है । इस लिए उसके निरूपण को सब लोग रुचि से सुनते हैं ॥ १६ ॥ अनुभवयुक्त वचनों से सारे मतमतान्तर सपाट कर देता है; लोक-रीति की परवा न करने हुए लोगों का मन अपनी तरफ आकर्षित कर लेता है ॥ १७ ॥ प्रसंगानुसार नीतिपूर्ण; परन्तु प्रभावशाली वचन कहता है, और उदास वृत्ति के अभिमान में उठ कर चल देता है ! ॥ १८ ॥ अनुभव की बातें बतला कर चला जाता है, इस कारण पीछे से लोगों को उससे मिलने की तीव्र इच्छा होती है और वे नाना मार्ग छोड़ कर उसीके शरण में जाते हैं ॥ १९ ॥ पर वह कहीं मिलता ही नहीं है, किसी स्थल में देख ही नहीं पड़ता । वेष देखने से हीन दीन के समान दिखता है ! ॥ २० ॥ भिखारी का सा स्वरूप करके गुप्तरूप से बहुत कुछ करता है ! अतएव उस पुरुष का यश-कीर्ति और प्रताप असीम बढ़ता है ॥ २१ ॥ ठौर ठौर में भजन बढ़ाता है और स्वयं वहां से चला जाता है । मत्सर-युक्त मत्तों का गडबड नहीं होने देता ॥ २२ ॥ दुर्गम स्थलों में—(पहाड़ी गुफा-कन्दरों में)—जाकर रहता है—वहां उसे कोई नहीं देखता और वही से वह सब की सदा चिन्ता रखता है—(अर्थात् वही रह कर लोगों के उद्धार का प्रयत्न करता है) ॥ २३ ॥ अवघड स्थल में, जहां लोगों का दर्शन कठिन है, सावधानी से रहता है । जगत् के लोग उसके पास डूँढते हुए आते हैं ॥ २४ ॥ परन्तु वहां किसीकी नहीं चलती—वहां अणुमात्र भी किसीका अनुमान नहीं चलता—वह संघशक्ति बढ़ा कर लोगों को 'राजकारण' (राजकीय विषयों) में लगाता है ॥ २५ ॥ वे लोग फिर और लोगों को अपने समुदाय में मिलाते हैं; इस प्रकार अमर्यादित समुदाय बढ़ता है । और गुप्तरूप से सारे भूमण्डल में उस निस्पृह को सत्ता फैल जाती है ॥ २६ ॥ जगह जगह में उसके अनेक संघ बन जाते हैं, मनुष्यमात्र उसकी ओर आकर्षित हो आते हैं और इस प्रकार चारों ओर परमार्थ-बुद्धि का खूब प्रचार होता है ॥ २७ ॥ ठौर ठौर में (भक्तों का समुदाय एकत्र करके) उपासना बढ़ाता है और अपने अनुभव से प्राणिमात्र का उद्धार करता है

॥ २८ ॥ इस प्रकार वह बहुत सी युक्तियां जानता है । उसके द्वारा दूसरे लोग चतुर बनते हैं और जगह जगह प्राणिमात्र को अनुभव प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ इस प्रकार जो अपनी कीर्ति संसार में कर जाता है उसीका जन्म लेना सार्थक है । ' दास कहता है ' कि, यह विषय स्वाभाविक ही संक्षेप से बतला दिया ॥ ३० ॥

तीसरा समास-ज्ञान की श्रेष्ठता ।

॥ श्रीराम ॥

मूलमाया से लेकर जो सारा पसारा अनर्गल रूप से फैला हुआ है- वह पंचभूतात्मक है । इसमें जो साक्षित्व का तंतु लगा है वह भी तत्त्व-रूप (पंचभूतात्मक) है ॥१॥ ऊंचे सिंहासन पर राजा विराजमान है और दुतर्फा उसके मुसाहिव गण, या फौज के लोग, डंटे हुए हैं-इसका विचार अपने मन में समझो ॥ २ ॥ देहमात्र अस्थिमांस के हैं-वैसे ही राजा का भी देह अस्थिमांस ही का है । अर्थात् मूलमाया से लेकर यह सृष्टि सब पंचभूतात्मक ही है^१ ॥ ३ ॥ राजा की सत्ता से सब चलता है, परन्तु हैं सब पंचभूत ही, अन्तर केवल इतना ही है कि, मूलमाया में ज्ञातृत्वशक्ति अधिक है ॥ ४ ॥ विवेक से बहुत व्यापक होने के कारण ही अवतारी कहलाते हैं । चक्रवर्ती मनु इत्यादि इसी कारण अवतारी कहलाये ॥ ५ ॥ जिसमें जितनी अधिक ज्ञातृत्वशक्ति है उसमें उतनी ही अधिक सदेवता है । ज्ञातृत्वशक्ति की न्यूनता ही के कारण तो लोग निर्देव या अभागी होते हैं ॥ ६ ॥ जो उद्यम रोजगार करते हैं, धक्के चपेटे सहते हैं वही प्राणी देखते देखते भाग्यवान् बनते हैं ॥ ७ ॥ ऐसा यह आज सरासर हो रहा है; पर (दुख की बात है) कि, मूर्ख लोगों को यह नहीं मालूम होता; विवेकी पुरुष सब कुछ समझते हैं ॥ ८ ॥ लोगों को यह बात बिलकुल नहीं जान पड़ती कि, छोटा-बड़ा सब बुद्धि के कारण है । (परन्तु लोग,

१ यह पथ पहले पथ का दृष्टान्त है । जैसे दोनों ओर फौज (या मुसाहिव लोग) और बीच में ऊंचे सिंहासन पर राजा बैठा है उसी प्रकार जगद्रूपी फौज का पसारा फैला हुआ है और बीच में साक्षी या ज्ञातृत्वशक्ति राजा के समान विराजती है । २ जिस प्रकार फौज और राजा दोनों के शरीर अस्थिमांस के हैं उसी प्रकार सारा जगत् और साक्षी ये सब तत्त्व हैं ।

अज्ञानता के कारण,) जो पहले पैदा होता है उसीको बड़ा कहते हैं^१ ॥१॥
 राजा चाहे वयस में छोटा हो; पर वृद्ध लोग उसे नमस्कार करते हैं
 (इसका कारण क्या है?) विवेक की गति विचित्र है ! (पर लोगों
 को) मालूम होनी चाहिए ॥ १० ॥ साधारण लोगों का ज्ञान प्रायः सभी
 अनुमानरूप है—वह लोकरूढि का लक्षण है ॥ ११ ॥ किसको किसको
 रोके ? साधारण लोगों को क्या मालूम ? किसको किसको और कहाँ
 तक कहें ? ॥ १२ ॥ छोटा जब कभी भाग्यवान् बन जाता है तब भी लोग
 उसे तुच्छ कहते हैं; इस लिए इन ठीठ लोगों को दूर ही रखना चाहिए
 ॥ १३ ॥ ठीक ठीक किसीकी बात समझ नहीं सकते, उचित रीति से
 राजनैतिक विषयों को नहीं जानते—परन्तु व्यर्थ ही, मूर्खता के कारण, बड़-
 ष्यन दिखाते हैं ? ॥ १४ ॥ निश्चयात्मक कोई बात नहीं मालूम है, वास्तव
 में उन्हें कोई मानता भी नहीं है । केवल वय से प्राप्त हुई बड़ाई को कौन
 पूछता है ? ॥ १५ ॥ जो लोग कहते हैं कि, बड़ों में बड़प्पन नहीं है और
 छोटों में छोटपन नहीं है^२ उनमें चतुरता नहीं है, या यों कहिये कि, वे मूर्ख
 हैं ॥ १६ ॥ बिना गुण के बड़प्पन व्यर्थ है, बड़प्पन का अनुभव ही ठीक है
 (और उसीकी कदर है) ॥ १७ ॥ तथापि यदि बड़ों को मानना है; तो
 बड़ों को अपना बड़प्पन भी जानना चाहिए; ऐसा न करने से आगे, बड़प्पन
 के अभिमान से, कष्ट उठाना पड़ेगा ॥ १८ ॥ अतएव यह बतलाने की
 जरूरत नहीं कि, जिस पुरुष में वह सब से बड़ा अन्तरात्मा प्रकाशित है
 उसीकी महिमा है ॥ १९ ॥ इस लिए विवेक से सब लोगों को चतुरता
 सीखना चाहिए । विवेक का अभ्यास न करने से प्रतिष्ठा नहीं रहती ॥२०॥
 और यदि प्रतिष्ठा चली गई तो समझ लो कि, सब गया । जन्म पाकर क्या
 किया ? और उल्टे जानबूझ कर अपना अपमान करा लिया ! ॥२१॥ ऐसे
 पुरुष को सब स्त्रियां तक गाली देती हैं; लोग कहते हैं कि, देखो कैसा फँस
 गया है ! इस प्रकार उसकी मूर्खता प्रकट हो जाती है ॥ २२ ॥ ऐसा
 किसीको न करना चाहिए, सब को अपना जीवन सार्थक करना चाहिए ।
 (यदि जीवन सार्थक करने का उपाय) न समझ पडे तो ग्रन्थ पढ कर
 मनन करना चाहिए (ऐसा करने से, सहज ही जीवन सार्थक होने का

१ एक कहावत भी है: “ आकिल बड़ी की बैस ? ” २ जब छोटा, पर ज्ञानवान, बालक
 किसी बूढे से कोई ज्ञान की बात बतलाता है तब अकसर ये बूढे लोग वह बैठते हैं कि
 “ चलो, अब, कलियुग आया और बड़ों का बड़प्पन और छोटों का छोटपन नहीं रहा—ये
 कल के छोकरे छेपे मुँह बड़ी बातें करने लगे; ” पर ऐसा कहनेवाले बूढों को मूर्ख समझना
 चाहिए—ऐसा रामदास स्वामी कहते हैं !

उपाय मिल जाने की सम्भावना है) ॥ २३ ॥ चतुर मनुष्य को सब लोग मानते ही हैं, पर मूर्ख को सभी मनुष्य दपट देते हैं । अगर जी में संपत्ति (वैभव, संपदा) पाने की इच्छा हो तो चतुर बनना चाहिए ॥ २४ ॥ अहो ! चतुरता प्राप्त करने के लिए चाहे जितने कष्ट उठाने पड़ें; पर उसे अवश्य सीखना चाहिए; कष्ट-पूर्वक बहुतों की सेवा करके भी चतुरता सीखना बहुत अच्छी बात है ॥ २५ ॥ चतुर उसीको जानना चाहिए जिसे बहुत लोग मानते हों । चतुर मनुष्य के लिए दुनिया में क्या कमी है ? ॥ २६ ॥ इस संसार में जो अपना हित नहीं करता उसे आत्मघातकी समझो; उस मूर्ख के समान और कोई पापी नहीं है ॥ २७ ॥ जो चतुर है वह ऐसा कभी नहीं कर सकता कि, स्वयं वह संसार में कष्ट उठावे और दूसरों का क्रोध भी सहे ॥ २८ ॥ सहज स्वभाव से, साधकों को यह सिखा दिया है, अच्छा लगे तो खुशी से ग्रहण करें और न अच्छा लगे तो एक तरफ छोड़ दें ॥ २९ ॥ तुम श्रोता लोग परम दक्ष हो, अलक्ष की ओर लक्ष लगाते हो, यह तो प्रत्यक्ष सामान्य बात है; जानते ही हो ! ॥ ३० ॥

चौथा समास—ब्रह्मनिरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी से पेड होते हैं, पेडों से लकड़ियां होती हैं और लकड़ियां भस्म कर फिर पृथ्वी ही होती है ॥ १ ॥ पृथ्वी से बेल होती है, वह नाना प्रकार से फैलती है, पर अन्त में सड़ गल कर पृथ्वी ही होती है ॥ २ ॥ नाना प्रकार के धान्यों के अनेक तरह के भोजन बना कर मनुष्य खाते हैं, पर वही नाना प्रकार का मल और वमन होकर पृथ्वी ही होती है ॥ ३ ॥ अनेक पशुपक्षी जो कुछ खाते हैं उसका भी वही हाल होता है । उनका मल भी सूख कर खाक हो जाता है और पृथ्वी में मिल जाता है ॥ ४ ॥ मनुष्य आदि प्राणी भी मर कर पृथ्वी ही हो जाते हैं ॥ ५ ॥ अनेक प्रकार के तृण और पदार्थ भी सड़ कर मिट्टी हो जाते हैं । अनेक कीड़े मर कर पृथ्वी में मिल जाते हैं ॥ ६ ॥ अनन्त पदार्थ भरे हैं—उनका विस्तार कहां तक बताया जाय ? पर उन सब के लिए इस पृथ्वी को छोड़ कर और कहां ठिकाना है ? ॥ ७ ॥ पेड-पत्ते और तृण पशुओं के खाने के बाद गोबर हो जाते हैं और खाद, मूत तथा भस्म बन कर फिर उन्हींकी पृथ्वी होती

हैं ॥ ८ ॥ उत्पत्ति, स्थिति और संहार के चक्र में आनेवाले सब पृथ्वी में मिल जाते हैं । जितना कुछ होता है और जाता है वह पृथ्वी ही होती है ॥ ९ ॥ नाना प्रकार के धान्यों को राशियां बढ कर आकाश में जा लगती हैं; पर अन्त में सब पृथ्वी में मिल जाती हैं ॥ १० ॥ लोग नाना प्रकार की धातुओं को गाड़ रखते हैं, परन्तु बहुत दिनों के बाद वे मिट्टी हो जाते हैं; सोने और पत्थर की भी यही गति होती है ॥ ११ ॥ मिट्टी का सुवर्ण होता है और मिट्टी ही के पत्थर होते हैं; परन्तु प्रखर अग्नि में भस्म होकर फिर उनकी पृथ्वी ही होती है ॥ १२ ॥ सोने का ज़र बनाया जाता है, ज़र अन्त में सड जाता है, रस होकर फैल जाता है, उसकी फिर पृथ्वी ही होती है ॥ १३ ॥ पृथ्वी से धातुएं उपजती हैं-वे अग्नि से गल कर रस होती है, फिर, इसके बाद, उस रस का कठिनरूप होकर पृथ्वी होता है ॥ १४ ॥ नाना प्रकार के जल से गंध छूट कर पृथ्वी का रूप प्रगट होता है, दिनों दिन जल सूखता जाता है; फिर वही पृथ्वी की पृथ्वी ही रह जाती है ॥ १५ ॥ पत्र, पुष्प, फल आते हैं; उन्हें अनेक जीव खा जाते हैं; उन जीवों के मरने पर फिर वही पृथ्वी हो जाती है ॥ १६ ॥ (जितना कुछ आकार है उतने सब को पृथ्वी का आधार है । प्राणिमात्र होते, जाते हैं-अन्त में पृथ्वी ही है ॥) १७ ॥ यह कहां तक बतावें ? विवेक से सब जान लेना चाहिए और उत्पत्ति तथा संहार का मूल समझना चाहिए ॥ १८ ॥ आप सूख कर पृथ्वी होती है; और फिर वह आप ही में लय हो जाती है; क्योंकि अग्नि के योग से भस्म होती है ॥ १९ ॥ आप तेज से होता है; फिर तेज ही उसे सोख लेता है; वह तेज वायु से होता है, जिसे फिर वायु ही लय कर डालता है ॥ २० ॥ वायु गगन में निर्माण होता है; फिर गगन में ही लय हो जाता है, इस प्रकार उत्पत्ति और लय को अच्छी तरह विचारो ॥ २१ ॥ जो जहां पैदा होता है वह वहीं लय हो जाता है; इस प्रकार पञ्चभूत नाश हो जाते हैं ॥ २२ ॥ जो निर्माण होता है वहीं भूत है-वही फिर पीछे से लय होता है, इसके बाद वही शाश्वत परब्रह्म रह जाता है ॥ २३ ॥ वह परब्रह्म जब तक नहीं मालूम होता है तब तक जन्म-मृत्यु नहीं मिटती । चार खानियों में, नाना जीवों के रूप में, जन्म लेना पडता है ॥ २४ ॥ यह बात अच्छी तरह समझ लो कि, जड़ का मूल चंचल है और चंचल का मूल निश्चल है; पर निश्चल का मूल ही नहीं है ॥ २५ ॥ पूर्वपक्ष उसे कहते हैं जो होता है, सिद्धान्त उसे कहते हैं जो लय होता है और जो (दोनों पक्षों से भिन्न) पक्षार्थ उद्वेग हुआ है वह परब्रह्म है ॥ २६ ॥ यह अनुभव से जानना चाहिए । विचार से पहचानना चाहिए । बिना विचार

व्यर्थ परिश्रम करना मूर्खता है ॥ २७ ॥ जो ज्ञानी लाज या संकोच से धिरा रहता है, उसे निश्चल परब्रह्म कैसे मिल सकता है—वह व्यर्थ के लिए माया में गड़बड़ किया करता है ॥ २८ ॥ माया के विलकुल नाश हो जाने पर फिर कैसी स्थिति रह जाती है ? उसका विचार विचक्षण पुरुषों को स्वयं करना चाहिए ॥ २९ ॥ माया का विलकुल निरसन हो जाने पर आत्मनिवेदन हो जाता है—ऐसी स्थिति में वाच्यांश नहीं रहता—वह विज्ञान किस तरह जाना जाय ? ॥ ३० ॥ जो लोगों के कहने में लगता है, वह सन्देह ही से डबता है, इस कारण अनुभव को बार बार देखना चाहिए ॥ ३१ ॥

पाँचवाँ समास—चंचल के लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

दो (प्रकृति पुरुष) के अनुसार तीन (त्रिगुण) चलते हैं, निर्गुण (परब्रह्म) में अप्रथवा प्रकृति उत्पन्न होती है और ऊपर नीचे छोड़ कर (अंतरिक्ष में) इंद्रधनुष की तरह वर्तती है ॥ १ ॥ परवाजा (अग्नि) पनती (देह) को प्या जाता है, लडका (प्रत्येक तत्व) बड़ी चतुराई के साथ, बाप को (जिस तत्व से पैदा हुआ है उस तत्व को) मार डालता है^२ और चारों जनों का (चारों तत्वों का) राजा (आकाश) भूला हुआ है (अदृश्य या लापता है) ॥ २ ॥ देव (आत्मा) देवालय (शरीर) में छिपा बैठा है। देवालय को पूजने से (देह को भोग देने से) उसको (आत्मा को) मिलता है (संतोष होता है) सृष्टि के सभी देहधारियों का यही नियम है ॥ ३ ॥ 'प्रकृति' और 'पुरुष' दो नाम लोगों ने मान लिये हैं, पर वास्तव में वे दोनों एक ही । यह बात विवेक और अनुभव से देखने पर मालूम हो जाती है ॥ ४ ॥ वहाँ न पुरुष है न स्त्री है; वास्तव में यह लोगों की कल्पना है । अच्छी तरह से खोजने पर कुछ भी नहीं है ॥ ५ ॥ सब लोग नदी को ग्री और नाले को पुरुष कहते हैं, पर विचार करने से स्पष्ट है

१ पंचभूतों की उत्पत्ति के क्रमानुसार अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से देह की उत्पत्ति हुई है । इस लिए देह का अग्नि परवाजा और अग्नि का देह पनती हुआ । २ जैसे पृथ्वी जल को भोग लेती है, जल अग्नि को बुझा डालता है और अग्नि वायु को प्रलयकाल में ग्य कर देता है और फिर स्वयं भी लय हो जाता है । आकाश, अर्थात् अन्तरात्मा को मार कर भी भूल जाता है या सो कहे कि, वह परब्रह्म में लय हो जाता है ।

कि, वहाँ स्त्री-पुरुष किसीकी देह नहीं है, केवल पानी दोनों में बहता है ॥ ६ ॥ अपना अपने को जान नहीं पडता, देखने से आकलन नहीं होता। बहुत होने पर भी किसीको कुछ नहीं मिलता ॥ ७ ॥ अकेला होकर भी बहुत हुआ है और बहुत होकर भी अकेला ही रह गया है । अपना गड़-बड़ अपने ही से नहीं सहा जाता* ॥ ८ ॥ वह विचित्र चेतनाशक्ति एक होकर भी बिखरी हुई है और बिखरी होकर भी एक ही है—वह प्राणि-मात्र में व्याप्त है ॥ ९ ॥ बेलि में जल, न दिखते हुए, संचार किया करता है । कुछ भी किया जाय वह बिना गीलेपन के नहीं ठहर सकती ॥ १० ॥ पेड़ों में यद्यपि थाले बाँधे जाते हैं; पर तौ भी पेड़ अपनी इच्छा के अनुसार बढ़ते हैं; कोई कोई पेड़ तो आकाश में उड़ जाते हैं ! ॥ ११ ॥ यद्यपि ये वृक्ष भूमि से अलग रहते हैं; पर तौ भी वे सूखते नहीं । जहाँ रहते हैं वहीं वे खूब बढ़ते हैं ॥ १२ ॥ अंतरात्मा के द्वारा वृक्ष वर्तते हैं, अंतरात्मा न रहने से वही वृक्ष जड़ लकड़ हो जाते हैं; यह बात प्रत्यक्ष ही है, इसमें कुछ गूढ रहस्य नहीं ॥ १३ ॥ कभी कभी तो वृक्षों से भी वृक्ष होते हैं और वे भी आकाश की ओर जाते हैं । उनको जड़ पृथ्वी में कभी नहीं रहतो ॥ १४ ॥ वृक्षों को वृक्षों का ही खादपानी देकर प्रति दिन उनका पालन किया जाता है । बोलनेवाले वृक्ष शब्दसंघर्षण से विचार करते हैं ॥ १५ ॥ होना या सो पहले ही हो चुका है; इसके बाद कल्पना कर करके लोग अपने इच्छानुसार बोलते रहते हैं; पर जो ज्ञाता पुरुष है वे सब कुछ जानते हैं ॥ १६ ॥ यदि समझ गया तो उमगता नहीं और यदि उमग गया तो समझता नहीं—अनुभव बिना कोई बात अनुमान में नहीं आती ॥ १७ ॥ पहले पहल यही विचार करना चाहिए कि, सब का उत्पात्तिकर्ता कौन है । इतना जान लेने पर—उस जगदांतरात्मा को जान लेने से—अपने को अपना मिल जाता है ॥ १८ ॥ अन्तर्निष्ठों का दर्जा बहुत ऊँचा है और बहि-मुख (अर्थात् ऊपर ऊपर का विचार करनेवाले या अन्तरात्मा का विचार न करनेवाले) लोगों की संगति खोटी है; यह बात चतुर लोग ही जान सकते हैं—मूर्ख क्या जाने ? ॥ १९ ॥ सब का मन राजी रखने से न जाने कौन किसको सहायता देने लगता है, परन्तु सब का मन राजी न रखने से भाजी के समान चूद्र पदार्थ भी नहीं मिल सकता ॥ २० ॥ ऐसा प्रत्यक्ष हो रहा है (जैसा ऊपर कहा है) । अलक्ष में लक्ष लगाना चाहिए, दक्ष से भेट करने में दक्ष को समाधान होता है ॥ २१ ॥ मन से मन मिल जाने

*परब्रह्म एक होकर सर्वव्यापी है और सर्वव्यापी होकर एक है । माया की उपाधि उसीकी है, तिस पर भी माया उसे सहन नहीं होती ।

पर-अनन्य होने पर-परब्रह्म को देख सकते हैं और मायारूप चञ्चल चक्र को पार कर जाते हैं ॥ २२ ॥ एक बार वहाँ तक पहुँच कर जब ज्ञानचक्र से उसे देख आते हैं तब तो फिर वह सदा सर्वत्र आसपास देख पड़ता है (उससे रहित कोई स्थल देख ही नहीं पड़ता;) परन्तु चर्मचक्र से उसे नहीं देख सकते ॥ २३ ॥ यह चञ्चल (माया) सब शरीरों में निरन्तर दल-चल किया करती है; परन्तु परब्रह्म सदा सब ठौर निश्चल है ॥ २४ ॥ चञ्चल जब एक ओर को दौड़ने लगता है तब दूसरी ओर कुछ नहीं रहता । यह कभी नहीं हो सकता कि, चञ्चल सब ओर बना रहे, या सम्पूर्ण रहे ॥ २५ ॥ चञ्चल से तो चञ्चल का ही काम नहीं चलता—चञ्चल से सारे चञ्चल का ही विचार नहीं हो सकता: फिर जो निश्चल और अपार परब्रह्म है वह चञ्चल से कैसे अनुमान में आ सकता है? * ॥ २६ ॥ मान लो! आग्नेय वाण आकाश में चला जा रहा है, पर क्या कभी वह आकाश का अन्त या पार पा सकता है? कभी नहीं, बीच में बुझ जाना उसका स्वभाव ही है ॥ २७ ॥ मनोधर्म एकदेशीय होने पर 'वस्तु' का आकलन कैसे हो सकता है? ऐसा अपयशी पुरुष (एकदेशीय मनोधर्मवाला) निर्गुण छोड़ कर सर्वब्रह्म कहता है ॥ २८ ॥ जहाँ सारासार-विचार नहीं है वहाँ सारा अन्वकार ही समझो । बेसमझ छोकरा (अबोध बालक) सत्य छोड़ कर मिथ्या ग्रहण करता है ॥ २९ ॥ ब्रह्मांड के महाकारण, अर्थात् मूलमाया, से यह पञ्चमहाभूतों का समुदाय उत्पन्न हुआ है, परन्तु महावाक्य का विवरण अलग ही है ॥ ३० ॥ महत्त्व ही को महद्भूत कहते हैं और उसीको भगवंत जानना चाहिए । वहाँ उपासना का अन्त हो जाता है ॥ ३१ ॥ 'कर्म,' 'उपासना' और 'ज्ञान' का त्रिकांड वेद में कहा है । पर परब्रह्म के तर्ह ज्ञान का विज्ञान हो जाता है—(या यों कहिये कि ज्ञान का भी लय हो जाता है) ॥ ३२ ॥

* मन चंचल रख कर माया का ही विवरण नहीं कर सकते, फिर निश्चल और अपार परब्रह्म का अनुमान कैसे किया जा सकता है ।

§ "एको विष्णुर्महद्भूतम्" ऐसा कहा है । उपासना (अर्थात् द्वैत रख कर भगवद्भजन) यही तक है । महद्भूत के उस तरफ द्वैत नहीं रहता—वहा अनन्य हो जाना पड़ता है ।

छठवाँ समास-विशिष्ट चातुर्य ।

॥ श्रीराम ॥

पात अर्थात् दीपक, से कृष्ण, अर्थात् काजल, उत्पन्न हुआ है और वही काजल अक्षरों के रूप में सम्पूर्ण भूमंडल पर फैला हुआ है । उसके विना ज्ञान होना असम्भव है^१ ॥ १ ॥ देखने में तो काजल स्वल्पलक्षण-युक्त जान पड़ता है; पर वास्तव में उसमें सब कुछ है-अधम और उत्तम गुण उसीमें रहते हैं ॥ २ ॥ मर्हीसुत (पृथ्वी से पैदा होनेवाला सेंठा या किलक) निकाल कर उसको कलम बना कर बीच से चीरते हैं । दोनों से, (कलम और काजल मिल कर) काम चलता है ॥ ३ ॥ श्वेत-अश्वेत (श्वेत कागज़, अश्वेत किलक को कलम) को भेंट होने से और बीच में कृष्ण (काजल की स्याही) के मिलने से इस लोक की सार्थकता होती है^२ ॥ ४ ॥ इसका विचार करने से मूर्ख भी चतुर होते हैं । तत्काल प्रतीति ती है और परलोक का साक्षात्कार होता है ॥ ५ ॥ जो परग्रह सब को मान्य है उसीको लोग सामान्य समझ कर उसमें वे अनन्य नहीं होते ॥ ६ ॥ उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ ये तीन प्रकार की हस्तरेखाएं और ललाट की अष्ट रेखाएं होती हैं; परन्तु इन चारों का अनुभव एक नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ जो लोग चौदा पीढियों का पवाडा गाते बैठते हैं उन्हें हम क्या कहें ? पागल या चतुर ? सुननेवाले को इस बात का विचार करना चाहिए कि, हम से कुछ होता है या नहीं ॥ ८ ॥ जब यह बात प्रत्यक्ष मालूम है कि, सारी रेखाएं मिटाई जा सकती हैं तब फिर भाग्य के भरोसे क्यों रहना चाहिए ? ॥ ९ ॥ जो बहुतों की बातों में लगते हैं वे सन्देह में डूबते हैं और अनुभवात्मक मुख्य निश्चय भूल जाते हैं ॥ १० ॥ बहुतों की बहुत सी बातें सुनना चाहिए, पर उन सब का अनुभव से विचार करना चाहिए और फिर सब भूट का निपटेरा अपने मन में करना चाहिए ॥ ११ ॥ किसीसे इन्कार न करना चाहिए, उपाय या अपाय समझ कर अनुभव लेना चाहिए । बहुत बोलने से (बक बक करने से) क्या लाभ ? ॥ १२ ॥ चाहे हठी-दुराग्रही और कच्चा मनुष्य ही क्यों न हो; पर उसको भी बात मानना चाहिए । इस प्रकार (अपने वर्ताव से) सब का मन प्रसन्न रखना चाहिए ॥ १३ ॥ जिसके मन में पेट, द्वेष या मैल है, और वह उन्हींको बहुत बढाता भी है, उसे चतुर कैसे कह सकते हैं ? ऐसा मनुष्य दूसरों

१. काजल की स्याही' बन कर उसीसे वेद, शास्त्र और पुराण आदि लिखे गये हैं, जिनके द्वारा सब को ज्ञान प्राप्त होता है । २. लिख पढ कर विद्वान् होने से इहलोक सार्थक होता है ।

को सन्तुष्ट रखना नहीं जानता ॥१४॥ जो मूर्खों को चतुर बनाता है उसीका जीना सार्थक है । व्यर्थ के लिए वाद बढ़ाना मूर्खता है ॥ १५ ॥ लोगों में मिल कर उनको मिलाना चाहिए (उनको अपने विचार के अनुकूल करना चाहिए) पड कर उलटाना चाहिए और विवेक-बल से अपने मन का भेद नहीं मालूम होने देना चाहिए ॥ १६ ॥ दूसरे की चाल के अनुसार चलना चाहिए, दूसरे के बोलने के अनुसार बोलना चाहिए और दूसरे के मनो-गत में मिल जाना चाहिए ! ॥ १७ ॥ जो दूसरों का हित चाहता है वह उनके विरुद्ध कुछ भी नहीं करता-वह राजा-राजी से दूसरों का मन अपने अनुकूल कर लेता है ॥ १८ ॥ पहले उनका मन अपने हाथ में लाना चाहिए; फिर धीरे धीरे अपना उद्देश उनके मन में भरना चाहिए; इस प्रकार नाना उपायों से दूसरे लोगों को अपने हाथ में लाना चाहिए ॥ १९ ॥ हठी को हठी मिलने से गडबड मचता है और फिर कलह उठने पर चातुर्य को स्थान कहाँ मिल सकता है ? ॥ २० ॥ व्यर्थ बडबड करते हैं, पर कर दिखाना अवघड है । दूसरे का मन अपने अनुकूल करना बहुत कठिन बात है ॥ २१ ॥ धक्के और चपेटे (कष्ट) सहना चाहिए, नीच शब्द सहते रहना चाहिए; (इतना सहने के बाद) पछुता कर दूसरे (लोग) अपने हो जाते हैं ॥ २२ ॥ प्रसंग देख कर बोलना चाहिए, शातापन (का अभिमान अपनी ओर) विलकुल न लेना चाहिए और जहाँ जाय वहाँ मिलाप रख कर, प्रेमपूर्वक, जाना चाहिए ॥ २३ ॥ कुग्राम (दुर्गम वासस्थल) अथवा नगर, और घरों के भीतर के भी घर, छोटे बड़े सब, भिक्षा के मिस से, ध्यान डालना चाहिए ॥ २४ ॥ (घूमने से) बहुतों में कुछ न कुछ मिल ही जाता है-विचक्षण लोगों से मित्रता होती है, पर खाली बैठे रहने से, घूमना या भ्रान प्राप्त करना, कुछ भी, नहीं होता ॥ २५ ॥ सावधानी के साथ सब कुछ जानना चाहिए, सब प्रकार की खबरें पहले ही लेते रहना चाहिए और जहाँ जाते वने वहाँ विवेक-पूर्वक जाना चाहिए ॥ २६ ॥ नाना प्रकार के चुटकले मालूम होने से मनुष्य सब का मन प्रसन्न कर सकता है । और यदि वे चुटकले दूसरे को लिख दे तो फिर क्या कहना है ? फिर तो लोगों पर उसका असौम्य परोपकार हो ! ॥ २७ ॥ जैसा जिसको चाहिए वैसा उसको देने से पुरुष सर्वमान्य और श्रेष्ठ होता है ॥ २८ ॥ जो भूमंडल में सर्वमान्य है उसे सामान्य पुरुष न समझो-उस पुरुष के पास कितने ही लोग, अनन्य होकर रहते हैं-सर्वमान्य पुरुष लोकसंग्रह अच्छा कर सकता है ॥ २९ ॥ ऐसे चातुर्य के लक्षण हैं, चातुर्य से दिग्विजय करनेवाले पुरुष के पास क्या कर्मा रह सकती है ? जहाँ जाता है वहाँ उसके लिए सब कुछ है ! ॥ ३०

सातवाँ समास—अधोर्ध्व-लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

जो नाना विकारों का मूल है वही मूलमाया है, वह सूक्ष्मरूप से अर्च-चल में (परब्रह्म में) चञ्चलरूप रहती है ॥१॥ मूलमाया ज्ञातृत्वरूप है—वह परब्रह्म का प्रथम स्फुरण है—(वह संकल्परूप है)—इसीको पद्मगुणेश्वर भगवान् जानना चाहिए ॥२॥ इसीको प्रकृति-पुरुष, शिवशक्ति और अर्द्धनारी-नटेश्वर कहते हैं, पर वह सारी जगज्जोति ही इन सब का मूल है ॥ ३ ॥ संकल्प का जो चलन है वही वायु (माया) का लक्षण है। वायु में त्रिगुण और पञ्चभूत हैं ॥४॥ चाहे जिस बेल को देखिये उसका मूल गहराई तक चला जाता है और पत्र, पुष्प तथा फल भी मूल ही में रहते हैं ॥ ५ ॥ इसके अतिरिक्त और भी नाना प्रकार के रंग, आकार विकार, तरंग, स्वाद, इत्यादि भीतर मूल ही में रहते हैं ॥६॥ वही मूल पहले फोड़ कर देखने से उसमें कुछ भी नहीं मालूम होता; पर फिर आगे बढ़ते बढ़ते उससे सब कुछ दिखने लगता है ॥७॥ किसी टीले पर जो बेल उगती है वह नीचे की ओर जोर से बढ़ती है और फिर भूतल पर छैल जाती है ॥ ८ ॥ वस, यही हाल मूलमाया का जानो; अनुभवद्वारा यह सत्य बात जानना चाहिए कि, पञ्चभूत और त्रिगुण मूलमाया में पहले ही से हैं ॥ ९ ॥ बेल बराबर छैलती जाती है, नाना विकारों से शोभती है और उन विकारों से अन्य विकार भी खूब बढ़ते जाते हैं ॥ १० ॥ नाना शाखाएं फूटती हैं, नाना भाडियां बढ़ती हैं; और पृथ्वी पर अनन्त बेलें इसी तरह बढ़ती जाती हैं ॥ ११ ॥ कितने ही फल गल पड़ते हैं, तुरत ही दूसरे लगते हैं; इसी प्रकार सदा होते और जाते हैं ॥ १२ ॥ कोई बेलें ही सूख जाती हैं, फिर वही दूसरी उगती है—इस प्रकार न जाने कितनी बेलें आई और गई ! ॥१३॥ पत्ते भरते हैं और लगते हैं; कलफूलों का भी ऐसा ही हाल होता है—इन फलफूलों और पत्तों में नाना प्रकार के जीव भी बने रहते हैं ॥ १४ ॥ कभी कभी तो सारी बेल ही सूख जाती है और मूल से फिर उगती है—इसी प्रकार यह सब विचार प्रत्यक्ष अनुभव से जान लेना चाहिए ॥ १५ ॥ मूल जब खोद कर निकाल डाला जाता है—प्रत्ययज्ञान से जब निर्मूल किया जाता है—तब सब प्रकार का बढ़ना रुक जाता है ॥ १६ ॥ मूल में (आदि में) बीज रहता है, अन्त में भी बीज रहता है और बीच में जलरूप बीज रहता है—इसी प्रकार यह सब स्वाभाविक ही फैला हुआ है ॥ १७ ॥ यह सब बीजसृष्टि, (अर्थात् बीज से उत्पन्न हुआ फलफूलपत्र आदि सारा पसारा,) वे सब बातें प्रगट करती हैं जो मूल में हैं । बाद को, जिसका

जो अंश होता है वह उसमें स्वाभाविक ही लय हो जाता है ॥१८॥ जाता है, आता है, फिर जाता है—इस प्रकार प्रत्यावृत्ति करता है; परन्तु जो आत्मज्ञानी है उसे यह प्रत्यावृत्ति का कष्ट नहीं होता ॥ १९ ॥ यद्यपि ऐसा कहते हैं कि, उसे कष्ट नहीं होता, तौ भी उसे कुछ न कुछ जानना ही पड़ता है । आत्मा यद्यपि अपने हृदय में ही है; पर वह सब को कहां मालूम हो सकता है? ॥ २० ॥ उसी (आत्मा ही) के द्वारा कार्य करते हैं; पर उसे नहीं जानते । वह दिखता ही नहीं, तब फिर विचारे लोग क्या करें ! ॥ २१ ॥ विषयभोग भी उसीके द्वारा होता है उसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता । वास्तव में स्थूल को छोड़ कर सूक्ष्म में प्रवेश करना चाहिए ॥ २२ ॥ अपना और जगत् का अन्तःकरण एक ही है; सिर्फ शरीरभेद के विकार और और हैं ॥ २३ ॥ एक उँगली की वेदना दूसरी उँगली को नहीं मालूम होती, यही हाल हाथ पैर आदि अवयवों का भी है ॥ २४ ॥ जब एक ही शरीर का एक अवयव दूसरे अवयव की पीड़ा नहीं जानता तब फिर दूसरे की क्या जाने? अतएव, दूसरे का अन्तःकरण जान नहीं पड़ता ॥ २५ ॥ एक ही जल से सकल वनस्पति य होती है, पर उनमें नाना प्रकार के भेद दिखते हैं । जितनी टूट जाती है उतनी ही सूखती है, बाकी सब डहडही बनी रहती है ॥ २६ ॥ इसी तरह भेद हो गया है, पर एक का भेद दूसरे को नहीं मालूम होता । परन्तु ज्ञात हो जाने पर यह आत्मा का भेद नहीं रहता (ज्ञानी पुरुष सारे जगत् में एक ही आत्मा देखता है) ॥२७॥ यद्यपि देहप्रकृति के कारण आत्मत्व में भेद भासता है, तथापि यह बात बहुत लोग जानते हैं (कि, वस्तुतः भेद नहीं है) ॥ २८ ॥ देख सुन कर जान लेते हैं, चतुर लोग मन परखते हैं, विचक्षण लोग गुप्तरूप से (सूक्ष्मता से) सभी कुछ समझ लेते हैं ॥ २९ ॥ जो बहुतों का पालन करता है वह बहुतों का अन्तःकरण जानता है और विचक्षणता के साथ सब कुछ मालूम कर लेता है ! ॥ ३० ॥ पहले मन परख लेते हैं, तब विश्वास करते हैं—इसी रीति से प्राणिमात्र वर्तते हैं ॥३१॥ यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात, और ठीक, है कि, स्मरण के बाद विस्मरण होता है । अपना ही रखा हुआ पदार्थ मनुष्य स्वयं भूलता है ॥ ३२ ॥ अपना ही अपने को याद नहीं आता, जो कुछ कह चुके हैं उसीका स्मरण नहीं आता । अनन्त कल्पनाएं उठती हैं—कहां तक ध्यान में रखी जायें ? ॥ ३३ ॥ ऐसा यह चंचल-चक्र है, कुछ ठीक है, कुछ टेढ़ा है । चाहे कोई पुरुष रंक हो और चाहे प्रत्यक्ष इन्द्र हो—सब के पीछे स्मरण-अस्मरण लगा ही है ॥ ३४ ॥ स्मरण (चैतन्य) कहते हैं देव को और विस्मरण (मूढ़ता) कहते हैं दानव को, और मनुष्य स्मरण-विस्मरण दोनों से वर्तते हैं ॥ ३५ ॥

इसी लिए दैवी और दानवी ये दो सम्पदा हैं-इस बात की प्रतीति, विवेक-सहित, मन में लाना चाहिए ॥ ३६ ॥ जैसे दर्पण में नेत्र ही से नेत्र देखा जाता है वैसे ही विवेक से विवेक जानना चाहिए, और आत्मा से आत्मा पहचानना चाहिए ॥ ३७ ॥ जैसे स्थूल से स्थूल को खुजलाते हैं वैसे ही सूक्ष्म से सूक्ष्म को समझना चाहिए और संकेत से संकेत को मन में लाना चाहिए ॥ ३८ ॥ विचार से विचार जानना चाहिए, अंतरात्मा से अन्तरात्मा जानना चाहिए और दूसरे के अंतःकरण में प्रवेश करके उसका अंतःकरण भी जानना चाहिए ॥ ३९ ॥ स्मरण में विस्मरण होना ही भेद का लक्षण है। चाहे जो हो, यदि वह एकदेशीय (संकोचित) होता है तो वह परिपूर्ण नहीं हो सकता ॥ ४० ॥ आगे सीखता है, पीछे भूलता है; आगे उजैला है, पीछे अंधेरा है; सब कुछ पहले याद आता है, पीछे भूल जाता है ॥ ४१ ॥ तुर्या को स्मरण जानना चाहिए; सुषुप्ति को विस्मरण जानना चाहिए-ये दोनों बराबर शरीर में बर्तती रहती हैं ॥ ४२ ॥

आठवाँ समास-सूक्ष्म-जीव-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

कोई कोई कीड़े रेणु से भी सूक्ष्म होते हैं, उनकी आयु भी बहुत ही कम होती है और उसी तरह युक्ति बुद्धि भी उनमें कम होती है ॥ १ ॥ ऐसे नाना प्रकार के जीव होते हैं, वे देखने से नहीं दिखते; पर उनमें भी अंतःकरण-पञ्चक की स्थिति है ॥ २ ॥ उनके भर के लिए उनका ज्ञान बस है, उनके विषय और उनकी इन्द्रियां भी उनके पास हैं; उनके सूक्ष्म शरीरों को विचार कर कौन देखता है? ॥ ३ ॥ इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीड़ों के लिए चीटी ही बहुत बड़ा हाथी है! लोग कहते भी हैं कि, "चीटी के लिए मृत ही अथाह है" ॥ ४ ॥ सारांश, चीटियों की तरह अनन्त छोटे-बड़े शरीर हैं। उन सब में भी जीवेश्वर वास करता है ॥ ५ ॥ इस प्रकार के अनन्त कीड़े पृथ्वी पर भरे हुए हैं। अत्यन्त उद्योगी पुरुष ही इन सब का विचार करके देखता है ॥ ६ ॥ अनेक नक्षत्रों में नाना प्रकार के जीव तक उद्योगी पुरुषों को पर्वत के समान (सूक्ष्मदर्शक यंत्र से?) भासते हैं। वे लोग उन जीवों की बड़ी बड़ी अवस्थाओं तक का पता लगा लेते हैं! ॥ ७ ॥ पक्षियों का सा कोई छोटा नहीं है और पक्षियों के बराबर कोई बड़ा भी नहीं है-सर्प और मछलियों का भी यही हाल जानो ॥ ८ ॥ चीटी से लेकर

हार्या तक बडे बडे शरीर है, उनका विचार करने से उनके भीतर के तत्व का निश्चय हो जाता है ॥ ९ ॥ उनमें नाना जातियां और नाना रंग हैं; अनेक जीवों के अनेक रूप हैं; कोई सुरंग है, कोई बदरंग है—कहाँ तक बतलाया जाय ? ॥ १० ॥ किसीको जगदीश्वर ने सुकुमार बनाया है, किसीको कठोर बनाया है और किसी किसीके शरीर सुवर्ण के समान दैदीप्यमान बनाये हैं ॥ ११ ॥ इस प्रकार उन जीवों में शरीरभेद, आचारभेद, वाचाभेद और गुणभेद पाये जाते हैं, पर अंत करण सब का अभेद और एकरूप है—आत्मा सब का एक ही है ॥ १२ ॥ उन जीवों में से कोई कष्टदायक है; और कोई घातक है । इस प्रकार विचार करने पर इस सृष्टि में कितने ही अनमोले कौतुक देख पडते हैं ॥ १३ ॥ इस प्रकार सबों का विचार कर देखनेवाला इस जगत् में कौन प्राणी है ? अपने अपने मतलब-भर के लिए, किंचित् मात्र, सभी जान लेते हैं ॥ १४ ॥ वसुधरा नवखडों में विभक्त है, इसके चारो ओर समसागरों का घेरा है; ब्रह्मांड के बाहर भी पानी घिरा है, पर बात को देखता कौन है ? ॥ १५ ॥ उस पानी में अनन्त जीव वास करते हैं—इन असंख्य जीवों की स्थिति कौन जानता है ? ॥ १६ ॥ जहाँ जीवन (जल) है वहाँ जीव है—यह उत्पत्ति का स्वभाव है । विचार करने से उसका अभिप्राय बहुत विस्तृत जान पड़ता है ॥ १७ ॥ भूगर्भ में नाना प्रकार का नीर है, उस नीर में शरीर है—नाना प्रकार के छोटे-बड़े जीव हैं—उनको कौन जानता है ! ॥ १८ ॥ कोई कोई प्राणी आकाश में रहते हैं—उन्होंने कभी पृथ्वी को देखा तक नहीं है । पक्ष निकलने पर भी ऊपर ही ऊपर उड जाते हैं ॥ १९ ॥ नाना प्रकार के खेचर, भूचर, वनचर और जलचर आदि चौरासी लक्ष जीवयोनियों को कौन जानता है ? ॥ २० ॥ उष्ण तेज को छोड कर सब जगह जीवों का वास है । कल्पना से प्राणी होते हैं; इन सब को कौन जानता है ? ॥ २१ ॥ कोई नाना प्रकार की सामर्थ्यों से बनने हैं, कोई इच्छामात्र से उत्पन्न होते हैं और कोई वचन निकलने ही शाप देह पा जाते हैं ॥ २२ ॥ कोई वाजीगरी के देह होते हैं, कोई गारुडी के होते हैं और कोई देवताओं के देह होते हैं—ऐसे नाना प्रकार के देह होते हैं ॥ २३ ॥ कोई क्रोध से होते हैं, कोई तप से जन्मते हैं और कोई उ-शाप से पूर्वदेह पाते हैं ॥ २४ ॥ ऐसी भगवान् की करनी हैं—कहाँ तक बतलाई जाय ? विचित्र माया के कारण यह सब होना जाता है ॥ २५ ॥ यह माया (प्रकृति) नाना प्रकार के ऐसे अचञ्चल काम कर डालती है कि, जिनको न कभी किसीने देखा है और न सुना है । उसकी सारी विचित्र कला समझना चाहिए ॥ २६ ॥ लोग थोड़ा बहुत समझ लेते हैं, गेट भर के लिए विश्वास लेते हैं, और इतने ही से व्यर्थ के लिए आता-

फन का गर्व करके नष्ट होने हैं ॥ २७ ॥ जो अन्तरात्मा सब में है वही एक सर्व-आत्मा जानी है । उसकी महिमा जानने के लिए बुद्धि कहां तक चल सकती है ! ॥ २८ ॥ सप्तकंचुक ब्रह्मांड है, उसमें सप्तकंचुक पिंड है; उस पिंड में भी न जाने कितने प्राणी वास करते हैं ! ॥ २९ ॥ जब अपने देह ही का हाल अपने को नहीं मालूम होता तब फिर सब कुछ कैसे मालूम हो सकता है ? पर लोग अल्पज्ञता ही से उतावले हो जाते हैं ॥ ३० ॥ अणुरेणु के समान जो छोटे छोटे जन्तु हैं उनके तो हम विराट्पुरुष हैं ! उनके हिसाब से तो हमारी आयु बहुत बड़ी है ! ॥ ३१ ॥ उनके बर्ताव करने के अनेक रीति-रवाज होते हैं. ऐसा कौन है जो ये सब कौतुक जानता हो ? ॥ ३२ ॥ परमेश्वर की करनी धन्य है; अन्तःकरण में उसका अनुमान भी नहीं होता; पर यह पापिनी अहन्ता व्यर्थ के लिए घेरती है ॥ ३३ ॥ अहन्ता छोड़ कर परमेश्वर की अगाध करनी का विचार करना चाहिए; पर इस काम को देखते हुए मनुष्य का जीवन बहुत थोड़ा है—वह इस काम के लिए बस नहीं है ॥ ३४ ॥ यद्यपि जीवन अल्प है, देह क्षणभंगुर है और शरीर-पतन होते देर नहीं लगती, तथापि लोग व्यर्थ के लिए गर्व करते हैं ! ॥ ३५ ॥ यह देह मलीन ठौर में जन्मा है और मलीन ही रस से बड़ा है. तब फिर लोग इसे बड़ा किस हिसाब से कहते हैं ? ॥ ३६ ॥ यह मलीन और क्षणभंगुर है, इसमें व्यथा लगी ही रहती है, सदा चिन्ता लगी रहती है; तिस पर भी लोग अपने अविचार से इसे व्यर्थ के लिए बड़ा कहते हैं ॥ ३७ ॥ यह शरीर और सम्पत्ति दो दिन के लिए है, जीवन में आदि से लेकर अन्त तक अनेक भगड़े लगे रहते हैं; तिस पर भी लोग टीमटाम (ढाँग) करके व्यर्थ के लिए बढ़पन दिखाते हैं ॥ ३८ ॥ चाहे जैसा ढाँग रचा जाय; पर अन्त में खुल जाता है, और खुल जाने पर चारों ओर दुर्गंध उड़ती है—बदनामी होती है—इस लिए जो पुरुष विवेक से किसी काम में लगता है वही धन्य है ॥ ३९ ॥ व्यर्थ के लिए ढाँग क्यों करना चाहिए ? अहन्ता का गडबड बस करो ! विवेक से परमेश्वर को ढूँढना सब से अच्छा है ॥ ४० ॥

नववाँ समास-पिंड की उत्पत्ति ।

॥ श्रीराम ॥

चारों खानियों के सारे प्राणी पानी से ही बढ़ते हैं। ऐसे असंख्य होते और जाते हैं ॥ १ ॥ पञ्च-तत्त्वों का शरीर बनता है और आत्मा के सय रह कर वर्ताव करता है, पर वास्तव में इसका मूल यदि ढूँढा जाय तो जलरूप है ॥ २ ॥ स्त्री पुरुषों के शरीर से जलरूप वीर्य निकल कर आपस में मिलते हैं ॥ ३ ॥ फिर अन्नरस, देहरस, रक्त और शुक्र से उनकी यकिया बंधती है, इसके बाद वह दोनों रसों की यकिया खूब बढ़ने लगती है ॥ ४ ॥ गर्भ बढ़ते बढ़ते बढ जाता है, कोमल से कठिन हो जाता है और फिर, इसके बाद, सारे अवयवों में जल प्रविष्ट होता है ॥ ५ ॥ गर्भ सम्पूर्ण होने पर बाहर निकलता है, भूमि पर गिरते ही रोने लगता है। वस, सब का सारा शरीर इसी तरह बनता है ॥ ६ ॥ देह बढ़ती है, कुबुद्धि बढ़ती है, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक सब ही कुछ होता है, और देखते देखते वह सारा बढ़ता और नष्ट होता है ॥ ७ ॥ इस प्रकार ज्यों ज्यों सब का शरीर दिन दिन बड़ा होता जाता है त्यों त्यों कुछ कुछ विचार सूझने लगता है ॥ ८ ॥ जैसे फल में बीज आता है उसी तरह मनुष्य के देखते सुनते सब कुछ समझ में आने लगता है ॥ ९ ॥ जल से बीज अंकुरते हैं, जल न होने से नष्ट हो जाते हैं। मिट्टी और जल एक जगह होने से काम चलता है ॥ १० ॥ दोनों में बीज होने से भाँग कर सहज ही में अंकुर निकल आता है। बढ़ते बढ़ते फिर आगे और भी आनन्द मिलता है ॥ ११ ॥ इधर नीचे मूल दौडते हैं, उधर चोटी छैल रही है। मूल और चोटी दोनों बीज से होते हैं ॥ १२ ॥ मूल पाताल की ओर चलते हैं, चोटियाँ अन्तराल की ओर दौडती हैं। इसी तरह नाना प्रकार के पत्र, पुष्प और फलों से वृक्ष लद जाते हैं ॥ १३ ॥ फलों के जनक (कारण) फूल हैं; फूलों के जनक पत्ते हैं और पत्तों की पैदा करनेवाली पेड़ियाँ हैं ॥ १४ ॥ पेड़ियों के जनक वारोक मूल हैं, मूलों का जनक उदक है और उदक सूख जाने पर पृथ्वी रह जाती है! ॥ १५ ॥ यही अनुभव है। अतएव, पृथ्वी सब की जननी है, पृथ्वी का जनक 'आपोनारायण' की मूर्ति है ॥ १६ ॥ उसका बाप आग्निदेव है, आग्नि का बाप वायुदेव है, वायुदेव का बाप स्वाभाविक ही अन्तरात्मा है ॥ १७ ॥ इस प्रकार सबों का जनक अन्तरात्मा है, उसे, जो नहीं जानता वह दुरात्मा है-अर्थात् आत्मा से वह दूर रहता है! ॥ १८ ॥ (ऐसा पुरुष) पास रहते हुए भी आत्मा को भूला रहता है, अनुभव नहीं प्राप्त करता। अन्तरात्मा ही के कारण आता है और योंही चला जाता है ॥ १९ ॥ इस लिए

सब का जनक जो परमात्मा है उससे अनन्यभाव रखने पर फिर यह प्रकृति का स्वभाव बदलने लगता है ॥ २० ॥ (स्वभाव बदलने पर) अपना व्यासंग करता है, ध्यानभंग कभी नहीं होता और बोलने चलने में व्यंग्य (insinuation) नहीं आने देता ॥ २१ ॥ जो कुछ पिता ने निर्माण किया है उसे देखना चाहिए । क्या क्या पिता ने बनाया है और कितना देखें ? ॥ २२ ॥ जिस पुरुष में वह परम पिता (अन्तरात्मा) प्रकाशित हो जाता है वही भाग्यवान् है । जिसमें अल्प प्रकाशित होता है वह अल्प भाग्यवान् है । ॥ २३ ॥ उस नारायण का, मन में ध्यान रख कर, अखण्ड स्मरण करना चाहिए । इतना करने पर, फिर, लक्ष्मी उसके पास से कहां जायगी ? ॥ २४ ॥ नारायण विश्व में व्याप्त है—उसको पूजा करते रहना चाहिए । अर्थात् सब को सन्तुष्ट करना चाहिए—सब को सन्तुष्ट रखना मानो नारायण का सन्तुष्ट रखना है ॥ २५ ॥ जब हम उपासना का विचार करते हैं तब जान पड़ता है कि, वह विश्वपालिनी है । उसकी लीला अगम्य है । उसकी कोई परीक्षा नहीं कर सकता* ॥ २६ ॥ परमात्मा की लीला परमात्मा के बिना और दूसरा कौन जान सकता है ? हम जितना कुछ देखते हैं उतना सब हमें परमात्मा ही देख पड़ता है ॥ २७ ॥ उपासना सब ठौर है, आत्माराम कहां नहीं है ? ठौर ठौर में राम भरा हुआ है—उपासना, आत्माराम और राम तीनों एक ही हैं, और सर्व-व्यापी हैं ॥ २८ ॥ ऐसी मेरी उपासना है ! वह अनुमान में नहीं लाई जा सकती, वह निरंजन के भी उस पार ले जाती है ! ॥ २९ ॥ अन्तरात्मा के योग से कर्म होते हैं, अंतरात्मा के योग से उपासक बनते हैं और अन्तरात्मा ही के योग से कितने ही लोग ज्ञानी बनते हैं ॥ ३० ॥ नाना शास्त्र, नाना मत, ये सब परमेश्वर ने कहे हैं । नेमक-अनेमक या व्यस्त-अव्यस्त कर्म के अनुसार होते हैं ॥ ३१ ॥ परमेश्वर को सब कुछ करना पड़ता है, उसमें से जितना ले सकें उतना लेना चाहिए । अधिकार के अनुसार चलना अच्छा है ॥ ३२ ॥ उपासना में आवाहन करने और विसर्जन करने का ही विधान बताया गया है (अर्थात् माया के उद्भव और संहार का ही विचार किया जाता है)—इतना पूर्वपक्ष हुआ—उत्तरपक्ष या सिद्धान्त इसके आंग है ॥ ३३ ॥ वेदान्त, सिद्धान्त और 'धादांत' (शास्त्र-प्रतीति, गुरु-प्रतीति, आत्म-प्रतीति) इन तीनों में आत्मप्रतीति का प्रमाण मुख्य है ।

* इस लिए परमात्मा की सेवा, और विश्व या जगत् की सेवा करना, एक ही बात है । परमात्मा की सेवा को ही उपासना कहते हैं, इस लिए उपासना विश्वपालिनी हुई ।

पंचोकारण छोड़ कर महावाक्य, जो हितकारक है, उसके अर्थ का विचार करना चाहिए ॥ ३४ ॥

दसवाँ समास-सिद्धान्त-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

आकाश में सब कुछ होता है और जाता है; पर जो कुछ होता जाता है वह आकाश की तरह ठहरता नहीं । उसी तरह निश्चल (परब्रह्म) में चंचल (माया) नाना प्रकार से होती जाती है, पर वह परब्रह्म की तरह निश्चल नहीं है ॥ १ ॥ घना अंधकार धिर आने पर आकाश काला जान पड़ता है और रवि की किरणें फैल जाने पर वह पीला जान पड़ता है ॥ २ ॥ जब बहुत ठंड होती है तब आकाश ठंडा मालूम होता है । और गरम हवा से आकाश सूखा मालूम होता है ॥ ३ ॥ परन्तु ऐसा जो कुछ जान पड़ता है वह होता है और चला जाता है । वह तो कभी नहीं हो सकता कि वह भी आकाश की तरह निश्चल रहे ॥ ४ ॥ उत्तम ज्ञातृत्व को बात अच्छी तरह समझ कर देखना चाहिए, आकाश निराभास है और भास मिथ्या है ॥ ५ ॥ उदक फैलता है, वायु फैलता है और आत्मा तो अत्यंत ही फैलता है-सारे तत्त्व फैलते हैं ॥ ६ ॥ चंचल और निश्चल सब अन्नःकरण को मालूम होता है । विचार करने से ही प्राणिमात्र को सब कुछ मालूम होता है ॥ ७ ॥ विचार करते करते (मनन करते रहने से) अन्त में निवृत्तिपद में लीन हो जाते हैं और फिर वियोग नहीं होता ॥ ८ ॥ यदा (निवृत्तिपद में) ज्ञान का विज्ञान हो जाता है, मन उन्मत्त हो जाता है । इस प्रकार विवेक से तत्त्व-निगमन करने पर अनन्य हो जाते हैं ॥ ९ ॥ पिना (अतर्गता) को मोज कर देखने से चंचल का निश्चल हो जाता है । उस दौर में देव-भक्त-पत्न चला जाता है-अनन्यता होती है ॥ १० ॥ वहाँ दौर टिकाना आदि पदार्थ कुछ नहीं हैं-पदार्थमात्र विलकुल हैं ही नहीं । सब के जानने के लिए कुछ तो भी बतलाते हैं ! ॥ ११ ॥ जब अज्ञानशक्ति का निगमन हो जाता है, ज्ञानशक्ति भी लय हो जाती है तब, देगो कि अज्ञानगुण्य हो जाने पर, कैसा स्थिति होती है ॥ १२ ॥ मुख्य निर्विकार ममाधि उमे यदने है जब चंचल (माया) का नदबड़ ही न रहे । माय का सननाग हो जाने पर यह ज्ञान (पुन्य) निर्विकारी शान्त (परब्रह्म

में लीन हो जाता है ॥ १३ ॥ चंचल (माया) वास्तव में विकारी है; परन्तु यह चंचल वहाँ रहता ही नहीं । निश्चल के तर्ह चंचल मिल कर नहीं रह सकता ॥ १४ ॥ महावाक्य का विचार करने के लिए संन्यासी ही अधिकारी है; पर जिस पुरुष पर दैवी कृपा है वह भी उसका विचार करता है ॥ १५ ॥ संन्यासी, सम्यक् प्रकार से त्याग करनेवाले को कहते हैं—सब विचारवान् पुरुष संन्यासी हैं । अपनी करनी निश्चय करके अपने ही पास है ॥ १६ ॥ जगदीश के प्रसन्न होने पर सन्देह कहाँ रह सकता है? अस्तु । ये विचार विचारी पुरुष जानते हैं ॥ १७ ॥ जो विचारी पुरुष समझ जाते हैं वे निस्संग हो जाते हैं । और जो देहाभिमानी रह जाते हैं वे देहाभिमान की ही रक्षा करते हैं ॥ १८ ॥ अलक्ष (ब्रह्म) ध्यान में बैठ जाने से पूर्वपक्ष (सन्देह) उड़ जाता है और हेतुरूप अन्तर्साक्षी आत्मा भी परमात्मा में लय हो जाता है ॥ १९ ॥ आकाश और पाताल दोनों अन्तराल के नाम हैं । दृश्य, अर्थात् पृथ्वी का परदा बीच से खींच लेने पर दोनों मिल कर एक हो जाते हैं ॥ २० ॥ वे दोनों (आकाश-पाताल) एक ही हैं, परन्तु मन उपाधि की ओर ध्यान रख कर देखता है । उपाधि का निरास कर डालने पर भेद कैसे रह सकता है ? ॥ २१ ॥ वह शब्द से परे है, कल्पना से परे है, और मन-बुद्धि से अगोचर है । विचारपूर्वक मन में इसका बोध करना चाहिये ॥ २२ ॥ विचार करते करते मालूम हो जाता है । परन्तु जितना कुछ मालूम होता है उतना सब व्यर्थ जाता है (“मालूम हुआ” — यह ज्ञान रहते हुए मालूम होना व्यर्थ है) कैसा अवघड़ विषय है—उसे बतलावें तो किस प्रकार ? ॥ २३ ॥ महावाक्य के वाच्यांश का विचार करने पर जो लक्ष्यांश निकलता है वह भी अलक्ष (परब्रह्म) में लीन हो जाता है और उसके आगे बोलना बन्द हो जाता है ॥ २४ ॥ जो शाश्वत को खोजता जाता है वह सच्चा ज्ञानी होता है और विकार छोड़ कर निर्विकार (परब्रह्म) में मिल जाता है ॥ २५ ॥ सुप्तावस्था में बहुत से दुःस्वप्न देख पड़ते हैं, पर जग उठने पर वे मिथ्या हो जाते हैं; फिर चाहे उनकी याद आवे तौ भी वे मिथ्या ही हैं ॥ २६ ॥ (एक वार ज्ञान हो जाने पर फिर देह का महत्त्व नहीं रहता) प्रारब्धयोग के अनुसार फिर देह रहे चाहे न रहे—अंतःकरण का विचार अवश्य अचल अटल रहता है ॥ २७ ॥ जैसे बीज अग्नि से भुँज जाने पर उसका बढना बन्द हो जाता है, वैसे ही ज्ञाता का वासनारूप बीज भी, ज्ञानाग्नि से, दग्ध हो जाता है ॥ २८ ॥ विचार से बुद्धि निश्चल हो जाती है और बुद्धि से ही कार्यसिद्धि होती है । बड़ों की बुद्धि का विचार करने से जान पड़ता है कि, उनकी बुद्धि भी निश्चलता तक पहुँची हुई होती है ॥ २९ ॥ जो निश्चल का ध्यान

करता है वह निश्चल होता है, जो चंचल का ध्यान करता है वह चंचल होता है और भूतों का ध्यान करता है वह भूत होता है ॥३०॥ जो अन्त पा चुका है (जिसे ब्रह्मप्राप्ति हो चुकी है) उसका माया कुछ भी नहीं कर सकती । अन्तर्निष्ठों के लिये माया एक प्रकार की बाजीगरी है ॥ ३१॥ जब यह बात मालूम हो जाती है कि, माया मिथ्या है-और जब उसके मिथ्यात्व की भावना विचार से दृढ़ हो जाती है-तब अकस्मात् सारा भय ही दूर हो जाता है ॥ ३२॥ अस्तु । हमको उपासना का कृतज्ञ होना चाहिए भक्ति का प्रचार करना चाहिए और विवेक से अन्तःकरण में सब कुछ समझ लेना चाहिए ॥ ३३ ॥



सोलहवाँ दशक ।

—*—

पहला समास—वाल्मीकि-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

उस वाल्मीकि को धन्य है । वह ऋषियों में पुण्यश्लोक था और उसके द्वारा यह त्रैलोक्य पावन हुआ है ॥ १ ॥ यह तो कभी दृष्टि से देखा नहीं गया कि, किसीने भविष्य कहा हो और फिर शतकोटि ! चाहे सारी सृष्टि छान डाली जाय; पर तौ भी ऐसी बात सुनने को भी नहीं मिल सकती ॥ २ ॥ भविष्य का एक वचन भी यदि कभी सत्य हो जाता है तो तमाम पृथ्वी मंडल के लोग उस पर आश्चर्य करते हैं ॥ ३ ॥ जब रघुनाथ का अवतार भी न हुआ था तभी उसने, शाखाधार लिये बिना, रामकथा का विस्तार कर दिया ! ॥ ४ ॥ उसके वाग्विलास को सुन कर महेश भी सन्तुष्ट हो गया; फिर उसने शतकोटि रामायण त्रैलोक्य में बांट दी ॥ ५ ॥ उसका कवित्व शंकर ने देखा, दूसरे से उसके कवित्व का अनुमान भी नहीं हो सका । उससे रामोपासकों को परम समाधान हुआ ॥ ६ ॥ बड़े बड़े ऋषि हो गये, बहुतों ने कवित्व किया है; पर वाल्मीकि के समान कवीश्वर न हुआ है, न होगा ॥ ७ ॥ पहले दुष्ट कर्म किये; पर फिर राम-नाम से पावन हुआ । दृढ नियमपूर्वक नाम जपने से उसे असीम पुण्य प्राप्त हुआ ॥ ८ ॥ उलटा नाम जपने से पाप के पर्वत चूर हो गये और पुण्य के ध्वज ब्रह्मांड पर फडक उठे ॥ ९ ॥ वाल्मीकि ने जहाँ तप किया वह वन पुण्य से पावन होगया और उसके तपोबल से सूखे काठ में भी अंकुर फूटा ॥ १० ॥ पहले वाल्मीकि भूमंडल में विख्यात जीवघातकी 'वाल्हा' नाम का कोल था । परन्तु अब उसीको बड़े बड़े विबुध और ऋषीश्वर वन्दन करते हैं ॥ ११ ॥ जिस पुरुष में उपरति और अनुताप आता है उसमें पाप कैसे रह सकता है? देह के अंत होने तक तप करने से वाल्मीकि का पुण्यरूप दूसरा जन्म हुआ ॥ १२ ॥ अनुताप में आकर ऐसा आसन लगाया कि, देह की बाँबी बन गई; इसी लिए आगे वही 'वाल्मीकि' नाम पड़ा ॥ १३ ॥ बाँबी को संस्कृत में 'वाल्मीक' कहते हैं, इसी लिए 'वाल्मीकि' नाम पड़ा । उसके तीव्र तप को सुन कर बड़े बड़े तपस्त्रियों का भी हृदय कर्प उठता है ॥ १४ ॥ वह तपस्त्रियों में श्रेष्ठ है, वह कवीश्वरों में श्रेष्ठ है

और उसका कथन स्पष्ट और निश्चयात्मक है ॥ १५ ॥ वह निष्ठावन्तों का मंडन है; रघुनाथभक्ति का भूषण है, उसकी धारणशक्ति असाधारण है। वह साधकों को सदृढ करता है ॥ १६ ॥ “ श्रीरघुवीर समर्थ ” के कवीश्वर वाल्मीकि को धन्य है। उसको मेरा साष्टांगभाव से नमस्कार है ॥ १७ ॥ यदि वाल्मीकि ऋषि ने न बतलाई होती तो रामकथा हमें कैसे मालूम होती? हम ऐसे समर्थ महात्मा का कहां तक वर्णन करें! ॥ १८ ॥ उसने रघुनाथ की कीर्ति प्रगट की, इस कारण उसकी भी महिमा बढी और रामकथा के श्रवण मात्र से भक्तमंडली सुखी हुई ॥ १९ ॥ अपना काल सार्थक किया, रघुनाथकीर्ति में मग्न हुआ और उसके द्वारा भूमंडल में बहुत लोगों का उद्धार भी हुआ ॥ २० ॥ ऐसे बड़े बड़े रघुनाथभक्त होंगये, उनकी महिमा अपार है। “ रामदास कहता है ” कि मैं उन सबों का किंकर हूं ॥ २१ ॥

दूसरा समास-सूर्य-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

इस सूर्यवंश को धन्य है, धन्य है। यह सब वंशों में श्रेष्ठ है। मार्तण्ड-मण्डल का प्रकाश सारे भूमंडल में फैला हुआ है ॥ १ ॥ सोम के शरीर में लांछन है, वह एक पक्ष में क्षीण होता जाता है और रविकिरणों के फैलते ही वह कला-हीन हो जाता है ॥ २ ॥ इस कारण सूर्य की बराबरी वह भी नहीं कर सकता। सूर्य ही के प्रकाश से प्राणिमात्र को उजेला मिलता है ॥ ३ ॥ इस सृष्टि में नाना प्रकार के उत्तम, मध्यम, अधम और सुगम, दुर्गम, धर्म, कर्म, नित्य-नियम, इत्यादि सब सूर्य ही से होते रहते हैं ॥ ४ ॥ वेद, शास्त्र, पुराण, मंत्र, यंत्र, नाना साधन, संख्या, ज्ञान, पूजा, विधि-विधान, आदि कोई कर्म-धर्म सूर्य बिना नहीं हो सकते ॥ ५ ॥ असंख्य प्रकार के नाना योग, नाना मत सूर्य के उदय होने पर अपने अपने पंथ से जाते हैं ॥ ६ ॥ प्रापंचिक अथवा पारमार्थिक-कोई भी काम हो-दिन के बिना निरर्थक है-सार्थक नहीं होता ॥ ७ ॥ सूर्य का अधिष्ठान नेत्र हैं, नेत्र न होने से सब अन्धे हैं, अतएव, सूर्य बिना कोई काम नहीं चलता ॥ ८ ॥ यदि कहेंगे कि, अन्धे तो कविता करते हैं, तो यह भी सूर्य का ही कारण है; क्योंकि मति ठंडी हो जाने पर फिर मति प्रकाश कहां रहता है? ॥ ९ ॥

उष्ण प्रकाश सूर्य का है और शीत प्रकाश चन्द्र का है, उष्णत्व न रहने पर देहपात हो जाता है ॥ १० ॥ इस कारण सूर्य बिना सहसा काम नहीं चलता, आप लोग विचक्षण श्रोता हैं—सोच देखो ॥ ११ ॥ हरि और हर के अनेक अवतारों तथा शिवशक्ति की अनन्त व्यक्तियों के पहले भी सूर्य था और अब भी है ॥ १२ ॥ जितने संसार में आते हैं सब सूर्य के नीचे वर्ताव करते हैं और अन्त में सूर्य के आगे ही देह त्याग करके चल जाते हैं ॥ १३ ॥ चन्द्र सूर्य के बहुत पीछे हुआ है, क्षीरसागर से मथ कर निकाला गया है । चौदह रत्नों में से यह भी एक है—लक्ष्मी का बन्धु है ॥ १४ ॥ यह सब छोटे बड़े जानते हैं कि, यह भास्कर विश्वचक्षु है; इस कारण दिवाकर श्रेष्ठों से भी श्रेष्ठ है ॥ १५ ॥ समर्थ (ईश्वर) ने सूर्य को लोकोपकार के लिए अपार नभमार्ग क्रमण करने और इसी तरह रोज आने जाने की आज्ञा दी है ॥ १६ ॥ दिन न रहने पर अन्धकार हो जाता है, किसी-को सारासार नहीं जान पड़ता; दिन के बिना चोरों का और उल्लुओं का काम चलता रहता है ॥ १७ ॥ सूर्य के आगे और दूसरा कौन बराबरी के लिए लाया जाय ? यह तेजोराशि अवश्य उपमारहित है ॥ १८ ॥ यह सूर्य रघुनाथ का पूर्वज होने के कारण हमारा सब का भी यही पूर्वज है—इसकी महिमा अगाध है—उसे मानवी वाचा क्या वर्णन करे ? ॥ १९ ॥ ॥ रघुनाथ-वंश में पूर्वापर एक से भी एक बड़े हो गये । यह विचार मुझ मतिमंद को कैसे मालूम हो ? ॥ २० ॥ रघुनाथ के समुदाय में मेरा अन्तःकरण फैसा हुआ है, इस लिए उसका महत्त्व वर्णन करने में मैं बाग्दुर्बल, या असमर्थ हूँ ॥ २१ ॥ सूर्य को नमस्कार करने से सारे देशों का परिहार हो जाता है और निरन्तर सूर्यदर्शन करने से स्फूर्ति बढ़ती है ॥ २२ ॥

तीसरा समास—पृथ्वी-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

इस वसुमती को धन्य है, धन्य है । इसकी महिमा कहां तक गावें ? गणितमात्र इसीके आधार से रहते हैं ॥ १ ॥ अन्तरिक्ष में जो जीव रहते हैं वे भी पृथ्वी ही के कारण से रहते हैं क्योंकि जड़ देह न होने से जीव

कैसे रह सकता है? (और जड़ता पृथ्वी का लक्षण है) ॥ २ ॥ पृथ्वी को लोग जलाते हैं, भूनते हैं, टोंचते हैं, जोतते हैं, छीलते हैं, खोदते हैं और उस पर मलमूत्र तथा वमन छोड़ते हैं ॥ ३ ॥ सड़े-गले और जर्जर पदार्थों के लिए पृथ्वी को छोड़ कर और कहां सहारा है? देहान्तकाल में शरीर भी उसी पर पड़ता है ॥ ४ ॥ बुरा, भला, जो कुछ है, सब के लिए पृथ्वी को छोड़ कर और कहीं सहारा नहीं है । नाना प्रकार की धातु और द्रव्य भी पृथ्वी ही के पेट में रहते हैं ॥ ५ ॥ इस पृथ्वी पर ही रह कर प्राणी एक दूसरे का संहार करते हैं—वे भूमि को छोड़ और जा सकते हैं? ॥ ६ ॥ गढ, कोट, पुर, पट्टन, नाना देश आदि स्थान पर्यटन करने से मालूम होते हैं । देव, दानव और मानव सब पृथ्वी ही पर रहते हैं ॥ ७ ॥ नाना रत्न, हीरे, पारस, नाना धातु और द्रव्य पृथ्वी बिना गुप्त या प्रगट नहीं हो सकते ॥ ८ ॥ मेरु, मंदार, हिमाचल, आदि नाना अष्ट-कुल-अचल और पक्षी, मच्छ तथा सर्प आदि जीव भूमंडल ही में रहते हैं ॥ ९ ॥ नाना समुद्रों के उस पार, जहां चारों ओर आवर्णोदक घेरे हुए हैं, भूमंडल की अद्भुत पहाडियां फटी हुई हैं ॥ १० ॥ उनमें अपार छोटे बड़े विवर हैं, जहां निविड अन्धकार छाया हुआ है ॥ ११ ॥ आवर्णोदक का पाराधार कौन जान सकता है? अद्भुत और बड़े अनन्त जलचर उसमें भरे पड़े हैं ॥ १२ ॥ उस पानी को पवन का आधार है—वह निविड, डंटा हुआ और घना जीवन (पानी) किसी ओर से फूट नहीं सकता ॥ १३ ॥ कठिनत्वरूप अहंकार उस प्रभंजन का आधार है, इस प्रकार के विचित्र भूगोल का पार कौन पा सकता है? ॥ १४ ॥ नाना पदार्थों की खानियां, धातु-रत्नों का जमाव, कल्पतरु, चिन्तामणि, अमृतकुंड, नाना द्वीप, नाना खंड, बहुत से नगर और ऊसर हैं जहां कि, नाना प्रकार के जीवन निराले ही रहे हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥ मेरु के आसपास पहाडियां फटी हुई हैं, अद्भुत अंधेरा छाया हुआ है और नाना प्रकार के वृक्ष लगे हुए हैं ॥ १७ ॥ उसी के पास लोकालोक पर्वत है, जहां सूर्य का चाक फिरता रहता है । चन्द्रादि, द्रोणादि और मैनाक नाम के महागिरी भी वही हैं ॥ १८ ॥ अनेक देशों के नाना पापाणभेद, नाना प्रकार के मृत्तिकाभेद, नाना गुप्त निधान और विभूतियां तथा नाना खानियां सब इसी पृथ्वी पर हैं ॥ १९ ॥ वसुंधरा बहुरत्नमयी है, पृथ्वी के समान और दूसरा कौन पदार्थ है? यह चारों ओर अमर्याद फैली हुई है ॥ २० ॥ ऐसा कौन प्राणी है जो सारी धरती घूम सके? धरती के साथ और किसीकी तुलना नहीं की जा सकती ॥ २१ ॥ अनेक देशों की नाना वेलें, नाना फसलें, जो अनुपम हैं, सब इसी पृथ्वी पर होती हैं ॥ २२ ॥ स्वर्ग, मृत्यु और पाताल ये तीन अद्भुत लोक रचे गये हैं । पाताल लोक में

बड़े बड़े नाग रहते हैं ॥२३॥ यह विशाल धरती ही नाना बेलों और बीजों की खानि है । उस कर्ता की करनी बड़ी विचित्र है ! ॥ २४ ॥ मनोहर गढ, कोट, अनेक नगर, पुर, पत्तन, आदि सब स्थानों में जगदीश्वर रहता है ॥ २५ ॥ बड़े बड़े बली होगये और उन्होंने पृथ्वी पर बहुत क्रोध किया; पर वे अपनी सामर्थ्य के द्वारा पृथ्वी से अलग नहीं रह सके ॥ २६ ॥ यह पृथ्वी बहुत विस्तृत है, अनेक जाति के जीव इस पर रहते हैं । इस भूमंडल पर अवतारों के नाना भेद हैं ॥ २७ ॥ इस समय भी यह बात प्रत्यक्ष देख पड़ती है, अनुमान करने की आवश्यकता नहीं है, नाना प्रकार के जीवन पृथ्वी ही के आधार से रहते हैं ॥ २८ ॥ कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि, भूमि मेरी है; पर अन्त में वे स्वयं ही मर जाते हैं । परन्तु पृथ्वी अनन्त काल से जैसी की तैसी ही बनी हुई है ॥ २९ ॥ ऐसी पृथ्वी की महिमा है; इसके साथ दूसरी कौनसी उपमा दें ? ब्रह्मादि देवताओं से सेकर हम मनुष्यों तक, सब को इसका आश्रय है ॥३०॥

चौथा समास-जल-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

अब, जो सबों का जन्मस्थान तथा जो सब जीवों का जीवन है और जिसे ' आपो नारायण ' कहते हैं उसका निरूपण करते हैं ॥ १ ॥ पृथ्वी को आवर्णोदक का आधार है । सास समुद्रों का समुद्र-जल और नाना मेघों का मेघोदक पृथ्वी में बहता रहता है ॥ २ ॥ अनेक देशों में अनेक नदियां बह कर समुद्र से जा मिलती हैं । कोई छोटी है, कोई बड़ी हैं, कोई पवित्र हैं; उनकी महिमा अगाध है ॥ ३ ॥ नदियां पहाड़ों से निकल कर नाना दरी खोरियों में बहती हुई " हहर हहर " या " खड़ खड़ " शब्द करती हुई बहुत दूर तक चली जाती हैं ॥४॥ कुआं, बावली, भील बड़े बड़े तालाब, आदि अनेक जलस्थान नाना देशों में हैं । उनमें निर्मल नीर उमड़ रहा है ॥५॥ फौवारे ऊपर की ओर जोर से उठते हैं, अनेक नाले बहते हैं, और झरनों से पानी भरता है ॥ ६ ॥ कहीं कुआं से पानी भरता है, कहीं पर्वतों को फोड़ कर पानी बहता है-इस प्रकार भूमंडल में उदक के अनेक भेद हैं ॥७॥ अनेक पहाड़ों से पानी की अनेक भयंकर धाराएं फटी पडती हैं । उन्हींसे भरने, नदी, नाले भी उमड़ कर निकलते हैं ॥ ८ ॥ भूमंडल का जल कहां तक बतलावें ? नाना प्रकार के फौवारों में भी पानी बांध कर लाया जाता है

॥ ६ ॥ दहों, गढों, कुंडियों, कुंडों और नाना गिरिकंदरों में भी जल भार होता है । अनेक लोकों में नाना प्रकार का जल है ॥१०॥ एक से एक बढ कर महा पवित्र और पुण्यदायक तीर्थ हैं । शास्त्रकार उनको अगाध महिमा कह गये हैं ॥ ११ ॥ नाना तीर्थों के पुण्योदक, नाना स्थलों के शीतलोदक और उसी तरह नाना उष्णोदक (खौलते हुए सोते) ठौर ठौर में भरे हैं ॥ १२ ॥ नाना प्रकार की बेलों में पानी है, अनेक फलों फूलों में पानी है और नाना कंदमूलों में पानी है—ये सब पानी गुणकारक है ! ॥ १३ ॥ क्षारोदक, सिंधु-उदक, विषोदक और पीयूषोदक आदि नाना स्थलों में नाना गुणों से युक्त पानी है ॥ १४ ॥ नाना ईखों के रस, नाना फलों के नाना रस, नाना प्रकार के गोरस, मद, पारा और गुड़ के रस आदि सब उदक हैं ॥ १५ ॥ नाना मुक्ताफलों का पानी, नाना रत्नों का चमकता हुआ पानी और नाना शस्त्रों का पानी—ये सब पानी नाना गुण-युक्त होते हैं ॥ १६ ॥ वीर्य, रक्त, लार, मूत्र, स्वेद, आदि उदकों के नाना भेद हैं, विचार कर-देखने से स्पष्ट मालूम हो जाते हैं ॥ १७ ॥ देह भी उदक ही का है, उदक का ही भूमंडल है, चन्द्रमंडल और सूर्यमंडल भी उदक ही से हैं ॥१८॥ क्षारसिंधु, क्षीरसिंधु, सुरासिंधु, घृतसिंधु, दधिसिंधु, इक्षुरसासिंधु और शुद्धोदकसिंधु के रूप में भी जल विस्तृत हुआ है ॥ १९ ॥ इस प्रकार आदि से लेकर अन्त तक पानी फैला हुआ है, और बीच में कहीं कहीं प्रगट है और कहीं कहीं गुप्त है ॥ २० ॥ पानी जिन बीजों में मिश्रित हुआ है उन्हींका स्वाद लेकर प्रगट हुआ है । जैसे ईख में परम सुन्दर मीठा स्वाद लेकर प्रगट हुआ है ॥ २१ ॥ यह शरीर उदक से ही बना है और सदा इसे उदक ही चाहिए । उदक की उत्पत्ति का विस्तार कहां तक बतावें ? ॥ २२ ॥ उदक तारक है, उदक मारक है, उदक नाना सुखों का दायक है । विचार करने से वह अलौकिक जान पड़ता है ॥ २३ ॥ नाना पृथ्वीतल पर दौड़ता रहता है । उससे नाना प्रकार की सुन्दर ध्वनि निकलती है । बड़ी बड़ी धाराएं ' हहर हहर ' गिरती हैं ॥ २४ ॥ ठौर ठौर में दह उमडते रहते हैं, बडे बडे तालाब भरे रहते हैं और नदी-नाले थवथवाते हुए बहते रहते हैं ॥ २५ ॥ कहीं गुप्त गंगा बहती हैं; सब जगह पानी मौजूद है । कहीं कहीं भूगर्म में खड़खड़ाते हुए भरने बहते हैं ॥ २६ ॥ भूगर्म में दह भरे हुए हैं, उन्हें न किसीने देखा है न सुना है । कहीं कहीं विद्युलता के गिरने से भरने बन गये हैं ! ॥ २७ ॥ पृथ्वीतल पर पानी भरा है, पृथ्वी के भीतर पानी खेलता है और पृथ्वी के ऊपर भी (वाष्परूप में) बहुत सा पानी फैला हुआ है ॥ २८ ॥ स्वर्ग मृत्यु और पाताल तीनों में एक नदी है और मेघोदक आकाश से बरस

घरता है ॥ २६ ॥ पृथ्वी का मूल जीवन है, जीवन का मूल अग्नि है और अग्नि का मूल पवन है । वह बड़ों से भी बड़ा है ॥ ३० ॥ उससे भी बड़ा परमेश्वर है । वही से महद्भूतों का विचार उत्पन्न हुआ है । उससे भी बड़ा-सब से बड़ा-परात्पर परब्रह्म है ॥ ३१ ॥

पाँचवाँ समास-अग्नि-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

इस वैश्वानर (अग्नि) को धन्य है; यह रघुनाथ का श्वसुर है, विश्वव्या-
 एक और विश्वम्भर है, जानकी का पिता है ॥१॥ इसीके मुख से भगवान्
 भोजन करता है, यह ऋषियों का फलदाता है, यह अंधकार, शीत और
 रोग का हरनेवाला तथा जगत् के लोगों का भरणपोषण करनेवाला है ॥२॥
 लोगों में नाना वर्ण और नाना भेद हैं; पर अग्नि जीवमात्र के लिए अभेद
 है (एक समान है) और ब्रह्मादिकों के लिए भी वह अभेद तथा परम शुद्ध
 है ॥ ३ ॥ अग्नि से सृष्टि चलती है, अग्नि ही के कारण लोग अघाते हैं
 और अग्नि ही से सब छोटे बड़े जीते हैं ॥ ४ ॥ अग्नि से लोगों के रहने के
 लिए भूमंडल बना है और जगह जगह दीप दीपिकायं और नाना प्रकार
 की ज्वालायं प्रकट हुई हैं ॥ ५ ॥ पेट में जो जठराग्नि रहती है उससे लोगों
 को भूख लगती है । अग्नि ही से भोजन में रुचि आती है ॥ ६ ॥ अग्नि सर्व
 अंग में व्यापक है, उष्णता से सब जीते हैं, उष्णता न रहने से सब लोग
 मर जाते हैं ॥ ७ ॥ यह तो सभी लोग जानते हैं कि अग्नि मन्द हो जाने के
 कारण प्राणी मर जाता है ॥ ८ ॥ अग्नि का बल होने से तत्काल शत्रु को
 जीत लेते हैं । जब तक अग्नि है तब तक जीवन है ॥ ९ ॥ नाना प्रकार के
 रस अग्नि ही के द्वारा निर्माण किये जाते हैं कि, जिनसे पलमात्र में महा-
 रोगी भी आरोग्य होते हैं ॥ १० ॥ सूर्य सब से बड़ा है; पर अग्नि-प्रकाश
 की महिमा सूर्य से भी अधिक है । देखो न, रात में लोग अग्नि ही से
 सहायता लेते हैं ॥ ११ ॥ शूद्र के भी घर का अग्नि लाने में दोष नहीं कहा
 है; अग्नि सब के घर का पवित्र ही है ॥ १२ ॥ नाना
 याग और अग्निहोत्र विधिपूर्वक अग्नि ही से होते हैं । अग्नि, तृप्त होने पर,
 सुप्रसन्न होता है (और वरदान देता है) ॥ १३ ॥ देव, दानव और मानव
 सब अग्नि से ही वर्तते हैं । अग्नि सब लोगों के लिए सहारा है ॥१४॥ बड़े
 बड़े लोग विवाह में नाना प्रकार के अग्नि-कौतुक ले जाते हैं । पृथ्वी पर

बड़ी बड़ी यात्राएं (जुलूस) अग्निश्रीड़ा से शोभती हैं ॥ १५ ॥ रोगी लोग
 उष्ण औषधों का सेवन करके अग्नि से आराम होते हैं ॥ १६ ॥ ब्राह्मण
 के मुख्य पूजनीय सूर्यदेव और हुताशन ही हैं इसमें कुछ भी सन्देह नहीं
 ॥ १७ ॥ लोगों में जठरानल है, सागर में बड़वानल है, भूगोल के चारों
 ओर आवर्णानल है । और इसके सिवा शिवनेत्र और विद्युलता में भी
 अनल है ॥ १८ ॥ कांच की बोतल से अग्नि होता है, आग्नेय दर्पण से अग्नि
 निकलता है और काठ रगड़ने से चकमकी के साथ अग्नि प्रगट होता है
 ॥ १९ ॥ अग्नि सब ठौर है, कठिनता के साथ रगड़ने से प्रगट होता है ।
 अग्नियासर्पों से गिरिकन्दरापं तक भस्म हो जाती है ॥ २० ॥ अग्नि से नाना
 उपाय किये जाते हैं, अग्नि से नाना प्रकार की हानि भी होती है । विवेक
 बिना सब निरर्थक है ॥ २१ ॥ भूमंडल पर छोटे बड़े सब को अग्नि का
 आधार है । अग्निमुख से परमेश्वर संतुष्ट होता है ॥ २२ ॥ ऐसी अग्नि की
 महिमा है । वह जितनी कही जाय उतनी थोड़ी ही है । अग्निपुरुष की
 महिमा उत्तरोत्तर अगाध है ॥ २३ ॥ अग्नि जीवित काल में सुख देता है
 और मरने पर शव को भस्म करता है—वह सर्वमत्तक है—उसकी बड़ाई
 कहां तक की जाय ? ॥ २४ ॥ अग्नि प्रलयकाल में सारी सृष्टि का संहार
 करता है । अग्नि से कोई भी पदार्थ नहीं बचता ॥ २५ ॥ बहुत लोग नाना
 प्रकार के होम करते हैं, घर घर में बलिवैश्वदेव होते हैं और नाना क्षेत्रों
 में देवताओं के पास दीप जलाते हैं ॥ २६ ॥ दीपाराधन और नीरांजन से
 लोग भगवान् की आरती करते हैं । कड़ाही के जलते हुए तेल में हाथ
 डालकर सच झूठ जाना जाता है ॥ २७ ॥ अष्टधा प्रकृति और तीनों लोक
 —सब में अग्नि व्याप्त है । अग्नि की अगाध महिमा मुख से कहां तक वर्णन
 की जाय ? ॥ २८ ॥ अग्नि के चार शृंग, तीन पैर, दो शिर और सात हाथ
 शास्त्र में कहे हैं सो क्या बिना अनुभव के ही कहे गये ? ॥ २९ ॥ ऐसा
 । उष्णमूर्ति अग्नि है उसका मैंने यथामति वर्णन किया । न्यूनाधिक के
 लिए श्रोता लोग क्षमा करें ! ॥ ३० ॥

छठवाँ समास-वायु-स्तुति ।

॥ श्रीराम ॥

इस वायुदेव को धन्य है, धन्य है । इसका स्वभाव विचित्र है । वायु से ही सारे जीव जग में वर्तते हैं ॥ १ ॥ वायु से श्वासोच्छ्वास होता है, नाना विद्याओं का अभ्यास होता है और वायु से ही शरीर में चलन (चेतन) आता है ॥ २ ॥ चलन, बलन, प्रसारण, निरोधन, आकुंचन, प्राण, अपान, ध्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय आदि वायु के अनेक स्वभाव हैं ॥३॥४॥ पहले वायु ब्रह्मांड में प्रगट हुआ; फिर ब्रह्मांड और देवताओं में भरकर, नाना गुणों से युक्त, पिंड में प्रगट हुआ ॥ ५ ॥ स्वर्गलोक के सब देवता, पुरुषार्थी दानव, और मृत्युलोक के मानव तथा विख्यात राजा, आदि नरदेह के नाना भेद, अनंत प्रकार के श्वापद, वनचर और जलचर आदि आनन्द से वायु के द्वारा क्रीड़ा करते हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥ उन सब में वायु खेलता है, सारे पक्षी भी वायु से ही उड़ते हैं और वायु से ही अग्नि की ज्वाला उठती है ॥ ८ ॥ आकाश में मेघों को वायु एकत्र करता है, और फिर तुरंत ही अलग अलग करके हटा देता है । वायु के समान और दूसरा कारवारी नहीं ॥९॥ वायु आत्मा की सत्ता है, वह शरीर में वर्तता है । व्यापकता में वायु के सामर्थ्य की बराबरी कोई नहीं कर सकता ॥ १० ॥ वायु के बल से ही पर्वतों पर से मेघों की घनी फौजें लोकाहित करने के लिए उठती हैं और वायुबल से ही विजली गर्जना करके कडकडाती है ॥ ११ ॥ इस ब्रह्मांड में चन्द्र, सूर्य, नक्षत्रमाला, ग्रहमंडल, मेघमाला और नाना कलाएं सब वायु से ही हैं ॥ १२ ॥ जैसे कई मिली हुई चीजें अलग अलग नहीं की जा सकती; सने हुए पदार्थ फिर भिन्न भिन्न नहीं हो सकते, उसी प्रकार यह (पञ्चभौतिक) गडबड़ कैसे मालूम हो सकता है ? ॥ १३ ॥ वायु "सरसर सरसर" चलती है, बहुत ओले गिरते हैं और पानी के साथ में बहुत से जीव भी गिरते हैं ॥ १४ ॥ वायुरूप कमलकला (?) ही जल के लिए आधार है और जल के आधार से शेष पृथ्वी को धारण किये है ॥ १५ ॥ शेष पवन का आहार करता है, आहार से जब उसका शरीर फूल जाता है तब वह भूमंडल का भार अपने ऊपर लेता है; ॥ १६ ॥ महाकूर्म का बड़ा शरीर ऐसा जान पड़ता है जैसे ब्रह्मांड आँधा हुआ हो-इतना बड़ा उसका शरीर, वह भी वायु ही के योग से रहता है ! ॥ १७ ॥ वराह ने अपने दांत पर जो पृथ्वी को धारण कर लिया सो वह शक्ति भी वायु ही के कारण उसे मिली ॥ १८ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, और स्वयं जगदीश्वर भी, वायु के ही स्वरूप

में हैं—यह विचार विवेकी जानते हैं ॥ १६ ॥ तैंतीस कोटि देवता, अठ्ठासी सहस्र ऋषि और असंख्यो सिद्धयोगी आदि सब वायु से ही हैं ॥ २० ॥ नव कोटि कात्यायिनी, छुपन कोटि चामुंडा और साढे तीन कोटि भूत-खानि-सब वायु के रूप में हैं ॥ २१ ॥ भूत, दैवत और नाना शक्तियों की व्यक्तियां वायुरूप हैं, और भूमंडल के न जाने कितने, नाना प्रकार के, जीव भी वायु से ही हैं ॥ २२ ॥ वायु पिंड और ब्रह्मांड में पूरित है—वह ब्रह्मांड के बाहर भी पैला हुआ है । यह समर्थ वायु सब ठौर परिपूर्ण है ॥ २३ ॥ यह पवन बड़ा समर्थ है, हनुमन्त इसीका पुत्र है कि, जिसने अपना तन-मन रघुनाथ के स्मरण में लगा दिया ॥ २४ ॥ हनुमान वायु का प्रसिद्ध पुत्र है, पिता-पुत्र में भेद नहीं है, दोनों (वायु और हनुमान) का पुरुषार्थ एक ही सा है ॥ २५ ॥ हनुमान को प्राणनाथ कहते हैं, परन्तु वायु ही के कारण वह समर्थ है । उसके न रहने पर सब व्यर्थ हो जाता है ॥ २६ ॥ प्राचीन काल में जब हनुमान की मृत्यु आई तब वायु ही रुद्ध हो गया, अतएव सारे देवताओं की प्राणान्त-अवस्था आ गई ॥ २७ ॥ जब सब देवों ने मिलकर वायु का स्तवन किया तब वायु ने प्रसन्न होकर सब को बचाया ॥ २८ ॥ इस लिए महा प्रतापी हनुमान ईश्वरी जबतार है । इसका पुरुषार्थ देवगण देखते ही रहते हैं ॥ २९ ॥ हनुमान ने, देवों को अचानक कारागृह में देख कर, लंका के आसपास संहार मचा कर, राक्षसों की दुर्दशा कर डाली ॥ ३० ॥ देवों का बढला राक्षसों से लिया; राक्षसों को जड नाश किया । उस पुच्छकेतु की लीला देख कर आश्चर्य होता है ॥ ३१ ॥ रावण जहां सिंहासन पर बैठा था वहां जाकर उसकी निन्दा की । लंका जाते समय उसे समुद्र तक नहीं रोक सका ॥ ३२ ॥ वह देवों को आधार सा जान पडा, उसके महान् को जब देवों ने देखा तब उन्होंने रघुनाथ की स्तुति की ॥ ३३ ॥ उसने सारे दैत्यों का संहार किया, तत्काल देवों का उद्धार किया । जिससे नीनों लोक के प्राणिमात्र सुखी हुए ॥ ३४ ॥

मातवाँ समास—महद्भूत-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी का मूल जीवन है, जीवन का मूल अग्नि है और अग्नि का मूल पवन है । इन सब का वर्णन पीछे किया गया ॥ १ ॥ अब, पवन का मूल

जो अन्तरात्मा है; और जो सब में अत्यन्त चञ्चल है, उसका वर्णन सुनो ॥ २ ॥ वह आते आते दिख नहीं पडता, स्थिर होकर बैठता नहीं और उसके रूप का अनुमान वेदश्रुति भी नहीं कर सकते ॥ ३ ॥ ब्रह्म में पहले पहल जो स्फुरण होता है वही अन्तरात्मा का लक्षण है वही जगदीश्वर है, उससे त्रिगुण हैं ॥४॥ त्रिगुण से पञ्चभूत हुए और (पीछे से वे सृष्टि के रूप में विस्तृत या-) प्रकट हुए । उन भूतों का स्वरूप विवेक से पहचानना चाहिए ॥५॥ उनमें मुख्य आकाश है जो कि चारों भूतों से श्रेष्ठ है । इसीके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित है ॥ ६ ॥ विष्णु ही एक महद्भूत है । यही भूतों का रहस्य है; पर इसका अनुभव करना चाहिए ॥ ७ ॥ ये सब भूत विस्तारपूर्वक बतला दिये; इन भूतों में जो व्यापक है वह विचारपूर्वक देखने से अनुभव में आता है ॥ ८ ॥ आत्मा की चपलता के आगे वायु विचारा क्या है ? आत्मा की चपलता प्रत्यक्ष विचार करके देखना चाहिए ॥ ९ ॥ आत्मा के बिना काम नहीं चलता, आत्मा न दिखता है और न मिलता है । वह गुप्तरूप से नाना विचार देख डालता है ॥ १० ॥ वह पिंड और ब्रह्मांड में व्याप्त है, नाना प्रकार के शरीरों में विलसता है, वह जगत् के सब प्राणियों के अन्तःकरण में है, यह बात विवेकी लोग जानते हैं ॥ ११ ॥ यह तो कल्पान्त में भी नहीं हो सकता कि आत्मा के बिना देह वर्ताव करता रहे । (आत्मा के ही योग से) अष्टधा प्रकृति की व्यक्तियों रूप को प्राप्त हुई है ॥ १२ ॥ आदि से लेकर अन्त तक, सब कुछ आत्मा ही करता है । आत्मा के बाट निर्विकारी परब्रह्म है ॥ १३ ॥ आत्मा शरीर में वर्तता है, इन्द्रियगण को चेष्टा देता है और देहरूप उपाधि के योग से सुख दुख के नाना भोग भोगता है ॥ १४ ॥ सप्तकंचुक यह ब्रह्मांड है, उसमें फिर सप्तकंचुक पिंड है, उस पिंड में आत्मा को दृढ विवेक से पहचानना चाहिए ॥ १५ ॥ आत्मा, शब्द सुन कर समझता है, समझ कर प्रत्युत्तर देता है और त्वचा-द्वारा कठिन, नर्म, शीत, उष्ण जानता है ॥ १६ ॥ नेत्रों में भर कर वह पदार्थ देखता है, नाना पदार्थों की परीक्षा करता है और मन में ऊंच नीच समझता है ॥ १७ ॥ यह क्रूर-दृष्टि, कपट-दृष्टि, कृपा-दृष्टि आदि नाना प्रकार की दृष्टियों का भेद जानता है ॥ १८ ॥ वह जिह्वा में नाना प्रकार के स्वाद लेकर उनका भेदाभेद करना जानता है और जो जो जानता है सो सो स्पष्ट करके बतलाता है ॥ १९ ॥ उत्तम भोजनों के परिमल, नाना सुगंधों के परिमल और नाना फलों के परिमल वह प्राणेंद्रिय से जानता है ॥ २० ॥ जिह्वा से स्वाद लेना और बोलना, हस्तेन्द्रिय से लेना देना और पादेन्द्रिय से आना जाना आदि क्रियाएं सदा वह करता रहता है ॥ २१ ॥ शिखेन्द्रिय से सुरत-भोग, गुदेन्द्रिय से मलोत्सर्ग और

मन से सब की अच्छी तरह कल्पना किया करता है ॥ २२ ॥ इस प्रकार के अनेक व्यापार वह अकेला ही तीनों लोक में किया करता है । उसकी बढाई कौन कर सकता है ? ॥ २३ ॥ उसके बिना और दूसरा ऐसा कौन है जो उसकी महिमा गा सके ? आत्मा का सा व्यापार और विस्तार न हुआ है, न होगा ॥ २४ ॥ चौदा विद्या, चौंसठ कला, चतुरता की नाना कला, वेद, शास्त्र, पुराण और अन्तःकरण उसके बिना कहाँ है ? ॥ २५ ॥ इस लोक का आचार और परलोक का सारासार-विचार, दोनों लोकों का निर्धार, आत्मा ही करता है ॥ २६ ॥ नाना मत, नाना संवाद-विवाद, नाना निश्चय और भेदाभेद आत्मा ही करता है ॥ २७ ॥ मुख्य तत्व फैला हुआ है, उसने सब पदार्थों को रूप दिया है—आत्मा के योग से सब कुछ सार्थक हुआ है ॥ २८ ॥ लिखना, पढ़ना, याद करना, पूछना, बताना, अर्थ करना, गाना, बजाना, नाचना आत्मा ही से होता है ॥ २९ ॥ वह नाना सुखों से आनन्दित होता है, नाना दुःखों से दुःखी होता है और नाना प्रकार से देह धरता है, और त्याग करता है ॥ ३० ॥ वह अकेला ही नाना देह धरता है, अकेला ही नाना प्रकार से नटता है । नट-नाट्य, कला-कौशल उसके बिना नहीं हो सकते ॥ ३१ ॥ वह अकेला ही बहुरूपी हो जाता है । बहुत प्रकार से महान् उद्योगी और नाना प्रकार से महाप्रतापी और डरपोक भी वही बनता है ॥ ३२ ॥ वह अकेला ही कैसा विस्तृत हो गया है ! वह बहुत प्रकार से तमाशा देखता है और देखो न, बिना दंपति के ही वह कैसा फैल गया है ॥ ३३ ॥ स्त्रियों को पुरुष चाहिए, पुरुष को स्त्री चाहिए—ऐसा होने से परस्पर में मनचाहा संतोष होता है ॥ ३४ ॥ स्थूल (पदाभेद) का मूल (कारण) लिंग (स्त्रीलिंग-पुलिंगादि) है और लिंग में य सब व्यवहार है । इसी प्रकार जगत् प्रत्यक्ष चल रहा है ॥ ३५ ॥ लिंगभेद के अनुसार पुरुषों के जीव को ' जीव ' और स्त्रियों के जीव को ' जीवी ' कहने का भगड़ा पैदा होता है, पर इस सूक्ष्म कूटक को समझना चाहिए ॥ ३६ ॥ स्थूल के योग से भेद जान पड़ता है; पर वास्तव में सूक्ष्म में सारा अभेद ही है यह कथन निश्चित और अनुभव युक्त है ॥ ३७ ॥ ऐसा कभी नहीं हुआ कि, स्त्री ने स्त्री के साथ संभोग किया हो, स्त्री को अन्तःकरण में पुरुष ही का ध्यान रहता है ॥ ३८ ॥ स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री—ऐसा यह सम्बन्ध है; और सूक्ष्म में भी है ॥ ३९ ॥ पुरुष की इच्छा में प्रकृति और प्रकृति की इच्छा में पुरुष रहता है, इसी कारण उन्हें ' प्रकृतिपुरुष ' कहते हैं ॥ ४० ॥ पिंड से ब्रह्मांड का विचार करना चाहिए, प्रतीति प्राप्त करना चाहिए । यदि न समझ पड़े तो बारबार विचार करके समझना चाहिए ॥ ४१ ॥ द्वैतेच्छा आदि ही से थी, तभी तो वह भ्रमंडल में आई ।

भ्रूण्डल और आदिस्थान (मूल माया) का मिलान करके देखना चाहिए ॥ ४२ ॥ अस्तु; यह एक बड़े महत्त्व का काम हो गया कि, जो श्रोताओं का आक्षेप मिट गया और प्रकृतिपुरुष का रूप निश्चित हो गया ॥ ४३ ॥

आठवाँ समास—आत्माराम-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

जिसकी कृपा से मति को स्फूर्ति होती है उस मंगलमूर्ति गणपति को नमन करता हूँ । लोग आत्मा का ही भजन और स्तवन करते हैं । (आत्मा से भी मति को स्फूर्ति होती है और गणपति से भी होता है, इस लिए गणपति ही आत्मा है) ॥१॥ जो अन्तःकरण में प्रकाश देतो है और जो नाना प्रकार को विद्याओं का पूर्णरूप से विवरण करती है उस वागीश्वरी वैखरी (वाणी, सरस्वती)को नमस्कार करता हूँ ॥२॥ राम नाम सर्वोत्तम है। इसीके योग से शंकर का कष्ट दूर हुआ और उन्हें विश्राम मिला ॥३॥ नाम की बड़ी महिमा है, उस परात्पर, परमेश्वर, त्रैलोक्यधर्ता के नाम का रूप उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है ॥ ४ ॥ आत्माराम चारों ओर भरा हुआ है—उसीके योग से लोग इधर उधर फिरते हैं । बिना आत्मा के देह-पात हो जाता है और मृत्यु हो जाती है ॥ ५ ॥ वह जीवात्मा, शिवात्मा, परमात्मा, जगदात्मा, विश्वात्मा, गुप्तात्मा, आत्मा, अन्तरात्मा और सूक्ष्मात्मा, सब देव-दानव-मानव-जातियों में भरा हुआ है ॥६॥ आत्मा ही के योग से सब चलते-बोलते और व्यवहार करते हैं, अवतार उसीसे होते हैं और ब्रह्मादि देव भी उसीके योग से होते जाते हैं ॥ ७ ॥ उसे नादरूप, ज्योतिरूप, साक्षरूप, सत्त्वरूप, चैतन्यरूप, सस्वरूप और द्रष्टारूप जानना चाहिए ॥ ८ ॥ वह नरोत्तम, वीरोत्तम, पुरुषोत्तम, रघूत्तम, सर्वोत्तम, उत्तमोत्तम और त्रैलोक्यवासी है ॥ ९ ॥ नाना प्रकार को खटपट और चटपट, नाना प्रकार को लटपट और झटपट आत्मा ही के योग से होती रहती है । आत्मा यदि न हो तो चारों ओर सब सपाट हो जाय ॥ १० ॥ आत्मा के बिना शरीर व्यर्थ है, आत्मा बिना शरीर विचारा मृत हो जायगा और आत्मा बिना शरीर को प्रत्यक्ष प्रेत ही समझिये ॥ ११ ॥ यह बात आत्मज्ञानी मन में समझता है—वह मनुष्यमात्र में आत्मा की व्यापकता देखता है । आत्मा बिना भुवन और त्रिभुवन सब उजाड़ हैं ॥ १२ ॥ (आत्मा ही के योग से) पुरुष पश्य

सुन्दर और चतुर बन कर सब सार-असार जानता है । आत्मा विना इह-लोक और परलोक दोनों में अधकार समझो ॥ १३ ॥ सब प्रकार से सिद्ध, सावधान, नाना भेद, नाना वेध, नाना खेद और आनन्द, सब एक उस आत्मा ही से होते हैं ॥ १४ ॥ रक हो, चाहे ब्रह्मादि देव हों, सब का चला-नेवाला वह एक ही है । नित्यानित्य का विवेक सब को करना चाहिए ॥ १५ ॥ चाहे जैसी पत्थिनो खो हो, मनुष्य उस पर तभी तक प्रीति रखता है जब तक उसमें आत्मा है । आत्मा के चले जाने पर, फिर शरीर में तेज कहां रहता है ? आत्मा के साथ ही शरीर-सौन्दर्य भी चला जाता है ॥ १६ ॥ आत्मा न दिखता है, न मासता है, बाहर से उसका अनुमान भी नहीं कर सकते । मन की नाना कल्पनाएं आत्मा ही के योग से उठती हैं ॥ १७ ॥ आत्मा शरीर में रहता है, वह सारे ब्रह्मांड का पूर्ण विवरण करता है । नाना प्रकार की वासनाएं और भावनाएं कहां तक बतलाई जाय ? ॥ १८ ॥ ॥ मन की अनंत वृत्तियां हैं, अनंत प्राणी अनंत प्रकार की कल्पनाएं किया करते हैं । उनके अन्तःकरण का कहां तक वर्णन करूं ? ॥ १९ ॥ अनन्त प्रकार के राजनैतिक दांव पेंच करना, कुबुद्धि या सुबुद्धि से विवरण करना और मालूम न होने देना, या प्राणिमात्र को भुलाना आत्मा ही के योग से होता है ॥ २० ॥ एक दूसरे को ताकते रहते हैं, एक दूसरे के लिए मरते हैं, छिपते हैं । चारों ओर शत्रुता की स्थिति और गति बरत रही है ॥ २१ ॥ पृथ्वी में परस्पर एक दूसरे को फंसाते हैं और कितने ही भक्त आपस में उपकार भी करते हैं ॥ २२ ॥ आत्मा एक है; पर भेद अनंत हैं; सब देह के अनुसार स्वाद लेते हैं । वास्तव में आत्मा अभेद है; पर यह भेद को भी धारण करता है ॥ २३ ॥ पुरुष को भी खो चाहिए और खो को पुरुष चाहिए । यह कभी नहीं हो सकता कि, खो को खो की आवश्यकता हो ॥ २४ ॥ आत्मा के तर्क यह गड़बड़ नहीं है कि, पुरुष के आत्मा को 'जीव' और स्त्री के आत्मा को 'जीवी' कहते हों । जहां विषय सुख का गड़बड़ होता है वहीं भेद होता है ॥ २५ ॥ जिस प्राणी के लिए जो आहार है वह प्राणी उसको चाहता है । पशु के आहार में मनुष्य अप्रीति दिखलाता है ॥ २६ ॥ जिस प्रकार आहार और देह आदि के अनेक गुण तथा प्रगट भेद हैं उसी प्रकार आनन्द भी अलग अलग हैं ॥ २७ ॥ सिंधु और भूगर्भ के जलों में भी शरीर है । आवर्णोदक के जलचर बहुत बड़े हैं ॥ २८ ॥ सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर जान पड़ता है कि, शरीर का तो अन्त मिलता ही नहीं, फिर अन्तरात्मा किस प्रकार अनुमान में आ सकता है ? ॥ २९ ॥ देह और आत्मा के योग का विचार करने से कुछ न कुछ अनुमान में आ जाता है, पर स्थूल और सूक्ष्म का गड़बड़ एक प्रकार का

गोलकधंधा है ॥ ३० ॥ यह गोलकधंधा सुरमाने के लिए नाना प्रकार के निरूपण किये गये हैं—अन्तरात्मा ने कृपा करके अनेक मुखों से बतलाया है ॥ ३१ ॥

नववाँ समास—उपासना निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी में नाना प्रकार के लोग हैं । उनके लिए नाना प्रकार की उपासनाएं भी हैं । ठौर ठौर में, अपनी अपनी भावना के अनुसार, लोग भजन में लगे हैं ॥ १ ॥ अपने देवता को भजते हैं, नाना स्तुतियाँ और स्तवन करते हैं । परन्तु जिसे देखो वही उपासना को निर्गुण बतलाता है ॥ २ ॥ इसका अभिप्राय मुझे बतलाइये । (उत्तरः—) अरे, यह स्तुति का स्वभाव है ॥ ३ ॥ निर्गुण का अर्थ है बहुगुणी और बहुगुणी अन्तरात्मा है । यह विलकुल सच है कि, सब उसके अंश हैं । प्रतीति कर लो ॥ ४ ॥ सारे लोगों का मान करने से वह एक अन्तरात्मा को प्राप्त होता है, पर अधिकार देख कर मान करना चाहिए ॥ ५ ॥ श्रोता कहता है कि, यह ठीक नहीं है । प्रत्यक्ष अनुभव तो यह है कि, केवल मूल में पानी सींचने से वह सारे पत्तों को मिल जाता है ॥ ६ ॥ वक्ता कहता है कि, तुलसी के वृक्ष पर लोटा भर पानी डालने से ऊपर तो पल भर भी नहीं उहरता; किन्तु भूमि में ही भिद जाता है ॥ ७ ॥ (इस पर श्रोता कहता है कि,) बड़े वृक्ष के लिए कैसा करें? चोटो पर पात्र कैसे ले जायें? हे देव, इसका अभिप्राय भी मुझे बतलाइये ॥ ८ ॥ उ०ः—मेह का जितना पानी गिरता है वह सारा मूल की ही ओर आता है । वहां हाथ ही नहीं पहुँचता; क्या किया जाय? ॥ ९ ॥ इतना पुण्य कहां से हो सकता है कि, सब को मूल मिल जाय? विवेक से साधुओं का मन वहां तक पहुँचता है ॥ १० ॥ तथापि जिस प्रकार वृक्ष पर पानी डालने से वह मूल तक पहुँच ही जाता है उसी प्रकार सब जगत् की सेवा करने से वह परमात्मा को प्राप्त हो जाती है ॥ ११ ॥

श्रोता कहता है कि पिछली शंका मिट गई । अब यह बतलाइये कि सगुण को निर्गुण कैसे कह सकते हैं ॥ १२ क्योंकि जितना कुछ चञ्चलता से विकारयुक्त है वह सगुण है और वाकी गुणातीत या निर्गुण है ॥ १३ ॥

वक्ता कहता है कि, यह बात जानने के लिए सारासार का विचार करना चाहिए । अन्तःकरण में निर्धार हो जाने पर फिर नाम भी नहीं रहता ॥ १४ ॥ मान लो कि, एक विवेकवान् पुरुष, जो मुख्य राजा के समान है, और दूसरा एक सेवक है जिसका नाम मात्र 'राजा' है—अब दोनों का अन्तर समझो । विवाद करना व्यर्थ है ॥ १५ ॥ कल्पान्तप्रलय में जो बच रहता है उसीको 'निर्गुण' कहते हैं और बाकी सभी माया में आ जाता है ॥ १६ ॥ सेना, शहर, बाजार और नाना प्रकार को छोटी बड़ी यात्राओं में अपार शब्द उठते हैं; पर उन्हें अलग कैसे कर सकते हैं ? ॥ १७ ॥ वर्षा-ऋतु में ठीक आधी रात होने पर नाना जोव बोलते हैं; पर उन सब का शब्द अलग अलग कैसे जाना जाय ? ॥ १८ ॥ भूमंडल में असंख्य नाना प्रकार के देश, भाषा और मत हैं, बहुत ऋषियों के भी बहुत मत हैं, वे सब कैसे जाने जायें ? ॥ १९ ॥ वृष्टि होते ही सृष्टि में अपार अंकुर निकलते हैं, उनके अनेक छोटे-बड़े वृक्ष कैसे अलग अलग किये जायें ? ॥ २० ॥ खेचरों, भूचरों और जलचरों के नाना प्रकार के शरीर नाना रंगों के और चित्रविचित्र होते हैं वे सब कैसे जाने जायें ? ॥ २१ ॥ दृश्य किस प्रकार प्रकट हुआ है, नाना प्रकार से कैसे विकृत हुआ है, अनन्त कैसे फैला हुआ है—यह सब कैसे जाना जाय ? ॥ २२ ॥ आकाश में गंधर्वनगर है, उनमें नाना रंग के छोटी बड़ी बहुत सी व्यक्तियाँ, बहुत प्रकार से, रहती हैं उन्हें कैसे जानें ? ॥ २३ ॥ रात दिन के भेद, चांदनी और अन्धकार, विचार और अविचार कैसे जाने जायें ? ॥ २४ ॥ स्मरण और विस्मरण, व्यस्तता और अव्यस्तता, प्रतीति और अनुमान का भी यही हाल है ॥ २५ ॥ न्याय और अन्याय, हाँ और नहीं—ये सब विवेक के बिना कैसे मालूम हो सकते हैं ? ॥ २६ ॥ कार्यकर्ता और निकम्मा, शूर और डरपोक, धर्मी और अधर्मी, मालूम होना चाहिए ॥ २७ ॥ धनाढ्य और दिवालिया, साव और चोर, सच और झूठ मालूम होना चाहिए ॥ २८ ॥ श्रेष्ठ और कनिष्ठ, भ्रष्ट और अन्तर्निष्ठ तथा सारासार-विचार स्पष्ट मालूम होना चाहिए ॥ २९ ॥

दसवाँ समास—त्रिगुण और पञ्चभूत ।

॥ श्रीराम ॥

पञ्चभूतों से जगत् चलता है, यह सारा पञ्चभूतों का पसारा है । पञ्चभूत चले जाने पर फिर क्या रह जाता है ? ॥ १ ॥ श्रोता वक्ता से कहत

है कि भूतों की तो इतनी माहिमा बढा दी, पर हे स्वामी, यह तो बतलाइये कि, त्रिगुण कहाँ गये ? ॥ २ ॥ उत्तर:-अन्तरात्मा पांचवों भूत है, त्रिगुण उसके अंगभूत हैं । इस बात का विचार, सावधानचित्त से, अच्छी तरह करो ॥ ३ ॥ जितना कुछ हुआ है उसे भूत कहते हैं, उसी हुए में त्रिगुण भी आ गये । इतने ही से आशंका की जड कट जाती है ॥ ४ ॥ भूतों से भिन्न कुछ नहीं है, यह सब कुछ भूतों से ही उत्पन्न है । एक के बिना एक कभी नहीं हो सकता ॥ ५ ॥ कहते हैं कि आत्मा से पवन होता है, पवन से अग्नि होता है और अग्नि से जीवन (जल) होता है ॥ ६ ॥ जल सूर्य के द्वारा जम कर, अग्नि और वायु के योग से, भूमंडल बन जाता है ॥ ७ ॥ अग्नि, वायु और रवि यदि न होता तो बहुत शीतलता रहती । परन्तु शीतलता में भी उष्णता रहती है ॥ ८ ॥ परमात्मा ने यह सब विचित्र संसार रचा है । सम्पूर्ण देहधारी उसीसे हुए हैं ॥ ९ ॥ यदि कहीं सब शीतल ही शीतल होता तो भी सारे प्राणी मर जाते । अथवा सारी उष्णता ही होने से भी सब संसार सूख जाता ॥ १० ॥ अस्तु । जब भूमंडल सूर्य के किरणों से जम गया तब परमात्मा ने और-और उपाय रचे ॥ ११ ॥ अर्थात् वर्षा-ऋतु बनाई, जिससे भूमंडल टंडा हुआ । इसके बाद कुछ उष्ण और कुछ शीतल शीतकाल की रचना हुई ॥ १२ ॥ जब शीतकाल में लोग कष्टी होने लगे और वृक्ष आदि सूखने लगे तब फिर उष्णकाल की रचना हुई ॥ १३ ॥ उसमें भी प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल, शीतकाल और उष्णकाल निर्माण किये गये ॥ १४ ॥ इस तरह एक के पीछे एक बनाया जाता है, क्रम से सब के नियम बांधे जाते हैं, जिससे प्राणिमात्र का जीवन स्थिर होता है ॥ १५ ॥ नाना प्रकार के जब कठिन रोग होने लगे तब ओषधियाँ बनाई गईं (यह सब तो हुआ); पर सृष्टि का विवरण भी मालूम होना चाहिए ॥ १६ ॥ देह का मूल रक्त और रेत है (जो एक प्रकार का जल है) उसी जल के दांत बनते हैं; इसी प्रकार भूमंडल में नाना रत्नों की रचना भी होती है ॥ १७ ॥ सब का मूल पानी जानो, पानी से सारा धंधा चलता है पानी बिना 'हरि गोविन्द' -अर्थात् सब शून्य-जानो; उसके बिना प्राणी ही कहाँ से होंगे ? ॥ १८ ॥ मुक्ताफल, शुक्र के समान चमकीले हीरे, माणिक और इन्द्रनील, इत्यादि सब जल से होते हैं ॥ १९ ॥ किसकी माहिमा बतलावें ? सारा मिश्रण ही हो गया है । अलग अलग किस प्रकार करें ? ॥ २० ॥ परन्तु मन में विवेक आने के लिए कुछ थोड़ा बतलाया है । जगत् में जो विवेकी पुरुष हैं वे सब समझते हैं ॥ २१ ॥ सब कुछ समझ लेना असम्भव है, शास्त्रों-शास्त्रों का मेल नहीं मिलता और अनुमान से कुछ भी निश्चय नहीं होता ॥ २२ ॥ भगवान् के गुण अगाध हैं, शेष भी

अपनी वाचा से वर्णन नहीं कर सकता । परमात्मा के बिना वेदविधि भी कच्ची ही जानो ॥२३॥ आत्माराम सब को पालता है, वह सारा त्रैलोक्य संभालता है । उस एक के बिना सब मिट्टी में मिल जाते हैं ॥ २४ ॥ जहाँ आत्माराम नहीं है वहाँ कुछ नहीं रह सकता, ऐसे स्थान में त्रैलोक्य के सारे प्राणी मृततुल्य हैं ॥२५॥ आत्मा न रहने से मरण हो जाता है, आत्मा बिना कोई कैसे जी सकता है ? अन्तःकरण में अच्छी तरह विवेक करना चाहिए ॥२६॥ विवेकपूर्वक समझना भी आत्मा के बिना नहीं हो सकता ! सब को जगदीश का भजन करना चाहिए ॥ २७ ॥ उपासना के प्रगट होने से ही यह विचार मालूम हुआ है, इस लिए परमात्मा की उपासना करना चाहिए ॥ २८ ॥ उपासना का बड़ा भारी आश्रय है, उपासना बिना काम नहीं चल सकता-चाहे जितना उपाय किया जाय; पर सफलता नहीं हो सकती ॥ २९ ॥ जिसे समर्थ का आश्रय नहीं होता उसे चाहे जो कूट डालता है ! इस लिए उठते-बैठते सदा भजन करते रहना चाहिए ॥ ३० ॥ भजन, साधन और अभ्यास से परलोक मिलता है । 'दास कहता है' कि, यह विश्वास रखना चाहिए ॥ ३१ ॥



सतहवाँ दशक ।

पहला समास—अन्तरात्मा की सेवा ।

॥ श्रीराम ॥

निश्चल ब्रह्म में चञ्चल आत्मा है । सब से परे जो परमात्मा है वही चैतन्य, साक्षी, ज्ञानात्मा और पद्मगुणेश्वर है ॥ १ ॥ वह सारे जगत् का ईश्वर है, इसी लिए उसे जगदीश्वर कहते हैं—उसीसे यह विस्तार हुआ है ॥ २ ॥ शिवशक्ति, जगदीश्वरो, प्रकृतिपुरुष, परमेश्वरी, मूलमाया, गुणेश्वरी और गुणज्ञोभिणी वही है ॥ ३ ॥ क्षेत्रज्ञ, द्रष्टा, कूटस्थ, साक्षी, अन्तरात्मा, सब को देखनेवाला, शुद्ध सत्त्व, महत्तत्त्व, परोक्षा करनेवाला और ज्ञाता साधु वही है ॥ ४ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नाना पिंडों का जीवेश्वर, आदि सब छोटे बड़े प्राणिमात्र उसे भासते हैं ॥ ५ ॥ वह (अन्तरात्मा) देहरूप देवालय में बैठा है; भजन न करने पर देह को मारता है; इसी लिए उसके भय से उसे लोग भजते हैं ॥ ६ ॥ जो समय पर भजन भूल जाता है उसे वह उसी समय पछाड़ देता है, इसीसे सारे लोग उसे प्रेमपूर्वक भजने लगे ॥ ७ ॥ वह जब जिस बात को अपेक्षा करता है तभी वह उसे लोग देते हैं, इसी प्रकार सब लोग उसका भजन करते हैं ॥ ८ ॥ पाचों विषयों का नैवेद्य, जब उसे चाहिये हो तभी, ठोक रखना पड़ता है, पेसा न करने से उसी दम रोग होते हैं ॥ ९ ॥ जिस समय नैवेद्य नहीं पाता उसी समय देव (अन्तरात्मा) नहीं रहना—वह नाना प्रकार का सौभाग्य, वैभव और पदार्थ छोड़ कर चला जाता है ॥ १० ॥ आते समय यह किसीको मालूम भी नहीं होने देता—किसीको उसकी खबर ही नहीं लगती । उसके बिना कोई भी उसका अनुमान नहीं कर सकता ॥ ११ ॥ देव को देखने के लिए देवालय ढूँढने पड़ते हैं । देव कहीं न कहीं देवालय के गुण से प्रगट होता है ॥ १२ ॥ नाना शरीर ही देवालय हैं—इन्हीं में जीवेश्वर रहता है । नाना प्रकार के नाना शरीर हैं—उनके अनंत भेद है ॥ १३ ॥ इन चलते-बोलते देवालयों में 'आप' (देव) रहता है । जितने देवालय है उतने सब मालूम होने चाहिए ॥ १४ ॥ मत्स्य, कूर्म, या बहुत काल तक भूगोल धारण करनेवाला वाराह, आदि अनेक कराल, विकराल और निर्मल देवालय हो गये ॥ १५ ॥ अनेक देवालयों में वह सुख पाता है, समुद्र को तरह सुख से भरा पूरा हो जाता है; पर वह सुख सदा नहीं रहता; सुख अशाश्वत है ।

(वह सुख से अलिप्त है) ॥१६॥ अशाश्वत का शिरोमणि, जिसकी करणी अगाध है, यदि दिखता नहीं तो क्या हुआ, धनी वास्तव में उसीको कहते हैं ॥ १७ ॥ उसकी ओर लक्ष्य रखने से अभेदत्व आता है उससे विमुख रहने से खेद होता है ॥ १८ ॥ वह सर्वों का मूल है; पर दिखता नहीं, भव्य और भारी है, पर भासता नहीं और एक पल भर भी एक जगह नहीं रहता ॥ १९ ॥ ऐसा वह परमात्मा अगाध है, उसको महिमा कौन जान सकता है ? हे सर्वोत्तम ! तेरी लीला तू ही जानता है ! ॥ २० ॥ जिस पुरुष में नित्यानित्य-विवेक है, ससार में उसीका आना सार्थक है । ऐसा पुरुष इहलोक और परलोक दोनों साधता है ॥ २१ ॥ मननशील लोगों के पास परमात्मा अखंड रीति से रात दिन बना रहता है । विचार करने से जान पड़ता है कि, ऐसे पुरुषों का पूर्वसंचित पुण्य अनुपम है ॥ २२ ॥ (ऐसे पुरुष से परमात्मा का) अखंड योग रहता है, इसी लिए वे योगी कहलाते हैं । (परमात्मा का जिससे) योग नहीं रहता वह वियोगी (दुखी) है; पर जो वियोगी है वह भी (परमात्मा के) योग के बल से योगी हो जाता है ॥ २३ ॥ भलों की महिमा ऐसी है कि, वे लोगों को सन्मार्ग में लगाते हैं । तैरनेवाला मौजूद हो तो उसे चाहिए कि, वह डूबनेवाले को डूबने न दे ॥ २४ ॥ भूमंडल में ऐसे बहुत थोड़े पुरुष हैं जो सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों का विवरण तथा पिंड-ब्रह्मांड का ज्ञान करके अनुभव प्राप्त करते हैं ॥ २५ ॥ वेदान्त क पंचोकरण का अखंड विवरण करना चाहिए और महावाक्य से अन्तःकरण का रहस्य देखना चाहिए ॥ २६ ॥ पृथ्वी में जो विवेक पुरुष हैं उनकी संगति धन्य है । उनके उपदेश का श्रवण करके प्राणिमात्र गति पाते हैं ॥ २७ ॥ सत्संग और सच्छास्त्र-श्रवण का जहां अखंड विवरण होता रहता है वहीं सत्संग और परोपकार के उत्तम गुण मिलते हैं ॥ २८ ॥ जो सत्कीर्तिवान् पुरुष हैं वही परमेश्वर के अंश हैं, धर्मस्थापना का उत्साह उन्हीं में पाया जाता है ॥ २९ ॥ सारासार-श्रेष्ठ है, उससे जगत् का उद्धार होता है । संगत्याग से अनेक पुरुष हो चुक हैं ॥ ३० ॥

दूमरा समास-शिवलाक्ति-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म, आकाश की तरह, निर्मल और निश्चल है । वह निराकार, केवल और निर्विकार है ॥ १ ॥ उसका अन्त ही नहीं है-अनन्त है, शाश्वत और सदैवित है, वह अशान्त नहीं है-सदा शान्त रहता है ॥ २ ॥ परब्रह्म अवि-

नाश है, वह आकाश की तरह व्याप्त है, न टूटता है, न फूटता है, निरन्तर
जैसा का तैसा बना रहता है ॥ ३ ॥ वहाँ न ज्ञान है न अज्ञान है, न
स्मरण है न विस्मरण है, वह अखंड निर्गुण और निरावलम्ब है ॥४॥ वहाँ
चन्द्र, सूर्य, अग्नि, अंधेरा, उजैला, आदि कुछ नहीं है। उपाधि से अलग
एक निरुपाधि ब्रह्म ही है ॥ ५ ॥ निश्चल में जो स्मरण जागृत होता है
उसे चैतन्य मान लेते हैं और गुण को समानता के कारण उसे गुणसाम्य
कहते हैं ॥ ६ ॥ जैसे आकाश में बादल की छाया आ जाती है उसी तरह
(परब्रह्म में) मूलमाया जानो। (जिस प्रकार आकाश में बादल के आने
जाने में देर नहीं लगती उसी प्रकार) मूलमाया के उद्भव और लय में देर
नहीं लगती ॥ ७ ॥ निर्गुण में जो गुण का विकार है वही षड्गुणेश्वर है
और उसीको 'अर्धनारी नटेश्वर' कहते हैं ॥ ८ ॥ उसीको आदिशक्ति
और शिवशक्ति कहते हैं; वही सब की मूलशक्ति है। उसीसे नाना व्यक्तियाँ
निर्माण हुई हैं ॥ ९ ॥ उसीसे शुद्ध सत्त्व और रज-तम की उत्पत्ति होती है,
जिन्हें महत्त्व और गुणक्षोभिणी माया कहते हैं ॥ १० ॥ इस पर शंका
हो सकता है कि, मूल में जब व्यक्ति ही नहीं रहती तब वहाँ शिवशक्ति
कहाँ से आवेगी? अच्छा, सावधानचित्त होकर इसका समाधान सुनो
॥ ११ ॥ ब्रह्मांड से पिंड का अथवा पिंड से ब्रह्मांड का विचार करने पर
इसका निश्चय हो जाता है ॥ १२ ॥ बीज फोड़ कर देखने से उसमें फल
नहीं देख पड़ता; पर बीज से वृक्ष के बढ़ने पर उसमें अनेक फल आते हैं
॥ १३ ॥ फल फोड़ने से उसमें बीज दिखते हैं, बीज फोड़ने से उसमें फल
नहीं दिखते—यही हाल पिंड-ब्रह्मांड का है ॥१४॥ पिंड में नरनारी दोनों भेद
स्पष्ट दिख पड़ते हैं, यदि मूल में न होते तो आगे फिर स्पष्ट कैसे हो सकते?
अर्थात् नरनारी दोनों मूलमाया ही में, प्रकृतिपुरुष के रूप में रहते हैं
॥ १५ ॥ कल्पनाएं, जो नाना बीजरूप हैं, उनमें क्या नहीं होता? सब
कुछ होता है, पर सूक्ष्मरूप से होता है; इसी लिए एकाएक भासता
नहीं ॥ १६ ॥ स्थूल का मूल वासना है, वह वासना पहले तो दिखती ही
नहीं है। स्थूल के बिना किसीका भी अनुमान नहीं हो सकता ॥ १७ ॥
वेदशास्त्र कहते हैं कि, कल्पना से सृष्टि बनी है। पर (कल्पना) दिख
नहीं पड़ती, इस कारण उसे मिथ्या न कहना चाहिए ॥ १८ ॥ जब एक
एक जन्म का पड़दा पड़ गया है (अर्थात् जितने जन्म मिले हैं उतने ही
पड़दे पड़ गये हैं) तब फिर सत्य-विचार कैसे मालूम हो सकता है?
निश्चित बातें ऐसी ही गूढ़ होती हैं—और गूढत्व ही निश्चय का ठौर है
॥ १९ ॥ सम्पूर्ण पुरुषों और स्त्रियों के जीव, सब एक ही हैं; परन्तु देह-
स्वभाव अलग अलग है ॥ २० ॥ इसी लिए स्त्री को स्त्री की आवश्यकता

नहीं होती । अस्तु । पिंड से ब्रह्मांड-बीज का निश्चय करना चाहिए ॥२१॥
 स्त्री का मन पुरुष पर और पुरुष का मन स्त्री पर जाता है । यह वासना
 का हाल मूल ही से चला आता है ॥ २२ ॥ वासना आदि ही से अभेद
 है, देह-सम्बन्ध से भेद हो जाता है और देह का सम्बन्ध टूट जाने पर
 भेद भी चला जाता है ॥ २३ ॥ नरनारी का मूल शिवशक्ति में है । जन्म
 लेने से यह बात अच्छी तरह मालूम हो जाती है ॥ २४ ॥ नाना प्रीति की
 वासनाएँ एक की दूसरे को नहीं मालूम होतीं । तीक्ष्ण दृष्टि से कुछ थोड़ी
 अनुमान में आती हैं ॥ २५ ॥ बालक को उसकी माँ पालती-पोसती है,
 यह काम पुरुष से नहीं हो सकता । उपाधि वनिता से ही बढ़ती है ॥२६॥
 (माता को बालक के पालने में) घृण, श्रम, आलस और थकावट नहीं
 आती । माता को छोड़ कर (बालक पर) इतना मोह और किसीका नहीं
 होता ॥ २७ ॥ नाना प्रकार की उपाधि बढ़ाना वह जानती है, नाना प्रकार
 के मोह से फँसाना वह जानती है और नाना प्रकार के प्रपंच की नाना
 प्रकार की प्रीति लगाना भी वही जानती है ॥ २८ ॥ पुरुष को स्त्री का
 विश्वास होता है और स्त्री को पुरुष से सन्तोष होता है-दोनों को परस्पर
 वासना ने बंध डाला है ॥ २९ ॥ ईश्वर ने एक पेसा बड़ा जाल बना रखा
 है कि, जिसमें मनुष्यमात्र फँसे हुए हैं और मोह का पेसा गूथ बना रखा
 है कि, जो किसीसे छूटता नहीं ॥ ३० ॥ इस प्रकार स्त्री-पुरुष में परस्पर
 महा प्रीति होती है । यह (प्रीति) सनातन से (मूलमाया से), आदि ही
 से, चली आती है । विवेक से प्रत्यक्ष देखना चाहिए ॥ ३१ ॥ आदि में
 सूक्ष्म उत्पन्न होता है फिर, इसके बाद, वह (सूक्ष्म) स्पष्ट दिखने लगता
 है । दोनों के द्वारा उत्पत्ति का काम चलता है ॥ ३२ ॥ वास्तव में शिव
 शक्ति ही मूल में थी, आगे वधु-वर हुए, जो चौरासी लाख योनियों के
 विस्तार में फैले हैं ॥ ३३ ॥ यहाँ जो यह शिवशक्ति का रूप प्रत्यक्ष बत-
 लाया उसे श्रोताओं को मन में लाना चाहिए । बिना विचार किये कहीं
 र्थ जानना चाहिए ॥ ३४ ॥

तीसरा समास-अध्यात्म-श्रवण ।

॥ श्रीराम ॥

ठहरो, ठहरो ! सुनो, सुनो ! पहले ही ग्रन्थ मत छोड़ दो । जो कुछ
 बतलावें सो सावधानी से सुनो ! ॥ १ ॥ सब श्रवणों में मुख्य यह

अध्यात्म-निरूपण का श्रवण है । इस लिए इस विषय का विचार सुचित्त श्रुतःकरण से करना चाहिए ॥ २ ॥ श्रवण-मनन का विचार करने पर निदिध्यास से, निश्चय करके, मोक्ष का साक्षात्कार होता है-वह उधार नहीं रहता-उधार का नाम ही न लो ॥ ३ ॥ नाना रत्नों की परीक्षा करते समय, अधवा (पदार्थों को) तोलते समय, या उत्तम सोना आँच में तचाते समय सावधान रहना चाहिए ॥ ४ ॥ नाना प्रकार के सिक्के गिनने में, नाना प्रकार की परीक्षाएं करने में और विवेकी पुरुष से बात-चीत करने में सावधानी रखनी चाहिए ॥५॥ जैसे 'लखाहर' (शिवपूजाविशेष) का धान्य छांट छांट कर चढाने से देवता को मान्य होता है; पर एक तरफ से बुरा-भला सब चढाने से देवता को अमान्य होता है और वह क्षोभ करता है ॥६॥ एकान्त में, जब किसी 'नाजुक कारवार' का विचार होता हो तब, बहुत होशियार रहना चाहिए; पर अध्यात्मग्रन्थ के विचार में उससे कोटि-गुण अधिक सावधान रहना चाहिए ॥ ७ ॥ कहानियां, कथा, बार्ता, पंवाड़ और अनेक बड़े बड़े अवतारचरित्रों से भी कठिन अध्यात्मविद्या है ॥८॥ गई हुई बात (कथा) को सुन लेने से क्या हाथ आता है? लोग कहते हैं कि, पुण्य प्राप्त होता है; पर वह कुछ दिखता नहीं! ॥ ९ ॥ अध्यात्म-निरूपण का यह हाल नहीं है, इसका विचार प्रतीतिपूर्ण है । उसके मालूम होने से सन्देह मिट जाता है ॥१०॥ बड़े बड़े होगये, सब आत्मा ही के द्वारा बर्ताव करते रहे; पर ऐसा कौन हुआ (या है) जो उसकी महिमा बतला सका हो (या बतला सकता हो)? ॥११॥ युगानुयुगों से जो अकेला ही तीनों लोकों को चला रहा है उस आत्मा का विचार बार बार करना चाहिए ॥ १२ ॥ अनेक प्राणी जन्म लेकर आते हैं और मर कर चले जाते हैं और अपने कार्यों का इच्छानुसार वर्णन करते हैं ॥ १३ ॥ परन्तु जिसमें आत्मा अखंडरूप से प्रकाशित नहीं है वहाँ सारा सपाट है । आत्मा के बिना विचारा काष्ठरूप (देह) क्या जान सकता है? ॥ १४ ॥ ऐसा आत्मज्ञान श्रेष्ठ है, इसके समान और कुछ नहीं है । जगत् में जो विवेकी सज्जन पुरुष हैं वे ही इसे जानने हैं ॥ १५ ॥ पृथ्वी, आप और तेज का विचार इस पृथ्वी में ही मिल जाता है; पर अन्तरात्मा, जो सब तत्त्वों का बीज है, अलग ही रहता है ॥ १६ ॥ जो कोई वायु के आगे भी विवेक करेगा उस पुरुष को आत्मा निकट ही मिलेगा ॥ १७ ॥ परन्तु वायु, आकाश, गुण-माया, प्रकृति-पुरुष और मूलमाया, इन सब का क्रमशः, सूक्ष्म रूप से विचार करके प्रतीति प्राप्त करना कठिन है ॥ १८ ॥ मायादेवी के गड़बड़ में पड कर फिर सूक्ष्म में कौन मन लगाता है? पर जो (सूक्ष्म में मन लगा कर) समझता है उसकी सन्देहवृत्ति मिट जाती है ॥१९॥ मूलमाया (ब्रह्मांड का)

चौथा देह है, वह विदेह होना चाहिए । जो देहातीत होकर रहता है वही साधु धन्य है ॥ २० ॥ विचार से जो ऊंचे पर चढते हैं उन्हींको ऊर्ध्व गति (मोक्ष) प्राप्त होती है; बाकी लोगों को, जो पदार्थज्ञान में ही पडे रहते हैं, अधोगति मिलती है ॥ २१ ॥ पदार्थ देखने में तो अच्छे दिखते हैं, पर वे क्षणभर ही में नाश हो जाते हैं, इस कारण लोग दोनों ओर से भ्रष्ट होते हैं ॥ २२ ॥ इस लिए पदार्थज्ञान और नाना जिनसों का अनुमान (भ्रष्ट) आदि सब छोड कर निरंजन (परब्रह्म) का खोज करते रहना चाहिए ॥ २३ ॥ अष्टांग योग, पिंडज्ञान, उससे भी बड़ा तत्त्वज्ञान और उससे भी श्रेष्ठ आत्मज्ञान, का विचार करना चाहिए ॥ २४ ॥ मूलमाया के भी उस तरफ, जहां मूल में (आदि में) हरि-संकल्प (अहंब्रह्मास्मि का स्फुरण) उठता है वहां, उपासना के योग से पहुँचना चाहिए ॥ २५ ॥ फिर, उसके बाद, निखिल और निर्गुण ब्रह्म है । वह निर्मल तथा निश्चल है । उसकी उपमा आकाश से दी जा सकती है ॥ २६ ॥ वह यहां से लेकर वहां तक भरा हुआ है, और प्राणिमात्र से मिला हुआ है, पदार्थमात्र से लगा हुआ है और सब में व्याप्त है ॥ २७ ॥ उसके समान और कुछ बड़ा नहीं है, उसका विचार ऐसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है कि, जो पिंड और ब्रह्मांड का संहार होने पर मालूम होता है ॥ २८ ॥ अथवा पिण्ड-ब्रह्मांड के रहते हुए भी, यदि विवेकप्रलय देखा जाय तो भी, यह बात मालूम हो सकती है, कि वास्तव में शाश्वत क्या है ॥ २९ ॥ सारा तत्त्व-विवेचन करके, और सार-असार का विचार करके, फिर, सावधानी के साथ, सुखपूर्वक ग्रन्थ छोड देने में कोई हानि नहीं ॥ ३० ॥

चौथा समास-संशय मिटाओ ।

॥ श्रीराम ॥

जो उपाय बहुत लोगों के लिए उपयोगी है वह यदि वक्ता से पूँछा जाय तो उसे दोभ न करना चाहिए और बतलाते बतलाते क्रम न छोडना चाहिए ॥ १ ॥ श्रोता ने जो आशंका की हो उसे तत्काल मिटाना चाहिए । ऐसा न करना चाहिए कि, अपनी ही कही हुई बात से अपनी ही बात का खण्डन हो जाय ॥ २ ॥ ऐसा न करना चाहिए कि, आगे का खयाल रखने से पीछे फँस जाय और पीछे ध्यान रखने पर आगे का बात उड जाय - और इसी तरह जगह जगह फँसते जाय ॥ ३ ॥ जो तैराक स्वयं ही गोता गता है वह दूसरों को कैसे निकाल सकता है ? इसी तरह लोगों की शंका जगह जगह रह जाती है ॥ ४ ॥ यदि हमने संहार का वर्णन किया

है तो हमें सब का सार भी बतलाना चाहिए और माया का दुस्तर पार भी दिखाना चाहिए ॥ ५ ॥ जितने सूक्ष्म नाम लेना चाहिए उन सब का रूप प्रकट करके दिखला देना चाहिए, तभी विचारवन्त वक्ता कहला सकते हैं ॥६॥ ब्रह्म कैसा है, मूलमाया कैसी है, अष्टधा प्रकृति और शिव-शक्ति कैसे है तथा षड्गुणेश्वर और गुणसाम्य (गुणमाया) की स्थिति कैसी है? ॥ ७ ॥ अर्धनारी-नटेश्वर, प्रकृतिपुरुष का विचार, गुणज्ञोभिणी और उसके बाद त्रिगुण कैसे हैं? ॥८॥ पूर्वपक्ष कहां से कहां तक है? वाच्यांश और लक्ष्यांश में क्या भेद है? इत्यादि, इत्यादि नाना सूक्ष्म विचार जो करता है वही साधु धन्य है ॥९॥ वह नाना प्रकार के व्यर्थ विस्तार में नहीं पड़ता, बोला ही हुआ फिर नहीं बोलता और मौन्यगर्भ (परमेश्वर) को मन में ले आता है ॥१०॥ जो एक बार कहता है कि, परब्रह्म शुद्ध एक है, दूसरी बार कहता है कि, नहीं सारा जगत् परब्रह्म ही है, तथा तीसरी बार कहता है कि जो द्रष्टा साक्षी है और सब पर जिसकी सत्ता है वही परब्रह्म है, वह वक्ता ठीक नहीं ॥ ११ ॥ वह निश्चल को चञ्चल और चञ्चल को निश्चल परब्रह्म कहता है, इसी प्रकार के भगड़े लगाये रहता है । एक निश्चय नहीं करता ॥ १२ ॥ वह चञ्चल और निश्चल-सब को केवल चैतन्य ही बतलाता है; किन्तु अलग अलग रूप स्पष्ट करके बतला नहीं सकता ॥ १३ ॥ इस प्रकार जो स्वयं व्यर्थ के लिए मायाजाल में पड़ा रहता है वह दूसरों को कैसे बोध कर सकता है? नाना प्रकार के निश्चय करने से-अस्थिर निश्चय करने से-व्यर्थ के भगड़े बढ़ते जाते हैं ॥ १४ ॥ भ्रम को परब्रह्म और परब्रह्म को भ्रम बतलाता है-इस प्रकार वह अपने ज्ञातापन का ढोंग प्रकट करता है ! ॥ १५ ॥ शास्त्रों का आधार बतलाता है, बिना अनुभव के निरूपण करता है; पूछने पर व्यर्थ के लिए बहुत नाराज होता है ॥ १६ ॥ जो ज्ञाता होकर पदार्थ की अपेक्षा करता है-निस्पृह नहीं है-वह विचारा क्या बतलायेगा? सारासार का निश्चय होना चाहिए ॥ १७ ॥ वैद्य मात्र की प्रशंसा तो करता है; पर मात्रा गुण कुछ भी नहीं दिखलाती-यही हाल, प्रतीति बिना ज्ञान का है ॥ १८ ॥ जहां सारासार का विचार नहीं है वहां सारा अंधकार ही है, वहां नाना प्रकार की परीक्षाओं का विचार नहीं हो सकता ॥ १९ ॥ वह पाप-पुण्य, स्वर्ग-नर्क, विवेक-अविवेक सब को 'सर्वब्रह्म' कहता है ! ॥ २० ॥ वह पतित और पावन तथा निश्चय और अनुमान को भी ब्रह्मरूप मानता है ! ॥ २१ ॥ जहां सारा ब्रह्म-रूप ही है वहां उससे अलग क्या निकालें? जहां सारी शक्ति है वहां अलग क्या निकालें ! ॥२२॥ इसी प्रकार जहां सार और असार का एकाकार

हो जाता है वहाँ अविचार प्रबल होता है और विचार का नाम भी नहीं रहता ॥ २३ ॥ जहाँ वंद्य और निंद्य एक हो जाता है वहाँ क्या हाथ आता है ? जो नशे की चोज सेवन करके पागल बन बैठता है वह ऊलजलूल बकता ही है ॥ २४ ॥ इसी प्रकार वह अज्ञानरूप भ्रम से भूला हुआ है 'सर्वब्रह्म' कह कर ही निश्चिन्त बैठा है और महापापी तथा सत्पुरुष दोनों को एक ही सा मानता है ! ॥ २५ ॥ सर्वसंग-परित्याग और मनमाना विषयभोग—ये दोनों यदि एक ही माने जायँ तो फिर बच क्या रहा ? ॥ २६ ॥ भेद तो ईश्वर ही ने कर रखा है—अब वह उसके (उपर्युक्त अज्ञानी के) बाप से भी मिटाया नहीं जा सकता । ईश्वर-नियम के विरुद्ध कोई कर कैसे सकता है ? मुख में डालने का कौर अपानद्वार में डालो ! ॥ २७ ॥ जिन इन्द्रियों के लिए जो भोग कहा है वह सांगोपांग भोगती हैं—यह सारा जग ईश्वर रचित है—उसके नियम मोड़े नहीं जा सकते ॥ २८ ॥ ये सारी भ्रान्ति की भूलभुलैयाँ हैं, विना प्रतीति के सारी बात मिथ्या है । जिस पर पागलपन सवार होता है वह ऊटपटांग बकता ही है ॥ २९ ॥ इस लिए जो सावधान और अनुभवी ज्ञाता है उसका निरूपण सुनना चाहिए । ऐसा करने से आत्मसाक्षात्कार की पहचान तुरंत मिल जाती है ॥ ३० ॥ उलटा और सीधा जानना चाहिए, अन्धे को पैरों से ही पहचानना चाहिए और व्यर्थ बोलने को वमन-प्राय त्याग करना चाहिए ॥ ३१ ॥

पाँचवाँ समास—अजपा-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

अजपा-जप की संख्या इक्कीस सहस्र छै सौ नियत की गई है । विचार करने से सब कुछ सहज है ॥ १ ॥ मुख और नासिका में प्राण रह कर अखंड आता रहता है । इसका विचार सूक्ष्म दृष्टि से करना चाहिए ॥ २ ॥ पहले तो देखने से मालूम होता है कि, स्वर एक ही है; पर वास्तव में उस स्वर के तीन भेद हैं:—(१) तार=निपाद; (२) मंद्र=मध्यम; (३) घोर=उर्ज; अब इस घोर से भी सूक्ष्म विचार अजपा का है ॥ ३ ॥ 'स-रि-ग-म-प-ध-नि-इन सारे अक्षरों को कह कर देखो—इन सप्तस्वरों में से किसी एक को मूल मान कर क्रमशः ऊपर को चलो ॥ ४ ॥ परा वाचा के ऊपर और पर्यंती के नीचे—अर्थात् नाभि और हृदय के बीच में—स्वर का

जन्मस्थान है; वहाँ से उसका ' उल्लेख ' (स्फुरण) होता है ॥ ५ ॥ एकान्त में स्वस्थ होकर बैठना चाहिए, वहाँ यह सब समझ लेना चाहिए-प्रयोग करना चाहिए-प्रभंजन (पवन) को अखंडरूप से खींचना चाहिए और छोड़ना चाहिए ॥ ६ ॥ एकान्त में मौन साध कर बैठना चाहिए, सावधान या सुस्थ होकर देखने से जान पड़ता है कि, ऊपर श्वास खींचते समय 'सो' और बाहर छोड़ते समय 'हं'-इस प्रकार निरन्तर "सोहं सोहं" शब्द होता रहता है ॥ ७ ॥ उच्चार के बिना जो शब्द होते हैं उन्हें नैसर्गिक शब्द समझना चाहिए; वे अनुभव में आते हैं; पर उनका नाम कुछ भी नहीं होता ॥८॥ उन शब्दों को भी जो छोड़ बैठता है उसे महान् मौनी कहना चाहिए-योगाभ्यास का सारा 'गड़बड़' ऐसा ही है ॥९॥ एकान्त में मौन धारण करके बैठने पर जब यह विचार किया जायगा कि, कौन शब्द हुआ तब अन्तर में 'सोहं' शब्द का सा भास होता है ॥ १० ॥ श्वास लेते समय 'सो' और छोड़ते समय 'हं'-इस प्रकार अखंड रीति से "सोहं सोहं" होता रहता है-इसका विचार बहुत विस्तृत है ॥ ११ ॥ सब देहधारी प्राणी, स्वेदज और उद्भिज आदि योनियां-जितने प्राणी हैं, बिना श्वासोच्छ्वास के वे सब कैसे जी सकते हैं? ॥ १२ ॥ इस प्रकार की यह अजपा सब के पास है; पर शता पुरुष को मालूम हो जाती है; (अज्ञान को नहीं मालूम होती) सहज-नैसर्गिक-को छोड़ कर बनावटी बात में न पड़ना चाहिए ॥ १३ ॥ सहज (नैसर्गिक) देव बना ही रहता है-वह अविनाशी है-बनावटी देव (मूर्ति इत्यादि) फूटता है, नाश होता है-इस लिए ऐसा कौन है जो नाशवंत देव पर विश्वास करे? ॥ १४ ॥ जगदन्तर-(जगत् का अन्तरात्माराम)-के दर्शन से स्वयं सहज ही श्रेखण्ड ध्यान लग जाता है-सारे लोग उसी आत्माराम की इच्छा से वर्तते हैं ॥ १५ ॥ आत्माराम को जिस तरह समाधान होता है वैसा ही उसको भोजन मिलता है; छोड़ा हुआ, नाश हुआ, आदि सब उसी को समर्पण हो जाता है ॥ १६ ॥ अग्नि देवता उदर में बसते हैं, उन्हें भी प्राणी अवदान देते हैं-इस प्रकार सारे प्राणी आत्माराम को आज्ञा में चलते हैं ॥ १७ ॥ इस प्रकार परमात्मा का जप, ध्यान, स्तुति, स्तवन आदि स्वाभाविक ही हो रहा है और वह उन्हें स्वीकार भी कर रहा है (पर यह बात समझना चाहिए) ॥ १८ ॥ इसी नैसर्गिक बात को समझने के लिए नाना प्रकार के दृढयोग किये जाते हैं; पर तो भी यह बात एकाएक नहीं समझ पड़ती ॥ १९ ॥ गडा हुआ द्रव्य भूल जाने पर दरिद्र आता है; कभी कभी तो ऐसा होता है कि, नीचे लक्ष्मी है और पुरुष ऊपर वर्तता है, पर विचारा, प्राणी क्या करे? उसे मालूम ही नहीं है! ॥ २० ॥ तहखाने में

अनन्त द्रव्य रहता है, दीवाल में द्रव्य रखा रहता है और खम्भों में या मयालों में द्रव्य रखा रहता है और आप उसीके बीच में निवास करता है ! ॥ २१ ॥ इस प्रकार लक्ष्मी के बीच में अभागी खेलता रहता है; परन्तु उसका दरिद्र और भी बढ़ता जाता है ! उस परमानन्द परमपुरुष का यह अचरज तो देखिये ! ॥ २२ ॥ एक बैठे देखते हैं—यह विवेक की गति है ! यही हाल प्रवृत्ति और निवृत्ति का भी है ॥ २३ ॥ जब अतःकरण में नारायण बसते हैं तब लक्ष्मी के लिए क्या कमी है ? जिसकी लक्ष्मी है उसको—उस लक्ष्मीधर (परमात्मा) को—खूब मजबूती के साथ पकड़ना चाहिए ! ॥ २४ ॥

छठवाँ समास—देही और देह ।

॥ श्रीराम ॥

देही (आत्मा) देह में रहता है, नाना सुख-दुःखों का भोग करता है और अन्त में एकाएक शरीर छोड़ जाता है ॥ १ ॥ तरुणार्थ में, शरीर होने के कारण, प्राणी नाना सुख-भोग करता है और बुढ़ापे में अशक्त होने पर सुख-भोग करता है ॥ २ ॥ चाहता तो है कि, न मरूं; परन्तु अन्त में हाथ-पैर फटफटा कर प्राण छोड़ता है और वृद्धपन में नाना कठिन दुख सहता है ॥ ३ ॥ देह और आत्मा की संगति से कुछ थोड़ा सुख भोगते हैं—और देहान्तकाल में तड़फड़ा-तड़फड़ा कर चले जाते हैं ॥ ४ ॥ ऐसा आत्मा दुःखदायक है । संसार में एक दूसरे के प्राण ले लेते हैं, और अन्त में कोई मतलब नहीं निकलता ॥ ५ ॥ इस प्रकार यह दो दिन का भ्रम है, उसे लोग परब्रह्म कहते हैं—नाना दुःखों का गड़बड़ इसीमें है; परन्तु लोगों ने सुख मान लिया है ॥ ६ ॥ दुखी होकर तड़फड़ाने में क्या समाधान रखा है ? कभी थोड़ा बहुत सुख यदि मिल भी गया तो तुरन्त ही फिर दुःख मौजूद है ॥ ७ ॥ जन्म से लेकर सब दुःखों का स्मरण करना चाहिए, तब सब मालूम हो जाता है—अनेक दुःख भरे पंडे हैं; कहां तक गिनती को जाय ? ॥ ८ ॥ आत्माओं की संगति का यह हाल है; नाना दुःख मिलते हैं—सारे प्राणी हैरान हो जाते हैं ॥ ९ ॥ जन्मभर में कुछ आनन्द रहता है तो कुछ खेद रहता है, साथ ही साथ नाना प्रकार की विरुद्धता उत्पन्न होकर अनेक दुःख प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥ निद्राकाल में खटमल और मच्छड़ आदि नाना प्रकार से सताते हैं और यदि उनका

कोई उपाय किया जाय तो उन्हें दुःख होता है ॥ ११ ॥ भोजन काल में मन्त्रियाँ आती हैं, नाना पदार्थ चूहेले जाते हैं फिर पीछे से विल्लियाँ उनकी भी दुर्दशा करती हैं ! ॥ १२ ॥ जुआँ, किलौनी, बर, कानसेराई, आदि अनेक जन्तु एक दूसरे को कष्ट देते हैं और स्वयं कष्ट उठाते हैं ॥ १३ ॥ बिच्छू, सर्प, बाघ, रीछ, मगर, भेडिया और स्वयं मनुष्य को मनुष्य-ये सब आपस में एक दूसरे को दुःख देते हैं; सब दुःखी हैं; सुख संतोष किसीको नहीं है ॥ १४ ॥ चौरासी लाख जीव-योनियाँ, सब एक दूसरे का भक्षण करती हैं-नाना पीड़ा और दुःख है-कहाँ तक बतलावें ? ॥ १५ ॥ ऐसी अन्तरात्मा की करनी है । इस धरती पर नाना जीव भरे पडे हैं और एक दूसरे को परस्पर संहार करते हैं ॥ १६ ॥ सब सदा-सर्वदा रोते हैं, तडफडाते हैं, विलविला विलविला कर प्राण छोड़ते हैं-ऐसे आत्मा को मूर्ख प्राणी परब्रह्म कहते हैं ॥ १७ ॥ परब्रह्म जा नहीं सकता, किसी दुःख नहीं दे सकता; परब्रह्म में स्तुति और निन्दा, दो में से कुछ नहीं है ॥ १८ ॥ चाहे जितनी गालियाँ दो वे सब अन्तरात्मा को लगती हैं । विचार करने से सब यथातथ्य प्रत्यय में आजाता है ॥ १९ ॥ अनेक प्रकार की गालियाँ हैं; कहाँ तक बतलाई जायँ ? ॥ २० ॥ पर वे परब्रह्म में लग नहीं सकती; वहाँ कल्पना ही नहीं चलती । अतमब्रह्म ज्ञान किसीको मान्य नहीं होता ॥ २१ ॥ सृष्टि में अनन्त जीव हैं । सब के पास वैभव कहाँ से आया ? इस प्रकार ईश्वर ने योग्यता के अनुसार वैभव बाँट दिया है ॥ २२ ॥ सर्वसाधारण लोग तो बहुत हैं; परन्तु उनमें उत्तम वार्ते भाग्यवान् पुरुष ही पाते हैं ॥ २३ ॥ इसी प्रकार, भोजन, पात्र, देवतार्चन और ब्रह्मज्ञान भी प्रारब्ध के अनुसार मिलता है ॥ २४ ॥ यों तो सारे लोग सुखी रहते हैं-संसार को सुखपूर्ण मान लेते हैं परन्तु महाराजा लोग जिस वैभव का भोग करते हैं वह अभागी पुरुष को कैसे मिल सकता है ? ॥ २५ ॥ परन्तु अन्त में सब को नाना दुःख होते हैं-उस समय राजारंक सब समान हो जाते हैं । परन्तु जो लोग पहले से नाना सुखों का भोग करते हैं उन्हें अन्त में दुःख सहन नहीं होता ! ॥ २६ ॥ कठिन दुःख सहा नहीं जाता; प्राण शरीर को जलदी छोड़ते नहीं-इस प्रकार मृत्यु-दुःख सब लोगों को पीडित करता है ॥ २७ ॥ अनेक लोगों को अवयव-हीन होकर बर्तव करना पडता है-इस प्रकार अन्तकाल में दुःखी होकर प्राणी चला जाता है ॥ २८ ॥ सारा रूप लावण्य चला जाता है; सब शारीरिक सामर्थ्य भी एक तरफ रह जाता है और यदि कोई आसपास न हुआ तो प्राणी-और भी दुर्दशा या आपदा सह कर मरता है ॥ २९ ॥ अन्तकाल का दुःख सब को एक-समान होता है-ऐसा (यह आत्मा) चंचल, अवलक्षण और दुःखकारी

है ॥ ३० ॥ इस पर भी लोग इसे (आत्मा को) “ भोग कर भी अभोक्ता” कहते हैं यह तो सारी फजीहत है; लोग बिना विचारे यॉही कह बैठते हैं! ॥ ३१ ॥ अन्तकाल बहुत काठिन है; प्राण शरीर को छोड़ते ही नहीं; और इधर आशा, तृप्णा भी खूब घेर लेती है ॥ ३२ ॥

सातवाँ समास—संसार की गति ।

॥ श्रीराम ॥

आदि में जल निर्मल होता है, परन्तु जब वह नाना बलियों में प्रविष्ट होता है तब संगदोष से आम्ल, तीक्ष्ण और कटु आदि हो जाता है ॥ १ ॥ आत्मा आत्मापन से रहता है, देहसग से विकृत होता है और अभिमान से मनमाना रूप बनता है ॥ २ ॥ यदि अच्छी संगति मिल गई तो ऐसा हाल होता है कि, जैसे ईखमें मधुरता आजाती है (और बुरी संगति से) प्राणी का घात करनेवाली विषवल्ली का सा हाल होता है ॥ ३ ॥ अठारह प्रकार की वनस्पतियां हैं—उनके गुण अलग अलग कहां तक बतलाये जायें? यही हाल नाना देहों के साथ आत्मा का होता है ॥ ४ ॥ उनमें जो अच्छे हैं वे संतसंग से पार होते हैं और विवेकबल से देहाभिमान छोड़ देते हैं ॥ ५ ॥ उदक का नाश ही हो जाता है; पर आत्मा विवेक से पार हो जाता है—ऐसा इस आत्मा का प्रत्यय है; विवेक से देखो ॥ ६ ॥ जिसे स्वहित ही करना है उसे कहां तक बतलाया जाय? यह सब कुछ प्रत्येक को अपने तर्ई समझना चाहिए ॥ ७ ॥ जो अपनी आप ही रक्षा करे उसे अपना मित्र जानना चाहिए और जो अपना स्वयं ही नाश करे उसे वैरी समझना चाहिए ॥ ८ ॥ जो अपना आप ही अनहित करना चाहता है उसे कौन रोक सकता है? ऐसा पुरुष एकान्त में जाकर अपने ही जीव को मारता है ॥ ९ ॥ जो स्वयं अपना ही घातकी है वह आत्महत्यारा पातकी है । जो पुरुष विवेकी है वही साधु धन्य है ॥ १० ॥ सत्संगति से पुण्यवन्त और असत्संगति से पापिष्ट बनते हैं, गति और दुर्गति संगति के योग से होते हैं ॥ ११ ॥ इस लिए उत्तम संगति करना चाहिए, अपनी चिन्ता स्वयं करनी चाहिए और ज्ञाता की बुद्धि का अन्तःकरण में अच्छी तरह मनन करना चाहिए ॥ १२ ॥ ज्ञाता को इहलोक और परलोक सुखदायक होता है और अज्ञानी को अविवेक के कारण दुःख होता है ॥ १३ ॥ ज्ञाता देव का अंश है और अज्ञाता राक्षस है, अब दोनों में जो बड़ा हो उसे जान लेना चाहिए ॥ १४ ॥ ज्ञाता सर्वमान्य होता है और अज्ञाता

अमान्य होता है । अब दो में से जिसके द्वारा अपने को धन्यता प्राप्त हो उसीको ग्रहण करना चाहिए ॥ १५ ॥ उद्योगी और चतुर की संगति करने से उद्योगी और चतुर होते हैं, तथा आलसी और मूर्ख की संगति से आलसी और मूर्ख बनते हैं ॥ १६ ॥ उत्तम संगति का फल सुख है और अधम संगति का फल दुःख है । आनन्द छोड़ कर दुःख कौन लेगा ? ॥ १७ ॥ बात तो स्पष्ट है, संसार में इसका अनुभव भी आता है; क्योंकि मनुष्यमात्र इन्हीं दो संगतियों में वर्तते हैं ॥ १८ ॥ एक (सत्संगति) के योग से सारे सुख मिलते हैं और दूसरी (असत्संगति) के योग से सारे दुःख मिलते हैं । सम्पूर्ण कार्य विवेक से करना चाहिए ॥ १९ ॥ अचानक किसी संकट में फँस जाने पर वहाँ से निकलने का प्रयत्न करना चाहिए । निकल आने पर परम सावधान होता है ॥ २० ॥ नाना प्रकार के दुर्जनों के संग से क्षण क्षण में मनोभंग होता है । अस्तु । अपना कुछ महत्त्व रख जाना चाहिए ॥ २१ ॥ चतुर पुरुष को, उसके यत्न के कारण, किसी बात की कमी नहीं रहती—वह सुख संतोष का भोग करता है और नाना प्रकार से उसकी प्रशंसा होती है ॥ २२ ॥ अब (बात यह है कि,) लोगों में इस प्रकार (का हाल) है; (और प्रत्यक्ष) सृष्टि में वर्तता है; परन्तु जो कोई (इसे) समझकर देखता है उससे (यह) हो सकता है ॥ २३ ॥ यह वसुंधरा (पृथ्वी) बहुरत्ना (अनेक रत्नों की खानि) है, जान जानकर विचार करो, क्योंकि समझने से अन्तःकरण में प्रत्यय आता है ॥ २४ ॥ दुर्बल और सम्पन्न अथवा पागल और व्युत्पन्न होना अखंड रीति से (सृष्टि के आदि से) चला ही आया है ॥ २५ ॥ एक भाग्यवान् पुरुष बिगड़ते हैं तो दूसरे नये भाग्यवान् बनते हैं—इसी प्रकार विद्या और व्युत्पत्ति भी होती जाती है ॥ २६ ॥ एक भरता है, एक रीता होता है; रीता फिर भरता है; भरा हुआ भी फिर कालान्तर में—कुछ समय बाद—रीता होता है ॥ २७ ॥ यह संसार की गति है; संपत्ति दोपहर की छाया है और इधर उम्र भी धीरे धीरे खतम होने आई ! ॥ २८ ॥ बाल, तारुण्य और वृद्धाप्य आदि की दशा स्वयं जानते ही हैं; इस लिए सब को अपने जीवन का सार्थक करना चाहिए ॥ २९ ॥ देह जैसी की जाय वैसी होती है और यत्न करने से कार्य भी सिद्ध होता है—तो फिर दुःखी क्यों होना चाहिए ? ॥ ३० ॥

आठवाँ समास-पंचीकरण और देह-चतुष्टय ।

॥ श्रीराम ॥

नाभि से, स्फुरणरूप जिस वाणी का उत्पान होता है वह 'परा' और ध्वनिरूप 'पश्यति' वाणी हृदय में रहती है ॥ १ ॥ कंठ से नाद होता है । उसे 'मध्यमा' वाचा कहते हैं । अक्षर का उच्चार होने पर 'वैखरी' कहते हैं ॥ २ ॥ नाभिस्थान, जहाँ परा वाचा है, वही अन्तःकरण का ठौर है । अब अन्तःकरणपंचक का निश्चय सुनिये:— ॥ ३ ॥ निर्विकल्प-अवस्था में (अर्थात् शून्याकार वृत्ति होने पर) जो स्फुरण उठता है—जो एक प्रकार का स्मरण रहता है—उसीको 'अन्तःकरण' या चेतनाशक्ति जानना चाहिए ॥ ४ ॥ अन्तःकरण का लक्षण स्मरण है । इसके बाद जो यह भावना आती है कि, 'हो या न हो,' अथवा 'करूं या न करूं' वही 'मन' है ॥ ५ ॥ अर्थात् संकल्प-विकल्प उठना ही मन का धर्म है—यही मन को पहचान है—इसी मन से अनुमान (सन्देह) उत्पन्न होता है, फिर, अन्त में, जो निश्चय होता है वही 'बुद्धि' का रूप है—अर्थात् निश्चय करना बुद्धि का धर्म है ॥ ६ ॥ करूं ही गा अथवा न करूं गा—इस प्रकार का निश्चय करना ही 'बुद्धि' है—यह बात विवेक से अन्तर में जान लेना चाहिए ॥ ७ ॥ निश्चय की हुई वस्तु का चिन्तन करना 'चित्त' का लक्षण है । इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ८ ॥ फिर कार्य का यह अभिमान रखना कि, यह कार्य अवश्य करना है, अथवा ऐसे कार्य में प्रवृत्त होना ही 'अहंकार' है ॥ ९ ॥ यही 'अन्तःकरणपंचक' है । पाँच वृत्तियाँ मिलकर एक हैं । कार्यभाग से पाँच प्रकार अलग अलग हो गये हैं ॥ १० ॥ जैसे पाँचों प्राण कार्यभाग से अलग अलग हैं, अन्यथा वायु का रूप तो एक ही है ॥ ११ ॥ सर्वांग में 'व्यान,' नाभि में 'समान, कंठ में 'उदान,' गुदा में 'अपान' और मुख तथा नासिका में 'प्राण' रहता है—यह निश्चय जानना चाहिए ॥ १२ ॥

यह 'प्राणपंचक' बतला दिया, अब 'ज्ञानेन्द्रियपंचक' सुनो । श्रोत्र (कान), त्वचा (खाल), चक्षु (आँखें), जिह्वा (जीभ), नासिका (नाक) ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं ॥ १३ ॥ वाचा (वाणी), पाणि (हाथ), पाद (पैर), शिश्न और गुद ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ प्रसिद्ध हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ये पाँच (पाँच ज्ञानेन्द्रियों को) विषय हैं ॥ १४ ॥ अन्तःकरणपंचक, प्राणपंचक, ज्ञानेन्द्रियपंचक, कर्मेन्द्रियपञ्चक और पाँचवाँ विषयपंचक—इस प्रकार ये पाँच पंचक हैं ॥ १५ ॥ इस प्रकार ये पञ्चीस गुण मिल कर सूक्ष्म देह बनता है, इसका कर्दम भी कहा है । सुनिये —

॥ १६ ॥ अन्तःकरण, ध्यान, श्रवण, वाचा और शब्दविषय, आकाश का रूप है । अब आगे वायु का विस्तार कहा है ॥ १७ ॥ मन, समान, त्वचा, पाणि और स्पर्श, पवन का रूप है । यह सब कोष्टक बनाकर समझ लेना चाहिए ॥ १८ ॥ बुद्धि, उदान, नयन, चरण और रूपविषय, अग्नि का रूप है । यह सब हम संकेत से बतलाते हैं । मन लगाकर विचार करना चाहिए ॥ १९ ॥ चित्त, अपान, जिह्वा, शिश्र, रसविषय, जल का रूप है । अब आगे पृथ्वी का रूप सावधान होकर सुनो ॥ २० ॥ अहंकार, प्राण, घ्राण, गुद, गंधविषय, पृथ्वी का रूप है । वह शास्त्रमत से निरूपण किया ॥ २१ ॥ ऐसा यह 'सूक्ष्म देह' है, इसका मनन करने से निस्सन्देह होते हैं । परन्तु जो कोई इसे मन लगाकर समझता है उसीको यह समझ पड़ता है ॥ २२ ॥

ऐसा यह सूक्ष्म देह बतलाया । अब आगे स्थूल देह का वर्णन किया जाता है । पुंचगुणों से आकाश स्थूल देह में किस प्रकार वर्तता है, सो सुनिये ॥ २३ ॥ काम, क्रोध, शोक, मोह, भय, ये पाँच भेद आकाश के हैं । अब आगे पंचविध वायु बतलाया है ॥ २४ ॥ चलन, बलन, प्रसरण, निरोधन और आकुंचन, ये पाँच लक्षण वायु के हैं ॥ २५ ॥ क्षुधा, तृप्ता, आलस्य, निद्रा, मैथुन, ये पाँच तेज के गुण हैं । अब आगे आप के लक्षण सुनिये ॥ २६ ॥ वीर्य, रक्त, लार, मूत्र, खेद, ये पाँच आप के भेद हैं । अब आगे पृथ्वी के लक्षण बतलाते हैं ॥ २७ ॥ अस्थि, मांस, त्वचा, नाडी और रोम, ये पाँच पृथ्वी के धर्म हैं, इस प्रकार 'स्थूल देह' का भर्म कहा है ॥ २८ ॥ पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, इन पाँचों के पञ्चास तत्व मिलकर 'स्थूल देह' बनता है ॥ २९ ॥

तीसरा देह 'कारण' अज्ञान है, चौथा देह 'महाकारण' ज्ञान है—इन चारों देहों का निरसन हो जाने पर विज्ञानरूप परब्रह्म रह जाता है ॥ ३० ॥ विचार से चारों देह अलग करने से मैपन तत्वों के साथ चला जाता है और इस प्रकार परब्रह्म में अनन्य आत्मनिवेदन हो जाता है ॥ ३१ ॥ विवेक से प्राणी जन्म-मृत्यु से मुक्त हो जाता है, नरदेह में महत्कृत्य साध लेता है और भक्तियोग से कृतकृत्य और सार्थक हो जाता है ॥ ३२ ॥ यह पञ्चीकरण का वर्णन हो चुका । इसका विचार बारबार करना चाहिए । पारस के योग से लोहे का सोना हो जाता है ॥ ३३ ॥ यह दृष्टान्त ठीक नहीं है । पारसपत्थर पारस नहीं बना सकता; परन्तु साधु की शरण में जाने से स्वयं साधु ही हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

नववाँ समास-तनु-चतुष्टय ।

॥ श्रीराम ॥

स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, ये चार देह है । जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या ये चार अवस्थाएं हैं ॥ १ ॥ विश्व, तैजसू, प्राज्ञ, प्रत्यगात्मा, ये चार अभिमान हैं और नेत्रस्थान, कंठस्थान, हृदयस्थान और मूर्धा ये चार स्थान हैं ॥ २ ॥ स्थूलभोग, प्रविविक्तभोग, आनन्दभोग, आनन्दावमास भोग-ये चार भोग चारों देहों के हैं ॥ ३ ॥ अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रा, ये चार मात्राएं चारों देहों की हैं ॥ ४ ॥ तम, रज, सत्त्व, शुद्ध सत्त्व, ये चार गुण चारों देहों के हैं ॥ ५ ॥ क्रियाशक्ति, द्रव्यशक्ति इच्छा-शक्ति, ज्ञानशक्ति, ये चार शक्तियां चारों देहों की हैं ॥ ६ ॥ ऐसे ये बत्तीस तत्त्व, सूक्ष्म और स्थूल देहों के मिलकर पचास तत्त्व, सब मिल कर ब्यासी तत्त्व हुए । इनके सिवा अज्ञान (कारणदेह) और ज्ञान (महाकारणदेह) हैं ॥ ७ ॥ इस प्रकार से ये सब तत्त्व जान कर उन्हें मायिक समझना चाहिए और अपने को साक्षी मान कर इस रीति से उनका निरसन करना चाहिए ॥ ८ ॥ साक्षी ज्ञान को कहते हैं । ज्ञान से अज्ञान को पहचानना चाहिए और देह के साथ ज्ञानाज्ञान का निरसन कर देना चाहिए ॥ ९ ॥ ब्रह्मांड में जिन देहों की कल्पना की गई है उन्हें विराट् और हिरण्यगर्भ कहते हैं । आत्मज्ञान और विवेक से उनका भी निरसन हो जाता है ॥ १० ॥ आत्मानात्म-विवेक और सारासार विचार करने से, पंचभूतों की मायिक वार्ता मालूम हो जाती है ॥ ११ ॥ अस्थि, मांस, त्वचा, नाडी और रोम, ये पाँचों पृथ्वी के गुणधर्म हैं । प्रत्यक्ष अपने शरीर में ही इन सब को खोज कर देख लेना चाहिए ॥ १२ ॥ शुक शोणित, लार, मूत्र और स्वेद, ये आप के पाँच भेद हैं । तत्त्वों को समझ कर इनको स्पष्ट कर लेना चाहिए ॥ १३ ॥ क्षुधा, तृप्ता, आलस्य, मित्रा, मैयुज, ये पाँचों तेज के गुण हैं । इन तत्त्वों का निरूपण बारबार करना चाहिए ॥ १४ ॥ चलन, बलन, प्रसरण, निरोधन और आकुंचन-ये पाँचों गुण वायु के हैं, सो श्रोता लोगों को जान लेना चाहिए ॥ १५ ॥ काम, क्रोध, शोक, मोह, और भय, आकाश के गुण हैं । बिना विवरण किये यह कुछ समझ में नहीं आता ॥ १६ ॥

अस्तु । ऐसा यह स्थूल शरीर पचास तत्त्वों का विस्तार है । अब सूक्ष्म देह का विचार बनलावेगे ॥ १७ ॥ अंतःकरण, मन, बुद्धि, धित्त, अहं-कार, ये पाँच भेद आकाश के हैं । अब आगे सावधान होकर वायु के भेद सुनो ॥ १८ ॥ व्यान, समान, उदान, प्राण, अपान-ये पाँचों भेद वायु-

तत्व के हैं ॥ १६ ॥ श्रोत्र, त्वचा, चक्षु जिह्वा, घ्राण-ये पाँचों तेज के भेद हैं । अब सावधान होकर आप के भेद सुनो ॥ २० ॥ वाचा, पाणि, पाद, शिश्न, गुद, ये आप के भेद हैं । अब पृथ्वी के भेद बतलाते हैं ॥ २१ ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ये पृथ्वी के भेद हैं । इस प्रकार ये पच्चीस तत्व भेद सूक्ष्मदेह के हैं ॥ २२ ॥

दसवाँ समास-साधु और मूर्ख ।

॥ श्रीराम ॥

पृथ्वी के आसपास आवरणोदक मे हाटकेश्वर नामक पाताललिंग की महिमा बहुत बड़ी है । उसे नमस्कार करना चाहिए ॥ १ ॥ परंतु वहाँ जा नहीं सकते, शरीर से उसका दर्शन हो नहीं सकता, इस लिए उस ईश्वर को विवेक से अनुमान में लाना चाहिए ॥ २ ॥ सात समुद्रों का घेरा है, बीच में अत्यन्त विस्तृत पृथ्वी है-उन समुद्रों के पास भूमंडल की पहाड़ियाँ टूटी हैं ॥ ३ ॥ सात समुद्रों को लॉघ कर वहाँ जाना कैसे सम्भव है ? इस लिए साधुजन को विवेकी होना चाहिए ॥ ४ ॥ जो अपने को न मालूम हो वह ज्ञाता पुरुष से पूछना चाहिये । यह तो हो नहीं सकता कि, मनोवेग के अनुसार शरीर से चलें ॥ ५ ॥ जो चर्म-दृष्टि से न जान पड़े उसे ज्ञानदृष्टि से देखना चाहिए और ब्रह्मांड का मनन करके मन में समाधान रखना चाहिए ॥ ६ ॥ बीच में पृथ्वी का पडदा है, इसी लिए आकाश और पाताल हैं और यदि यह पडदा न हो तो (पाताल का नाम मिट जाय और) चारों ओर आकाश ही आकाश हो जाय ॥ ७ ॥ जो स्वाभाविक ही उपाधि-रहित है उसको परब्रह्म कहते हैं उसके तर्क दृश्यमाया के नाम शून्याकार है-अर्थात् दृश्य वहाँ नहीं है ॥ ८ ॥ दृष्टि से जो दिखता है वह दृश्य है, मन से जो दिखता है वह भास है और मन से परे जो निराभास है उसे विवेकदृष्टि से देखना चाहिए ॥ ९ ॥ जहाँ 'दृश्य' और 'भास' के लिए ठौर नहीं है वहाँ विवेक प्रवेश कर सकता है । परन्तु इस भूमंडल में सूक्ष्म दृष्टिवाले ज्ञाता थोड़े हैं ॥ १० ॥ वाच्यांश वाचा से बोला जाता है परन्तु जो न बोला जा सके उसे लक्ष्यांश जानना चाहिए और गुण के ही योग से निर्गुण को अनुभव में लाना चाहिए ॥ ११ ॥ गुणों का नाश है, पर निर्गुण अविनाश है । सूक्ष्म के देखने मे स्थूल के देखने से विशेषता है ॥ १२ ॥ जो

दृष्टि से न देख पड़े उसे सुनकर जानना चाहिए । श्रवण-मनन से सब कुछ मालूम हो जाता है ॥ १३ ॥ अप्रुथा प्रकृति के नाना दृश्य पदार्थ हैं, सब मालूम नहीं हो सकते । कोई भी नहीं जान सकता ॥ १४ ॥ यदि सब एकसमान स्थिति हो जाय तो सब परीक्षा डूब जाय और वही हाल हो जाय जैसे स्वाद न जाननेवाला पुरुष सब भोजन एक में मिला लेता है ! ॥ १५ ॥ मूढ मनुष्य गुणग्राहक नहीं हो सकता, मूर्ख को विवेक नहीं मालूम हो सकता—वे लोग विवेक और अविवेक को एक ही बतलाते हैं ॥ १६ ॥ जिसे ऊंच-नीच नहीं जान पड़ता उसका अभ्यास ही डूब जाता है और विना अभ्यास के गति नहीं है ॥ १७ ॥ जो पागल या सिडी हो जाता है उसे सब एक ही समान जान पड़ता है; पर ऐसे मनुष्य को मूर्ख और अविवेकी जानना चाहिए ॥ १८ ॥ जिसका अखंड रीति से नाश होता है उसको वे लोग अविनाशी कहते हैं—ऐसे बकवादियों को क्या कहें ? ॥ १९ ॥ ईश्वर ने नाना भेद किये हैं, भेद से सारी सृष्टि वर्तती है । जहां अंधे परीक्षक मिलते हैं वहां परीक्षा कहां की ? ॥ २० ॥ और जहां परीक्षा का अभाव है वह समुदाय ढोंगी है । जहां गुण ही नहीं हैं वहां गौरव कहां से आयगा ? ॥ २१ ॥ जब खरा-खोटा एक ही बना दिया तब वहां विवेक कहां रहा ? साधु लोग असार छोड़ कर सार ग्रहण करते हैं ॥ २२ ॥ दरिद्री पुरुष उत्तम वस्तु को परीक्षा कैसे कर सकता है ? दीक्षाहीन के पास दीक्षा कहां से आवेगी ? ॥ २३ ॥ अपने ही मैलेपन से दिशा जाकर शौच करना न जानता हो तो वेदशास्त्र और पुराण उसके लिए क्या करेंगे ? ॥ २४ ॥ पहले आचार की रक्षा करनी चाहिए; फिर विचार की ओर झुकना चाहिए । आचार-विचार से (भवसागर का) पारावार पा जाते हैं ॥ २५ ॥ जो बात नेमक पुरुष को नहीं मालूम होती वह बेचकूफ को कैसे मालूम हो सकती है ? जहां दृष्टिवाले ही धोखा खाते हैं वहां अंधे किस काम के ? ॥ २६ ॥ यदि पाप-पुण्य और स्वर्ग-नर्क सारे एक ही समान मान लिये जायें तो फिर विवेक और अविवेक की क्या आवश्यकता है ? ॥ २७ ॥ चाहे अमृत और विष को एक कहिये, परन्तु विष ग्रहण करने से प्राण जाते हैं । कुकर्म से निन्दा होती है और सत्कर्म से कीर्ति बढ़ती है ॥ २८ ॥ इहलोक और परलोक का जहां पूर्ण विचार नहीं है वहां सब निरर्थक है ॥ २९ ॥ इस लिए संतसंग करना चाहिए, सन् शास्त्र का ही श्रवण करना चाहिए और नाना प्रयत्नों से उत्तम गुणों का अभ्यास करना चाहिए ॥ ३० ॥

अठारहवां दशक ।

पहला समास-विविध देवता ।

॥ श्रीराम ॥

हे गजवदन ! तुझे नमस्कार करता हूँ, तेरो महिमा कोई नहीं जानता ! तू सब छोटी-बड़ी को विद्या-बुद्धि देता है ॥ १ ॥ हे माता, सरस्वती ! तुझे नमस्कार करता हूँ, चारो वाणी तेरी ही स्फूर्ति है । ऐसे पुरुष थोड़े हैं जो तेरा मुख्य स्वरूप जानते हों ॥ २ ॥ हे चतुरानन ! तुझे धन्य है, धन्य है; तूने सृष्टिरचना की है और वेद, शास्त्र, तथा नाना भेद प्रकट किये हैं ॥ ३ ॥ हे विष्णु ! तुझे धन्य है ! तू पालन करता है और एक अंश से, जान जान कर, सब जीवों को बढ़ाता और उनसे बर्ताव कराता है ॥ ४ ॥ हे भोलाशंकर ! तुझको धन्य है, धन्य है ! तेरो दया का पार नहीं है, तू सदा राम नाम जपता है ॥ ५ ॥ हे इन्द्रदेव ! तुझे धन्य है, धन्य है ! तू सब देवों का भी देव है । इन्द्रलोक का वैभव कहाँ तक बतलावें ? ॥ ६ ॥ हे धर्मराज यम ! तुझे धन्य हैं, धन्य है । तू सब धर्माधर्म को जानता है; और प्राणिमात्र के मर्म का तू पता लगा लेता ॥ ७ ॥ हे वैकटेश ! तेरी महिमा अपार है ! भले भले आदमी खड़े होकर तेरे स्थान पर भोजन करते हैं, बड़े-मुगौड़े आदि अनेक पक्वान्नों का खाद लेते हैं ॥ ८ ॥ हे वनशंकर ! तुझे धन्य है, तू अनेक शाकों को आहार करती है । इस धरती पर तेरे सिवाय और ऐसा कौन है जो चुन चुन कर भोजन करता हो ॥ ९ ॥ हे बलभीम हनुमान् ! तुझे धन्य है ! कोरे बड़ों की अनेक मालायें तू डालता है ! दहीबडे खान से सब को आनन्द मिलता है ! ॥ १० ॥ हे खंडेरायजी ! तुझे भी धन्य है ! तेरा शरीर हलदी से पीला रहता है, तेरे यहाँ प्याज भरे हुए मुगौड़े (!) खाने के लिए सब लोक तैयार रहते हैं ! ॥ ११ ॥ हे तुलजा भवानी ! तुझे धन्य है, तू भक्तों पर सदा प्रसन्न रहती है । जगत् में ऐसा कौन है जो तेरे गुणवैभव की गणना करे ? ॥ १२ ॥ हे पांडुरंग ! तुझे धन्य है, धन्य है ! तेरे यहाँ अखंड रीति से कथा की धूम मची रहती है । और नाना प्रकार से तानमान रागरंग छाया रहता है ॥ १३ ॥ हे क्षेत्रपाल ! तुझे धन्य है ! तूने अनेक लोगों को भक्तिमार्ग में लगाया है । भावपूर्वक तेरी भक्ति करने से फल मिलने में देर नहीं लगती ॥ १४ ॥

अब, राम-कृष्णादि अवतारों की महिमा का तो पारावार ही नहीं है ।
 उनके कारण बहुत लोक उपासना में तत्पर हुए हैं ॥ १५ ॥ परन्तु इन
 सब देवों का मूल केवल यह अंतरात्मा है । इसीको भूमंडल में सब भोग
 मिलते हैं ॥ १६ ॥ यही नाना प्रकार के देवों का रूप बन बैठा है, यही
 नाना शक्तिरूपों से प्रकट हुआ है और यही सारे वैभव का भोक्ता है ॥ १७ ॥
 इस अंतरात्मा का विचार करने से मालूम होता है कि, इसका विस्तार
 बहुत बड़ा है । अनेकों देव और मनुष्य यही स्वयं बनता जाता है ॥ १८ ॥
 यश, अपयश, अतिनिन्दा और अतिप्रशंसा—सब की भोगप्राप्ति अंतरात्मा
 ही को होती है ॥ १९ ॥ किस देह में रह कर क्या करता है, किस देह
 में रह कर क्या भोगता है—कौन जाने ? भोगी, त्यागी, वीतरागी सब कुछ
 यही एक आत्मा है ॥ २० ॥ प्राणी अपने ही अभिमान में भूले रहते हैं—देह
 ही की ओर देखते रहते हैं और भीतर रहते हुए भी मुख्य आत्मा को नहीं
 पाते ॥ २१ ॥ अरे, इस भूमंडल में ऐसा कौन है जो इस आत्मा की हलचल
 का पूरा पूरा विचार कर सके ? जब अगाध पुण्य होता है तब कहीं
 इसका कुछ थोड़ा अनुसंधान लगता है ॥ २२ ॥ और उस आत्मानुसंधान
 के साथ ही किल्बिष (पाप) जल जाते हैं, यह बात अन्तानष्ट ज्ञानी लोग
 मनन करके देखते हैं ॥ २३ ॥ अन्तर्निष्ठ होते हैं वेही तरते हैं और सब
 अन्तर्भ्रष्ट डूब जाते हैं, क्योंकि वे विचारे बाहर बाहर लोकाचार ही में
 भूले रहते हैं ॥ २४ ॥

दूसरा समास—ज्ञाता का समागम ।

॥ श्रीराम ॥

अनजानपन से जो होगया सो होगया, अब, नियमपूर्वक, जानपन के
 साथ, वर्ताव करना चाहिए ॥ १ ॥ ज्ञाता की संगति करनी चाहिए,
 ज्ञाता की सेवा करनी चाहिए, और धीरे धीरे ज्ञाता की सुबुद्धि का
 स्वयं भी ग्रहण करना चाहिये ॥ २ ॥ ज्ञाता के पास लिखना, पढ़ना,
 सीखना चाहिये और सब बातें पूछनी चाहिए ॥ ३ ॥ ज्ञाता के साथ
 उपकार करना चाहिए, ज्ञाता के लिए अपना शरीर स्वर्च करना चाहिए
 और यह देखना चाहिए कि, उसका विचार कैसा है ॥ ४ ॥ ज्ञाता की
 संगति में रह कर भजन करना चाहिए, उसकी संगति से कष्ट सहना

चाहिए और उसीकी संगति से मनन कर करके सीखना चाहिए ॥ ५ ॥
 ज्ञाता के पास गीत गाना चाहिए, उसके पास वाद्य बजाना चाहिए,
 और नाना प्रकार के श्रालाप उससे सीखने चाहिए ॥ ६ ॥ ज्ञाता का
 सहारा रखना चाहिए, ज्ञाता की श्रोषधि लेना चाहिए और ज्ञाता जो
 बतलावे वही पथ्य पहले करना चाहिए ॥ ७ ॥ ज्ञाता से परीक्षा सीखना
 चाहिए, ज्ञाता के पास कसरत करनी चाहिए और उसीके सामने तैरने
 का अभ्यास करना चाहिए ॥ ८ ॥ जैसा ज्ञाता कहे वैसा बोलना
 चाहिए, जैसे वह कहे वैसे चलना चाहिए और नाना प्रकार से जैसा
 वह ध्यान करे वैसा ध्यान धरना चाहिए ॥ ९ ॥ ज्ञाता की कथाएं सीखनी
 चाहिए, ज्ञाता की युक्तियां समझनी चाहिए और उसीकी प्रत्येक बात
 का मनन करना चाहिए ॥ १० ॥ ज्ञाता के पैच जानने चाहिए, ज्ञाता की
 युक्ति समझना चाहिए और जिस प्रकार वह अन्य लोगों को राजी
 रखे उसी प्रकार स्वयं भी सब को राजी रखना चाहिए ॥ ११ ॥ ज्ञाता
 के प्रसंग जानने चाहिए, ज्ञाता के रंग लेने चाहिए और ज्ञाता की स्फूर्ति
 की तरंगों का अभ्यास करना चाहिए ॥ १२ ॥ ज्ञाता का उद्योग ग्रहण
 करना चाहिए, ज्ञाता का तर्क जानना चाहिए और ज्ञाता के बिना बोले
 ही उसका संकेत समझ लेना चाहिए ॥ १३ ॥ ज्ञाता की चाणाक्षता
 (विशिष्ट प्रकार का चातुर्य), ज्ञाता की राजनीति और ज्ञाता का निरू-
 पण सुनते रहना चाहिए ॥ १४ ॥ ज्ञाता की कविताएं सीखनी चाहिए,
 गद्य-पद्य पहचानने चाहिए और उसके माधुर्य-वचनों का अंतःकरण में
 विचार करना चाहिए ॥ १५ ॥ ज्ञाता के प्रबन्ध देखने चाहिए, और
 उसके वचनभेदों तथा नाना प्रकार के सम्वादों का अच्छी तरह विचार
 करना चाहिए ॥ १६ ॥ ज्ञाता की तीक्ष्णता, सहिष्णुता और उदारता
 समझ लेनी चाहिए ॥ १७ ॥ ज्ञाता की नाना प्रकार की कल्पनाएं, उसकी
 दूरदर्शिता और विवंचना भी समझ लेनी चाहिए ॥ १८ ॥ ज्ञाता के
 काल-सार्थक की रीति, ज्ञाता का अध्यात्मविवेक और उसके अनेक
 गुण, सभी ले लेना चाहिए ॥ १९ ॥ ज्ञाता का भक्तिमार्ग, वैराग्ययोग
 और उसके सारे प्रसंग समझ लेना चाहिए ॥ २० ॥ ज्ञाता का ज्ञान देखना
 चाहिए, ज्ञाता का ध्यान सीखना चाहिए, और ज्ञाता के सूक्ष्म चिन्ह
 समझ लेने चाहिए ॥ २१ ॥ ज्ञाता की अलिप्तता, विदेह-लक्षण और ब्रह्म-
 विवरण समझ लेना चाहिए ॥ २२ ॥ ज्ञाता भी एक अंतरात्मा है,
 उसकी महिमा कहां तक बतलाई जाय ? उसकी विद्या, कला और गुण
 की सीमा कौन निश्चित करे ? ॥ २३ ॥ परमेश्वर के गुणानुवाद करके
 अखंड संवाद करना चाहिए । ऐसा करने से अत्यन्त आनन्द मिलता है

॥ २४ ॥ परमेश्वर ने जो कुछ निर्माण किया है वह सब अखंड रीति से दृष्टि के सामने रहता है । परन्तु विवेकी लोगों को चाहिए कि, वे बार बार विचार करके उसे समझ लें ॥ २५ ॥ जितना कुछ निर्माण हुआ है, सब जगदीश्वर ने निर्मित किया है । पहले निर्माण-दृश्य पदार्थ-अलग करना चाहिए (और फिर ईश्वर-स्वरूप को देखना चाहिए) ॥ २६ ॥ वह सब को निर्मित करता है; पर स्वयं वह, देखने से दिखता नहीं, इस लिए उसे विवेकबल से, देखते रहना चाहिए ॥ २७ ॥ उसका अखंड ध्यान लगने से, वह कृपा करके दर्शन देता है । सदा उसीके अंश से सम्भाषण करना चाहिए ॥ २८ ॥ जो ध्यान नहीं धरता वह अभक्त है, जो ध्यान धरता है वह भक्त है । वह (परमात्माराम) भक्तों को संसार से मुक्त करता है ॥ २९ ॥ उपासना समाप्त होने पर देव-भक्त की अखंड भेट बनी रहती है—यह अनुभव की बात अनुभवी ही जान सकता है ॥ ३० ॥

तीसरा समास—सदुपदेश ।

॥ श्रीराम ॥

दुर्लभ नरशरीर में पूर्ण आयु और भी दुर्लभ है, इस लिए इसका व्यर्थ नाश न करना चाहिए । “ दास कहता है ” कि, अच्छी तरह विवेक का अभ्यास करना चाहिए ॥ १ ॥ उत्तम रीति से विवेक का अभ्यास न करने से सारा अविवेक का ही बर्ताव होता है और प्राणी दरिद्री सा देख पड़ता है ॥ २ ॥ यह अपना आप ही करता है । आलस लोगों को दरिद्री बना देता है और बुरी संगति, देखते ही देखते, डुबा देती है ॥ ३ ॥ मूर्खता का अभ्यास होने से बेवकूफी सवार होती है और तरुणाई में चांडाल काम उठता है ॥४॥ तरुण होकर यदि मूर्ख और आलसी हुआ तो वह सब प्रकार से दुःख-दरिद्र भोगता है, उसे कुछ नहीं मिलता, ऐसी दशा में किसीको क्या कहा जाय ? ॥ ५ ॥ उसके पास आवश्यकता की चीजें नहीं होती, अन्नवस्त्र भी नहीं होते और न अन्तःकरण में कोई उत्तम गुण ही होते हैं ॥ ६ ॥ बोलना नहीं आता, बैठना नहीं आता, प्रसंग (अवसर) जरा भी मालूम नहीं होता और अभ्यास की ओर शरीर या मन नहीं लगता ॥ ७ ॥ लिखना-पढ़ना, पूछना-बताना वह नहीं जानता और बेवकूफी के कारण उससे निश्चयता का अभ्यास

भी नहीं होता ॥ ८ ॥ उसे स्वयं तो कुछ आता नहीं और दूसरों का सिखापन भी नहीं मानता ! स्वयं तो पागल है ही; सज्जनों की भी निन्दा करता है ॥ ९ ॥ भीतर कुछ और है और बाहर कुछ और है, ऐसा जिसका विवेक है, उस पुरुष से परलोक का सार्थक कैसे हो सकता है ? ॥ १० ॥ ऐसे पुरुष की गृहस्थी नाश हो जाती है और फिर वह मन में पछताता है, इस लिए विवेक का अभ्यास करना चाहिए ॥ ११ ॥ मन एकाग्र करके, दृढता के साथ, साधन करना चाहिए और यत्न करने में जरा भी आलस न आने देना चाहिए ॥ १२ ॥ सारे श्रवण गुण छोड़ देना चाहिए, उत्तम गुणों का अभ्यास करना चाहिए और गहन अर्थवाले प्रबन्ध पाठ करते रहना चाहिए ॥ १३ ॥ पदप्रबन्ध, श्लोकप्रबन्ध, नाना प्रकार की कविताएं, मुद्रा, छन्द, पाठ होने चाहिए; क्योंकि नाना प्रसंगों के ज्ञान ही से आनन्द होता है ॥ १४ ॥ यह बात समझ लेनी चाहिए कि, किस प्रसंग पर क्या कहना उचित है । व्यर्थ के लिए योंही क्यों कष्ट उठाना चाहिए ? ॥ १५ ॥ दूसरे का मन जानना चाहिए, रुचि देख कर (कोई बात) कहना चाहिए । जो याद आ जावे वही गा बैठना मूर्खता है ॥ १६ ॥ जिसकी जैसी उपासना हो उसीके अनुसार गाना चाहिए, भूलना न चाहिए । और रागज्ञान तथा तालज्ञान का अभ्यास करते रहना चाहिए ॥ १७ ॥ साहित्य, संगीत के साथ, प्रसंगानुसार, कथा की धूम मचा देना चाहिए और श्रवण-मनन से अर्थान्तर (गुह्यार्थ) निकालते रहना चाहिए ॥ १८ ॥ खूब पाठ होना चाहिए, सदा सर्वदा उधरते रहना चाहिए और बतलाई हुई बात याद रखना चाहिए ॥ १९ ॥ अखंड रीति से एकान्त का सेवन करना चाहिए, सारे ग्रन्थ थथोल डालना चाहिए और जिस अर्थ पर अपना मन जम जाय वही लेना चाहिए ॥ २० ॥

चौथा समास—नर-देह का महत्त्व ।

॥ श्रीराम ॥

देह से ही गणेशपूजन और शारदावन्दन होता है । देह से ही गुरु, सज्जन, संत और श्रोताओं का काम चलता है ॥ १ ॥ देह से ही कविता रची जाती है, अध्ययन होता है और उसीके द्वारा नाना विद्याओं का

अभ्यास करते हैं ॥ २ ॥ ग्रन्थलेखन, नाना प्रकार की लिपियों को पह-
 चान, नाना पदार्थों को खोज देह से ही होती है ॥ ३ ॥ महाज्ञानी,
 सिद्ध, साधु, ऋषि, मुनि आदि देह से ही होते हैं और देह से ही प्राणी
 तीर्थाटन करते हैं ॥ ४ ॥ देह से ही श्रवण और मनन में पुरुष लगता है
 और देह से ही मुख्य परमात्मा की प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥ कर्ममार्ग, उपा-
 सनामार्ग और ज्ञानमार्ग आदि सब देह से ही होते हैं ॥ ६ ॥ योगी, वीत-
 रागी, तापसी, आदि लोग नाना प्रकार के प्रयास देह के ही द्वारा करते
 हैं और देह के ही कारण से आत्मा प्रकट होता है ॥ ७ ॥ इहलोक, पर-
 लोक, आदि सब देह से ही बनते हैं-देहविना सब निरर्थक है ॥ ८ ॥
 पुरश्चरण, अनुष्ठान, गौरांजन, धूम्रपान, शीतोष्ण, पचाश्रिसाधन देह से
 ही होते हैं ॥ ९ ॥ पुण्यात्मा, पापात्मा, स्वच्छाचारी, पवित्र देह से ही
 होते हैं ॥ १० ॥ अवतारी और वेपथारी भी देह से ही होते हैं । नाना
 प्रकार के बलवे और पाखंड देह ही से होते हैं ॥ ११ ॥ विषय-भोग और
 सर्वत्याग देह ही से होते हैं और देह ही के कारण नाना रोग होते
 और जाते हैं ॥ १२ ॥ नव प्रकार की भक्ति, चार प्रकार की मुक्ति, और
 नाना प्रकार की युक्ति और नाना मत, सब देह ही से होते हैं ॥ १३ ।
 २० से ही दानधर्म होते हैं, देह से ही नाना रहस्य प्रकट होते हैं और
 १४ कहते हैं कि, देह ही के कारण पूर्वकर्म का फल मिलता है ॥ १४ ॥
 नाना स्वार्थ, नाना अर्थ-व्यर्थ और धन्यता देह ही के कारण से होती है
 ॥ १५ ॥ नाना कलापं, न्यूनाधिकता और भक्तिमार्ग का प्रेम देह से ही
 होता है ॥ १६ ॥ नाना प्रकार का सन्मार्गसाधन देह से ही होता है, देह
 से ही बन्धन दूटता है और आत्मनिवेदन होकर मोक्ष मिलता है ॥ १७ ॥
 देह सब में उत्तम है, देह में आत्माराम रहता है, पुरुषोत्तम सब घरों में
 है-विवेकी जानते हैं ॥ १८ ॥ देह से ही नाना प्रकार की कीर्ति मिलती
 है, अथवा नाना प्रकार की अपकीर्ति होती है और देह ही के कारण
 से अवतार-मालिकापं होती जाती हैं ॥ १९ ॥ नाना प्रकार के भ्रम-सम्भ्रम
 देह से ही होते हैं और देह ही के द्वारा लोग उत्तमोत्तम पद भोगते हैं
 ॥ २० ॥ देह ही से सब कुछ है-देह के बिना कुछ नहीं है । देह के बिना
 आत्मा का होना न होना बराबर है ॥ २१ ॥ देह परलोक की नौका है,
 नाना गुणों का अगारं है । नाना रत्नों का विचार देह ही के द्वारा होता
 है ॥ २२ ॥ देह ही से गायनकला और संगीतकला जानी जाती हैं । देह
 ही के योग से अंतर्कला प्राप्त हो जाती है ॥ २३ ॥ देह ब्रह्मांड का फल
 है, वह बहुत दुर्लभ है, परन्तु इसको शुद्ध बोध देना चाहिए ॥ २४ ॥
 देह ही के द्वारा छोटे बड़े सब लोग अपना अपना व्यापार करते हैं । इसी

के कारण लोग छोटे या बड़े होते हैं ॥ २५ ॥ जितने जीव देह धर कर आते हैं वे कुछ न कुछ कर ही जाते हैं । हरिभजन से कितने ही पावन हो चुके हैं ॥ २६ ॥ अष्टधा प्रकृति का मूल केवल संकल्प-रूप ही है । नाना संकल्प ही देहरूप फल लेकर प्रकट हुए हैं ॥ २७ ॥ हरिसंकल्प आदि ही से था, उसीको अब फल के रूप में देखना चाहिए । वास्तव में वह नाना देहों में ढूँढने से मालूम होता है ॥ २८ ॥ बेल के मूल में बीज होता है, सम्पूर्ण बेल उदकरूप होती है, फिर आगे फल में भी मूल के अंश से बीज रहता है ॥ २९ ॥ मूल के कारण फल आता है, फल के कारण मूल होता है, यही हाल सम्पूर्ण ब्रह्मांड का है ॥ ३० ॥ अस्तु । कोई भी काम हो, बिना देह के कैसे हो सकता है ? देह सार्थक करना अच्छा है ॥ ३१ ॥ आत्मा के कारण देह हुआ है और देह के कारण आत्मा बर्त रहा है—दोनों के योग से सम्पूर्ण कार्य चलता है ॥ ३२ ॥ छिपकर, गुप्तरूप से जो कुछ किया जाता है वह सब आत्मा को मालूम हो जाता है । क्योंकि सब कर्तृत्व आत्मा ही से है ॥ ३३ ॥ देह में आत्मा रहता है । देह पूजने से आत्मा संतुष्ट होता है और देह को पीडा देने से आत्मा क्षोभित होता है । यह बात प्रत्यक्ष है ॥ ३४ ॥ देह बिना पूजा मिलती नहीं, देह बिना पूजा लगती नहीं; जनों (लोगों) में ही जनार्दन (परमेश्वर) रहता है; इस लिए लोगों को संतुष्ट करना चाहिए ॥ ३५ ॥ जो अत्यन्त विवेकवान् होता है उसी के द्वारा धर्मस्थापना हो सकती है और वही पुण्यशरीर पूजनीय है ॥ ३६ ॥ सब की बराबर ही पूजा करना मूर्खता है । गधे की पूजा करने से क्या फल है ? ॥ ३७ ॥ इस लिए जो वास्तव में पूजनीय हो उसीकी पूजा करना चाहिए; तथापि अन्य लोगों को भी, साधारण तौर पर, प्रसन्न ही रखना चाहिए; क्योंकि किसीका दिल न दुखाना चाहिए ॥ ३८ ॥ सारे जगत् के हृदय का देव (अर्थात् सम्पूर्ण जनसमाज) च्युथ होने से रहने को ठौर कहां मिल सकता है ? लोगों को छोड़ कर लोगों के लिए अन्य गति ही नहीं है ॥ ३९ ॥ परमेश्वर के अनन्त गुण हैं । मनुष्य बेचारा उनकी पहचान कहां तक बतला सकता है ? परन्तु अभ्यात्म-ग्रन्थों का श्रवण होने से सब समझ पड़ने लगता है ॥ ४० ॥ ।

पाँचवाँ समास-समाधान की युक्ति ।

॥ श्रीराम ॥

कोई पदार्थ किसी माप से मापिये; पर वह माप पदार्थ नहीं खाता, इसी प्रकार बहुधा लोग अनेक ग्रन्थ पढ़ जाते हैं; परन्तु उनके हृदय में उन ग्रन्थों का एक भी विचार नहीं रहता ॥ १ ॥ पाठ तो धाराप्रवाही बोलते जाते हैं, पर यदि पूछिये तो बतलाते कुछ नहीं-अनुभव की बात पूछने पर वे लोग चक्र में आ जाते हैं ॥ २ ॥ (परन्तु ऐसा नहीं चाहिए) शब्दरत्नों की परीक्षा करनी चाहिए; अनुभवात्मक शब्दों का ग्रहण करना चाहिए, और अन्य सटर-फटर एक तरफ छोड़ देना चाहिए ॥ ३ ॥ नाम-रूप सब छोड़ देना चाहिए, फिर अनुभव प्राप्त करना चाहिए, सार-असार दोनों एक ही करना मूर्खता है ॥ ४ ॥ इस बात का विचार करो कि, पढ़ने वाले को पुस्तक यों ही पढते जाना चाहिए या समझ कर पढ़ना चाहिए ? ॥ ५ ॥ सच तो यह है कि जहाँ समझ नहीं है वहाँ सारा गड़बड़ रहता है । वे-समझ वक्ता कोई बात पूछने पर उसका ठीक समाधान नहीं कर सकता और उलटे क्रोध करता है ॥ ६ ॥ विना समझे-बूझे यदि बहुत सा शब्दज्ञान कर लिया जाता है, तो किसी समा-समाज में, शास्त्रार्थ का प्रसंग आ जाने पर, उसका कुछ उपयोग नहीं होता ॥ ७ ॥ चक्री में जल्दी-जल्दी अनाज की मुट्टी डाल कर पीछने से वारीक आटा कैसे निकल सकता है ? ॥ ८ ॥ मुँह में एक के पीछे एक, जल्दी जल्दी से कौर डालते गये, चबाने को अवकाश नहीं मिला; और सारा मुँह भर गया, फिराये नहीं फिरता ! अब कैसा हो ? ॥ ९ ॥ अस्तु, अब यह सुनो कि, समा में व्याख्याता का क्या कर्तव्य है । व्याख्याता को एक क्षण भर भी श्रोताओं का विरस न करना चाहिए, सब का अन्तःकरण सम्हालते रहना चाहिए ॥ १० ॥ सूक्ष्म बातें अवश्य प्रकट करना चाहिए, परन्तु उन्हें स्वयं समझना चाहिए और समझ कर फिर श्रोताओं को समझाना चाहिए ॥ ११ ॥ समा में वक्ता जब बड़े बड़े कठिन प्रश्न दल कर देता है तब श्रोताओं को बड़ा आनन्द होता है और वे बारबार वक्ता की प्रशंसा करते हैं ॥ १२ ॥ कठिन समस्या दल कर देने पर वे प्रशंसा करते हैं, परन्तु यदि उस प्रसंग पर वक्ता समस्या हल नहीं कर सकता (घबडाता है) तो श्रोता लोग निन्दा भी करते हैं । अब, यदि वक्ता श्रोताओं पर नाराज हो तो क्यों ? ॥ १३ ॥ जैसे कसौटी में कस कर और तचा कर शुद्ध सोना लिया जाता है वैसे ही श्रवण-मनन से मुख्य अनुभव जान

लेना चाहिए ॥ १४ ॥ वैद्य पर विश्वास आता नहीं और व्यथा दूर होती नहीं-तो फिर लोगों पर क्रोध क्यों करना चाहिए ? ॥ १५ ॥ मुठई नहीं चलती और न वह किसीको पसन्द आती है; इस लिए सत्य का ग्रहण करना चाहिए ॥ १६ ॥ लिखना-पढ़ना न जान कर व्यापार करने से थोड़े हैं है, जहाँ कोई हिसाबो मिल गया कि, बस तुरन्त ही मुठई खुल जाती है ॥ १७ ॥ प्रमाण और साक्षी-सहित सब हिसाब साफ रखना चाहिए, इतने पर हिसाबी कुछ नहीं कर सकता ॥ १८ ॥ जो स्वयं ही फँस जाता है वह अन्य लोगों को कैसे समझा सकता है ? कोई भी हो, अज्ञानता से संकट में पड़ता ही है ॥ १९ ॥ बल नहीं है और युद्ध में गया है; फिर उसकी हार होगी ही-इसमें दोष किसका है ? ॥ २० ॥ जो सच बात अनुभव में आजाय उसको आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए । बिना अनुभव की बात भ्रूसा की तरह जानना चाहिए ॥ २१ ॥ सिखाने से क्रोध आता है; परन्तु पीछे से पश्चात्ताप होता है, क्योंकि, मिथ्या निश्चय तत्काल उड़ जाता है ॥ २२ ॥ सत्य छोड़ कर मिथ्या ग्रहण करने से हानि होता है । परमात्मा के न्याय के अनुसार चलना चाहिए ॥ २३ ॥ न्याय छोड़ने से सारा संसार निन्दा करता है । किससे किससे झगड़ कर कष्ट सहा जाय ? ॥ २४ ॥ अन्याय से कभी किसीका भला नहीं हुआ । असत्य का अभिमान रखना पागलपन है ॥ २५ ॥ असत्य पाप है और सत्य परमात्मा का स्वरूप है । अब सोचिये कि, इन दोनों में से कौन ग्राह्य है ॥ २६ ॥ सारा बोलना-चालना माया में है, माया के बिना बोलना असम्भव है, अतएव निःशब्द को खोजना चाहिए ॥ २७ ॥ वाच्यांश जान कर छोड़ देना चाहिए, लक्ष्यांश का विवरण करके उसे ग्रहण करना चाहिए । ऐसा करने से निःशब्द का पता जाता है ॥ २८ ॥ अष्टधा प्रकृति, जो पूर्वपक्ष है, उसको छोड़ कर अलक्ष में लक्ष लगाना चाहिए । यह बात वही जानता है जो मननशील परम दक्ष है ॥ २९ ॥ नाना प्रकार का भूसट और कण (दाना) एक ही बतलाना झूठ है । रस और बकला दोनों को एक समझ कर कौन चतुर बकले का सेवन करेगा ? ॥ ३० ॥ पिंड में नित्य-अनित्य-विवेक और ब्रह्मांड में अनेक प्रकार से सारासार का विचार करके-सब ढूँढ़ कर-सिर्फ सार ग्रहण करना चाहिए ॥ ३१ ॥ अन्वय और व्यतिरेक आदि सब माया के कारण से हैं, यदि माया न हो तो विवेक कैसे किया जाय ? ॥ ३२ ॥ सम्पूर्ण तत्त्वों का खोज करना चाहिए और महावाक्य में प्रवेश करके, आत्मनि द्वारा, समाधान प्राप्त करना चाहिए ॥ ३३ ॥

*छठवाँ समास—दिव्य गुणों का उपदेश ।

॥ श्रीराम ॥

नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से जैसे शरीर का शृंगार किया जाता है वैसे ही विवेक, विचार तथा राजनीति से अन्तःकरण को भूषित करना चाहिए ॥ १ ॥ शरीर चाहे जैसा सुन्दर, सतेज और वस्त्राभूषण से सज्ज हो; पर यदि अन्तःकरण में चातुर्य-बीज नहीं है तो वह कदापि शोभा नहीं पा सकता ॥ २ ॥ जो मुहँजोर, नीच, कठोरवचनी, सदा अभिमान में फँसे हुए होते हैं, और न्याय-नीति का ग्रहण नहीं करते ॥ ३ ॥ जो दुष्ट सदा शीघ्रकोपी होते हैं, कभी मर्यादा में नहीं रहते और राज-नैतिक विषयों की मसलहत में शामिल होना नहीं जानते ॥ ४ ॥ ऐसे उहंड, बेईमान कि, जिन्के वचनों में कभी सत्य छू भी नहीं जाता, पापी और मूढ़ हैं—उन्हें राक्षस जानना चाहिए ॥ ५ ॥ सदा एक ही प्रकार का अवसर नहीं आता, नेम भी सहसा काम नहीं देता । नेम रखने से राज-नैतिक दौंव पेचों में धोखा हो जाता है ॥ ६ ॥ (इस लिए बहुत नेमी भी न बनना चाहिए), अति सब बात की रोकना चाहिए (अति सर्वत्र वर्जयेत्) देख कर चलना चाहिए और विवेकी पुरुष को दुराग्रह में न पडना चाहिए ॥ ७ ॥ बहुत हठ करने से मामला खराब हो जाता है ॥ ८ ॥ अस्तु, ईश्वर अपने भक्तों का अभिमान रखता है और 'तुलजा-भवानी' की भी अपने ऊपर कृपा है, परन्तु काम विचार कर करना चाहिए ॥ ९ ॥ अखण्ड सावधान रहना चाहिए, इससे अधिक और क्या सूचना की जाय, परन्तु सब बातें समझना चाहिए ॥ १० ॥ समर्थ पुरुष के पास बहुत लोग रहते हैं, उन सब का अभिमान रखना चाहिए । ऐसा करने से वे लोग निश्चल मन करके रहते हैं ॥ ११ ॥ दुष्ट अब यहाँ बहुत बढ गये हैं, बहुत दिनों से उनका उपद्रव मचा है, इस लिए अखंड रीति से सावधान रहना चाहिए ॥ १२ ॥ वह ईश्वर सर्वकर्ता है । उसने जिसे अपना लिया है उस पुरुष का विचार विरला ही जान सकता है ॥ १३ ॥ न्याय, नीति, विवेक, विचार, नाना प्रकार के प्रसंग और दूसरे का मन परखना ईश्वर का देना है ॥ १४ ॥ महायत्न, सावधानी, समय आ पडने पर धैर्य धरना, अद्भुत ही कार्य करना, ईश्वर की देनगी है ॥ १५ ॥ यश, कीर्ति, प्रताप, महिमा, असीम उत्तम गुण और अनुपमता ईश्वर की देनगी है ॥ १६ ॥ देव-ब्राह्मण पर श्रद्धा रखना, आचार-विचार से चलना,

* छत्रपति शिवाजी महाराज जब अफज़लखा का वध करके आये तब श्रीसमर्थ ने उन्हें इस समास का उपदेश किया

कितने ही लोगों को आश्रय देना और हाथ से सदा परोकार होना, ईश्वर-दत्त बातें हैं ॥ १७ ॥ इहलोक, परलोक, सम्हालना, अखंड सावधान रहना, बहुत लोगों की सहाना ईश्वर की देनगी है ॥ १८ ॥ परमात्मा का पक्ष ग्रहण करना, ब्राह्मण की चिन्ता रखना और बहुत लोगों को पालना, ईश्वर के देने से होता है ॥ १९ ॥ धर्मस्थापना करनेवाले नर ईश्वर के अवतार हैं । ऐसे मनुष्य हुए हैं और आगे होंगे । देना ईश्वर का है ॥ २० ॥ उत्तम गुणग्राहकता, तीक्ष्ण तर्क और विवेक, धर्मवासना और पुण्यश्लोकता ईश्वर का देना है ॥ २१ ॥ सदा तजवीजें सोचते रहना चाहिए और विवेक से चलना चाहिए । यही सब गुणों का सार है, इससे इहलोक, परलोक दोनों सधते हैं ॥ २२ ॥

सातवाँ समास—लोगों का स्वभाव ।

॥ श्रीराम ॥

लोगों का स्वभाव लालची होता है, आरम्भ ही में कहते हैं “देव”—अर्थात् उनकी ऐसी वासना रहती है कि, हमें कुछ दो ! ॥ १ ॥ विना भक्ति किये ही (ईश्वर की) प्रसन्नता की इच्छा रखते हैं, जैसे स्वामी की कुछ भी सेवा न करके (वेतन) मागते हों ॥ २ ॥ कष्ट विना फल नहीं मिलता; कष्ट विना राज्य नहीं मिलता और (प्रयत्न) किये विना जगत् में कोई साध्य नहीं पूर्ण होता ॥ ३ ॥ यह तो प्रत्यक्ष है कि, आलस से कार्यनाश होता है; परन्तु तिस पर भी होन लोग परिश्रम करने से मुँह चुराते हैं ॥ ४ ॥ जो पहले परिश्रम का दुःख सहते हैं वे ही फिर सुख का फल भोगते हैं और जो पहले आलस में आकर बैठे रहते हैं उन्हें आगे दुःख उठाना पड़ता है ॥ ५ ॥ चाहे इहलोक (स्वार्थ) हो, चाहे परलोक (परमार्थ) हो; प्रयत्न दोनों के लिए करना पड़ता है । दूरदर्शिता की बड़ी आवश्यकता है ॥ ६ ॥ जो मनुष्य, जितना कमाते हैं उतना सब खा डालते हैं, वे कठिन प्रसंग आ पड़ने पर भूखा मर जाते हैं । इस लिए जो दूरदर्शिता से वर्तते हैं वही सुखी रहते हैं ॥ ७ ॥ इहलोक के लिए धन और परलोक के लिए परमार्थ संचित किये विना सब व्यर्थ है । जिन मनुष्यों ने ऐसा नहीं किया वे जीते हुए मृततुल्य हैं ॥ ८ ॥ एक ही बार मरने से छूट नहीं सकता, किन्तु अनेक जन्मों की

यातना भोगनी पड़ती है, इस प्रकार जो अपने को वारवार मारता है-
 वचाता नहीं-वह आत्महत्यारु है ॥ ६ ॥ प्रति जन्म में आत्मघात होता
 है। उन जन्मों की गणना कौन करे? इस प्रकार जन्म-मृत्यु कब बन्द हो
 सकती है? ॥ १० ॥ यह बात तो प्राणिमात्र कहते हैं कि, ईश्वर सब
 कुछ करता है। परन्तु उसकी भेट का लाभ बहुत कम (विरले ही को)
 होता है ॥ ११ ॥ विवेक के लाभ से परमात्मा मिलता है और विवेक
 विवेकी पुरुषों को मिलता है ॥ १२ ॥ परमात्मा एक है; पर वह बनाता
 अनेक है, उस अनेक (दृश्य) को एक (परमात्मा) न कहना चाहिए
 ॥ १३ ॥ देव का कर्तृत्व और देव, दोनों का अभिप्राय मालूम होना
 चाहिए। कितने ही लोग बिना जाने ही व्यर्थ बक बक किया करते हैं
 ॥ १४ ॥ मूर्खता से व्यर्थ बोलते हैं, और कुछ नहीं, ऐसे लोग चतुरता
 दिखाने के लिए बोलते हैं, परन्तु वास्तव में सच्चे चातुर्य के प्रकट करने
 की जरूरत ही नहीं पड़ती-वह स्वयं प्रकाश हो जाता है ॥ १५ ॥ जो
 बहुत कष्ट सह कर उपाय करता है वह भाग्यवान् होकर सुख पाता है
 और अभागी लोग बोलते ही रहते हैं ॥ १६ ॥ अभागी का अभाग्य-
 लक्षण विचक्षण पुरुष समझ जाते हैं; परन्तु भले आदमी के उत्तम
 लक्षण अभागी को नहीं मालूम होते ॥ १७ ॥ उसको कुबुद्धि बढ जाती
 है, उसे होश कहाँ रहता है? उसे कुबुद्धि ही सुबुद्धिसी जान पड़ती है
 ॥ १८ ॥ बेहोश मनुष्य को कौन सी बात सच मानी जाय? उसके पास
 विचार के नाम पर तो शून्य है ॥ १९ ॥ विचार से इहलोक परलोक
 दोनों बनते हैं, जन्म सार्थक होता है, इस लिए विचार से नित्य-अनित्य
 का विवेक करना चाहिए ॥ २० ॥

आठवाँ समास-अन्तर्देव-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

ब्रह्म निराकार और निश्चल है, आत्मा विकारी और चंचल है; पर
 सब लोग उसे देव कहते हैं ॥ १ ॥ देव का पता ही नहीं लगता। एक
 देव का निश्चय नहीं मालूम होता। बहुत देवों में एक देव अनुमान में नहीं
 आता ॥ २ ॥ इस लिए विचार करने की आवश्यकता है, विचार ही से
 देव की खोज करनी चाहिए। बहुत देवों का गडबड़ पढ़ने ही न देना
 चाहिए ॥ ३ ॥ तीर्थक्षेत्र में देव की प्रतिमा देख कर लोग उसीके

समान धातु की देवप्रतिमाएं बनाने लगे और इसी प्रकार पृथ्वी में यह चाल चल गई ॥ ४ ॥ केवल क्षेत्रदेव ही नाना प्रकार के प्रतिमादेवों का मूल है । इस भूमंडल में नाना क्षेत्रों को खोज कर देखना चाहिए ॥ ५ ॥ क्षेत्रदेव पापाण का होता है । उसका यदि विचार किया जाय तो जान पड़ता है कि उसका मूलतंतु अवतार की ओर है ॥ ६ ॥ अवतार लेकर—देह धारण करके—देव वर्ताव करते हैं और अन्त में उनका अवतार समाप्त हो जाता है । ब्रह्मा, विष्णु और महेश उनमें भी बड़े गिने जाते हैं ॥ ७ ॥ परन्तु इन तीनों देवों पर जिसको सत्ता है वह अन्तरात्मा ही है । वास्तव में कर्ता भोक्ता प्रत्यक्ष वही है ॥ ८ ॥ अनेक युगों तक तीनों लोक का व्यापार वही एक चलाता है । यह निश्चय का विवेक वेदशास्त्र में देखना चाहिए ॥ ९ ॥ अन्तरात्मा ही चेतनारूप से, विवेकद्वारा, सारे शरीरों का व्यापार चलाता है ॥ १० ॥ वह अन्तर्देव (भीतर का देव) लोग भूल जाते हैं और दौड़ कर तीर्थों को जाते हैं—इस प्रकार विचारे प्राणी, देव को न पहचान कर, कष्ट उठाते हैं ! ॥ ११ ॥ फिर मन में विचारते हैं कि, जहां देखो वही (तीर्थों में) पानी और पत्थर है; व्यर्थ वन वन घूमने से क्या होता है ? ॥ १२ ॥ ऐसा विचार जिसको मालूम हो जाता है वह सत्संग करता है । सत्संग से बहुत लोगों को देव मिल चुका है ॥ १३ ॥ ऐसी ये विवेक की बातें विवेकी पुरुष निश्चय करके जान सकते हैं । अविवेकी लोग भ्रम में भूले रहते हैं; उन्हें ऐसी बातें मालूम नहीं होतीं ॥ १४ ॥ भीतर (अन्तःकरण में) प्रवेश करनेवाला ही पुरुष भीतर का हाल जान सकता है, और केवल बाहर बाहर का स्वरूप देखनेवाला कुछ नहीं जान सकता, इस लिए विवेकी और चतुर मनुष्य अन्तःकरण को खोज करते हैं ॥ १५ ॥ विवेक के बिना जो भक्ति है उसका होना न होने के बराबर है । कहते भी हैं कि, प्रतिमादेव मूर्ख के लिए है ॥ १६ ॥ विचार करते हुए और समझते हुए जो अपना जीवन व्यतीत करता है वही उत्तम विवेकी है और वही तत्त्वों को (स्थूल, दृश्य) छोड़ कर निरंजन-परब्रह्म-को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥ जितना कुछ आकार को प्राप्त होता है वह सब नाश हो जाता है । वास्तव में जो सब गडबड़ से अलग है उसे परब्रह्म जानना चाहिए ॥ १८ ॥ देव चंचल है और ब्रह्म निश्चल है, परब्रह्म में भ्रम नहीं है, प्रत्यय ज्ञान (अनुभवजन्य ज्ञान) से भ्रम दूर हो जाता है ॥ १९ ॥ प्रतीति बिना जो कुछ किया जाता है वह सब व्यर्थ जाता है और प्राणी कष्ट ही कष्ट में रह कर, कर्म-कचाटे में पड़ कर, मर जाते हैं ॥ २० ॥ यदि से अलग नहीं होना है (यदि उसके फल ही ... करना है)

तो फिर ईश्वर का भजन करना ही क्यों चाहिए ? यह बात विवेकी पुरुष स्वभाव से ही जानते हैं—मूर्ख नहीं जानते ॥ २१ ॥ कुछ विचार करने पर मालूम हो जाता है कि, जगत् के अन्तर (भीतर), में परमेश्वर है । सगुण से ही, निश्चय करके, निर्गुण मिलता है ॥ २२ ॥ सगुण का विचार करते हुए, उसके मूल तक जाने पर, सहज ही निर्गुण मिल जाता है और संगत्याग से स्वयं ब्रह्मरूप होकर प्राणी मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥ परमेश्वर का अनुसन्धान लगाने से पावन होते हैं । मुख्य ज्ञान से ही ' विज्ञान '-मोक्ष-मिलता है ॥ २४ ॥ इन विवेक की बातों का सुचित्त अन्तःकरण से विचार करना चाहिए । नित्य-अनित्य-विवेक के श्रवण से जगत् का उद्धार होता है ॥ २५ ॥

नववाँ समास—निद्रा-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

आदिपुरुष की वन्दना करके निद्राविलास (सुखनींद) का वर्णन करता हूँ । गहरी निद्रा आ जाने पर जा नहीं सकती ॥ १ ॥ जब निद्रा शरीर में व्याप्त होती है तब आलस, जमुहाई और पेंडाई आती है । उनके कारण फिर बैठ नहीं सकते ॥ २ ॥ जल्दी जल्दी जमुहाइयाँ आती हैं; उन पर लोग चटचट चुटकियाँ बजाते हैं और झुक झुक कर खूब ऊँघते हैं ॥ ३ ॥ कोई आखें मूँदते हैं, किसीकी आखें लगती हैं और कोई चौंक कर चारों ओर देखते हैं ॥ ४ ॥ कोई उलट कर गिर पडते हैं—ब्रह्मवीणा फोड डालते हैं—डमरू के टुकड़े टुकड़े होते हैं तब भी उन्हें होश नहीं आता ! ॥ ५ ॥ कोई टेंक कर बैठते हैं और वहीं घर्षा बजाने लगते हैं, कोई खूब उताने होकर पसर जाते हैं ॥ ६ ॥ कोई घुसमुडा जाते हैं, कोई करवट लेकर सोते हैं और कोई चारों ओर चक्र को तरह फिरते हैं ॥ ७ ॥ कोई हाथ हिलाते हैं, कोई पैर हिलाते हैं और कोई कर्-कर् दांत किरते हैं ॥ ८ ॥ कोई बख्र निकल जाने के कारण नंगे ही लोटने लगते हैं और किसीकी पगडियाँ चारों ओर फैली रहती हैं ॥ ९ ॥ कोई अस्ताव्यस्त पड़े रहते हैं, कोई मुर्दा से दिखते हैं और किसीके दांत पसर जाने से, वे भूत से बुरे दिखते हैं ॥ १० ॥ कोई वर्राते हुए उठते हैं, कोई अंधरे में भटकने लगते हैं और कोई आँक पर जाकर

सो रहते हैं ॥ ११ ॥ कोई मटके उठाते हैं, कोई धरती ही टटोलने लगते हैं और कोई उठ कर मनमानी और चल देते हैं ॥ १२ ॥ कोई प्राणी बरौते हैं, कोई हुसक हुसक कर रोते हैं और कोई मजे से खिल्ल खिल्ल हँसते हैं ! ॥ १३ ॥ कोई पुकारने लगते हैं, कोई चिल्लाते हैं और कोई चाँक कर अपनी ही जगह पर रह जाते हैं ॥ १४ ॥ कोई क्षण क्षण में खरोंचते हैं, कोई सिर खुजालते हैं और खूब काँखने लगते हैं ॥ १५ ॥ किसीके लार बहती है, कोई पीक छोड़ता है और कोई मजे से लघुशंका कर देते हैं ॥ १६ ॥ कोई अपानवायु छोड़ते हैं, कोई खट्टो डकार डकारते हैं और कोई खँखार कर मनमानी जगह में थूक देते हैं ॥ १७ ॥ कोई हगते हैं, कोई आँकते हैं, कोई खांसते हैं, कोई छींकते हैं और कोई उस नादे स्वर से पानी मांगते हैं ॥ १८ ॥ कोई स्वप्न से व्याकुल हैं, कोई अच्छे स्वप्नों से संतुष्ट हैं, और कोई सुषुप्ति के कारण गाढ बेहोशी में पड़े हैं ॥ १९ ॥ इधर-भोर हो गया, कोई पठना शुरू करता है और कोई प्रातःस्मरण या हरिकीर्तन का प्रारम्भ करता है २० ॥ कोई ध्यानमूर्ति का स्मरण करते हैं, कोई एकान्त में जप करते हैं और कोई नाना प्रकार से अपना घोखा हुआ पाठ उधरते हैं ॥ २१ ॥ अपनी अपनी नाना विद्याएं और नाना कलाएं सब सीखते हैं, कोई तानमान से गायनकला का अभ्यास करते हुए गाते हैं ॥ २२ ॥ पिछली निद्रा समाप्त होती है और जागृति प्राप्त होती है । इस लिए लोग अपने अपने व्यवसाय में लगते हैं ॥ २३ ॥ इधर ज्ञाता तत्व (दृश्य) को लांघ जाता है, तुर्या के उस तरफ चला जाता है और आत्मनिवेदन से ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ २४ ॥

दसवाँ समास—श्रवण-विक्षेप ।

॥ श्रीराम ॥

किसी कार्य के उद्योग में लगने से बौच में कुछ न कुछ विघ्न आ जाता है । परन्तु यदि समय की सहायता हुई—यदि समय अनुकूल हुआ—तो वह कार्य आप ही आप होते जाता है ॥ १ ॥ जब कार्य होने लगता है तब मनुष्य सुखी होता है और दिन पर दिन विचार सूझने लगता है ॥ २ ॥ जब कोई प्राणी अवतीर्ण होता है तब उसे कुछ न कुछ समय अनुकूल होता ही है और परमेश्वर कृपा करके दुख के बाद सुख देता है ॥ ३ ॥ सम्पूर्ण काल यदि अनुकूल ही बना रहे तो सब

राजा हो जायँ । बात तो यह है कि, कुछ काल अनुकूल रहता है और कुछ नहीं रहता ॥ ४ ॥ इहलोक या परलोक दो में से कोई भी बात साधने के लिये स्वाभाविक और अद्भुत विवेक होना ईश्वर की देनगी है ॥ ५ ॥ यह बात पृथ्वी पर न कभी देखी गई और न सुनी गई कि, किसीको सुने बिना कुछ मालूम हुआ हो या सिखाये बिना कोई चतुरता प्राप्त हुई हो ॥ ६ ॥ सुनने से सब कुछ मालूम होता है, मालूम होते होते वृत्ति शुद्ध होती है और सार-असार का निश्चय मन में बैठ जाता है ॥ ७ ॥ श्रवण कहते हैं सुनने को, मनन कहते हैं सुनी हुई बात का बार-बार विचार करने को—इन्हीं दोनों उपायों से तीनों लोक का व्यापार चलता है ॥ ८ ॥ श्रवण में जो अनेक प्रकार के विघ्न आते हैं, उन्हें कहां तक गिनावें ? परन्तु सावधान रहने से सब कुछ अनुभव में आ जाता है ॥ ९ ॥ श्रवण में जो लोग (पहले से) बैठते हैं वे व्याख्याता के बोलते बोलते एकाग्र हो जाते हैं, परन्तु पीछे से जो नये लोग आते हैं वे एकाग्र नहीं होते ॥ १० ॥ जो मनुष्य बाहर घूम आता है वह नाना प्रकार की बातें सुन आता है । इस लिए वह कुछ न कुछ हलचल किया ही करता है । चुप नहीं बैठता ॥ ११ ॥ मौका देख कर चलनेवाले मनुष्य बहुत कम होते हैं । अस्तु । अब, श्रवण में जो विघ्न आते हैं वे सुनो:—॥ १२ ॥

श्रवण में बैठने पर पहले तो पेंडाई आने लगती है और निद्रा के कारण जल्दी जल्दी जमुहाई आने लगती है ॥ १३ ॥ कोई सुचित्त हो कर बैठते हैं, परन्तु उनका मन ही नहीं लगता । वे पीछे सुनी हुई बातों को ही मन में रखे रहते हैं ॥ १४ ॥ शरीर को तो सुनने के लिए तत्पर करते हैं, पर मन में दूसरे ही विचार आते हैं । मन में जो कल्पनाएं आती हैं उनका विस्तार कहां तक बतलाया जाय ? ॥ १५ ॥ सुनी हुई बातों का जब मनन किया जाता है तभी कुछ मतलब निकलता है ॥ १६ ॥ मन दिखता थोड़े ही है जो उसे पकड़ लें ! इस लिए प्रत्येक को अपना अपना मन रोकना चाहिए और रोक कर विवेक से उसे अर्थ में प्रविष्ट करना चाहिए ॥ १७ ॥ निरूपण में बहुत भोजन करके जो बैठता है वह बैठते ही प्यास से व्याकुल होता है ॥ १८ ॥ ऐसा पुरुष तुरंत ही पानी मँगाता है और “ घट-घट-घट घट ” बहुत सा पी लेता है । इस कारण जी मतलाता है और वह उठ जाता है ॥ १९ ॥ खट्टी डकारें और हुचकियां आती हैं और यदि कहीं वायु सर गई तो फिर कुछ पूछिये ही नहीं ! अनेक लोगों को बार बार लघुशंका के लिए उठना पड़ता है ॥ २० ॥ कोई दिशा के कारण घबड़ा जाता है और सब छोड़

कर निरूपण के समय भग खडा होता है ॥ २१ ॥ किसी किसी का मन
 दृष्टान्त की किसी अपूर्व बात ही में लगा रहता है और आगे की बातें
 वह सुन ही नहीं पाता ॥ २२ ॥ कोई ज्यों ही निरूपण में आकर बैठता
 है त्यों ही उसके विच्छेद टोंच देता है । ऐसी दशा में कहां का निरूपण ?
 वह विचारा व्याकुल हो जाता है ॥ २३ ॥ किसीके पेट में पीड़ा उठती
 है, पीठ में चिक जाती है अथवा दाद, खाज, फोडा आदि रोगों
 के कारण बैठा नहीं जाता ॥ २४ ॥ कोई पिस्सू के काटने से दुश्चित्त हो
 जाता है और कोई किसी गडबड को सुन कर वहीं दौड़ जाता है ॥ २५ ॥
 कोई कोई विषयी लोग कथा सुनते समय स्त्रियों ही की ओर देखा
 करते हैं । चोर लोग पादत्राण चुरा ले जाते हैं ॥ २६ ॥ कभी कभी 'हाँ'
 'नहीं' का वादविवाद आ पड़ने पर भी बहुत खेद होता है ॥ २७ ॥
 कोई कोई निरूपण में बैठ कर खूब बातें किया करते हैं । हरिदास
 (कीर्तनकार) लोग पेट के लिए 'रें रें' करते हैं ॥ २८ ॥ बहुत ज्ञाता
 यदि जमा हो जाते हैं तो एक के बाद एक बोलने लगता है । वहां
 श्रोता लोगों का आशय एक ही ओर रह जाता है ॥ २९ ॥ "मेरा है,
 तेरा नहीं" ऐसा कहने की जिसे सदा आदत है वह न्याय-नीति को
 छोड़ कर अन्याय की ओर दौड़ता है ॥ ३० ॥ कोई अपने बड़प्पन के
 लिए वाच्य-अवाच्य बोलने लगता है । जिसमें न्याय नहीं है उसे अन्त
 में परम अन्यायी कहें ही गे ॥ ३१ ॥ हम नहीं कह सकते कि, जो श्रोता
 लोग अभिमान में आकर संतप्त हो जाते हैं उन्हें सब्जे कहें या भूँठे ॥ ३२ ॥
 अतएव जो विचक्षण और बुद्धिमान् होते हैं वे पहले ही अन जानपन
 अपनी ओर ले लेते हैं । वे कहते हैं कि, हम तो भाई मूर्ख, निरक्षर हैं,
 कुछ नहीं जानते ॥ ३३ ॥ जो परमात्मा को अपने से बड़ा समझता है
 वह संसार के सब लोगों को सन्तुष्ट रखता है, क्योंकि सम्पूर्ण संसार में
 परमात्मा भरा हुआ है ॥ ३४ ॥ यदि सभा में कलह उठती है तो लोग
 ज्ञाता ही को दोष देते हैं । (वे कहते हैं कि), लोगों का मन नहीं रख
 सकता—यह कैसा योगी है ? ॥ ३५ ॥ वैर करने से वैर ही बढ़ता है,
 अपने को दुःख सहना पड़ता है । इस लिए चतुर पुरुष के गूढ विचार
 मालूम होने चाहिए ॥ ३६ ॥ उत्तम पुरुष सदा सम्हाल सम्हाल कर चलते
 हैं; अपने ऊपर किसी प्रकार का दोष नहीं आने देते । वे क्षमा और
 शान्ति का व्यवहार अवश्य करते हैं ॥ ३७ ॥ अवगुणी के अवगुण गुणी
 पुरुष तुरन्त जान लेते हैं । विवेकी पुरुष अपने सब काम विवेक से करते
 हैं ॥ ३८ ॥ जो विवेक-बल से अनेक प्रकार के उपाय और दीर्घ प्रयत्न
 करता रहता है, उसकी महिमा वही जान सकता है ॥ ३९ ॥ जिसके पास

विवेक नहीं होता उसे दुर्जन लोग फाँस लेते हैं और बेवकूफ लोग भी उसे खूब ही बना लेते हैं ! ॥ ४० ॥ न्याय, ' पर्याय ' और उपाय की अनेक युक्तियाँ मूर्ख को कैसे मालूम हो सकती हैं ? ॥ ४१ ॥ परन्तु उस विगड़े हुए रंग को भी चतुर पुरुष फिर ठीक कर लेते हैं । वे स्वयं आत्मयज्ञ करते हैं और दूसरे से कराते हैं, तथा स्वयं प्रयत्न करते हैं और दूसरे से कराते हैं ॥ ४२ ॥ यों तो जगत् में तमाम मनुष्य ही मनुष्य भरे पडे हैं; परन्तु उनमें सिर्फ वही सज्जन धन्य है कि, जिनके कारण मनुष्य मात्र को समाधान मिले ॥ ४३ ॥ ऐसा सज्जन पुरुष लोगों की इच्छाओं को नाना प्रकार से परखता है; मान, प्रसंग, समय जानता है और सन्तप्त लोगों को अनेक भाँति से शान्त करना जानता है ॥ ४४ ॥ इसी प्रकार वह सम्पूर्ण संसार की बातें जानता है, वह विवेक से सब कुछ करने में समर्थ होता है । वह कैसे क्या करता है, सो कुछ लोगों को मालूम ही नहीं होता ! ॥ ४५ ॥ " बहुत लोगों को कार्य में लगाये रहता है, नाना मंडलों (समुदायों) की हलचल अपने हाथ में रखता है " ऐसा ही पुरुष विवेक से समर्थ * की पदवी पाता है ॥ ४६ ॥ परन्तु विवेक एकान्त में करना चाहिए—अपनी धारणाशक्ति से परमात्मा को धारण करना चाहिए और मनुष्यमात्र को अपना समझना चाहिए ॥ ४७ ॥ एकान्त में विवेक सूझता है; एकान्त में यत्न मिल जाता है, और एकान्त में तर्कनाशक्ति तमाम ब्रह्मांड पर मँडराती है ॥ ४८ ॥ एकान्त में स्मरण करने से भूला हुआ खजाना भी मिल जाता है । एकान्त में बैठ कर अन्तरात्मा के साथ कुछ न कुछ विचार करना चाहिए ॥ ४९ ॥ जिसे एकान्त पसन्द आ गया उसका कार्य सब से पहले सिद्ध हो जाता है । विना एकान्त के महत्त्व नहीं मिल सकता ॥ ५० ॥

* इस पद्य को श्रीसमर्थ रामदास स्वामी का आत्मचरित ही समझना चाहिए ।

उन्नीसवाँ दशक ।



पहला समास-लेखन-कौशल ।

॥ श्रीराम ॥

ब्राह्मणों को बालबोध (नगिरी) अक्षरों का अभ्यास करके उन्हें इस प्रकार सुन्दर लिखना चाहिए कि, उनको देख कर ही चतुर पुरुषों को सन्तोष हो ॥ १ ॥ गोल, सरल, अलग अलग, चटकीली स्याही से, मुक्तामाला की तरह, अक्षरों की पंक्तियाँ लिखना चाहिए ॥ २ ॥ प्रत्येक अक्षर स्पष्ट होना चाहिए; बीच की जगह, कानामात्रा, रेफ, बेलांटी, इत्यादि, अक्षर के सम्पूर्ण अंग, ठीक होने चाहिए ॥ ३ ॥ पहला अक्षर जैसा हो वैसे ही सम्पूर्ण ग्रन्थ के अक्षर हों—' अथ ' से ' इति ' तक ग्रन्थ एक ही ' टाँक ' से लिखा हुआ जान पड़ता हो ! ॥ ४ ॥ अक्षरों का कालापन, टाँक की मुटाई तथा मोड़ इत्यादि सब बराबर होना चाहिए ॥ ५ ॥ पंक्ति में पंक्ति न भिड़ जाना चाहिए; मात्रा, रेफ और बिन्दु इत्यादि एक में न मिल जाना चाहिए; तथा ऐसे लम्बे अक्षर न लिखना चाहिए कि, एक दूसरे से जा लगे ॥ ६ ॥ कागज के पत्रों पर शीश से लकीरें खींच कर ठीक ठीक लिखना चाहिए । पंक्तियों का अन्तरपास-दूर न होना चाहिए—बराबर बराबर होना चाहिए ॥ ७ ॥ इस प्रकार लिखना चाहिए कि फिर लिखे हुए को शोधने की आवश्यकता न हो, भूल ढूँढ़ने पर भी न मिले; और न लेखक से फिर कोई बात पूछनी पड़े ॥ ८ ॥ नूतन वयवाले (बालक) को सम्हाल सम्हाल कर लिखना चाहिए; ताकि उसकी लिखावट को देख कर सब लोग मोह जायँ ॥ ९ ॥ बहुत से लोग युवावस्था में बहुत बारीक अक्षर लिख देते हैं; पर बुढ़ापे में वे अपना ही लिखा नहीं पढ़ सकते; अतएव न बहुत बारीक और न बहुत मोटे—किन्तु मध्यम दरजे के अक्षर लिखना चाहिए ॥ १० ॥ पत्रे के आस-पास जगह (हाशिया) छोड़ देना चाहिए; और बीच में सुन्दर तथा स्पष्ट लिखना चाहिए; कागज चाहे घिसते घिसते घिस जाय पर अक्षर वैसे ही रहना चाहिए ॥ ११ ॥ इस प्रकार ग्रन्थ बना बना कर लिखना चाहिए कि, जिसे देख कर मनुष्यमात्र को वैसे ही लिखने की इच्छा हो और लोग यह कहने लगें कि, " भाई, इस लेखक को देखना चाहिए"

॥ १२ ॥ शरीर से खूब परिश्रम करना चाहिए; अपनी उत्कट कीर्ति संसार में छोड़ जाना चाहिए और कोई न कोई विशिष्ट गुण दिखला कर लोगों को मोहित कर लेना चाहिए ॥ १३ ॥ मोटा कागज लाकर उसे सावधानी के साथ धोटना चाहिए और लिखने का सामान भी भांति भांति का होना चाहिए ॥ १४ ॥ चाकू, कैची, लकीर खींचने का यंत्र, शीश, घोंटा, अनेक प्रकार के सुरंग, सब सामान होना चाहिए ॥ १५ ॥ देश-देशान्तर की चिकनी, वारीक, सीधी और अनेक रंगों की किलकें एकत्र करना चाहिए ॥ १६ ॥ टाँक बनाने का यंत्र, लकीरें खींचने का यंत्र और शीशे की गोलियाँ, इत्यादि अनेक सामान चित्रविचित्र होना चाहिए ॥ १७ ॥ सूखा और गीला ईगुर का रंग रखना चाहिए । इसके सिवाय नाना प्रकार के रंगों को अलग अलग रुई में भिगी कर रख लेना चाहिए । यह मसि-संग्रह की रीति है ॥ १८ ॥ ग्रन्थ की 'इति श्री' नाना प्रकार के सुन्दर चित्रों से चिह्नित करना चाहिए । चित्र खींचने का सामान भी देशदेशान्तरों का होना चाहिए ॥ १९ ॥ नाना प्रकार की निवार, वेष्टन, लाल रंग के मोमजामें, पेटिकाएँ, ताले, इत्यादि अनेक सामान पुस्तकों को सुरक्षित रखने के लिए चाहिए* ॥ २० ॥

दूसरा समास-चतुरता का बर्ताव ।

॥ श्रीराम ॥

पिछले समास में लिखने की रीति बतलाई गई; अब अनेक प्रकार के अर्थों के जानने की रीति सुनो । सब प्रकार की बातें समझ लेना चाहिए ॥ १ ॥ शब्दभेद, अर्थभेद, मुद्राभेद, प्रबंधभेद, और नाना ध्वनियों के ध्वनिभेद जान लेना चाहिए ॥ २ ॥ नाना आशंका, उत्तर-प्रत्युत्तर, प्रतीति, साक्षात्कार, आदि जान लेना चाहिए; क्योंकि इन बातों से लोगों का मन करत प्रसन्न होता है ॥ ३ ॥ नाना प्रकार के पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और अनुभव अच्छी तरह जानना चाहिए । सन्देहपूर्ण अस्तव्यस्त बातें न बोलना चाहिए ॥ ४ ॥ प्रवृत्ति हो, चाहे निवृत्ति हो, बिना प्रतीति (अनुभव) के सारी भांति ही हैं । बिना अनुभव के मनुष्य ऐसा ही है जैसे मिट्टी

* इस भाग में उम शमन की लोचनगाली पर अन्ध प्रकाश पड़ता है ।

का गडगा ! उसकी जगज्ज्योति (अनुभव विना) कैसे चेत सकती है ?
 ॥ ५ ॥ हेतु समझ कर उत्तर देना चाहिए । दूसरे के जी की बात समझनी
 चाहिए । यही मुख्य चातुर्य के लक्षण हैं ॥ ६ ॥ चतुरता के बिना कोई
 प्रयत्न काम नहीं दे सकता ; चातुर्य के बिना सारी विद्या व्यर्थ है । बिना
 चतुरता के समाजों में बड़ी काठिनाई आ पड़ती है-लोगों का समाधान ही
 नहीं होता ॥ ७ ॥ दूसरे की बहुत बातें चुपके सुनते रहना चाहिए; स्वयं
 कुछ न बोलना चाहिए; परन्तु सब के मन का भाव अपनी चतुराई से,
 थोड़े ही में समझ लेना चाहिए ॥ ८ ॥ बेवकूफों में बैठना न चाहिए, उद्धट
 मनुष्य से बहुत बात न करना चाहिए और अपने लिये किसीका समा-
 धान भंग न करना चाहिए ॥ ९ ॥ अनजानपन (दीनता) छोड़ना न
 चाहिए, जानपन से फूलना (गर्व करना) न चाहिए और सब लोगों का
 हृदय मृदु शब्दों से प्रसन्न रखना चाहिए ॥ १० ॥ प्रसंग अच्छी तरह पर-
 खना चाहिए, बहुतों की अप्रसन्नता न लेनी चाहिए सत्य कह कर भी
 सभा का मनभंग न करना चाहिए, ॥ ११ ॥ पता लगाने में आलस्य न
 करना चाहिए, भ्रष्ट लोगों में बैठना न चाहिए । और यदि बैठे तो मिथ्या
 दोष न कहना चाहिए ॥ १२ ॥ आर्त मनुष्य का अंतर (अन्तःकरण) पर-
 खना चाहिए । पढ़े चाहे थोड़ा ही, पर समझना बहुत चाहिए । भले
 आदमी को अपने गुणों से मोह लेना चाहिए ॥ १३ ॥ मजालिस में न बैठना
 चाहिए, भोजन-प्रसंग में न जाना चाहिए । क्योंकि वहां जाने से अपनी
 हीनता होती है ॥ १४ ॥ उत्तम गुण प्रकट करते हुए सब से बोलने में
 आनन्द आता है । भले आदमी देख कर-अच्छी तरह खोज कर-तब उन्हें
 अपना मित्र बनाना चाहिए ॥ १५ ॥ उपासना के अनुसार बोलना चाहिए,
 सब लोगों को संतुष्ट रखना चाहिए और सब की सब प्रकार से प्रतिष्ठा
 रखना चाहिए ॥ १६ ॥ पहले जगह जगह सब बातों का पता लगा कर
 तब ग्राम में प्रवेश करना चाहिए और मनुष्यमात्र से भाई का सा प्रेम रख
 कर बोलना चाहिए ॥ १७ ॥ ऊंचा-नीचा किसी को न कहना चाहिए,
 सब का हृदय शीतल करना चाहिए । सूर्यास्त के समय कहीं न जाना
 चाहिए ॥ १८ ॥ मनुष्य में वाणी एक ऐसी चीज है कि जिसके कारण
 संसार मित्र बन सकता है । सर्वत्र सत्पात्र पुरुषों को खोजना चाहिए
 ॥ १९ ॥ जहां कथा वार्ता होती हो वहां जाना चाहिए और सब से दूर,
 दीन को तरह, बैठना चाहिए; तथा वही से उसका सब
 अभिप्राय जान लेना चाहिए ॥ २० ॥ वहां सज्जन पुरुष मिलते हैं;
 बड़े बड़े प्रभावशाली लोग भी मालूम हो जाते हैं । इस प्रकार सब
 जान बूझ कर, तब, धीरे धीरे उनमें मिलने का प्रयत्न करना चाहिए

॥ २१ ॥ सब में श्रेष्ठ श्रवण है, श्रवण से भी बड़ा मनन है । मनन से बहुत लोगों का समाधान होता है ॥ है ॥ २२ धूर्तता (विशिष्ट चातुर्य) के साथ सब जान लेना चाहिए, भीतर ही भीतर मन में सब कुछ खचित कर लेना चाहिए । बिना समझे तकलीफ क्यों उठाना चाहिए ? ॥२३॥

तीसरा समास-अभागी के लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

अन्तःकरण सुचित्त करके अभागी के लक्षण सुनो । इन्हें त्यागने से भाग्यवान् के लक्षण आ जाते हैं ॥ १ ॥ पाप से दरिद्र मिलता है, दरिद्र से पाप संचित होता है-सदा ऐसा ही हुआ करता है ॥ २ ॥ इस कारण अभागी के लक्षण सुन कर उनका त्याग ही करना चाहिए । ऐसा करने से कुछ भाग्यवान् के लक्षण प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ अभागी को आलस अच्छा लगता है, यत्न कभी नहीं सुहाता और उसकी वासना सदा अधर्म में लगी रहती है ॥ ४ ॥ वह सदा भ्रमिष्ठ और उसनींदा रहता है, यों ही अट्ट-सट्ट बोलता है जो किसीको पसन्द नहीं आता ॥ ५ ॥ वह लिखना-पढ़ना नहीं जानता, सौदा-खुदप नहीं कर सकता, हिसाब-फित व नहीं रख सकता और उसमें धारणाशक्ति भी नहीं होती ॥ ६ ॥ वह खोता है, छोडता है, गिराता है, फोड़ता है, भूलता है, चूकता है; उसमें नाना अवगुण होते हैं । उसे भले की संगति कभी नहीं अच्छी लगती ॥ ७ ॥ बदमाश साथी जोडता है, कुकर्मों मित्र बनाता है, चोर पापी और नटखटों को इकट्ठा करता है ॥ ८ ॥ जिससे देखो उसीसे कलह करता है, सदा चोरी करता है, परघात करने में बड़ा प्रवीण होता है, रास्ते में लूटता है ॥ ९ ॥ उसमें दूरदर्शिता नहीं होती, उसे न्याय, नीति नहीं रुचती और सदा दूसरे की वस्तु लेने की अभिलाषा रखता है ॥ १० ॥ आलस से कुछ दिन शरीर पलता है, परन्तु पेट को जत्र नहीं होता तत्र काम नहीं चलता, पंहरने ओढने को चीथडे भी नहीं मिलते ॥ ११ ॥ आलस से देह पोसता है, सदा कोख खुजलाता है और दिनरात सोया करता है ! ॥ १२ ॥ लोगों से मित्रता नहीं करता, कठोर वचन बोलता है और मूर्खता के कारण किसीका रोका नहीं मानता ॥ १३ ॥ पवित्र लोगों से मिलने में संकोच करता है, मैले-कुचैले लोगों में निःशंक दौड कर जाता है, और जिस बात की लोग निन्दा करते हैं

वही उसे सदा अच्छी लगती है ॥ १४ ॥ परोपकार का तो वह नाम भी नहीं जानता; अनेकों का संहार करता है; वह सब प्रकार से निरंकुश गपी, अनर्धी और मूर्ख होता है ॥ १५ ॥ शब्द सँभाल कर नहीं बोलता, पोकने से मानता नहीं, और उसका बोलना किसीको पसन्द नहीं आता ॥ १६ ॥ किसीका विश्वास नहीं है, किसीसे मैत्री नहीं है, विद्या-वैभव कुछ भी नहीं है, यौही अकडता है ! ॥ १७ ॥ यदि कोई उससे कहता है कि, "जब बहुत लोगों का मन प्रसन्न रखा जाता है तब कहीं सौभाग्य प्राप्त होता है" तो ऐसी विवेक की बातें वह सुनता नहीं ॥ १८ ॥ स्वयं अपने को मालूम नहीं है; सिखाने से सुनता नहीं है—पैसे पुरुष के लिए नाना उपाय क्या कर सकते हैं ? ॥ १९ ॥ बहुत कुछ सोचता है; मनोराज्य करता है; परन्तु प्राप्त कुछ भी नहीं होता—इस प्रकार वह सदा संदेह में पडा रहता है ॥ २० ॥ वह पुण्यमार्ग छोड देता है; फिर उसके पाप दूर हों तो किस तरह ? निश्चय कुछ भी नहीं करता; संदेह में पडे पडे सत्यानाश करता है ॥ २१ ॥ अच्छी तरह कोई बात जानता नहीं है; पर तो भी सभा में बिना बोले नहीं रहा जाता ! सभा में बोलने पर, कुछ न जानने के कारण, वह लोगों के सन्मुख बेवकूफ और लबाड बन बैठता है ॥ २२ ॥ जिसका कुछ निश्चय बहुत लोगों को मालूम हो जाता है वही मनुष्य संसार में मान्य होता है ॥ २३ ॥ विना कष्ट सहे कीर्ति कहां मिल सकती है ? मुफ्त में मान नहीं मिलता । अवलक्षणों से तो चारों ओर शिकायत होती है ॥ २४ ॥ जो भले की संगती नहीं करता और अपने को चतुर नहीं बनाता वह अपना आप ही बैरी है—स्वहित नहीं जानता ॥ २५ ॥ लोगों के साथ जो भलाई की जाती है, उसका बदला तुरंत ही अपने को मिलता है । यह बात उस अभागी के जी में नहीं आती ॥ २६ ॥ उत्तम गुण न होना अभागीपन का लक्षण है । जो बहुतों को पसन्द नहीं है वह स्वाभाविक ही अवलक्षण है ॥ २७ ॥ कोई भी काम हो, किये बिना नहीं होता । जो निष्काम होता है वह दुःखप्रवाह में बहता ही चला जाता है ॥ २८ ॥ जो पुरुष बहुतों को मान्य नहीं है उसके बराबर पातकी दूसरा नहीं है । ऐसा पुरुष सब जगह निराश्रय रह कर दीनरूप रहता है ॥ २९ ॥ इस कारण अवगुण त्यागने चाहिये, उत्तम गुण समझ कर ग्रहण करने चाहिये । ऐसा करने से सब बातें अपने अनुकूल होती हैं ॥ ३० ॥

चौथा समास—भाग्यवान् के लक्षण ।

॥ श्रीराम ॥

पीछे अभागो के लक्षण बतलाए, उन सब को, विवेक से जान कर, छोड़ देना चाहिए । अब भाग्यवान् के लक्षण, जो परम सुखदायक है, सुनो ॥ १ ॥ भाग्यवान् पुरुष स्वाभाविक ही गुणवान् होता है, वह नाना प्रकार से परोपकार करता है और सदा सब को प्यारा होता है ॥२॥ वह सुन्दर अक्षर लिखना जानता है, तेजी के साथ और शुद्ध पढ़ना जानता है, और अनेक प्रकार के अर्थ आदि सब कुछ बतलाना जानता है ॥ ३ ॥ किसीका मन नहीं तोड़ता, भलों की संगति नहीं छोड़ता और अन्य भाग्यवानों के लक्षण अपने विचार में ले आता है ॥ ४ ॥ वह सब जनों को प्यारा होता है, जहां जाता है वहीं वह लोगों को नित्य नया मालूम होता है । मूर्ख के कारण, सन्देह के जाल में वह कभी नहीं पड़ता ॥ ५ ॥ जिन पुरुषों में नाना उत्तम गुण होते हैं—जो सत्पात्र हैं—वे ही मनुष्य जगत् के मित्र हैं । ऐसे पुरुषों की कीर्ति प्रगट होती है—वे सदा स्वतंत्र रहते हैं—पराधीन नहीं रहते ॥ ६ ॥ भाग्यवान् पुरुष सब का अन्तःकरण संतुष्ट रखता है, बहुत ग्रन्थों का अवलोकन करता है और अपना निश्चय कभी नहीं छोड़ता ॥ ७ ॥ नम्रता के साथ पूछना जानता है, ठीक अर्थ बतलाना जानता है, कहने के अनुसार, उत्तम क्रिया का आचरण करना जानता है ॥ ८ ॥ जो बहुत लोगों को प्यारा है उससे कोई चूँ नहीं कर सकता । वह महापुरुष दैदीप्यमान् पुण्यराशि होता है ॥ ९ ॥ वह परोपकार करता ही रहता है, उसकी सब को जरूरत बनी रहती है, ऐसी दशा में उसे भूमंडल में किस बात की कमी रह सकती है ? ॥ १० ॥ बहुत लोक उसकी प्रतीक्षा किया करते हैं—वह सब के पास तत्काल, समय पर, पहुँच कर जा खड़ा रहता है । उसे किसीकी हीनता पसन्द नहीं आती ॥ ११ ॥ चौदह विद्या, चौसठ कला, संगीत, गायन-कला वह जानता है और आत्मविद्या की शक्ति भी उसमें बहुत होती है ॥ १२ ॥ सब से नम्रता के साथ बोलता है, सब का मन रख कर चलता है और किसीकी किसी प्रकार हीनता नहीं होने देता ॥ १३ ॥ न्याय-नीति, भजन और मर्यादा से चल कर सदा समय सार्थक करता है । उसके पास दरिद्रता की आपदा आ ही कैसे सकती है ? ॥ १४ ॥ वह उत्तम गुणों से भूषित रहता है, बहुतों में शोभित होता है और प्रगट प्रताप से, मार्तण्ड की तरह, उदित रहता है ॥ १५ ॥ जहां जानकार पुरुष होगा वहां कलह कैसे उठ सकता है ? ॥ १६ ॥ भाग्यवान् पुरुष सांसारिक सुखों के लिए राजनैतिक ढाँच-पंच (राजकारण) जानता है

और परमार्थ प्राप्त करने के लिये अध्यात्म-विवरण जानता है, वह, सब में जो उत्तम गुण हैं, उनका भोक्ता होता है ॥ १७ ॥ उसकी यह चाल कदापि नहीं रहती कि, आगे और कुछ कहता हो तथा पीछे और कुछ रहता हो । उस पुरुष की सब को आवश्यकता ही रहती है ॥ १८ ॥ वह ऐसा वर्ताव नहीं करता कि, जिससे किसीके हृदय को चोट पहुँचे, किन्तु वह सब प्रकार से विवेक प्रगट करता है ॥ १९ ॥ उसके पास से कर्मविधि, उपासनाविधि, ज्ञानविधि, वैराग्यविधि, और विशाल ज्ञातृत्व की बुद्धि टल कैसे सकती है ? ॥ २० ॥ उसके पास उत्तम ही उत्तम गुण होते हैं; फिर उसे बुरा कोई कैसे कह सकता है ? वह आत्मा की तरह सब घटों में सम्पूर्ण व्यापक रहता है ॥ २१ ॥ जिस प्रकार छोटे-बड़े सब लोग अपने कार्य में तत्पर रहते हैं उसी प्रकार वह मन से सब का उपकार करता रहता है ॥ २२ ॥ दूसरे के दुख से दुखी और दूसरे के सुख से सुखी होकर वह सदा यही इच्छा रखता है कि, सभी सुखी रहें ॥ २३ ॥ छोटे-बड़े, सब लडकों पर जिस प्रकार पिता का मन एकसमान ही लगा रहता है उसी प्रकार वह महापुरुष सब की बराबर चिंता रखता है ॥ २४ ॥ जो किसीका दुख नहीं देख सकता, सदा निस्पृह रहता है, धिक्कारने पर भी बुरा नहीं मानता वही महापुरुष है ॥ २५ ॥ मिथ्या शरीर की यदि किसीने निन्दा भी की तो इससे उसका क्या गया ? ज्ञाता को कहीं देहबुद्धि जीत सकती है ? ॥ २६ ॥ यह नहीं हो सकता; ज्ञाता देह से भिन्न है । अस्तु । कुछ न कुछ उत्तम गुण संसार में दिखाना चाहिए ॥ २७ ॥ उत्तम गुण की ओर मनुष्य आकर्षित होता है, बुरे गुण से मनुष्य को खेद होता है । मामूली लोग यह तीक्ष्ण बुद्धि की बात क्या जानें ? ॥ २८ ॥ जब लोगों को यह प्रतीति आ जाती है कि, यह लोगो को अत्यन्त क्षमा करता है तब वे लोग उस पुरुष की, नाना प्रकार से, सहायता करते हैं ॥ २९ ॥ बहुत लोग अपने को बड़ा समझते हैं; पर अपने समझने से क्या हुआ; जब तक कि उसको सब लोग बड़ा न समझें । महापुरुष धीर, उदार और गम्भीर होता है ॥ ३० ॥ जितने उत्तम गुण हैं वे सब समर्थ के लक्षण हैं । फिर अवगुणों को अभागी के लक्षण समझना ही चाहिए ॥ ३१ ॥

पाँचवाँ समास—देह की उपयोगिता ।

॥ श्रीराम ॥

भिट्टी, पत्थर, सोना, रूपा, काँसा, पीतल ताँवा, आदि अनेक धातुओं के देव और चित्रलेप पूजे जाते हैं ॥ १ ॥ रुई की लकड़ी के देव, प्रवाल (मूंगा) के देव, वाण, तांदले, नर्मदेश्वर, शालिग्राम, काश्मीरी देव, सूर्य-कांत और सोमकान्त भी पूजे जाते हैं ॥ २ ॥ कोई देवतार्चन में ताम्र और हेम के सिक्के पूजते हैं और चक्रांकित चक्रतीर्थ से ले आते हैं ॥ ३ ॥ उपासना के अनेक भेद हैं, कहां तक विस्तार किया जाय ? अपनी श्रद्धा के अनुसार सभी उपासना करते हैं ॥ ४ ॥ पर पहले उन सब का कारण जो ' स्मरण ' है उसका विचार करना चाहिए । सब देवता उसी के अंश हैं ॥ ५ ॥ आदि में दृष्टा देव एक ही है । उसीके अनेक हो गये हैं । विवेक से यह बात ध्यान में आ जाती है ॥ ६ ॥ देह के बिना भक्ति नहीं हो सकती और न परमेश्वर प्रसन्न हो सकता है । इस लिए भजन का मूल देह ही है ॥ ७ ॥ यदि देह पहले ही से व्यर्थ मान लिया जाय तो भजन कैसे हो सकता है ? सारांश, देह और आत्मा के ही योग से भजन हो सकता है ॥ ८ ॥ देह के बिना ईश्वर का भजन-पूजन, महोत्सव, इत्यादि बातें कैसे हो सकती हैं ? ॥ ९ ॥ अंतर, चन्दन, पत्र, पुष्प, फल, तांबूल, धूप, दीप, नैवेद्य, आदि से देह के बिना, पूजा किस प्रकार हो सकती है ? ॥ १० ॥ देव का तीर्थ लेना, उसके चन्दन लगाना, उस पर पुष्प चढ़ाना, इत्यादि बातें देह बिना कैसे हो सकती हैं ॥ ११ ॥ सारांश, देह के बिना कोई काम हो नहीं सकता, देह से ही भजन हो सकता है ॥ १२ ॥ देव, देवता, भूत, (प्राणिमात्र) दैवत, इत्यादि सब में परमात्मा भरा हुआ है, अतएव योग्यता के अनुसार सब को प्रसन्न रखना चाहिए ॥ १३ ॥ सब का जो सन्मान किया जाता है वह मूल (परमात्मा) को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥ मायावल्ली फैली हुई है, नाना प्रकार के देहफलों से लदी हुई है, फलों में मूल की चेतना मालूम हो जाती है ॥ १५ ॥ इस लिए उदासीनता न दिखलाना चाहिए । जो देखना हो वह यहीं देख लेना चाहिए और विश्वास हो जाने पर समाधान से रहना चाहिए ॥ १६ ॥ अनेक प्राणी संसार छोड़ कर देव को ढूँढते फिरते हैं, परन्तु वे जहां जाते हैं वहां नाना प्रकार के सदेहों में पड़ते हैं ॥ १७ ॥ सर्वसाधारण लोगों में से कोई तो घर में ही देवतार्चन करते हैं और इधर इधर भ्रमण करके क्षेत्रों के देवताओं का दर्शन करते हैं ॥ १८ ॥ अथवा नाना अवतारों की ही कथा सुन कर अपना निश्चय करते हैं; परन्तु उसका बड़ा विस्तार है ॥ १९ ॥ कोई

ब्रह्मा, विष्णु, महेश को कथा सुन कर उन्हींको बडा मानते हैं; परन्तु सब से पहले उस गुणातीत जगदीश को देखना चाहिए ॥ २० ॥ परन्तु उस जगदीश्वर का तो कहीं-ठौर ठिकाना ही नहीं है; भजन किया जाय तो कहां? यह बड़े सन्देह की बात है ॥ २१ ॥ जब उस परमात्मा का दर्शन ही नहीं कर सकते तब पवित्र कैसे होंगे? अतएव साधु लोग, जो सब जानते हैं, उन्हें धन्य है ॥ २२ ॥ पृथ्वीमण्डल में अनेक देवता हैं; उन पर अविश्वास किया नहीं जा सकता और इधर मुख्य देवता, (परमात्मा) अनेक प्रयत्न करने पर भी, मालूम नहीं होता ॥ २३ ॥ तो, कार्य (माया, दृश्य) को अलग करके, तब उस परमात्मा को देखना चाहिए; तभी कुछ गौप्य या गुह्य मालूम हो सकता है ॥ २४ ॥ वह न दिखता है न भासता है, वह कल्पान्त में भी नाश नहीं होता और सुकृत के बिना उस पर मन विश्वास नहीं करता ॥ २५ ॥ कल्पना बहुत तर्कना करती है, वासना बहुत इच्छा करती है और अतःकरण में नाना तरंगें उठती हैं ॥ २६ ॥ इस लिए जो कल्पना रहित है वही वस्तु शाश्वत है, उसका अन्त नहीं है, इसी लिए उसे अनन्त कहते हैं ॥ २७ ॥ उसे ज्ञान-दृष्टि से देखना चाहिए, देख कर वहीं रहना चाहिए, निदिध्यास तथा संगत्याग से तद्रूप होना चाहिए ॥ २८ ॥ उसकी अनन्त लीलाएं और अनेक विचित्रताएं यह विचारा चंद्र जीव क्या जान सकता है? परन्तु सन्तसमागम से, स्वानुभव होने पर, वह स्थिति प्राप्त होती है ॥ २९ ॥ और उस स्थिति के प्राप्त होने पर अधोगति मिट जाती है । इस प्रकार सद्गुरु की सेवा से तत्काल सद्गति मिलती है ॥ ३० ॥

छठवाँ समास—बुद्धिवाद ।

॥ श्रीराम ॥

परमार्थी और विवेकी पुरुष का कार्य सब को पसन्द आता है; क्योंकि वह सब- काम विचारपूर्वक करता है और भूल नहीं पड़ने देता ॥ १ ॥ जो बात लोगों को पसन्द नहीं आती वह बात उक्त पुरुष कभी करता ही नहीं । वह आदि से अन्त तक, सब बातें समझ लेता है ॥ २ ॥ जो स्वयं निस्पृहता का आचरण नहीं करता उसका कहना भी कोई नहीं मानना । बात तो यह है, कि इस जगद्रूप परमात्मा को राजी

रखना कठिन है ॥ ३ ॥ कोई जबरदस्ती मंत्र देकर गुरु बनना चाहते हैं ।
 कोई किसीको मध्यस्थ नियत करके गुरु बनने का प्रयत्न करते हैं; पर ऐसे
 सनुष्य, लालच के कारण, स्वाभाविक ही लोगों को दृष्टि से उन्नत जाते हैं
 ॥ ४ ॥ जिसे विवेक बतलाना है वही यदि प्रतिकूल दृष्टि तो फिर आगे
 का 'कारवार' कैसे बन सकता है ? ॥ ५ ॥ कमी कमी फ्या देखा गया
 है कि, भाई का गुरु भाई ही बन बैठता है; पर इससे आगे चल कर बड़ी
 बुराई पैदा हो जाती है, अतएव पहचान के लोगों में महन्तपन न फैलाना
 चाहिए ॥ ६ ॥ ऐसा करते हुए पहले तो अच्छा लगता है; पर पीछे से
 गडबड़ मचती है । विवेकी पुरुष ऐसी बात को कैसे पसन्द कर सकते हैं ?
 हाँ, अत्रिचारी लोग भले ही जमा हो जायें ! ॥ ७ ॥ पति शिष्य और
 पत्नी गुरु-यह भी एक विचित्र ही बात है ! नाना प्रकार के भ्रष्टाचारों में
 यह भी एक है ॥ ८ ॥ विवेक, प्रकट करके, लोगों से बतलाता नहीं-गुप्त
 रखता है और मुख्य निश्चय अनुमान में आने ही नहीं देता ॥ ९ ॥ अभि-
 मान में आ जाता है, कोई विवेक बतलाता है तो उसे ग्रहण नहीं करता ।
 ऐसे पुरुष दूरदर्शी साधु नहीं हो सकते ॥ १० ॥ मेरी राय तो यह है कि,
 किसीसे कुछ भी न माँगते हुए भगवद्भजन बढ़ाना चाहिए और विवेक-बल
 से लोगों को भजन में लगाना चाहिए ॥ ११ ॥ विवेक के साथ, दूसरे का
 मन रख कर, अपनी इच्छा स्वधर्म और लोकाचार के अनुसार (अर्थात्
 इन तीनों को सम्हालकर) काम करना बहुत कठिन है ॥ १२ ॥ यदि स्वयं
 किसी म्लेच्छ को गुरु करके चमारों को शिष्य बनाते फिरें तो इससे समुदाय
 भ्रष्ट हो जायगा ॥ १३ ॥ अतएव ऐसा न करके ब्राह्मणमंडलियाँ एकत्र
 करनी चाहिए, भक्तमंडलियों का मान करना चाहिए ॥ १४ ॥ जो बात
 उत्कट और भव्य हो वही ग्रहण करना चाहिए, सभी संशयित बातों का
 त्याग करना चाहिए और निस्पृहता से भूमंडल में विख्यात होना चाहिए
 ॥ १५ ॥ लिखाना, पढ़ना, अर्थ कहना, गाना, नाचना, और पाठ करना
 आदि सभी बातें अच्छी होनी चाहिए ॥ १६ ॥ दक्षि और मैत्री अच्छी
 होनी चाहिए, 'राजकारण' (राजनीति-) विषयक तीक्ष्ण बुद्धि भी चाहिए
 पर अपने को नाना प्रकार से अलिप्त रखना चाहिए ॥ १७ ॥ हरिकथा से
 सदा सर्वदा प्रेम रहना चाहिए ताकि सम्पूर्ण लोगों को भी नानस्मरण से
 प्रीति हो । सूर्य की तरह प्रभावशाली उपदेश करना चाहिए ॥ १८ ॥ दुर्ज-
 नों को संभालना, सज्जनों को प्रसन्न करना और सब के मन की बात जैसी
 की तैसी, जानना चाहिए ॥ १९ ॥ ऐसे साधु पुरुष की संगति से लोग सदा-
 चरणी बनते हैं-उनमें उत्तम गुणों का तत्काल ही उत्थान होता है और
 सारा समुदाय, अखंड रीति से, अभ्यास में जुटता है ॥ २० ॥ वह पुरुष

जहाँ जाता है वहीं नित्य नया लगता है, लोगों का मन चाहता है कि यह यहीं बना रहे । परन्तु वह स्वयं लालच नहीं आने देता ॥ २१ ॥ उत्कट भक्ति, उत्कट ज्ञान, उत्कट चातुर्य, उत्कट भजन, और उत्कट योगअनुष्ठान आदि सभी उत्कट गुणों का वह जगह जगह प्रचार करता रहता है ॥ २२ ॥ जो उत्कट निस्पृहता धारण करता है उसकी कीर्ति दिक्दिगांतर में फैलती है और उत्कट भक्ति से सारे देश का जन समूह शान्ति प्राप्त करता है ॥ २३ ॥ कुछ न कुछ उत्कट बात जब तक मनुष्य में न होगी तब तक कीर्ति कदापि नहीं फैल सकती । व्यर्थ बन बन घूमने से क्या होता है ? ॥ २४ ॥ देह का कुछ भरोसा नहीं है, न जाने कब उम्र व्यतीत हो जाय, कौन जानता है कि आगे कैसा प्रसंग (इस शरीर पर) आ पड़ेगा ? ॥ २५ ॥ इस कारण सावधान रहना चाहिए जितना अपने से हो सके, उतना जी जान तोड़ कर, परोपकार करना चाहिए और भगवत्कीर्ति से भूमंडल भर देना चाहिए ॥ २६ ॥ अपने को जो कुछ अनुकूल हो, वह सब तत्काल-उसी दम-करना चाहिए और जो बात अपने से न हो सके उसे विमल विवेक से सोचना चाहिए ॥ २७ ॥ क्योंकि ऐसी तो कोई बात नहीं है जो विवेक में न आ सकती हो-एकान्त में विवेक प्रत्येक बाल को अनुमान में ले ही आता है ॥ २८ ॥ जहाँ अखंड रीति से अनेक 'तजवीजें' और 'चेष्टायें' होती रहती हैं वहाँ कमी किस बात की? विना एकान्त के मनुष्य की बुद्धि उपयोग में कैसे आ सकती है ? ॥ २९ ॥ अतएव, एकान्त में विवेक करना चाहिए, आत्माराम को पहचानना चाहिए-यहाँ से वहाँ तक किसी प्रकार का गडबड नहीं है ॥ ३० ॥

सातवाँ समास-प्रयत्नवाद ।

॥ श्रीराम ॥

हरिकथा की धूम लोगों में मचा देना चाहिए, और अध्यात्म-निरूपण का व्याख्यान करना चाहिए । किसी विषय में न्यूनता न होने देना चाहिए ॥ १ ॥ उपदेशक यदि भूल जाता है तो यह बात उपदेशक ही जान सकता है, अन्य अज्ञान लोग टुकुर-टुकुर देखते रह जाते हैं ॥ २ ॥ किसी बात का समाधान करने में यदि वक्ता को देर लग जाती है तो श्रोता लोगों में उसका महत्व नहीं रहता ॥ ३ ॥ व्यर्थ बहुत न बक कर

थोड़े ही में समाधान कर देना चाहिए । यदि श्रोताओं पर क्रोध किया हो तो फिर उनका मन भी समझा देना चाहिए, सम्पूर्ण मनुष्यों का मन हरण कर लेना चाहिए ॥ ४ ॥ जिसमें सहनशीलता नहीं होती, व्यर्थ क्रोध दिखलाता है, उसकी तामस वृत्ति लोगों में प्रकट हो जाती है और श्रोता लोगों का प्रेम उस पर नहीं रहता ॥ ५ ॥ किन किन लोगों को राजी रखा और किनका किनका मनोभंग किया, इसकी क्षण क्षण पर परीक्षा करते रहना चाहिए ॥ ६ ॥ शिष्य तो विकल्प के कारण कुमार्ग से जाता है और गुरु भी लालच से उसके पीछे पीछे चलता है—यह सारा विकल्प ही समझिये ॥ ७ ॥ जो आशाबद्ध और क्रियाहीन है, जिसमें चातुर्य का लक्षण नहीं है, ऐसे महन्त की महंती की बड़ी दुर्दशा होती है ॥ ८ ॥ ऐसे गोस्वामियों का वजन (गौरव) नहीं रहता, वे ठौर ठौर में कष्टी होते हैं । इस प्रकार जब वेही स्वयं कष्ट उठाते हैं तब उनके साथ के लोग सुख कहां से पावेंगे ? ॥ ९ ॥ लोगों को राजी रख कर सब कार्य इस रीति से करना चाहिए कि, जिससे चारों ओर कीर्ति फैले और सब लोगों में उत्कंठा पैदा हो ॥ १० ॥ परकीय लोगों में रहते हुए, अलिप्त रह कर, समुदाय पर दृष्टि रखना चाहिए और किसी से कुछ न माँगना चाहिए—पूर्ण निस्पृहता चाहिए ॥ ११ ॥ जिस ओर जगत् (बहुमत) होता है उसी ओर जगन्नायक (परमेश्वर) होता है । यह विवेक मालूम होना चाहिए । विवेकी पुरुष रात दिन अनेक लोगों को संभासते रहते हैं ॥ १२ ॥ यह कैसे हो सकता है कि, स्वयं केवल अच्छा हो और सब लोग खराब हों ? ॥ १३ ॥ उजाड़ 'मुल्क' में क्या देखें ? लोगों को छोड़ कर कहां रहें ? वाहियात और मिथ्या छोड़ कर, सत्य का ग्रहण करना चाहिए ॥ १४ ॥ अतएव, जिसे लोगों में वर्ताव करना नहीं आता उसे महंती से कुछ काम नहीं । ऐसे पुरुष को चाहिए कि, वह परब्रह्मसाधन का उपाय श्रवण करके योही बना रहे ! ॥ १५ ॥ जो स्वयं भली तरह तैरना नहीं जानता उसे दूसरे लोगों को डुबाने से क्या मतलब ? ऐसी दशा में प्रेम-प्रीति तो व्यर्थ जाती है, सारा विकल्प ही रह जाता है ॥ १६ ॥ यदि लोगों को संभालने का सामर्थ्य हो तो महंत बन कर प्रगट होना चाहिए; अन्यथा चुप ही रहना अच्छा ! प्रगट होकर और फिर कार्य विगाड़ना अच्छा नहीं ॥ १७ ॥ मन्द मन्द चलनेवाला चपल चालाक को कैसे सम्हाल सकता है ? सोचिये तो सही कि, अरबी (घोड़ा) फिरानेवाला कैसा होना चाहिए ? (चालाक या मन्द ?) ॥ १८ ॥ ये काम बड़े अटपट हैं ! ये तीक्ष्ण बुद्धि के रहस्य भाले-भाले भाव से कैसे जाने जा सकते हैं ? ॥ १९ ॥ यदि खेत करके रखाया न जाय, व्यापार करके भ्रमण न किया जाय, और लोग इकट्ठा ककरे

उन्हें सम्हाल न सके (तो काम कैसे चल सकता है ?) ॥ २० ॥ जब 'दिन
 दूना रात चौगुना' उत्साह बढ़ता है तभी परमार्थ प्राप्त होता है । घिस घिस
 मचाने से सारा समुदाय विगड़ जाता है ॥ २१ ॥ अपनी बात यदि लोगों
 को पसन्द नहीं है' और लोगों की बात यदि अपने को पसन्द नहीं है, तो
 सारा विकल्प ही समझो । ऐसी दशा में समाधान का ठिकाना कहां ?
 ॥ २२ ॥ जहां सत्यानाशी दीक्षा देनेवाले (गुरु) और ठग लोग (शिष्य)
 जमा होते हैं वहां विवेक कैसे रह सकता है ? और जहां अविवेक का
 राज्य हो वहां रहना अच्छा नहीं ॥ २३ ॥ कई लोग बहुत दिन श्रम करते
 हैं; पर अन्त में सब व्यर्थ जाता है—यदि अपने से हो ही नहीं सकता तो
 फिर उपाधि बढ़ाना ही क्यों चाहिए ? ॥ २४ ॥ नियम के साथ यदि चल
 सका तब तो वह उद्योग ठीक है; नहीं तो सारा संताप ही है । जण जण
 में विक्षेप आते हैं, कहां तक बतलाये जायें ? ॥ २५ ॥ मूर्ख लोग संसार में
 मूर्खता से भटकते हैं और ज्ञाता लोग भी वाद-विवाद करके कलह मचाते
 हैं; परन्तु ये दोनों निन्दनीय हैं ! ॥ २६ ॥ ये लोग 'कारबार तो सम्हाल
 सकते नहीं- और इधर चुप बैठे भी नहीं रहा जाता । इसमें दूसरों का क्या
 दोष है ? ॥ २७ ॥ सच तो यह है कि, नष्ट उपाधि को छोड़ देना चाहिए
 और सब जगह परिभ्रमण करते हुए अपना जीवन सार्थक करना चाहिए
 ॥ २८ ॥ जो परिभ्रमण भी नहीं कर सकता और दूसरे की सह भी नहीं
 सकता उसे विकल्प की अनेक यातनाएं भोगनी पडती हैं ॥ २९ ॥ अस्तु;
 अपनी मलाई अपने हाथ है । अपने ही मन में सोचना चाहिए और जैसा
 जान पड़े वैसा वर्ताव करना चाहिए ॥ ३० ॥

आठवां समास—उपाधि-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

सृष्टि में बहुत प्रकार के लोग हैं, परिभ्रमण करने से सब कौतुक मालूम
 हो जाता है और नाना प्रकार के विचार मिलने लगते हैं ॥ १ ॥ कितने
 ही सांसारिक ऐसे मिलते हैं कि, जिन की वृत्ति अखंड रीति से उदासीन
 रहती है और सुख-दुःख में जिनका समाधान नहीं डिगता ॥ २ ॥ वे
 स्वाभाविक ही मित बोलते हैं; निश्चयपूर्वक चलते हैं । उनके बोलने की
 शैली ऐसी अपूर्व होती है कि, उसे सब मानते हैं ॥ ३ ॥ तालज्ञान, राग-

ज्ञान, नीति-न्याय इत्यादि बातें उन्हें स्वाभाविक ही मालूम होती हैं ॥४॥ एक आध ऐसा शूर पुरुष मिल जाता है कि, जिससे सदा सब लोग राजी रहते हैं और जिसके विषय में प्राणिमात्र की प्रीति नित्य नई होती जाती है ॥ ५ ॥ अकस्मात् बहुत कुछ मिल जाता है, किसी महापुरुष के दर्शन हो जाते हैं और अचानक उसीमें महंत के सब लक्षण जान पड़ने लगते हैं ॥ ६ ॥ ऐसा मनुष्य मिलने पर उसके चमत्कार से गुणग्राहक पुरुष मोह जाते हैं; क्योंकि, उसका आचार और उपदेश अनुभवयुक्त तथा निश्चित होता है ॥ ७ ॥ अपने अवगुण ही गुण मालूम होना सब अवगुणों से श्रेष्ठ अवगुण है । यह बड़ा भारी पाप-इससे दरिद्रता नहीं मिट सकती ॥ ८ ॥ बहुत ध्यानपूर्वक करने से जो काम नहीं होता वह सदा नैसर्गिक रीति से हो जाता है । उसमें दौंव-पेंच की आपदा से काम नहीं पड़ता ॥ ९ ॥ किसीको अभ्यास करने से भी नहीं आता और किसीको सहज ही आ जाता है । भगवान् की महिमा कैसी क्या है-सो मालूम नहीं होती ॥१०॥ बड़े बड़े राजनैतिक विषयों में भूल पड़ जाती है, विघ्न उपस्थित होते हैं । इस प्रकार की अनेक भूलों से चारों ओर निन्दा होती है ॥ ११ ॥ अतएव भूलाना न चाहिए । इससे सब उपाय ठीक बन जाते हैं, परन्तु भूलने से उपाय भी 'अपाय' (विघ्न) हो जाते हैं ॥ १२ ॥ क्या भूल हुई, सो मालूम ही नहीं होती, मनुष्य का मन ही नहीं झुकता और अभिमान न झटने के कारण दोनों लोक में दुर्दशा होती है ॥ १३ ॥ सारी संस्थाएं नाश हो जाती हैं, लोगों के मन टूट जाते हैं; परन्तु यह मालूम ही नहीं होता कि, युक्ति में भूल कहाँ होती है ! ॥ १४ ॥ उद्योग के विना जो कारवार किया जाता है वह सारा विगड़ता ही जाता है । इसका कारण यही है कि, दूरदर्शिता से उसमें बुद्धि का बंध नहीं बांधते ॥ १५ ॥ कोई कोई मनुष्य ऐसा मूढ होता है कि, उसका काम ही बावले का सा होता है । ऐसा पुरुष नाना विकल्पों का जाल फैला देता है ॥ १६ ॥ वही जाल अपने से सुरक्षित नहीं सकता, दूसरे को कुछ भी मालूम नहीं होता । विकल्प से कल्पना ठौर ठौर में नाचती है ॥ १७ ॥ वे गुप्त कल्पनाएं किसे मालूम हों ? कौन आकर उन्हें सम्हाले ? जो कल्पनाओं में फसा है, उसीको अपनी बुद्धि दृढ करनी चाहिए ॥ १८ ॥ जो उपाधि को सम्हाल नसके उसे उपाधि बढ़ानी ही न चाहिए । चित्त सावधान करके समाधान-पूर्वक रहना चाहिए ॥ १९ ॥ दौड़ दौड़ कर उपाधि लपटता है, स्वयं कष्ट सह कर लोगों को भी कष्टी करता है । ऐसी कुसमुस की बातें काम नहीं आती ॥ २० ॥ जनसमुदाय बहुत कष्टी होता है, स्वयं भी अत्यन्त नष्ट होता है । न्यर्थ के लिए क्यों यह गडबड करता है ? ॥ २१ ॥ अस्तु ।

उपाधि का काम ऐसा है । कुछ अच्छा है, कुछ बुरा है । सब समझ कर बर्ताव करना अच्छा होता है ॥ २२ ॥ सब लोगों में भक्ति नहीं होती, अतएव हमें उन्हें जागृत करना चाहिए । परन्तु अन्त में किसी पर दोष न आने देना चाहिए ॥ २३ ॥ बुरा भला सब अन्तरात्मा करता है, निर्गुण सब से अलिप्त है । सारे गुण-अवगुण चंचल (अन्तरात्मा) में होते हैं ॥ २४ ॥ शुद्ध विश्रान्ति का स्वरूप एक निर्मल निश्चल ही है । वहाँ सारे विकार ही निर्विकार हो जाते हैं ॥ २५ ॥ वहाँ सारे उद्वेग नष्ट हो जाते हैं, मन को विश्रान्ति मिलती है-ऐसी दुर्लभ परब्रह्मस्विति विवेक से प्राप्त करनी चाहिए ॥ २६ ॥ वास्तव में यह समझना चाहिए कि, हमारे तई उपाधि बिलकुल ही नहीं है-ये सब कर्मयोग से मिले हैं; इनके लयोग-वियोग से कोई छानि नहीं ॥ २७ ॥ जो उपाधि से घबड़ाता है उसे शान्त होकर बैठना चाहिए; जिस बात को संभाल न सके उसका गडबड ध्यो करना चाहिए ? ॥ २८ ॥ कुछ गडबड में और कुछ शान्ति में समय व्यतीत करते रहना चाहिए, जिससे अपने को समय और विश्रान्ति मिले ॥ २९ ॥ उपाधि कुछ सदा रहती नहीं, समाधान के समान और कुछ श्रेष्ठ नहीं, तथा नरदेह बारबार नहीं मिलती ॥ ३० ॥

नववाँ समास-राजनीति का व्यवहार ।

॥ श्रीराम ॥

जो शानी और उदास है तथा जिसे समुदाय एकत्र करने का उत्साह है उसे अखंड रीति से एकांत सेवन करना चाहिए ॥ १ ॥ क्योंकि एकान्त में तजवीजें मालूम होती हैं अखंड चेष्टाएं सूझती हैं और प्राणिमात्र की स्थिति तथा गति मालूम हो जाती है ॥ २ ॥ यदि वह चेष्टा ही न करेगा तो कुछ भी न मालूम होगा । हाँ, जो दिवालिया होता है वह जमा-खर्च अवश्य ही नहीं देखता ॥ ३ ॥ कोई धन-दौलत कमाते हैं और कोई अपने पास का माल भी गधों बैठते हैं । ये सब उद्योग की बातें हैं ॥ ४ ॥ मन की बात पहले ही समझ लेने से अनिष्ट होने की सम्भावना नहीं रहती ॥ ५ ॥ एक स्थान में बहुत रहने से लोग ढिंढाई करने लगते हैं-अति परिचय से अवज्ञा होती है-अतएव एक जगह बहुत रह कर विश्रान्ति न लेते रहना चाहिए ॥ ६ ॥ आलस से सारा 'कारबार' डूब जाता है,

और समुदाय का उद्देश पूरा नहीं होता ॥ ७ ॥ अतएव उपासना के अनेक कार्य, नित्यनियम के साथ, लोगों के पीछे लगा देना चाहिए । ऐसा करने से उन्हें अन्य कृत्रिम कामों के करने का मौका ही न मिलेगा ॥ ८ ॥ जान-बूझ कर चोर को भंडारो बनाना चाहिए, परन्तु दौप देखते ही उसे संभालना चाहिए और धीरे धीरे उसकी मूर्खता दूर करनी चाहिए ॥ ९ ॥ ये सारी अनुभव की बातें हैं । किसी प्राणी को दुःख न होने पावे; परन्तु राजनीति से सारे लोगों को फाँस लेना चाहिए ॥ १० ॥ नष्ट पुरुष के लिये नष्ट की योजना कर देनी चाहिए और वाचाल से वाचाल को भिड देना चाहिए, पर अपने ऊपर विकल्प का जाल न आने देना चाहिए ॥ ११ ॥ काँटा से काँटा निकालना चाहिए-निकालना चाहिए; पर मालूम न होने देना चाहिए । कलहकर्ता की पदवी न आने देना चाहिए ॥ १२ ॥ गुप्त रीति से-किसी को मालूम न होते हुए-जो काम किया जाता है वह तत्काल सिद्धि को प्राप्त होता है, गचपत्र में पडने से वही काम विशेष सूत्री के साथ नहीं होता ॥ १३ ॥ (किसीका यश) सुन कर (उसके विषय में) प्रीति होनी चाहिए, उसे देख कर वह प्रीति और भी दृढ होनी चाहिए, तथा अति परिचय होने पर उसकी सेवा करनी चाहिए ॥ १४ ॥ कोई भी काम हो, वह करने से होता है, न करने से पिछल जाता है । इस लिये ढीलेपन से न रहना चाहिए ॥ १५ ॥ जो दूसरे पर विश्वास करता है उसका कारबार डूब जाता है । अतएव, वास्तव में योग्य पुरुष वही है, जो स्वयं कष्ट उठाते हुए, आत्मविश्वास रख कर, अपना काम सम्हालता है ॥ १६ ॥ सब को सब बातें न मालूम होने देना चाहिए; क्योंकि ऐसा होने से उन बातों का महत्व नहीं रहता ॥ १७ ॥ मुख्य सूत्र हाथ में लेना चाहिए, जो कुछ करना हो वह सब जनसमुदाय के द्वारा करवाना चाहिए । अनेक राजनैतिक गूढ प्रश्नों को हल करना चाहिए ॥ १८ ॥ वाचाल, पहलवान और कलहकर्ताओं को भी अपने हाथ में रखना चाहिए । परन्तु ऐसा न हो जाय कि, सारे दुर्जन ही दुर्जन 'राजकारण' में भर जायें ॥ १९ ॥ विरोधियों को भेद से पकड़ में लाना चाहिए और उनको रगड कर पीस डालना चाहिए, पर फिर पीछे से उन्हें संभाल लेना चाहिए विलकुल नष्ट न कर देना चाहिए ॥ २० ॥ दुष्ट दुर्जनों से डर जाने पर 'राजकारण' (राजनीति) का महत्व नहीं रहता; किन्तु बुरी भली सब बातें खुल जाती हैं ॥ २१ ॥ मनुष्य-समुदाय तो बहुत बड़ा चाहिए ही परन्तु आक्रमणशक्ति भी दृढ चाहिए, परन्तु ध्यान में रहे कि, मठ बना कर-समुदाय एकत्र करके-फिर अकडवाजी न करना चाहिए ॥ २२ ॥ दुर्जन प्राणी अपने मन ही मन में जान लेना चाहिए, पर उनके

विषय में कुछ प्रकट न करना चाहिए । इसके विरुद्ध, उन्हें महत्व देकर सज्जन की तरह उनकी विनती करना चाहिए । और मौका देख कर अपना बदला लेना चाहिए ॥ २३ ॥ लोगों में दुर्जन के प्रगट हो जाने पर बहुत सी खटखटे मचती हैं । इस लिए उस मार्ग ही को नष्ट कर देना चाहिए ॥ २४ ॥ ऐसा परमार्थ का पक्षपाती-धर्मात्मा-राजा चाहिए कि, शत्रुसेना को देखते ही रणशूरो की भुजाएं फड़कने लगे ॥ २५ ॥ उसको देखते ही दुर्जनों की छाती दहल उठती है । वह अनुभव के हथकंडे चलाता है और उसके द्वारा उपद्रव तथा पाखंड सहज ही नाश हो जाते हैं ॥ २६ ॥ ये सब धूर्तपन-चाणाक्षता-के काम हैं । राजनैतिक विषयों में दृढता चाहिए । ठीलेपन के भ्रम में न पड़ना चाहिए ॥ २७ ॥ (जो चतुर राजनैतिक होता है वह) कहीं भी देख नहीं पड़ता; पर ठौर ठौर में उसीकी बाते होती रहती हैं और अपने वाग्वित्वास से वह सारी सृष्टि को मोहित कर लेता है ॥ २८ ॥ भौंदू के साथ भौंदू लगा देना चाहिए, दूंस के साथ दूंस को मिड़ाना चाहिए और मूढ के सामने दूसरा मूढ खड़ा कर देना चाहिए ॥ २९ ॥ लहू का सामना लहू ही से करा देना चाहिए, उद्धट के लिए उद्धट चाहिए और नटखट के सामने नटखट की ही आवश्यकता है ॥३०॥ जैसे को तैसा जब मिलता है तभी किसी संस्था की मजा देख पडती है । इतना सब हो रहा है, तथापि यह पता न लगना चाहिए कि, धनी-इन सब बातों का कर्ता-कहां है । ॥ ३१ ॥

दसवाँ समास-विवेक का वर्ताव ।

॥ श्रीराम ॥

जो अखण्ड रीति से नाना चेष्टाएं किया करता है, जिसकी धारणा-शक्ति अखण्ड होती है और राजनैतिक दाँव-पेचों को सदा मन में सोचा करता है ॥ १ ॥ वह सारे संसार के उत्तम गुणों का निरूपण करते रहता है और एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोता ॥ २ ॥ वह शास्त्राधार से नाना प्रकार की वक्तृताओं के द्वारा शंका-समाधान किया करता है, सत्य झूठ का निर्णय करता है और सदा चर्चा करता रहता है ॥ ३ ॥ उसे भक्तिमार्ग विशदरूप से मालूम होता है, उपासनामार्ग का वह आकलन करता है, और अतःकरण में ज्ञान-विचार का मनन किया करता है ॥ ४ ॥ वैराग्य उसे बहुत अच्छा लगता है, उदासवृत्ति उसे बहुत प्रिय

होती है; वह विस्तृत उपाधि में पढता है; पर उससे अलिप्त रहता है ॥ ५ ॥ अनेक प्रबन्ध उसे कंठाय रहते हैं, प्रश्नों के उत्तर समर्पक देता है और उचित भाषण से सब के अन्तःकरण शीतल करता है ॥ ६ ॥ लोगों का उस पर बहुत प्रेम होता है, उसके सामने किसी की कुछ भी नहीं चलती । उसके पास अनेक लोग आते हैं पर उसके भीतरी स्वरूप का कोई अनुमान नहीं कर सकता ॥ ७ ॥ उपासना को आगे करके वह सारे देश को व्याप्त कर लेता है और पृथ्वी भर के सब लोग उसे जानते हैं ॥ ८ ॥ जानते तो सब हैं; पर वह मिलता किसीको नहीं ! लोगों को यह भी नहीं मालूम होता कि वह क्या करता है ! अनेक देशों के नाना प्रकार के लोग उसे ढूँढते फिरते हैं ॥ ९ ॥ उन सबों के मन वह अपने हाथ में रखता है, उनके मन को विवेक और विचार से भरता है और अनिश्चित अन्तःकरणों को मनन की ओर लगाता है ॥ १० ॥ यह नहीं मालूम होता कि, उसने कितने लोग इकट्ठा किये हैं—कितना समुदाय उसके पास है—सब लोगों को वह श्रवण-मनन में लगाता है ॥ ११ ॥ अपने समाज को समझाता रहता है, गद्य-पद्य बतलाता रहता है और सदा दूसरों का मन संभालता है ॥ १२ ॥ इस प्रकार जो अखण्ड रीति से विवेक का बर्ताव करता रहता है और सदा सावधान रहता है उसका कोई कुछ नहीं कर सकता ॥ १३ ॥ जितना कुछ अपने को मालूम हो उतना सब धीरे धीरे लोगों को सिखला देना चाहिए । इस प्रकार बहुत लोगों को चतुर बना डालना चाहिए ॥ १४ ॥ नाना प्रकार से सिखाना चाहिए, अडचनों को समझा देना चाहिए और निस्पृहों को चुन चुन कर अपने पास रख लेना चाहिए ॥ १५ ॥ जितना होसके उतना स्वयं करना चाहिए और जो न हो सके वह लोगों से कराना चाहिए । परन्तु साथ ही भगवद्भजन छोड़ देना धर्म नहीं है ॥ १६ ॥ स्वयं करना चाहिए, दूसरों से कराना चाहिए, स्वयं विवरण करना चाहिए, दूसरों से विवरण कराना चाहिए और स्वयं भजनमार्ग को पकड़ना चाहिए और दूसरों को भजन-मार्ग पर लाना चाहिए ॥ १७ ॥ यदि पुराने लोगों में रहते हुए जी उकता जाय तो नूतन प्रान्त को गमन करना चाहिए । जितना कुछ अपने से हो सकता हो उतना करने में आलस न करना चाहिए ॥ १८ ॥ देह का अभ्यास यदि छूट गया तो समझ लेना चाहिए कि, वह महंत बरवाद हो गया । नित्य नये नये लोगों को, झपाटे के साथ, चतुर बनाते रहना चाहिए ॥ १९ ॥ उपाधि में फँसना न चाहिए, उपाधि से घबड़ाना भी न चाहिए । किसी विषय में भी लापरवाही से काम नहीं चलाता ॥ २० ॥ जो काम विगडना होता है वह विगड़ जाता है, लोग पागल की तरह योंही देखा

करते हैं । जो आलसी और हृदयशून्य है वह काम करना क्या जान सकता है ? ॥ २१ ॥ यह धक्का-धक्की का मामला है; अशक्त (निर्बल) से कैसे हो सकता है ? इसी लिए शक्त (बलवान) पुरुष को नाना प्रकार की बुद्धि और युक्ति सिखलानी चाहिए ॥ २२ ॥ जब तक अपने से उद्योग हो सके तब तक रहना चाहिए और न हो सकने पर चले जाना चाहिए । इसके बाद आनन्दरूप होकर चाहे जहाँ फिरना चाहिए ॥ २३ ॥ जो उपाधि से छूट जाता है उसकी निस्पृहता और भी दृढ होती है और आनन्दपूर्वक जिधर चाहता है, चला जाता है ॥ २४ ॥ कीर्ति की ओर देखने से सुख नहीं और सुख की ओर देखने से कीर्ति नहीं । और किये बिना कहीं भी कुछ नहीं ॥ २५ ॥ यो तो क्या रहता है ? जो कुछ होना होता है वह होता ही है; हाँ, मनुष्य केवल अपने ऊपर दुर्बलता का दोष लाद बैठता है ॥ २६ ॥ यदि पहले ही हिम्मत हार जाय—यदि बीच ही में धैर्य छूट जाय—तो फिर इस संसार को पार कैसे हों ? ॥ २७ ॥ संसार तो आदि ही से खराब है; उसे विवेक से अच्छा कर लेना चाहिए । परन्तु अच्छा करने से वह और भी फीका हो जाता है ॥ २८ ॥ विचार करने से ऐसी इस संसार की दशा मन में आ जाती है; परन्तु किसी को धीरज न छोड़ना चाहिए । ॥ २९ ॥ क्योंकि धीरज छोड़ने से क्या होता है ? सब कुछ सहना ही पड़ता है चतुर मनुष्य नाना प्रकार की बुद्धि और नाना मत जानता है ॥ ३० ॥

बीसवाँ दशक ।



पहला समास-पूर्ण और अपूर्ण ।

॥ श्रीराम ॥

जीव, मन पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश, त्रिगुण, अन्तरात्मा और मूल माया सब व्यापक है ॥ १ ॥ निर्गुण ब्रह्म भी व्यापक है-इस प्रकार ये सभी व्यापक हैं-तो फिर क्या सब समान ही है या कुछ भेद है ? ॥ २ ॥ यह भी एक सन्देह की बात है कि, लोग आत्मा को निरंजन कहते हैं । आत्मा सगुण है या निर्गुण ? अथवा निरंजन है ॥ ३ ॥ इस प्रकार श्रोता आशंका करने लगा ॥ ४ ॥ अच्छा, अब आशंका का उत्तर नुनो, सारा गडबड ही न कर डालो ! विवेक को प्रकट करके अनुभव प्राप्त करो ॥ ५ ॥ शरीर और सामर्थ्य के अनुसार जीव की व्यापकता होती है-पर मन के समान वह चपल नहीं है ॥ ६ ॥ चपलपन एकदेशीय है-उसमें पूर्ण व्यापकता नहीं है । पृथ्वी की भी मर्यादा है ॥ ७ ॥ उसी प्रकार आप और तेज भी स्वाभाविक ही अपूर्ण दिखते हैं । वायु को भी चपल और एकदेशीय समझो ॥ ८ ॥ हाँ, आकाश और निराकार परब्रह्म निस्सन्देह पूर्ण व्यापक है ॥ ९ ॥ त्रिगुण और माया का भी नाश हो जायगा; अतएव ये भी अपूर्ण तथा एकदेशीय हैं-पूर्ण और व्यापक नहीं है ॥ १० ॥ आत्मा और निरंजन, दोनों अलग अलग हैं । अब इनका भेद ठीक ठीक बतलाते हैं ॥ ११ ॥ आत्मा, (अर्थात् मन) अत्यन्त चपल है, इस कारण यह व्यापक नहीं हो सकता । यह बात, अन्नःकरण को विमल और सुचित्त करके, समझनी चाहिए ॥ १२ ॥ वह (आत्मा या मन) यदि आकाश में रहता है तो पाताल में नहीं रहता और यदि पाताल में रहता है तो आकाश में नहीं रहता; अर्थात् चागे और पूर्ण नहीं रहता ॥ १३ ॥ उसे यदि आगे रखते हैं तो पीछे नहीं रहता । इसमें मन की अपूर्णता का अनुभव हो सकता है ॥ १४ ॥ पर-ब्रह्म के लिए सूर्य का भी दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता; क्योंकि सूर्य का उदय और अस्त है, परन्तु परब्रह्म सदाव्यय और निर्गुण है ॥ १५ ॥ हाँ, अन्तरात्मा, महाकाश और महानाकाश का दृष्टान्त अवश्य निर्गुण परब्रह्म के लिए लगना है ॥ १६ ॥ ब्रह्म का अंश आकाश है और आत्मा का अंश मन है-दोनों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए ॥ १७ ॥

अन्न आकाश और मन दोनों समान कैसे हो सकते हैं? मननशील महापुरुष सब जानते हैं ॥ १९ ॥ मन यदि आगे मँडराया करता है तो पीछे कुछ भी नहीं रहता-फिर उसकी समता पूर्ण आकाश के साथ कैसे की जा सकती है? ॥ २० ॥ परब्रह्म को भी अचल कहते हैं और इधर पर्वत को भी अचल ही कहते हैं; पर दोनों को एक कैसे कह सकते हैं? ॥ २१ ॥ ज्ञान; अज्ञान और विपरीत ज्ञान, तीनों एक समान कैसे हो सकते हैं? इसका अनुभव, मनन करके, प्राप्त करना चाहिये ॥ २२ ॥ ज्ञान कहते हैं जानने को, अज्ञान कहते हैं न जानने को और विपरीत ज्ञान कहते हैं कुछ के कुछ जानने को ॥ २३ ॥ जानने और न जानने को अलग करने से स्थल पञ्चभौतिक रह जाता है, इसीको विपरीत ज्ञान जानना चाहिए* ॥ २४ ॥ द्रष्टा, साक्षी, और अन्तरात्मा ही जीवात्मा है। जीवात्मा ही शिवात्मा है। फिर शिवात्मा ही जीवात्मा (होकर) जन्म लेता है ॥ २५ ॥ आत्मत्व में जन्म-मरण लगता है, आत्मत्व में जन्म-मरण भंग नहीं होता। “सम्भवामि युगे युगे”-ऐसा वचन है ॥ २६ ॥ एकदेशीय जीव, विचार से विश्वम्भर हो जाता है। परन्तु विश्वम्भर से संसार छूट ही कैसे सकता है? ॥ २७ ॥ वृत्तिरूप से ज्ञान और अज्ञान दोनों समान है निवृत्तिरूप से विज्ञान होना चाहिए ॥ २८ ॥ ज्ञान ने इतना ब्रह्माण्ड बनाया है, उसीने इसे बढाया भी है। वह नाना प्रकार के विकारों का समूह है ॥ २९ ॥ ब्रह्माण्ड का आठवां देह, अर्थात् मूलमाया; वास्तव में ज्ञान ही है; उससे भी परे जो विज्ञानरूप विदेहावस्था है उसे प्राप्त करना चाहिए ॥ ३० ॥

दूसरा समास-त्रिविधा सृष्टि ।

॥ श्रीराम ॥

चञ्चल मूलमाया यदि न हो तो निर्गुण ब्रह्म उसी तरह निश्चल है जैसे गगन या अन्तराल चारों ओर निश्चल है ॥ १ ॥ दृश्य आता है और चला जाता है, पर वह ब्रह्म इस प्रकार निश्चल रहता है जैसे गगन चारों ओर भरा हुआ है ॥ २ ॥ जिधर देखिये उधर ही वह अपार है, उसका

* यह पंचभौतिक पसारा विपरीत ज्ञान है-यह न तो ज्ञान है और न अज्ञान है-यह केवल अज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान है।

किसी ओर पार नहीं है । वह एक ही प्रकार का और स्वतन्त्र है, उसमें
 द्वैत नहीं है ॥३॥ ब्रह्माण्ड के ऊपर बैठ कर-ब्रह्माण्ड को अदृश्य मान कर-
 आकाश के अवकाश को और उसके शून्याकार को अवलोकन करना
 चाहिए-उसकी कल्पना करनी चाहिए । ऐसा करने से मालूम होगा
 कि वहाँ चञ्चल और व्यापक के नाम पर शून्याकार है ॥ ४ ॥ दृश्य को
 विवेक से अलग कर देने पर फिर चारों ओर परब्रह्म ही भरा हुआ है;
 पर वह कभी किसी के ' अनुमान ' में नहीं आता ॥ ५ ॥ नीचे-ऊपर और
 चारों ओर निर्गुण ब्रह्म ही सब जगह दिखता है । उसका अन्त पाने के
 लिए मन किस ओर दौड़ेगा ? ॥ ६ ॥ दृश्य चलता है, ब्रह्म अचल है,
 दृश्य जान पड़ता है, ब्रह्म जान नहीं पड़ता और दृश्य का कल्पना को
 आकलन होता है; परन्तु परब्रह्म का नहीं होता ॥ ७ ॥ कल्पना कोई
 चीज नहीं, परन्तु ब्रह्म सर्वत्र भरा हुआ है । महावाक्य के अर्थ का मनन
 करते रहना चाहिए ॥ ८ ॥ परब्रह्म के समान और कोई श्रेष्ठ नहीं है,
 श्रवण को छोड़ कर कोई साधन नहीं है और बिना जाने कुछ भी समा-
 धान नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ पिपीलिका-मार्ग से धीरे धीरे मालूम होता
 है और विहंगम-मार्ग से शीघ्र फल मिलता है । साधक जन मनन में
 प्रवेश करता है तब कल्याण होता है ॥ १० ॥ परब्रह्म के समान दूसरा
 कुछ भी सत्य नहीं है । निन्दा और स्तुति की बातें परब्रह्म में नहीं हैं
 ॥ ११ ॥ इस प्रकार परब्रह्म अनुपम है । उसकी बराबरी कोई नहीं कर
 सकता । जो महानुभाव और पुण्यराशि हैं उन्हीं का वहाँ प्रवेश होता
 है ॥ १२ ॥ चञ्चल से दुःखप्राप्ति होती है । निश्चल के समान और कहीं
 विश्रान्ति नहीं है । महानुभाव पुरुष निश्चल को अनुभव से देखते हैं
 ॥ १३ ॥ जो आदि से लेकर अन्त तक विचार किया ही करता है उसको
 अनुभव का निश्चय प्राप्त होता है ॥ १४ ॥ यह कल्पना की सृष्टि तीन
 प्रकार से भासती है । तीक्ष्ण बुद्धि से उसे मन में लाना चाहिए ॥ १५ ॥
 मूलमाया से त्रिगुण होते हैं । वे सब एकदेशिय हैं । और पञ्चभूतों का
 स्थूल गुण प्रत्यक्ष दिख रहा है ॥ १६ ॥ पृथ्वी से चारों खानियाँ होती
 हैं, उनका चार प्रकार का कृत्य भी अलग अलग है । बस, सारी सृष्टि
 की चाल यही से है ॥ १७ ॥ अब सृष्टि का त्रिविध लक्षण विशद करके
 बतलाता हूँ । श्रोताओं को अपना अन्तःकरण सावधान करना चाहिए
 ॥ १८ ॥ चेतनारूप मूलमाया आदि से ही सूक्ष्म कल्पनारूप है । जैसे
 परा वाचा स्फुरणरूप होती है वैसी ही उसकी भी स्थिति है ॥ १९ ॥
 अपृथा प्रकृति का मूल यह केवल मूलमाया ही है, सब बीज सूक्ष्मरूप
 से आदि से ही मूलमाया में है ॥ २० ॥ वह जड़ पदार्थों को चेतना

देती है, इस लिये उसे चैतन्य कहते हैं। सूक्ष्मरूप से, सब लक्षण समझ लेने चाहिए ॥२१॥ प्रकृतिपुरुष, अर्धनारीनटेश्वर और बहुधा प्रकृति, इत्यादि सब वही है ॥ २२॥ त्रिगुण गुप्त रूप से उसीमें रहते हैं, इसी लिये उसे महत्त्व कहते हैं। शुद्ध सत्वगुण भी गुप्तरूप से उसीमें होता है ॥२३॥ जोकि, उससे तीन गुण प्रकट होते हैं, इस लिये उसे गुणज्ञोभिणी कहते हैं। उन साधुओं को धन्य है जो त्रिगुणों के रूप समझते हैं ॥ २४ ॥ जो कि, समान गुण रहते हैं, इस लिये उसे गुणसाम्य कहते हैं। यह सूक्ष्म विचार बहुत थोड़े लोग जानते हैं ॥ २५ ॥ इस प्रकार त्रिगुण मूलमाया से हुए हैं; परन्तु वे चंचल और एकदेशीय हैं। यह बात अनुभव से मालूम हो जाती है ॥ २६ ॥ इसके बाद पंचभूतों का महा विस्तार हुआ है। सप्तद्वीप और नवखंड वसुंधरा सब उसी विस्तार में है ॥ २७ ॥ ऐसे सृष्टि के ये दो प्रकार, अर्थात् त्रिगुण और पंचभूत हुए। अब तीसरा प्रकार सुनो ॥ २८ ॥ पृथ्वी नाना पदार्थों का बीज है। अंडज, जारज, खेदज और उद्भिज, ये चार खानि और चार वाणी स्वाभाविक इसीसे निर्माण हुई ॥ २९ ॥ चार खानि और चार वाणी होती जाती है पर पृथ्वी वैसी ही बनी है। इस प्रकार अनेक प्राणी होते हैं और चले जाते हैं ॥ ३० ॥

तीसरा समास—सूक्ष्म विचार ।

॥ श्रीराम ॥

आदि से अन्त तक नाना प्रकार का विस्तार कहा है। उसका मनन करते करते फिर वृत्ति को पीछे लौटाना चाहिए ॥ १ ॥ चार वाणी, चार खानी, चौराशी लाख जीवयोनि और नाना प्रकार के प्राणी जन्मते हैं ॥ २ ॥ सब पृथ्वी से होते हैं और पृथ्वी ही में मिल जाते हैं। इस प्रकार अनेक आते जाते हैं; पर पृथ्वी वैसी ही है ॥ ३ ॥ यह तो चोटी की तरफ का भाग हुआ। दूसरा भाग भूतों की गड़बड़ है। तीसरे भाग में अनेक सूक्ष्म नामरूप हैं ॥ ४ ॥ स्थूल सब छोड़ देना चाहिए, सूक्ष्म रूपों को पहचानना चाहिए—त्रिगुण के पहले का सूक्ष्म दृष्टि से बारबार विचार करना चाहिए ॥ ५ ॥ चेतनाचेतन गुणों के रूप हैं, इसका बार बार विचार करना चाहिए। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि का चमत्कार इससे आगे है ॥ ६ ॥ शुद्ध अचेतन तमोगुण है, शुद्ध चेतन सत्वगुण है और चेतनाचेतन

मिश्रित होकर रजोगुण का काम चलता है ॥ ७ ॥ यही त्रिगुणों के रूप हैं । त्रिगुण के अगले कर्दम को गुणक्षोभिणी कहते हैं ॥ ९ ॥ रज, तम, और सत्व, तीनों का कर्दम जहाँ गुप्त रहता है उसे महत्तत्त्व कहते हैं ॥ ६ ॥ प्रकृति-पुरुष, शिव-शक्ति और अर्धनारी-नटेश्वर उसीको कहते हैं । वह त्रिगुण का कर्दमरूप है ॥ १० ॥ जिसमें सूक्ष्मरूप से गुण की समानता रहती है उसे गुणसाम्य कहते हैं । और चैतन्यरूपी मूलमाया भी सूक्ष्म है ॥ ११ ॥ वह सूक्ष्म कर्दमरूपी मूलमाया ही ब्रह्मांड की महाकारण (आठवीं) काया है—इस प्रकार के सूक्ष्म अन्वयों का बार बार विचार करना चाहिए ॥ १२ ॥ चार खानि, पंचभूत और चौदह सूक्ष्म संकेतों में सब कुछ आ जाता है ॥ १३ ॥ ऊपर ऊपर देखने से मालूम नहीं होता, प्रयत्न करने पर भी समझ में नहीं आता । नाना प्रकार से लोगों के मन में सन्देह बढ़ता है ॥ १४ ॥ मूलमाया के चौदह नाम और पांच भूत मिल कर उन्नीस हुए । इनमें चार खानियां मिलने से तेईस हुए । इनमें से मूल चौदह बार बार देखना चाहिए ॥ १५ ॥ जो मनन करके समझ लेता है उसके पास सन्देह नहीं रहता । समझे बिना जो गडबड रहता है वह व्यर्थ है ॥ १६ ॥ सब सृष्टि का बीज स्वाभाविक ही मूलमाया में रहती है । यह सब समझने से परमार्थ सिद्ध होता है ॥ १७ ॥ जो मनुष्य समझा हुआ होता है वह व्यर्थ बक-बक नहीं करता; निश्चयी पुरुष सन्देह में नहीं पड़ता, और अपने परमार्थ को वह कभी खराब नहीं करता ॥ १८ ॥ जो शब्दातीत, बोला जा सकता है उसे षाच्यांश कहते हैं और शुद्ध लक्ष्यांश विवेक से लखना चाहिए ॥ १९ ॥ पूर्वपक्ष माया को कहते हैं, वह सिद्धान्त से लय हो जाती है । माया न रहने पर फिर उस स्थिती को क्या कहना चाहिए ? ॥ २० ॥ अन्वय और व्यक्तिरेक पूर्वपक्ष का विचार है—माया का विचार है—सिद्धान्त में शुद्ध एक ही रहता है—उसमें दूसरा कुछ नहीं है ॥ २१ ॥ अधोमुख से—माया की ओर दृष्टि डालने से—भेद बढ़ता है और ऊर्ध्वमुख से—परब्रह्म की ओर लक्ष्य रखने से—भेद दूरता है । जो निःसंगता के साथ निर्गुणी है वही महायोगी है ॥ २२ ॥ जब माया का मिथ्यापन मालूम हो गया तब फिर उसका डर क्यों होना चाहिए ? उसीके डर से तो स्वरूपस्थिती नहीं मिलती ॥ २३ ॥ मिथ्या माया से डर कर सत्य परब्रह्म को छोड़ना ठीक नहीं । मुख्य निश्चय पाकर मटकना क्यों चाहिए ? ॥ २४ ॥ पृथ्वी में बहुत लोग हैं । उनमें बहुत से मज्जन भी होते हैं । परन्तु साधु को छोड़ कर साधु को और कौन पहचान सकता है ? ॥ २५ ॥ इस लिये गृहस्थी छोड़ कर फिर साधु का खोज करना चाहिए

और धूम धूम कर साधु को प्राप्त कर लेना चाहिए ॥ २६ ॥ अनेके साधुओं से मिलना चाहिए । उन्हींमें कोई अनुभवी महत् मिल जाता है; क्योंकि, विना अनुभव के स्वहित नहीं हो सकता ॥ २७ ॥ प्रपंच हो, चाहे परमार्थ हो—अनुभव विना सब व्यर्थ है । जिसे अनुभव-ज्ञान है वही सब से अधिक समर्थ है ॥ २८ ॥ रात दिन अर्थ का विचार करना चाहिए, जो अर्थ का विचार करता है वही समर्थ है और उसी-से परलोक का सच्चा स्वार्थ हो सकता है ॥ २९ ॥ इस लिये देखा हुआ ही फिर देखना चाहिए और खोज किया हुआ ही फिर खोजना चाहिए । जब सब मालूम हो जायगा तब सहज ही संदेह मिट जायगा ॥ ३० ॥

चौथा समास—आत्मा का निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

सब लोगों से प्रार्थना है कि, योंही मन उदास न करना चाहिए । अनुभव पूर्ण निरूपण को मन में रखना चाहिए ॥ १ ॥ यदि अनुभव को एक ओर रख कर स्वयं मनमानी ओर भगें तो फिर सारासार का विचार कैसे होगा ? ॥ २ ॥ यों तों सृष्टि की ओर देखने से गड़बड़ देख पड़ती है; पर वह राजसत्ता की बात अलग ही है ॥ ३ ॥ पृथ्वी में जितने शरीर हैं उतने सब भगवान् के घर हैं उन्हीं के द्वारा नाना सुख उसे प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥ उसकी महिमा किसे मालूम हो सकती है ? वह कृपालु जगदीश, मातृरूप से, प्रत्यक्ष, जगत् की रक्षा करता है ॥ ५ ॥ उसकी सारी सत्ता सम्पूर्ण पृथ्वी में विभाजित है । भगवान् की कला से सृष्टि वर्तती है ॥ ६ ॥ मूल-ज्ञाता-पुरुष, अर्थात् परमात्मा, की सत्ता वास्तव में शरीर में विभाजित है—फैली हुई है—सब कला और चतुरता उसीमें रहती है ॥ ७ ॥ सब पुरों का ईश जो जगदीश है, वह जगत् में व्यापक है । नाना शरीरों में रह कर वही आनन्द से सृष्टि चलाता है ॥ ८ ॥ ऊपर ऊपर देखने से जान पड़ता है कि, सृष्टि की यह सारी रचना एक से नहीं चल सकती; परन्तु वह एक ही नाना देह धर कर इसे चलाता है ॥ ९ ॥ वह इस कार्य में ऊंच नीच नहीं विचारता, भला-बुरा नहीं देखता । भगवान् को सिर्फ इतना ही खयाल रहता है कि, काम चलना चाहिए ॥ १० ॥ न जाने उसने अज्ञान की रचना करके लोगों

को अड़चन की है या अभ्यास में डाला है ? किस लिए क्या बनाया है—
 सो उसका उसीको मालूम है ! ॥ ११ ॥ जगत् के अन्तर का—सब लोगों
 के अन्तःकरण का—अच्छी तरह अनुसंधान करना ही ध्यान है और यह
 ध्यान तथा ज्ञान एक ही रूप है ॥ १२ ॥ प्राणी संसार में आकर कुछ चतुर
 होने पर भूमंडल की अनेक बातों का मनन या विचार करने लगता है
 ॥ १३ ॥ उस राम का भंडा प्रगटरूप से फहरा रहा है; वह आत्माराम
 ज्ञानधन है; वह विश्वभर सर्वत्र विद्यमान है; परन्तु बड़े भाग्य से उसकी
 प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥ हम ज्यों ज्यों उपासना की याह पाना चाहते हैं
 त्यों त्यों वह और विस्तृत ही होती जाती है। सच है, उसकी महिमा
 अवरुनीय है ॥ १५ ॥ दृष्टा कहते हैं देखनेवाले को और साक्षी कहते हैं
 जाननेवाले को। उस अनन्तरूपी अनन्त को पहचानना चाहिए ॥ १६ ॥
 जब भलों की संगति हो; परमात्मा की कथा और अध्यात्म-निरूपण से
 प्रीति हो, तब कुछ मन को विश्रान्ति मिल सकती है ॥ १७ ॥ इतना होने
 पर भी, सन्देह नाश करनेवाला अनुभव-ज्ञान होना ही चाहिए; क्योंकि
 अनुभव विना समाधान मिल कैसे सकता है ? ॥ १८ ॥ मूल संकल्प ही
 हरिसंकल्प है और मूलमाया के व्यापार का ही रूप जगत् के अन्तः-
 करण में दिखता है ॥ १९ ॥ उपासना ज्ञानस्वरूप है, परन्तु ज्ञान के
 अस्तित्व में चौथे देह का आरोप है, इस कारण सब संकल्प को छोड़
 कर, विशानरूप विदेहावस्था प्राप्त करना चाहिए ॥ २० ॥ वस, वही
 विशाल परब्रह्म है आकाश की तरह सर्वव्यापक और सघन है, कोमल
 है—कैसा कहा जाय ? ॥ २१ ॥ उपासना, ज्ञान को कहते हैं और ज्ञान
 से परमेश्वर मिलता है, उसीसे योगियों को समाधान होता है ॥ २२ ॥
 अच्छी तरह विचार करने पर जान पड़ता है कि, स्वयं ही उपासना है।
 एक जाता है और एक देह धर कर आता है ॥ २३ ॥ परम्परा से ऐसा
 ही गोलमाल होता आया है, और अब भी सृष्टि का वही हाल है ॥ २४ ॥
 वन पर वनचरों की सत्ता है, जल पर जलचरों की सत्ता है और भू-
 मंडल पर भूपालों की सत्ता है। इसी प्रकार सब का हाल है ॥ २५ ॥ जो
 हलचल करेगा उसे सामर्थ्य अवश्य ही प्राप्त होगा; परन्तु उसमें भगवान्
 का अधिष्ठान चाहिए ॥ २६ ॥ यह तो सच है कि, कर्ता जगदीश है;
 परन्तु उसके कृत्य का विभाग अलग अलग हो गया है, तथापि अहंता के
 ब्रम में न पडना चाहिए ॥ २७ ॥ “ हरिर्दाता हरिर्मोक्ता ” का सिद्धान्त
 जगन् में वर्त रहा है—पर इसका विचार करना चाहिए ॥ २८ ॥ सर्वकर्ता
 परमेश्वर है, ‘ मैं ’ कोई चीज नहीं। जैसी उसकी स्फूर्ति हो वैसे
 वर्ताव, जगन् के अन्तःकरण में मिल कर करना चाहिए ॥ २९ ॥ आत्मा

के समान और कोई चञ्चल नहीं तथा परब्रह्म के समान और कुछ निश्चल नहीं । सोपान-परम्परा से, मूल तक चढ़ कर, अनुभव प्राप्त करना चाहिये ॥ ३० ॥

पाँचवाँ समास-पदार्थ-चतुष्टय ।

॥ श्रीराम ॥

यहाँ से वहाँ तक देखने पर जान पड़ता है कि, कुल चार पदार्थ हैं एक, (परब्रह्म) चौदह, (मूलमाया) पाँच, (भूत) और चार (खानि) ॥ १ ॥ परन्तु परब्रह्म सब से अलग है, वह सब से श्रेष्ठ तथा नाना कल्पनाओं से भिन्न है ॥ २ ॥ परब्रह्म का विचार नाना कल्पनाओं से परे है-वह निर्मल, निश्चल, निर्विकार और अखंड है ॥ ३ ॥ अब, अन्य तीन पदार्थ, नाना कल्पनारूप मूलमाया के अन्तर्गत हैं ॥ ४ ॥ मूलमाया नाना प्रकार से सूक्ष्मरूप है । वह सूक्ष्मरूप होकर भी कर्दमरूप है और उस पर मूल के संकल्प हा आरोप आता है ॥ ५ ॥ मूल का हरि-संकल्प ही सब का आत्माराम है । अब भिन्न भिन्न नामों का विवरण सुनिये -- ॥ ६ ॥ निश्चल में चञ्चल का चेत होता है, इस लिये चैतन्य कहलाता है और गुण-समानता के कारण गुणसाम्य कहलाता है ॥ ७ ॥ अर्धनारी-नटेश्वर, षड्गुणेश्वर, प्रकृतिपुरुष, शिवशक्ति भी उसीको कहते हैं ॥ ८ ॥ शुद्ध सत्वगुण, अर्धमात्रा, गुणक्षोभिणी और फिर आगे तीनों गुण प्रकट होते हैं ॥ ९ ॥ मन, माया और अन्तरात्मा तक इन चौदह नामों की गिनती है । सब में ज्ञानात्मा विद्यमान है ॥ १० ॥ पहला परब्रह्म हुआ, दूसरी यह चौदह नामोंवाली मूलमाया हुई । अब तीसरा प्रकार पंचभूतों का बतलाते हैं:-- ॥ ११ ॥ पंचमहाभूतों में ज्ञातृत्वशक्ति योड़ी है । उनका आदि अन्त प्रत्यक्ष है । अब, चौथी किस्म खानियों की हैं, सो भी बतलाते हैं:-- ॥ १२ ॥ चार खानियों में अनंत प्राणी हैं । उन सब में ज्ञातृत्वशक्ति खूब भरी हुई है । इस प्रकार पहला ब्रह्म, दूसरी माया, तीसरे पंचभूत, और चौथे चार-खानिये चार पदार्थ हुए ॥ १३ ॥

बीज योड़ा बोया जाता है; पर आगे बहुत पैदा होता है--यही हाल खानियाँ और वाणियाँ प्रगट होने से आत्मा का होता है ॥ १४ ॥ इस

कार सत्ता प्रबल हुई है, थोड़ी सत्ता को बहुत हो गई हैं और मनुष्य-
 वेष से, नाना प्रकार से, सृष्टि का भोग करती है ॥ १५ ॥ श्वापद जन्तु
 अन्य प्राणियों को मार मार खा जाते हैं, वस, इसके सिवाय, वे कुछ नहीं
 जानते, परन्तु मनुष्यप्राणी नाना प्रकार के भोग भोगता है ॥ १६ ॥ नाना
 प्रकार के शब्द, स्पर्श, रस, गंध, विशेषरूप से, नरदेह ही जानता है
 ॥ १७ ॥ अमूल्य रत्न, नाना प्रकार के वस्त्र, यान, शस्त्र, विद्या, कला
 और शास्त्र नरदेह ही जानता है ॥ १८ ॥ पृथ्वी ईश्वर की सत्ता से व्याप्त
 है, जगह जगह सत्ता सम्पूर्णरूप से भरी है, और उसीसे नाना विद्या, कला
 और धारणा इत्यादि उत्पन्न हुई हैं ॥ १९ ॥ नरदेह पाकर, सभी दृश्य देखना
 चाहिए, स्थानमानसंभालना चाहिए, और सारसार विचारना चाहिए ॥ २० ॥
 इहलोक, परलोक, नाना प्रकार का विवेक और अधिवेक मनुष्य ही जानता
 है ॥ २१ ॥ नाना प्रकार के पिंड, ब्रह्मांड की रचना, नाना मूलों की अनेक
 प्रकार की कल्पना और नाना प्रकार की धारणा मनुष्य ही जानता है ॥ २२ ॥
 अष्टभोग, नवरस, नाना प्रकार का विलास, वाच्यांश, लक्षांश और सारांश
 मनुष्य ही जानता है ॥ २३ ॥ मनुष्य सब का आकलन करता है, उस मनुष्य
 को ईश्वर पालता है—यह सब नरदेह के योगसे मालूम होता है ॥ २४ ॥
 नरदेह परम दुर्लभ है, इससे अलभ्य लाभ मिलता है और इसीके योग से
 दुर्लभ भी सुलभ होता है ॥ २५ ॥ दूसरे देह कूडा-करकट हैं, नरदेह एक
 बड़ा भारी खजाना है, परन्तु (नरदेह पाकर) उत्तम विवेक का ग्रहण
 करना चाहिए ॥ २६ ॥ जो नरदेह पाकर, विवेकबल से परमात्मा को नहीं
 पहचानता वह सब प्रकार से डुबता है ॥ २७ ॥ यदि विश्वासपूर्वक श्रवण
 करे, और सदा मननशील अन्तःकरण रखे, तो नर ही नारायण है ॥ २८ ॥
 जो स्वयं तैरना जानता है उसे दूसरे की कमर पकड़ कर सहारा नहीं लेना
 पडता । स्वतंत्रता से सब कुछ खोजना चाहिए ॥ २९ ॥ जो पदार्थमात्र का
 खोज करता है उसे सन्देह नहीं रहता । इसके बाद-निस्संदेह अवस्था
 में-वह कैसे रहता है, सो उसका वही जानता है ॥ ३० ॥

छटवाँ समास—आत्मा के गुण ।

॥ श्रीराम ॥

इस पृथ्वीमंडल पर कहीं कहीं बहुत सा जल भरा हुआ है और कहीं

कहीं बड़े बड़े रेतीले मैदान है, जिनमें जल का कहीं नाम-निशान नहीं है ॥ १ ॥ बस, इसी प्रकार यह दृश्य फैला हुआ है । इसमें कहीं चेतनाशक्ति जागृत है और कहीं उसका अभाव देख पड़ता है ॥ २ ॥ चार खानियां चार बाणियां और चौरासी लाख जीव-योनियां हैं-ये सब इस प्रकार शास्त्र में निश्चय करके कहीं गई हैं:- ॥ ३ ॥ चार लाख मनुष्य, बीस लाख पशु, ग्यारह लाख क्रिमि शास्त्र में कहे हैं ॥ ४ ॥ दस लाख खेचर, नौ लाख जलचर और तीस लाख स्यावर शास्त्रमें कहे हैं ॥ ५ ॥ इस प्रकार चौरासी लाख योनियां हैं । जो प्राणी जिस योनि में है उतना ही वह जानकार है । इन योनियों में अनन्त देह भरे पड़े हैं उनकी मर्यादा बतलाना कठिण है ॥ ६ ॥ अनंत प्राणी होते जाते हैं । उनका अधिष्ठान पृथ्वी है । पृथ्वी बिना उनकी स्थिति कहां हो सकती है? ॥ ७ ॥ पंचभूत जो प्रकट होते हैं उनमें कोई आकृति धारण करते हैं और कोई योंही रहते हैं ॥ ८ ॥ चपलता ही अन्तरात्मा की पहचान है । अब ज्ञातृत्व का अधिष्ठान सावधान होकर सुनो ॥ ९ ॥ सुखदुःख जाननेवाला जीव है, वैसा ही 'शिव' को भी जानो और अन्तःकरणपंचक आत्मा का अंश है ॥ १० ॥ स्थूल में जो आकाश के गुण हैं वे आत्मा के अंश हैं और सत्व, रज तथा तमोगुण आत्मा के गुण हैं ॥ ११ ॥ नाना प्रकार की चेष्टा; धृति, नवधा भक्ति, चतुर्धा मुक्ति आलिसता और सहजस्थिति आत्मा के गुण हैं ॥ १२ ॥ द्रष्टा, साक्षी, ज्ञानघन, सत्ता, चैतन्य, पुरातन, श्रवण, मनन, विवरण, आत्मा के गुण हैं ॥ १३ ॥ दृश्य, द्रष्टा, दर्शन; ध्येय, ध्याता, ध्यान; ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान, आत्मा के गुण हैं ॥ १४ ॥ वेदशास्त्र और पुराण का अर्थ, गुप्त चलता हुआ परमार्थ और सर्वज्ञता के साथ सामर्थ्य, आत्मा के गुण हैं ॥ १५ ॥ बद्ध, मुमुक्षु, साधक, सिद्ध, शुद्ध विचार करना, बोध और प्रबोध, आत्मा के गुण हैं ॥ १६ ॥ जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या, प्रकृतिपुरुष, मूलमाया, पिंड, ब्रह्मांड और अपृकाया, आत्मा के गुण हैं ॥ १७ ॥ परमात्मा और परमेश्वरी, जगदात्मा और जगदीश्वरी, तथा महेश और माहेश्वरी, आत्मा के गुण हैं ॥ १८ ॥ जितना कुछ नामरूप है उतना सब आत्मा का स्वरूप है । उसके अनन्त नाम और चिन्ह हैं ॥ १९ ॥ आदिशक्ति, शिवशक्ति, मुख्य सर्वशक्ति मूलमाया और नाना पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति, सब आत्मा के गुण हैं ॥ २० ॥ पूर्वपक्ष, सिद्धान्त, गाना, बजाना, संगीत, नाना अद्भुत विद्या, आत्मा के गुण हैं ॥ २१ ॥ ज्ञान, अज्ञान, विपरीत ज्ञान, असद्वृत्ति, सद्वृत्ति, ज्ञप्ति-मात्र, अलिसपन, आत्मा के गुण हैं ॥ २२ ॥ पिंड, ब्रह्मांड, तत्व-विवरण, नाना तत्वों का निश्चय और स्पष्ट विचार करना, आत्मा के गुण हैं ॥ २३ ॥ नाना ध्यान, अनुसन्धान, नाना स्थितियां, नाना ज्ञान और अनन्य आत्मनि-

वेदन, आत्मा के गुण हैं ॥ २४ ॥ तैतीस कोटि देवता, अष्टासो सहस्र ऋषी-
श्वर, और अनन्त प्रकार के प्राणी आदि सब, आत्मा के गुण हैं ॥ २५ ॥
साढ़े तीन कोटि भूतावली, छप्पन कोटि चामुंडा, नव कोटि कात्यायनी, आत्मा
के गुण हैं ॥ २६ ॥ चन्द्र, सूर्य, तारामंडल, नाना नक्षत्र, ग्रहमंडल, शेष, कर्म,
मेघमंडल, आत्मा के गुण हैं ॥ २७ ॥ देव, दानव, मानव, नाना प्रकार के
जीव, सब भावाभाव, आत्मा के गुण हैं ॥ २८ ॥ इस प्रकार आत्मा के नाना
गुण हैं और ब्रह्म निर्विकार तथा निर्गुण है । एकदेशीय तथा पूर्ण ज्ञान होना
भी आत्मा का गुण है ॥ २९ ॥ आत्माराम की उपासना से निरंजन परब्रह्म
मिलता है और मनुष्य निसन्देह होता है । संशय नहीं रहता ॥ ३० ॥

सातवाँ समास-आत्म-विवेक ।

॥ श्रीराम ॥

चाहे अनिर्वाच्य समाधान हो, तथापि उसे बतलाना चाहिए । क्योंकि
पह तो हो नहीं सकता कि, बतलाने से समाधान चला जाय ॥ १ ॥ कुछ
झोड़ना नहीं पडता, कुछ जोड़ना नहीं पडता । सिर्फ विचार से सब मालूम
हो जाता है ॥ २ ॥ मुख्य काशी-विश्वेश्वर, सेतुबंध-रामेश्वर मल्लिकार्जुन,
भीमाशंकर, इत्यादि सब आत्मा के गुण हैं ॥ ३ ॥ जैसे मुख्य बारह लिंग
हैं वैसे ही और भी अनंत लिंग हैं । ये सब आत्मा के गुण हैं-इनका अनु-
भव जगत् जानता है ॥ ४ ॥ भूमंडल में अनन्त शक्तियाँ हैं; नाना साक्षा-
त्कार और चमत्कार होते हैं और नाना देवों की सामर्थ्यमूर्तियाँ हैं-ये
सब आत्मा के गुण हैं ॥ ५ ॥ नाना सिद्धों के सामर्थ्य, मंत्रों के सामर्थ्य
और नाना मोहरों तथा वल्लियों के सामर्थ्य, आत्मा के गुण हैं ॥ ६ ॥ नाना
तीर्थों के सामर्थ्य, नाना क्षेत्रों के सामर्थ्य और भूमंडल के नाना सामर्थ्य,
आत्मा के गुण हैं ॥ ७ ॥ जितने कुछ उत्तम गुण हैं उतने सब आत्मा के
लक्षण हैं । परन्तु बुरा-भला जो कुछ है सब आत्मा ही के योग से है ॥ ८ ॥
शुद्ध आत्मा उत्तम गुणी और शबल (उपाधियुक्त) आत्मा अवलक्षणी
होता है । इस प्रकार बुरी भली सब करनी आत्मा की है ॥ ९ ॥ नाना
प्रकार से अभिमान रखना, नाना प्रकार की प्रतिसृष्टि रचना और नाना
प्रकार के शाप-उशशाप देना आत्मा ही के योग से होता है ॥ १० ॥ पिण्ड
। अच्छी तरह खोज करना चाहिए, तत्त्वों का पिंड भी खोजना चाहिए ।

तत्वों का खोज करने से सब पिंड मालूम हो जाता है ॥ ११ ॥ जड़ देह भूतों का है, उसमें चंचल गुण आत्मा का है और निश्चल ब्रह्म से रहित कहीं कोई जगह नहीं है ॥ १२ ॥ पिंड में निश्चल, चंचल और जड़ (ब्रह्म, आत्मा और भूत) का निर्णय करना चाहिये । अनुभव के बिना बोलना दृढ़ नहीं हो सकता ॥ १३ ॥ पिंड से जब आत्मा चला जाता है तब सब निर्णय हो जाता है । देखते ही देखते यह जड़ देह पतन हो जाता है ॥ १४ ॥ जितना कुछ जड़ होता है सब पतन हो जाता है, और जितना कुछ चंचल होता है उतना सब ध्यान में आ जाता है ॥ १५ ॥ इसके सिवाय यह तो प्रकट ही है कि वह निश्चल सब जग में व्याप्त है—उसमें गुण या विकार आदि कुछ भी नहीं है ॥ १६ ॥ यह तो स्पष्ट है कि, जैसा पिंड वैसा ही ब्रह्मांड है । जड़ और चंचल निकल जाने पर वही श्रेष्ठ परब्रह्म रह जाता है ॥ १७ ॥ महाभूतों की मूर्ति बना कर उसमें आत्मा डाल कर प्राणी बना दिया जाता है और इसी प्रकार सृष्टि का वर्तव चलता है ॥ १८ ॥ वास्तव में आत्मा और माया दोनों विकार करते हैं परन्तु ब्रह्म पर आरोप लगाया जाता है । इस बात का जो अनुभव और विवरण करता है वही श्रेष्ठ है ॥ १९ ॥ ब्रह्म अखंड व्यापक है । उसके सिवा दूसरे पदार्थों की व्यापकता अखंड नहीं है । खोज कर देखने से सब मालूम हो जाता है ॥ २० ॥ आकाश को खंड खंड नहीं कर सकते; महाप्रलय ये भी आकाश का कौन सा अवयव नाश होगा? ॥ २१ ॥ अब, वास्तव में जिसका संहार हो जाता है उसीको नाशवन्त जानना चाहिए । इस कूटक को ज्ञाता लोग ही हल कर सकते हैं ॥ २२ ॥ न मालूम होने से सब कूटक ही दिखता है । इस लिए एकान्त में निश्चय पूर्वक विचार करना चाहिए ॥ २३ ॥ अनुभवी सन्तों का समागम होना, एकान्त से भी बढ़ कर है । सुचित्त होकर उनके साथ नाना प्रकार की चर्चा करनी चाहिए ॥ २४ ॥ विचार किये बिना मालूम नहीं होता, मालूम होने पर सन्देह नहीं रहता और विवेक करने पर मायाजाल बिलकुल नहीं रहता ॥ २५ ॥ जिस प्रकार आकाश में बादल आकार तुरन्त ही चले जाते हैं उसी प्रकार आत्मा के योग से उत्पन्न दृश्य भी विवेक से तुरन्त ही नाश हो जाता है ॥ २६ ॥ आदि से लेकर अन्त तक, सब का विवेकी पुरुष विवेक से विवरण करता है । इस कारण उसका निश्चय अचल रहता है ॥ २७ ॥ अन्य लोगों का निश्चय सन्देहयुक्त होता है । अनुमान से कहने में क्या लगता है? परन्तु अनुभवी ज्ञाता पुरुष उस अनुमान को नहीं मानते ॥ २८ ॥ योंही बोलना अनुमान का है । अनुमान की बात किस काम की? ब्रह्म-निरूपण में गोलमाल का विचार काम नहीं देता ॥ २९ ॥ गोलमाल का विचार ही अविचार है, उसे कितने ही लोग एककार कहते हैं । एक-

फार का न्रष्टाकार न करना चाहिए ॥ ३० ॥ बनावटी सब छोड देना चाहिए और सब गृह ले लेना चाहिए तथा जान कर सारासार का निर्णय करना चाहिए ॥ ३१ ॥

आठवाँ समास-शरीररूपी क्षेत्र

॥ श्रीराम ॥

श्रृष्टा का संसाररूप वृत्त बढता है, बढते बढते विस्तीर्ण होता है और फल लगने पर बहुत शरीर विध्राम पाते हैं ॥ १ ॥ नाना रसाल फूल लगते हैं, नाना पदार्थों में मिठास आता है और मिठास चखने के लिए नाना शरीर निर्माण किये जाते हैं ॥ २ ॥ उत्तम विषय निर्माण होते हैं; परन्तु शरीर बिना भोगे नहीं जा सकते; इसी लिए नाना शरीर बनाये जाते हैं ॥ ३ ॥ भिन्न भिन्न गुणों वाली ज्ञानेंद्रियां निर्माण की जाती हैं, वे सब एक शरीर में होती हैं; परन्तु हैं अलग अलग ॥ ४ ॥ श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा शब्द का ज्ञान जानने की योजना की गई है ॥ ५ ॥ त्वचेन्द्रिय से शीत-उष्ण भासता है, चक्षु-श्रेन्द्रिय से सब कुछ दिखता है-इस प्रकार इंद्रियों में भिन्न भिन्न गुण हैं ॥ ६ ॥ जिह्वा में रस (स्वाद) चखने और घ्राण में गंध लेने का गुण बनाया गया है इस प्रकार सब इंद्रियों में भिन्न भिन्न गुण बनाये गये हैं ॥ ७ ॥ प्राण-पंचक में अन्तःकरणपंचक मिल कर देह भर में निश्शंक फिरता है और सब ज्ञानेंद्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को आनन्द से देखता रहता है ॥ ८ ॥ कर्मेन्द्रियों के द्वारा जीव विषयोपभोग करता है। जगत् में यह उपाय ईश्वर ही ने बना दिया है ॥ ९ ॥ विषय तो अच्छे निर्माण हुए; पर वे शरीर-बिना भोगे कैसे जायें? इसी लिए नाना शरीरों का विस्तार किया गया है ॥ १० ॥ अस्ति-मांस का तो शरीर है। परन्तु गुण उसमें अनेक प्रकार के रचे गये हैं-इस शरीर के समान और कोई यंत्र नहीं है ॥ ११ ॥ छोटे बड़े शरीर उत्पन्न करके विषय-भोग से पाले जाते हैं ॥ १२ ॥ जगदीश्वर ने हाड-मांस के शरीर बना कर उनमें विवेक और विचार स्थापित किया है ॥ १३ ॥ अस्ति-मांस के पुतले ज्ञान के द्वारा सकल कलाओं में प्रवीण होते हैं परन्तु शरीर-भेद भी अनेक हैं ॥ १४ ॥ कार्य-कारण के लिए यह भेद शरीरों में किया गया है, इस भेद में बहुत गुण हैं। वे सब बिना तीक्ष्ण बुद्धि के कैसे मालूम हों? ॥ १५ ॥ सब कुछ ईश्वर को करना है, इसी लिए भेद निर्माण किया है। ऊर्ध्वमुख होते ही परब्रह्म की और लक्ष लगाते ही-भेद

नहीं रहता ॥ १६ ॥ सृष्टि-रचना में तो अवश्य भेद होता है; परन्तु संहार से सहज ही अभेद हो जाता है-भेद और अभेद का सवाद माया के कारण है ॥ १७ ॥ माया में अंतरात्मा है । उसकी महिमा नहीं मालूम होती चाहे चतुर्मुख ब्रह्मा क्यों न हो, वह भी सन्देह में पड़ जागा ॥ १८ ॥ अंतरात्मा का विवरण करते हुए, घड़ी घड़ी पर मन को बहुत जल्दी पड़ती है और दौंव-पेंच तथा तीक्ष्ण तर्क करते करते मन हैरान हो जाता है ! ॥ १९ ॥ आत्मत्व में सब कुछ लगता है; पर निरंजन में यह कुछ नहीं लगता । एकन्त-काल में यह सब समझ कर देखने से अच्छा होता है ॥ २० ॥ देह-सामर्थ्य के अनुसार जगदीश्वर सब कुछ करता है । जिस देह में सामर्थ्य अधिक हुआ उसीको अवतार कहते हैं ॥ २१ ॥ शेष, कूर्म, वराह इत्यादि अनेक बड़े बड़े शरीरधारी हो गये । इस प्रकार सृष्टिरचना होती रहती है ॥ २२ ॥ ईश्वर अपने विचित्र सूत्र से सूर्य-मंडल को दौडता है और बादलों से पानी धारण कराता है ॥ २३ ॥ पर्वत के से बादल उडते हैं और सूर्यमंडल को ढाँप देते हैं; परन्तु तुरंत ही वहाँ वायु की गति प्रगट होती है ॥ २४ ॥ झिड़क झिड़क कर हवा दौडती है, जैसे काल का हल-कारा जा रहा हो ! वही बादलों को हटा कर सूर्य को प्रकट करती है ॥ २५ ॥ बिजली की भयानक कडक से प्राणि-मात्र डर जाते हैं और बादल के गरजने से ऐसा जान पडता है कि, मानो आकाश फटा पडता हो ! ॥ २६ ॥ एक के लिए दूसरा मर्म बना दिया गया है-जैसे महद्भूत से ही महद्भूत का लय हो जाता है । सब सृष्टि-रचना समभाग से चल रही है ॥ २७ ॥ ऐसे ऐसे अनन्त भेद आत्मा के है । सबों का जानने वाला कौन है ? विवरण करते करते मन की धजियां उड़ जाती हैं ॥ २८ ॥ ऐसी मेरी उपासना है, यह उपासकों को अपने मन में लाना चाहिए । उसकी अगाध महिमा चतुरानन को भी नहीं मालूम हो सकती है ॥ २९ ॥ आवाहन और विसर्जन ही भजन का लक्षण है । सज्जन सब जानते हैं । मैं क्या बतलाऊँ ? ॥ ३० ॥

नववाँ समास-सूक्ष्म निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

मृत्तिकापूजन करके तुरंत ही विसर्जन कर देना, स्वभाव ही से अन्तःकरण को अच्छा नहीं लगता ॥ १ ॥ देवता का पूजना और फिर फेंक

देना जी को प्रशस्त नहीं जान हडता । इसका विचार अन्तःकरण में करना चाहिए ॥ २ ॥ देव न बनाने योग्य है और न फेंक देने लायक है, इस लिए इसका कुछ विचार करना चाहिए ॥ ३ ॥ देव नाना शरीर धारण करके फिर छोड़ देता है । अब विवेक से पहचानना चाहिए कि, वह देव कैसा है ॥ ४ ॥ नाना साधन और निरूपण उस देव की खोज करने ही के लिए हैं । सब कुछ अपने अन्तःकरण ही से समझना चाहिए ॥ ५ ॥ ब्रह्म-ज्ञान विना समझे दूसरे को दिया नहीं जा सकता । क्या वह कोई पदार्थ है जो कह दे कि, यह लो और जाओ ! ॥ ६ ॥ सब लोगों के मन का भाव यही है कि मुझे प्रत्यक्ष देव से भेट हो जाय; परन्तु विवेक का उपाय अलग ही है ॥ ७ ॥ जो विचार से देखने पर तुलता नहीं उसे देव कह नहीं सकते । परन्तु लोग मानते नहीं, हैं । क्या किया जाय ? ॥ ८ ॥ महापुरुषों के मर जाने पर उनकी मूर्ति बना कर लोग उसीका दर्शन करते हैं । यही उपासना का हाल है ॥ ९ ॥ बड़े व्यापार को छोड़ कर जोई छुद्र व्यापार करने से राज्यसंपदा कैसे प्राप्त हो सकती है ? ॥ १० ॥ अतएव भोली भाक्ते में पड़ा रहना अज्ञान का लक्षण है और अज्ञानता से देवाधिदेव मिल कैसे सकता है ॥ ११ ॥ अज्ञान को ज्ञान पसन्द नहीं और ज्ञाता को अनुमान पसन्द नहीं, इस लिए सिद्धों के लक्षण ग्रहण करने चाहिए ॥ १२ ॥ माया को छोड़ कर आदि पुरुष की ओर जाना चाहिए, तभी समाधान मिल सकता है । ऐसा न करने से इधर उधर भटकना पड़ता है ॥ १३ ॥ माया को पार करने ही के लिए ईश्वर ने अनेक उपाय बना दिये हैं । प्रतीतिपूर्वक अध्यात्म-श्रवण के पंथ से ही परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं ॥ १४ ॥ ऐसा न करने से लोक भूल-चूक होती है । सब-भूटे-दशा पहचाननी चाहिए ॥ १५ ॥ मूठे मार्ग से न जाना चाहिए, मूठे की संगति न करनी चाहिए और खोटा कुछ भी अपने पास न रखना चाहिए ॥ १६ ॥ खोटा खोटा ही है । खरे के सामने खोटा टिक नहीं सकता । अपने अधोमुख (माया की ओर जानेवाले) मन को ऊर्ध्वमुख करना चाहिए ॥ १७ ॥ अध्यात्म-श्रवण करते रहना चाहिए-ऐसा करने से सब कुछ मिलता है । नाना प्रकार के जाल टूट जाते हैं ॥ १८ ॥ जिस प्रकार उरुमा हुआ सूत सुरभाया जाता है उसी प्रकार मन को सुरमा कर अनुकूल करना चाहिए और और धीरे धीरे मूलपुरुष परब्रह्म की ओर उसे लगाना चाहिए ॥ १९ ॥ यह सृष्टि सब कर्दमरूप है । वह कर्दम नाना प्रकार के शरीरों में विभाजित है ॥ २० ॥ जो कुछ देखना हो सो इसी शरीर में देखना चाहिए । क्या है, कैसा है, सो इसी में खोजना चाहिए । और मूलमाया के चौदह नाम इसीमें समझ लेना

चाहिए ॥ २१ ॥ एक निर्गुण और निर्विकारी ही सब ठौर में व्यापक है । देखना चाहिए कि, वह निष्कलंक इस देह में है या नहीं ॥ २२ ॥ संकल्परूप मूलमाया अन्तःकरण का स्वरूप है । चैतन्य का रूप, जो जड़ को चेतन देता है, वह भी शरीर में है ॥ २३ ॥ समान गुण होना (इस शरीर का) गुणसाम्य है और सूक्ष्म का विचार अगम्य है । जो साधु सूक्ष्म जानते हैं उन सब को प्रणाम है ॥ २४ ॥ वामांग और दक्षिणांग, ये दो प्रकार शरीर के हैं-इसी को पिंड में अर्धनारी-नटेश्वर जानना चाहिए ॥ २५ ॥ प्रकृति-पुरुष, शिव-शक्ति तथा पद्मगुरौश्वर्यसम्पन्न भगवान् वही है ॥ २६ ॥ उसीको महत्तत्त्व कहते हैं, उसीमें त्रिगुण का गूढत्व है, अर्धमात्रा, शुद्धसत्त्व, गुणलोभिणी वही है ॥ २७ ॥ यह तो प्रत्यक्ष ही है कि, त्रिगुण से शरीर वर्तता है । वस, मूलमाया का भी शरीर ऐसा ही कर्मरूप जानना चाहिए ॥ २८ ॥ मन, माया और जीव तो शरीर में स्वाभाविक हैं ही । इस प्रकार चौदह नामों का अभिप्राय इस पिंड में ही समझना चाहिए ॥ २९ ॥ पिण्ड का पतन होने पर सब चला जाता है; परन्तु परब्रह्म रह जाता है । उसीको शाश्वत समझ कर ग्रहण करना चाहिए ॥ ३० ॥



दसवाँ समास-पूर्ण-ब्रह्म-निरूपण ।

॥ श्रीराम ॥

परब्रह्म को न पकड़ सकते हैं और न फेंक सकते हैं । वह सर्वत्र पूर्ण भरा हुआ है ॥ १ ॥ जिधर देखिये उधर ही वह है; उससे यदि हम विमुख होना चाहें तो भी वह सन्मुख ही रहता है; आप कुछ भी कीजिए, उसका सन्मुख रहना मिट नहीं सकता ! ॥ २ ॥ बैठा हुआ मनुष्य यदि उठ भी जाता है तो भी वहा आकाश बना ही रहता है । आप किसी ओर देखिए-आकाश सदा सन्मुख ही रहता है ॥ ३ ॥ मनुष्य कहीं भी भग कर जाय, पर आकाश उसके चारों ओर बना ही रहेगा-चाहे जितना बल कीजिये, आकाश की बाहर आप जा नहीं सकते ॥ ४ ॥ आप चाहे जिधर देखिये वह सामने ही रहेगा । आपके मस्तक पर रहेगा; जैसे दो-पहर को सूर्य ! ॥ ५ ॥ परन्तु सूर्य एकदेशीय है; परब्रह्म से उसका दृष्टांत लग नहीं सकता-यहां पर सिर्फ कौतुक के लिए उसका दृष्टान्त दे दिया ! ॥ ६ ॥ अनेक तीर्थ और नाना प्रकार के देश देखने के लिए कष्ट करके

जाना होता है; पर परब्रह्म के लिए इतने कष्ट करने की जरूरत नहीं । वह तो जहाँ हम बैठे हैं वही मौजूद है ॥ ७ ॥ आप चाहे एक जगह बैठे रहें चाहे दौड़ते फिरें; परन्तु वास्तव में परब्रह्म आप के साथ ही है ॥ ८ ॥ जैसे आकाश में उड़ता हुआ पक्षी जिधर देखता है उसे आकाश ही देख पड़ता है, वस, इसी तरह आप परब्रह्म में हैं । ॥ ९ ॥ परब्रह्म पोला और सघन भरा हुआ है, वह अन्त का भी अन्त है ! वह सदा सब के पास बना रहता है ॥ १० ॥ वह दृश्य के भीतर बाहर व्याप्त है, वह ब्रह्मांड के उदर में भरा है । अरे ! उस विमल की किससे उपमा दे ! ॥ ११ ॥ वैकुण्ठ, कैलास, स्वर्गलोक, रुद्रलोक, चौदहलोक और पन्नग आदिकों के पाताल, लोक में भी वह है ॥ १२ ॥ काशी के रामेश्वर तक, सब भारत में, वह अपार भरा है । “ इसके उस तरफ, ” “ इसके उस तरफ ” आदि चाहे जितने लगाते जाइये; पर उसका पारावार नहीं है ॥ १३ ॥ उस अकेले परब्रह्म ने एकबारगी सब को व्याप्त कर लिया है और सब को सब जगह छू रहा है ॥ १४ ॥ परब्रह्म वर्षा में भीगता नहीं, कीचड़ से भरता नहीं और प्रवाह के साथ रहते हुए भी प्रवाह में वह नहीं जाता ! ॥ १५ ॥ आगे पीछे, दाहने-बाये, नीचे-ऊपर, सब ओर, समानरूप से, सब में, वह व्याप्त है ॥ १६ ॥ आकाश का जलाशय भरा हुआ है; वह कभी उमड़ता नहीं, चारों ओर अपार फैला हुआ है ॥ १७ ॥ परन्तु आकाश एकदेशीय तथा शून्याकार है, और उस परब्रह्म में तो दृश्यभास है ही नहीं-वह निराभास है ॥ १८ ॥ संत-साधु, महानुभाव, देव, दानव, मानव, सब को ब्रह्म एक ही विश्रान्तिस्थल है ॥ १९ ॥ किस ओर उसका अन्त लगाया जाय ? किस ओर किस भांति वह देखा जाय ? जिसका पारावार ही नहीं है उसको मर्यादा कौन सी निश्चित की जाय ? ॥ २० ॥ वह स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है; किसी एक से समान नहीं है—ज्ञानदृष्टि बिना (उसके विषय में) समाधान नहीं है ॥ २१ ॥ पिंड और ब्रह्मांड का निरास हो जाने पर, फिर उस निराभास ब्रह्म की बात है । यहाँ से वहाँ तक अवकाश ही अवकाश फैला हुआ है ॥ २२ ॥ यह तो सच है कि, ब्रह्म व्यापक है, पर ये बातें तभी तक हैं जब तक दृश्य है, यदि दृश्य ही न रहे तो-व्याप्त (दृश्य) बिना-‘ व्यापक ’ कैसे कह सकते हैं ? ॥ २३ ॥ अतएव ब्रह्म में शब्द लग ही नहीं सकता; कल्पना की वहाँ तक गति ही नहीं है । उस कल्पनातीत निरंजन परब्रह्म को विवेक से पहचानना चाहिए ॥ २४ ॥

शुद्ध और सार श्रवण करने से, शुद्ध और प्रत्ययात्मक मनन करने से, विज्ञापन प्राप्त होते ही, स्वाभाविक ही मन का लय हो जाता है (उन्मनी दशा आ जाती है) ॥ २५ ॥ अस्तु; साधन का फल मिल गया, संसार

सफल हो गया; और निश्चय निर्गुण ब्रह्म अंतःकरण में छा गया ! ॥ २६ ॥
 माया का हिसाब-किताब खतम हो गया; पंचमहाभूतों का निपटारा हो
 गया, साध्य सिद्ध हो गया; अतएव अब साधन नहीं रहा ! ॥ २७ ॥ जो
 जो कुछ स्वप्न में देखा वह वह सब जागृति में उड गया; अतएव स्वामा-
 विक ही अनिर्वाच्य दशा आ गई; अब बोला नहीं जा सकता ॥ २८ ॥ यह
 सब विवेक से जानना चाहिए । उस स्थिति का अनुभव करना चाहिए ।
 सब, इससे जन्ममृत्यु का चक्र मिट जाता है ! ॥ २६ ॥

भक्ताभिमानी दाशरथी (राम) नेकृपा की; बस, उसी समर्थ की कृपा
 है जो वचन-वही यह " दासबोध " है ॥ ३० ॥ इस बीस दशकवाले
 दासबोध का जो कोई श्रवण-मनन करेगा उसे परमार्थ प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥
 इसीके बीस दशक-दो सौ समासों-का साधकों को अच्छी तरह अध्ययन
 करना चाहिए । बार बार मनन करने से इसकी विशेषता मालूम होने
 लगती है ॥ ३२ ॥ ग्रन्थ की प्रशंसा की जाती है; परन्तु प्रशंसा करने
 का कोई प्रयोजन नहीं यहाँ तो अनुभव की बात है; अतएव अनुभव ही
 कर लेना चाहिए ॥ ३३ ॥ देह तो पंचभूतों का है; और आत्मा इसमें
 कर्ता है-फिर ग्रन्थरचना ही मनुष्य की क्यों कर हो सकती है ? ॥ ३४ ॥
 अतएव, जब सब जगदीश्वर ही करता है तब फिर ग्रन्थरचना को मनुष्य
 कृत बलता मिथ्या है ? ॥ ३५ ॥ संपूर्ण देह के एक एक तत्व को अलग
 कर दीजिए-कुछ नहीं रहता-तब फिर किस पदार्थ को ' अपता ' कहे
 ॥ ३६ ॥ अस्तु; ये सारे विवेक के काम हैं अतएव योंही भ्रम में न भटकना
 चाहिए-जगदीश्वर ने ही सब रचा है ॥ ३७ ॥



